धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक

हिन्दी अनुशीलन

भारतीय हिन्दी परिषद् • प्रयाग

धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक

हिन्दी-अनुशीलन

धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक



वर्ष १३ अंक १-२ (जनवरी-जून)

भारतीय हिन्दी परिषद् • प्रयाग

समर्पण तिथि ३० मई १९६० ई०

[दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान मे भारतीय हिन्दी परिषद् के सत्रहवे अधिवेशन (२८, २९, ३० मई, १९६० ई०) के अवसर पर]

मूल्य १० रु०

सदस्यो तथा ग्राहकों से ५ रु०

मुद्रक

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

●

प्रकाशक

व्रजेश्वर वर्मा, प्रबन्ध-मंत्री, भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद

भारतीय हिन्दी परिषद्
प्रयाग



"खोज से सम्बन्ध रखनेवाला विद्यार्थी ज्ञानमार्ग का पथिक होता है। भक्तिमार्ग तथा कर्ममार्ग से उसे दूर रहना चाहिए। सभव है आगे चल कर सत्य के अन्वेषण की तीन धाराएँ आपस मे मिल जाती हो—कदाचित् मिल जाती है—किन्तु इसकी इस ज्ञानमार्ग-पथिक को चिन्ता नही होनी चाहिए। वह क्षेत्र तो असाधारण विचारक आचार्यो का है। मनुष्य की ज्ञान सम्बन्धी समस्त खोजो का चरम लक्ष्य सबसे बडे अज्ञात सत्य का अन्वेषण करना है। ज्ञान सम्बन्धी छोटी-से-छोटी खोज इसी चरम लक्ष्य की ओर सकेत करती है और उसके निकट पहुँचाने मे सहायक होती है।"

—**डॉ० धीरेन्द्र वर्मा**

[हि० अनु०, व० ३, अ० ४, पृ० ४]

प्राक्कथन

भारतीय हिन्दी परिषद् की कार्यसमिति ने परिषद् के सस्थापक एव सरक्षक तथा उसके मुखपत्र के प्रथम प्रधान सपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अध्यापन कार्य से अवकाश ग्रहण करने के उपलक्ष्य मे उनके सम्मानार्थ 'हिन्दी-अनुशीलन' का एक विशेषाक निकालने का प्रस्ताव लगभग डेढ वर्ष पूर्व किया था। इसके लिए योजना बनाने के उद्देश्य से एक समिति बनायी गयी थी। समिति ने 'धीरेन्द्र वर्मा विशेषाक' की योजना बनायी और सुझाव दिया कि इसमे हिन्दी भाषा, सस्कृति तथा साहित्य के अध्ययन से सम्बन्धित देश-विदेश के प्रतिष्ठित विद्वानो के शोध-निबन्धो का उत्कृष्ट सकलन प्रस्तुत किया जाय। साथ ही उसके सपादक-मडल के लिए हिन्दी भाषा तथा साहित्य के १४ प्रतिष्ठित विद्वानो के नाम भी प्रस्तावित किये। इस योजना पर विचार करने के बाद कार्यसमिति ने इसे परिषद् के रायगढ अधिवेशन मे प्रस्तुत किया और यह सर्वसम्मति से स्वीकृत हुई।

एक वर्ष से अधिक के अनवरत परिश्रम से यह विशेषाक प्रस्तुत रूप मे प्रकाशित हो रहा है। इसकी विषय-सूची तथा लेखको की नामावली से स्पष्ट हो जायगा कि विद्वानो के व्यापक सहयोग तथा सामग्री की उत्कृष्टता की दृष्टि से हम अपने आदर्श मे एक सीमा तक सफल हो सके है। हम देश-विदेश के इन भाषा, संस्कृति तथा साहित्य के विद्वानो के प्रति आभारी है जिनके बहुमूल्य सहयोग से इस कार्य को इस रूप मे सपादित करने मे सफलता प्राप्त हो सकी है।

इस विशेषाक के लिए विभिन्न देशो के विद्वानो का सहयोग मिला है। इनमे अनेक ने अपने निबन्ध अपनी भाषाओ मे भेजे थे। यद्यपि हमने इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि इनका बहुत ठीक हिन्दी अनुवाद दिया जा सके, पर विशेषज्ञो के इन विशिष्ट निबन्धो के रूपान्तर के पूर्ण निर्दोष होने का दावा करना कठिन है। विशेष कर कुछ लेखो का पहले अग्रेज़ी मे और फिर उससे हिन्दी मे रूपान्तर करने के कारण उनमे कुछ अशुद्धियाँ रह जाने की सम्भावना बनी रही है। कुछ निबन्ध अधिक विस्तृत थे और अपनी सीमाओ के कारण हम उनके सक्षिप्त रूप को ही दे सके है। हम आशा करते है कि हमारी सीमाओ को देखते हुए ये विद्वान् हमे क्षमा करेगे। इस सम्बन्ध मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रूसी भाषा के प्राध्यापक श्री सुरेशचन्द्र सेनगुप्त के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होने बहुत कम समय के अन्दर ८ लम्बे रूसी निबन्धो का अनुवाद हमारे लिए प्रस्तुत किया।

अनुवाद-कार्य मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हमारे सहयोगियो मे डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० हरदेव बाहरी, डॉ० जगदीश गुप्त, श्री मातावदल जायसवाल, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ० पारसनाथ तिवारी, डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव तथा श्री सगम लाल पाण्डेय (दर्शन-विभाग) और शोध-विद्यार्थियो मे डॉ० रामचन्द्र राय, श्री अमरबहादुर सिह, श्री नित्यानन्द तिवारी तथा श्री अरुण कुमार (प्रा० इतिहास-विभाग) ने बहुमूल्य सहायता दी

है। इसके अतिरिक्त डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने इस योजना को अनेक स्तरो पर कार्यान्वित करने मे, डॉ० पारसनाथ तिवारी ने इस विस्तृत विशेषाक के प्रूफ देखने के दुस्तर कार्य मे तथा श्री नित्यानन्द तिवारी ने सूचियाँ आदि तैयार करने मे विशेष सहयोग प्रदान किया है। फादर कामिल बुल्के ने अस्वस्थ रह कर भी राँची से अनुवाद करके (फ्रेंच से) तथा प्रूफ देखकर इस कार्य के प्रति अपनी श्रद्धा ही व्यक्त की है। हम इन सबके आभारी है।

संपादक-मडल समय-समय पर निर्देशन तथा सुझाव देकर बहुमूल्य सहयोग देता रहा है, विशेष कर डॉ० विनयमोहन शर्मा और डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तथा स्थानीय सदस्य डॉ० रामकुमार वर्मा और डॉ० माताप्रसाद गुप्त के सक्रिय सहयोग से हमको बहुत बल मिला है। इस विशेषाक के भाषा-खण्ड के सपादन मे डॉ० बाबूराम सक्सेना से पग-पग पर सहायता और निर्देशन मिला है। अपनी अनेक व्यस्तताओ के बीच उन्होंने बहुत-सी सामग्री देखने का कष्ट भी किया है। पं० उमाशकर शुक्ल जी के सहयोग के बिना इस योजना का कार्यान्वित होना कठिन होता। पर ये सभी महानुभाव परिषद् से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध रहे है, अत इनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन मे भी सकोच होता है।

अन्त मे सम्मेलन मुद्रणालय के सचालक श्री सीताराम गुठे, तथा अन्य अधिकारियो व कर्मचारियो के प्रति आभार प्रकट करना हम अपना कर्त्तव्य समझते है जिनके सक्रिय सहयोग से ही हम इस विशेषाक को इतने कम समय मे और इस रूप मे निकालने मे सफल हो सके है।

रघुवश

२० मई, १९६०　　　　विजयेन्द्र स्नातक

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड : संस्कृति

तृतीय खण्ड : साहित्य



डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

परिचय

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के पितामह श्री रजीतराय, ग्राम शकरस, तहसील बहेडी, जिला बरेली के प्रतिष्ठित जमीदार थे। उनके एक मात्र पुत्र श्री खानचन्द हुए। इन्होने रुडकी इजीनियरिग कॉलेज मे इजीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त की और सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग मे ओवरसियर के पद पर नियुक्त हुए। श्री खानचन्द्र कर्मठ और सक्रिय आर्यसमाजी रहे है और धीरेन्द्र जी ने बचपन से भारतीय सस्कृति के विषय मे चिन्तन तथा मनन की प्रेरणा इन्ही से ग्रहण की है। भाषा और सस्कृति के प्रति इनकी विशेष अभिरुचि का मूल स्रोत भी वे है। आज अपनी अस्सी वर्ष से अधिक की अवस्था मे भी वे भारतीय सस्कृति से सम्बद्ध पुस्तको के अध्ययन मे सलग्न रहते है और इसी विषय पर वार्तालाप करना पसन्द करते है।

धीरेन्द्र जी का जन्म वैशाख पूर्णिमा सवत् १९५४ वि० (सोमवार, १७ मई, १८९७ ई०) को मुहल्ला भूड, बरेली शहर मे हुआ। ५-६ वर्ष की अवस्था मे पिता जी इनको भारतीय सस्कृति के अनुकूल वातावरण मे शिक्षा देने के लिए गुरुकुल कॉगडी भेजना चाहते थे, पर स्नेहाधिक्य के कारण दादी और माँ ने इन्हे अपने से अलग रखना स्वीकार नही किया। इस पर दोनो पक्षो मे समझौता इस बात पर हुआ कि डी० ए० वी० कॉलेज, देहरादून मे इनकी पढाई हो तथा दादी और माॅ वही मकान लेकर साथ रहे। इस स्कूल मे इनका प्रवेश १९०८ ई० मे हुआ। पर यह क्रम अधिक नही चल सका और एक वर्ष बाद ये अपने पिता के पास लखनऊ मे आ गये जहाॅ वे उस समय काम कर रहे थे। यहाॅ इनका नाम क्वीस एग्लो हाईस्कूल मे लिखाया गया। अपने कोमल और शिष्ट स्वभाव, अध्यवसाय तथा मेधाशक्ति के कारण ये अपने स्कूल के अध्यापक और सहपाठियो के स्नेह-पात्र बन गये। इनके स्कूल के सहपाठियो मे श्री दुलारेलाल भार्गव थे।

इस स्कूल से इन्होने स्कूल लीविग सर्टीफिकेट परीक्षा सन् १९१४ ई० मे प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की और हिन्दी मे विशेष योग्यता प्राप्त की। इसके बाद आगे की शिक्षा के लिए इन्होने म्योर सेन्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद मे प्रवेश प्राप्त किया और निवास हिन्दू बोर्डिग हाउस मे ग्रहण किया। उस समय मालवीय जी के इस छात्रावास की बहुत प्रतिष्ठा थी। छात्रावास के इनके साथियो मे आचार्य नरेन्द्रदेव, प० परशुराम चतुर्वेदी, प० सुमित्रानन्दन पत तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना जी के नाम विशिष्ट हैं। डॉ० बाबूराम सक्सेना इनके सहपाठी रहे और इन दोनो की अभिन्नता साथ-साथ रहने के कारण बढती गयी है। इण्टरमीडिएट परीक्षा मे इन्हे विशेष योग्यता प्राप्त हुई और छात्रवृत्ति मिली। सन् १९२१ ई० मे इसी कॉलेज से इन्होने एम० ए० परीक्षा सस्कृत (वैदिक ग्रुप) मे पास की। इसके उपरान्त इन्हे सरकारी डी० लिट० स्कॉलरशिप मिला और इसी कालेज मे डॉ० प्रसन्नकुमार आचार्य के निर्देशन मे ये ब्रजभाषा के विकास पर शोध-कार्य करने लगे।

जुलाई १९२४ ई० मे जब नव-सगठित इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे हिन्दी की कक्षाएँ खोली गयी, उस समय वाइस चासलर डॉ० गगानाथ झा के अनुरोध से ये हिन्दी के प्रथम लेक्चरर नियुक्त हुए। इनकी अध्यक्षता मे यह विभाग शीघ्र ही उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ और तब से ये बराबर उसके अध्यक्ष रहे। विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की समस्त प्रगति का इतिहास डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के सुयोग्य निर्देशन और नियोजन मे ही अग्रसर हुआ है। एक अध्यापक और पॉच विद्यार्थियो से आरम्भ करके लगभग १४०० विद्यार्थियो तथा १८ अध्यापको के विभाग को सगठित करना और व्यवस्था देना साधारण महत्त्व का कार्य नही है। परन्तु विश्वविद्यालय के किसी विभाग का गौरव मात्र सख्या पर निर्भर नही रह सकता। आचार्य श्यामसुन्दरदास प्रभृति विद्वानो ने विश्वविद्यालय के स्तर पर हिन्दी के पाठ्यक्रमो को निर्धारित, नियोजित और व्यवस्थित करने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया था, धीरेन्द्र जी ने उस दिशा मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इन्होने स्नातक तथा स्नातकोत्तर परीक्षाओ के पाठ्यक्रमो को निरन्तर व्यापक, गम्भीर तथा पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। भाषा और साहित्य की व्यापक सीमाओ को ध्यान मे रखते हुए इन्होने आनुषागिक विषयो का भी पाठ्यक्रमो मे स्थान निर्धारित किया है और कुछ विशिष्ट सहयोगी भाषाओ, साहित्यो तथा विषयो को वैकल्पिक तथा विशिष्ट प्रश्नपत्रो के रूप मे स्वीकार किया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर परीक्षाओ के विशेष और वैकल्पिक प्रश्नपत्रो की व्यवस्था इस बात की साक्षी है।

अपने ही विश्वविद्यालय मे नही वरन् एक प्रकार से सभी विश्वविद्यालयो के हिन्दी भाषा, साहित्य तथा सस्कृति (साहित्य के सदर्भ मे) से सम्बन्धित वैज्ञानिक और व्यवस्थित शोध-कार्य के पथ-प्रदर्शन, नियोजन तथा सगठन का श्रेय इनको है। जो कार्य हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया, हिन्दी शोध के क्षेत्र मे वही कार्य धीरेन्द्र जी का है। वस्तुतः अपनी सश्लिष्ट चिन्तन शैली के कारण इन्होने भाषा और साहित्य को सदा सस्कृति के व्यापक परिवेश मे ग्रहण किया। यही कारण है कि इन्होने हिन्दी शोध-कार्य को जो दिशा दी है वह बहुत व्यापक है। उसमे भाषा और साहित्य के अध्ययन के साथ सम्पूर्ण सास्कृतिक पीठिका भी आ जाती है, ऐतिहासिक अध्ययन के साथ सास्कृतिक इतिहास की प्रक्रिया को स्वीकार कर लिया गया है, साहित्य के विभिन्न आन्दोलनो, युगो तथा प्रवृत्तियो के विवेचन के साथ अन्य सम-कालीन भारतीय भाषाओ के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन को स्वीकार किया गया है।

विभाग की व्यवस्था के गम्भीर दायित्व के साथ इन्होने आदर्श अध्यापक के रूप मे अध्यापन कार्य को सदा अपना पवित्र कर्त्तव्य माना है। अपने विद्यार्थियो के बीच इस रूप मे इनका बहुत सम्मान रहा है और कक्षा का कोई भी विद्यार्थी इनसे प्रभावित हुए बिना नही रह सका है। विषय का व्यवस्थित, क्रमिक और सुस्पष्ट विवेचन इनकी अध्यापन शैली की विशेषता रही है। भाषा-विज्ञान, भाषा का इतिहास, साहित्य तथा सस्कृति का इतिहास इनके प्रिय विषय रहे है। भाषा जैसे विषय को सुगम और रोचक बना देना और साहित्य तथा सस्कृति की जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया की सुस्पष्ट विवेचना प्रस्तुत करना इनकी अध्यापन शैली का आकर्षण रहा है।

विभाग के दायित्व तथा अध्यापन कार्य के साथ इन्होने निरन्तर अपने अध्ययन तथा शोध-कार्य को जारी रखा है। अपने अध्ययन-काल मे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे इनके जो निबन्ध

छपे थे, उनसे इनके चिन्तन की दिशा और मौलिक दृष्टि का निश्चित सकेत मिलने लगता है। विश्वविद्यालय मे अध्यापक नियुक्त होने तक इनके कई शोध-निबन्ध विशिष्ट पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके थे। इन निबन्धो के आधार पर भाषा, साहित्य तथा सस्कृति सम्बन्धी अनेक गम्भीर शोध-कार्य आगे चलकर इनके द्वारा सम्पन्न कराये गये। अपने समय तक के भारतीय भाषाओ से सम्बद्ध समस्त शोध-कार्य के गम्भीर अनुशीलन के आधार पर इन्होने सन् १९३३ ई० मे हिन्दी भाषा का प्रथम वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण इतिहास लिखा। सन् १९३४ ई० मे ये भाषा-विज्ञान के उच्च अध्ययन के लिए पेरिस गये और प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी ज्यूल ब्लाख के निर्देशन मे इन्होने पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट० की उपाधि प्राप्त की और सन् १९३५ ई० मे ये स्वदेश वापस आये। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने इनको अपने मध्यदेश की सस्कृति सम्बन्धी अध्ययन तथा अनुशीलन के आधार पर भाषण देने के लिए आमत्रित किया। इन भाषणो को उक्त परिषद् ने सन् १९५५ ई० मे पुस्तक रूप मे प्रकाशित किया। हिन्दी साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध मे इनकी अपनी मौलिक दृष्टि है और इस आधार पर एक स्वतत्र इतिहास लिखने का इनका भाव रहा है। भारतीय हिन्दी परिषद् के तत्त्वावधान मे हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखन की एक ऐसी योजना सर्वप्रथम इनके द्वारा प्रस्तावित की गयी जिसमे विभिन्न कालो, युगो, धाराओ तथा परम्पराओ पर लिखने के लिए अधिकारी विद्वानो को आमत्रित किया गया। इसका द्वितीय भाग 'हिंदी साहित्य' नाम से इनके प्रधान सम्पादकत्व मे प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य 'हिन्दी साहित्य कोश' भी इनके प्रधान सम्पादकत्त्व मे प्रकाशित हुआ है।

विश्वविद्यालय मे ये सन् १९३२ मे रीडर नियुक्त हुए और सन् १९४६ मे प्रोफेसर, और इस पद से इन्होने मार्च १९५९ मे अवकाश ग्रहण किया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की ३५ वर्षो की सेवा की लम्बी अवधि मे इन्होने अन्य अनेक उच्च तथा दायित्व के पदो पर रह कर अपनी योग्यता का परिचय दिया है। डायमड जुबली हास्टल के निर्माण के बाद से ही ये इसके वार्डन रहे, अनेक वर्षों तक विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य रहे और कुछ वर्षों तक आर्ट्स फैकल्टी के डीन के पद पर भी रहे।

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अनेक सम्माननीय पदो के लिए इनको चुना गया है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी की स्थापना के समय (सन् १९२७) से ही ये इसके सदस्य रहे तथा लम्बी अवधि तक इसके मत्री भी रहे है। वस्तुत इस एकेडेमी के निर्माण मे तथा इसके कार्य के नियोजन मे इनका बहुत बडा हाथ रहा है। एकेडेमी की भाषा, साहित्य तथा सस्कृति सम्बन्धी गम्भीर तथा गवेषणात्मक ग्रन्थो के प्रकाशन की गौरवपूर्ण परम्परा के इतिहास मे इनका सक्रिय योग है। एक प्रकार से इसकी योजनाओ मे प्रधानतया इन्ही की कल्पना और दृष्टि रही है। इसी प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययन, अध्यापन तथा शोध-कार्य को नियोजित, नियत्रित तथा निर्देशित करने की दृष्टि से इन्होने भारतीय हिन्दी परिषद् की स्थापना हिन्दी के कुछ अन्य प्रतिष्ठित विद्वानों की सहायता से की। इन दिशाओ मे भारतीय हिन्दी परिषद् ने पिछले १८ वर्षो मे जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है उससे सभी परिचित है।

इसके अतिरिक्त ओरिएटल कान्फ्रेन्स के लखनऊ अधिवेशन मे इनको हिन्दी-विभाग

का अध्यक्ष चुना गया था। अध्यक्ष-पद से जो भाषण इन्होने दिया था वह हिन्दी शोध-कार्य के इतिहास की सारगर्भित विवेचना प्रस्तुत करता है। लिंग्युस्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया के अध्यक्ष पद पर भी ये सन् १९५८-५९ मे रह चुके है। इनकी योग्यता और अनुभव को दृष्टि मे रख कर ही इनको 'हिन्दी विश्वकोश' के प्रधान सम्पादक का गौरवपूर्ण दायित्व ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित किया गया है।

धीरेन्द्र जी के पिता सौभाग्य से अभी स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट है और उनकी अवस्था ८० वर्ष के ऊपर है। इनकी माता बदायूं के एक सुप्रसिद्ध परिवार की पुत्री थी। उनको अपने इकलौते पुत्र से अतुल स्नेह था। इनका देहान्त सन् १९४६ मे हुआ। धीरेन्द्र जी का विवाह लखनऊ के तत्कालीन प्रसिद्ध वकील चौधरी रामभरोसे लाल की पुत्री श्रीमती मायादेवी से दिसम्बर सन् १९२१ मे हुआ। इनके तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ है। सभी को उच्च शिक्षा प्राप्त हुई है।

धीरेन्द्र जी स्वभाव से मृदु, सात्विक, मितभाषी और कार्यसलग्न है। इनकी गम्भीरता और इनके मौन से अनेक बार भ्रम हो सकता है कि ये शुष्क स्वभाव के व्यक्ति है। परन्तु निकट सम्पर्क मे आने पर इनकी मृदुता और हास्यप्रियता का अनुभव होता है। फिर भी इनको मुक्त स्वभाव का नही कहा जा सकता। अपने निकट-से-निकट सम्बन्ध मे ये एक दूरी बनाये रखते हैं जो अत्यन्त शिष्ट, शालीन तथा सौम्य भाव मे व्यक्त होती रहती है। इसी कारण ये किसी भी व्यक्ति अथवा स्थिति से एक सीमा तक ही सम्पृक्त रहते है। स्वभाव के इस पक्ष के ही कारण सम्भवत इन्हे अपनी दृष्टि अधिक सतुलित, विचार अधिक सयत तथा निर्णय अधिक निष्पक्ष रखने मे आसानी होती है। धीरेन्द्र जी ने महत्त्वाकाक्षा की अपेक्षा कार्य को सदा अधिक महत्त्व दिया है, इस कारण उनमे विचारो तथा सिद्धान्तो की निर्भीकता है। विद्रोह और सघर्ष उनके स्वभाव के बहुत अनुकूल नही हैं, पर उनमे अपने विचारो और विश्वासो पर निर्भीकतापूर्वक अडिग रहने का पूर्ण आत्मविश्वास है।

कृतियाँ

१ **हिन्दी भाषा का इतिहास**—अपने समय तक के आधुनिक भारतीय भाषाओ से सम्बन्धित खोज कार्य के गम्भीर अनुशीलन के आधार पर लिखा हुआ, हिन्दी-भाषा का वैज्ञानिक तथा महत्त्वपूर्ण इतिहास। प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, सन् १९३३ ई०।

२ La Langue Braj—फ्रेंच भाषा मे ब्रजभाषा पर शोध-प्रबध, जिस पर लेखक को पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट० की उपाधि प्राप्त हुई, सन् १९३५ ई०।

३. **हिन्दी भाषा और लिपि**—'हिन्दी भाषा का इतिहास' की भूमिका का स्वतन्त्र पुस्तक रूप। प्रकाशक, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, १९३५ ई०।

४. **ब्रजभाषा व्याकरण**—प्रका० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९३७ ई०।

५. **अष्टछाप**—प्रका० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९३८ ई०।

६. **सूर सागर-सार**—सूर के ८१७ उत्कृष्ट पदो का चयन और सम्पादन। प्रका० साहित्य-भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०।

७. **मेरी कालिज डायरी**—सन् १९१७ से १९२३ ई० तक के विद्यार्थी-जीवन मे लिखी गयी डायरी का पुस्तक रूप। प्रका० साहित्य-भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०।

८. **मध्यदेश**—भारतीय, विशेषकर मध्यदेश की सास्कृतिक चेतना के प्रति वर्ष के चिन्तन के परिणामस्वरूप इस ग्रथ की रचना हुई है। वस्तुत यह पुस्तक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्त्वावधान मे दिये गये व्याख्यानो का सशोधित रूप है। प्रका० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५५ ई०।

९. **ब्रजभाषा**—(थीसिस) का हिन्दी रूपान्तर। प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, १९५७ ई०।

१०. **हिन्दी साहित्य कोश**—सम्पादन, प्रका० ज्ञानमडल, बनारस, सन् १९५८ ई०।

११. **हिन्दी साहित्य**—(सम्पादन) प्रका० भारतीय हिन्दी-परिषद्, सन् १९५९ ई०।

१२. **कम्पनी के पत्र**—(सम्पादन) प्रका० इलाहाबाद यूनीवर्सिटी, सन् १९५९ ई०।

१३. **ग्रामीण हिन्दी**—प्रका० साहित्य-भवन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद।

१४. **हिन्दी-राष्ट्र**—प्रका० भारती भडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

१५. **विचारधारा**—निबन्ध-सग्रह। प्रका० साहित्य-भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद।

१६. **यूरोप के पत्र**—अपने विशेष अध्ययन के लिए यूरोप जाने पर वहाँ से लिखे गये पत्रो का सकलन। प्रका० साहित्य-भवन प्रा० लि० इलाहाबाद।

प्रमुख निबन्ध

१. **मध्यदेश का विकास**—	— नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९२१ ई०।
२. **हिन्दुस्तान की वर्तमान बोलियों के विभाग और उनका प्राचीन जनपदो से सादृश्य**	— वही, सन् १९२२ ई०।
३. **संसार की भाषाएँ और उनमें हिन्दी का स्थान**	— वही, सन् १९२३ ई०।
४. **हिन्दी में नयी ध्वनियाँ तथा उनके लिए नये चिह्न**	— हिन्दुस्तानी, भाग १, सन् १९३१ ई०।
५. **क्या दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता गोकुलनाथ कृत है?**	— वही, भाग २, सन् १९३२ ई०।
६. **हिन्दी वर्णों का प्रयोग**—	— द्विवेदी अभिनन्दन ग्रथ, सन् १९३३ ई०।
७. **भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रान्तीय भाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या पर कुछ विचार**	— हिन्दी-अनुशीलन, अक १, वर्ष १, सन् १९३३ ई०।
८. **वैज्ञानिक शब्द कोश**	— वही, अक १, सन् १९३३ ई०।
९. **मध्यदेश की साहित्यिक भाषा**	— वही, अक ४, सन् १९३३ ई०।
१०. **सूरदास और भागवत**	— हिन्दुस्तानी, भाग १, सन् १९३४ ई०।

११. खोज सम्बन्धी कुछ अनुभव — वही, वर्ष ३, अक ४, सन् १९३५ ई०।
१२. व्यक्ति और समाज — वही, वर्ष ४, अक १, सन् १९३६ ई०।
१३. अवध के जिलो के नाम — हिन्दुस्तानी, भाग २, सन् १९३६ ई०।
१४. हिन्दी-भाषा सबंधी अशुद्धियाँ — वही, भाग ४, सन् १९३६ ई०।
१५. संयुक्त प्रांत मे हिन्दू पुरुषो के नाम — वही, भाग १, सन् १९३७ ई०।
१६. यूरोप मे विदेशी, विशेषकर भारतीय भाषाओ की शिक्षा — वही, भाग १, सन् १९३९ ई०।
१७. स्वामी दयानंद के कुछ नये पत्र — वही, भाग १, सन् १९४० ई०।
१८. सिलवें लेवी — वही, भाग २, सन् १९४२ ई०।
१९. स्व० डॉ० राजेश्वरबली की हिन्दी कविता—वही, भाग १, सन् १९४५ ई०।

धीरेन्द्र जी के निर्देशन में सम्पन्न शोधकार्य

डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१. **तुलसीदास**—डॉ० माताप्रसाद गुप्त, सन् १९४० ई०।
२. **अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय**—डॉ० दीनदयालु गुप्त, सन् १९४५ ई०
३. **हिन्दी-अर्थ-विचार**—डॉ० हरदेव बाहरी, सन् १९४५ ई०।
४. **हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि**—(१७५७ से १८५७ ई० तक)—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, सन् १९४६ ई०।

डी० फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध

१. **आधुनिक हिन्दी-साहित्य** (१९५० से १९०० तक)—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, सन् १९४० ई०।
२. **आधुनिक हिन्दी-साहित्य**—डॉ० श्रीकृष्णलाल, सन् १९४१ ई०।
३. **सूरदास**—डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, सन् १९४५ ई०।
४. **आधुनिक हिन्दी-कविता में नारी भावना**—डॉ० शैलकुमारी, सन् १९४९ ई०।
५. **हिन्दी-साहित्य पर प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव**—डॉ० रामसिंह तोमर, सन् १९५१ ई०।
६. **भारतीय ग्रामोद्योग की शब्दावली का अध्ययन (आजमगढ़)**—डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, सन् १९५१ ई०।
७. **हिन्दी चारण-साहित्य का अध्ययन**—(१६०० से १८०० ई० तक)—डॉ० टीकमसिंह तोमर, सन् १९५२ ई०।
८ **उत्तर प्रदेश के हिन्दू पुरुष नामों का अध्ययन**—डॉ० विद्याभूषण 'विभु', सन् १९५२ ई०।
९. **सिद्ध-साहित्य**—डॉ० धर्मवीर भारती, सन् १९५३ ई०।
१०. **गुजराती तथा ब्रजभाषा वैष्णव काव्य का तुलनात्मक अध्ययन**—डॉ० जगदीश गुप्त, सन् १९५३ ई०।
११. **दक्खिनी हिन्दवी के सूफ़ी लेखक**—डॉ० विमल बाग्रे, सन् १९५४ ई०।

१२. **बंगाली तथा हिन्दी वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन**—डॉ० रत्नकुमारी सन् १९५५ ई०।
१३. **डिंगल-साहित्य**—डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, सन् १९५७ ई०।
१४. **हिन्दी भक्तिकाव्य पर पुराणो का प्रभाव**—डॉ० शशि अग्रवाल, सन् १९५७ ई०।
१५. **आगरा ज़िले की बोली का अध्ययन**—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, सन् १९५८ ई०।
१६. **सूर सागर की शब्दावली का अध्ययन**—डॉ० निर्मला सक्सेना, सन् १९५८ ई०।
१७. **आधुनिक साहित्य मे राष्ट्रीयता का विकास**—डॉ० कीर्ति सक्सेना, सन् १९६० ई०।
१८. **रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव**—डॉ० बदरी नारायण श्रीवास्तव, सन् १९५६ ई० (आ० वि०)।

अध्यक्षता-काल में अन्य शोध-कार्य

डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१. **हिन्दी अलंकार शास्त्र**—डॉ० रामशकर शुक्ल 'रसाल', सन् १९३७ ई०।
२. **भोजपुरी**—डॉ० उदयनारायण तिवारी, सन् १९४५ ई०।
३. **नायिका-भेद का अध्ययन**—डॉ० छैल बिहारी लाल गुप्त 'राकेश', सन् १९५२ ई०।

डी० फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध

१. **हिन्दी छंदशास्त्र**—डॉ० जानकीनाथ सिंह, सन् १९४२ ई०।
२. **आधुनिक मनोविज्ञान और रस**—डॉ० छैल विहारी लाल गुप्त 'राकेश', सन् १९४३ ई०।
३. **हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ** (प्रारम्भ से सन् १६७५ ई० तक)—डॉ० ब्रजमोहन गुप्त, सन् १९४६ ई०।
४. **हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य**—डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, सन् १९४७ ई०।
५. **हिन्दी पत्रकारिता का विकास**—डॉ० रामरतन भटनागर, सन् १९४८ ई०।
६. **प्रकृति और काव्य** (हिन्दी साहित्य के भक्ति और रीति काल मे)—डॉ० रघुवश, सन् १९४८ ई०।
७. **रामकथा, उत्पत्ति और विकास**—डॉ० कामिल बुल्के, सन् १९४९ ई०।
८. **हिन्दी भाषा और साहित्य पर अंग्रेजी का प्रभाव**—डॉ० विश्वनाथ मिश्र, सन् १९५० ई०।
९. **हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास**—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, सन् १९५२ ई०।
१०. **भोजपुरी लोक गाथाएँ**—डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, सन् १९५३ ई०।
११. **रीवाँ दरबार के हिन्दी कवि (महाराज रघुराज सिंह के विशेष अध्ययन के साथ)**—डॉ० विमला पाठक, सन् १९५६ ई०।
१२. **हिन्दी नीति साहित्य**—डॉ० भोलानाथ तिवारी, सन् १९५६ ई०।
१३. **कबीर की रचनाओं का पाठ-सम्पादन**—डॉ० पारसनाथ तिवारी, सन् १९५७ ई०।
१४. **मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे नारी**—डॉ० उषा पाण्डेय, सन् १९५७ ई०।
१५. **अवधी, ब्रज और भोजपुरी लोक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन**—डॉ० गगाचरण त्रिपाठी, सन् १९५८ ई०।

प्रथम खण्ड : भाषा

प्रबोध बेचरदास पडित

गुजराती व्याकरण में जाति और परिमाण

भाषा की व्यवस्था को समझने के लिए भाषा-व्यवस्था को मानव व्यवहार की अन्य व्यवस्थाओ से अलग करके उसका परीक्षण करना चाहिए। ऐसे विभाजन से ही हम भाषा-व्यवस्था को विशद् रूप से देख सकते है। ध्वनि और समग्र विश्व की (दृष्ट-अदृष्ट, चर-अचर) सृष्टि, ये दो विशिष्ट भौतिक घटनाएँ है। भाषा ऐसी सज्ञाव्यवस्था है जो इन दोनो घटनाओ को जोडती है। ध्वनि या विश्व के पदार्थो का स्वरूप समझना-समझाना भौतिक विज्ञान का क्षेत्र है। भाषाविज्ञान का क्षेत्र तो ये दो घटनाएँ कैसे—कैसी सज्ञाओ के प्रयोग से—जुडी है, यह दिखाने का है। वैयाकरण का काम यह सज्ञाव्यवस्था समझना-समझाना है।

भाषा की सज्ञाव्यवस्था का प्रथम लक्षण है उसका व्यवस्थागत द्वैत। मानवसमाज मे सज्ञाओ की अनेक व्यवस्थाएँ है जिनसे मानव-मानव का व्यवहार चलता है। प्राणिसमाज में भी कुछ सज्ञाओ का व्यवहार रहता है।

हाथ ऊँचा करके मुट्ठी दिखाना एक तरह की सज्ञा है, ताली बजाना भी एक तरह की सज्ञा है। मुट्ठी दिखाने से 'मेरी ताकत', 'मै सजा कर सकता हूँ' इत्यादि सदेसा पहुँचाया जाता है। ताली बजाने से भी कोई सदेसा (जिसका भिन्न-भिन्न समाज मे भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकता है) पहुँचाया जा सकता है। प्राणिसृष्टि मे भी विशेष प्रकार के पशुपक्षी भय का सदेसा पहुँचाने के लिए एक तरह की चिचियारी करते है, और आनद-अन्नप्राप्ति का सदेसा पहुँचाने के लिए दूसरी तरह की आवाज करते है। ये सब सज्ञाएँ अर्थयुक्त है, सार्थ है, कुछ नियत सदेश की वाहक है। ये सज्ञाएँ ऐसी नही कि एक मे दूसरे को मिलाने से नया अर्थ निकले। उदाहरणतया मुट्ठी दिखाना, दाहिना हाथ हिलाना, बायाँ पैर ऊँचा करना, ये तीनो सज्ञाएँ इसी क्रम मे रखने से अमुक अर्थ निष्पन्न हो और उस क्रम को बदलने से कोई दूसरा अर्थ निष्पन्न हो, ऐसी कोई सज्ञाव्यवस्था मानवसृष्टि या प्राणिसृष्टि मे नही है। पृथक् रूप से ये सज्ञाएँ भिन्न-भिन्न समाज मे भिन्न-भिन्न सदेशो की वाहक बन सकती है। प्राणिसृष्टि मे भी विभिन्न आवाजे विभिन्न सदेशो की वाहक होती है, किन्तु भिन्न-भिन्न नादो के भिन्न-भिन्न मिश्रणो से नए-नए अर्थ पैदा करने की योजना इन सज्ञाओ मे नही।

भाषा की संज्ञाव्यवस्था इतर सज्ञाव्यवस्थाओ से तात्त्विक दृष्टि से भिन्न है। भाषा-व्यवस्था की प्राथमिक सज्ञाएँ अर्थरहित है। भाषा की प्राथमिक सज्ञाएँ ध्वनिरूप है। ये ध्वनि-रूप सज्ञाएँ (= ध्वनिघटक, अग्रेजी-फोनीम) कुछ अर्थ की सूचना नही करती। 'मुट्ठी दिखाना' इस सज्ञा का कुछ अर्थ है, किन्तु किसी भाषा के कोई ध्वनिघटक, जैसे कि हिन्दी के।क्।, ।ग्।,

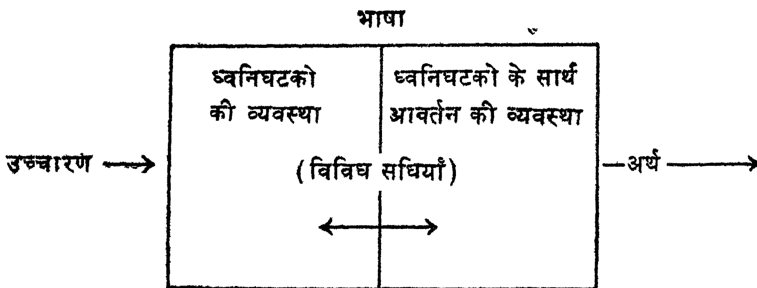
। अ ।, । उ । इत्यादि सर्वथा अर्थरहित हैं। स्वत उनका कुछ अर्थ नही। इन अर्थरहित ध्वनि-घटको के कुछ परिमित आवर्तन ही अर्थयुक्त बनते हैं। ये अर्थरहित प्राथमिक सज्ञाएँ परिमित हैं। भाषा मे ध्वनिघटक की सख्या अत्यत मर्यादित होती है।

उच्चारण-वैविध्य होने पर भी भाषा मे ध्वनिघटक तो मर्यादित ही होते हैं। अद्यावधि किसी भाषा मे ६०-६५ से ज्यादा ध्वनिघटक मिलते नही।

यह तो स्पष्ट है कि प्राथमिक घटक---ध्वनिघटक--- अर्थ से स्वतत्र होने से उनके आवर्तनो की सख्या अगण्य है। उदाहरणतया चालीस या साठ तक के अको के शक्य आवर्तनो का गाणितिक दृष्टि से हिसाब लगाने से मालूम होता है कि परिणाम करीब-करीब अनतता के समीप जा रहा है। इससे कहा जा सकता है कि भाषा मे अपरिमित विकास के बीज हैं। प्राथमिक भूमिका के घटको का अर्थ से मुक्त होना मानव भाषा को इतर सज्ञाव्यवस्थाओ से अलग करता है। प्राणिसृष्टि मे ध्वनि---जैसे पशु की चिचियारी---का सज्ञारूप व्यवहार है, किन्तु यह सज्ञा स्वत अर्थसूचक है। अर्थ से मुक्त न होने से इस सज्ञा मे विकास की सम्भावना नही, परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन की शक्यता नही।

मानव भाषा एक अनन्य सज्ञाव्यवस्था है। इस सज्ञाव्यवस्था की दो उपव्यवस्थाएँ है (१) ध्वनिघटको की व्यवस्था और (२) ध्वनिघटको के सार्थ आवर्तनो की व्यवस्था (जिसको व्याकरण कहते हैं)। मानव भाषा की सज्ञाव्यवस्था मे यह द्वैत इतना स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि एक उपव्यवस्था को समझाने के लिए कभी दूसरी उपव्यवस्था का आधार लेने की आवश्यकता नही। यह व्यवस्थागत द्वैत मानव भाषा का विशिष्ट लक्षण है।

हमने आगे देखा कि भाषा एक ऐसी सज्ञाव्यवस्था है जो दो घटनाओ को जोडती है, और इन घटनाओ से अलग करके ही भाषा को विशद् रूप से देखा जाता है। भाषाव्यवस्था का अन्य घटनाओ से सम्बन्ध निम्नलिखित आकृति से स्पष्ट होगा



उच्चारण और अर्थ दोनो घटनाएं भाषाव्यवस्था को बाहर से स्पर्शती घटनाएँ हैं। भाषाव्यवस्था को इनसे जितना अलग करके समझाया जा सके उतना हमारा व्याकरण स्पष्ट और विशद् बनता है।

वर्तमानकाल मे तो उच्चारण और ध्वनिघटक का भेद इतना स्पष्ट हो चुका है कि किसी भाषावैज्ञानिक को इन दोनो को अलग करने मे कोई बाधा नही आती।

ध्वनिघटक के अल्पतम सार्थ आवर्तन को अर्थघटक (अग्रेजी=मोर्फीम) कहते है। इस अर्थघटक को अपने 'अर्थ' से अलग करने मे कुछ बाधा आती है। सामान्यत अर्थघटको की व्यवस्था का वर्णन करने मे अर्थघटक के स्थान को अन्य अर्थघटको के स्थान की अपेक्षा से स्पष्ट कर सकते है, और इसी पद्धति से अर्थघटको के व्यवस्थागत विभाग कर सकते हैं, जैसे कि अग्रेजी मे आर्टीकल (a an, the) और सहायक क्रियापद के (is, are) बीच मे आनेवाले अर्थघटको का एक व्यवस्थागत विभाग हो सकता है, और अर्थघटको के उस केन्द्र को 'नाम' कह सकते हैं। अर्थघटको के वर्गो का ऐसा परस्परापेक्षी वर्णन व्याकरणी व्यवस्था की नीव है, इस तरह के व्याकरणी विभागो (अग्रेजी सब्स्टीट्यूशन क्लास) से प्रस्तुत भाषा के व्यवस्थागत विभागो की जॉच होती है, और किसी भी भाषा की व्यवस्था समझने के लिए एक मानदड प्राप्त होता है।

इस तरह से, 'अर्थ' को अलग रख कर, अर्थघटको की व्यवस्था का वर्णन हो सकता है। विश्व के दृष्ट-अदृष्ट पदार्थ अनन्त है, किन्तु किसी भाषा के शब्द (अर्थघटक) अनन्त नही। ऐसा होने पर भी किसी भी भाषा को विश्व की किसी भी घटना को व्यक्त करने मे कभी बाधा नही आती। इससे स्पष्ट होगा कि अर्थघटको का अर्थ से सीधा सम्बन्ध नही। उनका सीधा सम्बन्ध तो है उनकी व्यवस्था से, वह अवस्था आखिर अर्थ को स्पर्शती है। अर्थघटक के अर्थ का क्षेत्र इस व्यवस्था-मान्य सदर्भ पर आधारित है। अर्थघटक मे किसी आतरिक अर्थद्योतकता का सर्वथा अभाव है, उनकी अर्थद्योतकता निभती है सदर्भ पर, अर्थघटक तो है ध्वनिघटक का एक आवर्तन, और ध्वनिघटक अर्थरहित है ही, इससे अथघटक सीधे अर्थ को स्पर्श नही कर सकते। अर्थघटको की व्यवस्था को इस दृष्टि से अर्थ से अलग कर सकते हैं।

क्वचित् ऐसी परिस्थिति आती है जिसमे अर्थ का एक नियत क्षेत्र हो, उसकी नियत व्यवस्था हो और यह व्यवस्था अर्थघटको की व्यवस्था से ऐसी सलग्न हो कि दोनो व्यवस्थाओ को एक दूसरे से अलग करना असम्भव हो जाय। अर्थात् नियत अर्थक्षेत्र का विभागीकरण अर्थ-घटको की व्यवस्था पर निर्भर होने से वैयाकरण को दोनो को स्पष्ट करने का दायित्व निबाहना होता है—अर्थघटको की व्यवस्था और नियत अर्थक्षेत्र पर उसका प्रभाव। ऐसे प्रसग कम होते है, किन्तु सर्वथा विरक्त नही। ऐसे प्रसगो से यह भी सूचित होता है कि अर्थ को कहाँ तक स्पर्श करना है। इस प्रश्न का कोई आत्यन्तिक उत्तर वैयाकरण के पास नही है, वर्त्तमान भाषा के अनुसार वह अपनी मर्यादा बाँधता है।

गुजराती भाषा के व्याकरण मे ऐसा एक प्रश्न उपस्थित होता है।

नर, नारी और नान्यतर का व्याकरणी वर्गीकरण भारतीय-आर्य कुल की चार भाषाओ मे आज मौजूद है। वे हैं मराठी, कोकणी, भद्रवाही और गुजराती। इस कुल की अन्य भाषाओ मे या तो दो वर्ग ही बचे है (जैसे हिंदी), या तो जाति विषयक कुछ व्याकरणी वर्गीकरण ही नही बचा (जैसे बगाली)। यह तो स्पष्ट है कि इस तरह का वर्गीकरण सिर्फ व्याकरणी वर्गीकरण है, उसका भौतिक जाति के साथ कुछ सम्बन्ध नही।

गुजराती नाम (जिसमे व्याकरणी दृष्टि से विशेषण और कृदन्त समाविष्ट होते है) की जाति, जातिसूचक अर्थघटको से या तो उनके अन्य नाम---विशेषण वा कृदन्त---के साथ के व्यवहार से स्पष्ट होती है।

जाति के अनुसार नाम का विभाग निम्न प्रकार होता है[1]

(१) इस विभाग मे नाम की जाति किसी जातिसूचक अर्थघटक से स्पष्ट नही होती, किन्तु इन नामिक अगो मे जाति का आरोपण करने से ही उनकी अन्य नामो—कृदन्त, विशेषणो—के साथ दृश्यमान होती तुलना स्पष्ट होती है, उदाहरणतया —

नर जाति हार्, सारो हार्, हार् आप्यो - 'हार', 'अच्छा हार', 'हार दिया'

नारी जाति मोटर्, सारी मोटर्, मोटर् आपी 'मोटर', 'अच्छी मोटर्', 'मोटर दी'

नान्यतर जाति घर्, सारू घर्, घर् आप्यु 'घर', 'अच्छा घर', 'घर दिया'

'हार्', 'घर्' और 'मोटर्' की जाति विशेषणो और कृदन्तो के साथ जुडे हुए जातिसूचक घटको के अन्वय से स्पष्ट होती है।

(२) इस विभाग मे नाम के अर्थघटक के साथ तीन मे से एक जातिसूचक अर्थघटक जुडा हुआ रहता है, उदाहरणतया—

नर०	साफो	= साफ् +ओ		=सिर पर बॉधने का
नारी०	छीकणी	= छीकण्+ई		=सूघने की तमाकू
नान्यतर०	पैडु	= पैड +उ		=पहिया

इस विभाग के नाम एक ही जातिसूचक अर्थघटक के साथ जुड सकते है। यह नामो की जाति का अर्थ केवल व्याकरणी है—अर्थात् इनसे इतनी ही सूचना मिलती है कि इनके साथ जुडे हुए विशेषण या कृदन्त भी –ओ, –ई, या –उ युक्त होगे।

-ओ युक्त नामो मे सब -ओ नरजाति के अर्थघटक नही। उदा० 'साफो' का -ओ नरजाति का अर्थघटक है, किन्तु 'जळो' का -ओ नरजाति का अर्थघटक नही। इसका समर्थन विभक्त्यग रूपो से (अग्रेजी ओब्लीक फोर्म) मिलता है, नरजाति का -ओ का विभक्त्यग रूप आ होगा, (जैसे साफो, साफा) इतर सब -ओ का -ओ ही रहेगा 'जलो' सर्वथा 'जलो' ही रहेगा। ऐसा ही परिवर्तन नान्यतर के -उ और इतर -उ मे पाया जाता है (नान्यतर -उ का विभक्त्यग रूप मे -आ होगा इतर -उ का -उ ही रहेगा।)

(३) इस विभाग के नामिक अग एक से अधिक जातिसूचक अर्थघटको के पूर्व आ सकते है। इस विभाग के तीन उपविभाग हो सकते है।

(क) नामिक अग जाति सूचक तीनो अर्थघटक के पूर्व आ सकता है, उदाहरणतया—

नर०	छोक्रो	= छोकर्+ओ	= लडका
नारी०	छोक्री	= छोकर्+ई	= लडकी

---

१. गुजराती में स्वरो के ह्रस्वत्व दीर्घत्व—इ-ई और उ-ऊ—का भेदक नहीं है, फोनीमिक नहीं है; किन्तु इस लेख में परंपरानुसार प्रयुक्त है।

नान्यतर० छोक्रु = छोकर्+उ =छोटा बच्चा
नर० बक्रो = बकर्+ओ
नारी० बक्री = बकर्+ई
नान्यतर० बक्रु = बकर्+उ

इस विभागके नाम अधिकाश सजीव है (विशेषण और कृदन्तो को छोड कर)। जाति-सूचक अर्थघटको का अर्थ स्पष्ट है -ओ और-ई नर और मादा के अर्थसूचक है और जब लिग अव्यक्त है (जब भाषक लिगनिर्णय करता नही) और लघुता व्यक्त करनी हो तब -उ का प्रयोग होता है।

(ख) इस विभाग मे नामिक अग नर और मादा के सूचक दो जातिसूचक अर्थघटक -ओ और -ई के पूर्व आता है, उदाहरणतया—

नर० ओट्लो, नारी० ओट्ली,
नर० माखो, नारी० माखी,

वैसे ही—दडो दडी (=गैंदा गैंद), वाट्को वाट्की (=कटोरा कटोरी), मासो माशी (=मौसी का पति मौसी) इत्यादि।

यहाँ जातिसूचक अर्थघटको के अर्थ का विस्तार हुआ है। जब नाम निर्जीव होता है तब -ओ और -ई का भेद 'बडा-छोटा' ऐसे भेद से व्यक्त होता है। -ओ और -ई का अर्थ-विस्तार इस रूप से व्यक्त किया जा सकता है—

{ओ}=जब नाम सजीव हो तब नर जाति, जब नाम निर्जीव हो तब सापेक्षभाव से बडा पदार्थ।
{ई}=जब नाम सजीव हो तब नारी जाति, जब नाम निर्जीव हो तब सापेक्षभाव से छोटा पदार्थ।

(ग) इस विभाग मे नामिक अग नारी और नान्यतर के दो जातिसूचक अर्थघटक के पूर्व आ सकते है—अर्थात् -ई और -उ के पूर्व आ सकते है। इस विभाग के नाम निर्जीव है। इस सदर्भ मे {ई} का अर्थ 'सूक्ष्म, छोटा, कोमल' होता है और {उ} का अर्थ 'स्थूल, बडा, अ-कोमल' होता है। इस विभाग के उदाहरण कम है—

नारी० माट्ली = माटल्+ई (=पानी भरनेकी छोटी मटकी)
नान्य० माट्लु = माटल्+उ (=पानी भरने का बडा मटका)
नारी० वडी = वड्+ई (=अचार मे खाए जाते छोटे बडे)
नारी० वडु = वड्+उ (=बडा)

वैसे ही— गाडी गाडु, नाडी नाडु, पोट्ली पोट्लु इत्यादि।

नाम के इन विभागो को ध्यान मे रखकर जब {ओ} {ई} और {उ} का अर्थनिर्णय करने की कोशिश करेंगे तब आने वाली कठिनाई स्पष्ट होगी।

{ओ}=नर, बडा।
{ई}=नारी, छोटा, कोमल।
{उ}=अव्यक्त जाति, छोटा।

ऐसा अर्थ करने से (ग) विभाग के नामो के उदाहरण मे {उ} का जो अर्थ 'बडा, स्थूल,

अकोमल' है, उसको बाधा आती है। एक ही अर्थघटक पर ऐसे विरोधी अर्थों का आरोप करना युक्तियुक्त नही।

(क) विभाग मे जो {उ} है उस {उ} को, और (ग) विभाग मे जो {उ} है उस {उ} को एक दूसरे से भिन्न, स्वतत्र अर्थघटक कहना भी युक्तियुक्त नही। ये तीनो अर्थघटक {ओ, ई, उ} एक ही रूपाख्यान मे निबद्ध है, एक ही तरह के व्याकरणी घटको के बाद आते है। इन तीन घटको के रूपाख्यान को चार घटको {ओ} {ई} {उ$_1$} {उ$_2$} का रूपाख्यान कहना तर्कपूर्ण नही होगा।

वस्तुत (ख) विभागो मे—-ओ,-ई विभाग मे—{ओ} का जो कार्य है वही कार्य (ग) विभाग मे—उ,-ई विभागो मे—{उ} का है। जब नामिक अग दो जातिसूचक अर्थघटको के रूपाख्यान मे होता है तब उस नाम की व्याकरणी जाति एक ही भेद रेखा से अलग पडती है—

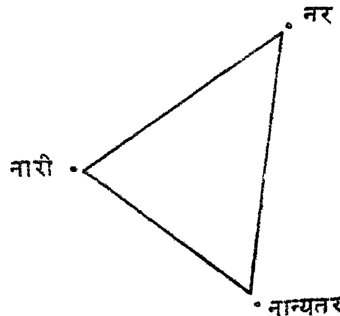


एक ओर -ई है और दूसरी ओर उसके विरोधी की हैसियत से {ओ} और {उ} व्यवहृत होते हैं। व्याकरणी नारी के सामने व्याकरणी नर और नान्यतर का भेद लुप्त हो जाता है।

(क) विभाग के नामो मे तीनो अर्थघटको के रूपाख्यान से तीनो जाति अपना भेद स्पष्ट रखती है, तीनो की भेदरेखा स्पष्ट है।

दूसरे दो विभागो मे—(ख) और (ग) विभागो मे—दो अर्थघटको के ही रूपाख्यान मिलते है। इन दोनो रूपाख्यानो की भेदरेखा एक ही है—नारी और उनका विरोधी भाव, यह विरोधी भाव का आरोपण करते समय नर-नान्यतर का भेद टिकता नही। अर्थघटको का स्थूल आकार -ओ और -उ अलग होने पर भी उनका कार्य तथा अर्थ एक हो जाता है।

(क) विभाग की भेदरेखाएँ आकृति द्वारा इस प्रकार व्यक्त हो सकती है—



दूसरे दो विभागो की भेदरेखा इस प्रकार व्यक्त होती है—

नारी——————————इतर

इन दोनो आकृतियो मे प्रत्येक रेखा भेद की सूचक है। {ओ, ई, उ} यह तीन अर्थघटको के अर्थ का एक अर्थक्षेत्र है। यह अर्थक्षेत्र जाति और परिमाण (अंग्रेजी 'साइस') दोनो को आवरता है, अपने मे समाविष्ट करता है। अर्थघटको का रूपाख्यानगत अर्थ (तीन

जातिसूचक अर्थघटको का रूपाख्यान हो तो अमुक अर्थ, दो का रूपाख्यान हो तो अमुक अर्थ) इस अर्थक्षेत्र मे विशिष्ट रूप से प्रगट होता है या तो तीन जाति का अर्थ निकले या दो परिमाण का अर्थ निकले। यह अर्थक्षेत्र एक ओर अव्यक्त जाति सहित तीन जाति तक विस्तरता है और दूसरी ओर दो परिमाण—लघु-अलघु या कोमल-अकोमल—मे विभक्त होता है।

अब, गुजराती के -ओ, -ई, -उ को मात्र जातिसूचक प्रत्यय कहकर रुक जाना व्याकरणी दृष्टि से उचित न होगा। इन प्रत्ययो का परस्पर सम्बन्ध और जाति-परिमाण का उनका अर्थक्षेत्र गुजराती व्याकरण की एक विशेषता है।

जिन घटनाओ को परस्पर सम्बन्ध की अपेक्षा से ही व्यक्त कर सकते हैं उन घटनाओ की अपनी अपनी आतरिक व्यवस्था है, ऐसा माना जाता है। उन तीन घटको का अर्थ उनके रूपाख्यानगत अर्थ और अर्थक्षेत्रगत अर्थ के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से ही स्पष्ट होता है। यहाँ अर्थघटको की व्यवस्था अर्थक्षेत्र के सदर्भ मे ही स्पष्ट होती है। यह ऐसा व्याकरणी प्रसग है जहाँ अर्थघटक की व्यवस्था का निरूपण करते समय 'अर्थ' का आलम्बन आवश्यक होता है।



चिन्तामणि उपाध्याय

मालवी का उद्गम और विकास

वर्तमान मालव प्रदेश के नाभिस्थल उज्जयिनी के निकट का विस्तीर्ण क्षेत्र प्राचीन युग मे अवन्ती जनपद के नाम से प्रसिद्ध रहा है, अत जनपदो के नाम पर प्रवृत्तियो के नामकरण की परम्परा के आधार पर मालव प्रदेश की साधारण जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा को प्रदश के नाम पर 'मालवी' नाम देना सार्थक है। मालव प्रदेश की भाषा के सबध मे प्राचीनतम उल्लेख केवल भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे ही मिलता है। यदि हम 'मालवी' के आदिस्रोत की उसमे खोज करते है तो वह प्राचीनता का मोह ही कहा जाएगा। सूर्यनारायण व्यास मालवी को अवन्तिजा से निसृत मानते है, किंतु अधिकाश विद्वानो के समक्ष इस मत को स्वीकार करने मे अनेक उलझनें भी उत्पन्न हो सकती है।

अवन्तिजा निश्चित ही उस युग की जनभाषा रही होगी, क्योकि सस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ के साथ ही देश-भाषा के विकल्पन को ग्रहण करने के लिए भरत मुनि ने विशेष आग्रह भी किया है, किन्तु अवन्तिजा भाषा के स्वरूप, गुण और लक्षण आदि के सम्बन्ध मे 'नाट्य-शास्त्र' मौन है। इसी तरह मालवी की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए डा० श्याम परमार ने भी मालवी की जननी अवन्तिजा को माना है।[1] किन्तु राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमासा' मे प्रस्तुत किए गए 'नवीन प्रश्न' का वे उचित समाधान नही कर सके। अवन्ती, परियात्र, एव दशपुर (आधुनिक मन्दसौर) के निवासियो की भाषा को राजशेखर ने भूतभाषा कहा है।[2] किन्तु भूत के साथ पिशाच का सम्बन्ध जोडकर पैशाची भाषा को अनार्य भाषा करार देना भी उचित नही है।[3] भूतभाषा पैशाची का ही दूसरा नाम है। फिर भरतमुनि के युग से लेकर राजशेखर के समय तक लगभग ७०० वर्षो के दीर्घकालीन आवरण को चीरकर अवन्तिजा का वही रूप स्थिर रहा होगा, यह विचारणीय है।

पालि भाषा के सम्बन्ध मे विद्वानो के अनेक मत है। पालि किस प्रदेश की भाषा रही होगी, इस प्रश्न पर भी मत-वैभिन्य है। डा० ओडनवर्ग ने उसे कलिग की भाषा माना है[4] तो वेस्टरगार्ड तथा ई० कुह्न ने पालि को उज्जैन प्रदेश की बोली माना है।[5] इस मत की पुष्टि

---

१. मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ २०। २. आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूत भाषा भजन्ते। (काव्यमीमांसा, अध्याय १०)। ३. मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ २०-२१। ४. विनय पिटक: ओडनवर्ग द्वारा सपादित: भाग १. भूमिका, पृष्ठ १-५। ५. बुद्धिस्टिक स्टडीज्: डा० लाहा द्वारा संपादित: पृष्ठ २२२-२३।

दो बातो से की गई है। एक तो अशोक के गिरनार वाले अभिलेख की भाषा पालि से बहुत कुछ समानता रखती है, दूसरे राजकुमार का जन्म उज्जैन मे हुआ था और यही उनका बाल्यकाल भी व्यतीत हुआ। अत महेन्द्र की मातृभाषा उज्जैन की बोली थी जिसमे उसने बौद्ध धर्म का प्रचार किया होगा। डा० उदयनारायण तिवारी भी उक्त तथ्य को युक्तियुक्त मानते है।[६] प्रो० रायस डेविड्स[७] यद्यपि पालि को कोशल प्रदेश की भाषा मानते है, परन्तु उन्होने प्रथम सहस्राब्दि ईस्वी के मध्य तक की भाषाओ की जो सूची दी है उसमें क्रमाक ६ मे यह प्रकट किया है कि वह कोशल की राजधानी सवत्थी (श्रावस्ती) की स्थानीय बोली पर आधारित परस्पर बातचीत की एक उपभाषा थी जिसका राज्य के समस्त अधिकारियो और व्यापारियो मे प्रचलन था। इसका समस्त कोशल-राज्य मे ही नही वरन् दिल्ली से पटना तक, उत्तर मे सवत्थी से दक्षिण मे अवन्ती तक प्रचार था। इसी प्रकार क्रमाक ६ पर आधारित उच्च भारतीय पालि का साहित्यिक रूप भी था, जो अवन्ती मे बोले जाने वाले रूप मे व्यवहृत होता था। बौद्धधर्म के प्रचार का एक प्रमुख माध्यम होने के कारण पालि अनेक बोलचाल की भाषाओ के सश्लेषण से अस्तित्व मे आई थी। अत यह मान लेना असगत नही होगा कि उसमे अवन्ती प्रदेश (मालव) की तत्कालीन भाषा का अश भी अवश्य रहा होगा। साहित्यिक शैलियो मे विकसित पालि, प्राकृत आदि भाषाओ मे उन जीवित बोलियो के अस्तित्व को खोज निकालना कठिन अवश्य है, किन्तु यथालब्ध प्रमाणो के आधार पर उनकी किचित् स्थिति का आभास हमे अवश्य मिल सकता हैं। बौद्धकालीन एव अशोक के समय की उज्जैनी भाषा अथवा बोली के सम्बन्ध मे ऊपर विवेचन किया जा चुका है। वर्तमान मालवी की परम्परा को भरत मुनि से पूर्व तक ले जाया जा सकता है। हमे पालि मे कुछ ऐसे शब्दो के रूप प्राप्त होते है जो आज भी मालवी, राजस्थानी आदि मे प्रचलित है—

मोर—हिन्दी की अनेक बोलियो मे प्रचलित 'मोर' (मयूर) शब्द का अशोक के शिलालेखो मे पाया जाना जन-भाषा की प्राचीन सजीव परम्परा के उद्घाटन मे विशेष महत्व रखता है।[८] अन्य उदाहरण—[९]

पालि	सस्कृत	मालवी	
अग्गि	अग्नि	आग्गि, आगि	पृ० ३७
पियु	प्रिय	पिय, पियु	„ ३७
रुक्खो	रुक्ष	रुखो	„ ३७
ओट्ठ	ओष्ठ	ओट्ठ, होठ	„ ३८
रुक्ख	वृक्ष	रुँखड़ो, रुँख	„ ४०
खीर	क्षीर	खीर	„ ४१

६. हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ६३। ७. रायस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ८० (सुशीलगुप्त प्रकाशन)। ८. आर० के० मुकर्जी, अशोक, पृष्ठ २४५ (राजकमल प्रकाशन)। ९. 'पालि साहित्य का इतिहास' से।

पालि	संस्कृत	मालवी	
लोण	लवण	लोण, लूण	„ ४९
फरसु	परशु	परसो	„ ५६
झाम	क्षाम	झाम	„ ६३
उण्हा	उष्णा	उन्हा 'ण्णे'	„ ६४

अशोक के गिरनार वाले शिलालेख की पालि की तरह मालवी मे भी प्रमुख विशेषता यह है कि 'श' एव 'ष' के स्थान पर 'स' का प्रयोग हुआ है।

अवन्तिजा : अवन्ती प्राकृत एव पैशाची

वररुचि ने प्राकृत के केवल चार भेद ही माने—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। भरत को छोडकर अवन्तिजा का उल्लेख किसी लेखक ने नही किया। सस्कृत के नाटको मे प्राकृत के विभिन्न रूपो का जो प्रयोग मिलता है, वह भी कृत्रिम ही लगता है। 'मृच्छकटिक' नाटक मे विदूषक प्राच्यभाषा का प्रयोग करता है तो वीरक आवन्ती का। किन्तु इस सदर्भ मे अवन्ती प्राकृत का स्वरूप स्पष्ट नही हो पाता। स्टेन कोनउ ने पालि और पैशाची के सादृश्य की ओर ध्यान आर्कषित करते हुए पैशाची प्राकृत को उज्जैन की बोली बतलाया है।[१०] इस मत से निस्सन्देह भाषा-शास्त्रियो के सम्मुख एक नई समस्या खडी होती है कि पैशाची का आदिस्थान उज्जैन को कैसे माना जाय ? यही राजशेखर की 'काव्य-मीमासा' का यह कथन भी विचारणीय है कि अवन्ती (मध्य मालव), परियात्र (पश्चिमी विन्ध्यप्रदेश), और दशपुर (उत्तर मालव) के लोग भूतभाषा का प्रयोग करते थे—'आवन्त्या पारियात्रा सह दशपुरजैर्भूतभाषा भजन्ते,[११] भूतभाषा का यह प्रसग परमार जी के लिए एक नवीन प्रश्न है।[१२] किन्तु भूतभाषा को ही पैशाची भाषा कहा गया है। इसी भाषा मे गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' लिखी थी। प्रश्न तो यह उठता है कि राजशेखर ने अवन्ती प्रवृत्ति के प्रचार और प्रसार का जहाँ उल्लेख किया[१३] वहाँ भाषा के सन्दर्भ मे इस प्रदेश की भाषा को भूतभाषा ही क्यो कहा ? यदि भूत भाषा को हम पैशाची के रूप मे स्वीकार भी न करे तो 'भूत' का सीधा अर्थ 'बीता हुआ युग' मानकर यह नही मान सकते कि उक्त प्रदेश के लोग अतीत की परम्परागत भाषा का ही प्रयोग करते थे ! राजशेखर द्वारा वर्णित भूतभाषा एव प्रचलित मालवी मे एक गुण समान रूप से विद्यमान है। मालवी की सरसता एव मिठास तो सर्वविदित है ही। राजशेखर ने भूतभाषा की विशेषता प्रकट करते हुए उसे भी सरस कहा है[१४]।

---

१०. विन्टरनिट्ज, इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ६०४। ११. काव्य मीमांसा, अध्याय १०। १२. मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ २०। १३. ततः सोवन्तीन् प्रत्युच्चचाल यत्रावन्ती वेदिश सुराष्ट्र मालवार्बुद भृगुकच्छादयो जनपदाः—काव्य मीमांसा, अध्याय ३। १४. सरस रचनम् भूतवचनम्—बालरामायण, अक १, श्लोक ४।

अपभ्रंश एव मालवी

अपभ्रंश से पहिले प्राकृत को देशी भाषा कहने की प्रथा प्रचलित थी[१५] और प्राकृत से पूर्व पालि के लिए भी इसी सज्ञा का प्रयोग किया जाता था। अवसर आने पर प्राकृत को भी अपनी रूढि दूर करने के लिए लोकभाषा की सहायता लेनी पडी। अपभ्रंश का आविर्भाव एकदम नये सिरे से नही हुआ, बल्कि पूर्ववर्ती प्राकृतो और देशी भाषाओ के योग से उसकी अवस्था विकसित हुई। विकास के इन्ही क्षेत्रो में आधुनिक मालवी के बीज भी खोजना चाहिए। बौद्धकालीन उज्जैन की पालि, अवन्तिजा प्राकृत और सरस भूतभाषा की विकास-सरणी अपभ्रंश की उस अवस्था तक पहुँचती है जहाँ हमे मालवी के दर्शन होते ह।

अपभ्रंश रचनाओ मे कई शब्द ऐसे मिलेगे जिनसे प्रचलित मालवी शब्दो का साम्य दिखाई पडता है। सिद्ध एव जैन लेखको की रचनाओ मे प्रयुक्त कुछ मालवी शब्दो को देखकर परमार जी को भी यही भ्रम हुआ।[१६] राहुल जी कृत 'हिन्दी काव्यधारा' मे प्रस्तुत कुछ उद्धरणो मे प्रयुक्त निम्नलिखित शब्दो को परमार जी मालवी के शब्द मान बैठे —

सक्कर खडेहि पायस पाय सोही (४८)। सहज अगिठि भरि भरि **राँधे** (१५८)। **जीत्या** सग्राम पुरिस भया सूरा (१६८) **सासूडी** पालनडे **बाहूडी** हिंडोले (१६१)। **सोनै रूपै** सीझे काज (१६३)। **बलद** बिभाअल गविआ बाझे (१६४)।

'सक्कर' (शकर), 'राधे' (पकाती है), 'जीत्या' (जीतकर), 'सासूडी' (सास), 'बहूडी' (वधू), 'सोनै' (स्वर्ण), 'रुपै' (रोप्य), 'बलद' (बैल) आदि शब्द गुजराती और राजस्थानी में भी उसी अर्थ मे प्रचलित है। इन शब्दो के अतिरिक्त मालवी के कई शब्द ऐसे है जो गुजराती और मालवी मे समान रूप से प्रचलित है। किन्तु इसका यह तात्पर्य तो नही हो जाता कि शब्दसाम्य के कारण हम राजस्थानी और गुजराती को भी मालवी से निसृत मान ले। मालवी का सीधा सम्बन्ध किसी एक अपभ्रंश भाषा से अवश्य है। उसको राजस्थानी के अन्तर्गत एक उपभाषा या बोली नही मान सकते। इस तथ्य की गहराई मे जाने के लिए अपभ्रंश एव प्राकृत के वैय्याकरणो द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

मार्कण्डेय एव 'कुवलयमालाकहा' के रचयिता उद्योतन सूरि ने जिस अपभ्रंश भाषा एव उसके उपभेदो का विवरण प्रस्तुत किया है, वह लोकभाषा का विस्तृत रूप है। मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के तीन प्रमुख उपभेद—नागर, उपनागर एव ब्राचड[१७] के अतिरिक्त लगभग २७ विभिन्न बोलियो के नाम भी गिनाए है, उनमे अवन्त्य और मालव को दो भिन्न रूपों मे स्वीकार किया है।[१८] 'कुवलयमाला'कार ने एक कथा को मालवी मे प्रयुक्त होने का उल्लेख किया है।[१९] किन्तु इन प्रमाणो

---

१५. पालित्तणए रइया वित्थइओ तह य देसिवयणेहिं—'पाहुड दोहा' की भूमिका से उद्धृत। १६. मालवी और उसका साहित्य, पृ० २१। १७. प्राकृत सर्वस्व (विजगापट्टम आवृत्ति) पृ० ३। १८. वही, पृ० २। १९. तणु-साम मऽहदेहे कोवणए माणजीविणो रोद्दे। 'भाउअ भइणी तुम्हें' भणिरे अह मालवे दिट्ठे।—कुवलयमाला कथायाम्, गा० ओ० सी० संख्या ३७, पृ० ९३।

का भाषा के लिखित साहित्य के अभाव मे कोई महत्व नही है। आधुनिक देशी बोलियो के मिश्रण का आभास हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' के रचनाकाल से अवश्य मिलने लगता है। उनकी 'देशी-नाममाला' मे भी अनेक ऐसे शब्दो का सग्रह है जो प्राकृत ही नही बल्कि साहित्य मे अप्रयुक्त है। ऐसे शब्दो का प्रयोग बोलचाल की भाषा मे होता रहा होगा, यह बात सहज ही सोची जा सकती है। देवसेन, सोमप्रभ, मेरुतुग एव हेमचन्द्र आदि जैन लेखको की रचनाओ के अतिरिक्त रामसिंह, अब्दुर्रहमान आदि लेखको की रचनाओ मे उपलब्ध शब्दो की विस्तृत सूची मे आधुनिक मालवी, गुजराती और राजस्थानी में प्रचलित शब्दो को देखकर यह कहा जा सकता है कि मालवी के बीज भी उसी क्षेत्र मे विद्यमान थे, जहाँ से गुजराती और राजस्थानी के अकुर प्रस्फुटित हुए।[२०]

मालवी के अकुर

निम्नलिखित उदाहरणो में अनेक शब्दो मे मालवी शब्दो की समरूपता देखी जा सकती है—

१. कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अक मे —

मइं जाणिअ मिअ-लोअणि णिसि अरु कोई हरेइ।
जाव ण णव-तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ।

---

२०. हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' में आए हुए कुछ महत्वपूर्ण शब्दो की सूची दी जा रही है जो मालवी में भी मिलते है—

दुआर (द्वार); कुभार (कुंभकार); गड्डो; बप्पुड़ा, मा० बापुड़ो; डाल (शाखा); डोंगर (पहाड़); ढोला (प्रियतम); रुसणा (रोषयुक्ता); डज्झइ-दाजणो (जलना); देउल (देवकुल), मा० देवल; खोडी, मा० खोड; पराई; छइल्ल (छैल); रुक्ख, रूँख; हलद्दी, मा० हळदी, हेट्ठ-(नीचे), मा० हेठ।

हेमचन्द्र की 'देसीनाममाला' में आए हुए उन शब्दो की सूची जो किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ आज भी मालवी में मिलते है —

उक्खली (ओखली); उड़िदो, मा० उड़दाँ; उबी (वक्ळ गोधूम); ओड्ढणं, मा० ओढणी; ओसरिया (ओसारी); कट्टारी; कुल्लड़; कोइला (कोयला); खवो, खवओ (कन्था); गग्गरी, मा० गागरी; गुत्ती (बन्धनम्), मा० गॉति; छिण्णालो, मा० छिनाल, छिनाळा; जोवारी (धान्य); झाड़ (लता गहनम्); बोक्कडो (=बकरा), मा० बोकड़ो; बोहारी (झाडू), मा० बुवारी; मोग्गरो (पुष्प विशेष), मा० मोगरो; राड़ी, मा० राड़।

अपभ्रंश काव्यों में प्रचलित कुछ तद्भव शब्द जो मालवी में प्रचलित है —

कुंड; खाट; घरवार; खुरप्प (मा० खुरपी); घल्लई (मा०-घालना); चक्खई (मा० चखना); चंगेड़ा (डलिया) मा० चगेड़ी; चड़ई; चुनई; छिवई (स्पर्श करना); झीण (पतला); ढोर; पड़ीवा, (मा० पड़वा); भीड़; भोल (भोली); रसोई; रडी (वेश्या)। (नामवर सिंह: हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग: पृ० १५८-१७२)

मइ जाणिअ—मे जाणी, मिअ-लोअणि—मिरगानैणी, कोइ—कोइ, सामलो—साँवलो, वरिसेइ—बरस्यो।

२ देवसेन कृत 'सावयधम्म दोहा' मे—

गाइ पइण्णइ खंडभुसइँ कि ण पयच्छइ दुन्दु।

गाइ—गाय्, खडभुसइँ—खलभूँसी, कि ण—कँइ नी (=क्या नही), दुन्दु—दूद् (=दूध)।

काइँ बहुत्तइँ जँम्पइँ ज अप्पणु पडिकूलु।

काइँ—काइँ, कँइ (=क्या), बहुत्तइँ—भोत इ, अप्पणु—अपणो

३ रामसिह कृत 'पाहुडदोहा' मे—

अक्खर डेहिजि गव्विया कारणु ते **ण** मुणति।

अक्खर—अक्खर, ण—नी।

एक्कुजि अक्खरु तं पढ़हु—एकज अक्खर उ पढो

हऊँ सुगुणि पिउ णिग्गुणउ—हूँ (हउँ) सुगणी पियु निर्गण्या

४ जोइन्दु कृत 'परमात्मप्रकाश' मे—

जो जिण सो हउँ सोंजि हउँ

जो—जो, सो—सो; हउँ—हउँ; सोजि—सोज्।

५. अब्दुर्रहमान कृत 'सन्देश-रासक' मे—

गाह पढिज्जसु **इक्क पिय कर लेविणु मन्नाइ।**

इक्क—एक्क, पिय—पिय, लेविणु मन्नाइ—मनाइ लीजे।

पाली रूअ पमाण पर, **धण सामिहि** धुम्मन्ति।

धण—धण (=स० धन्या); तथा सामि—सामि(=स्वामी)

६ सोमप्रभ सूरि कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' मे—

तो **देसडा** चइज्ज। [देसडा—देसडा]

जित्तिउ पुज्जइ पगुरणू **तित्तिउ पाउ पसारि**

तुल० मालवी-'**उत्ताइ पाव पसारिए जित्ति** लाम्बी सोड'

निम्मल-मुत्तिअ-हार **मिसि**, रइव **चडक्कि** पहिढ्ढ

मिसि—मिस (बहाने), चडक्की-चडक।

पिउ हउँ **थक्किय** सयलु दिणु।

पिउ—पिउ, पियु, हउँ—हउँ, हूँ, थक्किय—थाकी, थकी गी, सयलु—सगला।

७ मेरुतुग कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' मे—

झोली तुट्टिव **कि न मुउ**। [झोली—झोली, कि न मुउ—क्यो नी मरयो।]

च्यारि बइल्ला धेनु दुइ मिट्ठा बुल्ली नारि। [च्यारि-चारि, बइल्ला-बलद्या, दुइ-दोइ; मिट्ठाबुल्ली नारि—मिठबोली नार।]

सउ चित्तइ सट्ठी मणह बत्तीसडा हियॉह। [सउ-सउ (= १००), बत्तीसडा—बत्तीसडा (= ३२)]

उग्या ताविड जिहि न किउ। [उग्या—उगया, उगिया, ताविड—तावडा।]

के दह अहवा अट्ठ। [के—के (= अथवा), 'दह' मराठी का 'दहा' (= दस)]

मह कन्तह इक्क ज दसा, मा० म्हारा कन्त की एक्क ज दसा (है)

उरि लच्छिहि मुहि सरसतिहि। [लच्छि—लच्छि, सरसति—सरसति।]

एहु जम्मु नग्गह गियउ [नग्ग—नागा (= व्यर्थ), गियउ—गयो, गियो।]

८ हेमचन्द्र कृत 'प्राकृत-व्याकरण' मे—

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु,

निद्दए गमिहि रत्तडी दडवड होइ विहाणु।

ढोल्ला—ढोला, मइँ—मइँ, मैं, वारिया—वारिया (गीतो मे प्रयुक्त), निद्दए—नीदडली, रत्तडी—रत्तडी, रातड्डी, दडवड—दडादड।

सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइ

उप्परि—उप्परि, उप्पर, धरइ—धरे, घल्लई—घाले है, तलि—तले।

जो गुण गोवइं अप्पणा पयडा करइ परस्सु।

गोवइ—गोवे; अप्पणा—अप्पणा, करइ—करे।

बहिणि महारा कन्तु, जइ भग्गा घर एन्तु।

बेन म्हारो कन्त, जो भागी ने घरे आतो।

हियडा फुट्टि तड्ति करि कालक्खे बे काइं।

[हियडा—हियडा, हिवडा, काइ—काइं (= क्या)

कंतु महारउ हलि सहिए निच्छइ रुसइ जासु।

(कतु—कंत, म्हारउ—म्हारा, हमारा, हेलि—हेली (सखी), रुसइ जासु—रुसइ जावे।) महु कंतहो बे दोसडा। [दोसडा—दोसडा, बे—गुजराती दो।]

भमरा एत्थु वि लिम्बडइ के वि दियहडा विलम्बु।

भमरा—भमरा, लिम्बडइ- लीम्बडी, लीमडी (= नीम वृक्ष)।

तो हउँ जाणउ एहो हरि। [तो हउँ जाणउ—तब मैं जानूँ]

ओ गोरी मुह-निज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियकु।

गोरी—गोरी, मुँह—मुँह, वद्दलि—बद्दली, बादली।

साव-सलोणी गोरडी नक्खी वि विस गठि।

सलोणी—सलोणी, गोरडी—गोरडी, विस—बिस।

इस प्रकार—

१ अपभ्रंश के प्रस्तुत उद्धरणो मे जहाँ उकार बहुला प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, प्रचलित मालवी में ओकार बहुल शब्दो का ही आधिक्य है। २ सर्वाधिक रूप से प्रचलित 'ड' का प्रयोग मालवी मे 'ड़' के रूप मे होता है। ३. शब्द के अन्त में 'ड' अथवा 'ड़' जोड़ कर तद्भव

शब्दो को देशी प्रभाव के अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति का भी उल्लेख है, जैसे—गोरी > गोरडी-डी, रात > रत्तडी, रातडी। ४ 'श' 'ष' के स्थान पर प्राय 'स' का ही प्रयोग हुआ है। ५ 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग भी उल्लेखनीय है। ६ वर्ण-विपर्यय का भी एकाध उदाहरण मिल जाता है—ल < न—जैसे, लीम्ब < निम्ब, लीमडी < नीमडी। द < थ, जैसे—दूद्धु < दूध। ७ निर्विभक्तिक पदो मे परसर्गो का प्रयोग, यथा—तणे, केर, केरा। ८ सर्वनाम मे 'महारा', 'म्हारा' एव 'हउँ' का प्रचलन। ९ जो, सो, कि, काइ (=क्या), के (=अथवा), ज् (निश्चय बोधक) आदि का प्रयोग अपभ्रश एव मालवी मे समान रूप से पाया जाता है। १० नकारात्मकता का द्योतक शब्द अपभ्रश 'ण' मालवी मे 'नी', 'नइँ' के रूप मे प्रचलित है। ११ सख्या सूचक कुछ शब्दो का स्वरूप और उच्चारण भी समान है—सउ (=१००), बत्तीस, बत्तीसडा (=३२), दुइ-दोइ (=२)। १२ सयुक्त व्यजनो मे सरलता लाने की दृष्टि से किया गया क्षतिपूरक दीर्घीकरण भी वैसा ही है—नीसासा < निस्सास, ऊसास < उस्सास, नीसर्‌यो < निस्सरइ, वीसर्‌यो < विस्सरइ।

नवी शताब्दि से लेकर १४वी शताब्दि के अन्त तक विभिन्न अपभ्रश कही जाने वाली उक्त रचनाओ मे मालवी का प्रारम्भिक रूप मिल जाता है। इसके पश्चात् १९वी शताब्दि के पूर्वार्ध तक मालवी मे लिखा हुआ साहित्य अप्राप्य है, अत उसके विकास के क्रम का विवेचन करना अभी असभव है। किन्तु राजस्थानी प्रदेश मे विकसित भाषा और प्राप्त ग्रथो के आधार पर मालवी के तत्कालीन रूप का कुछ अनुमान लगा सकते है। 'बीसलदेव रासो' और 'ढोला-मारू रा दूहा' आदि की भाषा से मिलते-जुलते परम्परागत कुछ मालवी लोक-गीत मिल जाते है, यथा :—

राजस्थानी—
सूकन लागी बेलडी गया ज सीचणहार (पृ० ३७४)
सूती सेज बिछाई (पृ० ४७)
कदी मिलूँ उण साहिबा कर काजल की रेख (पृ० ४४)
सूती सेजइ एकली (पृ० १४)

—ढोला मारूरा दूहा

मालवी—
चदा त्हारी चाँदनी, सूती पलग बिछाय।
जद जागूँ जद एकली, मरू कटारी खाय॥
टीकी दे मेला चडी, कर काजल की रेख।
सायब को सारो नइ, लिख्या विधाता लेख॥

—मालवी दोहे

विलियम ब्राइट

भारत की भाषाओं में महाप्राण व्यंजन

दीर्घ काल से भारत की भाषाओ ने ध्वनितत्वविदो (स्वनशास्त्रियो) को सघोष और अघोष दोनो महाप्राण व्यजन-माला के सुन्दर उदाहरण प्रदान किये है। सस्कृत मे अघोष—ख छ ठ थ फ और सघोष—घ झ ढ ध भ वर्णों की उपस्थित ने आदिम भारोपीय ध्वनिशास्त्र मे इनको मान्यता दिलायी। व्युत्पत्ति क्रमानुसार ये सस्कृत से हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे सक्रमित हुए, इसके अतिरिक्त, ये द्रविड भाषाओ—कन्नड, तेलुगू, मलयालम—के बहुत से उधार शब्दो मे, जो उन भाषाओ ने सस्कृत से लिये है, प्रकृतित प्रविष्ट हुए। महाप्राणो की निर्देशक समस्त भारतीय लेखन प्रणालिया इकाई के प्रतीको द्वारा इसे व्यजित करती है जिसमे इन ध्वनियो के विश्लेषण की स्वनग्रामिक इकाइयो का भाव निहित है।[1] वैसादृश्य मे रूढिगत रोमन प्रतिलेखन kh, ch, th, th, gh, jh, dh, th bh, करते हुए h (ह्) की सहति का प्रयोग करते है जो गुच्छो (cluster) के रूप मे कम से कम महाप्राणो के विश्लेषण को ध्वनित करते है। यह यो है, जैसे हम कहें कि ख् -क्ह, घ् -ग्ह इत्यादि के रूप मे लिखे जायें।

हाल में अमेरिकी भाषाशास्त्री चार्ल्स हाकेट ने महाप्राण ध्वनियो के लिए 'ह' सयुक्त अल्पप्राण ध्वनि—विश्लेषण प्रस्तावित किया है, वे लिखते है कि "सस्कृत तथा हिन्दुस्तानी जैसी कुछ अन्य आधुनिक भाषाओ को अघोष, सघोष, कार्य अल्पप्राण तथा महाप्राण चतुर्वर्गीय ध्वनियो वाली कहा जाता है। परन्तु उभय नाम्नी स्थितियो मे महाप्राण (अघोष हो या सघोष) प्रकट ही /ह्/ स्वनग्राम है जो अन्यत्र पुनर्घटित होता है, यह केवल द्विमार्गीय ढग का वैसादृश्य उपस्थित करता है।"[2] 'प्रकट रूप मे' कहना मुझे स्थिति का कुछ अतिकथन प्रतीत होता है, हाकेट का मत स्वीकार करने से पूर्व पर्याप्त गहन स्वनिक (Phonological) अध्ययन करना चाहिए।

---

१. तेलुगू लेखन प्रणाली में समस्त महाप्राण प्रतीकों मे सतह पर एक लम्बवत् घात रहता है। ('ठ' के समकक्ष का यह चिह्न मुद्रण मे नहीं रहता पर हस्त-लेखन में रहता है)। कम से कम महाप्राणों को एक अलग स्वनिक निर्णायक के रूप में पहचानने की यह एक प्रवृत्ति प्रतीत होती है। कन्नड़ लेखन में भी अधिकाश महाप्राणों में ऐसे ही चिह्न का प्रयोग होता है, किन्तु सब में यह चिह्न नहीं रहता।

२. ए मैनुअल ऑफ फोनेलाजी (इन्टरनेशनल जनरल ऑफ अमेरिकन लिंग्विस्टिक्स, मेम्वायर ११, १९५५); पृ० १०७।

सर्वप्रथम मैं इस स्थिति का परीक्षण कन्नड मे करना चाहता हूँ, जिस भाषा का अध्ययन मैंने हाल मे कुछ गहनता से किया है। कन्नड लेखन प्रणाली महाप्राण स्पर्शो का निर्देश करती है, और बहुसख्यक लोग इनका उच्चारण सस्कृत और हिंदी से उधार लिए हुए 'धान्य' से ।धान्य। और 'खाली' से ।खालि। जैसे शब्दो मे करते हैं। बहुत से कन्नडभाषी, जिनमे निश्चय ही कुछ शिक्षित लोग सम्मिलित है, महाप्राणो का प्रयोग कभी-कभी या बिलकुल ही नही करते और ।द्यान। तथा ।काली। उच्चारण करते है। तथापि इस अध्ययन के लिए हम विभिन्न प्रकार की कन्नड पर विचार कर सकते है जिनमे नियमत महाप्राण सम्मिलित हैं। सुस्थापित स्वन-ग्रामिक (Phonemic) नियमो का अनुसरण करते हुए हम कह सकते है कि यदि महाप्राण उन स्थितियो मे आते है जहाँ अन्यथा केवल व्यजन आते है, कोई व्यजन-गुच्छ नही आता, तो यह महाप्राणो को मात्र स्वनग्रामिक इकाई समझने के पक्ष मे एक तर्क होगा। दूसरी ओर, यदि हमे महाप्राण दो सयुक्त व्यजन, यथा ।स्त्।, ।प्र्।, ।त्य्।, की स्थितियो मे मिलते है तो महाप्राणो को ।ह्। युक्त ध्वनि-गुच्छ मानना प्रमाणिक होगा। वास्तव मे, द्वितीय विश्लेषण केवल उसी स्थिति मे अपनाया जा सकता है जब एक ओर महाप्राण स्पर्श और दूसरी ओर ।ह्। से अनुगामित अल्पप्राण स्पर्श के बीच कोई विरोध एव कोई सभावित भ्रान्ति न हो।

जैसा कि मैने अन्यत्र दिखाया है[3], कन्नड मे एक सघोष महाप्राण स्पर्श, यथा 'अवर धान्य' (= उनका अन्न) तथा अघोष आरम्भाक्षर के साथ 'ह्' से अनुगामित एक सघोष अल्पप्राण, यथा 'सावर्द हत्त' (= एक हजार दस) मे निकट विरोध पाया जाता है। चूकि इस स्थिति मे ।ह्। का वह प्रकार है जो सदैव मौन या यति के पश्चात् घटित होता है, यह भीतरी सधि से अग्रगामी ।ह्। के रूप मे विश्लेषित हो सकता है जो केवल स्थान देकर लिखा जा सकता है। 'अवर धान्य' के ।र् ध्। और 'सावर्द हत्त' के ।द् ह्। के बीच का अन्तर इस प्रकार स्थान के द्वारा प्रतिबद्ध है और इस स्थिति मे प्राप्य निकट-विरोध 'धा-न्य' सयुक्ताक्षर के महाप्राण को विश्लेषित करने से नही रोकता। इसलिए कन्नड व्यजनो का एक विभाजक परीक्षण आवश्यक है। किसी उच्चारण की प्रारम्भिक स्थिति मे हम निम्नलिखित बाते देखते है —

(१) व्यजनाभाव, यथा ।अदु। (= वह) मे।

(२) 'ड्, ण्, ल्' के अतिरिक्त कोई अकेला व्यजन, यथा ।मने। (= घर) में।

(३) दो व्यजन-गुच्छ जहाँ प्रथम कोई भी व्यजन हो सकता है, किन्तु द्वितीय सदैव मुखर हो,—अर्थात् एक व्यजन अनुनासिक अन्तस्थ या अर्द्धस्वर लघुतम विवर से उत्पन्न हो, उदाहरणत ।ग्राम।, ।ज्ञान।, ।न्याय।।

(४) दो व्यजनो का गुच्छ-रूप जहाँ प्रथम ।स्। तथा द्वितीय कोई स्पर्श-व्यजन हो, उदा० ।स्कूलु।, ।स्तम्भ।।

(५) दो संयुक्त व्यजन-गुच्छ ।क्ष्।, जैसे 'क्षत्र' में।

---

३ ऐन आउट लाइन ऑफ कलोकियल कन्नड़ (डेकन कालेज मोनोग्राफ सीरीज, स० २२, १९५८) पृष्ठ १-२।

(६) तीन व्यजन-गुच्छ (सयुक्त रूप) जिनमे प्रथम । स् ।, द्वितीय स्पर्श और तृतीय अनासिक्य मुखर अर्थात् अन्तस्थ या अर्द्धस्वर हो, उदा० । स्त्री । ।

प्राथमिक स्थिति मे महाप्राणो का सघटन अधोलिखित है —

(अ) वे अकेले आते है, यथा । धान्य । और । खालि । मे ये ऊपर के तीसरे प्रकार की गुच्छ-ध्वनियो[1] से तुलित हो सकते है जिनका नमूना स्पर्श तथा मुखर का योग है (निर्बल घर्षणा के कारण । ह् । को मुखर वर्ग मे रक्खा गया है) ।

(ब) वे । स् । के पश्चात् आते है, यथा । स्थल । और । स्फटिक । । ऊपर के छठे नमूने से तुलना हो सकती है जिसमे । स् । स्पर्श और अनासिक्य मुखर का योग है ।

(स) वे एक अनासिक्य मुखर के पूर्व आते है यथा । ध्यान ।, । भ्रम । मे । ऊपर के क्रम के प्रतिकूल यह त्रै-व्यजन के आदर्श के भीतर नही आ सकता अर्थात् 'द्‌ह्‌य्' या 'ब्‌ह्‌र्' जैसे प्राथमिक गुच्छ-रूप यहाँ नही है, जो प्रचलित 'ध्य्' और 'भ्र्' के समानान्तर हो, वरन् 'ध्य्' और 'भ्र्' की तुलना त्याग के 'त्य्' और 'ब्राम्ण' (ब्राह्मण) के 'ब्र्' से की जा सकती है, महाप्राण अल्पप्राण स्पर्शो की स्थितियो मे उपस्थित होते है, जो केवल एक स्वनग्राम की इकाई है ।

महाप्राणो को स्वत एक इकाई समझने के लिए पूर्व अनुच्छेद एक सशक्त प्रमाण समझा जाना चाहिए । यदि इस दृष्टि को अपनाये, तो हम उन्हे 'ख kh, छ ch, ठ ṭh, थ th, फ ph और घ gh, झ jh, ढ ḍh, ध dh, भ bh' स्वनग्रामिक रूप मे लिखकर उनका और अधिक स्पष्ट निर्देश कर सकते है । इस प्रकार हमारे उदाहरण । dhānya । (धान्य) और । khālı । (खालि) होगे । यहाँ उच्चारण मे व्यजनो के विभाजन का परीक्षण भी आवश्यक है । पर उच्चारण के अत्य व्यजनो का विचार नही किया जायेगा, क्योकि वे केवल नवीन उधार लिये, अधिकतर अग्रेजी से उधार लिये गये, शब्दो मे उपस्थित है । कन्नड मे अक्षर-प्राथमिक सयोग (जिसे आरम्भाक्षर onset कहते है) द्वारा अनुगामित अक्षर अन्तिम सयोग (जिसे अन्तिमाक्षर coda कहते है) के रूप मे माध्यमिक समूह का सर्वोत्तम विश्लेषण किया जा सकता है । उक्ति-माध्यमिक आरम्भाक्षर की वही रचना है जो उक्ति-प्रारम्भिक स्थिति के लिए पहले ही कही जा चुकी है । अस्तु निम्नलिखित रूपो मे उपस्थित होने वाला अन्तिमाक्षर का विवरण शेष रहता है —

१—एक अकेला व्यंजन यथा । कॆम्-पु । (=लाल), । हब्-ब । (=त्यौहार) (सामासिक चिह्न अक्षर-विभाजन बतलाता है) । कन्नड़ के साहित्यिक उच्चारण मे अन्तिमाक्षर एक व्यजन से अधिक के नही होते । इसी प्रकार ग्राम्य-उच्चारण मे उन बहुत से स्वरो का अभाव है जो साहित्यिक उच्चारण मे विद्यमान है, और परिणामस्वरूप निम्नप्रकार के अन्तिमाक्षर पाये जाते है—

२—एक मुखर तथा किसी अन्य व्यजन का योग, यथा । सम्प्-गे । (= चम्पक), । कुण्ट-दे । (= मैंने आशा की) मे ।

३—एक ऊष्म तथा समअवयवी स्पर्श, अर्थात् एक ही उच्चारणस्थान से उत्पन्न स्पर्श, यथा, । पुस्त्-क । (=पुस्तक), । अगिष्ट्-कॆ । (=कसेरा) मे ।

४—। व्। तथा मुखर धन (plus) एक अन्य व्यजन। यह सर्वनाम रूपों के प्रत्यक्ष और परोक्ष कर्म के क्षिप्र उच्चारण मे अन्य शब्दो द्वारा अनुगामित होकर ही उपस्थित होता है यथा साहित्यिक उच्चारण मे । अवनिगॆ कॊडु। (=यह उसे दो) । किन्तु ग्राम्य मे । अव्न्ग्-कोडु। इसी प्रकार साहित्यिक मे 'अवळन्नु केळु' (=उससे [स्त्री०] पूछो) किन्तु ग्राम्य में 'अव्ळ्न्-केळु'।

यदि हम माध्यमिक महाप्राणो के विभाजन को देखे तो वे निम्नलिखित स्थितियो मे मिलेगे —

अ—मध्याक्षर के आरम्भाक्षर के रूप मे ये स्वरो के बीच आ सकते है, यथा । क-थॆ। (=कहानी), । सीता-फल। (=कुम्हडा) मे।

आ—अकेले उस व्यजन के पश्चात् आ सकते हैं जो अन्तिमाक्षर जैसा कार्य करता है, यथा । शुण्-ठि। (सोठ), ।स्वच्-छ। (=साफ) मे।

इ—ये अकेले व्यजन के पूर्व आ सकते हैं, यथा । मध्य।(=बीच),। माध्व। (माध्व) मे। इनमे अक्षरीय विभाजन कम स्पष्ट है। यदि हम । ध्य्। को अन्तिमाक्षर । ध्। तथा आरम्भाक्षर। य्। मे विभाजित करे तो अन्तिमाक्षर के रूप मे महाप्राण की क्या स्थिति होगी ? महाप्राणो को एक स्वनग्राम की इकाई समझने के पक्ष मे यह एक अन्य तर्क होगा, क्योकि स्पर्शो के समूह धन (+) मुखर सामान्यतया अन्तिमाक्षर के रूप मे नही आते। परन्तु हम ।ध्य। को अन्तिमाक्षर ।द्। तथा आरम्भाक्षर । ह्य्। के रूप मे भी विभाजित कर सकते है। ऐसा आरम्भाक्षर की प्रचलित प्रणाली मे ठीक बैठता है, और । ह्यागॆ। (=कैसा) [। हाएगॆ । या। हेगॆ। के रूप मे अन्य बोलियो में] के रूप में यह कन्नड की कुछ बोलियों मे प्राप्त है।[४] इस विश्लेषण के द्वारा आरम्भाक्षर एक गुच्छ समझा जाता है।

ई—ये अकेले व्यजनो के बीच आ सकते है, यथा 'आध्र' (=आन्ध्र) मे। पुन दो विश्लेषण सभव है ।न्ध्र्। मे अन्तिमाक्षर । न्ध्। और आरम्भाक्षर । र्। आ सकता है जहाँ महाप्राण को दूसरे प्रकार के अन्तिमाक्षर मे स्वनग्राम इकाई समझा जा सकता है, या अन्तिमाक्षर । न्। आरम्भाक्षर । ध्र्। जहाँ पुन महाप्राण तीसरे प्रकार की प्रणाली मे होगा, या अन्तिमाक्षर । न्द्। धन (+) महाप्राण के समूह के रूप मे विश्लेषण के साथ आरम्भाक्षर । ह्र्। ('हृदय' के समानान्तर) होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि महाप्राणो का प्राथमिक उपस्थित की दृष्टि से अकेले स्वनग्राम के रूप मे विश्लेषण स्पष्टतया वाछित है। जब कि उनके माध्यमिक वितरण को उनके गुच्छ के रूप मे विश्लेषण अथवा स्वनग्राम इकाई के विश्लेषण के रूप मे समझा जा सकता है। इसलिए समर्थनो की बहुलता महाप्राणो की स्वनग्राम इकाई के रूप मे स्वीकारने की ओर इगित

---

४. देखिए मेरी 'लिग्विस्टिक डाइवर्सिटी इन इन्डिया' में 'लिग्विस्टिक चेंज इन सम साउथ इंडियन कास्ट डाइलेक्ट्स' नामक लेख (इन्डियाना युनिवर्सिटी प्रकाशन, १९५९)

करती है, और कन्नड को हाकेट द्वारा प्रस्तावित विश्लेषण से मुक्त किया जा सकता है।[5] फिर भी इसका यह अर्थ नही होता कि हम स्वनग्रामिक प्रसार लेखन मे । खkh, घgh । की अपेक्षा । खkh, घgh । के प्रयोग को प्रचलित नही रख सकते, हमे यह ध्यान रखना होगा कि । खkh, घgh । एक ध्वनि सूचक द्विवर्ण इकाई है, यद्यपि हम उन्हे प्रकार लेखन सुविधा की दृष्टि से (रोमन लिपि मे) दो वर्णो द्वारा लिखते है।

हमारे सामने सस्कृत और हिन्दी की समस्या है। यद्यपि महाप्राणो के लगभग अधिकाश उदाहरण उन्ही दो भाषाओ से उधार लिये गये शब्दो मे वर्तमान है, पहले दिये गये उदाहरण पूर्णतया प्रश्न के समाधान के लिए पर्याप्त म होगे। सस्कृत और हिन्दी के स्वनग्रामो का विस्तृत वितरणात्मक अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए। अभी तक हमे यह भी निश्चित नही है कि इन भाषाओ मे महाप्राण व्यजनो तथा अल्पप्राण व्यजनो धन (+)। ह् । के बीच कोई विरोध नही है। बेनफी के 'बोल्स्तान्दीग ग्रेमेटीक'[6] मे अनुसूचित व्यजन-गुच्छो से फिर भी अस्थायी निष्कर्ष निकाले जा सकते है। वहाँ कुछ व्यजन-गुच्छ दिये गये है जो कन्नड के लिए वर्णित भेदो मे नही बैठ सकते, यथा ।प्त्। (आगे)।त्र्य्। और ।द्व्य्। समूह भी दिये गये है जो । छ्य्। और ।ध्र्। के क्रमो के विश्लेषण करने के लिए तीन व्यजन-गुच्छो की प्रणाली देगे। हाकेट का अनुसरण करते हुए, इस साक्ष्य से सस्कृत महाप्राणो को वास्तव मे ।ह्। के साथ गुच्छ मानना होगा।[7] अस्तु बेनफी ने एक प्राथमिक । ष्ठ्य् । को अनुसूची मे रखा है जो चार व्यजनो के किसी भी प्राथमिक गुच्छ के समानान्तर नही है।

जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, हमने इसके स्वनग्रामो का कोई वितरणात्मक विश्लेषण नही देखा है। हम जानते है कि इसमे वही सस्कृत शब्द समूह अधिक है जो कन्नड मे है, इसलिए यह आशा की जा सकती है कि इसमे महाप्राण बहुत सी उन्ही स्थितियो मे होगे। हम यह सदेह कर सकते है कि 'ख्याल' (उन बोलने वालो के लिए जो इस शब्द मे सघर्षी का प्रयोग नही करते) और 'भ्रम' मे प्राथमिक स्थिति मे प्राथमिक गुच्छ किसी भी स्पष्ट तीन व्यजन-गुच्छ के समानान्तर नही हो सकते और कन्नड की भाँति हिन्दी मे भी महाप्राण स्पर्श एक स्वनग्राम इकाई है। हाकेट की बात तब 'प्रकट रूप' से बहुत दूर है, वास्तव मे सर्वथा सदेहमय है। देवनागरी तथा अन्य भारतीय लिपियो मे अन्तर्निहित अकेले महाप्राण स्वनग्राम तब तक पहचाने जाएँगे जब तक इसके विपक्ष मे और अधिक साक्ष्य नही लाये जाते।

---

५ यह 'ऐन आउट लाइन आँफ कलोकियल कन्नड' के पृष्ठ ११-१२ मे दिये हुए विचार से भिन्न मत है।

६. थिओडोर बेनफ़ी, हैण्डबुख देर संस्कृतस्प्राख़े (लिपजिग १८५२: एर्स्ते अबथेइ-लुंग), पृष्ठ २१।

७. तब एक अकेले स्वनग्राम । ह् । में व्यंजनीय महाप्राणता, सघोष । ह् । और अघोष विसर्ग सम्मिलित होंगे, देखिए मेरा 'नोट आन विसर्ग', बुलेटिन ऑफ डेकन कालेज, अंक, १८, पृष्ठ २७१-७३ (१९५८ ई०)।

माता प्रसाद गुप्त

रोडा कृत 'राउल वेल' (राजकुल विलास)

[ग्यारहवीं शती का एक शिलाङ्कित भाषा-काव्य]

दामोदर पडित के 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण'[1] की भाषा-विषयक भूमिका समाप्त करते हुए डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने १९४५ मे लिखा था, "उक्तिव्यक्ति-प्रकरण के माध्यम से हमे जिस प्रकार नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाओ से विकसित हुई है उसके अध्ययन के लिए कुछ मूल्यवान् सामग्री प्राप्त हुई है इसमे हमे मुख्यत कोसली (या पूर्वी हिदी) और साधारणत. ऊपर और नीचे की गगा की घाटी की आर्य बोलियो के इतिहास का अध्ययन करने के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साक्ष्य मिला है। जिस भाषा का विवरण इसमे दिया गया है वह निस्सदेह एक वास्तविक बोलचाल की भाषा का उदाहरण है—वह पश्चिमी अपभ्रंश की भाँति की कोई कम या अधिक कृत्रिम साहित्यिक भाषा मात्र नही है, और इसलिए 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' का मूल्य नव्य भारतीय आर्यभाषा शास्त्र के अध्ययन के लिए और भी अधिक है।" इस लेख मे जिस रचना का विवरण दिया जा रहा है, उसके सबध मे भी ठीक-ठीक वही कहा जा सकता है जो ऊपर 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' के सबध मे कहा गया है; यह उसी प्रकार की दूसरी मूल्यवान् सामग्री है जो यहाँ प्रकाशित की जा रही है, और कुछ बातो मे उससे भी अधिक मूल्यवान् कही जा सकती है। यह 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' से भी पूर्व की रचना है, जो किसी पडित द्वारा केवल भाषा-परिचय के लिए नही प्रस्तुत की गई है, जिस प्रकार 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' की गई है, बल्कि एक कवि की कलापूर्ण अभिव्यक्ति है, जिसमे पद्य ही नही गद्य का भी प्रयोग उस के द्वारा अधिकार पूर्वक किया गया है, और जिसके सबध मे एक बडी भारी बात यह है कि उसका पाठ शिलाङ्कित होने के कारण अपने मूल रूप मे सुरक्षित है।

यह एक शिलालेख है जो प्रिस आव् वेल्स म्यूजियम, बबई मे रक्खा हुआ है। इसका आकार ४५" × ३३" है। यह कहाँ पर प्राप्त हुआ था, ठीक ज्ञात नही है। वर्तमान रूप मे यह भग्न अवस्था मे है। लेख के बाएँ भाग मे शिलाखड कर्णवत् ऐसा टूट गया है कि उसके चार टुकडे हो गए है, और तोड पर पत्थर की पर्तें इस प्रकार निकल गई है कि प्रत्येक पक्ति के तीन-चार अक्षर नही रह गए है। इसके अतिरिक्त शिलाखड के चारो कोनो पर पर्तें निकल गई है, जिससे लेख का एक महत्वपूर्ण अश नही रह गया है। बीच-बीच मे कुछ स्थानो पर पत्थर के घिसने

1 प्रकाशक—भारतीय विद्याभवन, चौपाटी, वम्बई।

तथा अन्य प्रकार की क्षतियो के कारण भी लेख का कुछ अश अपाठ्य हो गया है—विशेष रूप से लेख की प्रथम पक्ति तो सर्वथा अपाठ्य हो गई है और अतिम पक्ति का भी अधिकाश, जिसमे लेख की तिथि आदि के विवरण रहे होगे, अपाठ्य हो गया है।

शिलालेख कदाचित् अपने समग्र रूप मे प्राप्त है और यह किसी और बडे लेख का अश मात्र नही है, यह इससे ज्ञात होता है कि लेख मे कुछ नायिकाओ का अलग-अलग नख-शिख-वर्णन किया गया है जो सिर से प्रारम्भ होकर पैरो तक चलता है और इसकी प्रथम पक्ति के घिस कर निकल जाने पर खडित रूप मे जो प्रथम नख-शिख प्राप्त हुआ है, वह भी आँखो से पैरो तक आता है, केवल आँखो से पूर्व का उसका अश निकल गया है। पश्चवाले शेष नख-शिखो मे से आँखो का वर्णन केवल लेख के तीसरे और पाँचवे नख-शिखो मे आता है। तीसरे नख-शिख मे आँखो से पूर्व केवल ¾ पक्ति है जिसमे उक्त नख-शिख की भूमिका मात्र आती है, पाँचवे मे प्रारभ मे एक पक्ति मे भूमिका और ¾ पक्ति मे केश-वर्णन आते है, तब आँखो का वर्णन आता है। प्रथम नख-शिख भी असभव नही कि तीसरे की ही भाँति आँखो से प्रारभ हुआ हो, और उसकी प्रथम पक्ति मे, जो घिसकर निकल गई है, देवस्मरण के अतिरिक्त उक्त प्रथम नख-शिख की भूमिका मात्र रही हो।

लेख किस तिथि का है, अतिम पक्ति के अधिकाश मे घिस कर निकल जाने के कारण यह अनिश्चित रह जाता है। काव्य का नायक कोई गौड क्षत्रिय है लेख मे उसे कुछ स्थलो पर 'गौड' सबोधित किया गया है (पक्ति १९, २८) और एक स्थान पर कहा गया है कि उसकी प्रीतिपात्र राउल का हाथ सभी क्षत्रिय जन चाहते है—'थु खता जणु सयलइ चाहहिं' (पक्ति १३)। नायिकाओ मे से केवल राउल का नाम मिलता है (पक्ति ११, १२, १३, १४), और रचना का नाम 'राउल वेल' (=राजकुल-विलास) है, इसलिए ये दोनो व्यक्ति राजकुल के प्रतीत होते हैं, किंतु प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से इन पर कोई प्रकाश नही पडता है। लेख के अत मे दोनो छोरो पर कुछ मुद्रा जैसी आकृतियाँ लगती है जो कि अत्यत भग्न हैं, किंतु यह भी असभव नही कि वे कृत्रिम फूलो की कोई आकृतियाँ हो, जो कभी-कभी लेखो के अत मे उनकी समाप्ति सूचित करने के लिए मिला करती है। ऐसी परिस्थितियो मे लेख का समय-निर्धारण केवल लिपि-विन्यास के आधार पर सभव है। इसकी लिपि सपूर्ण रूप से भोज देव के 'कूर्मशतक' वाले धार के शिलालेख से मिलती है (दे० इपिग्राफिया इडिका, जिल्द ८, पृ०२४१)—दोनो मे किसी भी मात्रा मे अतर नही है और उसके कुछ बाद के लिखे हुए अर्जुनवर्म देव के समय के 'पारिजात मजरी' के धार के शिलालेख की लिपि बदली हुई है (दे० इपिग्राफिया इडिका, जिल्द ८, पृ० ९६)। इसलिए इस लेख का समय 'कूर्मशतक' के उक्त शिलालेख के आस-पास ही, अर्थात् ११वी शती ईस्वी होना चाहिए।

इसका लेखन-स्थान त्रिकलिग होना चाहिए, जहाँ का इसका नायक था, यह न केवल इससे ज्ञात होता है कि उसे कवि ने 'टेल्ल' (त्रिकलिग-निवासी) (पक्ति १८) और 'टेल्लिपुत्र' (पक्ति १५) कहा है, बल्कि इससे भी कि इस टेल्ल से उसके भाग्य की ईर्ष्या करते हुए गौड और गोदावरी तटवर्तियो का उसने उल्लेख किया है 'गौडहो गोल्लाहो वोलउ जो जसु

भावइ' (पक्ति ४१), और गौड तथा गोदावरी-प्रदेश त्रिकलिंग की सीमाओ पर के या कम से कम उससे बहुत सन्निकट के प्रदेश थे। यह त्रिकलिंग दक्षिण कोसल का एक भाग रहा है, जिसका सबसे मुख्य नगर मध्य प्रदेश का रतनपुरा रहा है।

ग्यारहवी तथा बारहवी शती मे त्रिकलिग त्रिपुरी के कलचुरि वश के राजाओ के शासन मे था, और कलचुरि गौड नही थे, इसलिए यह लेख उनके किसी सामत के सबध का ही हो सकता है।

इस लेख का विषय उक्त सामत की कुछ नायिकाओ का नख-शिख है। कुल छ नख-शिख इस लेख मे आते है पहला पक्ति १ से ५ तक, दूसरा पक्ति ५ से १० तक, तीसरा पक्ति १० से १४ तक, चौथा पक्ति १५ से १९ तक, पाँचवाँ पक्ति १९ से २८ तक तथा छठा २८ से ४६ तक। प्रथम की नायिका प्रारभ की पक्तियो तथा कुछ अन्य अशो के खडित हो जाने से ज्ञात नही होती है, दूसरे की नायिका कोई हूणि है,[२] तीसरे की नायिका राउल नाम की क्षत्रिय कन्या ज्ञात होती है, क्योकि कहा गया है, '—थु खता जणु सयलइ चाहहि' अर्थात् उसका [हाथ] समस्त क्षत्रियजन चाहते है (पक्ति १३), चौथा नख-शिख किसी टक्किणी के सबध का है, पाँचवाँ किसी गौडी के सबध का और छठा किसी मालवीया के सबध का। ऐसा लगता है कि ये नायिकाएँ उक्त सामत नायक की नव-विवाहिता पत्नियाँ या रखेलियाँ है, अथवा कुछ एक और कुछ दूसरी है, और काव्य-रचना इनकी प्रशस्ति मे हुई है। प्रथम पाँच नख-शिख पद्य मे है और छठा गद्य मे है।

लेख की भाषा पुरानी दक्षिण कोसली है, जिस प्रकार 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' की पुरानी कोसली है। उस पर समीपवर्ती तत्कालीन भाषाओ का कुछ प्रभाव अवश्य ज्ञात होता है। यह भाषा 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' की भाषा से कुछ प्राचीनतर लगती है, जो कि लेख के लेखन-काल के अनुसार होना भी चाहिए, और इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि हिदी, और हिदी की भाँति ही कदाचित् अन्य आधुनिक आर्य भाषाएँ भी, ग्यारहवी शती ईस्वी मे इतनी प्रौढ हो चली थी कि उनमे सरस काव्य-रचना हो सकती थी, वे केवल बोलचाल की भाषाएँ नही रह गई थी। अनेक विद्वान् हिदी भाषा का विकास कुछ पहले से मानते हुए भी साहित्य मे उसका प्रयोग स० १४०० के पूर्व नही मानते है। इस लेख के नख-शिख-काव्य ने उनकी इस धारणा को भली-भाँति निर्मूल प्रमाणित कर दिया है, जो कि 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' नही कर सका था।

इस रचना का कवि कौन था और रचना का नाम क्या था, यह भी ज्ञातव्य है। रचना के अत मे आता है—

रोडे राउलवेल वखा [णी]। [पुणु ?] तह भासह जइसी जाणी। (पक्ति ४६)

---

२ इस समय हूण-कन्याओं से विवाह होते थे। प्रसिद्ध कलचुरि शासक कर्ण (लक्ष्मीकर्ण) का उत्तराधिकारी और पुत्र यशःकर्ण उसकी हूण रानी आवल्ल देवी से था (दे० इपिग्राफिया इडिका, भाग २, पृष्ठ ४ तथा भाग १२, पृ० २१२)।

अत प्रकट है कि इसका कवि रोडा या रोड था और इस रचना का नाम 'राउलवेल' (=राजकुल-विलास) है। इसमे किसी सामत के रावल (राजभवन) की रमणियो का वर्णन हुआ है, इसलिए नाम नितात सार्थक है। इसका कवि रोडा या रोड कौन था, इसके सबध मे हमे कही से कुछ ज्ञात नही होता है। शिलालेख मे वह अपने को 'वडिरा' (<वदी) कहता है (पक्ति २२, २४, २६), इसलिए वह इस काव्य के नायक का वदी था, यही ज्ञात होता है।

इस लेख मे व और ब एक ही प्रकार से लिखे गए हैं। ण का प्रयोग बहुतायत से हुआ है—और कभी-कभी न के स्थान पर भी हुआ है, यथा 'मणु मणु' (पक्ति २) 'माण्डणु' (प० २) 'पहिरणु' (प० ४), 'विण' (प० ५), 'भण' (प० ९), 'मयणु' (प० १०) आदि मे, अनुस्वार की ध्वनियो के लिए सयुक्त वर्णो के रूप मे पचम वर्णो मे से ङ और ञ का प्रयोग नही हुआ है, ण, न, म का प्रयोग कभी-कभी हुआ है, यथा 'माण्डणु' (प० ३), 'चिन्तवतह' (प० ७), 'गवारिम्व' (प०९), 'तरुणिम्व' (प० १०), 'अम्हाणउ' (प० १०), 'म्वालउ' (प० १३), 'काम्व' (प० ४०) 'पाम्वइ' (प० ४२) मे, अन्यथा सानुनासिक और अनुस्वार दोनो के लिए बिंदु का प्रयोग हुआ है, 'य' का प्रयोग कभी-कभी 'ज' के स्थान पर भी हुआ है, यथा 'किय्यइ' (<किज्जइ) (प० १५) तथा 'कय्यडि' (<कज्जडि) (प० १६) मे। इन सामान्य त्रुटियो के अतिरिक्त लेख बहुत ही व्यवस्थित ढंग से लिखा गया है।

प्रस्तुत लेख मे इस सक्षिप्त भूमिका के अनतर रचना का पाठ सपादित करके दिया गया है, और उसका अर्थ लगाने का एक प्रयास किया गया है। भाषा की दृष्टि से रचना का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। किंतु वह एक स्वतत्र विषय है, जो यहाँ सम्भव नही था। भारतीय भाषाओ का अध्ययन करने वाले विद्वानो को इसका अध्ययन करना चाहिए, और वैज्ञानिक विधियो से इसकी भाषा का निरूपण करना चाहिए।

शिलालेख की छाप मेरे एक शोध-छात्र और इस समय महाराजा कालेज, जयपुर मे प्राध्यापक श्री हरिशकर शर्मा, एम० ए० ने मुझे दी थी। उन्हे वह प्रिस ऑव वेल्स म्यूजियम, बबई के सचालक डॉ० मोतीचद्र से प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत लेखक अत श्री शर्मा का आभारी है। शिलालेख को प्रकाशित करने की अनुमति डॉ० मोतीचन्द्र ने दी है और रचना मे आए हुए अधिकतर वस्त्राभूषणो के सम्बन्ध की आवश्यक जानकारी भी प्रस्तुत लेखक को डॉ० मोतीचन्द्र जी से प्राप्त हुई है, जो इस विषय के विशेषज्ञ है, इसलिए प्रस्तुत लेखक उनका दुहरा आभारी है।

विवेच्य शिलालेख की छाप (ink-impression) प्राप्त होने के कुछ समय बाद, जब उसका सपादन मैंने अधिकाश मे कर लिया था, मुझे ज्ञात हुआ कि भारतीय विद्या भवन, बबई के डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी इस पर मुझसे पूर्व से कार्य कर रहे थे। अत इस सबध में मैंने उन्हे लिखा। उन्होने लिखा कि उनका कार्य भी समाप्तप्राय था और मेरे कार्य से पहले से चल रहा था, इसलिए उनका कार्य प्रकाशित हो जाता तब मै अपना प्रकाशित करता। उनका कार्य गत जून-जुलाई मे भारतीय विद्याभवन की मुखपत्रिका 'भारतीय विद्या' में (भाग १७, अक ३-४, पृ० १३०-१४६) प्रकाशित हो गया है, अत मै अब अपना कार्य प्रकाशित कर रहा हूँ।

भायाणी जी ने अपने लेख मे एक भूमिका देने के अनतर शिलालेख का पाठ और अर्थ दिया है, और मैंने भी इस लेख मे यही किया है, किन्तु शिलालेख के सबध के दोनो कार्यो मे बहुत अतर है। हम दोनो के पाठो मे एक तो अतर यह है कि कही-कही पर जहाँ पत्थर घिसा हुआ है, भायाणी जी ने उस को देखकर कुछ अक्षर या शब्द दिए है, मुझे केवल प्राप्त छाप पर निर्भर रहना पडा है दूसरे भायाणी जी ने 'ओ' को भी प्राय 'उ' पढा है, अथवा कही-कही सदेहवाचक चिह्न लगाकर 'ओ' पढा है, मैंने दोनो वर्णो को अलग-अलग पढा है क्योकि शिला-लेख मे ही ये दोनो वर्ण परस्पर स्पष्टत भिन्न है। हम दोनो के अर्थो मे अन्तर बहुत है। अग्रेजी मे अर्थ देने के कारण भायाणी जी को कही-कही पर भाव मात्र देते हुए सतोष करना पडा है, मैंने यथासभव मूल के शब्दो मे अर्थ देने का प्रयत्न किया है। किंतु यह अतर तो साधारण है, जो सब से अधिक विचारणीय अतर है, वह लेख के अधिकाश के अर्थ के सबध मे है भायाणी जी ने एक अर्थ लगाया है, तो मैंने प्राय बहुत भिन्न। प्राचीन भाषा के लेखो के सबध मे इस प्रकार की सभा-वना बहुधा होती है किंतु हम दोनो के अर्थों मे कुछ असाधारण अतर है जिस पर विद्वानो को विचार करना चाहिए। इसी प्रकार, शिलालेख के सबध मे हम दोनो ने जो परिणाम निकाले और अपनी-अपनी भूमिकाओ मे दिए है, वे भी परस्पर काफी भिन्न है। इस लिए डॉ० भायाणी का लेख देखने के बाद मुझे यह आवश्यक ज्ञात हुआ कि अपना कार्य प्रकाशित करूँ और उसी का यह परिणाम है।

मेरे अर्थो मे भायाणी जी के अर्थों से कहाँ-कहाँ पर अतर है और क्यो है, यह बताना अनावश्यक होगा। केवल हम दोनो के परिणामो मे जो अतर है, उसी का सक्षेप मे नीचे उल्लेख किया जा रहा है।

१. भायाणी जी का मत है (भूमिका पृ० १३१) कि इस शिलालेख मे उसकी पूर्णावस्था मे आठ नख-शिख रहे होगे, जो आठ प्रदेशो की स्त्रियो के रहे होगे जैसा कि लेख के अत मे आने वाले 'आठह भासह' शब्दो से ज्ञात होता है। किंतु 'भासह' के पूर्व जहाँ तक मै पढ सका हूँ 'णतह' अक्षर आते है, केवल 'ण' के नीचे का अश त्रुटित है। इसलिए मेरी राय मे 'भासह' के पूर्व 'आठह' नही हो सकता है। मैंने सुझाव दिया है कि 'भासह' के पूर्व 'तह' है और 'तह' के पूर्व 'पुणु' का होना सभव है। ऐसी दशा मे लेख की पूर्णावस्था मे उसमे आठ नख-शिख रहे होगे, यह अनुमान मझे ठीक नही लगता है।

२ भायाणी जी का कथन है (भूमिका पृ० १३०, १३१, १३२) कि लेख की अतिम पंक्तियो मे आने वाले 'आठह भासह' से यह भी ज्ञात होता है कि ये आठ नख-शिख अपभ्रशोत्तर आठ बोलियो के विशिष्ट तत्वो से समन्वित रहे होगे, और लेख मे जो छ नख-शिख बचे है, वे जिन-जिन क्षेत्रो की नायिकाओ का वर्णन करते है, उन उन क्षेत्रो की बोलियो का कुछ प्रतिनिधित्व अलग-अलग उनके नख-शिख-वर्णन मे उपस्थित करते है। 'आठह भासह' के प्रमाण के विषय मे ऊपर लिख ही चुका हूँ। मेरी राय मे समस्त नख-शिख एक ही बोली मे लिखे गए है, जिसमे कुछ निकटवर्ती बोलियो के भी तत्व कदाचित् आ गए है। यह विषय बडे ही महत्व का है, और भारतीय भाषाओ के विद्वानो को इस पर विचार करना चाहिए।

३ भायाणी जी ने इस प्रसग मे यह भी लिखा है (भूमिका पृ० १३८) कि छ क्षेत्रो मे से प्रथम दो के नाम त्रुटित अशो मे निकल गए है, शेष चार है कानोज (?), टक्क, गौड तथा मालवा। भाषाओ के सबध मे उनका अनुमान है कि प्राप्त नख-शिख क्रमश अवधी, मराठी, पश्चिमी हिंदी, पजाबी, बगाली तथा मालवी के पूर्वरूपो मे लिखे गए है। जहाँ तक क्षेत्रो की बात है, 'कानोज' कही नही आता है शिलालेख की पक्ति १० मे 'कानोडउ' आता है, जिसको वे 'कानोजउ' के स्थान पर भूल से लिखा मानते है, किंतु शिलालेख के 'ज' और 'ड' मे इतना अधिक अतर है कि यह भूल असभव है। 'कानोडउ' प्रसग मे सगत है, जैसा मेरे दिए हुए अर्थ मे देखा जा सकता है। जिन बोलियो का उन्होने उल्लेख किया है, यदि उनके प्रतिनिधि तत्वो का भायाणी जी ने उल्लेख भी किया होता तो अधिक अच्छा होता।

भायाणी जी लिपि-शैली के आधार पर लेख का समय वही मानते है जो मैने माना है। लेख किस व्यक्ति से सबधित है, इस पर उन्होने विचार नही किया है।

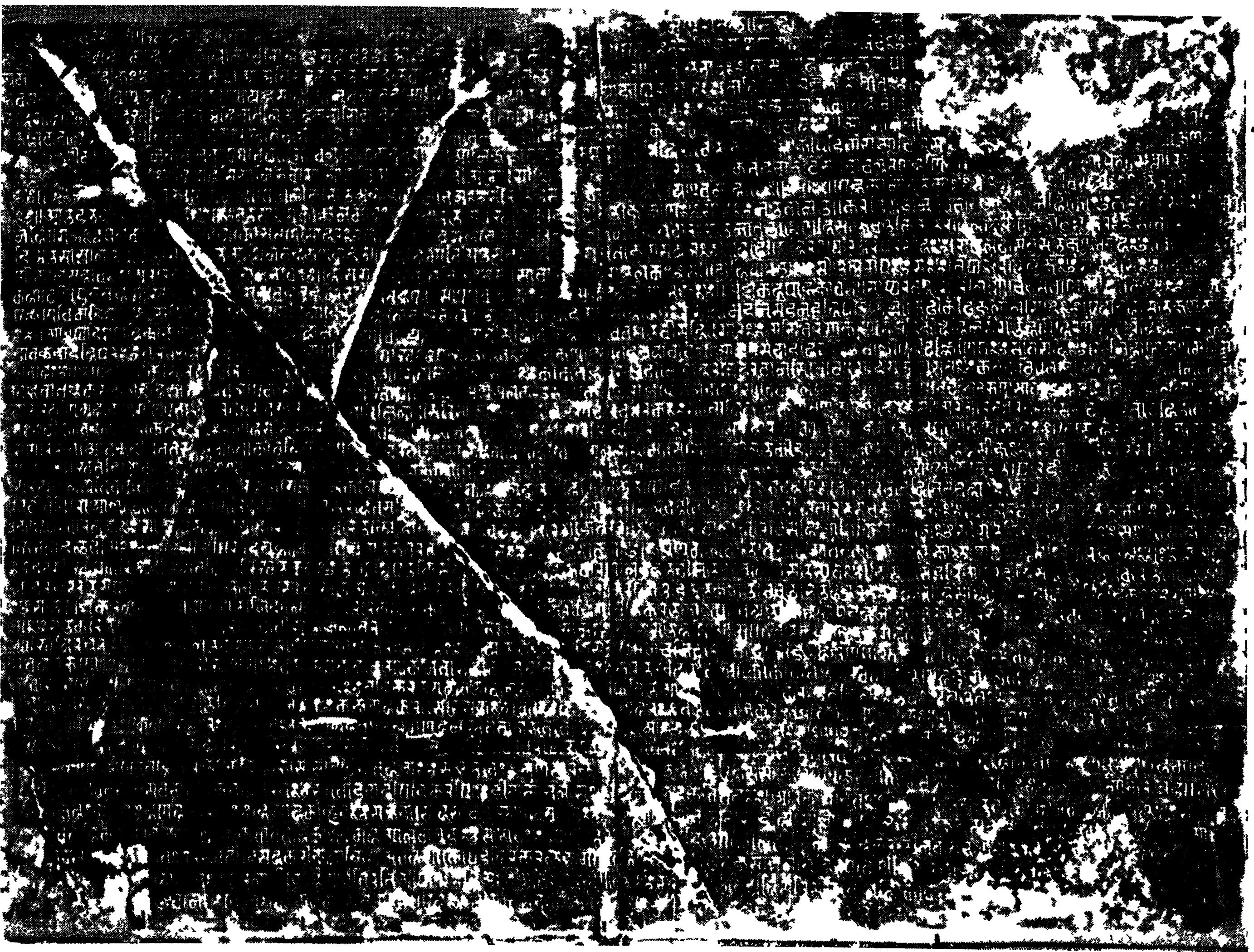
इतना उन्होने और सूचित किया है (भूमिका पृ० १३०) कि लेख रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की बबई शाखा से प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम को मिला है और केवल इतनी सूचना के साथ मिला है कि यह मालवा के धार नामक स्थान से प्राप्त हुआ था, यह काले पत्थर पर है और यह उक्त म्यूजियम के पुरातत्व विभाग का नवॉ प्रदर्शितव्य (Exhibit) है। इसका आकार उन्होने ९५" × ३३" बताया है, जो स्पष्ट ही अशुद्ध है "४५" का "९५" भूल से छप गया है।

पाठ[३]

– – – – – – – – – – – – – – – [।]– – – – – –[२]–मा[ण्ड णु ?]भा व इ ।।
आ खि हि का ज लु त र ल उ दा ज इ । [आ]छ उ तु छ उ(?)फू ल– – – इ ।।
अ ह [र] त बो ले म णु म णु रा त उ । सो ह दे इ क वि आ न – – – – [।।]
– – – – – – – – – – – – – – – [।] [३] ली– – – त म्व ही मो हं थि ।।
जा ला का ठी ग ल इ सु हा व इ । आ नु कि[सो ह ?]इ ता क रि[पा]व इ ।।
ए ह इ त रु णि हु मा ण्ड णु भा ल उ । ज ज सु रू च इ स – – – – – – – [।।]
– – – – – – – – – – – – – – – [।] – – – [४] णु म णु– – डी ज इ।।
रा त ऊ क चु आ अ ति सु ठु चा ग उ । गा ढ उ वा ध उ – – – – –आ ग उ ।।
– दु हा प हि र णु भा ल उ भा व इ । ता सु सो ह कि क छ डा पा व [इ ।।]
– – – – – – – – – – – – – – – [।] – – – – – – – [५]हु वे स म णु –।।
वि णु आ ह र णें जो पा यें (?) न्हु सो ह । आ नु व ना त ह मो ि– उ – ोह ।।
अ इ [सी] वे टि या जा घ रु आ व इ । ता हि कि तू लि म्व को ऊ पा व इ ।।
[।। * ।। * ।। * ।।]

---

३. कोष्ठकों में दी हुई संख्याएँ शिलालेख की पक्तियों की है।



रोडा कृत 'राउल वेल' का शिलालेख

— — — — — — — — — — — — — — [।]–[६] छ हि गो हा को — — दे ख सि ॥
व लि अ हि वा ध लि अ हि जे चा गि म्व । ते वा न तु — — —वी (?) ला गि म्व ॥
— अ हि आ तु जे वि अ इ ल फू ल्ले । अ छ उ ता उ कि ते ह चे वो ल्ले ॥
— — — — — — — — — — — — — — [।] — — — — — —[७]—का चू वो डा ला—॥
— — ह ध डि व न ह चि जे रे ख । ते चि न्त व त ह आ नि क ओ ख ॥
— — क चि का ठी का ठि हि सो ह इ । लो क ह ची दि ठि मा ड चि खो ह इ ॥
आ गि हि ला — — — — — — — — — [।] — — — — — — — — — — — — — — ॥
प डि ह [८] — — — — ली मा — — [। आ] नि कु वा नू जो ए थु धे ठा ॥
आ वि लु का छ डा द ढ गा [ढा] । आ नि कु जो व णु ऊ–रु था ढा ॥
हा थि हिं री ठे ऊ ज ल ला न्ह । जी पु डि ता गे आ वि ल सा न्ह ॥
— — — — — — — — — — पा टी (?) गा ढी । ज णु का म्वे [९] — — — — — — — — ॥
पा इ हि पा ह सि या चि रु चा गा । लो ण चि आ नि [क] मा डी आ गा ॥
गो ल्ले आ [न ?] दि (?) अ तु झ चि दे सु । आ नि क ते ह चा तो वे सु ॥
चा व लु भ ण हु णि तो — — — — । ते आ पु ली ग म्वा रि म्व आ ख [१०] इ ॥
— — — — — — — त रु णि म्व मा डी । पा त ली को भा उ अ छा डी ॥
— — क चि अ इ सी रा उ ल सो [ही] । दे ख त तो ही म य णु व मो ही ॥

॥ * ॥ * ॥ * ॥

ए हु का नो ड उं का इ स उ झा ख इ । वे सु अ म्हा ण उ ना ज उ दे ख [११] इ ॥
आ उ ड उ जो रा उ [लु सो] ह इ । थ इ न उ सो ए थु को क्कु न मो ह इ ॥
ड ह र उ आ खि हि का ज [लु] दी न उ । जो जा ण इ सो थ इ न उ वा न उ ॥
क र डि म्व अ नु का च डि अ उ का न हि । का इ क रे व उ सो ह हिं आ [१२] न हि ॥
ग ल इ पु लू की भ [ा व इ ?] का ठी । का म्व त णी सा ह र इ न — — ॥
ला व झ ला व उ का चू रा त [उ] । को कु न दे ख तु क र इ उ मा त उ ॥
थ ण हि सो ऊ च उ कि अ उ रा उ ल । त रु णा जो व न्त क र इ सो वा उ ल ॥
वा ह [१३] डि अ उ सो म्वा ल उ दी ह उ । — — उ आ थि न त हु ज णु चा ह उ ॥
[हा] थ हिं मा ठि अ उ सु ठु सो ह हिं । — थु ख ता ज णु स य ल इ चा ह हिं ॥
प हि र णु फ र ह रे प र सो ह इ । रा उ ल दी स तु स उ ज णु मो ह इ ॥
झ णि ने उ रा [१४] णी का न सु हा व इ । अ रो (?) र क — — — म न भा व इ ॥
हा स ग इ जा चा ल ति अ इ सी । सा वा ख र ण हु रा उ ल क इ सी ॥
ज हिं घ रे अ इ सी ओ ल ग प इ स इ । त घ रु रा उ लु ज इ स उ दी स इ ॥

॥ * ॥ * ॥ * ॥

[१५] के हा टे ल्लि पु तु तु हु झा ख हि । अ — — — रा डु वे हु तु हु आ ख [हि] ॥
वे हु ए क्कु सो ए थु व न्नि ज्ज इ । — अ क्ख द ह ही आ भि ज्ज इ ॥
अ ड् डा के ह पा हु जो व ढा । सो प्प र ते हा गो री ल ढा ॥

च द स वा णा टी (दी?) हा कि य्य इ। जे मु हु [१६] ए क्के ण वि म डि ज्ज इ ॥
अ घि हि — — — — — — — रा दि त्ता। जो [नि] हा लि क रि म य णू म त्ता ॥
क य्य डि अ हि सो ह हि दु इ ग न्न। म (म) ड न स ड न ड हि प रे अ न्न ॥
क ढी (ठी) क ढि (ठि) ज ला ली सो ह इ। ए हा ते हा स उ ज णु मो ह [१७] इ ॥
आ धू घा डे थ ण हि ज क य्यू (च्चू)। सो—स न्ना हु अ ण ग हो न— ॥
[क] य्यू (च्चू) वि य्य (च्च) हि जे थण दी स हि। ते नि हा लि स व व त्थु उ वी स हिं ॥
गो र इ अ गि वे र गा क य्यू (च्चू)। स ज्ञ हि जो न्ह हि न स ग उ हू ॥
प हि र णु घा घ रे हि जो के रा। कछ [१८] डा व छ डा ड हि प र इ त रा ॥
— — — झि क — — —ला प — — णु। पा ख इ पा ख उ धा व इ त सु ज णु ॥
ए हा वे हु सु हा वा टे ल्ल। आ न्न तु स दा ड हि प र इ वो ल्ल ॥
ए ही ट क्कि णि प इ स ति सो ह इ। सा नि हा लि ज णु म ल म [१९] ल चा ह इ ॥

॥ * ॥ * ॥ * ॥

की स रे व डि रो टा क तु [हु] — ल [सि।] रा हू आ गे वा न तु भू ल सि ॥
त इ की क त हू वे स रे दी ठे। जे ह र ते ह र वा न सि धे ठे ॥
गौ ड सु आ णु स त इ क त दी ठे। ते दे खि वे स कि भा व थि मी ठे ॥
वे [२०] डे न्हु वा धे न्हु के स ज लु ड हि म्व। खो प व ली ए क हु — — — — स म्त्र ॥
खो प हि ऊ प र अ म्त्रे अ ल क इ से। र वि ज णि रा हू घे त ले ज इ से ॥
दि ठ हु ल फू ल अ म्हा — —म्वा ज्ञ थि। ते दे खि त रु णे सा व इ मू ज्ञ थि ॥
तू छे फू ल ता रे म ण [२१] हा रे। र य णि मु हा ज णु ग णि ए ता [रे] ॥
— रे व व्वं र दे खु रे — —। ता रि नि ला डी स रि सो का हु ॥
भ उ ही तु रू री दे खु व व्वं र क इ सी। ता हि का म्व क री ध णु अ ड णी ज इ सी ॥
अ रे अ रे व व्वं र दे ख सि न टी का। चा द हि ऊ प र ए ह [२२] भ इ टी का ॥
वे टु ला टी का के ह र [भा] व इ। मु ह स सि ओ ल ग चा — —ना व इ ॥
वि णु व न वा रा अ छ ण नो वा र सि। वु ढि रे वं डि रो आ प णी हा र सि ॥
का न न्हु प ह्लि ले ता ड र पा त। ज णु सो ह इ ए व सो हि रे पा त ॥
गू आ रा गे द [२३] स ण रे रा ते। आ ट कु डी पु त त — — मा ते ॥
का ठ हि मा ड णु — — ल र ता गु। सो ल हि म य ण हि ए व भो अ ल ला गु ॥
मा से सो ना जा ल उ की ज इ। मो त्ता स र सो हु ते हू ह सी ज इ ॥
ग ठि आ ता ग उ ग ले हि सो भ स [२४] णु। जो दे खि व डि रो को न [मू?] ज्ञ इ ज णु ॥
म्व तु त री अ न्हु क र — — हा रु। सो दे खि हा र न्हु भ उ अ व हा रु। [।]
थ ण ह र मा झे जो हा रु सु ते र उ। सो ह न्हु — —न्हु सो ए कु ज ठे र उ ॥
पा र डी आ त रे थ ण ह रु क इ स उ। [२५] स र य ज ल य वि च चा दा ज इ स उ ॥
सू ते र हा रु रो मा व लि क लि अ [उ]। ज णि गा ग हि ज लु ज उ ण हि मि लि अ उ। [।]
पै ह्लि अ ल वा ही ज्जे च द हा ईं। वी जे र चा द हि ते चं द हा ईं ॥

आ ग हिं मा ड णु अ गे र उ जा लु। का ठी [२६] वे टी व डि रो आ लु॥
का छा [पै] ह्ल ण के रि ज सो ह। आ न स रा ह त सु णि [अ?] हि अ ति को ह।
वि उ ढ णु से दू री से ल द ही की ज इ। रू उ दे खि ता र उ स व ज णु खी ज इ॥
ध व ल र का प ड ओ ढि अ ल क इ से [।] मु ह स सि [२७] जो न्ह प सा रे ल ज इ से॥
अ इ सो उ वे सु जो ग उ डि न्हु के र उ। छा डि---न त दि ठ स वु तो र उ। [।]
जे ह र रू च इ ते ह र वो लु। ता रे वे स हि आ थि कि मो लु॥
अ इ सी ग़ उ डि ज रा उ ले प इ स इ। सो ज णु ला [२८] छि मा डे उ दी स इ॥

॥ * ॥ * ॥ * ॥

गौ ड तु हु ए कु को प नु अ उ र व र----
को त इ स हु भ इ वो ल इ।
ज पु णु मा ल वी उ वे सु हि आ व तु
का म्व दे उ जा उ (तु) आ प णा ह ह थि आ र हु भू ल इ।
इ हा अ म्हा र [२९] इ दु भ गी खो प क रि उ भ इ।
त हि सा रि ख उ क हा इ उ आ थि ए उ कि स---इ (?)।
खो प हि ऊ प रि सो ल ड ह उ दी न उ वा नु ते कि स उ भा व इ।
जि स उ सि दू रि अ उ र जा य सु का म्व दे व ह क र उ ना व इ।
नि [३०] ला डु र तु रू र उ सु प वा णु न सा न्ह उ न ऊ च उ।
सो दे खि उ आ ठ म्वि हि क र उ चा [दु] इ स उ भा व इ।
के (?) र ए हु ओ डि अ उ जू न उ ठे च उ।
भ उ ह हु र दु इ तु रू री हिं सा न्ही हिं आ डा ह आ खि हि क र इ गु ण इ
ज[३१]इ स उ का म्व क र उ[ध]णु हुं च डा वि य उ।
नि डा लि टी के तु रू रे की ए ते का म्व ह----
स क री हि भा ले हि क र उ का जु पा वि य उ।
सा न्हा ह पु ड ह ना कु तु रू र उ सु रे खु।
सो इ र वा ना ह स व ह ऊ त रि अ उ [३२] अ इ स उ क रि उ-----ले खु।
आ खि र फा टा ती खा ऊ ज ला त र ला ते वा न ति जी भ---खू झ इ।
त इ स उ ह थि आ रु पा वि उ का म्व दे उ ज ग ही का इ क रि सी
अ इ स उ वृ ह स्प ति ही न उ मू (सू) झ इ।
[३३] आ खि हि र तु रू [र उ] का ज लु दी न उ क इ स उ।
ज णु चा खु हु क र इ भ य इ कि य उ---जि स उ।
पू नि व हि क र उ चा दु फा डि उ ह रि णु पा ख इ घा लि उ
दु ई क पो ल जि सा कि आ।
ते दे ख त ह [३४] स व ह त रु णा
पा वि वे क री ख णु स इ ध स ध स प ड हिं हि आ।

क न वा स ही का न हीं वा — — इ क र उ खू ट उ वो लु।
के के के त उ न ख पि अ उ ए हिं ज गी (गि) आ थि न मो लु।
ते न्ह र प इ ह्लि या ध डि व [३५] न कि सा भा व थि।
[ज] णु पू नि व हि पू नि व हि क रा चा द को ड इ त हि क र उ सु हा व उ
वो लु सु ण ण — — — फ डि उ आ या ना व थि।
ते हि क र इ त लि ल ईं उ प इ ले ओ ठ इ स क वि सो ह ला धी।
ज वी वी फ ल ह प[३६]वा ला ह अ सो [अ] प ल्ल व ह ते तू सि उ वि ल धी।
स मु दा इ क ज मु ह क री सो भ स ज इ
को इ प [इ ह्न] णु ह र इ त उ प मा न क र हु।
वू घि आ प णी अ छ इ स कू डी वा न णी
त।(ता) ह क री क रि उ स ही अ व ह र हु — —
[३७] — — ए का व ली — — इ ए (?) क (?) वा धी स इ र इ सी भा व इ
ज णु मु ह च दु ओ ल ग ण ह न ख त वा ल स ता वी स
— — —री आ ई अ इ स उ ना व इ।
थ ण र प हु ला ऊ चा वा टु ला पी णा
सो ना ह क रा म ग ल क ल स जि सा — — [३८] —हिं
आ नु कि का म्व दे व ह क रा ह घ र ह
वा रि ओ डु ता स सो ह पा व हि।
ति व लि हिं मा झि रो म रा इ — — — — ध र इ।
ज सो ह हि क र इ पा ख इ दु हु आ ध ह जू झ त ह नि वा ड उ क र इ।
त ह मा ड णु सा त (?)—[३९] — — — —णि (?) हु
मो ती हु क र ह ए कु जि हा रु।
स सो ह दे ख त ह अ इ स उ भा व इ
अ ण सा र उ अ — — —उ हु अ उ ए हु स सा रु।
त पु णु ज व ही ते हा थ ही पा य ही प ड ह्लिआ सो ना के रा चू डा।
स दे खि (?) [४०] — —तु म्हा [रा] जे वे स ते स व भा व हिं कू डा।
ते र त (त्त) इ सी वो ड वा ही प डि क री प इ ह्ली ज का चु ली
स इ र [आ ?] न सो ह क वि व ह ड।
अ रे का म्व दे व इ स ना हु कि य उ
त ए वं तु म्ह न ही छो डि क उ इ स उ ति हु [४१] [व न ?] ही क ह इ॥
प इ ह्ल ण ह नि री प इ ह्लि आ ह का छ ड इ स हु ज सो ह
स कि क उ णू वे सु पा व इ।
— — च ग ि— — थि वि अ रे गौ ड हो गो ल्ला हो
बो ल उ जो ज सु भा व इ॥

ते पु णु — — — — — — टी ए क आ व लि
[४२] — — — व ता हि क री सो ह को पा म्व इ।
ज वा ध ता ह का म्व दू म ह आ ल वा लु ज इ सी भा व इ ॥
पा य हि र र तू प ल — —जि आ।
जे लो क हि ला छि हि क र उ नि वा सु भ णि उ
— — — — — — — — — — वा टु ला ह ऊ ज ला
[४३] — — — — क री — — — —ी।
ते इ र स व ही वे स ह क री ज ला छि स अ व ह री ॥
का प ड हि र क र उ ज गो री त हि — — — — — —वे सु
ज सा म्व ली त हि र पा ट णी ि— — क र उ।
आ — म — — — — — — — — — — ह।
को स सो — — [४४] उ — — — छा य ते इ प र ला धी।
ज हि आ व ति र ति आ प ण इ हि अ इ अ ति सु ठु खू धी ॥
तु म्ह इ — — — — —ल तु म्ह हि स रि स उ वो ल हि को जू [झ इ।]
— — — — — — — — — — — —
आ [४५] नु (?) — — — इ वा न ह जो व थु का ज ह मा झु वू झ इ ॥
ए ह इ सी सु वे स ज हि आ वि उ प इ स इ
— — — [रा ?] उ लु वू च इ।
अ उ रु भ ण उ को क — — — — — हु — — — — — — — रूच [४६] इ [॥]
— — — — —
रो डे रा उ ल वे ल व खा [णी।]
[पुणु ?] त ह भा स ह ज इ सी जा णी ॥
— — — — — — — — — — — — — — — — — —

अर्थ

— — — — — — — — — — — — — — [।] — — — — — — [२]— [मण्डन ?] भाता है।
आँखो मे काजल तरल दीखता है, अच्छा तुच्छ फूल— — —है।
अधर के ताबूल द्वारा मन मानो रक्त हो गया है, कवि [कहता है]— — — —अन्य ही शोभा देता है [।]
— — — — — — — — — — — — — —। [३]— — — — — — —को मोहते है।
[उसके] गले मे जाल कठी शोभा देती है, क्या और कोई [आभरण] उसकी [शोभा?]पाता है ?
तरुणी का मंडन इस प्रकार भला है कि जिसको जैसा रुचे— — — — — — — —[।]
— — — — — — — — — — — — — —[।]— — —[४]— — — — — — — — —।
रक्त [वर्ण का] कचुक अत्यधिक चगा (अच्छा) है, [और]— — — —अग से वह गाढा (कस कर) बँधा हुआ है।

---परिधान भला (बहुत) भाता है, उसकी शोभा क्या कछडा पा [सकता] है ?
-------------[।]-------[५]-------।
बिना आभरणो के पैरो की जो शोभा है, वहाँ (उसमे)------अन्य ही वर्ण का है।
ऐसी बेटी जिस घर मे आवे, उस [घर] की तुल्यता क्या कोई पा सकता है ?

[॥ * ॥ * ॥ * ॥]

-------------[।]-[६]---ऐ गोहा (पुरुष या भट) तू----देखता है।
बलि हुए सर्पो को [बालो के रूप मे] बाँध लेने से जो चगिमा (मनोहरता) हो रही है, उसका वर्ण-----लग रहा है।
–जो आत (बलवान) अहि विकच्चित और फूले हुए है, क्या यह [हो सकता] है कि वे तावत् उस प्रकार बोले ?
-------------[।]------[७]--------[।]
--घडिवन (झुमके ?) की जो रेखाएँ है, वे चिन्तनशीलो को बाँके ढग से अवक्षिप्त करती है।
-----कठ मे जो कठी शोभा देती है, वह लोक की दृष्टि मे मडित होती और उन्हे क्षुब्ध करती है।
अग मे------------[।]--------------।
पटी (दुपट्टे) का [८]----------[।] बाँका वर्ण जो यहाँ पर(?)धर्षित हो जाता है।
[तेरा] आविल (मलिन) कछडा प्रगाढ रूप से दृढ है, [और तेरा] बाँका यौवन---खडा है।
हाथो मे [जो] रिष्ट (रीठो) [के रूप मे] उज्ज्वल, लान्ह (छोटे) और जीपुडि (?) तागे है, वे आविल (मलिन) है।
----------गाढी पट्टी है, मानो कामदेव [९]--------।
पैरो मे पाद हसिका[४] है जिसने अति ही चगा (भला) [और] बाँका लावण्य अगो मे माँड रक्खा है।
गोल्ल (कुदरू के फल) आनदित (?) [होकर] तुझसे कहते है कि तेरा वेष उनके [वेष] से बाँका है।
हे हूणि------वे क्या बल भाष सकते (दावा कर सकते) है ? वे तो आपूर्ण ग्राम्यता [ही] बताते है।
[१०]-------तरुणता माँडी है, [तुझ] पातली (पतले शरीर की स्त्री) को [तेरे] भाई ने छोड दिया।
---- राउल (राजभवन) मे तू ऐसी शोभित है कि तुझे देखकर मदन भी मोहित हो जावे।

॥ * ॥ * ॥ * ॥

इस प्रकार कनावडे होने (?) को किससे झखे, यदि तू हमारे वेष को नही देखती ?

४. पैरों का एक घुंघरूदार आभूषण।

[११] ऐ राउल, जो [तू ऐसी] आपूर्ण शोभित हो रही है, यहाँ वह व्यक्ति नही है जो [तू ही] बता मोहित न हो जाए।
[तेरी] आँखो मे जो डहर (अल्प) काजल दिया हुआ है, जो [कुछ] ज्ञात है वह उसका वर्ण (सवर्ण) नही है।
[तेरे] कानो मे करडिम (करपत्रिका)[५] और काँचडी (?)[६] है, [अत] अन्यो (अन्य आभरणो) को शोभा के लिए क्या कर्त्तव्य है ?
[१२] गले मे खोखली कठी [इस प्रकार] भाती (?) है [मानो] वह काम की शृखला———।
लबा, लॉवझ (?) और रक्त [वर्ण का तेरा] कचुक है, तू ही न बता कि वह देखते ही उन्मत्त [नही] करता है ?
ऐ राउल, सो (जो) [तू] अपने स्तन ऊँचे किए हुए है, वह तरुणो को देखते ही बावला कर देता है।
[तेरी] जो बाहे है वे मल्ल—अवष्टम्भन स्तभ—के समान दीर्घ है,———मानो देखो तो उस प्रकार नही है। [तेरे] मृष्ट (मसृण) हाथो को जो बहुत शोभा देते है,—— समस्त खता (क्षत्रिय) जन चाहते है।
[तेरा] परिधान फहराने पर शोभा देता है, [और] हे राउल, वह [परिधान] दीखता हुआ सब जनो को मोहित करता है।
[तेरे] नूपुरो की ध्वनि [१४] कानो को सुहाती है,———————मन को भाता है। जिस हस-गति से वह इस प्रकार चलती है, वह वाखर (पक्ष = आधी) भी राउल [की गति] सी नही है।
जहाँ घर मे ऐसी अवलग्ना प्रवेश करती है, वह घर [सचमुच] राउल (राजभवन) जैसा दीखता है।

|| * || * || * ||

[१५] किस प्रकार टेल्लिपुत्र (तिलगी का पुत्र) तेरे लिए झखता है ? ———————देख कि वह तुझे (तेरे सबध मे) कहता है,
'एक भी [ऐसी] कोई दीखती हो तो उसका यहाँ वर्णन कर।'—कहते हुए [उसका] हृदय भीजता (स्निग्ध होता) है।
जो किसी प्रकार के आड (कलक या दोष) के पाश मे बँधता है, वह ही उस प्रकार से गोरी को प्राप्त करता है।
चद्रमा का सवर्ण [कोई पदार्थ] दिन (?) के लिए भी यदि [निर्मित] किया जावे, तो यह भी [तेरे] मुख को [१६] एक न माँड (पा) सकेगा।
———————————दिया हुआ है, जिसे निहारकर मदन भी मत्त [हो रहा] है।
[तेरे] दोनो गण्ड कय्यडियो[७] से अति शोभा देते है, [जिसके कारण] अन्य मडन सद्यः ही (?) दग्ध हो चुके है।

---

५ करपत्र (आरे) के समान दाँतदार एक कर्णाभरण।
६ एक प्रकार का कर्णाभरण (?)।
७ एक प्रकार का कर्णाभरण (?)।

[तेरे] कठ मे जो जलारी (जल्लार देश की) कठी शोभित है, वह ऐसे-वैसे सब जनो को मोहित करती है।

[१७] आधे उघाडे स्तनो पर जो कचुक है, वह—अनग का सन्नाह —— है।

कचुक के बीच मे जो स्तन दिखाई पडते है, उन्हे निहार कर [लोग] सब वस्तुओ को उद्‌घषित करते है।

[तेरे] गोरे अग पर दोरगा कचुक [ऐसा लगता] है, मानो सध्या और ज्योत्स्ना का सगम हुआ हो।

[तेरा] जो घाँघरे का परिधान है, [१८] [उसको देख कर] इतर कछडा और बछडा [पछेला] दग्ध हो जाते हैं।

——————————————। पक्ष मे पक्ष दौड रहा हो, मानो ऐसा [होता] है।

देख, [तेरे सग मे] टेल्ल (तिलगा) [इस प्रकार] शोभित है कि अन्य वोल्ल (?) सद्य दग्ध हो जाते हैं।

[राज-भवन मे] प्रवेश करती हुई इस प्रकार की टक्किणी शोभा दे रही है, उसको निहार कर लोग [आँखे] मलमल कर [१९] देख रहे है।

॥ * ॥ * ॥ * ॥

ऐ वडिरा (वदी), तू कैसा है कि टक्क———, ऐ राहु (पलित केश वाले), [इसके] आगे [तू] वर्ण भूल रहा है। तूने क्या कही [उसके] वेष को देखा है कि जैसे-तैसे जो भी वर्ण थे वे घर्षित हो गए है ? ऐ सुजान गौड, तूने उसे कहाँ देखा ? [उसे] देखने के अनतर क्या तुझे वेष मीठे लगते है ?

[२०] बधनो से बँधे हुए केश जो [मुख पर] लोल हो रहे है, खोंप——————एक भी ——।

खोंप के ऊपर [बंधा हुआ] अमेअल (शेखरक)[८] कैसा [लगता] है कि मानो रवि राहु के द्वारा गृहीत जैसा हो।

[उसकी] दृष्टि का फूल [जब] ————————उसे देखकर तरुण [मृग-] शावक मूर्च्छित हो जाते हैं।

[उसको देखकर] फूल तुच्छ हो गए और तारे मन मे [२१] हार गए, मानो [इसी कारण] तारे रजनी-मुख गिने जाने लगे हैं।

अरे वर्व्वर, तू——देख, उसके ललाट के सदृश क्या है ?

अरे वर्व्वर, तू देख [उसकी] भौहे कैसी रूरी (सुन्दर) हैं, वे कामदेव के धनुष की अड्डुणी जैसी हैं।

अरे अरे वर्व्वर, तू [उसके] तिलक को नही देखता है ? वह इस प्रकार का [२२] तिलक चद्रमा के ऊपर हो रहा है।

[उसका] वर्त्तुल तिलक किस प्रकार का भाता है कि [मानो] मुख-शशि की अवलग्नता मे——— नमित होता हो।

बिना बनवारो (पनवारो)[९] के वह नव आसन को वार रहा है, [जिससे] ऐ वडिरा (वदी), तू अपनी बुद्धि को हार रहा है।

---

८ जूड़े के ऊपर बाँधी जाने वाली माला।

९. पान के आकार का एक शिरोभूषण जो मस्तक पर लटकता रहता है।

कानो मे [उसने जो] ताडर (चमकदार ?) पत्ता[१०] पहना है, [वह ऐसा लगता है] मानो इस प्रकार शुद्धि (निर्मलता) का पत्ता शोभित हो।

गूआ से रँगे हुए [२३] [उसके] दाँत [ऐसे] राते (रक्तवर्ण के) है कि आर्त्त कपर्दिका-पुत्र --मत्त [हो रहे] हैं।

कठ मे मडन (आभूषण)--लडो का [जो] तागा है, वह [ऐसा] लगता है [मानो] मदन के हृदय मे बभोअल (ब्रह्मोत्पल ?) लगा हो।

मास भर (?) सोने को जलाइए, [किंतु] मुक्ता के सदृश होने पर भी [वह] हँसा जाता है।

सन का ग्रथित तागा [उसके] गले मे शोभा देता है, [२४] जिसको देखकर, ऐ वडिरा (वदी), कौन जन मूर्छित नही होता है ?

ऐसा न हो कि [उसके गले मे] तारिकाओ (नवग्रहो) का जो--हार है, उस को देखकर [अन्य प्रकार के] हारो का अपहार (त्याग) हुआ हो।

भारी स्तनो के मध्य जो सूत का हार है, वह [मानो] स्थविर (वृद्ध) कुज (मगल) ----शोभित हो।

पारडी (परार्द्ध)[११] के पीछे उसका भारी स्तन कैसा है कि [२५] जैसे शरद् के जलद के बीच चद्रमा हो।

[उसका] सूत का हार रोमावली से [इस प्रकार] कलित हो गया (मिल गया) है कि मानो गगा का जल यमुना [के जल] से मिल गया हो।

बाहो मे जो चद्रहाई (चद्रिका) उसने पहनी है, वह चद्रहाई (चंद्रिका) दूसरा चद्रमा [हो रही] है।

[उसके] अग का मडन [उसके] अग का उजाला है, उसकी कठी का [२६] वृन्त वडिरा (वदी) के लिए [अपनी अवर्णनीयता के कारण] आल (कलक) [का कारण] बन गया है। [उसके] काछे के परिधान की जो शोभा है, [उसके समक्ष] अन्य [किसी परिधान] की सराहना करते सुनिए तो अति क्रोध होता है।

दो ओढनियाँ सेदरी[१२] और सेलदही[१३] की कीजिए, तो [उसका] रूप देखकर सब जन क्षीण होते हैं।

[उसने] जो धवल कपडा ओढ रखा है, वह कैसा लगता है जैसे मुख-शशि ने [२७] ज्योत्स्ना प्रसारित की हो।

ऐसा वेष जो [उस] गौडी का है------छोडकर सबसे दृष्टि तोड लीजिए।

[जिसे] जैसा रुचे [वह] वैसा बोले, [किंतु] उसके वेष का क्या [कोई] मूल्य है ?

ऐसी गौडी जब राउल [राजभवन] मे प्रवेश करती, [तब] वह [राउल] मानो [२८] लक्ष्मी के द्वारा मडित दीखता है।

॥ * ॥ * ॥ * ॥

ऐ गौड, तू एक [ही भाग्यशाली है], किंतु दूसरा और कौन वर----

१० पत्ते के आकार का एक कर्णाभरण।

११ एक प्रकार का बहुत महीन मलमल।

१२ एक धारीदार कपड़ा।

१३ दक्षिण भारत का एक महीन मलमल।

कौन तेरे सौंह (सम्मुख) होकर बोले ?
जो फिर मालवीया है, उसकी सुधि आती है
तो कामदेव मानो अपना हथियार भी भूल जाता है,
इस डर से कि यहाँ हमारी (हमारे शरीर की) ही दो भागी खोप बन जाएगी।
उसके सरीखा क्या इस प्रकार है किसी-----?
[उसकी] खोप के ऊपर जो सौलडा दिया हुआ है, उसका वर्ण कैसा भाता है,
जैसे सिदूरिका के राजादेश से कामदेव कर नमित कर रहा हो।
[३०] [उसका] ललाट रक्त [वर्ण का] और रूरा (सुदर) है और उसके प्रमाण मे वह कम ऊँचा नही है,
उसे देखने पर अष्टमी का चाँद ऐसा भाता है।
[उसने] --इस प्रकार का ओढ रक्खा है कि--उठे का हो।
[उसकी] दोनो स्फुर भौहे रूरी (सुन्दर) है, [और] उनकी आड मे [उसकी] आँखो का गुण (वैशिष्ट्य) [ऐसा] है
जैसे [उन्होंने] काम [देव] का धनुष चढाया हो।
ललाट मे [उसने] जो रूरे (सुन्दर) तिलक दिए है, वे काम के-----
शकरी (पार्वती) के भाल के कार्य के लिए पाया है।
उनके पुट (सयोग) से नाक की रेखा रूरी (सुन्दरी) लगती है।
उसके वर्ण से सब का वर्ण उतर गया है, [३२] ऐसा किया है-----लेख।
[उसकी] आँखो की फाँकें तीखी, उज्ज्वल और तरल है [और] उनके वर्ण [के विषय मे] जिह्वा----क्षुब्ध होती है।
वैसा हथियार पाकर कामदेव जगत् को क्या करेगा,
ऐसा वृहस्पति को भी नही सूझता है।
[३३] रक्त [वर्णकी] आँखो मे जो रूरा (सुन्दर) काजल दिया हुआ है, वह कैसा है,
मानो चक्षुओ के भय से ---जैसा किया हो।
पूर्णिमा के चन्द्रमा को फाडकर और हरिण को पक्ष मे (अलग) डालकर
[उसके] दोनो कपोल जैसे [विधाता ने] किए हो।
उन्हे देखते ही [३४] सब तरुणो के
पाने की खुनस के कारण हृदय घँस-धँस पडते है।
कानो के कनवासो (कनपासो) -----के लिए बोल खूट (क्षीण पड) रहा है।
कितने ही नही इस [कार्य] मे खप गए ? जगत् में इनका मूल्य नही है।
उन्हें पहिनने के अनतर धडिवन (झुमके?) [३५] कैसे भाते है,
मानो पूर्णिमा ही पूर्णिमा के दो चॉद उस (उन) की क्रोड मे सुहाते हो।
बोल सुनने के लिए---------अपने को नमित करते है।
[उसके] नीचे-ऊपर के जो ओष्ठ है उन्होने कवि [कहता है, ऐसी] शोभा प्राप्त की है,

[जैसे] उन्होने कुदरुओ, प्रवालो [३६] और अशोक-पल्लवो को तुष्ट कर उसे प्राप्त किया हो।
[उसे पति से] समदाने (मिलाने) के लिए [उसके] मुख की शोभा सज रही है,
[यदि] कोई उसके परिधान का हरण करे तो उपमान करूँ।
अपनी जो बुद्धि है, वह कूडी (अपटु) बानिनी (व्यवसायिनी) है
उसके लिए सभी का अपहार ————————
[३७] [उसने] जो एकावली [गले मे] —————— बाँधी है, वह सकल ही इस प्रकार भाती है,
मानो मुखचद्र की अवलग्नता (सेवा) मे सत्ताईस नक्षत्र-बालाएँ
———— आकर ऐसा इस प्रकार नमस्कार करती हो।
और [उसके] स्तन प्रभूत, ऊँचे, वर्त्तुल और पीन है,
[वे] सोने के मगल-कलश जैसे ———— है
[३८] अन्य कि [वे] कामदेव के घट हो
[जो] वारि (जल) की ओट मे उस (उन) की शोभा पाते हो।
त्रिवली मे [वह जो] रोमराजि ———— धारण करती है,
[वह ऐसी है मानो] शोभा के दो आधे-आधे पक्ष युद्ध करते हो [और वह] वहाँ [उस युद्ध का] निवारण करती हो।
वहाँ मडन सात (?) — [३९] ——————
मोती का जो एक हार है,
उसकी शोभा देखते हुए ऐसा लगता है
कि यह ससार असार ———— हो गया है।
तो फिर जब उसने हाथो और पैरो मे सोने के चूडे पहने,
उसे (उसका यह पहिराव) देखकर (?) [४०] —————— जो वेष है, वे सब कूडा लगते है।
उसने रक्त जैसी चादर और उससे लगी हुई जो कचुकी पहनी
उसकी और ही शोभा कवि वहन करता है।
अरे, कामदेव को [तुमने] सनाथ किया,
तो उसने भी उसी प्रकार तुम्हे नही छोडा, ऐसा तीनो [४१] भुवन ही कहता है।
—— परिधानो को पहनकर काछडे से जो शोभा [होती] है,
वह [शोभा] क्या कोई [भी] वेष पाता है ?
—— अच्छा ———— अरे गौड देशवासियो, गोदावरी क्षेत्रवासियो,
बोलो जैसा जिसे भावे।
उसने फिर —————— एक अवली (एकावली)
[४२] ———— उसकी शोभा कौन पावे ?
[उसकी] जवाध (जवार्ध)[१४] कामद्रुम के आलवाल जैसी भाती है।

१४ जौ के आकार की सोने की गुरियो की वह माला जो आधी अर्थात् गले में केवल सामने की ओर रहती है।

[उसके] पैरो ने रक्तोत्पल को——जीत लिया है,
जो लोक मे लक्ष्मी का निवास कहा जाता है।
——————————वर्तुल और उज्ज्वल
[४३] ———————————।
उसने सब वेष करके जो लक्ष्मी [की सुन्दरता थी] उसका अपहरण कर लिया।
जो गोरी है, उसका ——————वेष कपडे का है।
जो सॉवली है, उसकी पाटणी (पट्टन की साडी) का——है।
———————————————।
कौन—— [४४]———————उस पर प्राप्त की
[कि] जिसके आते ही अपने हृदय मे रति अत्यधिक क्षुब्ध की।
तुम्हे ही——————तुम्हारे साथ बोल मे कौन जूझे (युद्ध करे) ?
—————————————
अन्य [४५] —— ——वर्ण की जो वस्तुएँ कार्य मे पूछी जाती है।
इस प्रकार ऐसे सुवेष मे [वह] जब आकर प्रविष्ट हो
——राउल (राजकुल) कहा जावे।
और कोई कहे——————————रुचे।
[४६] —————
रोडा के द्वारा [यह] राउलवेल (राजकुल-विलास) कही गई,
और फिर वहाँ [भी] भाषा मे [कही गई], जैसी उसकी जानी थी।
— — — — — — — — — — — — — —



कैलाशचन्द्र भाटिया

काँजीहौज

'काँजीहौज' शब्द उत्तर भारत के नगरो तथा गाँवो मे प्रयुक्त होता है। यह उस स्थान-विशेष का सूचक है जो चारो ओर से बन्द होता है और जिसमे खेती आदि को हानि पहुँचाने वाले लावारिस पशु बन्द किये जाते है।[1] चौपायो के मालिक दण्डस्वरूप कुछ धन देकर उनको छुडा ले जाते है। इस शब्द से मिलते हुए अन्य शब्द भी हिन्दी भाषा के विशाल प्रदेश मे व्यवहृत होते है, जिनमे 'कानीहाउस', 'कानीहौद',[2] 'काँजीहाउस' आदि उल्लेखनीय है। इतना निर्विवाद है कि इसका प्रथम रूप—काँजीहौज—ही बहुप्रचलित है, शेष रूप किसी निश्चित भू-भाग मे ही प्रचलित है। 'काँजीहौज' सर्वत्र प्रयुक्त होता है तो 'कानीहाउस' पश्चिम मे अधिक और 'कानीहौद' पूर्वी जिलो मे प्रचलित है। यह शब्द हिन्दी-क्षेत्र मे ही प्रयुक्त नही होता वरन् सम्पूर्ण भारत मे इसके समानार्थी अन्य शब्द प्रयुक्त होते है, जो रूपात्मक दृष्टि से भी इस शब्द से मिलते हुए है, यथा मराठी-कोडावाडा[3], कन्नड-कोडवाडा[4], उडिया-काँजिया हत्ता[5], बँगला-खुँआड[6]।

इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। विद्वान् भाषाविदो के विभिन्न विचारो को हम निम्नलिखित भागो मे विभाजित कर सकते है (अ) इस शब्द के दोनो भागो का सबध अग्रेज़ी से है। (ब) इस शब्द का द्वितीय भाग ही अग्रेजी भाषा का है। (स) इस शब्द का प्रथम भाग तमिल भाषा का है।

(अ) वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित व्युत्पत्तियाँ आती है—

कानीहाउस = कैनिन + हाउस —ना० प्र० सभा काशी।[7]

---

१. हिन्दी शब्द सागर, ना० प्र० सभा, काशी, पहलाखड, पृष्ठ ५२०।

२. प्रेमचन्द जी ने 'प्रेमाश्रम' मे इस रूप का ही प्रयोग किया है, दे० पृ० २९९ तथा ३०३, सं० १९४८ ई०।

३. कृष्ण लाल वर्मा, हिन्दी मराठी कोश, प्र० स०, पृष्ठ १०४।

४. डॉ० हिरेमठ, धारवाड़ विश्वविद्यालय के सौजन्य से प्राप्त।

५. 'अहाता' का ही विकृत रूप 'हत्ता' है और 'हौद' पर 'हौज' के साथ 'हत्ता' का भी प्रभाव है—उड़िया रूप के लिए मै प्रो० गोलोक बिहारी धल का कृतज्ञ हूँ।

६. बँगला रूप डॉ० सुकुमार सेन, अध्यक्ष, भाषा-विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय के सौजन्य से प्राप्त।

७. वृहत् शब्द सागर, सातवाँ खण्ड, १९३०, पृष्ठ ३८८३।

कॉजीहाउस = काइन[८] + हाउस —वही।[९]
कॉजीहौद = कॉजी + हौज —डॉ० बेली,[१०] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[११]।
कॉजीहौद = काइन + हाउस —रामचन्द्र वर्मा।[१२]

(ब) तथा (स) वर्ग के अन्तर्गत—

कॉजीहौद = कॉजी + हाउस —वृहद् हिन्दी कोश, काशी।[१३]

एक ओर जहाँ कुछ भारतीय विद्वानो ने इस शब्द को अग्रेजी का परिधान पहिना कर भारतीय भाषाओ मे गृहीत माना है वहाँ दूसरी ओर सुब्बाराव जैसे विद्वान्, जिन्होने अग्रेजी मे भारतीय शब्दावली पर कार्य किया है, इस शब्द को भारतीय सिद्ध करते है। हाब्सन जाब्सन[१४] मे यह शब्द सम्मिलित किया गया जो निम्नलिखित अर्थो का परिचायक है—

१ रेजीमेट की छोटी कोठरी।
२ उत्तर भारत मे पशुशाला।[१५]

उक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द का द्वितीय भाग अग्रेजी शब्द 'हाउस' का ही विकृत रूप है, जो उचित है। अब प्रथम भाग की ही समस्या रह जाती

---

८ Kine-Cows-Middle English Ky-en a doubled plural of Anglo-Saxon cu'—a cow, the plural of which is cy- cf scots kye—Chambers Twentieth Century Dictionary, 1935, पृष्ठ ५०१।

९. शब्द सागर, प्रथम भाग, काशी, पृष्ठ ५२०।

१०. 'केंचिंग हाउस' से मानते है—दे० टी० ग्रैहेम बैली, इग्लिश वर्ड्ज इन पंजाबी, बी० ओ० ए० एस०, भाग ४, पृष्ठ ७८३-९०।

११. 'काइन हाउस' अथवा 'केंचिंग हाउस' से मानते है —
डॉ० धीरेन्द्रवर्मा, इग्लिश लोन वर्ड्ज इन हिन्दी, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज भाग ८-१, सन् १९३२, पृष्ठ ४०।

१२. रामचन्द्र वर्मा, प्रामाणिक हिन्दी शब्द कोश, पृष्ठ २३८।

१३. कॉजी (तमिल) लावारिस पशु, हाउस (अ० घर), ज्ञान मण्डल लि० बनारस, पृष्ठ २६३।

१४ अ–1 The cells (temporary lock up) of regiment in India, so called traditionally regiment of the innates.

2. Cattle-pound in Northern India—Hobson Jobson

ब—ऑक्सफ़र्ड इंग्लिश डिक्शनरी, भाग २, पृष्ठ ८३१।

१५. पशुशाला के अर्थ में एक साहित्यिक प्रयोग द्रष्टव्य है —

"इन लोगों के लिए काँजीहौज भी तो नहीं। क्या ही अच्छा हो यदि द्विवेदी जी हुरहट या हरहारी लेखक लेखिकाओं के लिए भी काँजीहाउस खुलवाएँ।"
बनारसीदास चतुर्वेदी—संस्मरण, सन् १९५२, पृष्ठ ११७।

है। प्रथम भाग को अग्रेजी के 'काइन' अथवा 'कैनिन' या 'कैचिग' का बिगडा हुआ रूप माना गया है, जो प्रामाणिक नही, क्योकि 'काइन' शब्द अग्रेज़ी मे ही प्रचलित नही, आज उसके स्थान पर 'काउज' प्रचलित है तो उसके पुराने रूप का ग्रहण सर्वथा अमान्य है और 'कैनिन' तथा 'कैचिग' से भी किसी ध्वनि-परिवर्तन के नियम के अनुसार 'कॉजी' नही बन सकता। ज्ञानमण्डल वाले कोश मे 'कॉजी' शब्द को तमिल शब्द लिखा है। मैंने इस शब्द का यथार्थ स्रोत ढूँढने की विशेष चेष्टा की। तमिल मे वस्तुत 'कॉजी' शब्द कम-से-कम इस अर्थ मे कोई नही। तमिल मे दो और शब्द है—१ कॉची, जिसका अर्थ है—अव्यवस्थित, चलायमान[16] और, २ काणि, जिसका अर्थ है—आधिपत्य या आधिपत्य का अधिकार।[17] लेकिन इन दोनो शब्दो मे से किसी से भी विवेच्य 'कॉजी' शब्द का कोई सीधा सबध नही स्थापित किया जा सकता।

दक्षिण की एक और भाषा कन्नड मे 'कोचे'[18] शब्द है, जिसका अर्थ है—एक चारो ओर से उठी हुई दीवाल से घिरा हुआ टीले पर स्थित स्थान। 'अमरकोश' की कन्नड टीका मे इसको 'शाला' के अर्थ मे लिया गया है। मैसूर विश्वविद्यालय के कन्नड विभाग के अध्यक्ष डा० श्री-कठिया ने भी इसी शब्द से इसका सबध स्थापित करने की मुझे सलाह दी। लेकिन अगर इस शब्द से इसका सबध स्थापित किया जाय तो फिर 'कॉजी' तथा 'हौज' दोनो ही शब्दो का एक ही अर्थ हे और डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी के मतानुसार यह फिर अनुवादमूलक शब्द बन जावेगा।

कन्नड मे एक शब्द 'कोडा'[19] और है जिसका अर्थ है—जगली भेड या बडे काले मुँह का काला बन्दर जिससे भी यहाँ कोई 'कॉजी' शब्द से सीधा सबध नही है। इससे भी उपयुक्त शब्द मुझको हाल ही की मेरी दक्षिण की यात्रा मे 'तुलु' भाषा मे प्राप्त हुआ। यह शब्द 'कॉजी' है, जिसका अर्थ है 'बछडा', और जो सामान्यत किसी भी चौपाये के लिए प्रयुक्त हो सकता है। इस शब्द को ही मै विवेच्य शब्द 'कॉजीहौज' का प्रथम भाग मानता हूँ। इस शब्द की पुष्टि मैंने मद्रास विश्वविद्यालय मे कन्नड के प्रोफेसर श्री एम० भट्ट से की, जिन्होने तुलु भाषा मे विशेष कार्य किया है। तमिल मे इसका समानार्थक शब्द 'कन्रु'[20] है, जिसका रूपात्मक दृष्टि से कोई सबध नही है।

अस्तु यह निष्कर्ष निकला कि 'काँजीहौज' शब्द एक सामासिक पद है, जिसका प्रथम भाग 'कॉजी' दक्षिण की द्रविड भाषा 'तुलु' का शब्द है और द्वितीय भाग 'हौज' अग्रेज़ी शब्द 'हाउस' का विकृत रूप है। इस प्रकार यह दो विभिन्न भाषाओ के शब्दो के योग से बना हुआ सकर शब्द है जो हिन्दी प्रदेश मे ही नही, भारत के अधिकाश भू-भाग मे प्रचलित है।

---

१६. तमिल पर अगरादि, भाग १, पृष्ठ ५८१।
१७. विल्सन, ग्लोसरी अव् जुडीशियल एण्ड रेवेन्यू टर्म्स, पृष्ठ २५८।
१८ किटल्ज कन्नड इगलिश डिक्शनरी, पृष्ठ ४८२। १९. वही, पृष्ठ ४८५।
२०. तमिल लेक्सीकन, मद्रास विश्वविद्यालय, १९२६, पृष्ठ ८२९।

रामशंकर भट्टाचार्य

पाणिनि के निपातन-सूत्रों की सार्थकता

अष्टाध्यायी मे कुछ ऐसे सूत्र है, जो निपातन-सूत्र कहलाते हैं। इन निपातन-सूत्रो के विषय मे यह शका होती है कि किस लिए प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश छोड कर पाणिनि के द्वारा शब्दो का निपातन किया गया है? सभी सूत्रो मे निपातन-पद्धति का ही ग्रहण क्यो नही किया गया है? निपातन-प्रणाली मे कौन-सी सरलता है? अर्थ-निर्णय विषय मे निपातन के द्वारा कौन-सा वैशिष्ट्य दिखाया गया है? इस निबन्ध मे इन सब प्रश्नो का सप्रमाण उत्तर दिया जा रहा है।

१ § निपातन-रीति की असार्थकता के विषय मे आइ० एस० पवेत महोदय ने कहा है—"८।३।९० सूत्र से शुरू कर ८।३।९५ सूत्र पर्यन्त जितने सूत्र हैं वे निपातन-सूत्र कहलाते हैं। यहाँ निपातन-रीति से सूत्र-रचना की कौन-सी आवश्यकता थी? 'निष्णात' शब्द को बनाने के लिए पाणिनि ने 'नि-नदीभ्या स्नाते कौशले' [८।३।८९] कहा है (अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-विभाग पूर्वक कहा है) पर वे भी 'प्रतिष्णात' शब्द को बनाने के लिए प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश न कर 'सूत्र प्रतिष्णातम्' [८।३।९०] ऐसा कहकर 'प्रतिष्णात' शब्द को निपातित करते है। किञ्च निपातन-सूत्रो मे एकरूपता भी नही है। ८।३।९० सत्र मे 'प्रतिष्णात' शब्द-वाच्य सूत्र-शब्द प्रथमा-विभक्ति से लक्षित है, पर ८।३।९३ सूत्र मे (जो एक निपातन-सूत्र है) 'बिष्टर' के वाच्य 'वृक्ष' और 'आसन' सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट है। इस प्रकार के विभिन्न व्यवहारो की संगति क्या है?" (दि स्ट्रक्चर आफ दि अष्टाध्यायी, पृ० ६३)। इस लेख मे इस आक्षेप के उत्तर के लिए हम कुछ प्रमाणो का सकलन कर रहे है।

२ § पाणिनीय सम्प्रदाय मे 'निपातन' शब्द के अनेक अर्थ देखे जाते है। यह शब्द सूत्रवाची भी है (भाष्यकार के अनुसार), जैसा कहा गया है—"कि निपातनम्? द्वितीय तृतीय चतुर्थ तुयण्यिन्यतरस्याम्" [६।४।२]। पाणिनि का २।२।३ सूत्र ही यहाँ का निपातन है। सूत्रस्थ शब्दवाची के रूप मे निपातन का प्रयोग पतञ्जलि को मान्य है, यथा—

"तद् वै अनेकेन निपातनेन व्यवच्छिन्न न शक्यमनुवर्त्तयितुम्" [३।३।८३]। यहाँ नागेश ने निपातन शब्द का अर्थ दिखाया है—"घनान्तर्घन प्रघणप्रघाणोदघनापघन रूपेणेत्यर्थ" (उद्द्योत)। इससे सूत्र का निपातन-पदवाच्य होना सिद्ध होता है। कभी-कभी यह शब्द वार्तिकवाची होता है, जैसे भाष्यकार ने कहा है—"निपातनादेतत् सिद्धम्, कि निपातनम्? क्त्वाया वा प्रतिषेध" [६।४।१४०]। यहाँ "क्त्वाया वा प्रतिषेध" शब्द वार्तिक है (६।२।२ भाष्य देखिए)। केवल 'सौत्र' शब्द ही निपातन-वाच्य नही है, बल्कि गणपाठीय शब्द भी (भाष्य

के अनुसार) निपातन है। जैसे पतञ्जलि ने 'गविष्ठि' शब्द के आधार पर कहा है—"निपातनात् सिद्धम् किं निपातनम्? गविष्ठिर शब्दो विदादिषु पठ्यते" [६।३।९]। इस प्रकार धात्वर्थ-निर्देशक शब्द भी निपातन-पद-वाच्य होता है, जैसे 'काशिका' मे कहा गया है—"कथमुद्यमोपरमौ? अड उद्यमे, यम उपरम इति निपातनादनुगन्तव्यौ" [७।३।३४]।

इससे सामान्य रूप मे यह सिद्ध होता है कि आचार्यों के विशिष्ट शब्द-प्रयोग निपातन-पद-वाच्य हैं। यह नागेश ने स्पष्ट रूप से कहा है, यथा—"एव च निपातनात् इत्यस्य सौत्रत्वादित्यर्थ इति भाव" [उद्द्योत, ६।३।३४]। पाणिनि-सूत्रो मे जिन पदो का व्यवहार किया गया है, वे यदि पाणिनि-लक्षण से सिद्ध न हो तो उनको निपातन सिद्ध कहा जाता है। **यथा** ५।३।५५ सूत्र मे पाणिनि ने 'अतिशायन' पद का व्यवहार किया है, पर यह पाणिनि के ही लक्षण से सिद्ध न होने के कारण पतञ्जलि ने कहा—"देश्या सूत्र-निबन्धा क्रियन्ते।" **इसकी** व्याख्या मे कैयट ने कहा है—"निपातनाद् दीर्घत्वम्" [प्रदीप]। इसके अनुसार पहले कहा गया विषय सिद्ध होता है।

३ § चूँकि आचार्य-व्यवहार-सिद्ध होने से किसी शब्द को निपातन कहा जाता है, अत निपातन की व्युत्पत्ति 'आचार्येण नितरा पात्यते आचार्य स्वेच्छया पातयति' ऐसी की जाती है। अतएव निपातन-सिद्ध शब्द के विषय मे 'इद निपात्यते', 'अह निपातयामि' [३।१।१२२ श्लोक वा०] इत्यादि प्रयोग भाष्यादि मे मिलते है।

'काशिका' मे निपातन का स्वरूप स्पष्ट दिखाया गया है। यथा—"यदिह लक्षणेन अनुपपन्न तत् सर्व निपातनात् सिद्धम्"—अर्थात् सूत्रो के कार्य से जो सिद्ध नही होता, वह यदि आचार्य के व्यवहार से सिद्ध होता है, तो वह निपातन-पद-वाच्य है। कहा भी गया है—'अन्यथा प्राप्तस्यान्यथोच्चारण निपातनम्'। अतएव यह शब्द निष्पत्ति-प्रक्रिया के अनुसार दो प्रकार के हैं—अप्राप्तिप्रापण तथा प्राप्तिवारण। कभी-कभी निपातन से विशिष्ट अर्थ भी निर्दिष्ट होता है। इसलिए तीन प्रकार के निपातन कार्य होते हैं। कहा भी गया है—

अप्राप्ते प्रापण चाऽपि प्राप्तेर्वारणमेव वा।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात्॥

कभी-कभी विकल्पार्थ मे भी निपातन ही होता है, जैसे काशिका मे कहा गया है—"विकल्पार्थे निपातनम्" [७।२।२७]।

४ § अब हम निपातन-लक्षण की व्याख्या करेगें। पहले ही जानना चाहिए कि निपातन शब्द न तो प्रकृति है और न प्रत्यय, जैसा कैयट ने कहा है—"अथप्रकृतित्वमेषा कस्मान्न विज्ञायते? पञ्चम्या प्रत्ययस्य चानुपादानात्, अनिष्पन्नस्य च प्रकृतित्वाभावात्। प्रत्ययत्वं तर्हि कस्मादेषा न भवति? लोके केवलाना प्रयोगादर्शनात्" [प्रदीप ५।१।५९]। इससे स्पष्ट होता है कि निपातित शब्द प्रकृतिप्रत्ययात्मक अवश्यमेव है। इस प्रकार के शब्दो मे कितना प्रकृति का अश है या कितना प्रत्यय का अश है, इसमे सदेह उपस्थित हो सकता है। अतएव निपातित 'विंशति' आदि शब्दो को लेकर भाष्यकार ने कहा है—"इमे विंशत्यादयः सप्रकृतिकाः सप्रत्ययकाश्च निपात्यन्ते, तत्र न ज्ञायते का प्रकृति क प्रत्यय, क प्रत्ययार्थ इति" [५।१।५९]।

इसमे कभी-कभी सन्देह भी होता है। जैसे 'सनिससनि वासम्' पद लौकिक या वैदिक है, इस सशय के उत्तर में काशिकाकार कहते हैं—"छन्दसीद निपातन विज्ञायते" [७।२।६९]। ध्यान देना चाहिए कि इस निर्देश में पाणिनि मौन हैं।

'कपिष्ठलो गोत्रे' [८।३।९१] सूत्र मे भी अन्य प्रकार का निपातन देखा जाता है। साधारण दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि "कपिष्ठल इति गोत्रे निपात्यते" यही इसका अर्थ है। परन्तु यह ठीक नही है। भाष्य मे कहा गया है—"गोत्रे य कपिष्ठल शब्द तस्य षत्व निपात्यते, यत्र वा तत्र वेति।" अतएव षत्व के विषय के रूप मे गोत्र निर्दिष्ट नही है, किन्तु दर्शन के विषय मे, अर्थात् गोत्र मे जो 'कपिष्ठल' शब्द देखा जाता है वह साधु है। यह भी जानना चाहिए कि निपातन-सूत्र में जो बाते हैं वह कभी-कभी अविवक्षित होती हैं। ६।१।१२ सत्र मे दाश्वनित्यादि एक वचनान्त शब्द निपातित हे। परन्तु यहॉ एक वचन अविवक्षित है, यह ज्ञानेन्द्र ने कहा है [तत्वबोधिनी]।

६ § हमने पहले ही कहा है कि निपातन आचार्य-व्यवहार को कहते है। व्याख्या से जाना जाता है कि कभी-कभी निपातन-तन्त्र होता है और कभी-कभी नही भी होता है। यह ६।४।२४ सूत्रभाष्य-सन्दर्भ मे स्पष्ट है।

कभी-कभी निपातन सामान्यापेक्ष भी होता है, न कि विभक्त्यादि विशेषापेक्ष, अतएव निपातन-बाधित पद भी प्रयुक्त होता है। "क्त्वाया वा प्रतिषेध" की भाष्यव्याख्या मे कैयट ने कहा है—"सामान्यापेक्ष च निपातन, न सप्तम्यपेक्षमिति कृत्वा कृत्वाया इत्यपि भवति" [प्रदीप ६।४।१४०]।

जो पद निपातन-सिद्ध होता है, उसका वचन आदि कभी-कभी तन्त्र और कभी-कभी अतन्त्र होता है। अतएव "षष्टिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते" [५।१।९०] सूत्रव्याख्या मे कैयट ने कह है—"बहुवचनम् अतन्त्रम्, एकवचनान्तस्यापि षष्टिशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात्" [प्रदीप]। 'उद्द्योत' मे नागेश ने कहा है कि सब आचार्य इसमे सहमत नही हैं।

७ § अब विचार्य यह है कि जहॉ निपातन होता है, वहॉ कौन निपातित होता है, जिससे निपातन-बल-रहस्य का स्पष्ट ज्ञान हो जाय। यह ज्ञातव्य है कि वही निपातन होता है जहाँ आगमादि कार्य सूत्र मे साक्षात् रूप से निर्दिष्ट नही होते। अतएव 'विशेषाधिकार' रूप सूत्राप्राप्त कार्य निपातन बल से होता है। जैसे कहा गया है—"प्रकृतकार्यात् कार्यान्तरसिद्धयर्थ हि निपातनम्" [प्रदीप ७।२।२०]।

प्राय निम्नोक्त विषयो का निपातन प्रसिद्ध है—

प्रत्यय-निपातन—'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयो' [६।१।१५४] सूत्र प्रत्यय-निपातन का उदाहरण है। यहाँ 'मस्करि शब्द के विषय मे कैयट ने कहा है—"माङ्पूर्वात् करोतेरिनिरिति।" यहॉ निपातनबल से ताच्छील्यार्थ मे 'णिनि' प्रत्यय के स्थान पर 'इनि' होता है, यह कैयट का तात्पर्य है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कहॉ प्रत्यय का निपातन होता है, कहॉ आदेश का निपातन होता है—इसमे सशय भी उपस्थित होता है। इसके निर्णय के विषय मे 'तत्त्वबोधिनी' ६।३।६९ द्रष्टव्य है।

आदेश-निपातन—यह 'पाय्यसानाय्य' इत्यादि (३।१।१२९) सूत्र के उदाहरण मे देखा जाता है। यहाँ निपातनबल से ही आयादेश स्पष्ट प्रतीत होता है।

आगम-निपातन—'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च' (३।८।२६)सूत्र इसका उदाहरण है। यहाँ जो सुगमागम है, वह निपातबल से ही है।

द्विर्वचन-निपातन—'ऋत्विग् दधृक्' इत्यादि (३।२।५९) सूत्र मे 'दधृक्' शब्द इसका उदाहरण है। निपातन न होने से यहाँ द्विर्वचन नही होगा।

प्रकृति विपरिणाम-निपातन—'अपचितश्च' (७।२।३०) सूत्र इसका उदाहरण है। भाष्य मे कहा गया है—"कि निपात्यते ? चायेश्चि भावश्च"।

इस प्रकार कही ह्रस्व-दीर्घ मे और कही किसी के लोप मे भी निपातन होता है। कभी-कभी प्रसक्त कार्याभावरूप कार्य भी निपातन से होता है, यथा ३।२।५९ सूत्र मे जो 'क्रुञ्चाम' पद है, उसके विषय मे नागेश ने कहा है—"क्रुञ्चामिति निपातनान्नलोपाभाव " [उद्द्योत]। भाष्य मे भी इनके अनुरूप बाते है, यथा 'इच्छा' (३।३।१०१) इस सूत्र-भाष्य मे कहा गया है—"कि निपात्यते ? इषे रो यगभाव ।" इस प्रकार प्रतिषेध अर्थ मे भी निपातन व्यवहृत होता है। 'णेरध्ययने वृत्तम्' (७।२।२६) सूत्र के वार्तिक मे कहा गया है—"निपातन विलोपेड्गुण प्रतिषेधार्थम।"

८§ पहले कहे गये उदाहरणो से यह प्रमाणित हो गया है कि निपातन से विभिन्न कार्य होते है। यह नही है कि एक ही कार्य के लिए निपातन-रीति का आश्रय किया जाता है, या एक ही कार्य निपातन से सिद्ध होता है। जैसा कहा गया है—"अनेक प्रयोजनसम्पत्ति निपातनात् भवति" [प्रदीप—६।२।२]। यहाँ 'स्नात्वा-कालक' उदाहरण देकर भाष्यकार ने स्वय कहा है—"अवश्यमत्र समासार्थं ल्यबभावार्थ च निपातन कर्त्तव्यम्, तेनैव यत्नेन स्वरो न भविष्यति।" यहाँ तीन कार्य एक ही निपातन से दिखाए गए है।

कही-कही एक ही निपातन से शब्द-नियमन के साथ अर्थ-नियमन भी होता है। ३।१।१०१ सूत्र का 'अवद्य' पद इसका प्रसिद्ध उदाहरण है, जैसे दीक्षित जी ने कहा है—"वदेर्नञ्युपपदे वद सुपीतियत्क्यपो प्राप्तयोर्यदेव, सोऽपि गर्ह्यामेवेत्युभयार्थ निपातनम्" [सि० कौ०]। कही-कही निपातित शब्द के एकाधिक निर्वचन होते है जो ३।१।११४ सूत्र-निपातित 'राजसूय' शब्द मे दीख पडता है। इस शब्द के निपातित होने के कारण अर्थ मे सशय नही होता। ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने यहाँ कहा है—"निपातन च रूढ्यर्थमिति। तेनाद्यपक्षेऽश्वमेधादौ, द्वितीयपक्षे ज्योतिष्टोमादौ च नातिप्रसङ्ग " [तत्वबोधिनी]।

९§ निपातन-रीति स्वीकार करने से शब्द-निष्पत्ति मे किस प्रकार लाघव होता है, अब हम उसे दिखाएँगे। जहाँ निपातन से शब्द को सिद्ध किया गया है वहाँ यदि प्रकृति-प्रत्ययादि निर्देशक विधि सूत्र होता तो सूत्रीय शब्द मे गौरवाधिक्य होता, यह मान कर पाणिनि ने निपातन-सूत्र बनाया है। वस्तुत निपातनस्थल मे प्रकृत्यादि नही रहते, ऐसी बात नही। अतएव निपातन-स्थल में प्राय "किं निपात्यते" ऐसा भाष्यकार ने पूछा है (५।२।७३)। अन्यत्र कहा गया है कि—"का प्रकृति क प्रत्यय. क प्रत्ययार्थ" (५।१।५९)। प्रत्ययानुसार निपातित शब्द का

अर्थ यदि नहीं घटता तो निपातनबल से उस अर्थ का अभ्युपगम किया जाता है, जैसे—निपातित 'अधिक' पद को लेकर कैयट ने कहा है—"लौकिके प्रयोगेऽधिकशब्देन विषयभेदेन कर्तृकर्मणो-रनभिधानदर्शनादनङ्गीकृतसाधनभेदमध्यारूढस्येद निपातनम्, स चोभयार्थ इति न कश्चिद् दोषावसर" [प्रदीप ५।२।२३]।

यदि निपातन न कर प्रकृत्यादि के उल्लेख से शब्द की निष्पत्ति होती तो, 'सद्य परुत्प-रार्यादि' शब्दो की सिद्धि के लिए सूत्र-प्रणयन मे कितना अधिक गौरव होता, यह तो स्पष्ट ही है। इन स्थलो मे केवल निपातन-रीति से सूत्रीय शब्द-व्यवहार मे लाघव होता है, न कि अर्थ वैशिष्य-व्याख्यान मे। किसी-किसी निपातन सूत्र से यह प्रतीत होता है कि निपातन न करने पर भी वह शब्द सिद्ध होता है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर देखा जाता है कि यहाँ निपातन-रीति से ही अधिक लाभ है। जैसे 'काशिका' मे कहा गया है—"किमर्थं तर्हि निपातनम्, यावता-पूर्वेणैव स सिद्ध, सम्बुद्धौ दीर्घार्थमेते निपात्यन्ते" (८।२।६७)। शब्द-निष्पत्ति-लाघव विषय मे ८।२।१२ सूत्र की 'काशिका' भी द्रष्टव्य है।

किसी-किसी निपातन-सूत्र मे कोई पद उपलक्षण के रूप मे रहता है, यह व्याख्याकार मानते है। 'प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे' (७।३।६२) सूत्र की व्याख्या मे 'काशिका' मे देखा जाता है—"प्रयाजानुयाजग्रहण प्रदर्शनार्थम्—अन्यत्राप्येवप्रकारे कुत्व न भवति।"

१० § निपातन से शब्द-निष्पत्ति-प्रक्रिया मे ही लाघव नही होता, बल्कि शास्त्रीय कार्य की प्रवृत्ति भी निपातन-सामर्थ्य से होती है। यदि ऐसे स्थलो मे निपातन न किया जाय, तो शास्त्रीय कार्य-प्रवृत्ति मे भी वचनान्तर की आवश्यकता होगी, जिससे निरर्थक अधिक श्रम होगा। इस दृष्टि से निपातन का सार्थक्य सिद्ध होता है। यहाँ 'स्नात्वाकालक' उदाहरण का आश्रय लेकर कैयट ने जो कहा है उसे उद्धृत किया जा रहा है—"येषु चात्र स्नात्वा कालकादिषूत्तरपदानुपात्तक्रियापेक्ष क्त्वाप्रत्यय तेषा सापेक्षत्वेऽपि निपातनात् समास" [प्रदीप ७।१।३७]। नागेश ने स्पष्ट कहा है—'समुदायनिपातनसामर्थ्यादप्राकरणिकमपि किञ्चिन्निपातनान्निषिध्यते" [उद्द्योत ७।१।३७]। उसी प्रकार काशिकाकार ने भी "समुदाय निपातानाच्चार्थविशेषेऽवरुध्यन्ते" (५।४।१२९) कहा है।

वाक्यार्थ मे भी निपातन देखा जाता है, यथा—"छन्दोऽधीते" इस वाक्य के अर्थ मे 'श्रोत्रीय' शब्द का निपातन किया गया है [भाष्य ५।२।८४]। यहाँ वाक्यार्थ मे किसलिए पद-रचना की गई है, कैयट ने उसका स्पष्ट वर्णन किया है।

११ § अब हम आचार्यों के द्वारा निपातन हेतुक जो अर्थवैशिष्ठ दिखाया गया है, उसका विवरण प्रस्तुत करेंगे—

यद्यपि निपातन-सूत्र मे भी विधि-सूत्र से शब्द-निष्पत्ति सिद्ध हो सकती है, तथापि अर्थादेश मे लाघवार्थ निपातन-रीति का पाणिनि ने अवलबन किया है। एक उदाहरण लीजिए —"आकालिक डाद्यन्तवचने" (५।१।११४) सूत्र निपातन का उदाहरण है। यहाँ शब्द-निष्पत्ति-कार्य विधि-सूत्र से करने मे भी दोष नही है, जैसे वार्तिककार ने कहा है—"आकालान्निपातना-नार्थक्यम् ठञ्प्रकरणात्"। तथापि विधि-सूत्र करने पर अर्थ-वैशिष्टय ज्ञापित नही होगा, इसे

कैयट ने स्पष्ट रूप से कहा है—"जन्मविनाशयोश्चाव्यवहित कालत्वादेककालत्वम्। विधौ-त्वयमर्थ क्लेशेन प्रतीयत इति निपातनाश्रयणम्" [प्रदीप ५।१।११४]।

निपातन-बल से निपातित-शब्दार्थ के विषय मे किस प्रकार का नियमन होता है, 'श्रृत पाके' (६।१।२७) सूत्र मे इसका प्रकृष्ट उदाहरण विद्यमान है। यहाँ पाक वाच्य होने पर 'श्रृत' निपातित होता है, यह सूत्र का अर्थ है। परन्तु चूँकि यहाँ शब्द निपातित है, अत. विक्लृत्ति-लक्षण रूपी 'पाक' मे ही निपातन से सिद्ध 'श्रृत' शब्द का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिए "द्विविधो हि पाक—विक्लिति लक्षण, विक्लेदनालक्षणश्च। पाचयितृ व्यापारे तु णिचि कृते पाचनालक्षणोऽर्थ प्राधान्येनाभिधीयते, न तु पाकलक्षण इति निपातनाभाव" [प्रदीप]।

'भित्त शकलम्' (८।२।५९) सूत्र भी इस प्रसग मे आलोचनीय है। यहाँ निपातन-बल से 'यह रूढि शब्द है'—यह पाणिनि सूचित करते है। वासुदेव दीक्षित ने कहा है—"शकलत्व जातिविशिष्टेऽवयवार्थमनपेक्ष्य रूढोऽयम्, ततश्च भित्तशकलयो पर्यायित्वान्न सह प्रयोग" [बाल मनोरमा]। निपातन रीति के न ग्रहण करने पर क्या यह अर्थ ज्ञापित हो सकता है ?

जैसे निपातनसिद्ध शब्द रूढ है, उसी प्रकार सज्ञावाची भी। कैयट ने कहा है—"निपातनादेव सज्ञालाभात्" [प्रदीप ८।२।१२]। विधि-सूत्र से सज्ञार्थ प्रकट नही होता। अत निपातन-सूत्र की रचना सार्थक है। यह मत भृर्तहरि ने भी ग्रहण किया है, यथा—"धातुसाधन कालाना प्राप्त्यर्थ नियमस्य च। अनुबन्ध विकाराणा रुढ्यर्थे च निपातनम्" वाक्यप्रदीप]। अतएव "निपातनाद् रूढिराश्रीयते" [प्रदीप ३।१।१२७], यह कैयट ने कहा है।

अर्थ-सामान्य मे अर्थ-विशेष की प्रतिपत्ति कभी-कभी निपातन से होती है, इस नियम के अनेक उदाहरण है। एक उदाहरण लीजिए—"आश्चर्यमनीत्ये" (६।१।१४६) सूत्र का 'आश्चर्य' पद निपातित है। क्या यहाँ अनित्य कहने से घयादि मे भी आश्चर्य शब्द का प्रयोग होगा ? व्याख्याकार ऐसा नही मानते। वे कहते है—"निपातनाच्चानित्यविशेषो विस्मयहेतुर्गृह्यते" [प्रदीप]। अतएव अनित्य सामान्य मे इसका प्रयोग युक्त नही है। दूसरा उदाहरण—"निपातनसामर्थ्याद् विशिष्टे दाशते सघे वर्त्तमाना भाववचना भवन्ति' [प्रदीप, ५।१।५९]। ज्ञानेन्द्र ने भी कहा है—"यद्यपि पणितव्योऽर्थद्वयसाधारणस्तथापि निपातनस्येह रुढ्यर्थत्वाद् व्यवहर्तव्य एवाय निपात्यते" [तत्त्वबोधिनी ३।१।१०१]। इन उदाहरणो से निपातन-महिमा स्पष्ट समझी जा सकती है।

निपातन के विशिष्टार्थ-ज्ञापन विषय मे अन्य उदाहरण—'चरणे ब्रह्मचारिणी' (६।३।८६) सूत्र भी है। यहाँ कैयट ने कहा है—"अवयवनिपातनद्वारेण विशिष्टेऽर्थे समुदायस्यैव साधुत्वमन्वाख्येयमिति मत्वा समुदायमेव निपात्यत्वेनोपन्यस्यति"। यह मत नागेश ने भी स्वीकार किया है, वे कहते है—"चरणे समानत्वेन गम्य इत्यर्थ इति भाव। अयमेव चार्थो निपातनोक्तिद्वारा भगवतोक्त इति" [उद्द्योत]।

१२ § अब यहाँ निपातन-बल से अन्य प्रकार के ज्ञाप्यमान अर्थ के विषय मे कुछ विचार प्रस्तुत किये जाते है—

इस विषय मे 'कार्मस्ताच्छील्ये' (६।४।१७२) सूत्र प्रसिद्ध उदाहरण है। यहाँ भाष्य-

कार ने निपातन का ज्ञाप्यमान अर्थ व्यक्त किया है, यथा—"एव तर्हि सिद्धे सति यन्निपातन करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यस्ताच्छीलिके णेऽणकृतानि भवन्तीति" (६।४।१७२)।

पहले कहा गया था कि निपातन से शब्द-निष्पत्ति विषयक लाघव होता है एव विशिष्टार्थ-ज्ञापन सरल होता है। यहाँ यह भी जानना चाहिए कि कभी-कभी अनिष्ट रूप-निवृत्ति के लिए भी निपातन होता है। 'अनुपसर्गात फुल्ल' इत्यादि (८।२।५५) पर कैयट ने कहा है—"यद्यपि फुल्लादय पचाद्यचीगुपधलक्षणे के च सिद्धयन्ति तथापि 'निष्ठा च द्वयजनात्' (६।४।५२) इत्यादि कार्यसिद्धये क्षीबिताद्यनिष्टरूपनिवृत्तये च निपातनम्" [प्रदीप]। इस नियम का दूसरा उदाहरण भी है। पाणिनि के द्वारा ६।१।१२ सूत्र मे 'साह्वान्' पद निपातित है। परन्तु यहाँ णिच् पक्ष मे वृद्धि असिद्ध होने के कारण दीर्घत्व-निपातन व्यर्थ है, ऐसी शका नही होनी चाहिए। कारण यहाँ निपातित 'साहवान' पद 'सह्वान' के असाधुत्व का ज्ञापक है, ऐसा व्याख्याकार कहते है। निपातन-सूत्रो मे शब्द-गौरव से भी किसी न किसी सूत्र मे सूक्ष्म अर्थ का ज्ञापन होता है। हम 'प्रतिष्कशश्च कशे' (६।१।११२) सूत्र को इसके उदाहरण के रूप मे देख सकते है। यदि यहाँ 'प्रतिष्कश' इस प्रकार सूत्र होता तो शब्द-निष्पत्ति-प्रक्रिया मे कोई भी दोष नही होता। यहाँ सायण ने कहा है—"प्रतिष्कश, इत्येतावत्येव सूत्रयितव्ये कशेरिति वचन प्रतेः कशिसबन्धित्वे निपातनम् यथा स्यादिति तेन कशा प्रति गत प्रतिकशोऽश्व इत्यत्र न भवति" [माधवीय धातुवृत्ति, पृ० २३४]।

१३§ निपातन के विषय मे एक परिभाषा है—"अबाधकान्यपि निपातनानि" [सीरदेवीयपरिभाषावृत्ति ७९]। यद्यपि पाणिनि के द्वारा ४।३।१०५ सूत्र मे 'पुराण' शब्द प्रयुक्त है, तथापि इस निपातन के बाधक होने के कारण 'साय चिरम्' इत्यादि (४।३।२३) सूत्र से सिद्ध 'पुरातन' शब्द भी साधु होता है। दूसरे लोग इस वचन को परिभाषा के रूप में नही मानते। भाष्यकार ने कही भी ऐसे वचन का पाठ नही किया है। वे १।१।२७ सूत्र-भाष्य के "बाधकान्येव निपातनानि" का अनुगमन करते है। यह भाग वृत्ति मे भी है (सीरदेव कृत 'परिभाषा वृत्ति' देखिए)। निपातित शब्द से जिस शब्द का बाध प्राप्त होता है यदि वह शब्द दूसरे प्रमाण से सिद्ध होता है तो उसको 'पृषोदरादि' सूत्र से सिद्ध मानना चाहिए, ऐसा अन्य मत वाले कहते है (परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा ११९ द्रष्टव्य)।

कभी-कभी निपातन-बल से किसी-किसी परिभाषा की प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति का निर्णय भी होता है, जैसे 'तत्त्वबोधिनी" मे कहा गया है—"निपातनसामर्थ्याल्लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा नाश्रीयत इत्याहु" (६।१२७)। कभी-कभी व्याख्याकार निपातन-बल को सामान्य रूप से मानते है, जैसे कहा गया है—"केचित् सामान्ये न निपातनमिच्छन्ति, तेन खप्रत्ययाभावेऽपि प्रयोग-उपपन्नो भवति पारोवर्यविदिति" [प्रदीप ५।२।१०]।

१४§ अब निपातन और स्वर का सम्बन्ध विचारणीय है। जैसे निपातन से अन्यान्य शास्त्रीय कार्य बाधित होते है वैसे निपातन-स्वर अन्यान्य स्वरो का बाधक होता है। यह समस्त व्याख्याकारो का मत है। इस विषय मे भाष्यकार का मत पहले देखना चाहिए। उन्होने स्पष्ट ही कहा है—"यथैव निपातनस्वर. प्रकृतिस्वरस्य बाधक एव समासस्वरस्यापि" (६।१।१२३)।

सभी व्याख्याकारो ने—"निपातनस्य स्ववीवादत्वम्" पुन पुन कहा है। अतएव समस्त निपातन-स्थलो में निपातन-बल से स्वर-व्यवस्था होती है, अर्थात् निपातन से स्वर-निर्देश भी सरल एवं सुदृढ होता है। अतएव 'ओरावश्यके' (३।१।१२५) मे वार्तिककार का जो आक्षेप है (द्योत्य इति चेत् स्वर-समासानुप्पत्ति) उसके समाधान के लिए भाष्यकार ने कहा है—"नैष-दोष. मयूरव्यसकादित्वात् समास, विस्पष्टादिवत् स्वरश्च।" इस व्याख्या मे कैयट ने कहा है "———एवमवश्यलाव्यमित्यादावपि मयूरव्यशकादिषु निपातनादुत्तरपदप्रकृतिस्वरो भविष्यतीत्यर्थ'। इसकी व्याख्या मे नागेश ने निपातन का सर्वाधिक बल दिखाया है—"एव च मयूरव्यंशकादिषु निपातनादेव सिद्धे विस्पष्टादीनीति सूत्रमपि न कार्यमिति भाव" [उद्द्योत]। सभी व्याख्याकारो का मत है कि निपातित शब्द की स्वरसिद्धि निपातन-बल से ही होती है।

१५.§ उपर्युक्त उदाहरणो से यह सिद्ध हुआ कि जहॉ-जहाँ निपातन किया गया है, वहॉ कुछ न कुछ कारण अवश्य है। कही प्रक्रिया-लाघव के लिए, कही अर्थ-वैशिष्टच दिखाने के लिए, कही अनुक्तज्ञापन के लिए, कही स्वरादि सिद्धि के लिए पाणिनि ने प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश परित्याग पूर्वक निपातन-सूत्रो की रचना की है। यद्यपि हम अभी समस्त निपातन-सूत्रो मे निपातन-सार्थक्य दिखाने मे असमर्थ है, तथापि इन उदाहरणो से यह सिद्ध होता है कि किसी इष्ट सिद्धि के लिए पाणिनि ने निपातन-सूत्रो की रचना की है। निपातन सूत्रो मे किसी प्रकार की अनर्थकता नही है।



सिद्धेश्वर वर्मा

क्या हिन्दी कवर्ग 'कण्ठ्य' ध्वनियाँ हैं?

हिन्दी कवर्ग (अर्थात् क ख ग घ ङ) का उच्चारण कहाँ और कैसे होता है—इस विषय पर हिन्दी पाठ्य पुस्तको मे, जो व्याकरण पर लिखी गई है, सामग्री या तो बहुत कम है, या बहुत भ्रान्तिजनक है। उदाहरणार्थ हम कुछ ऐसी पुस्तको को लेते है जिनका प्रसार हिन्दी स्कूलो मे विशेषत प्रचलित है—

१ केल्लाग, ए ग्रैमर ऑफ दी हिन्दी लैंग्वेज, लदन, १९३८, पृष्ठ १७. "क, ग—'क' अगरेजी शब्द 'की' (=चाबी) और 'ग' अगरेजी शब्द 'गिव' (=दे) के 'क', 'ग' के समान बोले जाते है।"

केल्लाग ने केवल इतनी व्याख्या करके विषय को समाप्त कर दिया है।

२ कामताप्रसाद गुरु, सक्षिप्त हिन्दी व्याकरण, काशी, स० २००८, पृष्ठ ८ मे क, ख आदि को 'कवर्ग' कहकर उनका केवल 'करण' की दृष्टि से विचार किया गया है और बस यही बतलाया गया है कि यह व्यञ्जन 'स्पर्श' है जिनके उच्चारण मे "जीभ का कोई न कोई भाग मुख के किसी दूसरे भाग को स्पर्श करता है।" ऐसी व्यापक उक्ति से कवर्ग का विशेष स्थान क्या है, इसका कुछ पता नही चल सकता।

३ धीरेन्द्रवर्मा-सक्सेना, हिन्दी व्याकरण और रचना, प्रयाग, १९४९, पृष्ठ १०

इस पुस्तक मे भी उपर्युक्त पुस्तक के समान "क, ख अघोष ग, घ, ङ सघोष" बतला कर उन्हे स्पर्श श्रेणी मे सम्मिलित करके केवल स्पर्श की व्याख्या " सास क्षण भर के लिए रुक जाती है" करके समाप्त कर दिया गया है, और कवर्ग किस स्थान से बोला जाता है, इस पर कुछ भी नही कहा गया।

अब हम उन पुस्तको को लेते है जिनमे कवर्ग के उत्पत्तिस्थान का निर्देश स्पष्ट है—

१ सूर्यकान्त, सूर्य हिन्दी व्याकरण, दिल्ली, १९५१ पृष्ठ १२ "क ख ग घ ङ—कण्ठ्य, स्थान कण्ठ।"

२ दुनीचन्द, हिन्दी व्याकरण, होशियारपुर, सवत् २००७, पृष्ठ २१ मे "क ख ग घ ङ" का स्थान "कंठ" कहा गया है।

इन दो पुस्तको से उद्धरण केवल उपलक्षक के रूप मे दिये गये है। अन्यथा वर्षों के अनुभव से इस लेखक को निश्चय है कि स्कूलो और अन्य हिन्दी सस्थाओ मे प्राय विद्यार्थियो को वास्तव में यही बतलाया जाता है कि हिन्दी कवर्ग कठ से बोले जाते हैं। यह एक घोर भ्रान्ति है जिसका निवारण अत्यन्त आवश्यक है। इस भ्रान्ति का स्वरूप यह है कि 'कण्ठ्य' कहने से

कवर्ग की विशेषता कोरी की कोरी रह जाती है। वह कैसे ? इसलिए कि सारी ध्वनियाँ तो कठ की सहायता से बोली जाती है। उदाहरणार्थ, दो शब्द लीजिए—'काला' और 'बाला'। क्या जब हिन्दी भाषी व्यक्ति 'काला' बोलता है, तो केवल 'का' के उच्चारण मे ही उसका गला काम करता है ? क्या जब वह 'बाला' का 'बा' बोलता है, तो उसका गला सो जाता है ? वास्तव में 'बा' के उच्चारण मे कठ का टेटुआ नीचे उतरता है। बोलते समय कोई भी व्यक्ति गले को हाथ लगा कर यह अनुभव कर सकता है। इस 'कण्ठच' को कवर्ग की विशेषता कह कर अध्ययन और अध्यापन मे रटने की पराकाष्ठा है, जो कि देश के बौद्धिक अध पतन का ज्वलन्त उदाहरण है।

"तो बताइए कवर्ग के उच्चारण का विशेष स्थान क्या है ?" इस प्रश्न का उत्तर भारत के प्राचीन आचार्यों ने आगे ही दे रखा है। उच्चारण-शास्त्र के प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' मे कवर्ग को 'जिह्वामूलीय' कहा गया है, इस 'जिह्वामूलीय' का अभिप्राय यह है कि जिह्वा का सब से पिछला भाग (जहाँ से जिह्वा शुरू होती है) ऊपर उठता है, और वह 'नरम तालू' को जा छूता है। दुर्भाग्यवश इस प्रातिशाख्य ने 'नरमतालू' को भी 'जिह्वामूल' ही कह दिया, जिससे प्रतिपादन मे त्रुटि रह गई। वास्तविक उक्ति का अक्षरार्थ है "कवर्ग के उच्चारण मे जिह्वा-मूल से जिह्वामूल को छूते है ("जिह्वामूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयन्ति"—देखिए तत्तिरीयप्राति शाख्य, अध्याय २, सूत्र ३७)। परन्तु भारतीय सस्कृति के सौभाग्य से तमिल के एक महावैय्या-करण पवणन्दि ने (जो सात सौ वर्ष हुए, तेरहवी शताब्दी मे विराजमान थे) अपने ग्रन्थ 'नन्नूल' मे स्पष्ट बताया है कि कवर्ग का उच्चारण तब होता है जब जिह्वा का पश्चभाग तालू के पश्चभाग से स्पर्श करे। ' मुदना मुदलण्णम्" यह तमिल भाष्यकार की व्याख्या है (मुदल = पीछे, ना = जीभ, अण्णम् = तालु—देखिए पवणन्दिकृत 'नन्नूल', मदुरा १९४०, सूत्र ७९, पृष्ठ ५९)।

"तो फिर 'कण्ठ्य' की यह घोर भ्राति कहाँ से आई ?" इस प्रश्न के उत्तर मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि पहिले तो यह गलती पीछे आने वाली 'शिक्षाओ' मे प्रगट हुई (देखिए आपिशली शिक्षा २-७) और तदनन्तर सब से बडा अपराध 'सिद्धान्त कौमुदी' का था, जिसमे पाणिनि-सूत्र १-१-९ (तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्) की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि "अकार, हकार, विसर्ग और कवर्ग—यह कठ से बोले जाते है" (अकुह विसर्जनीयाना कठ)। सदियो से सस्कृत के अध्यापक और विद्यार्थी इस मूर्खता-मत्र को रटते आये हैं, जिसकी छाया हमारे हिन्दी शिक्षण पर भी आ पडी है।

परन्तु सन्तोष का विषय है कि जागरण-उन्मुख भारत की काया पलटनी शुरू हो गई है। भारत-सरकार की अपनी एक कृति 'ए बेसिक ग्रैमर ऑफ मौडर्न हिन्दी' नई दिल्ली, १९५८, पृष्ठ ५ मे यह स्पष्ट बताया गया है कि "कवर्ग के उच्चारण मे जिह्वा का पिछला भाग नरम तालू को छूता है।"

भाषावैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर पहले ही गया है—सम्पादक

एम० ए० मेहन्दले

यास्क द्वारा दी गई 'दंड'[1] शब्द की व्युत्पत्ति

तद्धित और समासो की रूपरचना की व्याख्या के लिए उचित प्रक्रिया समझाते हुए यास्क ने निरुक्त २ २ मे 'दड्य' रूप की चर्चा की है। वहाँ उल्लेख यो है. **दड्यः पुरुषः (दडपुरुषः)। दंडम् अर्हतीति वा। दंडेन संपाद्यते इति वा। दंडो ददतेर्[2] धारयतिकर्मणः। अक्रूरो ददते मणिम् इत्यभिभाषन्ते।**[3] सरूप (पृ० २२) इस उद्धरण का रूपातर इस प्रकार करते हैं— "दंडनीय, अर्थात् एक व्यक्ति (दड का व्यक्ति) जो दड के योग्य है, या कोई चीज जो दड के साथ रहे। दंड की व्युत्पत्ति दद् (धातु) से है, जिसका अर्थ है पकडना। लोग कहते है, अक्रूर रत्न को लिए है।" (तुलनीय सरूप का Exegetical and Critical Notes, पृ० २२४)

यहाँ विचारणीय है यास्क की √दद् क्रिया (∠√दा) से 'दड' की व्युत्पत्ति। इस क्रिया का यास्क द्वारा 'धारयति' अर्थ दिया जाना, उसका तात्पर्य कुछ भी हो, स्पष्ट ही कुछ अस्वाभाविक था, तभी उन्होंने अक्रूर के लोकप्रिय आख्यान से इसके प्रयोग का एक उदाहरण दिया। स्कदस्वामिन्[4] (तथा महेश्वर) के भाष्य मे 'धारयति' की एक व्याख्या की गई है 'वापस करना, रोक रखना', क्योकि यही वस्तुत दड का कार्य है, और अक्रूर वाले उदाहरण मे 'धारयति' का अर्थ है 'सिर पर रोकना'; द्रष्टव्य "दण्डो ददते, दा इत्यस्य **धारयत्यर्थे** वर्तमानस्य। धारयति ह्यसौ निरुणद्धि पश्वादिकमपि, किमङ्ग मनुष्यम्। . . अस्ति पुनरस्य ददति कि क्वचिद् **धारणार्थे**। अस्तीत्याह। अक्रूरो नाम वृष्ण्यन्धकाधिपति स **ददते धारयते** मणि मस्तकेन स्यमन्तक नाम। एव भाष्यते लोके।"[5] ऐसा जान पडता है कि दुर्गा ने यह समझा है कि उपर्युक्त

---

१. इस पत्रक के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि 'दंड' शब्दः मूलतः भारोपीय है अथवा नही। इसके लिए देखें Mayrhofer's Kurz. ety. wort. des Altind, and Emeneau, Indian Linguistics, Turner Jubilee Volume, pp. 71-73.

२. सरूप के संस्करण के अनुसार 'ददातेर'।

३. इसके उपरांत यास्क औपमन्यव का मत उद्धृत करते है, जिसके अनुसार 'दड' की व्युत्पत्ति √दम् (=पालतू बनाना, नियंत्रण में लाना) से है।

४. सरूप द्वारा संपादित, भाग २, पृ० २७-२८।

५. इसके उपरांत हमें दो उदाहरण मिलते है, 'चतुरष्—चिद् ददमानाद्' (ऋग्वेद १.४१.९) और 'विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त' (ऋग्वेद ७,३३,११), जिनसे वेद में √दद् (पकड़ना) का प्रयुक्त होना सिद्ध होता है। दुर्गा केवल दूसरे का उल्लेख करते है। प्रस्तुत पत्रक में इनका विवेचन अनावश्यक है, क्योंकि यास्क ने उन्हें उद्धृत नही किया है।

अर्थ 'धारयति' दो भावो मे लिया जा सकता है, और इसलिए 'दड' की व्युत्पत्ति के लिए उन्होने इसकी 'पकड़ने' (हाथ में) वाली व्याख्या स्वीकार की है कर्म वाच्य मे। उनका कहना है कि राज्य में अत्याचार बढने पर राजा दड धारण करते है, द्रष्टव्य. "दण्डो ददते, **धारयत्यर्थे** वर्तमानस्य। धार्यंते ह्येषोऽपराधेषु राजभि । आह। दृष्ट पुन. क्वचित् प्रयोगो **ददतेर्धारयत्यर्थे** इति। उच्यते। दृष्टो वेदे लोके च।......तथा लोके 'अक्रूरो **ददते** मणिम्'। अक्रूरो नाम राजा वृष्ण्यन्धकाधिपति । स **ददते** मणि स्यमन्तकनामान शिरसा। **लोकेऽप्येव धारणार्थे ददातिर्भाष्यते।**"

रॉथ के अनुसार 'धारयति' का अर्थ है 'पकडना' अर्थात् धारण करना, या लेना, तुलनीय: Erläuterungen, पृ० १८।[६]

सरूप (ऊपर द्रष्टव्य) तथा स्कोल्ड (द निरुक्त, पृ० २५८) रॉथ का मत स्वीकार करते है। स्पष्ट ही '**ददते = धारयति**' (पकडना, अर्थात् धारण करना), यह व्याख्या, '**अक्रूरो ददते मणिम्**' से नि सृत है, जिसका अर्थ किया गया है, अक्रूर मणि धारण करता है (रखता है)। परतु यहाँ प्रश्न उठता है कि **ददते** क्रिया, जिसका अर्थ माना जाता है 'रखना, धारण करना' किस प्रकार अपने से व्युत्पन्न शब्द 'दड' से सबद्ध है, जिसका अर्थ है 'अपराध का **दड**'? सभवत. ये विद्वान् आतरिक रूप से उस स्थिति को स्वीकार करते हैं, जिसमे स्कदस्वामिन् तथा दुर्गा के अनुकरण मे राजवाडे स्पष्ट रूप से 'दड' का अर्थ छडी, ऐसा मानते है (जो 'दडच'–जिसे दड मिलना चाहिए— के उद्धरण मे बहुत उपयुक्त प्रतीत नही होता) और इस प्रकार सकेत करते है कि छड़ी हाथ मे 'लेने' के लिए है, और मणि शरीर पर धारण की जाती है। यह अर्थ 'हाथ से पकडना', जो दड (छडी) की दृष्टि से उपयुक्त है, पर अपराध के दड की दृष्टि से नही, मणि के प्रसग मे नितात अनुपयुक्त है। और 'लेना, रखना' या 'धारण करना' जो मणि की दृष्टि से सार्थक है, 'दड' की व्युत्पत्ति के लिए छडी के अर्थ मे भी उपयुक्त नही, क्योकि 'धारण करना' असभव है और 'रखना' अर्थ अत्यन्त व्यापक है। पर ये कठिनाइयाँ समाप्त हो सकती है यदि **ददते = धारयति** सही ढग से 'दड' की व्युत्पत्ति तथा मणि के उदाहरण के लिए समझा जाए। स्पष्ट ही इन दो प्रसगो मे **ददते** का अर्थ अलग-अलग नही हो सकता।

सब से पहले मणि के उद्धरण की बात ली जाय। 'हरिवश' तथा अन्य पुराणो मे उपलब्ध स्यमतक की कथा से 'अक्रूरो ददते मणिम्' का अर्थ निश्चित किया जा सकता है।[७] कथा की सक्षिप्त

---

६. रॉथ अक्रूर के उदाहरण को प्रक्षिप्त मानते है। इस प्रसंग में द्र० गुणे, IA४५, १७७

७. तुलनीय: डब्ल्यू, किर्फ़ेल, दास पुराणा पंचलक्षण, पृ० ४३७-४४६। 'ब्रह्मांड', 'ब्रह्म', 'वायु' तथा 'हरिवंश' पुराणों के अनुकूल यह कथा इसमें दी गई है। 'विष्णु पुराण' के कथांतरों का उल्लेख किर्फ़ेल ने नहीं किया है। वह कथा 'भागवत' १०-५६-५७ में भी मिलती है। कृष्ण द्वारा सत्राजित को मणि वापस दिए जाने तक के सक्षिप्त कथा-रूप ('मत्स्य पुराण' तथा 'पद्मपुराण') के लिए द्रष्टव्य: किर्फ़ेल, पृ० ४४६-४४८। 'अग्निपुराण' २७४-४०-४४ में यह कथा

रूपरेखा इस प्रकार है—वृष्ण वंशी सत्राजित ने स्यमतक मणि सूर्य से प्राप्त की जो उसका मित्र था। मणि की कुछ अतिप्राकृत विशेषताएँ थी। वह प्रति दिन आठ भार स्वर्ण देती थी, और जिस प्रदेश मे वह मणि रहती थी वहाँ सूखा या महामारी जैसी प्राकृतिक विपत्तियाँ नही आती थी। सत्राजित ने एक बार यह मणि अपने भाई प्रसेन को दी, जो बाद मे शिकार खेलते हुए सिह द्वारा मारा गया। उस सिह को ऋक्ष-सम्राट् जाबवंत ने मार डाला और उसने वह मणि अपने बच्चे को खेलने के लिए दे दी। फिर यह प्रवाद प्रचलित हुआ कि मणि के लिए कृष्ण ने प्रसेन को मार डाला। इस पर कृष्ण उस मणि की खोज मे निकले, ऋक्ष-सम्राट् को पराजित किया, मणि को वापस द्वारका लाकर उसे सत्राजित को दिया। सत्राजित ने अपनी पुत्री सत्यभामा कृष्ण को दे दी। अक्रूर उससे विवाह करने के लिए इच्छुक था, अत वह सत्राजित से क्रुद्ध हो गया। उसने शतधन्वन् को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह सत्राजित को मार कर मणि ले ले। इस योजना के अनुसार शतधन्वन ने सत्राजित को मार डाला। जब कृष्ण को सत्राजित की मृत्यु का समाचार मिला तो, उन्होने अपने भाई बलराम से अनुरोध किया कि वे शतधन्वन् के विरुद्ध युद्ध मे उनकी सहायता करे, और दोनो मिलकर मणि ले ले। इस पर जो युद्ध हुआ उसमे अक्रूर ने भाग लेने से इनकार कर दिया, पर गुप्त रूप से मणि को रख लेने के लिए तैयार हो गया। कृष्ण ने शतधन्वन् को मार डाला पर उन्हे मणि नही मिली। बलराम को कृष्ण की ईमानदारी पर सदेह हुआ और वे क्रोध मे चले गये। बाद मे यादवो ने उन्हे किसी प्रकार मनाया और उन्हे द्वारका ले गये। किसी बहाने से अक्रूर भी द्वारका छोड कर चले गये थे और मणि के माध्यम से मिले स्वर्ण के सहारे अनेक व्ययसाध्य यज्ञ कर रहे थे। द्वारका से जब वह मणि चली गई तो वहाँ बहुत ही विपत्तियाँ आई। वयोवृद्ध यादवो ने इसका कारण द्वारका से अक्रूर का चला जाना बताया, पर मणि के जाने की बात वे नही समझ सके। वस्तुत लोगो को यह ज्ञात ही नही था कि मणि किसके पास है। अत अक्रूर से अनुरोध किया गया कि वे द्वारका वापस लौट आएँ। उनके वापस आते ही सारी विपत्तियाँ दूर हो गई। तब फिर किसी एक विशिष्ट सभा मे कृष्ण ने अक्रूर से मणि दिखाने को कहा। इस अवसर पर अक्रूर मना नही कर सके और उन्होने मणि कृष्ण को दे दी। पर कृष्ण ने किन्ही कारणो से मणि अक्रूर को वापस दे दी, जिसे उसने कठ में धारण कर लिया।

कथा के दो रूप उपलब्ध होते हैं—छदोबद्ध रूप मे 'ब्रह्माड', 'वायु', 'ब्रह्म' और 'हरिवश' में तथा गद्य रूप मे 'विष्णु पुराण' मे। चारो पुराणों के छदोबद्ध रूप मे जो अतर मिलते हैं उनका हमारी दृष्टि से कोई महत्व नही है। पर छदोबद्ध तथा गद्य-रूपो के कुछ अतर हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं, और आगामी विवेचन से यह स्पष्ट हो सकेगा कि 'अक्रूरो ददते

अत्यत सामान्य रूप में मिलती है, और 'लिंगपुराण' ६९-१२-१५ में इसका उल्लेख भर हुआ है।

८. 'भागवत' का रूप यद्यपि छंदोबद्ध है, पर मुख्य बातों में उसकी 'विष्णुपुराण' से समानता है।

मणिम्,' जहाँ ददत=धारयति है, उस रूप पर आधारित है जो 'विष्णुपुराण' की पृष्ठभूमि मे है।

कथा के उपर्युक्त सक्षिप्त रूप से यह प्रकट होता है कि 'अक्रूरो ददले मणिम्,' का 'अक्रूर मणि लिए है, अर्थात् धारण किए है', ऐसा अर्थ करना कितना भ्रामक है! क्योकि अक्रूर का मणि धारण करना कोई महत्व की बात नही है, इसीलिए अत मे उसका सामान्य उल्लेख भर कर दिया गया है। कथा मे शायद ही उसने कभी वह मणि पहिना हो। लोगो को भी यह ज्ञात नही था कि मणि अक्रूर के पास है। वस्तुत सत्य तो यह है कि अक्रूर उस मणि का यथार्थ स्वामी नही था, क्योकि उसे तो शतधन्वन् ने मणि केवल रखने के लिए दी थी। यह भी सही है कि मणि उसने अपने पास गुप्त रूप से[१] रक्खा था, बाद मे कुछ कारणो से कृष्ण ने वह मणि उसे फिर से अपने पास रखने के लिए दे दी।

यहाँ पर इस तथ्य का उल्लेख उचित ही होगा कि इस कथा मे मणि का धारण किया जाना इस बात का द्योतक नही है कि वह सिर पर धारण किया जाता था (स्कद तथा दुर्गा), वरन् वह तो गले मे पहिना जाता था अमलमणिरत्नसनाथकण्ठतया (विष्णु ४ १३ ११), स्यमन्तकेन कण्ठासक्तेन (विष्णु ४ १३ १८), आत्मकण्ठासक्तेन (विष्णु ४ १३ ७०), मणिग्रीव (भागवत

---

१. यह बताया गया है कि जब अक्रूर ने शतधन्वन् से मणि ली तो उन्होने यह वादा करा लिया था कि हम तथ्य को प्रकट न करेंगे। छंदोबद्ध तथा गद्य रूपों मे इस प्रसंग से संबद्ध कथा का अंश अलग-अलग मिलता है। छंदोबद्ध रूप के अनुसार मणि अक्रूर को उसी रात दे दी गई थी जब कि सत्राजित मारा गया था; गद्य रूप में यह मणि-प्रदान तब होता है जब शतधन्वन् पर कृष्ण ने आक्रमण किया। 'भागवत'-१०.५७.१८ इस प्रसग मे 'विष्णुपुराण' से साम्य रखता है—

सत्राजितं ततो हत्वा शतधन्वा महाबलः।
रात्रौ तं मणिमादाय ततोऽक्रूराय दत्तवान॥
अक्रूरस्तु तदा रत्नमादाय स नरर्षभः।
समयं कारयां चक्रे नावेद्योऽहं त्वयेत्युत॥
किर्फेल ४४२.३७,३८

यद्यन्तायामप्यवस्थायां न कस्मैचिद्
भवान् कथयिष्यति तदहमेनं ग्रहीष्यामि।
तथेत्युक्ते अक्रूरस्तन्मणिरत्न जग्राह।
विष्णु ४.१३.४२

इसके अतिरिक्त 'विष्णुपुराण' (४.१३.६०-६३) में यह बताया गया है कि मणि को अक्रूर सार्वजनिक रूप से नहीं पहिनते थे (कथा के अंतिम अंश को छोड़कर)। वे उसे एक डिब्बे में रख कर अपने वस्त्रों के भीतर छिपा लेते थे: केवलमम्बरतिरोधानमन्विष्यन्तो रत्नमेते द्रक्ष्यन्ति, ततः सोऽधरवस्त्रनिगोपितातिलघुकनकसमुद्गकं प्रकटीकृतवान्; 'भागवत' में भी: १०.५७.४०।

१० ५६ १६ ३७)। ये वर्णन भी तुलनीय है जहाँ गरदन का प्राय उल्लेख हुआ है। फिर हम यह भी देखते है कि मणि पहिनने के अर्थ मे जिन क्रियाओ का प्रयोग हुआ है वे √**दद्** या √**धारय** नही है, वरन् √**आबन्ध** है स तम् आबध्य नगरीम् प्रविवेश महीपति (किर्फेल ४३८.९४), आबध्य गान्दिनीपुत्रो विरराज (किर्फेल ४४५ ७४), बबद्धनृपतेस्तदा (ब्रह्माड २.७१.२६; वायु० ९६ २५), **आमुच्** स तम् आमुच्य . . 'ब्रह्माड' मे उपलब्ध **आबध्य** (किर्फेल ४३८ ९) का रूपातर; **प्रतिमुच्** : मणिम् कण्ठे प्रतिमुच्य, (भागवत १० ५६ १३) **मुच्** का अन्य उपसर्गों के साथ विरोधी अर्थ मे भी प्रयोग मिलता है, **अवमुच्** : स्वकण्ठाद् अवमुच्य, (किर्फेल ४३७ ६), **उन्मुच्**: निजकण्ठाद् उन्मुच्य, (विष्णु ४ १३ १०), **भार्**. बिभ्रन मणिम् कण्ठे (भागवत १० ५६ ४), स्यमन्तकाख्यम् महामणिम् बिभ्रद् अत्रोपायाति (विष्णु ४ १३ १२)।

दूसरी ओर √**धृ** क्रिया के कई महत्वपूर्ण प्रयोग 'विष्णुपुराण' मे मिलते है जिससे स्पष्ट होता है कि यह 'रखने' अर्थात् 'पहिनने', के अर्थ मे प्रयुक्त नही होती थी। सिर पर धारण करने के अर्थ मे तो और भी नही, वरन् इसका प्रयोग किसी दूसरे की अमानत रखने के अर्थ मे होता था। कथा के अत मे जब सभा के बीच अक्रूर ने मणि दिखाई तो कृष्ण ने उनसे कहा कि इस मणि के वास्तविक स्वामी[१०] या तो वे स्वय है, या बलराम या सत्यभामा। पर क्योकि इनमे से कोई भी उसे कठिनाई से ही स्वीकार कर पाएगा, अत अक्रूर इस मणि को उनकी धरोहर के रूप मे रक्खे। इसके अतिरिक्त मणि मे कुछ दैवी शक्ति थी जिससे राष्ट्र के ऊपर कोई आपत्ति नही आती थी[११]। इस प्रकार अक्रूर के पास यह मणि राष्ट्र की धरोहर के रूप मे भी थी। अक्रूर को मणि का स्वामित्व नही दिया गया था, वरन् वे इसके एक प्रत्याशी के रूप मे नियुक्त किये गये थे। तुलनीय सकलयादवसमक्षञ्चाक्रूरमाह, एतद्धि मणिरत्नमात्मशोधनायैषा यदूना दर्शितम्। एतच्च मम बलभद्रस्य च सामान्य पितृधन चैतत् सत्यभामाया नान्यस्य। तदय यदुलोकोऽयं बलभद्रोऽहं सत्या च त्वा दानपते प्रार्थयाम एतद् भवानेव धारयितु समर्थ । त्वत्स्थञ्चास्य राष्ट्रस्योपकारक, तद् भवानशेषराष्ट्रोपकारनिमित्तमेतत् पूर्ववत् धारयतु। (विष्णु ४ १३. ६७ ७०)

यह सही है कि 'विष्णु पुराण' मे √**धारय** क्रिया स्वामित्व[१२] के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुई है।

---

१०. अक्रूर ने इस बात को स्वयं स्वीकार किया कि यह मणि उनकी नहीं थी वरन् शतधन्वन् द्वारा उन्हे दी गई थी। उन्होने उसे, जब तक संभव था, रक्खा। अब यह उसे मिलनी चाहिए जो उसका वास्तविक स्वामी है (स एष मणिर्यः शतधन्वनास्माकं समर्पितः यस्यायं स एनं गृह्णातु। (विष्णु ४.१३.६५)।

११. स मणिः स्यन्दते रुक्मं . । कालवर्षी च पर्जन्यो न च व्याधिभयं ह्यभूत्॥ किर्फेल ४३८.१२; विष्णु ४.१३.१४-१५; भागवत १०.५६.११

१२. एतच्च सर्वकालं शुचिना ब्रह्मचर्यगुणवता ध्रियमाणमशेषराष्ट्रस्योपकारकम-शुचिना ध्रियमाणमाधारमेव हन्ति। ४.१३.६८; १३.१८ भी; अथवा कृष्ण के शब्द: अतोऽहमस्य... असमर्थो धारणे। १४.१३.६९। अक्रूर ने निम्नलिखित शब्दों में: अति-

पर यहाँ आशय यह नही है कि √धृ का प्रयोग सस्कृत मे 'पकडने', 'रखने' वा 'धारण करने' के अर्थ मे नही होता। अभिप्राय यह है कि ये अर्थ **दड** शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से अनुपयुक्त है, और 'विष्णुपुराण' मे उपलब्ध कथा-रूप के आधार पर अक्रूर द्वारा मणि को रक्खे जाने की दृष्टि से **धारयति** का सर्वाधिक सगत अर्थ होगा 'किसी दूसरे की अमानत रखना, धरोहर रखना, वापस करने के लिए वचनबद्ध होना।' अब किसी हद तक यह कहा जा सकता है कि 'विष्णुपुराण' के पीछे जो कथा-रूप था और जिससे यास्क परिचित थे, उसमे जो यह प्रयोग मिलता है **'अक्रूरो ददते मणिम्'**, उसका 'विष्णुपुराण' के आधुनिक रूप के आधार पर भाव होगा **'अक्रूरो धारयति मणिम्'** जिसका अर्थ है 'अक्रूर मणि को धरोहर के रूप मे रखते है, उसके स्वामी के लिए अथवा समूचे राष्ट्र के लिए, वे उसे एक विश्वासी व्यक्ति के रूप मे रखते है, वे उन्हे वापस देने के लिए वचन-बद्ध है।' विशेष रूप से अक्रूर के प्रसग मे कोई दूसरा अर्थ ('रखना' या 'धारण करना') उपयुक्त प्रतीत नही होता। **'धारयति'** का अर्थ 'वापस करने के लिए वचनबद्ध होना' पाणिनि के काल मे भी मिलता है (१ ४ ३५), और यास्क ने निश्चय ही इसी अर्थ मे इसका प्रयोग किया होगा, जब उन्होने **दंड** (अपराधी को देने के लिए बद्ध होना) की उत्पत्ति √**दद्** से सिद्ध की। इस प्रकार से इस व्युत्पत्ति मे मूल क्रिया √**दद्** तथा उससे व्युत्पन्न शब्द **दंड** का वास्तविक सबध देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह **धारयति** (देने के लिए बद्ध होना) का यास्ककालीन प्रयोग भी सिद्ध करता है।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि यास्क द्वारा उस कथा का सदर्भ, जिसमे **'ददते'** का अर्थ है **'धारयति'**, मूल कथानक के उस रूप की ओर सकेत करता है जो 'विष्णुपुराण' मे उपलब्ध कथा का स्रोत है। विटरनित्ज़ (हिस्ट० ऑफ इडि० लिट्० १ ५४५) 'विष्णुपुराण' की प्राचीनता को मानते है। किर्फेल (पृ० ४६) का मत भिन्न है और वे यह मानते हैं कि 'विष्णुपुराण' अपेक्षाकृत नव्य पुराणो के अतर्गत आता है। यह बात सामान्यत ठीक हो सकती है, मणि की कहानी मे भी गद्य-रूप कुछ बाद के प्रक्षेपो को प्रदर्शित करता है, पर प्रस्तुत कथा मे कुछ ऐसे तत्व है जिनसे सिद्ध होता है कि 'विष्णुपुराण' मे कहानी के प्राचीनतर अश है।

(१) छदोबद्ध रूप मे (किर्फेल ४४५ ६९) कहा गया है कि कृष्ण ने अपनी अति-प्राकृत शक्तियो द्वारा यह जान लिया कि मणि अक्रूर के पास है (अथ विज्ञाय योगेन कृष्णो बभ्रु-गतं मणिम्)। पर 'विष्णुपुराण' मे एक सामान्य मनुष्य के रूप मे कृष्ण दो तर्कों के आधार पर यह

कृच्छ्रेणैतावन्तं कालमधारयमस्य च धारणक्लेशेन....न वेद्‌मि स्वसुखकलामपि। ४.१३. ६१; ६२। 'धारय' का अर्थ केवल 'रखना' न हो वरन् धरोहर रखना हो। इस प्रकार सकेत यह हो कि मणि उन्हें तब तक धरोहर स्वरूप रखने के लिए दी गयी हो जब तक कि शतधन्वन् कृष्ण के आक्रमण से मुक्ति पा सके और फिर वह उन्हीं को वापस दी जाए (तुलनीय इस प्रसग मे भागवत १०.५७.१८ का प्रयोग √न्यस: शतधन्वा महामणिम् तस्मिन् न्यस्य.... और भी १०.५७.२३-२६; 'विष्णुपुराण' ४.१३.४२ में इस प्रकार मिलता है: तदयम् अस्मन्मणिः संगृह्य स्वयताम्।)

सिद्ध करते हैं—अक्रूर के वापस आने पर विपत्तियो की समाप्ति तथा अक्रूर के व्ययसाध्य यज्ञ। यह कथा का निश्चय ही प्राचीनतर रूप जान पडता है, यथा—"कृष्णश्च चिन्तयामास,———— सुमहाश्चायमनावृष्टिदुर्भिक्षमरकाद्युपशमनकारी प्रभाव। तन्नूनमस्य सकाशे स महामणि स्यमन्तकाख्यस्तिष्ठति। तस्य ह्येवविधा प्रभावा श्रूयन्ते। अयमपि यज्ञादनन्तरमन्यत् क्रत्वन्तरम्, तस्मात्यज्ञान्तर यजतीति। अल्पोपादानञ्चास्य। असशयमत्रासौ वरमणिस्तिष्ठति " (विष्णु ४ १३ ५८–५९)।[१३]

(२) छदोबद्ध रूप मे इस बात का कोई स्पष्ट कारण नही मिलता कि कृष्ण ने अत मे मणि अक्रूर को क्यो वापस कर दी। उनके अनुसार क्योकि अक्रूर ने मणि बिना किसी कठिनाई के दे दी, इसलिए कृष्ण उनसे प्रसन्न हो गए और उन्होने फिर वह मणि उन्ही को वापस कर दी। (प्रददौ त मणिं बभ्रुरक्लेशेन महामति। ततस्तमार्जवप्राप्तम् । ददौ हृष्टमना कृष्णस्त मणि बभ्रवे पुन ॥ (किर्फेल ४४५ ७२ ७३)। पर गद्य-रूप मे इस घटना का निश्चित कारण मिलता है जिससे कृष्ण की चतुराई का पता चलता है। मणि को बलराम,सत्यभामा तथ कृष्ण सभी चाहते थे। इनमे सघर्ष बचाने के लिए कृष्ण ने अक्रूर से अनुरोध किया कि वे ही मणि को उन लोगो की धरोहर के रूप मे रक्खे रहे, क्योकि किसी न किसी कारण से उनमे से कोई भी उसे अपने पास नही रख सकता था।[१४] (तमालोक्य ममायमच्युतेनैव सामान्य समन्वीप्सित इति बलभद्र. सस्पृहोऽभवत् ममैवेद पितृधनमित्यतीव च सत्यभामापि स्पृहयाञ्चकार। बलसत्याननावलोकनात्कृष्णोऽप्यात्मान चक्रान्तरावस्थितमिव मेने। विष्णु ४ १३.६५,६६, ६७-७० भी तुलनीय)।

(३) छदोबद्ध रूप मे इस बात का भी कोई कारण नही दिया गया कि कृष्ण ने अक्रूर से मणि देने के लिए क्यो कहा। पूरी सभा मे धमकी देकर (किर्फेल ४४५ ६९ ७१) उसे माँगा गया। गद्य-रूप के अनुसार अक्रूर से मणि दिखाने को इसलिए कहा गया जिससे बलराम आदि अन्य यादवो की शका दूर हो जाए। क्योकि तब तक किसी को मणि का कोई पता नही था, इसलिए यादवो को एक क्षीण सदेह यह था कि वह शायद कृष्ण के पास है (किन्त्वेष बलभद्रोऽस्मानाशकितवान्, विष्णु ४ १३ ६०, एतद्धि मणिरत्नमात्मशोधनायैषा यदूना दर्शितम्, ६७)[१५]।

(४) 'विष्णुपुराण' मे कृष्ण बलराम से कहते है कि सत्राजित् और प्रसेन की मृत्यु के कारण यह मणि उन दोनो की है (तदुभयविनाशात्तन्मणिरत्नमावाभ्या सामान्य भविष्यति, ४ १३.४०)। ऐसा जान पडता है कि किसी लुप्त रूप के अनुसार कृष्ण यह सोचते थे कि मणि केवल उन्ही की है। छदोबद्ध रूप मे ये दोनो ही दृष्टिकोण मिलते हैं, जिससे स्थिति कुछ निश्चित नही हो पाती, और जिससे उन रूपो की अपेक्षाकृत अर्वाचीनता सिद्ध होती है (स्यमन्तकस्तु मद्गामी तस्य प्रभुरह विभो। .स्यमन्तको महाबाहो अस्माक स भविष्यति। किर्फेल ४४२ ४४b ४५)।

---

१३. भाग० १०.५७.३४ का यहाँ साम्य स्पष्ट है, यद्यपि कथा का विशेष विस्तार नहीं मिलता। १४. भाग० १०.५७.३८ में बिना किसी विस्तार के इसका उल्लेख मात्र मिलता है। १५ भाग० १०.५७ ३८-३९

योगध्यान आहूजा

'शिवा बावनी' में फ़ारसी शब्दावली का प्रयोग

शब्दो की तोड-मरोड भूषण की भाषा की विशेषता है। उनकी 'शिवा बावनी' की अनियन्त्रित शब्दावली का अध्ययन रोचकता से खाली नही। 'शिवा बावनी' मे फारसी अथवा फारसी से आये हुए अरबी आदि भाषाओ के शब्द भी अबाध रूप मे प्रयुक्त हुए है। साथ ही 'शिवा बावनी' का वर्ण्य विषय ऐसा है जिसमे फारसी शब्दो की बहुलता स्वाभाविक ही थी।

भूषण के युग तक भारत की भाषाओ मे, सामान्यतया, फारसी शब्दावली का पर्याप्त मिश्रण हो चुका था। फारसी से कई शब्द धीरे-धीरे यहाँ की भाषा का अग बन रहे थे। खडी बोली अपने विकास के मार्ग पर अग्रसर होती हुई निश्चित रूपरेखा प्राप्त कर रही थी। इस दृष्टि से उस युग की रचनाओ मे फारसी शब्दो के प्रयोग का अध्ययन महत्त्व का विषय है।

'शिवा बावनी'[1] मे बहुत से शब्द ऐसे है जो फारसी[2] के तत्सम रूप मे व्यवहृत हुए हे। कई ऐसे शब्द है जिनमे स्वर-भक्ति के परिणामस्वरूप परिवर्तन हुए है। ख़, ज़ आदि फारसी की विशेष ध्वनियाँ हिन्दी वर्णमाला के लिए नयी थी। इस कारण ऐसी ध्वनियो वाले शब्दो के लिप्यन्तर मे परिवर्तन आवश्यक थे। व्यक्तियो के कुछ नाम इस प्रकार आये है—

अफजल (२८)<अफ्ज़ल, अफजल खान (३१)<अफ्ज़ल ख़ान, अली इखलास खाँ (२३)<इख़्लास ख़ाँ, औरग (१८, २९)<औरग, खान रुसतम (३१)<ख़ान रुस्तम, जहाँगीर (१५)<जहाँगीर, दारा (१२, १३, ३४)<दारा।

स्थानो तथा देशो के नाम यो है—

काबुल (३८, ४२)<काबुल, किबले (१२)<किब्ला, खुरासान (४२)<ख़ुरासान, बलख (२७-३२)<बल्ख़, बुखारे (२७,३२)<बुख़ारा, मक्के (१२) मक्का, रूम (२७-३२)<रूम, साम (३२)<शाम; हबस (४१)<हब्श।

अन्य सामान्य शब्दो मे से कुछ ये है—

अमीर (१६), अरब (३८), आवाज (३१)<आवाज़; ऐन (४४), कत्ल (२०)<क़त्ल, कमान (२२), कसम (१२)<क़सम; काबुली (४९), कैद (१२)<

---

१. महाकवि भूषण कृत 'शिवाबावनी': प्रकाशक हिन्दी भवन, जालंधर और इलाहाबाद, अगस्त १९५० के अनुसार; कोष्ठक में पद्य संख्या दी गई है।

२. सामान्यतया 'A Comparative Persian English Dictionary' by Dr. F. Steingass **के अनुसार**

क़ैद, खलक (१)<ख़ल्क; खुदा (१२)<ख़ुदा, गाजी (४३, ५२)<गाज़ी; गुमान (३९) गुलाब (१०,१७), गोल (३३)<गोल, जरूर (३९)<जरूर, जहाज (२७-३१)<जहाज़, जहॉन (३८,४७)<जहॉन, जालिम (३७,३८) <जालिम, जाहिर (२६-३८)<जाहिर, जोर (४५) ज़ोर, जोरावर (३८)<जोर-आबर, जग (१, ३८), तमाम (४६); तबल (२८)<तब्ल, तीर (२२), तसबीह (१३)<तस्बीह, दमामे (४५)<दमामा; दरगाह (३२)<दर-गाह, दरवाजे (४४)<दर्वाजा, दावा (२१, ३३, छ बार), दिलगीर (५), नरम (९,१०)<नर्म, पील (१३, २१); फौज (४०)< फ़ौज, बन्दगी (१३), बाज, (३३, ३६, ३७, ४९)<बाज, बेदिल (२८), मनसब (२७)<मसब, मसिब, मीर (२३, ३४, ४९), मुकाम (१८)<मकाम, मुकाम, मुगुल (३५)<मुगल, मेहर (१२)<मिह्र, मेह्र, रब (१८,२०,३८), राह (२९, २९), रैयत (३५,४६)<रईयत, रोज (४४)<रोज, लाल (१५), वजीर (३९)<वजीर, विलायत(३८), सलाम (१५), सलाह (२९), सवारी (४), साल (३४), सिपाह (१५), सूबा (२६, ४९), हजरत (२७)<हजरत, हजार (१४)<हजार, हजारी (३५)< हजारी, हद्द (४५, ४६)<हद, हद्द, हरम (४९, १०, २८)<हरम, हवा (९)<हवा, हवा (ए) (९)<हवा, हालत (३८), हासिल (३४)।

फारसी के कतिपय शब्द 'श' से 'स' के परिवर्तन के साथ ब्रजभाषा के अनुरूप प्रयोग मे आये है—

कुतुबसाह(४१)<कुत्बशाह, किसमिस (११)<किश्मिश, निसान(४,१८)<निशान, नासपाती (१०)<नाश्पाती, बादसाह (१२)<बादशाह, मुसकिल (२२)<मुश्किल, समसेर (३८,४९,५०)<शम्शेर, साहजादे (४९)<शाहजादा, सहर (२०,४४,४५)< शह्र, सिकार (४९)<शिकार; सेर (३७)<शेर, हबसी (३१)<हबशी, हुस्यार (१४) <हुश्यार।

कतिपय अन्य शब्द जो मल रूप से कुछ भिन्न है, निम्न प्रकार है—अतर (१०)<इत्र, कतलाम(३४)<कत्ले-आम, किम्मति(२२)<हिक्मत,[3] खबरि(३१)<ख़बर, गुसा(१५) <गुस्सा, चुगल (१३)<चुगल, जमात (३) <जमाअत, जमिला (२७)<जुम्ला, तुरुक (१९,२०,३१,३९,४९)<तुर्क, पातसाह (२३,३९,४२,५१)<पाद-शाह; पातसाही (१२,१५,३२,३३,४५)<पादशाही, फिकिर (३२)<अ० फिक्र,'(फारसी मे फक्र भी),' बजारी (३५)<बाजारी, बिलाइत (६)<विलायत, बिहद(१)<बे-हद, बिहद्द (२३) <बे-हद्द, बिहाल (९)<बे-हाल, मयदान (३१)<मैदान, मालुम (३९)<मालूम, मुगल (२३, ४२, ४९, ५१)<मुगल, मुहल्ला (२०)<महल्ला; सरजा(३९,४३,५२)<सर-जाह, सिरताज (३२,३३)<सर-ताज, सुनति (१८,१९,२०)<सुन्नत, सेख (२३,३५,४२)<शेख़,

---

३. प्रामाणिक हिंदी कोश, स० रामचन्द्र वर्मा—किम्मत—स्त्री० (अ० हिकमत)।

४. स्टाइनगास

सैयद (२३,३५)<सैयिद, स्याह (१५) <सियाह, हिम्मति (२२)<हिम्मत, हुकुम (२२) <हुक्म, होदा (२)<होदज(होदा, ऊँट का कोहान), 'उमरा' से 'उमरावन' (१४,२७) तथा 'दरया' के लिए 'दरियाव' और 'नकारा' के लिए 'नगारे' (२,४०, ४३) शब्द आये है। 'बाज़' के लिए 'बाज' की आवृत्ति इस रूप मे हुई है बाजे बाजे रोज दरवाजे उघरत है (४४)। औरगजेब का नाम 'अवरगजेब' (२०)के अतिरिक्त 'नौरग' (१४,१५,२५)तथा 'नवरगजेब' (१२,१६,१७,२७) दिया गया है। शायिस्ताखान के लिए 'साइतखान' (२६) तथा आदिलशाह के लिए 'एदिल' (२८,२९) बहादुरखान (?) के लिए 'बादरखान' (२६) मुरादबख्श के लिए 'मुरादबक्स' (१२) तथा हुमायूँ के लिए 'हिमायूँ' (१९) रूप आये है। चगताई (चक्ताई) के लिए 'चकता' (३१) अथवा 'चकत्ता' (६,४१,४६) नमाज के लिए 'निवाज' (२०) तथा 'मस्जद' या 'मस्जिद' के लिए 'मसीत' (१८,१९) शब्द आये है। 'ज़ब्त्' के लिए 'जपत' (२८), 'पीर पैगम्बर' के लिए 'पीरा पयगबरा' (१८) रूप आये है।

फारसी के कुछ अन्य शब्द जिन्हे ब्रज आदि के व्याकरणानुसार प्रयुक्त किया गया है, निम्नाकित है। इनमे कुछ शब्दो से प्राप्त विचित्र-सी क्रियाओ के रूप भी मिलते है—

अरजा (३५) 'अर्ज' से क्रिया, कगूरन (२२) 'कुगुरा' से ब० व०, तुरकान (२८) 'तुर्क' से ब० व० (= तुर्कों का), दरबारे से (२१) = दर्बार से, दहसति (४१) 'दहशत' से क्रिया, नगन (७) 'नग' (फारसी—नगीन या नगीना) से ब० व०, नगारन (१, ४१) 'नकारा' से बहुवचन; बादसाहन (९, १०) 'बादशाह' से ब० व०, मीरन (४३) 'मीर' से ब० व०; मुगलानियाँ (५) 'मुगल' से स्त्री० ब० व०; यारो (३१) सम्बोधन 'यार' से ब० व०, रिसालै (२८) 'इर्साल से'[६]; सरमाती (११) शर्म से लज्जित करना, सकर्मक क्रिया, साहन (३२,४०) 'शाह' से ब० व०, सिपाहिन (५१) 'सिपाही' से ब० व०, गुर्जबरदार (१४) तथा गुसलखाने ('गुस्ल' अथवा 'गुसुलख़ाना' से ब० व०) फारसी शब्दो के कुछ समस्त रूप है।

'शिवाबावनी' मे फारसी शब्दो के कुछ अनोखे व्यवहार भी हुए है, जैसे 'गुस्सा' से 'गुसैल' (१५) (फा० 'गुस्सा' + 'एल' हिन्दी) तथा सुसीने' (२४) ('सु' स० उपसर्ग + 'सीने' फारसी 'सीना' से)। 'गैर-मिसिल' (१५)भी एक अप्रचलित प्रयोग है। कुछ शब्द, जिनमे फारसी और हिन्दी के सयुक्त रूप आये है, निम्न प्रकार से है—

छहजारिन (१५)—छ (हिन्दी) + हजारी (फा०), तेग-बल (५१)—तेग (अरबी) + बल (स०), दमामेवारे (४५)—दमामा (फा०) + वारे (= वाले हि०); दल-मुगल (४७) —दल (स०) + मुगुल (फा०), बदीखाने —बदी (स०) + खाना (फा०), रूपगुमान

५. 'दिल्ली दहसति चितै चाह करखति है' में 'दहसति' 'दहशत' का ही रूपांतर अथवा क्रिया हो सकती है।

६. रिसाल—पु० (अ० इरसाल) राज्य-कर, प्रामाणिक हिंदी कोश।

(२५)—रूप (स०) + गुमान (फा०), हयादारी चीर (५)—हया (अ०) + दारी (फा०) + चीर (स०)।

फारसी और हिन्दी शब्दावली के मिश्रण से कुछ मुहावरो का भी प्रयोग हुआ है—खाक किया (३१), गरीबी गहे (६), गुमान झारि डारे हैं (२३), (रूप) गुमान हर्‌यो (२५), जेर कीन्हो (२१, ४२, ४५), जोर करि (२७), जगजुरौ (२९) दावा बाँधि (२२) सजाय करि (३५) (= सज़ा देकर), हद्द जीति (५०), हद्द बाँधि गये (१५), हद्द बाँध्यौ (२१), हद्द राखि (राखी) (२३, ५१), हिम्मत हिसि गई (४५)।

भूषण ने बाबर और अकबर के लिए प्राय चारणभाषा के अनुकरण मे 'बब्बर' और 'अकब्बर' शब्दो का व्यवहार किया है।

चगुल (२५), पंज (शब्द 'पजन' मे, २५), बार (कैयो बार, २३), बारबार (२८, ४१), तथा रग (१, २५, २५) ऐसे शब्द है जिनका सम्बन्ध फारसी तथा सस्कृत दोनो भाषाओ से जोडा जा सकता है।



शालिग्राम उपाध्याय

पैशाची भाषा

पिशेल ने अपने प्राकृत भाषाओ के व्याकरण मे पैशाची को एक प्राचीन प्राकृत भाषा या बोली के रूप मे स्वीकार किया है। इसकी प्राचीनता तो इतनी है कि विद्वानो ने इसे पाली, अर्द्ध-मागधी और शिलालेखो की प्राकृत की कोटि मे रखा है। 'पाइअ सद्दमहण्णवो' की भूमिका (पृ० १४) के अनुसार पाली की उत्पत्ति की सभावना भी इससे की जाती है। इसके भिन्न-भिन्न नामो के साथ सस्कृत साहित्यिको एव प्राकृत वैयाकरणो ने इसका महत्व अगीकार किया है।

इसे 'भूतभाषा' अर्थात् भूतो की बोली कहा गया है, (काव्यादर्श १।३८, सरस्वती-कठाभरण ९५।११ और १३, कथासरित्सागर ७।२९ और ८।३० तथा देखिए—हाल द्वारा सपादित 'वासवदत्ता' पृष्ठ २२ की टिप्पणी) इसका तीसरा नाम 'भूतभाषित' भी मिलता हे ('सस्कृत प्राकृत तस्यापभ्रशो भूतभाषितम्'—वाग्भटालकार २।१)। वही एक चौथा नाम भी प्राप्त होता है, 'भौतिक'। भूतो द्वारा भाषित होने के कारण ही इसका यह नाम पडा ('यद् भूतैरुच्यते किञ्चित् तद् भौतिकमिति स्मृतम्, वाग्भटा० २।३) राजशेखर ने अपने 'बालरामयण' ८।५ मे इसे 'भूतवचन' कहा है तथा इसे बहुत ही सरस भाषा स्वीकार किया है। 'भूतवचन' का उल्लेख 'सरस्वतीकठाभरण' (५७।११) मे भी मिलता है। जब से इस भाषा का सबध 'भूत' शब्द से हुआ, तभी से इसके सबध मे अनेक भ्रामक विचार चल पडे जिनके कारण इसकी उत्पत्ति की समस्या कठिन हो गई। यह कहाँ की भाषा थी, यह कहना अब सहज नही रहा।

पिशेल ने अपने व्याकरण मे क्रुक महाशय के इस मत का कि भारतीय जनता का विश्वास है "कि भूत नाक से बोलते है, अत भूतभाषा मे सानुनासिक ध्वनियो की प्रचुरता पाई जाती है तथा उसे 'भूतभाषा' या 'पैशाची भाषा' कहते है" खडन करते हुए इसके इस नाम के सबध मे अनेक विद्वानो द्वारा कथित अनेक कारणो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, किंतु उस विवाद मे पडना यहाँ अभीष्ट नही है। पर इतना निश्चय है कि किसी समय यह भाषा भारत के एक विस्तृत भूखड मे बोली जाती थी। पिशेल का यह अनुमान है कि पिशाच जनता द्वारा पिशाच-देश मे यह भाषा बोली जाती होगी। पैशाच जाति का उल्लेख 'महाभारत' (७।१२१।१४) मे मिलता है। वैयाकरणों ने इसे पिशाचो की भाषा माना है, ('पिशाचाना भाषा पैशाची'—'प्राकृत प्रकाश' पर भामह की टीका)। केशव मिश्र ने अपने 'अलंकारशेखर' मे 'आदि' शब्द और जोड दिया है (पैशाची तु पिशाचाद्या)। 'षड्भाषाचन्द्रिका'—कार लक्ष्मीधर का कथन है कि राक्षस, पिशाच और नीच जाति के लोग इसे बोलते थे (रक्षः पिशाचनीचेषु पैशाची द्वितय भवेत्, पृ० ३ श्लोक ३५)। षड्भाषाओ मे तो इस भाषा का नाम आता ही है, सस्कृत, प्राकृत

और अपभ्रश के साथ भी इसकी गणना की जाती है।[1] सारस्वतेय का वर्णन करते हुए राजशेखर ने सस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रश को जघन और पैशाची को चरण माना है।[2] 'सदेश-रासक'-कार ने भी अपभ्रश, सस्कृत और प्राकृत के साथ ही पैशाची को भी विचित्र छन्द और अलकारो तथा शास्त्र-रीतियो से समन्वित माना है।[3]

'नाट्यशास्त्र' (१७।४८) मे वर्णित सप्तभाषाओ[4] मे 'बाह्लीका का सम्बन्ध पैशाची भाषा से ही है। 'पृथ्वीराजरासो' के रचयिता ने भी षड्भाषाओ का नाम लेकर 'रासो' मे अप्रकट रूप से पैशाची भाषा की भी स्थिति मानी है। लक्ष्मीधर ने 'षड्भाषाचन्द्रिका' मे प्रथमत भाषा के दो भेद (१) सस्कृता और (२) प्राकृती मानकर पुन प्राकृती भाषा के छ प्रकारो मे पैशाची और चूलिका पैशाची का भी उल्लेख किया है।

'भाषा द्विधा सस्कृता च प्राकृती चेति भेदत ।

× × ×

प्रकृते सस्कृतायास्तु विकृति प्राकृती मता ॥२५॥
षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रश इति क्रमात् ॥२६॥—षड्भाषाचन्द्रिका।

पैशाची का क्षेत्र

गुलेरी जी ने 'पुरानी हिदी' मे कश्मीर के उत्तरी प्रात को 'पिशाच' (पिश् = कच्चा मास, अश् = खाना) या 'पिशाश' देश माना है और वही की भाषा को 'पैशाची' बताया है। किन्तु वास्तव मे 'पैशाची' या 'भूत भाषा' का स्थान राजपूताना और मध्य भारत है।

कोनो के मतानुसार पैशाची भाषा का मूल स्थान विन्ध्याचल से दक्षिण है और ग्रियसर्न के अनसार इसका प्रारभिक क्षेत्र भारत का पश्चिमोत्तर प्रात है, वही उत्पन्न होकर, सभव है, बाद मे यह कोकण प्रदेश तक चली गई हो, जिससे बाद मे पाली की भी उत्पत्ति हुई हो (दे० पाइ० स० म० भूमिका, पृ० १४)। डा० हार्नले के अनुसार पैशाची भाषा आर्यभाषा का वह रूप है जब द्रविड लोग आर्यभाषा बोलने लगे थे। परन्तु सेनार ने अनेक प्रमाणो के आधार पर इसका खंडन किया है, जिसका उल्लेख पिशेल ने अपने व्याकरण मे किया है। पिशाच-भाषा के क्षेत्र के सबध मे मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत-सर्वस्व' मे शेषकृष्ण की 'प्राकृतचन्द्रिका' मे उट्टकित एक श्लोक

---

१. संस्कृत प्राकृत तस्यापभ्रशो भूतभाषितम्—वाग्भटालकार २।१।

२. अहो श्लाघनीयोऽसि शब्दार्थो ते शरीर सस्कृत मुखं प्राकृत बाहुः जघनमपभ्रंशः पैशाचं पादौ...—काव्यमीमांसा।

३. अवहट्टय सक्कय पाइअम्मि पेसाइयम्मि भासाए।
लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जे हिं॥—सं० रा० १।६।

४. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥—ना० शा० १७।४८।

का हवाला दिया है, जिसमे उन भिन्न-भिन्न क्षेत्रो के आधार पर भिन्न-भिन्न पैशाची भाषाएँ चल पडी थी। 'प्राकृतचन्द्रिका' मे ग्यारह प्रकार की पैशाची भाषाओ का उल्लेख है।[5] मार्कण्डेय ने क्षेत्र के आधार पर स्थापित उन नामो का खडन करके तीन प्रकार की पैशाची मानी है। यहाँ मार्कण्डेय द्वारा पैशाची का अध्ययन उल्लेखनीय है जिससे पैशाची का क्षेत्र विदित होगा। मार्कण्डेय ने (१) काची (२) पाण्डय (३) पाचाल (४) गौड (५) मागध (६) व्राचड (७) दाक्षिणात्य (८) शौरसेन (९) कैकय (१०) शाबर और (११) द्रविड, इन एकादश पिशाच-भाषाओ का खडन करते हुए "कैकय शौरसेन च पाञ्चालमिति त्रिधा" की स्थापना की है। अधिकतर प्राकृत वैयाकरणो ने दो या तीन प्रकार की ही पिशाच-भाषाओ का उल्लेख किया है। मार्कण्डेय ने 'कैकय पैशाची' की प्रकृति सस्कृत और शौरसेनी प्राकृत को स्वीकार किया है। 'शौरसेनी पैशाची' की प्रकृति शौरसेनी प्राकृत है, किंतु 'पाञ्चाल पैशाची' की प्रकृति किसे माना है, यह स्पष्ट नही है।

राजशेखर ने भी विभिन्न भाषाओ के क्षेत्र के सबध मे लिखा है। राजशेखर के ही एक श्लोक[6] के आधार पर गुलेरी जी ने अवन्ती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चबल का निकास) तथा दशपुर (मदसोर) तक का क्षेत्र पैशाची का क्षेत्र माना है। एक दूसरा श्लोक लक्ष्मीधर की 'षड्भाषाचन्द्रिका' मे मिलता है, जो शेषकृष्ण द्वारा उट्टकित उपर्युक्त श्लोक से बहुत कुछ मिलता है। लक्ष्मीधर ने वृद्धो द्वारा उक्त पैशाच-देश की सीमा यो दी है—

पाण्डच-केकय-वाह्लीक-सह्य-नेपाल-कुतला ।
सुदेश-भोट-गान्धार-हैव-कम्भोजनास्तथा।
एते पिशाचदेशास्युस्तद्देश्यस्तद्गुणीभवेत् ॥

राजशेखर की अपेक्षा लक्ष्मीधर के अनुसार (जैसा कि वृद्धो ने कहा है) पैशाच-क्षेत्र की सीमा और अधिक विस्तृत हो जाती है—पाण्डच (आधुनिक मदुरा और कन्याकुमारी के आस-पास), केकय (व्यास और सतलज के बीच का देश, कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रदेश), वाह्लीक (व्यास और सतलज के बीच मे केकय से उत्तर का प्रदेश, अफगानिस्तान मे आधुनिक बल्ख नगर वाला देश), सह्य (दक्षिण भारत का पश्चिमी उपकूल), नेपाल, कुतल (नर्मदा के उत्पत्ति-स्थान का पार्श्ववर्त्ती प्रदेश, चालुक्यो के राज्यकाल मे इसके उत्तर मे नर्मदा, दक्षिण मे तुगभद्रा,

---

५. काञ्चीदेशीय पाण्डचे च पाञ्चाल गौडमागधम्।
व्राचडं दाक्षिणात्य च शौरसेन च कैकयम्।
शाबर द्राविडं चैव एकादश पिशाचजाः॥—प्रा० चं०, शेषकृष्ण; प्रा० सर्व०।

६. गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च॥
आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
यो मध्ये मध्यदेशे निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥— काव्यमीमासा।

पश्चिम मे अरब समुद्र, पूर्व मे गोदावरी थी, मार्कण्डेय के अनुसार मध्यदेश और दाक्षिणात्य कुन्तल है), सुदेश (इस प्रदेश का स्पष्ट पता नही, 'सुदेश' के स्थान पर 'सुधेष्ण' पाठ भी मिलता है), भोट (तिब्बत के आस-पास, 'भोट' के स्थान पर 'भोज' और 'बोट' शब्द भी मिलते है), गाधार (वर्तमान काबुल और पेशावर का प्रदेश), हैव (सभवत हैम = हिमालय की तराई), कन्नोजन (दक्षिण महाराष्ट्र के पार्वत्य प्रदेश का नाम), 'हैवकन्नोजन' के स्थान पर 'हैव कन्नोजका' और 'हेम कन्नोजिना' दो पाठ मिलते है जो अस्पष्ट है।

पैशाची से सबधित इस विस्तृत भूखड पर दृष्टिपात करने पर कोनो, ग्रियर्सन और हार्नले के विचार अतथ्यपूर्ण नही लगते। उनके द्वारा मान्य क्षेत्र से पैशाची का अवश्य ही सबध हो जाता है। मार्कण्डेय द्वारा स्थापित केकय, शौरसेन और पाचाल भी इसी सीमा के अन्तर्गत आ जाते है। उपर्युक्त स्थलो पर विचार करने से यह सभावना की जा सकती है कि पैशाची पश्चिमोत्तर भारत की तथा हिमालय की तराई की भाषा थी। इसकी पुष्टि गुणाढच का कश्मीर से सबध तथा पिशेल का एक उल्लेख भी करता है।

मार्कण्डेय भले ही एकादश पिचाच भाषाओ का खडन किया हो, पर 'प्राकृतचन्द्रिका' मे या 'षड्भाषाचन्द्रिका' मे उन श्लोको के आधार पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस समय की यह धारणा थी कि इन विभिन्न एकादश क्षेत्रो मे पैशाची भाषा बोली जाती थी।

जिस भाषा का सबध इतने विस्तृत भूखड से रहा, क्या कारण है कि उसके उदाहरण अत्यल्प और वे भी प्राय व्याकरणो मे ही मिलते है ? यदि यह एक पृथक् भाषा थी तो शौरसेनी और मागधी से दबी मानने से ही इस प्रश्न का उत्तर नही मिल सकता। प्राकृत भाषाओ मे पैशाची सस्कृत से अधिक मिलती है और अपनी ध्वनि-सपत्ति के अनुसार यह पल्लव-वश के दानपत्रो की भाषा और पाली से भी बहुत मिलती-जुलती है। इसका उल्लेख पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण तथा ए० एन० उपाध्ये ने 'एनल्स ऑफ् दि भडारकर ओरिएटल रिसर्च इस्टीट्यूट, जिल्द २१, अक्टूबर १९३९—जनवरी १९४०' मे किया है।

कैकय, शौरसेन और पाचाल पैशाची के साथ-साथ चूलिका पैशाची का भी उल्लेख प्राकृत वैयाकरणो ने किया है।

अब पैशाची की ध्वनि-सबधी उन विशेषताओ पर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है जिनका उल्लेख हमारे प्राकृत वैयाकरणो ने किया है।

वररुचि के अनुसार 'मुज्' धातु को छोडकर आदि रहित वर्गों के तृतीय और चतुर्थ वर्णों के स्थान पर प्रथम और द्वितीय वर्ण हो जाते है। हेमचन्द्र ने इसका उल्लेख चूलिका पैशाची की विशेषता मे किया है। हेमचन्द्र ने ४।३२५ और ४।३२७ मे 'नगर' का 'नकर' 'मेघ' का 'मेखो' उदाहरण देकर वररुचि के १०।३ के ही भाव को व्यक्त किया है। पूर्वी प्राकृत वैयाकरण पुरुषोत्तम देव ने हेमचन्द्र के सूत्रो की अपेक्षा अधिक सूत्र अपने व्याकरण मे दिये है। वररुचि से लेकर पुरुषोत्तम देव तक के वैयाकरणो के विचार पैशाची ध्वनियो के सबध मे प्राय मिलते है। चड ने पशाची पर एक ही सूत्र दिया है—जिसके आधार पर रेफ और णकार को लकार और नकार

होना व्यक्त किया है, जैसे—अले अले दुट्ट लक्खसा पनमत पनयिट्टितासा (स० अरे अरे दुष्ट राक्षसा, प्रणमत प्रणयिस्थितास्या)। रेफ और णकार का लकार और नकार होना सभी वैयाकरणो का अभिमत है।

वररुचि ने 'इव' के 'पिव' होने का उल्लेख किया है, यथा—स० कमलमिव मुख 7 पै० कमल-पिव मुख। 'सक्षिप्तसार' के अनुसार स० 'एव' और 'इव' के स्थान पर पै० 'येव' और 'यिव' हो जाते है, पुरुषोत्तम देव ने भी इसे कैकय पैशाची मे स्वीकार किया है। स० 'हरिरेव' पै० मे 'हलियेव', स० 'हरिरिव' पै० मे 'हलियिव' हो जाते है। स० 'ष्ट', 'स्न' और 'र्य' मे स्वर-भक्ति के द्वारा 'सट', 'सन' और 'रिअ' होने का उल्लेख वररुचि ने किया है। स० 'कष्ट' पै० 'कसट', स० 'स्नान' पै० 'सनान' तथा स० 'भार्या' पै० 'भारिआ' हो जाते है। पर हेमचन्द्र ४।३१४ के अनुसार 'र्य' 'स्न' और 'ष्ट' के स्थान पर 'रिअ' 'सिव' और 'सट' होते है। हेमचन्द्र के अनुसार स० 'स्नात' पै० मे 'सिनात' हो जाता है। यह होना क्वाचित्क ही है अत 'सूर्य' का 'सुज्ज' और 'तिष्ठ' का 'तिट्ठ' भी मिलता है। 'र्य' के 'रिअ' होने का उल्लेख पुरुषोतम ने भी किया है। हेमचन्द्र ४।३०३,३०५ तथा पुरुषोत्तम १९।११ के अनुसार 'ज्ञ', 'ण्य' और 'न्य' के स्थान पर 'ञ्ञ' हो जाता है, यथा स० के 'प्रज्ञा', 'कन्यका' और 'पुण्यकर्मा' पै० मे 'पञ्ञा', 'कञ्ञका' और 'पुञ्ञकम्मो' हो जाते है। पर वररुचि १०। ९, १० के अनुसार उनके स्थान पर 'ञ्ञ' न होकर 'ञ्ज' हो जाता है, जैसे—स० 'विज्ञात', 'कन्या' ∠ पै० 'विञ्जातो' और 'कञ्जा'। 'ण्य' का उल्लेख वररुचि ने नही किया है। 'सक्षिप्तसार' के कर्त्ता ने तो स० 'ण' और 'न' ध्वनि के स्थान पर पै० मे 'ल' और 'ञ' होना स्वीकार किया है, जैसे—भणति ∠ भलति, ध्वनति ∠ ध्वलति, कनक ∠ कञक, वर्ण ∠ वञ्ञ। परन्तु 'राजन्' शब्द से सबधित 'ज्ञ' ध्वनि के स्थान पर 'ञ्ञ' या 'ञ्ज' होना वैकल्पिक ही माना गया है। अत स० राज्ञो धनम् 7 पै० राचिञो धन। वररुचि १०।१२ तथा पुरुषोत्तम १९ २२ के अनुसार 'राज्ञ' के स्थान पर पै० 'राचिनो' होगा। स० के 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर पै० मे 'तून' हो जाना प्राय सभी वैयाकरणो ने माना है। स० 'गत्वा', 'पठित्वा' पै० मे 'गन्तून' और 'पठितून' हो जाते है। (दे० वररुचि १०।१३ हेमचन्द ४।३१२ पुरुषो० १९।२१)। परन्तु जहाँ सस्कृत का 'क्त्वा' प्रत्यय 'ष्ट्वा' के रूप मे बदल जाता है वहाँ हेमचन्द्र (४।३१३) के अनुसार 'द्धून' और 'त्थून' हो जाते है। जैसे 'नष्ट्वा' 'नद्धून' और 'नत्थून' हो जाता है। 'हृदय' के स्थान पर 'हितअक' और 'हितपक' दोनो मिलते है। 'प्राकृतप्रकाश' १०।१४ और 'सक्षिप्त-सार' के अनुसार 'हितअक' तथा हेमचन्द्र ४।३१० और पुरुषोत्तम १९।१८ के अनुसार 'हितपक' मिलता है। हेमचन्द्र (४।३०८) ने पैशाची मे 'ल' के स्थान पर वैदिक 'ळ' होने का उल्लेख किया है। सस्कृत के 'शील', 'कुल', 'जल' और 'सलिल' पै० मे 'सीळ', 'कुळ', 'जळ' और 'सळिळ' हो जाते हैं। इसी ध्वनि के कारण हार्नले ने कहा था कि जब अनार्यभाषाभाषी आर्यभाषा बोलना सीख रहे होगे तभी की यह भाषा पैशाची है। पुरुषोत्तम देव (२०।२६) के अनुसार 'ल' के स्थान पर रेफ हो जाता है। मार्कण्डेय ने भी पाञ्चाली पैशाची और शौरसेनी पैशाची में इसी प्रकार का भेद किया है। हेमचन्द्र (४।३०९) के अनुसार तालव्य और मूर्द्धन्य 'श', 'ष' के स्थान पर दन्त्य 'स' हो जाता है। इसके अनुसार शक्त 7 सक्को; विषम 7 विसमो होता

है। पर, पुरुषोत्तम (२०।२७) के अनुसार मूर्धन्य और दत्य 'ष', 'स' के स्थान पर शौरसेनी पैशाची मे तालव्य 'श' हो जाता है। किंतु सस्कृत के मूर्धन्य 'ट' ध्वनि के स्थान पर पै० मे त' होना, जैसे-'कुटुम्बक' का 'कुतुम्बक', यह बताता है कि पैशाची मे मूर्धन्य और तालव्य 'ष', 'श' के स्थान पर दत्य 'स' ही होगा। हेम० (४।३१५) के अनुसार सस्कृत के 'क्य' प्रत्यय के स्थान पर प० मे 'इय्य' हो जाता है। सस्कृत के 'गीयते', 'दीयते', 'पठ्यते' के स्थान पर पै० मे 'गिय्यते', 'दिय्यते' तथा 'पठिय्यते' हो जाता है। 'यादृश्', 'तादृश्' जैसे 'दृश्' अन्तवाले शब्दो के 'दृ' वर्ण मे से लुठित ध्वनि निकल जाती है और उसके स्थान पर 'इ' ध्वनि रह जाती है तथा 'द' के स्थान पर 'त' हो जाता है। हेम० ४।३१७ के अनुसार सस्कृत के 'यादृश्', 'तादृश्' और 'कीदृश्' पैशाची मे 'यातिसो', 'तातिसो' और 'केतिसो' हो जाते है। वररुचि (१०।११) के अनुसार शौरसेनी 'ज्ज' ध्वनि के स्थान पर पैशाची मे 'च्च' हो जाता हे, अत स० कार्य ＞ शौर० 'कज्ज' ＞ पै० 'कच्च'।

पुरुषोत्तम के 'प्राकृतानुशासन' (१९।२०) के अनसार स० 'क्वचित्' पै० मे 'कुपचि' हो जाता है। हेम० (४।३२१) के अनुसार पचमी के एकवचन मे अर्थात् अपादान के एकवचन मे 'तसिल्' प्रत्ययात अकारात शब्दो से परे 'आतो' और 'आतु' होता है, जैसे—स० दूरत > पै० तूरातो, तूरातु, त्वत्त > तुमातो, तुमातु, मत्त > ममातो, ममातु हो जाते है। सस्कृत 'तेन' और 'अनेन' दोनो के स्थान पर पै० मे 'नेन' ही रह जाता है। इसी प्रकार स० 'अनया' के स्थान पर 'नाए' होता है। पु० मे 'तत्थ च नेन कतसिनानेन' और स्त्री० मे 'पूजितो च नाए पातग्ग कुसुम-पातनेन' प्रयोग मिलते है। पुरुषोत्तम देव के अनुसार कैकय पैशाची मे स० 'पृथिवी' का 'पुथुमी' या 'प्रथुमी', 'गृहक' का 'किहक' होता है और शौरसेनी पैशाची मे 'च' स्पष्ट तालव्य नही रह जाता। 'क्ष' के स्थान पर 'श्क', 'च्छ' के स्थान पर 'श्च', 'थ' के स्थान पर 'स्त' और 'स्त' के स्थान पर 'थ' हो जाता है। 'कृत', 'मृत' और 'गत' का क्रमश 'कड' 'मड' और 'गड' हो जाता है। 'अधुना' अहुणा' बना रहता है।

धातुरूपो पर ध्यान देने पर पता चलता है कि वर्तमान काल के प्रथम पुरुष (third person) मे 'तिङ' विभक्ति के 'त' का लोप या 'द' न होकर, चाहे आत्मनेपद हो या परस्मैपद, 'ति' ही रह जाता है। उदाहरणार्थ—स० उद्घाति > शौ० प्रा० वसुआइ > पै० वसुआति, शौर० प्रा० भोदि > पै० भोति। परन्तु अकारात धातु से परे आत्मनेपद और परस्मैपद दोनो के रूप देखे जाते है, जैसे—गच्छते, गच्छति, लपते, लपति। भविष्यत् काल मे सस्कृत के 'ष्य' प्रत्यय का शौ० प्राकृत मे 'स्मि' हो जाता है पर पै० मे 'स्सि' न होकर केवल 'एय्य' ही रह जाता है। पुरुषोत्तम देव के अनुसार 'भू' धातु के स्थान पर कैकय पैशाची मे 'हु' और 'हुव' आदेश होते है, किंतु 'सक्षिप्तसार' के अनुसार 'फो' और 'फुर' होते है, यथा--स० भवति ＞ पै० फोति, फुरति। हेम० (४।३२०) के अनुसार स० 'भविष्यति' के स्थान पर 'हुवेय्य' होता है, जैसे—'त तद्धून चिन्तित रञ्ञा का एसा हुवेय्य' (स० ता दृष्ट्वा चिन्तित राज्ञा का एषा भविष्यति)। परन्तु 'हुवेय्य' का सबध 'भवेत्' से अधिक लगता है। हेमचन्द्र ने 'कुमारपाल चरित' के अन्त मे अपनी इसी पैशाची को समझाने के लिए छ श्लोको का भी निर्माण किया है। लेख के कलेवर की वृद्धि के कारण उन्हे

उद्धृत करना उचित नही। पुरुषोत्तम के अनुसार कैकय पशाची मे 'पक्ष्म' और 'सूक्ष्म' के स्थान पर 'पख' और 'सुख' हो जाते है। 'सक्षिप्तसार' के अनुसार स० 'यूयम्' का पै० मे 'तुम्फ' तथा 'वय' का 'अम्फ' हो जाता है। 'सक्षिप्तसार' पैशाची के लिए भी लोक को ही प्रमाण मानता है, इसी कारण 'दुर्गा' का 'कुक्का', 'भूत' का 'फूत' हो जाता है। हेम० (४।३२४) के अनुसार उसके 'प्राकृत व्याकरण' मे बताए १।१७७ से १।२६५ तक के नियम पैशाची मे नही लगते। अर्थात् पैशाची मे क, ग, च, ज, त, द, प, य, व का लोप नही होता तथा और भी प्राकृत मे सामान्यतया होने वाले बहुत से विकार न होकर सस्कृत के समान ही रह जाते है। इसीलिए कई वैयाकरणो ने शौरसेनी और सस्कृत दोनो को पैशाची की प्रकृति कहा है।

यदि सस्कृत, पाली, शौरसेनी प्राकृत, मागधी प्राकृत तथा पैशाची की ध्वनियो का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो उनका सबध स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। इस ध्वनि-अध्ययन के आधार पर परवर्ती आर्यभाषाओ पर पैशाची का प्रभाव भी ढूँढा जा सकता है। प्राकृत के शब्दो के साथ पैशाची के प्राप्त शब्द समूह का यदि अध्ययन किया जाय तो आधुनिक-आर्यभाषाओ के प्रति मध्यकालीन भाषाओ की एक बहुत बडी देन स्पष्ट विदित हो जायगी।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश मे निम्नलिखित प्रश्न स्वभावत उठ खडे होते है—

१ इसका नाम 'भूतभाषा' क्यो पडा—देश या जाति से सबधित होने के कारण या उस भाषा की किसी विशेषता के कारण ? २ यह कब की और कहॉ की भाषा थी ? ३ कितने प्रकार की पैशाची भाषाएँ थी ? ४ क्या इसमे साहित्य रचा भी गया था ? यदि रचा गया तो उसका लोप क्यो हो गया ? ५ पैशाची भाषा की प्रकृति क्या मानी जाय ? ६ पैशाची के शब्दो के रूपो के सबध मे विभिन्न वैयाकरणो मे मतभेद का कारण क्या है ? आदि। इन प्रश्नो की ओर विद्वानो का ध्यान आकर्षित होना चाहिए।



विनयमोहन शर्मा

ओरॉव-शब्दावली

ओरॉव द्रविड भाषा की मध्यवर्ती शाखा की एक बोली है। इसे कुरुख भी कहते है। यह मध्यप्रदेश के दक्षिण-पूर्वी ज़िलो, बिहार और उडीसा के सीमावर्ती क्षेत्रो मे बोली जाती है। इसके बोलनेवालो की सख्या ११ लाख के लगभग है। ओरॉव नामक आदिवासी जाति की यह मुख्य बोली है। इस पर तमिष (तमिल) का अधिक प्रभाव कहा जाता है। इसके कई रूप है। जो रूप रायगढ के अचल मे प्रचलित है उस पर तमिष का अधिक प्रभाव परिलक्षित नही होता।

यद्यपि ओरॉव की गणना अनुसूचित जातियो मे की गई है, तो भी यह जाति हिन्दू-धर्मावलम्बी अधिक है। इसने हिन्दुओ के प्राय सभी सस्कार अपना लिये है। परन्तु आदिवासी होने के कारण जादू-टोना और विभिन्न अन्धविश्वासो मे इसकी आस्था बनी हुई है। इनके जाति-गोत्र भी विचित्र होते है, यथा—एक्का (कछुआ), मिनकी (मछली), बाघ, खोएय (कुत्ता) आदि। आर्यसस्कारो को अधिकाधिक अपनाते जाने के कारण इनकी भाषा भी आर्य-भाषाओ से उत्तरोत्तर प्रभावित होती जा रही है। ज्यो-ज्यो शिक्षा का आदिवासियो मे प्रचार बढेगा, उनकी बोलियो का मूल रूप लुप्त होता जायगा। अत उनकी बोलियो का शीघ्र ही पुनर्वीक्षण होना आवश्यक है। भाषा-विज्ञानियो का ध्यान आकर्षित करने के लिए रायगढ-जसपुर मे प्रचलित ओरॉव की यह शब्दावली प्रस्तुत है—

हिन्दी शब्द	**ओरॉव शब्द**	**टिप्पणी**
शरीरावयव संबधी शब्द—		
ऑख	खन्न	ऑख लगना = मिनखेच्च
नाक	मुईं	
मुँह	बे	
जीभ	ततखा	
नाखून	ओरोख़	
कान	खेवदा	
घुटना	मूका	
दाँत	पल्ल	तमिष—पल
भौह	टेपरा	
पलक	टेपरा	

हाथ	खेक्खा	
दायाँ हाथ	तीना खेक्खा	
बायाँ हाथ	डिब्बा खेक्ख	
पीठ	मेर	
छाती	योख	
हथेली	हथोला	
पजा	लुरकी	
कलाई	कटकटा	
कोहनी	कोहडा	
सिर	कुक्क	
पसीना	गरमरा	सस्कृत—घर्म, मराठी—घाम
रक्त	खेस	
ज्वर	नडी	

समय-सूचक शब्द —

दिन	उल्ला	
रात	माखा	
अँधेरी रात	अधरी माखा	मराठी—अधार
उजेली रात	जोनारी माखा	हिन्दी—जुन्हाई
गहरी रात	मजा माखा	
प्रात	पहरी	
दोपहर	बिडालि	
सूर्यास्त	वेडी पुतिया	ओरॉव-सूर्य = बेडी, पुतिया = अस्त
आज	इन्ना	
आगामी कल	नेल	तमिष, मलयालम मे भी इसी शब्द का प्रयोग कुछ भिन्न उच्चारण के साथ होता है।
बीता कल	चेरो	

पारिवारिक शब्द–

पिता	बा	
आजा	दादी	
माँ	आयो	मराठी—आई
बहिन	माई, दीदी	
छोटी बहन	सन्नी माई	

बडी बहन	कोहा माई	ओरॉव—कोहा = बडा
भाई	दादा	
बडा भाई	कोहा दादा	
छोटा भाई	सन्नी दादा	ओरॉव—सन्नी = छोटा
बेटी	बेटी	
मामा	मामा	
मामी	मामी	
पुरुष	आलस, मजस	
स्त्री	मुक्का	
बूढी स्त्री	पच्चो	
बूढा पुरुष	पचगी	
भाभी	भौजी	हिन्दी मे प्रचलित
अविवाहित तरुण	कुक्कुस, मल्ला बिझियस	
विंवाहित तरुण	विझियस	
बालक	खद्द	पशु के बच्चे को भी खद्द कहते हैं।
पति	डोका	
पत्नी	डोकी	
दामाद	जमई	
बुआ	फुफ्	
नाना	नाना	
काका	काका	
काकी	खल्ली	क्या इसका 'खाला' से कोई सम्बन्ध है? व्यापक aunt के अर्थ मे ग्रहण किया जा सकता है।

पशु-पक्षी सबंधी शब्द—

बैल	अड्डो	
गाय	माई अड्डो, गाय	
कुत्ता	अल्ला	कुत्ते = बग्गे अल्ला
बिल्ला	बेरखा	बिल्ली = माई बेरखा
बछडा	खद्द	
बकरा } बकरी }	ऐंडा	

हाथी	हाथी	
बाघ	लकडा	
सुअर	सुअर	
तोता	सुग्गा	
कौवा	खाखा	तमिष्--काक्कै
चूहा	उसगा	
पूँछ	खोला	
घोडा	घोडो	
गधा	गधा	
बदर	बेदरा	
मुर्गा	कुकरो	सस्कृत—कुक्कुट
मुर्गी	खेर	
मुर्गी का अडा	बी	
मगर	मगर	
मछली	हजो	

कीड़े मकोड़े संबंधी शब्द—

कीडा	पचगो	तमिष—तूञ्चि
खटमल	ढेकणा	मराठी—ढेकुण
मच्छर	भुसडी	
मक्खी	तिगली	
साँप	नेर	
बिच्छू	बिच्छी	
चीटी	पोख (चीटा=डौ पोख)	

खाद्य पेय संबंधी शब्द—

रोटी	अस्मा
दाल	अमुखी
शाक भाजी	उखा मुखी
भटा	भटागो
भात	मडी
धान	खेस
पुराना धान	कच्चा खेस
नया धान	पूना खेस
गेहूँ	गेहूँ

चना	चना	
मूँग	मूँग	
उडद	मासी	
तुअर	अडसग	
महुए की शराब	अरखी	
धान की शराब	झारा	
तमाखू	तमखू	
नमक	बेख	
इमली	तिताली	
बेर	बिरी	
पानी	अब	सस्कृत—अम्बु
पपीता	पपीता	
जामुन	जम्बू	
नीबू	लिमाउ	
चार (गीली चिरौजी)	किट्टी	
चिरौजी (बीजे)	चिरौजी	
अमरूद	बिही	
आम	तटखा	
महुआ	मदगी	
पान	बीरा, पान	
अग्नि	चिञ्चि	

कृषि-संबंधी शब्द —

भूमि	खेखे, धरती	
खेत	खल	खेत की पाल = पिंडी
नागर (हल)	उगता	
मिट्टी	खज्ज	
खाद	खातू	खडी हिन्दी—खाद, छत्तीसगढी-लरिया, उडिया—खातू
झोपडी	कुडिया	हिन्दी—कुटी
घर	ऐंड़पा	
तालाब	तरई	
कुंवा	चुवा	
नदी	खाड	

नाला	नरवा	पूर्वी हिन्दी—नरवा
गाँव	पद्दा	
वर्षा-जल	चेप	
पत्ता	अतखा	
झाड	मन्न	
कली	डोहडी	
फूल	पूप	संस्कृत—पुष्प
दीपक	बिल्ली	

रंग-संबधी शब्द —

सफेद	पडरु	स० पाडुर, मराठी—पाढरा
काला	मुखारो	
पीला	पीला	
नीला	बदाली	
हरा	हरा	
लाल	खेसो	

विविध शब्द —

ओझा	देवडा
भूत	नाथ
कपडा	किचरी
धोती	धोती किचरी
लुगडा	बरहाती किचरी
टोपी	टोपी
कुरता	कुरता
कोट	कोट
ऊँचा	मेच्छा
नीचे	किया
ऊपर	गईयाँ
खट्टा	खट्टा
मीठा	मीठा
पुस्तक	मेजा
मैं	ऐन
वह	होंटीम
तुम	निनगा

आयु	ओरध	
नमस्कार	जोहार	
बैठना	उक्का	तमिष—उक्का
उठना	चुआ	
आया	बरचस, (आयेगा = बरोस)	
जाना	कऔत (जायेगा = कऔस)	
मारना	लौचकम	
मार डालना	मिटकम चिचकम	
मर जाना	बिचस किरस	
रोना	चेखाल	
हँसना	अलखाल	
मिट्टी से सर धोना	खज्ज	
पानी मे डबना	मुल्ख	
सडना	खोस	
पकाना	पजका	
सूर्य	बेडी	
तारा	बीन को	
चॉद	चदो	

इस बोली मे बहुवचन बनाने के लिए शब्द के पूर्व 'बग्गा' जोडना पडता है जिसका अर्थ एक से अधिक होता है। उदाहरणार्थ—'बेरखा' (= बिल्ली) के पहले 'बग्गा' जोड देने से 'बग्गा-बेरखा' शब्द 'बिल्लियाँ' का अर्थ देता है। जिन शब्दो का स्त्रीलिग रूप नही होता, उनके पूर्व 'माई' शब्द जोड देने से उनके स्त्रीलिग रूप बन जाते है, उदाहरणार्थ—'अल्ला' (कुत्ता) के पूर्व 'माई' जोड देने से 'माई अल्ला' अर्थात् 'कुतिया' का बोध हो जाता है।

इस बोली मे हिन्दी मे प्रचलित सख्यावाचक तथा नापतोल के शब्द प्रचलित है। एक के लिए 'बनटा' का प्रयोग यदा-कदा कर दिया जाता है। दक्षिण की द्रविड भाषाओ मे 'आण्डु' का प्रयोग होता है। आर्यो से अत्यधिक सम्पर्क के कारण अनेक पारिवारिक शब्द भी आर्य-भाषाओं से ले लिये गये है।

रायगढ-अचल के ओरॉव त्रिभाषी है। वे ओरॉव के साथ छत्तीसगढी और खडी बोली क्रमश बोलते और समझते है। उन्हे 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' सिद्धान्त की हवा नही लगी। उनका ज्यो-ज्यो नगर से सम्बन्ध बढता जाता है, वे अपनी भाषा की अपेक्षा शहरी 'हिन्दी' की ओर अधिक झुकते है। इस बोली का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है।



गॉर्डन एच्० फेयरबैंक

हिंदी में कारक

कामताप्रसाद गुरु, केलॉग और शॉलबर्ग कृत केलॉग के सक्षिप्त रूप हिदी के प्राचीनतर व्याकरणो मे कहा गया है कि सस्कृत के अनुरूप हिदी मे कारक के आठ रूप है। होनिग्स्वाल्ड की 'स्पोकेन हिदुस्तानी' और शिक्षा तथा वैज्ञानिक अनुसधान सबधी मत्रिमण्डल द्वारा प्रकाशित अ बैसिक ग्रामर ऑफ मार्डन हिदी' जैसे कतिपय नव्यतर हिदी व्याकरणो मे कहा गया है कि हिदी मे कारक के कर्त्ता और विकारी दो रूप होते है। विषय-निरूपण मे परिवर्तन इस परिणति को प्रदर्शित करता है जो परपरित व्याख्या की जगह आधुनिक वर्णनात्मक भाषाविज्ञान मे प्रयुक्त विश्लेषणात्मक सिद्धातो पर आधारित है। व्याख्या सबधी इस परिवर्तन मे सन्निविष्ट कारण प्रतीपमानत नही बताये गये है और इस लेख का आशय उन कारणो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना है।

१ प्रचीनतर व्याख्या स्पष्टत हिदी को सस्कृत के अनुरूप बताने का प्रयास है, विना यह ध्यान दिये कि यह विवरण हिदी के उपयुक्त है अथवा नही। एक रूप जो कि हिदी की वाक्य-रचना मे सस्कृत के विशिष्ट कारक के रूप मे प्रयुक्त होता है, हिन्दी का वही विशिष्ट कारक कहा जाता है। यह सिद्धान्त हिदी मे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। पहले एक ही रूप दो भिन्न कारको के सदर्भ मे आता है जैसे 'लडके को' सम्प्रदान और कर्म दोनो कहा जाता है। दूसरे दो भिन्न रूपो को एक ही कारक कहा जाता है, यथा 'लडका' और 'लडके' दोनो कर्त्ता कहे जाते है। तीसरे 'घर को' और 'घर तक' दो रूपो मे ये दोनो रचना मे एकरूप है, प्रथम को कारक रूप कहा जाता है तथा द्वितीय को उपसर्गात्मक प्रत्ययानुगामी सज्ञा कहा जाता है।

२ नवीनतर व्याख्या के अनुसार हिदी को कर्त्ता और विकारी दो रूपो वाला समझा जात है, जैसे निम्नाकित है—

	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता-	घर	घर	लडका	लडके	किताब	किताबे
विकारी-	घर	घरो	लडके	लडको	किताब	किताबो

इनमे हिंदी की किसी एक सज्ञा मे चारो सभव रूपो मे पारस्परिक स्पष्ट अतर नही दिखाई देता, केवल एक या दूसरी सज्ञा को छोडकर छ सम्भव वैसादृश्यो के स्वरूप मे सदैव अतर होता है कर्त्ता एकवचन—विकारी एकवचन, कर्त्ता एकवचन—कर्त्ता बहुवचन, कर्त्ता एकवचन—विकारी वहुवचन, विकारी एकवचन—कर्त्ता बहुवचन, विकारी एकवचन—

विकारी बहुवचन, कर्त्ता बहुवचन—विकारी बहुवचन। का, से, ने, तक इत्यादि समस्त रूप परसर्ग अर्थात् किन्ही अन्य रूपो से, जिनके साथ वे प्रयुक्त हो, पृथक् मूल रूप समझे जाते हैं। क्यो यह व्याख्या हिंदी के ढाँचे को प्राचीनतर परपरित व्याख्या की अपेक्षा श्रेष्ठतर रूप मे प्रदर्शित करती है, इसके चार कारण है—

२ (१) का, से, ने, तक आदि को हिंदी मे पृथक् मूल रूप मानने का प्रथम कारण हिंदी के बल देने के ढग पर निर्भर है। शर्मा कहते है कि "यदि किसी शब्द मे एक से अधिक दीर्घ स्वर है, तो अतिम से पूर्व (उपात्य) यदि दीर्घ है, तो उस पर बलाघात होता है।" यदि 'का' इत्यादि को सज्ञा के साथ सयुक्त किये गये कारक की विभक्ति के रूप मे एक अकेला शब्द समझा जाय तो बलाघात का यह नियम लागू नही होगा, क्योकि सज्ञा पर बल देने की स्थिति पर 'का' इत्यादि के योग से कोई प्रभाव नही होगा। 'लडका' और 'बदर' सज्ञाओ मे, दोनो के दो दीर्घ अक्षरो से निर्मित होने के कारण, सर्वाधिक बल प्रथम अक्षर पर पडता है लेकिन जब 'का' इत्यादि जोडकर 'लडके का' और 'बदर का' रूप बनाये जाते है तो बल स्थिर रहता है, यद्यपि शर्मा के नियमानुसार हम प्रत्याशा करते कि बल-'के' और-'दर' पर होगा यदि इनके रूप अकेले होते। अत हम मान लेते है कि ये दोनो अपने बीच के उन्मुक्त सधिस्थल सहित दो मूल रूप है और इस दशा मे शर्मा का बलाघात का नियम तब भी प्रयुक्त होता है।

२ (२) परसर्गो को पृथक् मूलरूप समझाने का दूसरा कारण यह भी है कि परसर्ग के पूर्व की सज्ञा पहले ही से कारक-चिह्नित होती है और यदि पूर्ण सहति को एक अकेला रूप समझा जाय तो विभक्ति दोहरी हो जाती है, विकारी सबध कारक, विकारी सम्प्रदान कारक आदि। कारक के लिए दोहरी विभक्ति स्वीकार करना अलघ्य कठिनाई नही है और कुछ भारतीय भाषाओ को समझने का यह बहुत सुगम ढग है। किंतु इस तथ्य पर दूसरे तथ्यो के साथ विचारने पर यह मानने के लिए कारण मिलता है कि हर प्रकार के परसर्ग अपने मूल रूप मे पृथक् है। यह ध्यान रखना चाहिए कि परसर्गो के पूर्ववर्ती सज्ञा के मूल रूप का रूप-ग्राम समझने का कोई प्रयास करना सतोषजनक नही है, क्योकि 'खल का' और 'घरो का' या 'लड़के का' और 'लडको का' के बीच का वैसादृश्य केवल 'शून्य' और 'ओ' के बीच के अन्तर तथा 'ए' और 'ओ' के बीच के अतर द्वारा प्रतयमानत निर्दिष्ट होता है, एव इस वैसादृश्य की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या 'ए' तथा 'ओ' रूपो (morphemes) को क्रमात् विकारी एकवचन तथा विकारी बहु-वचन का साकेतिक चिह्न समझना है। 'लडके' और 'लडको' को उसी आकृति (morpheme) के रूप-ग्रामो (allomorphs) के समान समझने की वैकल्पिक व्याख्या एक प्रतीयमान रूप-ग्राम सबधी अतर समझने मे फलित होगा और फिर एकवचन और बहुवचन का अतर लक्षित करने के लिए कुछ भी शेष न रहेगा।

२ (३) परसर्गों को पृथक मूल रूप समझने का तीसरा कारण उन रूपो पर आधारित है जिनमे कि ये परसर्ग जुड सके। यदि हम परसर्ग-युक्त एक रूप को अकेला कारक रूप समझे तो हम इस प्रकार के समस्त रूपो को कारक-चिह्नित सज्ञाओ के रूप मे विभाजित करते है।

इसका अर्थ यह होगा कि 'यहाँ का' सबधकारक-सज्ञा है और 'यहाँ' सज्ञा के रूप मे वर्गीकृत होगा। इससे भी निकृष्टतर, 'अब तक की भाषा' मे से 'अब तक की' मुहावरा कारक-चिह्नित सज्ञा होगा और 'अब तक' को सज्ञा के रूप मे वर्गीकृत करना होगा। 'यहाँ' अथवा 'अबतक' को सज्ञा के रूप मे समझना असभव नही है, किन्तु यह स्पष्ट है कि सरचनात्मक रूप मे ये रूप 'लडका' जैसी सज्ञा से भिन्न हैं और हमारे अन्य साक्ष्यो के साथ विचारने पर, समस्त परसर्गों को पृथक् मूल रूपो के समान समझने के लिए भी एक कारण की भाँति प्रयुक्त हो सकते है।

२ (४) 'का' आदि को पृथक् मूल रूप समझने का एक इतर कारण उनका पार्थक्य है अर्थात् वे उस सज्ञा से पृथक् किये जा सकते है जो उन पर आश्रित हैं। निम्नलिखित वाक्य का निर्दिष्ट अश इसका एक अच्छा उदाहरण है—

'भारत मे **संथालो इत्यादि की** कोल भाषाएँ इसी कुल मे गिनी जाती है।' यहाँ 'की' को 'सथालो', जिससे यह पृथक् है, सलग्न होना चाहिए। इसी के सदृश निम्नलिखित उदाहरण है—

'आरमीनियन भाषा **यूरोप** और **एशिया की** भाषाओ के बीच मे है।' इस बार 'की' एशिया के साथ आया है और यूरोप, जिसके साथ भी यह सबद्ध है, से अलग है। यदि इन उदाहरणो की व्याख्या सबधकारक के समान की जाय, तो हमे कहना पडेगा कि 'इत्यादि' एक सज्ञा है और तो भी विकारी रूप 'सथालो' स्पष्टतया 'की' पर अवलबित है, और दूसरे वाक्य मे यूरोप कारक-चिह्नित नही है, तो भी यह स्पष्टत परवर्ती 'की' पर निर्भर है। प्रस्तुत साक्ष्य पर ध्यान रखते हुए सरलतम हल 'का', 'से', 'तक', 'ने', 'मे' प्रभृति समग्र रूपो को परसर्ग कथित पृथक् मूल स्वीकार करना है, कुछ को कारकात विशेषता देना एव अन्यो को न प्रदान करना, नही है। इस प्रकार कारक शब्द दो कारको—कर्त्ता एव विकारी—तक सीमित किया जा सकता है। परसर्ग मुख्यतया एक आकृति वाला रूप है, कितु 'का' दो आकृतियो——वाला रूप है जो मूल क-और चिह्न-आ, ई, ए से विनिर्मित है—वही चिह्न जो कि विशेषण मे सयुक्त होते है। यह निम्नलिखित तुलना द्वारा भली प्रकार प्रकट है—

बडा घर	लडके का घर
बडी किताब	लडको की किताब
बडे घर से	लडके के घर से
बडे घर	लडके के घर
बडे घर से	लडके के घर से

यहाँ 'कि', 'का', 'की', 'के' रूप तद्रूप रचनाओ मे घटित होते है जिनमे कि 'बडा', 'बडी', 'बडे' घटित होते हैं। 'का' न केवल लाक्षणिक ढग की रचनाओ मे, जिनमे कि विशेषण सघटित होते हैं, विघटित होता है, वरन् वह विधेयात्मक ढग से भी प्रयुक्त होता है, उदाहरणार्थ—

वह बड़ा है। वह सोने का है।

बडी बहन	कोहा माई	ओरॉव—कोहा = बडा
भाई	दादा	
बडा भाई	कोहा दादा	
छोटा भाई	सन्नी दादा	ओरॉव—सन्नी = छोटा
बेटी	बेटी	
मामा	मामा	
मामी	मामी	
पुरुष	आलस, मजस	
स्त्री	मुक्का	
बूढी स्त्री	पच्चो	
बूढा पुरुष	पचगी	
भाभी	भौजी	हिन्दी मे प्रचलित
अविवाहित तरुण	कुक्कुस, मल्ला बिझियस	
विवाहित तरुण	विझियस	
बालक	खद्द	पशु के बच्चे को भी खद्द कहते है।
पति	डोका	
पत्नी	डोकी	
दामाद	जमई	
बुआ	फुफ्	
नाना	नाना	
काका	काका	
काकी	खल्ली	क्या इसका 'खाला' से कोई सम्बन्ध है? व्यापक aunt के अर्थ मे ग्रहण किया जा सकता है।

पशु-पक्षी संबधी शब्द —

बैल	अड्डो	
गाय	माई अड्डो, गाय	
कुत्ता	अल्ला	कुत्ते = बग्गे अल्ला
बिल्ला	बेरखा	बिल्ली = माई बेरखा
बछडा	खद्द	
बकरा, बकरी	ऐडा	

हाथी	हाथी	
बाघ	लकडा	
सुअर	सुअर	
तोता	सुग्गा	
कौवा	खाखा	तमिष--काक्कै
चूहा	उसगा	
पूँछ	खोला	
घोडा	घोडो	
गधा	गधा	
बदर	बेदरा	
मुर्गा	कुकरो	सस्कृत—कुक्कुट
मुर्गी	खेर	
मुर्गी का अडा	बी	
मगर	मगर	
मछली	हजो	

कीड़े मकोड़े सबधी शब्द—

कीडा	पचगो	तमिष—पूच्चि
खटमल	ढेकणा	मराठी—ढेकुण
मच्छर	भुसडी	
मक्खी	तिगली	
साँप	नेर	
बिच्छू	बिच्छी	
चींटी	पोख (चीटा=डौ पोख)	

खाद्य पेय संबंधी शब्द—

रोटी	अस्मा
दाल	अमुखी
शाक भाजी	उखा मुखी
भटा	भटागो
भात	मडी
धान	खेस
पुराना धान	कच्चा खेस
नया धान	पूना खेस
गेहूँ	गेहूँ

चना	चना	
मूँग	मूँग	
उडद	मासी	
तुअर	अडसग	
महुए की शराब	अरखी	
धान की शराब	झारा	
तमाखू	तमखू	
नमक	बेख	
इमली	तिताली	
बेर	बिरी	
पानी	अब	सस्कृत—अम्बु
पपीता	पपीता	
जामुन	जम्बू	
नीबू	लिमाउ	
चार (गीली चिरौजी)	किट्टी	
चिरौजी (बीजें)	चिरौजी	
अमरूद	बिही	
आम	तटखा	
महुआ	मदगी	
पान	बीरा, पान	
अग्नि	चिच्चि	

कृषि-सबधी शब्द —

भूमि	खेखे, धरती	
खेत	खल	खेत की पाल = पिंडी
नागर (हल)	उगता	
मिट्टी	खज्ज	
खाद	खातू	खड़ी हिन्दी—खाद, छत्तीसगढी-लरिया, उडिया—खातू
झोपडी	कुड़िया	हिन्दी—कुटी
घर	ऐंडपा	
तालाब	तरई	
कुँवा	चुवा	
नदी	खाड	

नाला	नरवा	पूर्वी हिन्दी—नरवा
गाँव	पद्दा	
वर्षा-जल	चेप	
पत्ता	अतखा	
झाड	मन्न	
कली	डोह्डी	
फूल	पूप	संस्कृत—पुष्प
दीपक	बिल्ली	

रंग-संबधी शब्द—

सफेद	पडरु	स० पाडुर, मराठी—पाढरा
काला	मुखारो	
पीला	पीला	
नीला	बदाली	
हरा	हरा	
लाल	खेसो	

विविध शब्द—

ओझा	देवडा
भूत	नाथ
कपडा	किचरी
धोती	धोती किचरी
लुगडा	बरहाती किचरी
टोपी	टोपी
कुरता	कुरता
कोट	कोट
ऊँचा	मेच्छा
नीचे	किया
ऊपर	गईयाँ
खट्टा	खट्टा
मीठा	मीठा
पुस्तक	मेजा
मैं	ऐन
वह	होटीम
तुम	निनगा

आयु	ओरध	
नमस्कार	जोहार	
बैठना	उक्का	तमिष—उक्का
उठना	चुआ	
आया	बरचस, (आयेगा = बरोस)	
जाना	कऔत (जायेगा = कऔस)	
मारना	लौचकम	
मार डालना	मिटकम चिचकम	
मर जाना	बिचस किरस	
रोना	चेखाल	
हँसना	अलखाल	
मिट्टी से सर धोना	खज्ज	
पानी मे डबना	मुल्ख	
सडना	खोस	
पकाना	पजका	
सूर्य	बेडी	
तारा	बीन को	
चॉद	चदो	

इस बोली मे बहुवचन बनाने के लिए शब्द के पूर्व 'बग्गा' जोडना पडता है जिसका अर्थ एक से अधिक होता हे। उदाहरणार्थ—'बेरखा' (= बिल्ली) के पहले 'बग्गा' जोड देने से 'बग्गा-बेरखा' शब्द 'बिल्लियॉ' का अर्थ देता है। जिन शब्दो का स्त्रीलिग रूप नही होता, उनके पूर्व 'माई' शब्द जोड देने से उनके स्त्रीलिग रूप बन जाते है, उदाहरणार्थ—'अल्ला' (कुत्ता) के पूर्व 'माई' जोड देने से 'माई अल्ला' अर्थात् 'कुतिया' का बोध हो जाता है।

इस बोली मे हिन्दी मे प्रचलित सख्यावाचक तथा नापतोल के शब्द प्रचलित है। एक के लिए 'बनटा' का प्रयोग यदा-कदा कर दिया जाता है। दक्षिण की द्रविड भाषाओं मे 'आण्डु' का प्रयोग होता है। आर्यो से अत्यधिक सम्पर्क के कारण अनेक पारिवारिक शब्द भी आर्य-भाषाओं से ले लिये गये है।

रायगढ-अचल के ओरॉव त्रिभाषी है। वे ओरॉव के साथ छत्तीसगढी और खडी बोली क्रमश बोलते और समझते है। उन्हे 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' सिद्धान्त की हवा नही लगी। उनका ज्यो-ज्यो नगर से सम्बन्ध बढता जाता है, वे अपनी भाषा की अपेक्षा शहरी 'हिन्दी' की ओर अधिक झुकते है। इस बोली का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित है।



गॉर्डन एच्० फेयरबैक

हिंदी में कारक

कामताप्रसाद गुरु, केलॉग और शॉलबर्ग कृत केलॉग के सक्षिप्त रूप हिदी के प्राचीनतर व्याकरणो मे कहा गया है कि सस्कृत के अनुरूप हिदी मे कारक के आठ रूप हैं। होनिग्स्वाल्ड की 'स्पोकेन हिंदुस्तानी' और शिक्षा तथा वैज्ञानिक अनुसधान सबधी मत्रिमण्डल द्वारा प्रकाशित 'अ बैसिक ग्रामर ऑफ मार्डन हिदी' जैसे कतिपय नव्यतर हिदी व्याकरणो मे कहा गया है कि हिदी मे कारक के कर्त्ता और विकारी दो रूप होते हैं। विषय-निरूपण मे परिवर्तन इस परिणति को प्रदर्शित करता है जो परपरित व्याख्या की जगह आधुनिक वर्णनात्मक भाषाविज्ञान मे प्रयुक्त विश्लेषणात्मक सिद्धातो पर आधारित है। व्याख्या सबधी इस परिवर्तन मे सन्निविष्ट कारण प्रतीपमानत नही बताये गये है और इस लेख का आशय उन कारणो का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना है।

१ प्रचीनतर व्याख्या स्पष्टत हिदी को सस्कृत के अनुरूप बताने का प्रयास है, बिना यह ध्यान दिये कि यह विवरण हिदी के उपयुक्त है अथवा नही। एक रूप जो कि हिदी की वाक्य-रचना मे सस्कृत के विशिष्ट कारक के रूप मे प्रयुक्त होता है, हिन्दी का वही विशिष्ट कारक कहा जाता है। यह सिद्धान्त हिदी मे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। पहले एक ही रूप दो भिन्न कारको के सदर्भ मे आता है जैसे 'लडके को' सम्प्रदान और कर्म दोनो कहा जाता है। दूसरे दो भिन्न रूपो को एक ही कारक कहा जाता है, यथा 'लडका' और 'लडके' दोनो कर्त्ता कहे जाते हैं। तीसरे 'घर को' और 'घर तक' दो रूपो मे ये दोनो रचना मे एकरूप हैं, प्रथम को कारक रूप कहा जाता है तथा द्वितीय को उपसर्गात्मक प्रत्ययानुगामी सज्ञा कहा जाता है।

२ नवीनतर व्याख्या के अनुसार हिदी को कर्त्ता और विकारी दो रूपो वाला समझा जात है, जैसे निम्नाकित है—

	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता-	घर	घर	लडका	लडके	किताब	किताबें
विकारी-	घर	घरो	लडके	लडको	किताब	किताबो

इनमे हिदी की किसी एक सज्ञा मे चारो सभव रूपो मे पारस्परिक स्पष्ट अतर नही दिखाई देता, केवल एक या दूसरी सज्ञा को छोडकर छ सम्भव वैसादृश्यो के स्वरूप मे सदैव अतर होता है कर्त्ता एकवचन—विकारी एकवचन, कर्त्ता एकवचन—कर्त्ता बहुवचन, कर्त्ता एकवचन—विकारी बहुवचन, विकारी एकवचन—कर्त्ता बहुवचन, विकारी एकवचन—

विकारी बहुवचन, कर्त्ता बहुवचन—विकारी बहुवचन। का, से, ने, तक इत्यादि समस्त रूप परसर्ग अर्थात् किन्ही अन्य रूपो से, जिनके साथ वे प्रयुक्त हो, पृथक् मूल रूप समझे जाते हैं। क्यो यह व्याख्या हिंदी के ढॉचे को प्राचीनतर परपरित व्याख्या की अपेक्षा श्रेष्ठतर रूप मे प्रदर्शित करती है, इसके चार कारण है—

२ (१) का, से, ने, तक आदि को हिंदी मे पृथक् मूल रूप मानने का प्रथम कारण हिंदी के बल देने के ढग पर निर्भर है। शर्मा कहते हैं कि "यदि किसी शब्द मे एक से अधिक दीर्घ स्वर हैं, तो अतिम से पूर्व (उपात्य) यदि दीर्घ है, तो उस पर बलाघात होता है।" यदि 'का' इत्यादि को सज्ञा के साथ सयुक्त किये गये कारक की विभक्ति के रूप मे एक अकेला शब्द समझा जाय तो बलाघात का यह नियम लागू नही होगा, क्योकि सज्ञा पर बल देने की स्थिति पर 'का' इत्यादि के योग से कोई प्रभाव नही होगा। 'लडका' और 'बदर' सज्ञाओ मे, दोनो के दो दीर्घ अक्षरो से निर्मित होने के कारण, सर्वाधिक बल प्रथम अक्षर पर पडता है लेकिन जब 'का' इत्यादि जोडकर 'लडके का' और 'बदर का' रूप बनाये जाते हैं तो बल स्थिर रहता है, यद्यपि शर्मा के नियमानुसार हम प्रत्याशा करते कि बल-'के' और-'दर' पर होगा यदि इनके रूप अकेले होते। अत हम मान लेते है कि ये दोनो अपने बीच के उन्मुक्त सधिस्थल सहित दो मूल रूप हैं और इस दशा मे शर्मा का बलाघात का नियम तब भी प्रयुक्त होता है।

२ (२) परसर्गो को पृथक् मूलरूप समझाने का दूसरा कारण यह भी है कि परसर्ग के पूर्व की सज्ञा पहले ही से कारक-चिह्नित होती है और यदि पूर्ण सहति को एक अकेला रूप समझा जाय तो विभक्ति दोहरी हो जाती है, विकारी सबध कारक, विकारी सम्प्रदान कारक आदि। कारक के लिए दोहरी विभक्ति स्वीकार करना अलघ्य कठिनाई नही है और कुछ भारतीय भाषाओ को समझने का यह बहुत सुगम ढग है। किंतु इस तथ्य पर दूसरे तथ्यो के साथ विचारने पर यह मानने के लिए कारण मिलता है कि हर प्रकार के परसर्ग अपने मूल रूप मे पृथक् हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि परसर्गो के पूर्ववर्ती सज्ञा के मूल रूप का रूप-ग्राम समझने का कोई प्रयास करना सतोषजनक नही है, क्योकि 'खल का' और 'घरो का' या 'लडके का' और 'लडको का' के बीच का वैसादृश्य केवल 'शून्य' और 'ओ' के बीच के अन्तर तथा 'ए' और 'ओ' के बीच के अतर द्वारा प्रतयमानत निर्दिष्ट होता है, एव इस वैसादृश्य की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या 'ए' तथा 'ओ' रूपो (morphemes) को क्रमात् विकारी एकवचन तथा विकारी बहु-वचन का साकेतिक चिह्न समझना है। 'लडके' और 'लडको' को उसी आकृति (morpheme) के रूप-ग्रामो (allomorphs) के समान समझने की वैकल्पिक व्याख्या एक प्रतीयमान रूप-ग्राम सबधी अतर समझने मे फलित होगा और फिर एकवचन और बहुवचन का अतर लक्षित करने के लिए कुछ भी शेष न रहेगा।

२ (३) परसर्गो को पृथक मूल रूप समझने का तीसरा कारण उन रूपों पर आधारित है जिनमें कि ये परसर्ग जुड सके। यदि हम परसर्ग-युक्त एक रूप को अकेला कारक रूप समझें तो हम इस प्रकार के समस्त रूपो को कारक-चिह्नित संज्ञाओ के रूप मे विभाजित करते है।

इसका अर्थ यह होगा कि 'यहाँ का' सबधकारक-सज्ञा है और 'यहाँ' सज्ञा के रूप मे वर्गीकृत होगा। इससे भी निकृष्टतर, 'अब तक की भाषा' मे से 'अब तक की' मुहावरा कारक-चिह्नित सज्ञा होगा और 'अब तक' को सज्ञा के रूप मे वर्गीकृत करना होगा। 'यहाँ' अथवा 'अबतक' को सज्ञा के रूप मे समझना असभव नही है, किन्तु यह स्पष्ट है कि सरचनात्मक रूप मे ये रूप 'लडका' जैसी सज्ञा से भिन्न है और हमारे अन्य साक्ष्यो के साथ विचारने पर, समस्त परसर्गों को पृथक् मूल रूपो के समान समझने के लिए भी एक कारण की भाँति प्रयुक्त हो सकते है।

२ (४) 'का' आदि को पृथक मूल रूप समझने का एक इतर कारण उनका पार्थक्य है अर्थात् वे उस सज्ञा से पृथक् किये जा सकते है जो उन पर आश्रित है। निम्नलिखित वाक्य का निर्दिष्ट अश इसका एक अच्छा उदाहरण है[६]—

'भारत मे **संथालो इत्यादि की** कोल भाषाएँ इसी कुल मे गिनी जाती है।' यहा 'की' को 'सथालो', जिससे यह पृथक् है, सलग्न होना चाहिए। इसी के सदृश निम्नलिखित उदाहरण है —

'आरमीनियन भाषा **यूरोप** और **एशिया की** भाषाओ के बीच मे है।' इस बार 'की' एशिया के साथ आया है और यूरोप, जिसके साथ भी यह सबद्ध है, से अलग है। यदि इन उदाहरणो की व्याख्या सबधकारक के समान की जाय, तो हमे कहना पडेगा कि 'इत्यादि' एक सज्ञा है और तो भी विकारी रूप 'सथालो' स्पष्टतया 'की' पर अवलबित है, और दूसरे वाक्य मे यूरोप कारक-चिह्नित नही है, तो भी यह स्पष्टत परवर्ती 'की' पर निर्भर है। प्रस्तुत साक्ष्य पर ध्यान रखते हुए सरलतम हल 'का', 'से', 'तक', 'ने', 'मे' प्रभृति समग्र रूपो को परसर्ग कथित पृथक् मूल स्वीकार करना है, कुछ को कारकात विशेषता देना एव अन्यो को न प्रदान करना, नही है। इस प्रकार कारक शब्द दो कारको—कर्त्ता एव विकारी—तक सीमित किया जा सकता है। परसर्ग मुख्यतया एक आकृति वाला रूप है, कितु 'का' दो आकृतियो——वाला रूप है जो मूल क-और चिह्न-आ, ई, ए से विनिर्मित है—वही चिह्न जो कि विशेषण मे सयुक्त होते है। यह निम्नलिखित तुलना द्वारा भली प्रकार प्रकट है —

बडा घर	लडके का घर
बडी किताब	लडको की किताब
बडे घर से	लडके के घर से
बडे घर	लडके के घर
बडे घर से	लडके के घर से

यहाँ 'कि', 'का', 'की', 'के' रूप तद्रूप रचनाओ मे घटित होते है जिनमे कि 'बडा', 'बडी', 'बडे' घटित होते है। 'का' न केवल लाक्षणिक ढग की रचनाओं मे, जिनमे कि विशेषण सघटित होते है, विघटित होता है, वरन् वह विधेयात्मक ढग से भी प्रयुक्त होता है, उदाहरणार्थ —

वह बडा है। वह सोने का है।

इस बनावट का एक अच्छा उदाहरण अधोलिखित है—
"तुर्की या तातारी भाषा इसी कुल की है।"

इस प्रकार मल 'क' मे, उसकी पूरी रचना मे विशेषण-अर्थ घटित करने के लिए, विशेषण प्रतिचिह्नित रूप जोडकर 'का', 'की', 'के', वनाये जाते है।

इस लेख के शेष वाक्यो के उदाहरण उचित रूप से डा० धीरेन्द्र वर्मा के 'हिंदी भाषा का इतिहास' से चुने गये है।

उदय नारायण तिवारी

भोजपुरी के ध्वनि-ग्राम

'भोजपुरी भाषा और साहित्य' मे मैंने भोजपुरी ध्वनियो (Phones) का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस लेख मे उसके ध्वनि-ग्रामो का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस अध्ययन के लिए लेखक स्वय सूचक (Informant) है। इन ध्वनि-ग्रामो का क्षेत्र मोटे तौर पर पश्चिमी बिहार तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश है।

१ भोजपुरी के ध्वनिग्राम निम्नलिखित है—

क व्यञ्जनीय (३१)

		ओष्ठ्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	कण्ठ्य	काकल्य
अवरोधी	स्पर्श	प् फ् ब् भ्	त् थ् द् ध्	ट् ठ् ड् ढ्	च् छ् ज् झ्	क् ख् ग् घ्	
	सघर्षी		स्				ह्
अनवरोधी	नासिक्य	म्	न्	×	ञ्	ङ्	
	कम्पन-जात		र्				
	ताडन-जात			ड़्			
	पार्श्विक		ल्				
	अर्धस्वर	व्			य्		

ख. स्वरीय (१०)

	अग्र अवृत्ताकार	मध्य अवृत्ताकार	पश्च वृत्ताकार
सवृत	इ		उ
अर्ध सवृत	ए̍	ऽ	ओं
विवृत	ए̍	अ	औं

(ग) अतिखण्डीय ध्वनिग्राम (Supra-segmental Phonemes) (i) दीर्घता (Length) (ii) अनुनासिकता (Nasalisation) यथा—। बास।, । बाँस।

१. उच्चारण-प्रयत्न के अनुसार भोजपुरी—व्यञ्जन इस प्रकार है—स्पर्श (२०), सघर्षी (२), नासिक्य (४), कम्पन-जात (१), ताडन-जात (१), पार्श्विक (१),

अर्धस्वर (२)। उच्चारण-स्थान के अनुसार ये व्यञ्जन इसप्रकार है—द्वचोष्ठ्य (६) वर्त्स्य (८) मूर्धन्य (५), तालव्य (६), कण्ठ्य (५), काकल्य (१)। उच्चारण के सम्बन्ध मे यह बात उल्लेखनीय है कि भोजपुरी मे वर्त्स्यस्पर्शों का उच्चारण जरा आगे से होता है। इनका उच्चारण-स्थान वस्तुत वर्त्स्य तथा दन्त्य के बीच मे है। इसीप्रकार भोजपुरी के मूर्धन्यो मे मूर्धन्य भाव कम मात्रा मे मिलता है।

स्पर्श

।प्।		[प्]	द्वचोष्ठ्य	अघोष	अल्पप्राण	।पाग्।	
।फ्।		[फ्]	,,	,,	महाप्राण	।फाग्।	
।ब्।		[ब्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।बाग्।	
।भ्।		[भ्]	,,	,,	महाप्राण	।भाग्।	
।त्।		[त्]	वर्त्स्य	अघोष	अल्पप्राण	।तान्।	
।थ्।		[थ्]	,,	,,	महाप्राण	।थान्।	
।द्।		[द्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।दान्।	
।ध्।		[ध्]	,,	,,	महाप्राण	।धान्।	
।ट्।		[ट्]	मूर्धन्य	अघोष	अल्पप्राण	।टाट्।	
।ठ्।		[ठ्]	,,	,,	महाप्राण	।ठाट्।	
।ड्।	:	[ड्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।डाट्।	(सीमेंट से ईंटें जोडना)
।ढ्।		[ढ्]	,,	,,	महाप्राण	।ढाठी।	(दो डडो के बीच गर्दन दबाकर प्राण ले लेना।)
।च्।	.	[च्]	तालव्य	अघोष	अल्पप्राण	।चाक्।	
।छ्।		[छ्]	,,	,,	महाप्राण	।छाक्।	(देवी के लिए एक प्रकार का शर्बत)
।ज्।		[ज्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।जट्।	(जटा)
।झ्।		[झ्]	,,	,,	महाप्राण	।झट्।	(जल्दी)
।क्।		[क्]	कण्ठ्य	अघोष	अल्पप्राण	।कोरा।	
।ख्।		[ख्]	,,	,,	महाप्राण	।खोरा।	(पात्र विशेष)
।ग्।		[ग्]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।गोरा।	
।घ्।	:	[घ्]	,,	,,	महाप्राण	।घोडा।	

संघर्षी

।स्।	:	[स्]	वर्त्स्य	अघोष	महाप्राण	।साथ्।
।ह्।	.	[ह]	काकल्य	सघोष	,,	।हाथ्।

नासिक्य

।म्।	:	[म्]	द्वचोष्ठ्य	सघोष	अल्पप्राण	।मान।

।न्।	:	[न्]	वर्त्स्य	सघोष	अल्पप्राण	।नाम्।	
।ञ्।	:	[ञ्]	तालव्य	,,	,,	।सञा।	(पति)
।ङ्।	:	[ङ्]	कण्ठच	,,	,,	।भाङ्।	

कम्पन-जात

।र्।	:	[र्]	वर्त्स्य	सघोष	अल्पप्राण	।फेर्।	

ताडन-जात

।ड़्।		[ड़्]	मूर्धन्य	सघोष	अल्पप्राण	।फेड़।	(पेड़)

पार्श्विक

।ल्।	:	[ल्]	वर्त्स्य	सघोष	अल्पप्राण	।माल्।	(पशु)

अर्धस्वर

।व्।	:		द्वयोष्ठ्य	सघोष		।परवाह्।	
।य्।	:		तालव्य	,,		।करिया।	(काला)

स्वर

१.२. जिह्वा की ऊँचाई, उसके स्थान एव होठो की स्थिति (वृत्ताकार, स्वल्प वृत्ताकार तथा पूर्ण उन्मुक्तता) के कारण, स्वरो के उच्चारण मे वैषम्य आ जाता है। इस सम्बन्ध मे भोजपुरी मे उपलब्ध तथ्य नीचे दिये जाते है—

अग्र-अवृत्ताकार

।इ।	सवृत	(उच्च)	।बिना।	
।ई।		,,	।बीना।	
।ऍ।	अर्धसवृत	(मध्य)	।बॅनाम्।	
।ए।		,,	।बेना।	(पखा)
।ऐॅ।	विवृत	(निम्न)	।बैॅनामा।	
।ऐ।		,,	।बैना।	

मध्य-अवृत्ताकार

।ऽ।	अर्धसंवृत	(मध्य)	।फ्ऽन्।	(जैसे 'फ्ऽन्' से जल जाना)
।ऽ.।	,,	,,	।फ्ऽ'न्।	(फन्दा)
।अ।	विवृत	(निम्न)	।हलचल्।	
।अ.।	,,	,,	।ह्‌अ.ल्।	(नमी)

पश्च-वृत्ताकार

।उ।	संवृत	(उच्च)	।खुन्।	('खुन् खुन्' में)
।ऊ।	,,	,,	।खून्।	

।ओँ।	अर्ध	(मध्य)	।दोँस्।	(दोस्त)
।ओ।	„	„	।दोस्।	(दोष)
।औँ।	विवृत	(निम्न)	।कौँन्।	(चावल का कण)
।औँ।		„	।कौँन्।	(कन्द)

सर्वाधिक प्रचलित आक्षरिक आकृति

२ भोजपुरी मे अक्षर का आरम्भ स्वर या व्यञ्जन से होता है। आरम्भ मे व्यञ्जन सयोग सम्भव नही है। भोजपुरी मे सर्वाधिक प्रचलित आक्षरिक आकृति निम्नलिखित है—

(स) व स व (व) — अनन्त, (स) व स व स (स) — अतना

(स) स व व स (स) — आत्मा, (स) प स व व स (स) — अवस्था

सम्भावित असम स्वर-सयोग

२ १ भोजपुरी मे 'सम्भावित असम स्वर सयोग' के निम्नलिखित रूप उपलब्ध है—

अइ	— पइसा	(पैसा),	अउ	— कउआ	(कौआ)
इअ	— दिअरी	(छोटा दीपक),	उअ	— पुअरा	(पुआल)
ओँअ	— धोँअल्	(धोया हुआ),	एआ	— सेँआन्	(सयाना)

सम्भावित व्यञ्जन-सयोग

२ २ भोजपुरी के व्यञ्जन-सयोग की तालिका इस निबन्ध के अन्त मे सलग्न है। शब्दो के उदाहरण नीचे दिये जाते है—

प्प्—खप्पर्, थप्पड्, प्फ्—हप्फर्, प्त्—कप्तान्, जप्त्, प्न्—सप्ना, प्ट्—खप्टा, प्च्—खप्चा, प्क्—वप्कन्, प्ल्—घप्ला, प्स्—झप्सी, ब्ब्—रब्बी, कब्बो, ब्भ्—चब्भा, म्ब्—लम्बर, म्म्—अम्मा, म्त्—अम्ता, म्द्—उम्दा, म्ट्—गुम्टी, म्छ्—गम्छा, म्ह्—पम्हा, म्ल्—गम्ला, त्त्—पत्ता, त्थ्—पत्थल, त्क्—कोत्का, द्द्—चद्दरि, द्ध्—बद्धी, न्प्—पन्पल्, न्न्—पन्नी, न्ट्—घन्टा, न्ड्—पन्डा, न्छ्—पन्छी, न्ह्—आन्हर, ट्ट्—पट्टा, ट्ठ्—पट्ठा, ट्क्—फट्का, ड्ड्—गड्डी, च्च्—बच्चा, च्छ्—बच्छा, ज्ज्—लज्जा, ज्झ्—खुज्झा, क्प्—कप्टी, क्त्—चक्ता, क्न्—चक्ना ('चकनाचूर' मे), क्ट्—कक्टा, क्ठ्—पकठा, क्च्—फोक्चा, क्क्—मुक्का, क्ख्—अक्खड, क्स्—बक्सा, भक्सा, ग्त्—मग्ता, ग्ट्—लग्टा, ग्ठ्—भग्ठा, ग्ग्—डुग्गी, ग्ल्—बग्ली, र्प्—खर्पा, र्फ्—बर्फी, र्म्—गर्मी; र्द्—गर्दा; र्छ्—बर्छी, र्ज्—दर्जी, र्ग्—गर्ग, र्ह—मार्ह, ड्ह्—साँड्ह्, ल्ब्—गल्बा, ल्त्—गल्ता, ल्द्—जल्दी, ल्न्—जल्नी, ल्ट्—पल्टा, ल्क्—गल्का, ल्ह्—माल्ह, स्प्—इस्पात; स्म्—चस्मा, स्त्—जस्ता, स्क्—इस्कूल; स्ख्—मस्खरा; स्स्—मिस्सी।

अन्त्य व्यञ्जन

२, ३ 'ढ्' एव 'ञ्' के अतिरिक्त भोजपुरी के अन्य सभी व्यञ्जन सवृत अक्षर (closed syllable) के अन्त मे सम्भव है। इसके उदाहरण नीचे दिये जाते है —

(१) नाप्, (२) बाफ्, (३) राब्, (४) नाभ्, (५) नाम्, (६) नात्, (७) नाथ् (८) नाद्, (९) बाध्, (१०) बान्, (११) टाट्, (१२) काठ्, (१३) खड्, (१४) खाँच्, (१५) गाँछ्, (१६) गाज्, (१७) बाझ्, (१८) चाक्, (१९) राख्, (२०) राग्, (२१) बाघ्, (२२) भाड़्, (२३) चाह्, (२४) नार्, (२५) फेड़्, (२६) जाल् (२७) पाɽ्, (२८) राय्, (२९) पास्।

परिशिष्ट

द्वितीय वर्ण

ग्	प्	फ्	ब्	भ्	म्	त्	थ्	द्	ध्	न्	ट्	ठ्	ड्	ढ्	च्	छ्	ज्	झ्	ञ्	क्	ख्	ग्	घ्	ङ्	ह्	ɽ	ड़्	ल्	व्	य	स्
प						×				×	×				×					×								×			×
फ																															
ब			×	×																											
भ																															
म			×		×	×		×			×					×									×			×			
त						×	×													×											
थ																															
द								×	×																						
ध																															
न	×									×	×		×			×									×						
ट											×	×								×											
ठ																															
ड													×																		
ढ																															
च															×	×															
छ																															
ज																	×	×													
झ																															
ञ																															
क	×					×				×	×	×			×					×	×										×
ख																															
ग						×					×	×										×							×		
घ																															
ङ																															
ह																															
ɽ	×	×			×			×								×	×					×			×						
ड़																									×						
ल			×			×		×		×	×									×					×						
व																															
य																															
स	×				×	×														×	×										×

पी० सी० गणेशसुन्दरम्

यांत्रिक अनुवाद की कुछ भाषाशास्त्रीय समस्याएँ

[प्रस्तुत निबन्ध मे भाषाओ के एक नव विकासमान क्षेत्र का द्रुतसर्वेक्षण तत्सम्बन्धी भाषाशास्त्रीय समस्याओ के विशिष्ट सन्दर्भ मे किया जा रहा है।

पिछले विश्वयुद्ध के समय और उसके बाद शीघ्रता से विकसित होने वाले विज्ञान के नये क्षेत्रो के समान ही, एक ही साथ विभिन्न क्षेत्रो की समस्याओ—जैसे एक ओर भाषा-शास्त्र और दूसरी ओर ऋणाण्विक सगठक (electronic computer) प्रणाली को सुलझाने के लिए अपनी बहुमुखी प्रकृति के कारण अन्वेषण का यह क्षेत्र भी बिलकुल नया है।

आर्थिक दृष्टिकोण से इस क्षेत्र मे इस प्रकार के विषय आते है—जैसे, मानव के मस्तिष्क-श्रम के लिए व्यय किया हुआ समय और एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवाद करने मे मनुष्य की मस्तिष्क-प्रणाली के लिए प्रयुक्त यात्रिक उपमानो द्वारा प्राप्त समय।

यात्रिक अनुवाद के विस्तार और सीमाओ का भी निर्देश किया गया है।]

मानव प्रयत्न के अधिकतर क्षेत्रो मे आनेवाली एक निश्चित प्रकार की क्रान्तिकारी गति को पूर्व युगो की तरह वर्तमान युग की विशेषता के रूप मे देखा जा सकता है।

पूर्वकालीन औद्योगिक क्रान्ति ने ऐसी युक्तियो, यत्रो और इजिनो को उपस्थित किया जिनसे मानव के शारीरिक श्रम और समय की बचत हुई है। सभी औद्योगिक और मानवीय श्रम के अन्य क्षेत्रो मे यत्रीकरण की क्रान्तिकारी गति का प्रारम्भ हुआ। एक यत्रीकृत उद्योग मे मनुष्य को सदैव यत्रो की क्रिया को जॉचने और अपनी आवश्यकतानुसार उपज को स्थिर करने की आवश्यकता के समय उस पर नियत्रण करना पडता है। किसी भी कालावधि तक उपज मे एकरूपता लाने के लिए उसके प्रति सतर्कता अपेक्षित है। अस्तु, यद्यपि विस्तृत रूप मे मनुष्य शारीरिक श्रम से मुक्त हो चुका है, फिर भी, यत्र को एक सुनिश्चित ढग से चलाने के लिए उसे पर्याप्त मात्रा मे पुनरावर्ती नित्य सकार्यों का निर्वाह करना पडता है।

वर्तमान समय के वाणिज्य और उद्योग की अति द्रुत सकुलता के फलस्वरूप मनुष्य द्वारा पुनरावर्ती नित्य सकार्यो मे लगने वाले समय और शक्ति की बचत के लिए प्रयत्न हुए है। इस दिशा मे इतना विकास हुआ है कि मानव के बिना ही यत्र स्वत. अपने को नियत्रित कर सकता है, अपनी उपज का परीक्षण कर सकता है और उपज को पूर्वनिश्चित मात्रा के अनुसार बना

सकता है। इस प्रकार पिछले दशक के मात्र यत्रीकरण से हम लोग स्वत सचलन की दिशा मे अग्रसर हो रहे है।

इस प्रकार वर्तमान काल के बहुत से व्यापारो मे मनुष्य के पुनरावर्ती और नित्य शारीरिक सकार्यो का स्थान यत्रो ने ले लिया है। मनुष्य के पुनरावर्ती और नित्य मानसिक सकार्यो के विषय मे क्या हो ? यहाँ तक कि मनुष्य के मानसिक सकार्यो, विशेषतया आकिक सगणना के क्षेत्र मे, यत्रीकरण और स्वत सचलन विभिन्न मात्राओ और पूर्णताओ मे स्पष्टतया प्रत्यक्ष है।

यत्रीकरण और स्वत सचलन के प्रारम्भिक स्तरो से होकर आने वाली मनुष्य की मानसिक क्रिया का अन्तिम क्षेत्र एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवाद करना है।

साधारण आकिक सगणको से भिन्न, यात्रिक अनुवाद-यत्रो मे, भाषाशास्त्रीय आधार-सामग्री को एकत्र करने की अपार क्षमता होनी चाहिए, एव निक्षिप्त भाषाशास्त्रीय सामग्री पर विश्लेषण के विभिन्न प्रकार के सकार्यो को स्वत सचालित रूप मे करने की योग्यता भी होनी चाहिए। उन्हे प्रत्येक स्तर पर ऐसे सकार्यो के विश्लेषण से प्राप्त परिणामो के आधार पर मूल भाषा के समरूप भाषाशास्त्रीय तत्वो और उपायो का उपयोग लक्ष्य (या अनूद्य) भाषा के लिए करना चाहिए।

ये आवश्यकताएँ ऋणाणविक यात्रिक पक्ष मे सन्तोषप्रद रूप मे पूर्ण होने से अभी भी बहुत दूर है। समस्त यात्रिक समस्याओ का हल अधिक मात्रा मे अनूद्य तथा अनूदित दोनो भाषाओ की भाषाशास्त्रीय सरचना के ज्ञान पर निर्भर है। किसी सुबोध अनुवाद के लिए एक भाषा के तत्वो और सकार्यो को दूसरी भाषा के तत्वो और सकार्यो के साथ सलग्न करने के ढग को पहले से ही जानना चाहिए।

अब तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आते है —

(१) क्या ऐसे यन्त्र की सम्भावना है जिसमे हमारी आवश्यकताओ का निक्षेपण ही नही, सकार्यिक क्षमता भी हो ?

(२) जब हम यत्र से प्राप्य अनुवाद की प्रभावशीलता और अधिकतम गति पर विचार करते हैं तो (यंत्र के प्रारभिक निर्माण और सकार्यिक कार्य के करने मे समय और धन की दृष्टि से) क्या ऐसा यन्त्र आर्थिक दृष्टि से ठीक होगा ?

(३) कहाँ तक भाषा का यात्रिक विश्लेषण किया जा सकता है, किस प्रकार की भाषाओ मे, किस प्रकार की सामग्री यात्रिक ढग से अनूदित की जा सकती है ?

इन प्रश्नो के उत्तर सरलतापूर्वक नही दिये जा सकते।

प्रस्तुत विचार-विमर्श मे हम प्रथम दो प्रश्नो को अपने विचारक्षेत्र के बाहर रक्खेगें, इसलिए नही कि ये महत्त्वपूर्ण नही है, वरन् इसीलिए कि यहाँ हम लोगो का सम्बन्ध केवल भाषाशास्त्रीय प्रश्नो से है।

यह प्रत्यक्ष है कि काव्यशास्त्रीय, दार्शनिक, धार्मिक तथा अन्य प्रकार की सामग्री का यात्रिक ढग से अनुवाद नही हो सकता, क्योकि इनके एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद के

लिए कुछ तार्किक उपायो की ही आवश्यकता नही होती वरन् एक विस्तृत सास्कृतिक पृष्ठभूमि अपेक्षित होती है। वास्तव मे जब तक अनुवादक के पास अपेक्षित सास्कृतिक पृष्ठभूमि और सर्जनात्मक प्रतिभा न हो तब तक किसी मानवीय अनुवादक के द्वारा भी ठीक-ठीक अनुवाद नही हो सकता।

इसलिए हमे प्राय उन तार्किक उपायो से सम्बद्ध वास्तविक सामग्री तक ही अपना ध्यान केद्रित करना है जो एक निरीक्षण से दूसरे निरीक्षण की ओर युक्तिबद्ध ढग से अग्रसर करते है, जैसा कि प्राय गणित और प्राकृतिक विज्ञानो मे होता है। कोई ऐसी भाषाएँ, जैसे एक भारतीय भाषा और एक अमेरिकी आदिवासी भाषा, जो रूपरचना मे भिन्न है, और जिनमे साधारण भौतिक अनुभवो तक के प्रकाशन मे विभिन्नता है, एक दूसरे से अनुवाद के लिए यान्त्रिक स्तर पर नही ली जा सकती।

इस प्रकार केवल वे ही भाषाएँ शेष बचती है जिनकी सरचना थोडी बहुत समान है और जिनमे साधारण भौतिक परिस्थितियो से सम्बन्धित अनुभवो के प्रकाशन का ढग थोडा बहुत मिलता-जुलता है। इस प्रकार की किन्ही दो भाषाओ (उदाहरणार्थ, अग्रेजी और फ्रासीसी, या हिन्दी और मराठी, या तमिल और कन्नड) के बीच यह प्रश्न रह जाता है कि हम देखे कि यान्त्रिक अनुवाद की प्रक्रिया कैसे चरितार्थ हो सकती है।

यदि हम अपने अनुवाद के विषय को समान भाषाओ और विज्ञान के विशिष्ट क्षेत्र तक ही सीमित करते है, तो भी हमारे सामने अनेक कठिनाइयाँ रह जाती है।

प्रथम हम यह अनुभव करते है कि कोई दो भाषाएँ पूर्णतया समान नही है। शब्द के लिए शब्द और मुहाविरे के लिए मुहाविरे को स्थानापन्न कर देने की किसी प्रणाली से हमें अनुवाद नही मिल जाता। एक भाषा का एक शब्द दूसरी भाषा के पूरे मुहाविरे के सदृश हो सकता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एक भाषा (यथा सस्कृत, हिन्दी, मराठी, या तमिल भाषा) मे तो विभक्तियुक्त या सयोगात्मक वाक्य है, और दूसरी भाषा (जैसे अग्रेजी या चीनी) मे शब्दक्रम के अनुसार वाक्ययोजना हो जाती है।

एक और कठिनाई यह है कि एक भाषा मे व्याकरण के ऊपर दिये हुए किन्ही पक्षो मे नियमित रूप से अन्य भाषा मे कोई स्थानापन्न प्रणाली नही है। उन अवस्थाओ मे जहाँ स्थानापन्न शब्द है भी वहाँ पूर्ण रूप से कोई ऐसा सादृश्य नही है।

इन प्रश्नो के समझने के लिए यह निर्देश कर देना पर्याप्त है कि किसी अनुवाद के लिए मनुष्य सर्वोपयुक्त है, न कि यत्र।

यान्त्रिक अनुवाद मे हमारी रुचि उस सीमा तक इस अन्वेषण के प्रयासो मे है, जहाँ तक कि हम एक भाषा की भाषाशास्त्रीय सरचना के विश्लेषण की प्रक्रिया को स्वत सचालित बना सके। एक बार पुन इस समस्या को देखने के दो मार्ग है उपयोगितावादी मार्ग और शैक्षणिक मार्ग। उपयोगितावादी मार्ग को इसकी चिन्ता नही है कि प्रयुक्त विशिष्ट प्रणाली तार्किक दृष्टि से उचित परिणामो की ओर अग्रसर करेगी या नही, केवल सुबोध अनुवाद प्रत्याशित है। अर्थात् अनावश्यक व्याकरणात्मक तत्वो का त्याग या ग्रहण अशुद्ध अथवा भोडे मुहाविरो

का प्रयोग इत्यादि गम्भीर व्याकरणात्मक अशुद्धियाँ इस दृष्टिकोण से कोई महत्व नही रखती। अनूदित रूप मात्र वाछित अर्थ देने के योग्य होना चाहिए। अन्य कोई भी प्रश्न इसकी चिन्ता का विषय नही है।

यदि हम शैक्षणिक दृष्टिकोण से भाषा के स्वत सचालित विश्लेषण के प्रश्न की ओर देखे तो हमारी आवश्यकताएँ अधिक कठोर है। हमे प्रत्येक मिलने वाले परिणाम का कारण देना पडेगा। हमारा एक भी अपवाद मार्मिक स्थल हो सकता है। क्या इसके बाहर कोई मार्ग है? प्रगतिशील भाषाशास्त्रियो के मत मे कोई मार्ग नही है। वे कहते है कि भाषा एक बँधी हुई रीति नही है, अर्थात् यह ऐसी रीति नही है जिससे प्रत्येक नव घटना का पूर्व ज्ञान हो जाय। दूसरी ओर भाषा एक विकसित गत्यात्मक रीति के रूप मे जानी जाती है, जिसमे किसी को पहले कभी न मिले हुए तत्वो और रूपो का सामना करने के लिए तैयार रहना पडता है। यात्रिक अनुवाद, इस प्रकार अधिक से अधिक, उन्ही तत्वो और रूपो को व्यवहार मे ला सकता है जो पहले ही से ज्ञात अथवा घटित है। भविष्य मे क्या तत्व और रूप आ जायँगे इसकी वे सम्भवत कल्पना भी नही कर सकते। अतएव यात्रिक अनुवाद के प्रयास के विस्तार पर यह भी एक प्रतिबन्ध है।

इसलिए, हमे इन समस्त सीमाओ को मस्तिष्क मे रखते हुए, यह देखना है कि किसी स्वत सचालित यन्त्र की निश्चित सीमाओ के भीतर कहाँ तक भाषाशास्त्रीय विश्लेषण की वर्तमान प्रणालियो को रक्खा जा सकता है और कहाँ तक भाषाशास्त्रीय विश्लेषण के प्रतिष्ठित चले आते हुए उपायो से दूर जाना पडेगा, एव किस प्रकार कुछ गम्भीर कठिनाइयाँ हल अथवा कम की जा सकती है।

जहाँ तक एक भाषा (या एक बोली अथवा व्यक्ति-बोली) के विश्लेषण का प्रश्न है, ध्वनि-विचार, पदग्राम-विचार, पद-विचार, वाक्य-विचार तथा अर्थ-विचार आदि की परम्परागत श्रेणियाँ सुविधा की दृष्टि से अलग-अलग क्षेत्र (या भाषाविज्ञान के स्तर, जैसा कि वे सामान्यतया कहे जाते है) समझी जा सकती है और औपचारिक ढग से, व्याख्यात्मक भाषाशास्त्र की भाँति, इनका अलग-अलग विवरण भी दिया जा सकता है। किन्तु ऐसी बातो मे भी कोई इन क्षेत्रो को सर्वथा व्यवच्छिन्न रूप से अलग-अलग समझने की गलती नही करता। वास्तव मे इस तथ्य के द्वारा इन समस्त विभिन्न स्तरो मे ऐसे औपचारिक विश्लेषण उल्लेखनीय हो जाते है कि विभिन्न विश्लेषणकर्ताओ के एक ही बोली अथवा व्यक्ति-बोली के व्याख्यात्मक विवरण पूर्णतया समान नही होते। ऐसे व्याख्यात्मक विवरणो की सूक्ष्म परीक्षा इस तथ्य का उद्घाटन करती है कि अन्त मे प्रत्येक विश्लेषणकर्ता व्याख्यात्मक तत्वो का चुनाव अपनी व्यक्तिगत अनुशासित प्रणाली से करता है अथवा अपनी सुविधानुसार करता है। यद्यपि यह सब अधिकतर अचेतनावस्था मे ही होता है, उसकी व्याख्या का अवशिष्ट भाग उस सीमा तक औपचारिक है जहाँ तक उसका मौलिक चुनाव उसे आज्ञा दे।

जहाँ तक व्याख्या के औपचारिक पहलू का प्रश्न है, विश्लेषणकर्ता अपने इस विश्वास को उचित कह सकता है कि वह अर्थादि के बाहरी विचार द्वारा सचालित नही होता, प्रत्युत

रचना (पद-विचार और वाक्य) के क्षेत्र मे (या स्तर पर) वह अपने कुछ मौलिक चुनावो के करने मे अर्थ के सन्निहित विचारो द्वारा निर्देशित होता है।

स्वन-ग्राम व्याकरणात्मक पदयोजन तथा अन्य शब्दो का वर्गीकरण करने वाला यत्र स्वत अर्थ के सन्निहित विचार मे तल्लीन नही हो सकता। ऐसे विचार, एक यत्र के लिए, स्फुट सकार्य बनाने पडेगे, अर्थात् यदि हमारे विश्लेषण की विशेष पद्धति शुद्धतया औपचारिक नही है तो हमे स्पष्ट कर देना होगा कि हमारे विश्लेषण मे, एक विशिष्ट परिणाम तक पहुँचने के लिए कौन-कौन से अर्थ-विचार अन्तर्भूत है।

यदि ऐसा कर दिया जाय तो ऐसे ढग से एक यत्र की रचना सम्भव होगी कि जो एक दिये हुए वाक्य का इसके निजी शब्द-समूह, पदग्राम-सयोजन तथा पदवैचारिक और वाक्यवैचारिक नियमो और इसके निज निर्मित व्याकरणात्मक तत्वो (जिन्हे भाषा के अवयव, चिह्नक, रचनात्मक गुण आदि कहते है) आदि के रूपो का स्वत सचालित रूप मे विश्लेषण कर सके।

यह तो बात हुई किसी विशिष्ट बोली मे वाक्य की उपयुक्त रीति से यत्र-निक्षिप्त सामग्री के विश्लेषण की। यद्यपि इसमे सभी सामान्य स्तर भी अन्तर्भूत है, फिर भी तब तक हमे इनको अलग रखना होगा जब तक हम अपने को किसी एक भाषा या बोली के विश्लेषण तक ही सीमित रखते है।

जिस क्षण हम एक भाषा मे वाक्य के तत्वो और रचनात्मक रूपो का अन्य भाषा के समकक्षी वाक्य के साथ सादृश्य स्थापित करना चाहते है, उस समय इन स्तरो का सारा विभेदीकरण बेकार हो जाता है। किसी न किसी प्रकार से आवश्यक सादृश्य स्थापित करने के लिए स्तर से स्तर का सकार्य अस्तित्व मे आ ही जाता है।

यात्रिक अनुवाद के क्षेत्र के इस सक्षिप्त और द्रुत सर्वेक्षण मे लेखक उन ढगो के विस्तार मे नही जाना चाहता जो उसने एक भाषा से दूसरी भाषा मे औपचारिक अनुवाद के लिए स्वय-सचालित विधियो को बनाने मे अपनाये है। विशेष रूप से यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि किन्ही भी भाषाओ के बीच अनुवाद के लिए कोई सामान्य और व्यापक विधि विकसित नही की जा सकती। औपचारिक अनुवाद-विधियो का विकास एक साथ किन्ही दो निर्दिष्ट भाषाओ के लिए ही किया जा सकता है। आगे, यदि भाषा अ से भाषा आ मे औपचारिक अनुवाद के लिए किसी विधि का विकास किया जाता है, तो उल्टे यह विधि भाषा आ से भाषा अ मे अनुवाद के लिए प्रयुक्त नही की जा सकती। इसके लिए एक अलग विधि अपेक्षित होगी।

अन्त मे, मै यात्रिक अनुवाद की ऐसी योजनाओ के आर्थिक मूल्य को भी सक्षेप मे स्पर्श करना चाहता हूँ। यह अनुमान लगाया गया है (ऐसे बृहद् यत्र के निर्माण और सकार्य मे अन्तर्भूत मूल्य और यत्र के निर्माण और सकार्य मे अन्तर्भूत समय और श्रम तथा विशिष्ट भाषाओ के लिए निर्दिष्ट विधियो को बनाने एव अनुवाद के क्षेत्रो की सीमाओ को दृष्टि मे रखते हुए) कि यदि एक यत्र उन्ही सकार्यो को मनुष्य से दस हजार गुना अधिक परिमाण मे नही करता तो इस प्रकार की प्रणाली से बहुत कुछ मात्रा मे समय, श्रम और धन का अपव्यय ही होगा।

फिर भी, अतिद्रुत ऋणाण्विक (electronic) संगणको की स्थापित सम्भावनाओ को देखते है तो ऐसी योजनाओ के लिए एक तर्कसगत भविष्य की भी आशाएँ की जा सकती है। जब एक बार यत्र मे निक्षिप्त सामग्री और समाव मे दीर्घ माप वृद्धि के साथ सम्बन्धित भाषाशास्त्रीय विश्लेषण के औपचारीकरण से सम्बन्धित समस्याएँ हल हो जायँगी तो ये प्रयत्न सफल अवश्य होगे। अस्तु, यत्र द्वारा विश्लेषण किये जाने वाले वाक्य के उपभुक्त प्राथमिक तत्वो का अध्ययन अवश्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। प्रस्तुत लेखक ऐसे विश्लेषण के ढग के विकास का एक प्रयास अग्रेजी, तमिल, मराठी और हिन्दी जैसी भाषाओ के लिए कर रहा है।

ऐसी आशा है कि इस प्रकार का एक प्रयास (यहाँ तक कि अन्त मे यदि यात्रिक अनुवाद के लिए अनुपयुक्त भी सिद्ध हो, तो भी) भाषाशास्त्रीय रचना के विश्लेषण से सम्बद्ध कुछ समस्याओ को और अच्छी प्रकार समझाने की ओर अग्रसर करेगा।



ना० नागप्पा

हिन्दी तथा कन्नड़ भाषाओं का अर्थ-तत्व

भारतवर्ष मे सदियो से बोली जाने वाली आर्य और द्राविड भाषाओ का परस्पर साम्य तथा प्रभाव लक्षित हो रहा है। यह साम्य और प्रभाव भाषाओ के विकास के प्रत्येक स्तर पर देखने मे आता है। ऋग्वेद की भाषा मे द्राविडी शब्दो का प्रयुक्त होना, मूर्द्धन्य-घटित ध्वनियो का वर्तमान होना और लौकिक सस्कृत तथा प्राकृतो मे इन ध्वनियो का बढना द्राविड भाषाओ के सम्पर्क के कारण बताया जाता है। वैसे ही भारतीय दर्शन, धर्म, गणित जैसे शास्त्रो से सबद्ध तत्सम तथा तद्भव शब्दो का प्राचीन द्राविड भाषाओ मे अस्तित्व आर्य भाषाओ के सबध का द्योतक है। आधुनिक काल मे भी प्रतिदिन ऐसे परस्पर प्रभाव से हमारी भाषाओ को लाभ पहुँच रहा है।

दक्षिण और उत्तर भारत की भाषाओ मे प्रयुक्त वर्णमालाओ के साम्य और रूपतत्व की अयोगात्मक सगति आश्चर्यजनक है। हिदी की क्रियाएँ कृदन्तो की सहायता से बना ली जाती हैं। द्राविड भाषाओ की क्रियाएँ भी वैसे ही बनती हैं, जैसे—

वह आता है (हिदी)—अवनु बरुत्तानॆ (कन्नड)—अवन् वरान् (तमिळ)। वह आती है (हिंदी)—अवळु बरुत्ताळॆ (कन्नड)—अवळ् वराळ् (तमिळ)। वे आते हैं (हिदी)—अवरु बरुत्तारॆ (कन्नड)—अवर् वरार् (तमिळ)। वह आया (हिदी)—अवनु बदनु (कन्नड) अवन् वदान् (तमिळ)। वह आयी (हिदी)—अवळु बदळु (कन्नड)—अवळ् वॅदाळ् (तमिळ)। वे आये, वे आयी (हिन्दी)—अवरु बदरु (कन्नड)—अवर् वदार् (तमिळ)।

द्विरुक्त या नादसाम्य पर घटित क्रियाओ मे भी साम्य परिलक्षित होता है, जैसे—गुनगुनाना (हिंदी)—गौणगुट्टुवुदु (कन्नड)। फुसफुसाना (हिदी)—पिसगुट्टुवुदु (कन्नड)।

हिदी तथा द्राविड भाषाओ की सयुक्त क्रियाओ का भाव-साम्य काफी आश्चर्यजनक है (दे० हिदी-अनुशीलन, जिल्द १० भाग १, हिदी तथा कन्नड की क्रियाएँ)। सस्कृत मे अवधारणार्थ मे उपसर्गों से काम लिया जाता था (उपसर्गेण ध्वात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते)। पर, हिंदी मे दो-तीन क्रियाओ के एक साथ प्रयोग करने से (अर्थात् सयुक्त क्रियाओ से) यही काम लिया जाता है। इसका विश्लेषण भी काफी दिलचस्प है। सयुक्त क्रियाओ के सम्बन्ध मे पटना मे सपन्न प्राच्य विद्या परिषद् (१९२७ ई०) के हिदी-विभाग के अध्यक्ष की हैसियत से प्रो० श्यामसुन्दर दास ने इस समस्या की तरफ विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया था। १९५८ के लन्दन के ओरिएटल स्कूल के बुलेटिन मे प्रो० बर्टन पेज साहब ने इसका सुन्दर विश्लेषण किया है। परन्तु कन्नड जैसी द्राविड भाषाओ की सयुक्त क्रियाओ के

साथ हिंदी की सयुक्त क्रियाओ की तुलना करने से इस विषय पर काफी प्रकाश पडने की सभावना है।

सयुक्त क्रियाओ को प्रो० श्यामसुन्दर दास ने तीन भागो मे विभक्त किया था। इन क्रियाओ का अर्थ-तत्त्व प्राय हिंदी तथा कन्नड मे (या किसी भी द्राविडी भाषा मे) एक-सा पाया जाता है।

(१) वे सयुक्त क्रियाएँ जिनमे से पूर्व प्रयुक्त अश मुख्य भाव को प्रदर्शित करता है और अनु-प्रयुक्त अश उसी भाव को घटाता या बढाता है, जैसे--

हिंदी	कन्नड
मान लेना	ऑप्पि कोळ्ळुवुदु (पूर्णतया स्वीकार करना है)।
खा डालना	तिदु बिडुवुदु (खाने की क्रिया का पूर्ण होना या त्वरा से सपन्न होना)।
चले आना	बदु बिडुवुदु (शीघ्रता से आना)।

(२) वे सयुक्त क्रियाएँ जिनमे दोनो (पूर्व-प्रयुक्त तथा अनु-प्रयुक्त) क्रियाएँ अपने अपने अर्थो की रक्षा करती हैं। इनकी विशेषता यह है कि क्रिया अपनी भाव-प्रधान अवस्था के विकारी या अविकारी रूप मे रहती है और अनु-प्रयुक्त के ही रूप चलते है। ऐसी क्रियाएँ सहायक क्रियाओ का कार्य करती है, उदाहरणतया—

हिंदी	कन्नड
वह पढ चुका	अवनु ओदि मुगिसिदनु[1] (उसने पढकर खतम किया।)
वह खा नही सकता	अवनु तिन्नलारनु[2], अवनु तिन्नलु+आर (नु) (=वह खाने के लिए समर्थ नही है।)
वह किया चाहता है	अवनु माड बेकं दिद्दानॆ (अवनु माडबेकु ॲदु इद्दानॆ= वह करना चाहिए करके है।)
वह पढने लगा है	अवनु ओदलु हत्तिद्दानॆ (=वह पढने लगकर है।)

(३) वे क्रियाएँ जिनका पहला अश सज्ञा या विशेषण होता है, जैसे—

स्वीकार करना	स्वीकरिसुवुदु
निद्रा करना	निद्रिसुवुदु (कन्नड मे ऐसी क्रियाओ को 'इसु' प्रत्ययान्त क्रियाएँ कहते हैं)

---

१. इस क्रिया में सयुक्त क्रिया की पूर्ववर्ती क्रिया पूर्वकालिक क्रिया के रूप में है, जैसे, अवधी—उठि बैठेहु, चलि आवइ, जाइ लागै, इत्यादि।

२. यह संयुक्त क्रिया स्पष्ट है। कन्नड में यहाँ उद्धृत अन्य क्रियाएँ शुद्ध संयुक्त क्रियाएँ शायद ही हो।

(४) इनके अलावा भी कई प्रकार की सयुक्त क्रियाएँ ऐसी है जिनकी रचना कन्नड की तदर्थक क्रिया-रचना से मेल खाती है, जैसे —
'चाहिए' (बेकु) से अन्त होनेवाली क्रियाएँ—उतरना चाहिए (हिंदी)- -इळियबेकु (कन्नड)। जाना चाहिए(हिन्दी)—-होगबेकु (कन्नड)। निकलना चाहिए(हिंदी)—-होरडबेकु(कन्नड)।

(५) (क० बेड) या 'मत', 'नही', 'न' से अन्त होने वाली क्रियाएँ भी कन्नड मे सयुक्त क्रियाएँ मानी जाती है। पर हिंदी मे ऐसी क्रियाएँ सयुक्त क्रियाएँ नही है, जैसे[3] —

कन्नड	हिंदी
इळिय बेड	उतरो मत, उतरो नही, न उतरो (उतरना नही)।
होग बेड	जाओ मत, जाओ नही, न जाओ (जाना नही)।

(निषेधार्थक वाक्यो मे निषेधवाचक शब्द का क्रिया के बाद प्रयुक्त होना मात्र हिंदी एव द्राविड भाषाओ की रचना मे एक-सा है।)

तात्पर्य यह है कि क्रिया द्वारा भावोत्कर्ष की व्यञ्जना करनी हो तो हिंदी एव द्राविड भाषाओ मे सयुक्त क्रिया से काम लिया जाता है।

अर्थ-तत्व की दृष्टि से हिंदी और कन्नड मे प्रयुक्त सस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दो मे काफी साम्य है, हाँ कही-कही अन्तर भी पडता है। मध्यकालीन कन्नड भाषा के काव्यो मे भाषा को सस्कृत के तत्सम एव तद्भव शब्दो से आपूर किया जाता था (शायद अलकृत करने के खयाल से)। सस्कृत शब्दो का सर्वथा त्याग करके लिखने का भी प्रयत्न कन्नड मे कही-कही हुआ है—जैसे ठेठ हिंदी मे इशा अल्ला ने कहानी कहने का प्रयत्न किया था। 'कब्बिगर काव' कदाचित् कन्नड मे इस प्रयत्न का उदाहरण हो सकता है। परन्तु साधारणतया बोलचाल की कन्नड भाषा मे (ग्रामीण भाषा मे भी) निम्नलिखित सस्कृत शब्द प्रयुक्त होते है —

अपार, स्वल्प, दिन, रात्रि, आधार, पाप, पुण्य, आत्मा, बल, आकाश, कपि, सूर्य, चद्र, कमल, तळ (तल), सम (समान), उत्सव (उस्तव), रूप (रूपु), समुद्र, ग्राम, काल (समय के अर्थ मे), समय ('वेला' के अर्थ मे), वेला (वेळे वक्त), जैसे सैकडो शब्द।

काव्यगत भाषा मे भी प्राकृत भाषा के शब्द और तद्भव शब्द काफी सख्या मे प्रयुक्त होते आये है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते है—

(अ) 'लक्ष्मीश' कवि कृत 'जैमिनि भारत' नामक सोलहवी सदी के काव्य से निम्नलिखित कुछ शब्द उद्धृत किये जाते है—

दॆसॆ (=दिशा, पृष्ठ सख्या २०७), बिन्नप (=विज्ञप्ति, पृ० ३६९); सिरि (=श्री, पृ० ३७०), मॊग (=मुख, पृ० ३७०), पॊडवि (=पृथ्वी पृ० ३७१), उगुट (=उगुष्ठ,

३ यहाँ हिंदी की संयुक्त क्रियाओ का पूर्णतः विचार नही किया गया है। ऐसा करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। हिंदी एव कन्नड का अर्थ-तत्व जहाँ मिलता है उसका विचारमात्र यहाँ किया गया है।

पृ० ३७४), अच्चरि (आश्चर्य, पृ० ३७५), बोम्म (=ब्रह्म, पृ० ३७६), सासिर (=सहस्र, पृ० ३७७),

(आ) कुमार व्यास कृत 'कर्णाट भारत कथा मजरि' (ई० पन्द्रहवी सदी) काव्य से कुछ शब्द उदाहरणार्थ नीचे उद्धृत है—

सेज्जे	(=शय्या)	पृष्ठ सख्या २९९
राय	(=राजा)	,, २९९
रक्कस	(=राक्षस)	,, ३०१
पयण	(=प्रयाण)	,, ३०२
रावुत	(=राजपुत्र)	,, ३०३
जव्वन	(=यौवन)	,, ३०४

अर्द्धतत्सम शब्दो की गीतात्मकता काव्य-गत भाषा के सौन्दर्य को बहुत कुछ बढाती है, जैसे—

हरुष	(=हर्ष)	पृष्ठ सख्या २९९—१८वाँ पद
मुकुति	(=मुक्ति)	,, २९९—२२वाँ पद
युकुति	(=युक्ति)	,, २९९—२२वाँ पद
कीरति	(=कीर्ति)	,, ३००—३०वाँ पद
पृथिवि	(=पृथ्वी)	,, ३०१—तीसरा पद
दरुशन	(=दर्शन)	,, ३०२—१३वाँ पद
राजकारिय	(=राजकार्य)	,, ३०३—२१वाँ पद
रकुत	(=रक्त)	,, ३०४—४१वाँ पद

(ये शब्द भी कुमार व्यास कवि के 'भारत' से उद्धृत किये गये है)

इन काव्यो मे तथा अन्य काव्यो मे हजारो सस्कृत (तत्सम) शब्द प्रयुक्त मिलते है। वे सब शब्द कन्नड के अपने हो गये है।

कन्नड मे प्रयुक्त सस्कृत शब्दो के अर्थातर के बारे मे यहा थोडा विचार किया जाता है। 'नौजवान' शब्द को लीजिए। 'जवान' का अर्थ हुआ 'युवान्'। कन्नड मे 'जवान' का अर्थ प्रचलित भाषा मे 'सेवक, चपरासी, अर्दली' होता है। अर्थ-सकोच हो गया। इसी तरह 'प्राय' का अर्थ सस्कृत और हिंदी मे 'कदाचित्' होता है। पर कन्नड मे 'उम्र' के अर्थ मे जाने कैसे 'प्राय' शब्द चल पडा है। 'निज' का 'अपना' तो अर्थ स्पष्ट है, पर कन्नड मे यह 'सत्य' के अर्थ मे (specialised sense) मे चलता है। कार्य, कर्म, क्रिया, भोज, फल, जन्म जैसे शब्दो का अर्थोन्नयन (levation of meaning) या अर्थोत्कर्ष हुआ है। इन शब्दो के कन्नड अर्थ कलस, ऊट (भोज), हुट्टु (जन्म) आदि हलके या साधारण अर्थ मे प्रचलित है। तद्भव शब्दो से निकटता, आत्मीयता या स्नेह व्यक्त होता है। तत्सम शब्दो से महत्ता, उच्चता, बडप्पन आदर और प्रतिष्ठा सूचित होती है। जैसे 'सिरि' (=श्री) 'सपत्तु' [अल्पनिगे सिरि बदरे अर्धरात्रियल्लि कोडे हिडिसिकोडहागे=(किसी) अल्प (नाचीज) को अकस्मात् सपत्ति प्राप्त

होने पर आधी रात मे भी छत्र पकडा कर चलने लगे—जैसा (कहावत)]। बुद्दि (=बुद्धि) कन्नड मे एक विचित्र अर्थ मे चलता है। यह बडे व्यक्तियो के अपढ व्यक्तियो के द्वारा सबोधन के अर्थ मे कदाचित् इसलिए चल पडा हो कि अपढ लोग पढे लिखे लोगो को शायद 'बुद्धि' मान् मानते है। पर 'बुद्धि' अक्ल के अर्थ मे प्रचलित है। 'बुद्दि' का एक और प्रयोग है, जैसे—'कालिगे बुद्दि (बुद्धि) हेळुवुदु' (मुहाविरा) [पॉव को बुद्धि (की बात) कहना, अर्थात् पलायन करना या भाग जाना।] कुछ और उदाहरण नीचे दिये जाते है—

सस्कृत शब्द	सस्कृत मे अर्थ	हिदी मे अर्थ	कन्नड मे अर्थ
अभिमान	गर्व	फक्र	प्रीति
अवसर		मौका	शीघ्र
असह्य	जो सहने योग्य नही	जो न सहा जा सके	जुगुप्सा
व्यवसाय	परिश्रम	उद्यम	कृषि
समाराधन	मन प्रसाद	मन बहलाव का कोई साधन	भोजन (समाराधने)

अर्थो के अतर के कारण कही-कही कुछ समझ मे नही आते, जैसे—

सस्कृत शब्द	सस्कृत मे अर्थ	हिदी मे अर्थ	कन्नड मे अर्थ
प्राय ( )	कदाचित्	शायद	उम्र
खण्डित	भग्न	टूटा हुआ	सत्य
भद्र (म्)	रक्षा, योगक्षेम	सभ्य (जेसे—भद्र पुरुष)	जो शिथिल नही है, मजबूत
आग्रह	अनुरोध	अनुरोध	क्रोध [अनुरोध का फल कदाचित् क्रोध हो]

अर्थ-सकोच के कुछ उदाहरण लीजिए—

उद्योग	कर्म-समवाय (जैसे—उद्योग पर्व)	कारखाने की सहायता से सपन्न उद्यम (industry)	काम (साधारण), धधा (occupation)
दासोह (म्)	कैकर्य्य का सूचक (जैसे—पालागौ)	सेवा	मधुकरी (घर-घर जाकर मधुकरी लाना कैकर्य का एक रूप माना जाता हे।)
वर्तमान	आज का (समय)	आज का	खबर, समाचार (वर्तमानपत्रिके = समाचारपत्र)
सराग	रागसहित	रागसहित	सरल
दाक्षिण्य	उदारता	औदार्य-भाव	मुरौवत

बलवन्त (म्)	शक्तिमान्	बलवान्	जबर्दस्ती
उपन्यास	व्याख्यान	कादम्बरी (novel)	भाषण
अन्न (म्)	जो खाया जाय	खाद्य	पकाया हुआ चावल

अर्थ-विस्तार के कुछ उदाहरण लीजिए —

तैल (म्)	तिल का तेल	कोई तेल	(दवा मे प्रयुक्त) तेल
कुशल	कुश उखाडने मे चतुर, क्षेम	चतुर, क्षेम	चतुर (क्षेम के अर्थ मे भी प्रयुक्त)
शाला	पाठशाला	कोई भी स्कूल, खास कर जहाँ हिंदी या सस्कृत पढायी जावे।	ऐसी शिक्षा-सस्था जहाँ पुराने ढग की विद्या पढायी जावे, जैसे —योग-शाले [योग.भ्यास सिखाने का स्थ.न या सस्था] (11) पाठ-शाले, सस्कृत सिखाने की सस्था।

अर्थोत्कर्ष के कुछ उदाहरण लीजिए—

कायिक	शारीरिक	शरीर-सबधी	शरीर-सबधी श्रम जो परमात्मा को अर्पित माना जाता है (केवल वीर शैवो मे प्रचलित)।
पाठ	पढना	पढना	जबानी याद करना। कण्ठपाठ स्पर्धा (recitation competition)

आजकल हिंदी मे जैसे तेक्नीकी शब्द सस्कृत से बना लिये जा रहे हैं वैसे ही कन्नड मे भी बनाये जा रहे हैं और स्कूल-कालिजो मे व्यवहृत भी हो रहे है। कुछ शब्द तो बहुत ही उत्तम है, जैसे —

नदीमुखज भूमि (delta—कन्नड के भूगोल-ग्रथो मे प्रचलित) प्रस्थभूमि (पठार, plateau), मरुभूमि (रेगिस्तान), आम्लजनक (oxygen), जलजनक (hydrogen) त्रिकोनमिति (trigonometry), ज्यामिति geometry, बीजगणित (algebra), उक्त-लेखन (इमला dictation), कण्ठ-पाठ (जबानी याद करना recitation), वेला-पत्रिका (time-table), अग-साधन (कसरत), भूगर्भशास्त्र या खनिज-शास्त्र (geology), भौतिक शास्त्र, भौतिकी (physics), रसायन शास्त्र (chemistry), कादम्बरी (novel); व्याख्यान (टीका)।

पीछे चलकर निश्चित होगा कि तेक्नीकी शिक्षा मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली मे सारे भारत मे एकरूपता हो सकती है या नही। यदि एकरूपता हो जाय तो हिंदी को उच्चतम कक्षाओ मे (अर्थात् विश्वविद्यालय के स्तर पर) शिक्षा के माध्यम के तौर पर बरतने मे सुगमता होगी।

रामस्वरूप चतुर्वेदी

बाह तहसील की मिश्रित बोली

प्राप्त सामग्री के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्वी आगरा, विशेषत बाह तहसील की बोली, स्टेंडर्ड अथवा केन्द्रीय ब्रजभाषा नही मानी जा सकती। वस्तुत बाह तहसील की बोली ब्रज, कन्नौजी तथा बुदेली का एक सम्मिलित रूप है। इस बोली-सम्मिश्रण के पीछे कुछ विशिष्ट भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक कारण है। बाह की बोली का ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणात्मक ढाँचा ब्रज पर आधारित है तथा कन्नौजी के मिश्रण से बना है, और उसके शब्द-समूह मे काफी सख्या मे बुदेली शब्द मिलते हैं।

ध्वनितत्त्व की दृष्टि मे बाह की बोली मे कन्नौजी की एक प्रमुख विशेषता—समीकरण— की प्रवृत्ति मिलती है। **उद्द** (उरद), **दद्द** (दर्द), **बद्धा** (बरधा), **सद्दी** (सर्दी), **हद्द** (हल्दी) जैसे उदाहरण बाह के नमूने मे प्राय मिलते हैं। इस प्रवृत्ति की ओर डॉ० उदयनारायण तिवारी ने भी सकेत किया है, "ब्रजभाषा के पूरब के जिलो मे र् के बाद व्यजन का द्वित्व हो जाता है। यह विशेषता पडोस की बुदेली की उपभाषा भदौरी मे मिलती है।" (हिंदी भाषा का उद्‌गम और विकास, पृ० २४०)।

समीकरण के समान ही बाह की बोली मे बहु-प्रचलित सधि भी मुख्यत कन्नौजी जैसी ही है। **घस्सें** (घर सें) **भोंट्ठीक** (भोंत् ठीक), **सिग्गरई** (सिग् घर् की), **होतो** (होत् हो)। बाह की बोली के इस प्रकार के प्रयोगो को कन्नौजी मे भी देखा जा सकता है।

बाह की बोली मे व्यजनात शब्दो मे ह्रस्वतर इकार अथवा उकार जोडने की प्रवृत्ति (जैसे-जाति, पोंरि, घरु) मिलती है। यह ध्वन्यात्मक विशेषता आगरा जिले की पश्चिमी बोली मे सामान्यत नही मिलती। पूर्वी प्रदेश मे यह प्रवृत्ति कन्नौजी से तुलनीय है। डॉ० उदयनारायण तिवारी के शब्दो मे "गगा के उत्तर तथा कानपुर की कन्नौजी मे व्यजनात पदो से एक लघु इ सयुक्त कर दी जाती है—हिंदी के ह्रस्व व्यजनात तद्‌भव शब्द, विकल्प से कन्नौजी मे उकारात हो जाते है।" (हिंदी भाषा का उद्‌गम और विकास, पृ० २४९-२५०)। पुल्लिग शब्दो मे उ तथा स्त्रीलिग शब्दो मे इ जोडा जाता है।

व्याकरणात्मक रूपो के क्षेत्र मे बाह की बोली मे भविष्य निश्चयार्थ क्रिया के ब्रज तथा कन्नौजी दोनो ही रूप मिलते है। ब्रज का ग् भविष्य (चलोंगो, चलोंगी) तथा कन्नौजी का ह् भविष्य (चलिहो, चलिहे) दोनो ही बाह की बोली मे प्रयुक्त होते है। भविष्यत् काल का यह ह् क्रिया-रूप वस्तुत पूर्वी ब्रजभाषा मे ही मिलता है—"दूसरे सयोगात्मक रूप ह् भविष्य के

नाम से प्रसिद्ध भविष्य निश्चयार्थ के है। इनका प्रयोग पूर्व के कुछ ज़िलो तक ही सीमित है।" (ब्रजभाषा, धीरेन्द्र वर्मा, २२६)

बाह तहसील की बोली मे बहु-प्रयुक्त सहायक क्रिया के रूप हुतु, हुतो, हुती, हुते, तीं मुख्यत कन्नौजी मे मिलते हैं। ब्रज तथा कन्नौजी की अभिन्नता स्थापित करते हुए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी इस स्थिति की ओर सकेत किया है (ब्रजभाषा, ४७५)। डॉ० उदय-नारायण तिवारी भी सहायक क्रिया के इन रूपो को मुख्यत कन्नौजी का मानते हैं (हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० २४६)। हतो का प्रयोग समीपवर्त्ती बुदेली बोली मे भी मिलता है।

बाह की बोली मे सहायक क्रिया का एक रूप 'रहें' मिलता है, जो मुख्यत मूल क्रिया के रूप मे प्रयुक्त होता है (एकु मोंडा रहें, द्वै भइया रहें)। यह 'रहें' रूप मुख्यत अवधी का है ओर कन्नौजी के माध्यम से बाह की बोली मे आया प्रतीत होता है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा भी इन रूपो को पूर्वी हिंदी प्रदेश से आया मानते हैं (ब्रजभाषा, २३०)।

बाह की बोली मे वर्तमानकालिक सहायक क्रिया का रूप प्राय ग प्रत्यय के साथ सयुक्त मिलता है—हैंगों, यद्यपि इस ग प्रत्यय से यहाँ भविष्य का भाव व्यक्त नही होता। यह हैंगों रूप भी वस्तुत पूर्वी सीमातीय जिलो से आया लगता है (ब्रजभाषा, २३३)।

बाह की बोली उपर्युक्त कई व्याकरणात्मक रूपो की दृष्टि से कन्नौजी से समता रखने पर भी मुख्यत ब्रजभाषा के व्याकरण पर आधारित है। इस बोली मे-ओं क्रिया रूपो (जैसे—चलों) का होना इसका सब से बडा प्रमाण है। कन्नौजी विशुद्ध -ओ (चलो) बोली है, और इस रूप का कोई मिश्रण हमे बाह की बोली मे नही मिलता।

बाह की मिश्रित बोली मे बुदेली का मिश्रण मुख्यत शब्द-समूह के क्षेत्र मे है। बाह तहसील तथा सीमावर्ती बुदेली क्षेत्र (सम्मिलित रूप मे भदावर प्रदेश) के प्राचीन सास्कृतिक सपर्क तथा निकटता का सबसे बडा उदाहरण बुदेली का यह शब्द-समूह ही है, जो बाह तहसील मे सामान्यत प्रयुक्त होता है। बहुत से शब्द इस प्रदेश मे प्रचलित बुदेली लोककथाओ तथा लोकगीतो के माध्यम से आये होगे। बाह तहसील मे प्रचलित बुदेली शब्दो की एक सक्षिप्त सूची नीचे दी जा रही है—

कबूलसूरत (वि०)—अत्यन्त सुन्दरी, खँगोंरिया (स०)—दरिद्र ग्रामीण स्त्रियो के गले का एक विशेष आभूषण, खॉद् (स०)—दो टीलो के बीच की नीची भूमि, गगाल् (स०)—पानी भरने का पीतल अथवा मिट्टी का घडा, जड्ड (स०)—टक्कर, ज्वाब् (स०)—उत्तर, जोरिकें (क्रि०)—इकट्ठा करके, झकूटा (स०)—छोटी झाडी, डॉक् (स्त्री०)—तेज चलने वाली ऊँटनी, तम्हेंरों (स०)—ताँबे का घडा, तरियाँ (स०)—तरह, दोंची (स०)—जमीन अथवा सडक या किसी बरतन मे पडे गड्ढे, नंहनों (वि०)—छोटा, निसाफ (सं०)—न्याय, बाबा (स०)—पितामह, बिलिया (स०)—कटोरी, बीँधे (क्रि०)—उलझ गये, बेला (स०)—कटोरा, भटार् (स०)—गुफा, भोंजी (स०)—भाभी, लेज् (स०)—कुँए से पानी खीचने की रस्सी, हुस्काओं (क्रि०)—उकसाया।

कुछ बुदेली मुहावरे भी बाह् की बोली मे मिलते ह—हूड पें धरे (निश्चित, अनिवार्य), बक न फटी (मुँह् से बोल न निकला)।

बुदेली प्रदेश तथा बाह् तहसील वस्तुत एक ही सास्कृतिक इकाई के अग है। इस प्रदेश का नाम भदावर अब भी प्रचलित है, जिसका अत्यत प्राचीन राजकुल आज भी बाह् के नौगवॉ गॉव मे वर्तमान है। यह भदावर प्रदेश भौगोलिक, सास्कृतिक तथा मध्यकालीन इतिहास की दृष्टि से एक पूरी इकाई है। बाह् के गॉवो मे ग्राम देवताओ तथा भूमियो से सबद्ध कई बुदेली लोककथाएँ प्रचलित है। रजपूती होरी तथा लेद, बुदेलखड के दो प्रिय लोकगीत बाह् मे भी जन-प्रचलित है। भदावर प्रदेश की बोली को 'भदावरी' कहा गया है, यद्यपि इस 'भदावरी' या 'भदौरी' बोली को भ्रमवश बुदेली की एक उपबोली मान लिया गया है। वस्तुत भदावर के केन्द्रस्थान बाह् तहसील की बोली मुख्यत ब्रज है, तथा उसमे कन्नौजी की कई प्रमुख विशेषताएँ मिलती है। बुदेली का मिश्रण इस बोली मे शब्द-समूह तथा मुहावरो के क्षेत्र मे है। इस प्रकार बाह् तहसील की बोली एक मिश्रित अथवा सीमावर्त्ती बोली है, जिसमे ब्रज, कन्नौजी तथा बुदेली की विशेषताओ का सम्मिलन हुआ है। इन तीनो बोलियो के एक सम्मिलित साहित्य की चर्चा विद्वानो ने की है (राहुल साकृत्यायन 'मध्यदेशीय भाषा' की प्रस्तावना)। लोक-साहित्य के क्षेत्र मे भी इस सम्मिलन की स्थिति को देखा जा सकता है।



रामपूजन तिवारी

'ब्रजबुलि' की भाषागत तथा व्याकरणगत विशेषताएँ

'ब्रजबुलि साहित्य' पूर्वी प्रदेशो के वैष्णव भक्त कवियो की शताब्दियो की साधना का फल है। वास्तव मे 'ब्रजबुलि' उस काव्य-भाषा का नाम है जिसके माध्यम से मिथिला, नेपाल, बगाल, आसाम और उडीसा आदि पूर्वी प्रदेशो के भक्त कवि प्रधान रूप से कृष्ण की विभिन्न लीलाओ के वर्णन के बहाने अपनी भक्ति निवेदित करते रहे है। ईसवी सन् की पन्द्रहवी शताब्दी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दिनो तक कम या बेश विभिन्न कवि इस काव्य-भाषा को अपनाते रहे है। अगर विद्यापति का जन्म १३४० ई०[१] के लगभग मान लिया जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि ईसवी सन् की चौदहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही ब्रजबुलि-काव्य का प्रणयन प्रारभ हो गया था। जो भी हो, ईसवी सन् की चौदहवी शताब्दी के अन्तिम दिनो और सोलहवी शताब्दी मे मिथिला से बाहर बगाल मे वैष्णव गीति-कविताओ (पदो) की जैसे बाढ-सी आ गयी।

'ब्रजबुलि' शब्द बहुत हाल का है। उस विशेष साहित्य के लिए 'ब्रजबुलि-साहित्य' शब्द का प्रयोग बहुत इधर आकर होने लगा है। 'ब्रजबुलि' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ईसवी सन् की उन्नीसवी शताब्दी मे मिलता है। बगाली कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त की रचना मे पहले-पहल इस शब्द का प्रयोग हुआ है। सभव है, इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी मिल जाय, लेकिन कम से कम अभी तक तो इसका पता नही चला है।

'ब्रजबुलि' शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर भी पडितो मे कम मतभेद नही है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि 'ब्रजबुलि' ब्रजभाषा नही है। बहुतो को भ्रम है कि यह ब्रजभाषा का बगाली सस्करण है। हम आगे चलकर देखेगे कि व्याकरण-सबधी इसकी अपनी विशेषताएँ है और उससे ब्रजभाषा के व्याकरण का कोई सबध नही। फिर भी विद्वानो ने इसे स्वीकार किया है कि भाषा-तत्त्व की दृष्टि से 'ब्रजबुलि' और ब्रजभाषा का सबध है।[२] 'ब्रजबुलि' मे प्रयुक्त शब्दो को देखने से यह सहज ही पता चल जाता है कि इसमे बँगला के शब्दो का कम और ब्रजभाषा के शब्दो का अधिक प्रयोग है। वैसे इस बात को स्वीकार कर लेने पर भी मात्रा के सबध मे बहुतो का मतभेद है।

---

१. डा० जयकान्त मिश्र : हिस्ट्री ऑफ़् मैथिली लिटरेचर, भाग १, पृष्ठ १३४। डा० सुकुमार सेन ने चौदहवी शती के अन्तिम चरण में जन्म माना है; बङ्गला साहित्येर इतिहास, पृष्ठ ९। २. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी : ऑरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ़् बेंगाली लैंग्वेज, पृ० १०३।

'ब्रजबुलि' की उत्पत्ति के सबध मे कई मत है। डा० ग्रियर्सन का कहना है[3] कि ब्रजबुलि एक वर्णसकर भाषा है जो बगाली पदकर्त्ताओ द्वारा विद्यापति के पदो के अनुकरण से उत्पन्न हुई तथा यह न बँगला है और न मैथिली ही। डा० सुकुमार सेन ने इस मत को स्वीकार किया था, लेकिन बीस वर्ष बाद उन्होने अपने मत मे परिवर्तन किया है, जिसकी चर्चा हम आगे करने जा रहे है। डा० दीनेशचन्द्र सेन का मत है कि "बृज्जि नाम के मिथिला के क्षत्रिय वश की भाषा—ब्रजबुलि—वग-साहित्य के बहुत से पृष्ठो को आच्छादित किये हुए है।"[5] इस मत को स्वीकार करने मे कई आपत्तियाँ है। विद्यापति के समय अथवा उनके पहले इस नाम की कोई भाषा मिथिला मे थी, इसका पता नही चलता। बृज्जि जाति का उल्लेख बुद्धदेवकालीन पालि-साहित्य मे मिलता है। ये व्रात्य क्षत्रिय थे। बृज्जि जाति को अगर यह मान ले कि वह मिथिला की निवासी थी, तो भी यह मानना कठिन है कि दो हजार वर्षो बाद विद्यापति के काल तक उस जाति की भाषा चलती आ रही थी। इसे क्लिष्ट कल्पना के सिवा कुछ नही कहा जा सकता।

डा० सुकुमार सेन ने अपने मत-परिवर्तन को स्वीकार करते हुए यह बतलाया है कि 'ब्रजबुलि' की उत्पत्ति अवहट्ठ से हुई है।[6] इसके सबध मे भी हमे आगे कहने का मौका मिलेगा। 'ब्रजबुलि' शब्द की व्युत्पत्ति के सबध मे डा० सुकुमार सेन का कहना है कि यह शब्द 'ब्रजावली बोली' से बना है। उन्होने यह भी बतलाया है कि इस विशिष्ट भाषा के लिए माधवदेव ने ईसवी सन् की सोलहवी शताब्दी के मध्य मे 'ब्रजावली' शब्द का प्रयोग किया है।[7] माधवदेव आसाम प्रदेश के वैष्णव भक्त एव प्रचारक शकरदेव के शिष्य थे। डा० सेन ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि आसामी के अन्य शब्दो के समान 'ब्रजावली' का रूपान्तर बँगला मे 'ब्रजाली' होना चाहिए था—जैसे आसामी के 'रूपावली' शब्द का बँगला मे 'रूपाली' हो जाता है। उनका अनुमान है कि 'ब्रजाली बुलि' से 'ब्रजबुलि' बना है।[8] इस काव्य-भाषा की व्यापकता के सबध मे उनका कहना है कि अवहट्ठ से उत्पन्न होने के कारण इसे कनिष्ठतम सर्वभारतीय आर्यभाषा कह सकते है जिसका प्रसार मिथिला, नेपाल, बगाल, आसाम और उडीसा मे हुआ। भिन्न-भिन्न अचलो मे इसके रूप मे थोडा परिवर्तन हो जाने के कारण स्थानीय विशेषताएँ है।

डा० सुकुमार सेन का मत 'ब्रजबुलि' की व्युत्पत्ति के सबध मे तर्कसगत न होकर अनुमान पर ही अधिक आधारित है। वास्तव मे अधिक तर्कसगत यह मालूम होता हे कि इस भाषा मे कृष्ण की लीलाओ का वर्णन है, अतएव कृष्ण की लीला-भूमि 'ब्रज' के साथ इसका सबध जोड इसे 'ब्रजबोली' समझा गया होगा, और वही बगाल मे 'ब्रजबुलि' बन गया होगा। भाषा का यह नामकरण किसी पडित और भाषाशास्त्र के विद्वान् का दिया हुआ नही होगा। 'ब्रजभाषा' से 'ब्रजबुलि' तक पहुँचना भाषाशास्त्र के नियमो से भले ही दूर पडता हो, लेकिन साधारण जनता

---

३. ग्रियर्सनः मैथिली चेस्टोमैथी, पृष्ठ ३४। ४. डा० सुकुमार सेनः हिस्ट्री ऑफ् ब्रजबुलि लिटरेचर, पृष्ठ १-२। ५. दीनेशचंद्र सेनः बंग-भाषा ओ साहित्य (तृतीय संस्करण), पृष्ठ २२६। ६. विश्वभारती पत्रिका (बँगला), कार्तिक-पौष १३६२, पृष्ठ ११५। ७ वही, पृष्ठ १११। ८. वही, पृष्ठ १११-११२।

के लिए उसमे किसी प्रकार की कठिनाई नही। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तो का वृन्दावन के साथ घनिष्ठ सबध रहा है और ब्रजभाषा मे लिखे उनके पद भी मिलते है। अतएव 'ब्रजबुलि' शब्द गढते समय ब्रजभाषा का ध्यान मे आ जाना कुछ कठिन नही।

डा० सुकुमार सेन के मत का हमने ऊपर ज़िक्र किया है कि 'ब्रजबुलि' की उत्पत्ति अवहट्ठ से हुई है। अपभ्रश कालक्रम से साहित्य की भाषा बन चुका था। इसे परिनिष्ठित अपभ्रश कह सकते है। यह परिनिष्ठित अपभ्रश उत्तर भारत मे आसाम से राजस्थान तक एक सामान्य काव्य-भाषा का रूप ले चुका था। ईसवी सन् की नवी शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की बारहवी शताब्दी तक इस काव्य-भाषा का इस सम्पूर्ण क्षेत्र पर आधिपत्य बना रहा। इस काव्य-भाषा मे भी धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था, लेकिन इतना निश्चित है कि अल्पाधिक ईसवी सन् की चौदहवी शताब्दी तक इसका उपयोग इस भूभाग मे होता रहा। लेकिन साथ ही साथ विभिन्न प्रदेशो की बोलियो का भी विकास हो रहा था। ईसवी सन् की पन्द्रहवी शताब्दी तक आते-आते इन बोलियो मे कुछ का विकास इतना अधिक हुआ कि उनमे भी साहित्य-रचना होने लगी। परवर्ती अपभ्रश और विभिन्न बोलियो के बीच का जो आपभ्रश का रूप था, उसका भी काव्य-भाषा के रूप मे उपयोग होता रहा और इस परवर्ती अपभ्रश को ही 'अवहट्ठ' कहा गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अवहट्ठ परिनिष्ठित अपभ्रश और आधुनिक विभिन्न प्रदेशो की विकसित बोलियो के बीच की कडी जैसा है।

अवहट्ठ का भी व्यापक भाव से काव्य-भाषा के रूप मे उपयोग होता रहा। परिनिष्ठित अपभ्रश की तरह यह भी उत्तर भारत मे एक सामान्य काव्य-भाषा बना रहा। डा० सुनीति-कुमार चटर्जी ने 'ब्रजबुलि' के काव्य-भाषा के रूप मे ग्रहण किये जाने के सबध मे आलोचना करते हुए अवहट्ठ का भी जिक्र किया है। उनका कहना है कि 'ब्रजबुलि' जैसी बनावटी भाषा जब कई प्रदेशो मे काव्य-भाषा के रूप मे ग्रहण की जा सकती है तो इससे यह प्रमाणित करना कठिन नही है कि शौरसेनी अपभ्रश अर्थात् अवहट्ठ मध्यदेश के अलावा बगाल आदि प्रदेशो मे भी अपना आधिपत्य जमाये हुए था।[९] लेकिन यहाँ एक बात ध्यान मे रखना ज़रूरी है कि प्रान्त विशेष की छाप उस पर अवश्य लगी हुई थी। अतएव सामान्य काव्य-भाषा होने पर भी विभिन्न अचलो के शब्द, प्रकाशन-भगी आदि को अपने भीतर वह समाहित किये हुए था। यही कारण है कि शिवनन्दन ठाकुर, डा० उमेश मिश्र आदि ने अवहट्ठ को शौरसेनी अपभ्रश नही माना है।[१०] बहुत लोगो ने अवहट्ठ के दो भेद—पूर्वी अवहट्ठ और पश्चिमी अवहट्ठ किये है।

'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग पहले-पहल अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) ने 'सदेश रासक'[११] मे किया है। यह रचना सभवत ईसवी सन् की बारहवी शताब्दी की है। 'अवहट्ठ' शब्द का

---

९. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी: ऑरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ् बेंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १०४। **१०. शिवप्रसाद सिंह: कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, पृष्ठ ८।**
११. संदेशरासक, ६।

प्रयोग जोतिरीश्वर ठाकुर (ईसवी सन् की चौदवी शताब्दी) के 'वर्णरत्नाकर' तथा विद्यापति की 'कीर्तिलता' मे मिलता है।

अवहट्ठ सबधी उपर्युक्त विवेचना को ध्यान मे रखकर अगर हम डा० सुकुमार सेन के मत की परीक्षा करे तो यह मानने मे आपत्ति का कोई कारण नही हो सकता कि 'ब्रजबुलि' की उत्पत्ति अवहट्ठ से हुई है, लेकिन उसे कनिष्ठतम सर्वभारतीय आर्यभाषा मानना कठिन है। 'ब्रजबुलि' की जो रचनाएँ आज उपलब्ध है उनसे इस बात को प्रमाणित करना सभव नही दीखता। अगर 'ब्रजबुलि' सर्वभारतीय काव्य-भाषा होती तो विभिन्न प्रान्तो की उपलब्ध सम-सामयिक रचनाओ मे इसका रूप देखने को मिलता। पूर्वी प्रान्तो मे भी यह बात देखने को नही मिलती। ईसवी सन् की तेरहवी शताब्दी से ही मिथिला मे 'ब्रजबुलि' का परिचय मिलने लगा है। नेपाल मोरग से उपलब्ध नाटको के गीतो मे 'ब्रजबुलि' के दर्शन ईसवी सन् की चौदवी शताब्दी से होने लगते है। बगाल, आसाम और उडीसा मे ईसवी सन् की पन्द्रहवी शताब्दी मे 'ब्रजबुलि' की रचनाएँ मिलती है। इससे पहले की रचना अभी तक उन प्रदेशो मे नही मिली है।

अतएव बगाल के ब्रजबुलि-साहित्य को हम ध्यान मे रखे तो यह कहने मे सकोच नही होगा कि 'ब्रजबुलि' मैथिली से प्रभावित एव खिचडी भाषा है। विद्यापति के राधाकृष्ण विषयक ललित पदो ने बगाल के शिक्षित समुदाय को अत्यधिक प्रभावित किया। विद्यापति का बगाल मे बहुत समादर हुआ। उनके अनुकरण पर उन्ही की भाषा मे बगाली कवियो ने काव्य-रचना करनी शुरू की। यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि उनकी रचनाओ मे बॅगला के शब्द और बॅगला भाषा की विशेषताओ का समावेश हो। बगाली कवियो ने विद्यापति की पदावली का अनुकरण करने जाकर एक नयी भाषा की ही सृष्टि कर डाली। इसे ही ग्रियर्सन ने साहित्य के इतिहास की एक अद्भुत बात कही है।[१२] यह नई काव्य-भाषा ही 'ब्रजबुलि' है।

'ब्रजबुलि' की भाषागत विशेषताओ पर सबसे पहले श्री सतीशचन्द्र राय एम० ए० ने प्रकाश डालने का प्रयास किया था। 'पदकल्पतरु' के पचम खण्ड मे वैष्णव पदकर्त्ताओ द्वारा रचित प्राय तीन हजार से अधिक पदो की सूची, शब्द-सूची तथा भूमिका आदि उन्होने प्रस्तुत की है। इसी मे उन्होने ब्रजबुलि-व्याकरण तथा उसकी भाषागत विशेषताओ पर भी थोडे मे प्रकाश डाला है। बाद मे श्री सुकुमार सेन ने इसके सबध मे अपनी पुस्तक 'भाषार इतिवृत्त' मे कुछ विस्तार से विचार किया है।

'ब्रजबुलि' के पदो को देखने से यह सहज ही मालूम हो जाता है कि 'ब्रजबुलि' मे तत्सम शब्दो के प्रयोग की ओर अधिक झुकाव है। बहुत से ऐसे तत्सम शब्दो का प्रयोग भी मिलता है जो 'ब्रजबुलि' की उच्चारण-सबधी विशेषताओ के कारण कुछ परिवर्तित हो गये है। उच्चारण के कारण ही बहुत से ब्रजभाषा के शब्द भी कुछ परिवर्तित रूप मे 'ब्रजबुलि' मे मिलते है। अरबी, फारसी शब्द बहुत ही कम प्रयुक्त हुए हैं।

'ब्रजबुलि' की उच्चारण-सबधी सबसे पहली विशेषता यह है कि दीर्घ स्वरो का सब समय

---

१२. मैथिली चेस्टोमैथी, पृष्ठ ३४।

दीर्घ ही जैसा उच्चारण नही होता। छन्दानुरोध से दीर्घ स्वर ह्रस्व की तरह भी उच्चरित होते है। इसी प्रकार सयुक्ताक्षर के पूर्व का ह्रस्व स्वर सब समय दीर्घ जैसा ही उच्चरित नही होता। जैसे 'यमुनाक तिर उपवन उदबेगल' मे 'ना' को दीर्घ जैसा पढने पर छन्दोभग होगा। इसी प्रकार 'भनइ विद्यापति' मे 'वि' को ह्रस्व जैसा ही पढना होगा। शब्द के प्रारभ मे यदि 'य' हो तो उसका उच्चारण 'ज' होगा। स्वर-ध्वनि के परिवर्तन के कुछ निम्नलिखित उदाहरणो से 'ब्रजबुलि' की उच्चारण सबधी विशेषता को समझा जा सकता है—

अ आ अजानु<आजानु, अतुर आतुर, अभरण<आभरण, बालुक<बालुका, पताक<पताका।

आ<अ अनुपाम<अनुपम, आति<अति, मिलान<मिलन, आकुर<अक्रूर, आखर<अक्षर।

इ<ई हिन<हीन, रित<रीति, निति<नीति, दासि<दासी, कमनिय<कमनीय।

ई∠इ अमीलन<अमिलन।

इ<य सति<सत्य, लावणि<लावण्य, लखि<लक्ष्य, भागि<भाग्य, निति नित्य।

ऊ<उ मूख<मुख।

अ<ओ मनरथ<मनोरथ, मनभव<मनोभव, कपल<कपोल, गोरचन<गोरोचन।

अ (विप्रकर्ष) लुबध<लुब्ध, मुगध<मुग्ध, भरम<भ्रम, शबद शब्द, सपन<स्वप्न, अविघन<अविघ्न।

इ (विप्रकर्ष) सिनेह<स्नेह, सिनान<स्नान, लखिमि-लछिमि<लक्ष्मी।

उ (विप्रकर्ष) पुहुप<पुष्प, खुबुध<खुब्ध, धुरुव<ध्रुव।

रि<ऋ और कभी ऋ का लोप . तिरपित<तृप्त, तिरि<स्त्री, तिरिषा<तृषा, त्रीणे<तृण, दढ<दृढ।

इसी प्रकार व्यजन-ध्वनि के परिवर्तन मे कुछ निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ 'ब्रजबुलि' मे देखने को मिलती है—

(अ) 'म' को छोड कर स्पर्श वर्णो के पहले अगर 'श', 'ष', 'स' हो तो उनका प्राय ही लोप हो जाता है, जैसे, निचल<निश्चल, दीठ, दिठि<दृष्टि, जेठ<ज्येष्ठ, ओठ<ओष्ठ, गोठ<गोष्ठ, दुतर<दुस्तर, थीर, थिर<स्थिर, अथिर<अस्थिर, थल, अथल<स्थल, कन्ध<स्कन्ध, खलित<स्खलित, तिमित<स्तिमित, न्यासी<सन्यासी।

(आ) छ<स छिरि<श्री, उछाह<उत्साह, चिकिछा<चिकित्सा, छरम<श्रम।

(इ) ख<ष, क्ष अनिमिख<अनिमिष, दोख<दोष, हरख, हरिख<हर्ष, अनुखन<अनुक्षण,, अलखी, अलखि<अलक्ष्मी, आखर<अक्षर, कटाख<कटाक्ष, औखद<औषधि।

(ई) कभी-कभी ध<द अवसाध<अवसाद, औखद<औषधि।

(उ) स्वरो के बीच की महाप्राण ध्वनि ह कार मे परिवर्तित हो जाती है जैसे पहुँ, पहु<प्रभु, मुह<मुख, मेह<मेघ, बहू<वधू, बिहि<विधि, नाह<नाथ, पुहप, पुहुप<पुष्प, शोहा<शोभा।

(ऊ) कभी-कभी 'स' का 'ह' हो जाता है, जैसे--माह < मास।

(ए) युग्म व्यजनो मे एक के लोप हो जाने पर पूर्ववर्ती स्वर साधारणत दीर्घ नही होता, जैसे—उलास < उल्लास, उध < उर्ध्व, उच < उच्च।

(ऐ) कभी-कभी स्वरो के बीच के व्यजन का लोप हो जाता है और य-श्रुति का आगम होता है, जैसे—कनय < कनक, नायर < नागर, नायरी < नागरी, मयमत्त, मयमद मदमत्त।

(ओ) कभी-कभी 'ड' का 'र' मे भी परिवर्तन देखने को मिलता है, जैसे--जोरा < जोडा, खरग < खड्ग।

(औ) कभी-कभी छन्द के अनुरोध से वर्णों का लोप हो जाता है, जैसे—दन्द < द्वन्द्व, पयाग < प्रयाग, धनि < ध्वनि, सतर < सत्वर, सतन्तर < स्वतत्र, मरन्द < मकरद, अवगान, अवगाह < अवगाहन।

(अ) छन्दानुरोध से नासिका स्थान वाले व्यजन चन्द्रबिन्दु मे परिवर्तित हो जाते हे, जैसे—पाँति < पवित, आँकुर अकुर, पाच < पच, आँचर < अञ्चल, आँतर < अन्तर, भराँति < भ्राति, आँत < आत्मा।

'बजबुलि' के शब्द-रूप की एक विशेषता हिन्दी, बँगला, मेथिली जैसी है और वह विशेषता यह है कि 'ब्रजबुलि' मे द्विवचन की कोई विभक्ति नही है। वैसे 'ब्रजबुलि' मे बहुवचन के लिए भी कोई विभक्ति-चिह्न नही है। बहुवचन का सकेत करने के लिए 'आदि', 'सब , 'गण' आदि शब्दो का प्रयोग किया जाता है।

'ब्रजबुलि' मे कर्त्ता के एकवचन मे साधारणत किसी विभक्ति का प्रयोग नही होता है। वैसे कभी-कभी 'ए' तथा 'उ' का प्रयोग करते है। कर्म कारक की कोई विभक्ति नही होती, इसलिए कर्त्ता और कर्म का निर्धारण वाक्य के अर्थ द्वारा होता है।

तृतीया मे 'ए', 'हि', 'हि' का प्रयोग देखने को मिलता है, जैसे—'झर झर लोरहि लोलित काजर' (लोरहि=अश्रु से), 'करहि निवारत गोरी' (करहि हाथ से)।

गौण कर्म-चतुर्थी मे 'क', 'के', 'कि' विभक्ति का प्रयोग मिलता है जेसे—'राइक परिहरि' (राइक=राधिका को)।

पचमी मे 'हि' 'हि' 'से' 'सो' 'सञे' 'ते' 'ते' विभक्ति का प्रयोग मिलता है, जैसे--कुञ्जहि बाहिर भेल, वनते गिरिधर घर आवे; सेज सञे उठल।

षष्ठी मे 'क', 'का', 'कि', 'की', 'कु', 'के', 'को', 'कर', 'करु', 'केरि', 'हक', 'कहु' विभक्तियो का प्रयोग देखने को मिलता है, जैसे—पेखलुँ जनु थिर बिजुरिक माला, जेठकि मास, हरिको नाम, रूप के कूप, पिता-केरि ठाइ, मुनिहक मानस, हरिकहु चरणा।

सप्तमी का अधिकरण कारक मे 'ए', 'हि', 'हिँ', 'हुँ', 'मि', 'मे', 'म', 'मह' विभक्तियो का प्रयोग देखने को मिलता है, जैसे—इह सब भुवने, मरमहि, निँदहुँ (नीद मे), ता मह (उसमे)।

'ब्रजबुलि' मे सर्वनाम की अन्य भाषाओ की तरह अपनी विशेषता है। वैसे उस पर ब्रजभाषा, बँगला, तथा मैथिली का प्रभाव पडा है। 'ब्रजबुलि' मे सर्वनाम के बहुवचन का स्वतन्त्र रूप नही है।

(क) अस्मद् शब्द १ कर्त्ता—हाम, हम, हामु, हामि, हामे, मञि, मुञि, मो। २ कर्म—मुझे, हमे, हामे, हामा, हामु, हामाकु, हामाके, मोइ, मोय, मोहे। ३ करण—मोय, मोहे, हमे। ४ सम्प्रदान—मुझे, हमे, हामे। ५ अपादान—हसा सञे। ६ सबध—मोर, मोरि, मोइ, मोय, मो, मेरा, मेरि, मेरे, मोहर, मोहरि, हामार, हमार, हामारि, हमारि, हामरा, हामक, हामुक, हामकेरि। ७ अधिकरण—हसे, हासे, मोहे।

(ख) युष्मद् शब्द १ कर्त्ता—तुहुँ, तुहु, तु, तो, तोइ। २ कर्म—तोहे, तुहे, तोइ, तोय ३ करण—तो सों, तोहे, तुया ४ सम्प्रदान—तोहे। ५ अपादान—तो सञे, तुहुँ सञे। ६ सबध—तुया, तुय, तुयाक, तुहुँक, तुहुँकर, तोहे, तोहार, तुहार, तोहारि, तोहाकेरि, तोरा, तेरा, तेरि, तेरे ७ अधिकरण—तोहे, तुहे, तोहारि।

(ग) तद् शब्द १. सो, सोय, सोइ, से, सेह, सेहि, तुह २ सो, सोइ, तहि, ताहि, ताहे, ताह ३ करण—ताय, तासञे ४ सम्प्रदान—ताहे। ५ अपादान—ता सञे। ६ सबध—तछु, ता, ताक, ताकर, ताकेरि, तह्निक, तिह्निक ७ अधिकरण—ताहे, ताहि, ताह, तहि, तासु, तछु, तामह।

(घ) यद् शब्द ('य' का उच्चारण 'ज' होगा) १ कर्त्ता—यो, योइ, योहि, ये, येह २. कर्म—याहे ३, करण—या सञे। ४ सम्प्रदान—याहे ५ अपादान—या सञे ६ सबध—यछु, यछुका, याक, यॉक, याकर, याकेरि, याके, यॉके, याहे, या ७ अधिकरण—याहे, यासु।

(ङ) एतद् शब्द १ कर्त्ता—ए, एह, इ, इह २ कर्म—एतहुँ ३, सबध—अछु, अछुक, इह्निक, इन्के, इन्कि, इहक, इहकर।

(च) किम् शब्द १ कर्त्ता—को, कोँइ, केह, केहु, कौन, कौने, कि, किये, कीये २ कर्म—काहु, काहुके, काह, काय, काहि, काहे, कि ३ करण—क, काहाँ ४ सबध – काह, काय, काहु, काहुक, कहुक, काहे ५ अधिकरण—काहाँ, काहे कहि।

(छ) अदस् शब्द १ कर्त्ता—उह, उह्नि, ओ, ओइ, ओहि २ कर्म—उहे ३ सबन्ध—ओर, उह्नक, उह्निक, उह्नके, उन्कि ४ अधिकरण–उनहि, उनते।

निम्नलिखित कुछ क्रियाविशेषण शब्द 'ब्रजबुलि' मे प्रयुक्त होते है। 'यहाँ' के लिए 'इथि' 'इथे', 'इह', 'वहाँ' के लिए 'तहि', 'ततहि', 'ताँहा', 'तथि', 'ततिहुँ', 'ताँहि', 'जहाँ' के लिए 'याहाँ', 'याहिँ', 'यहिँ', 'यथि' ('य' का उच्चारण 'ज' होगा), तब के लिए 'तब', 'तैखने', 'तहिँ', 'कहाँ' के लिए 'कथि', 'कथिहुँ', 'काहाँ', 'काहुँ', 'अथवा' के लिए 'किए', 'क्यो' के लिए 'काहे', 'किये', 'कमने', 'कथि', 'कति'।

'ब्रजबुलि' की क्रियाओ के तीनो कालो की निम्नलिखित विशेषताएँ देखने को मिलती है

(क) वर्तमान काल १ उत्तम पुरुष मे धातु मे अ, इ, उ, ओँ, ओ, उँ, एहुँ सयुक्त करते है, जैसे—'कह', ,कहि', 'कहु', 'कहो', 'कहोँ', 'कहुँ', 'कहिएहुँ', 'प्रार्थहुँ'। वैसे 'हुँ' स्वतत्र रूप से भी प्रयुक्त हुआ है, जैसे—ताकेरि हुँ हामु दासकु दासा। यहाँ यह कह रखना भी आवश्यक है कि एकवचन और बहुवचन के रूप मे कोई भेद नही है।

(२) मध्यमपुरुष मे धातु मे अ, इ, उ, असि, आ और कही-कही 'ह' का भी योग किया हुआ मिलता है, जैसे—'रह', 'अनुमानि', 'रहु', 'पुछसि', 'काम्पा' तथा 'बाढह'।

(३) अन्यपुरुष मे धातु मे अ, आ, इ, उ, उँ, ए, अइ, अये, ये, ति, हु का योग करते है, जैसे—भण', 'भाणा', 'कॉपि', 'जागु', 'रहुँ', 'चले, 'पुछइ', 'उगये', 'गणिये', 'नटति', कही-कही 'न्ति', जैसे—'गरजन्ति', 'लेपहु'।

वैसे 'त' लगाकर भी वर्तमान काल का रूप 'ब्रजबुलि' मे मिलता है जैसे 'धरत', 'देत' 'आदि'।

(ख) भूतकाल मे साधारणत 'ल' या 'अल' का योग करते है १ उत्तमपुरुष मे 'लुँ', 'ल', 'लम' का प्रयोग मिलता है, जैसे—'पेखलुँ', 'कयल', 'कहलम'। २ मध्यमपुरुष मे 'लि' योग करते है, जैसे—'आछलि'। ३ अन्यपुरुष पुल्लिग मे 'ल' और स्त्रीलिग मे 'लि' का योग करते है जैसे—'देल', 'शुतलि'। वैसे तीनो पुरुषो मे धातु के अन्त मे आ, हि, ता, हुँ का योग करने से भी भूतकाल की क्रिया बनती है, जैसे—'भुलला', 'गेला', 'भेलहि', 'चललिहुँ'। इसी प्रकार तीनो पुरुषो मे धातु के अन्त मे 'इ' लगाने से भूतकाल की क्रिया बनती है, जैसे—'बिहसि', 'नेहारि'।

(ग) भविष्यत् काल मे साधारणत धातु के अन्त मे ब, बि, बे का योग करते है। १ उत्तमपुरुष बोलब, देबि, २ मध्यमपुरुष पैठबि, ३ अन्यपुरुष मिलायब, करबे।

(घ) अनुज्ञा मे अ, इ, उ, उँ का प्रयोग मिलता है, जैसे—मध्यमपुरुष 'कर' 'हेरह', अन्यपुरुष 'चलउ', 'रहुँ'। भविष्यत् काल मे मध्यमपुरुष मे 'इह' का प्रयोग करते है, जैसे—'करिह'।

'ब्रजबुलि' मे नामधातु का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे मिलता है, जैसे—नृत्यत < नृत्य, अनुमानइ < अनुमान, परलापसि < प्रलाप, विषादइ < विषाद, आदि।

असमापिका क्रिया मे साधारणत 'इ' का प्रयोग करते है, जैसे—देखि, पहिरि।

सस्कृत के समान ही 'ब्रजबुलि' मे समास की रीति है, जैसे—हृदय-पाषाण आदि।

अव्ययो मे 'जनि' का प्रयोग 'ब्रजबुलि' मे निषेध के लिए करते है।

व्याकरण और भाषा की दृष्टि से 'ब्रजबुलि' का अध्ययन वास्तव मे अभी तक समुचित ढग से नही हुआ है। डा० सुकुमार सेन ने थोडे विस्तार से 'ब्रजबुलि' के व्याकरण पर अपनी पुस्तक 'भाषार इतिवृत्त' मे प्रकाश डाला है।

हम प्रारभ मे ही देख चुके है कि वैष्णव पदकर्त्ताओ द्वारा रचित जो पद उपलब्ध है उन्हे देखने से यह सहज ही मालूम हो जाता है कि उनमे सस्कृत तत्सम शब्दो के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक थी। अरबी-फारसी शब्द भी उन पदो मे पाये जाते है, लेकिन बहुत ही कम। 'पदकल्पतरु' के पदो के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'पदकल्पतरु' अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण सग्रह है। बगाल के वैष्णव कवियो के पदो का इतना बडा और महत्त्वपूर्ण सग्रह सभवत दूसरा नही है। इसमे तीन हजार से भी अधिक पद सगृहीत है। इसमे 'ब्रजबुलि' तथा बगला के पदो के साथ-साथ कुछ ब्रजभाषा के कवियो के पद भी पाये जाते है, जैसे सूरदास, श्रीभट्ट, व्यास आदि के। कुछ

बगाली पदकर्त्ताओ ने ब्रजभाषा मे पदो की रचना की थी, वैसे पद भी 'पदकल्पतरु' तथा अन्य वैष्णव पद-सग्रहो मे पाये जाते है। 'पदकल्पतरु' मे ईसवी सन् की पन्द्रहवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों से प्रारभ कर ईसवी सन् की अट्ठारहवी शताब्दी तक के लगभग एक सौ तीस पदकर्त्ताओ के पद संगृहीत है। इस पद-सग्रह का नाम पहले सभवत 'गीत-कल्पतरु' था। 'पदकल्पतरु' का सग्रह गोकुलानद सेन ने किया था जो वैष्णवदास के नाम से प्रसिद्ध थे। उनका काल सन् १७१८ ई० के लगभग है। इस सग्रह के भिन्न-भिन्न कई सस्करण प्रकाशित हुए, लेकिन सतीशचन्द्रराय का सस्करण, जो पॉच खण्डो मे प्रकाशित हुआ है, सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है 'पदकल्पतरु' मे आये हुए अरबी-फारसी के शब्द निम्नलिखित है—

कलिजा (कलेजा), फारक (फारिग), कामान (कमान), कारिगर (कारीगर), किताप (किताब), कोमर (कमर), खुसि (खुशी), गुलाब, जबद (जब्त), जीद् (जिद), जुलुप (जुल्फ), जोर (जोर), तकल्लबि (तकल्लुफ), दरिया, दाग, दालाल, दिल, दोत (दावात), दोकान, बेगर (बगैर), आतर (इत्र), कलम, कागज, कुलुप (कुलफ, कुफ्ल), खत, नफर, नालिश, बाजार, बालिश, महल, माफ, मुहर, सरम, साहेब। अगर इस बात को ध्यान मे रखे कि 'पदकल्पतरु' के तीन हजार से भी अधिक पदो मे कम ही 'ब्रजबुलि' के पद है तो यह समझना कठिन नही होगा कि अरबी, फारसी के शब्दो का कितना कम प्रयोग हुआ है।

●

है। इसी प्रकार स० 'अपहरति' से कोकनी 'ह्वरता' (take away) रूप विकसित होता है। जब कि 'नयति', 'आनयति', 'हरते', 'अपहरति' रूप ऋग्वेद काल से प्रमाणित हो जाते है, 'लभते' का प्रमाण प्राचीन सस्कृत काल मे मिलता है। इस पर भी प्रा० भा० आ० (OIA) के मध्य-वर्ती वर्ग के वशजो ने उन शब्द-रूपो को प्रयोग से निष्कासित कर दिया है जो धातु 'नी' और 'हृ' से विकसित हुए थे। प्रश्न यह है कि कोकनी बोलियाँ पश्चिम मे मराठी तथा पूर्व मे असमी-बगाली-उडिया द्वारा अपनायी गयी सामान्य विकास परम्परा से विचलित क्यो हुई ? इस प्रकार के शब्द-रेखाचक्र (isoglass systems) का अनुसधान करके ऐसे कारणो का पता लगाना महत्वपूर्ण होगा, जो भिन्न स्थिति मे भिन्न प्रकार के शब्दचयन को निर्धारित करते है। इस प्रकार के अनुसधान-कार्य के लिए यह आवश्यक होगा कि पर्यायवाची शब्दो की एक ऐसी नियमावली निर्मित कर ली जाय, जिसके द्वारा सगोत्री समान सार्थक शब्दो के प्रत्येक प्रयोग को कालक्रमानुसार भिन्न-भिन्न वर्गो मे वर्गीकृत किया जा सके। भारत के सार्वभौमिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए यदि हमे ऐसी सामान्य शब्दावली के निर्माण मे सफलता प्राप्त करनी है जो भिन्न-भिन्न भाषाओ की वर्तमान प्रणाली पर ऊपर से कृत्रिम दबाव डाले बिना एक भाषा-परिवार से सबधित भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियो के बीच अन्तर्व्यवहार को सभव बना सके, तो इस प्रकार के अनुसधान-कार्य की महती आवश्यकता है।



टी० वाई० एलिजावेन्कोवा

हिन्दी भाषा की प्रेरणार्थक क्रियाओं में असुषमत्व*

परम्परागत व्याकरण के अनुसार हिन्दी मे किसी क्रिया के दो प्रेरणार्थक रूप सभव है। पहले प्रकार का प्रेरणार्थक रूप, जो क्रिया के मूल-रूप मे पर-प्रत्यय 'आ' (कभी-कभी 'ला') जोडने से बनता है अथवा मूल स्वर मे परिवर्तन करने से बनता है (स्वरो के एक निश्चित प्रकार के समूह होने की दशा मे), मूल क्रिया द्वारा जो अभिव्यक्त होता है उसे बलपूर्वक करने अथवा उसमे सहायता करने का अर्थ रखता है। दूसरे प्रकार का प्रेरणार्थक रूप, जो क्रिया के मूल-रूप मे पर-प्रत्यय 'वा' (कभी-कभी 'लवा') जोडने से बनता है—अनेक क्रियाओ के होने की दशा मे मूल स्वर मे एक परिवर्तन सभव है—मूल क्रिया द्वारा अन्तवर्ती की सहायता से (न कि स्वय अपने आप सीधे) जो अभिव्यक्त होता है उसे बलपूर्वक करने अथवा उसमे सहायता करने का अर्थ रखता है।

सकर्मकता के क्रमानुसार हिन्दी मे प्रभेदात्मक क्रियाएँ पूर्णत स्वतत्र नही होती और सकर्मकता-अकर्मकता के अनुसार उनमे बहुत बडा अन्तर हो जाता है। इस प्रकार के उदाहरणात्मक सदर्भो का अन्य प्रक्रियाओ से मिलना सभव है। सबसे पहले, उपपद के अर्थ बताने वाले प्रत्यक्ष पारस्परिक सबध का प्रयोग करना आवश्यक है। इस प्रक्रिया का महत्व यह है कि यह उन विशिष्ट गुणो को समझाने की सामर्थ्य रखती है, जो कि परिवर्तनशील वाक्य-रचना मे मन्द पड जाते है। स्पष्ट रूपगत विश्लेषण की दृष्टि से इस प्रकार की वाक्य-रचना के ऐसे ही उदाहरण होगे—

(१) मैने उसकी मदद की। (२) मैंने उसकी किताब ली।

यदि इस कथन को एक भिन्न रचना-शैली द्वारा रूपान्तरित किया जाय तो उनमे अन्तर दिखाई देता है—

(१) उसे मेरी मदद मिली। (२) मुझे उसकी किताब मिली।

कभी-कभी किसी भाषा की रचना-प्रणाली के विशिष्टीकरण को समझाने के लिए इसके अन्य भाषागत रूपान्तर का प्रयोग होता है, उदाहरणार्थ अनेक जगह हिन्दी मे परसर्ग का अर्थ अग्रेज़ी के भिन्न उपसर्गों द्वारा अनुवादित होगा—

दोस्त से मिलना—to meet a friend.

कलम से लिखना—to write with a pen

---

* 'asymmetry' के अर्थ में प्रयुक्त।

कमरे से जाना—to go out of the 100m

दिल्ली से बम्बई तक—from Delhı to Bombay

व्याकरणगत श्रेणी का निष्कर्ष न केवल उसकी आन्तरिक विशिष्टताओ—वरन् उस भाषा की अन्य श्रेणियो मे उसके स्थान—से भी निश्चित किया जाता है। रूप की दृष्टि से हिन्दी मे एक ही मूल से उत्पन्न अनेक क्रियार्थक शब्द-रूपो के प्रचलित प्रभेदात्मक प्रतिरूपो को पृथक करना सभव है —

धातु-रूप	धातु-रूप +आ	धातु-रूप+वा
बनना	बनाना	बनवाना
लिखना	लिखाना	लिखवाना

अधिकाशत ऐसी क्रियाओ के शब्द के पहले स्वर दीर्घ नही होते (फैलना, फैलाना, फैलवाना, लौटना, लौटाना आदि) और धातु-रूप का अन्त सदैव व्यजन से होता है। इस प्रकार के प्रतिरूप मे भिन्नता तब होती है जब मूल धातु-रूप त्रयाक्षार होता है और दूसरे रूप मे दूसरे अक्षर का 'अ' पूर्णत अन्तर्हित होता है, उदाहरणार्थ—

लटकना	लटकाना .	लटकवाना
पिघलना	पिघलाना	पिघलवाना, आदि।

धातु-रूपो के प्रभेद का यह सर्वाधिक उत्पादक और प्रचलित रूप है। मूल स्वर का यह परिवर्तन गौण होता है, उदाहरणार्थ—

खुलना	खोलना ·	खुलवाना
खिंचना	खेचना	खिचवाना, आदि।

अथवा मात्रिक होता है, उदाहरणार्थ—

लुटना	लूटना '	लुटवाना
पिसना	पीसना ,	पिसवाना
मरना	मारना	मरवाना, आदि।

इस प्रकार के त्रयाक्षरी धातु-रूपो मे दूसरे अक्षर का स्वर दीर्घ हो जाता है, उदाहरणार्थ—

निकलना	निकालना	निकलवाना
उखडना	उखाडना	उखडवाना

कुछ क्रियाओ मे स्वरो के परिवर्तन के साथ व्यजनो मे भी परिवर्तन होता है ('ट' और 'ड़'), उदाहरणार्थ—

छूटना .	छोडना .	छुडवाना
बिकना .	बेचना :	बिकवाना

धातु-रूपो की रचना का यह रूप सदा नियन्त्रित रूप से नही होता। अनेक जगह क्रियार्थक धातु-रूपो की रचना मे दो रूप दृष्टिगोचर होते है जिनमे पर-प्रत्यय 'आ' के साथ कोई परिवर्तन नही होता। इस प्रकार प्रभेद की इस शृखला मे चार प्रतिरूप होते हे, उदाहरणार्थ—

लदना	लादना	लदाना	लदवाना
दिखना या दीखना	देखना	दिखाना	दिखवाना
जुटना	जोडना	जुटाना	जुटवाना
टूटना	तोडना	तुडाना	तुडवाना, आदि।

मूल धातु-रूप का यह प्रतिरूप बनावट की दृष्टि से सीमित होता है। धातु-रूप सदैव दो अक्षर वाला होता है, प्रथम अक्षर का स्वर दीर्घ होता है, उदाहरणार्थ—

सीखना	सिखाना, सिखलाना	सिखवाना
ओढना	उढाना	उढवाना
लेटना	लिटाना	लिटवाना, आदि।

विभिन्न अनियमित रूप—जैसे 'भीगना' से 'भिगोना' के साथ 'भिगाना' और 'डूबना' से 'डुबोना' के साथ 'डुबाना' आदि—प्रेरणार्थक क्रिया के प्राचीन पर-प्रत्यय के अनियमित प्रतिबिम्ब लगते है। अन्तिम दीर्घ स्वर के साथ वाले मूल धातु-रूप लघु स्वर + पर-प्रत्यय 'ला' के साथ वाले धातु-रूप लघु स्वर + पर-प्रत्यय 'लवा' के साथ वाले धातु-रूप। उदाहरणार्थ—

पीना	पिलाना	पिलवाना
सोना	सुलाना	सुलवाना
खाना	खिलाना	खिलवाना, आदि।

इस प्रकार हिन्दी मे क्रियार्थक धातु-रूपो के ये प्रमुख प्रभेदात्मक रूप है। इनकी परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तिम स्वर वाले (अपेक्षाकृत सख्या मे कम)—साथ ही अन्तिम व्यजन वाले धातु-रूपो के अनुसार एक दूसरे से बहुत अन्तर रखते है। अन्तिम व्यजन वाले धातु-रूपो मे मूल धातु-रूपो के रूप के आधार पर यह निश्चित करना असभव है कि वे विभेद की किस श्रेणी से सबध रखते है, उदाहरणार्थ—

पलना	पालना :	पलवाना
किन्तु, मलना	मलाना	मलवाना
पकडना	पकडाना :	पकडवाना
किन्तु, बिगडना :	बिगाडना	बिगडवाना

कोई धातु-रूप किस प्रकार के प्रभेद से सबध रखता है, यह जानने के लिए उस रचना मे आये पहले दो शब्दो को जानना आवश्यक है। इसके साथ-साथ इस प्रकार की भी क्रियाएँ

है जिनके विरोधात्मक प्रतिरूपो का दूसरा तथा तीसरा अक्षर लुप्त रहता है, उदाहरणार्थ दीर्घ स्वर वाले कुछ धातु-रूपो के पहले और तीसरे रूप ही होते है—

गाना गवाना, खेना खिवाना, लेना, लिवाना।

अनेक क्रियाओ मे तीसरा रूप प्रयुक्त नही होता, उदाहरणार्थ—

बचना बचाना हारना हराना आदि।[1]

ऐसी भी क्रियाएँ है जो ऊपर उल्लिखित प्रभेदात्मक रूपो के अन्तर्गत नही आती अथवा कह सकते है कि इस प्रकार के प्रभेद का दूसरा और तीसरा रूप व्यर्थ-सा लगता है, उदाहरणार्थ -

होना, रहना, आना, जाना, पडना, पाना, लेना।

इस प्रकार हम देखते है कि मूल धातु-रूप शब्द के रूपगत भेद के साथ अर्थगत भेद होते है। एक भिन्न प्रकार के प्रतिरूप के अर्थगत विभेद क्रियार्थक धातु की रूपगत प्रभेदात्मक योजना के ही अनुरूप होगे। ये इस बात पर निर्भर करते है कि विपक्ष का शब्द सकर्मक क्रिया है या नही।

जैसा कि हम जानते है, इस विभेद का, जिसका पहला पद अकर्मक क्रिया है, दूसरा पद सामान्य सकर्मक अर्थ रखता है न कि प्रेरणार्थक, उदाहरणार्थ—

१ बोरे गिर रहे है।
२ कुली बोरे गिरा रहा है।
३ महल बनता है।
४ कारीगर महल बनाते हैं।

इस प्रकार के विभेद के पहले वाक्य मे एक कर्तृवाच्य अकर्मक (गिरना, चलना, उठना आदि) और मध्य-कर्मवाच्य (बनना, कटना, धुलना आदि) के अर्थ का होना सभव है। इस प्रकार का विभेद हिन्दी मे नियमित रूप से अभिव्यक्त नही होता। तीसरा वाक्य, जो परम्परागत व्याकरण के अनुसार दूसरे वाक्य के प्रेरणार्थक रूप मे माना गया है, वास्तव मे (जैसा कि बेगी महोदय के ग्रथ मे दिखाया गया है) सकर्मक क्रिया से नही, वरन् कर्मवाच्य सकर्मक से प्रेरणार्थक है, उदाहरणार्थ—

मालिक कुली से बोरे गिरवा रहा है।
राजा कारीगरो से महल बनवाता है।
कर्त्ताकारक मे दूसरे न० का वाक्य कर्म होगा, अत—
मालिक के हुक्म से बोरे कुली से गिरवाये जा रहे है।
राजा के हुक्म से महल कारीगरो से बनवाया जाता है।

किन्तु, 'कुली गिरवाया जा रहा है' अथवा 'कारीगर बनावाये जाते है' कहना पूर्णतया असभव है।

इस प्रकार इस परिवर्तनशील विश्लेषण की सहायता से बेली महोदय यह सिद्ध करते है कि हिन्दी मे सकर्मक क्रियाओ से कोई प्रेरणार्थक नही है। यदि इस प्रकार की तुलना का पहला

---

१. पर 'बचवाना' और 'हरवाना' रूप भी है—स०।

वाक्य सकर्मक क्रिया है तो दूसरा वाक्य यह महत्व रखता है कि वह पहले वाक्य द्वारा अभिव्यक्त अर्थ मे सहायता करेगा और तीसरे वाक्य का अर्थ होगा पहले वाक्य की अभिव्यक्ति को किसी अन्य शब्द द्वारा सहायता देना, उदाहरणार्थ—

१ लडका दूध पीता है।
२ माँ लडके को दूध पिलाती है।
३ माँ आया से लडके को दूध पिलवाती है। (कर्मवाच्य)

इस तथ्य से स्थिति और भी जटिल हो जाती है जब इस प्रकार के विभिन्न प्रभेदात्मक वाक्यो मे बहुत से व्याकरणानुकूल नही होते है और उनमे भाषा के शब्द सबधी अनेक अन्तर भी होते है, उदाहरणार्थ—

सुनना	सुनाना	सुनवाना
लिखना	लिखाना :	लिखवाना
मिलना	मिलाना	मिलवाना
दिखना या दीखना }	दिखाना	दिखवाना
बोलना	बुलाना	बुलवाना, आदि।

कभी-कभी इस प्रकार की तुलना मे अर्थगत भेद मूल स्वर के परिवर्तन के साथ समानान्तर क्रियाओ के युग्म के होने से और पर-प्रत्यय 'आ' मे बिना किसी परिवर्तन के हो सकता है, उदाहरणार्थ—

गडना	गाडना	गडाना

ऐसे तुलनात्मक रूपो के दो मूल पदो मे बहुत से प्राय अपनी विभिन्न विशिष्ट शक्तियो से उदासीन हो जाते है। सामान्यत यह उन परिस्थितियो मे होता है जहाँ व्याकरणगत भेद भाषा-शब्द-सबधी भेद द्वारा अनुसरित होता है—जब क्रिया के समस्त रूप एक ही भाव को व्यक्त करते है, उदाहरणार्थ—

करना	कराना		करवाना	
छपना	छापना		छपाना,	छपवाना
छूटना	छोडना	:	छुडाना,	छुडवाना

दूसरे प्रकार के प्रेरणार्थक का प्रयोग तब होता है जब एक मध्यवर्ती के भाव पर बल दिया जाता है, यथा—

मैंने उनको लिखाया (अथवा 'लिखवाया')।
मैंने यह उससे लिखवाया (न कि 'लिखाया')।

'को' तथा 'से' परसर्गो के प्रयोगगत भेद से उनके कार्य और मध्यवर्ती के महत्व मे प्रत्यक्ष अन्तर प्रतिध्वनित होता है।

१	२	३	४
अकर्मक अथवा अर्द्ध कर्मवाच्य	सकर्मक क्रिया	मध्यवर्ती की सहायता रहित प्रेरणार्थक या कर्मवाच्य	मध्यवर्ती की सहायता-सहित प्रेरणार्थक या कर्मवाच्य
दिखना	देखना	दिखाना	दिखवाना
	भाषा-शब्द सबधी भेद		
कटना	काटना	कटाना	कटवाना
—	लिखना	लिखाना	लिखवाना
—	करना	कराना	करवाना
बनना	बनाना	—	बनवाना
उठना	उठाना	—	उठवाना

अत हिन्दी मे अकर्मक क्रियाओ के साथ-साथ समान सकर्मक क्रियाएँ भी प्रयुक्त होती है, जैसे—

'बनना' और 'बनाया जाना', 'कटना' और 'काटा जाना'।

इन दोनो प्रकार की क्रियाओ मे यह अन्तर है कि कर्मवाच्य का अर्थ होता है क्रिया का किसी माध्यम के द्वारा होना, किन्तु अकर्मक क्रिया सामान्यत केवल कार्य पर ध्यान केन्द्रित करती है, उदाहरणार्थ—

लकडी जलायी गयी, लकडी जल गयी।

हिन्दी मे कुछ बोलचाल की वाक्य-रचनाएँ इस सामान्य नियम की सीमा का अतिक्रमण करती दिखाई पडती हैं। उनमे सकर्मक क्रियाओ के प्रेरणार्थक नही होते। ऐसी वाक्य-रचनाएँ, जिनको बेली महोदय ने अपने ग्रथ मे दिखाया है, साहित्यिक भाषा की सीमा को लॉघती है और उनके स्तर को भी गिराती है। इस प्रकार के उपर्युक्त उदाहरणो मे से कुछ मे (पद सख्या २) कर्त्ता कर्मवाच्य के वाक्य मे भी आता है, उदाहरणार्थ—

वह सिखायी गयी है।

लडके खिलाये गये है।

यहॉ यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार का प्रयोग यदि सभव है तो केवल अधूरे वाक्यो मे, जब कि वाक्य मे कर्म का अभाव हो। अत निम्न प्रकार का प्रयोग सभव नही है —

वह हिन्दी भाषा सिखायी गयी है।

लडके रोटी खिलाये गये ।

अत मे, यह कहा जा सकता है कि हिन्दी मे प्रेरणार्थक क्रियाओ की प्रणाली के निर्धारण के लिए कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य—और अधिकतर सकर्मकता-अकर्मकता—की श्रेणियो के सग्रह की अभी आवश्यकता है। [मूल रूसी लेख का सक्षिप्त रूप]

●

वेस्क्रोवनी

हिन्दी में संयुक्त संज्ञार्थक धातुओं का प्रयोग

"हिन्दी के व्याकरण को कुछ सरलतर और तर्कशास्त्र-सम्मत बनाने की आवश्यकता है। हमारा सिद्धान्त यह है कि भविष्य काल का राजा 'गण महाराज' इतनी सूक्ष्मता नही मानेगा। इनकलाब जब सचमुच जिन्दा होगा और मजदूर तथा किसान जब भाषा के सुधार का काम स्वय ही अपने हाथ मे ले लेगे, तब चाल और बाजारू और देहाती तथा खडी बोली और पडी बोली सब एकाकार होकर एक नयी जनभाषा बन जायेगी।" —सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[1]

हिन्दी मे सयुक्त सज्ञार्थक धातुएँ कार्य के विभिन्न रूपो (different shades of action) या स्थितियो को व्यक्त करने के लिए सूक्ष्म शब्द व्याकरणिक विधियो (Lexico-grammatical method) मे प्रमुख है। भारतीय और यूरोपीय भाषा के वैयाकरण और इतिहासकार जो हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भापाओ की जीवित और विकासमान सयुक्त धातुओ के सबध मे कार्य कर रहे है, वे एक स्वर से इसके रूप की विचित्रता स्वीकार करते है। हिन्दी मे बहुत से धातु-योग है जो आधुनिक साहित्यिक भाषा मे तो प्रचलित है, किन्तु अधिकृत (registered) नही है, और जो अधिकृत है, उनमे से भी सब की विशेषताएँ पूर्ण रूप से विवेचित नही है।

एक बहुत बडी सख्या मे धातुओ का बनना और उनका विस्तृत क्षेत्र मे प्रचार सहायक, रचनात्मक और सज्ञार्थक धातुओ को विकसित करने मे सक्षम है, और यही हिन्दी मे विकसित होती हुई धातुओ की जीवन्तता और अविच्छिन्नता का प्रमाण है। जैसा कि प्रकट है, व्याकरणिक साहित्यिक हिन्दी मे बहुत सी साधारण रचनात्मक धातुएँ निरन्तर मुख्य धातु के अर्थ के विभिन्न रूपो की छायाएँ ग्रहण कर प्रयुक्त होती है और उसी आधार पर वे एक एकाई मे भी बँधती है।

सयुक्त सज्ञार्थक धातुएँ व्याकरणिक रूपो मे परिवर्तित और सर्जित होकर अपना कुछ शाब्दिक अर्थ खो देती है, जिनका कोई उल्लेख व्याकरण अथवा शब्दकोशो मे नही है। साथ ही मौखिक भाषण और साहित्यिक भाषा मे कुछ ऐसे प्रयोग भी देखे जाते है जो मुख्य धातु मे कुछ विकसित विशेषता या अन्य छाया-रूपो (shade in aspect) को जोडते है। प्रस्तुत निबध **खडा होना** नामक सयुक्त सज्ञार्थक धातु से सबद्ध है। **खडा होना** के विपरीत अर्थो वाले बने युग्मो (pairs) से **पडना** का भेद दिखाया जा सकता है (तुलना की जा सकती है)। उसी प्रकार दूसरी अकर्मक धातुएँ रचनात्मक रूप मे नियमत अकर्मक धातुओ के मूल रूप मे

---

१. ऋतम्भरा; द्वि० संस्क०; इलाहाबाद १९५८, पृष्ठ २०।

सयुक्त होकर प्रयोग मे आती है। बहुधा सभी धातुएँ जो गति-द्योतक है, जैसे **आना, चलना, भागना, निकलना, उठना,** अकर्मक धातुओ के मूल मे सयुक्त है।

प्रधान धातु मे **खडा होना** के बने धातु-योग से जो अर्थ सबधी सूक्ष्म अन्तर आता है, वह अपने प्रारम्भिक रूप की छायाओ (shades of the startıng aspect) की सीमा के भीतर ही रहता है। इस प्रकार बना पूर्ण-धातु-योग मुख्य धातु से अधिक एकाएकपन (suddenness) और तीव्रता व्यक्त करता है। नीचे जो सामग्री दी गयी है, उससे सिद्ध होता है कि हिन्दी मे सयुक्त सज्ञार्थक धातु की सहायक धातुओ से विभिन्न छाया-अर्थो वाले धातु रूप बनाये जाते है। ये रूप **उठना** की सहायता से बने रूपो की अपेक्षा कार्य के प्रारभ मे अधिक शक्ति और तीव्रता प्रकट करते है, उदाहरणतया—

"वह सुबह से पहले ही इस पटरी पर **आन खडा होता**। हम पराधीनता के जुए को फेक कर आजादी के आँगन मे **आ खडे हुए**। अगर कल वह अफसर की वर्दी पहन कर यहाँ **आन खडा हो** तो मुझे कोई आश्चर्य न होगा।"

ऊपर जो धातुओ के उदाहरण दिये गये है वे **खड़ा होना** धातु के शाब्दिक अर्थ का लोप और मुख्य धातु 'आना' के रूप मे कार्य के प्रारभ मे तीव्रता और एकाएकपन प्रमाणित करते है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि **आना** धातु का मूल **खड़ा होना** के साथ सयुक्त होकर रूपान्तरकारक के रूप मे बहुधा वृद्धिकारक (अर्थ) मुहावरेदार रूपो मे **आना** का रूप धारण कर लेता है। उदाहरणार्थ, आन रहना (आ रहना), आन (आ) पडना, आन (आ) पहुँचना, आन (आ) लेना, आन बनना, आन मिलना। प्रकट है, अब **आन** पूर्णता के रूप मे आधुनिक साहित्यिक हिन्दी भाषा मे प्रयुक्त नही होता। प्रसगत **खड़ा होना** धातु के आगे जब **आना** धातु का प्रयोग होता है, तो नियमत उसका रूप **आकर** हो जाता है, उदाहरणार्थ—

"ज्ञानशकर **आकर खड़े हो गये** और बोले। इतने मे राय साहब उसके द्वार पर **आकर खड़े हो गये** और बोले। यह कहते हुए वह घबरायी हुई दीवान साहब के सामने **आकर खड़ी हो गई।**"

इन उदाहरणो मे **खड़ा होना** अपने शाब्दिक अर्थ को खोता नही और न वह सहायक रूपान्तरकार के रूप मे ही बदलता है।

खड़ा होना धातु शाब्दिक अर्थ खोकर व्याकरण सबधी परिवर्तनो मे **भागना** मूल धातु के साथ सबद्ध होकर, निर्णयात्मक रूप मे दिखाई देती है, उदाहरणार्थ—

"हडतालियो ने उसे गिरते देखा तो **भाग खड़े हुए**। जिस दिन मालकिन यहाँ से चलेगी हम सब भी **भाग खड़े होगे**। गिरधर महाराज **भाग न खडे होते** तो इनके जान की खैरियत नही थी। कहिए शर्मा जी, किधर चले, क्या **भाग खड़े हुए**?"

स्पष्ट है, **भाग खड़ा होना** मे विपरीत अर्थों वाले धातुओ का योग है। यह विकसित धातु-योग है, जैसे—वह **आ गया, आ जाना** आदि।

खड़ा होना अपने विकसित धातु के रूप मे **उठना** धातु की अर्थ-छाया के अधिक निकट है, वस्तुत यह निकटता इन धातुओ के **भागना** धातु के साथ पारस्परिक आदान-प्रदान के

कारण है। उदाहरण के लिए कार्य के प्रारभ मे उसी एकाएकपन (किन्तु कम तत्परता के साथ) का आभास नीचे के वाक्यो मे है—

"मैं यो अचानक वहाँ से **भाग उठा था**। माहुल और भैरवी वहाँ पहुँचा देखकर फिर न **भाग उठें**। "

चलना धातु के साथ भी **खड़ा होना** धातु का प्रयोग इसी प्रकार की विशेषता से सयुक्त है, जैसे—

"गोदावरी घर से **चल खड़ी हुई**। और खजरी उठाकर **चल खडा हुआ**।"

उठना के साथ **खड़ा होना** का सयोग भी कुछ इसी प्रकार का है। उदा०—"जैसे ही घटा पूरा हुआ वह **उठ खड़े हुए** और बिना रूपए लिये बाहर निकल आये। वह आवेश मे **उठ खडी हुई** और पुलकित होकर बाहर झाँकने लगी। उस जन-आदोलन ने, जो पार्टी के नेतृत्व मे **उठ खडा हुआ था**, हमारे देश के रूप को बदल दिया।" (प्रेमचद से)

गतिचेष्टामूलक दूसरी धातु **निकलना** भी **खडा होना** के साथ सयुक्त होती है, जैसे—

"जब वे देखेगी कि बडे-बडे घर की स्त्रियाँ भी रूठ कर घर से **निकल खडी होती** है तो

दूसरे दिन मित्र मुँह अँधेरे घर से **निकल खडे होते**।" (प्रेमचद से)

खड़ा होना की सहायता से बनी हुई विकसित धातुएँ (जो गतिमूलक धातुओ से नही बनी है) अपेक्षाकृत कम पायी जाती है। स्पष्टत यह रूप धातु मे स्वभावगत स्थिति जगाने वाली अर्थ-छाया (shade of aspect) की विशेषता सयुक्त करता है, उदाहरणतया—

"कोई दूसरा लडका होता तो इतनी मार खाकर **बिगड़ खड़ा होता**। मगर बिचारा पचासो जूता खाकर भी कुछ नही बोला।"

सयुक्त सज्ञार्थक धातु **खड़ा होना** तथा उसके सूक्ष्म विकसित रूप **खडा हो गया**, **'खडा हो जाऊँ'** की विशेषता उसके अपने विकसित सहायक रूपो मे कुछ विशेप प्रकार की नही है। स्वतत्र धातु के रूप मे प्रयुक्त होने पर **खडा होना** साधारणत **खड़ा हो जाना**, **खडा हो गया** मे विकसित हो जाता है।

खड़ा होना की सहायता से विकसित धातुएँ ठीक सामान्य विकसित धातुओ की भाँति उचित भाववाचक है, उदाहरण के लिए (कृदन्त विशेषण के कार्य मे)—

"गली मे **उठ खडे हुए** इस कोहराम की भी उपेक्षा दाजू नही कर सके।"

ऊपर दी गयी सामग्री यह स्पष्टत सिद्ध करती है कि सज्ञार्थक धातु **खड़ा होना** विभिन्न धातुओ के मूल से सबद्ध हो रही है और प्रचलित विश्लेषणात्मक विकसित धातु से प्रभावित होकर हिन्दी मे अपना स्थूल अर्थ खोते हुए, प्रारभिक रूप के कार्य के साथ गति तथा स्थिति मूलक सहायक रूपान्तरित करने वाली धातुओ मे बदल जाती है। हिन्दी मे इन विकसित धातुओ के चलन का विकास प्राय अब समाप्त है। अब ये बोलियो और मौखिक कथनो मे सुरक्षित है, जिनका अपना जीवन्त व्याकरणिक और शाब्दिक तत्व साहित्यिक भाषा मे प्रयुक्त होता है। बडी सख्या मे धातुओ का भरते जाना यह सिद्ध करता है कि हिन्दी मे धातुएँ अभिव्यक्ति के समृद्ध और अधिक विकसित साधनो की खोज कर रही है।

●

हेनरी एम० हॅनिग्सवाल्ड

उर्दू में स्वर-दीर्घता

वर्णविन्यास का प्रश्न प्राय अपने महत्व से अधिक जटिलता उत्पन्न कर देता है। इस सबध मे दो अति भिन्न स्थितियाँ सभाव्य है—एक तो यह कि यदि कोई सार्थक अन्तर लुप्त न हो जाय तो बडी उदारता से किसी भी प्रकार के स्वराकन (Notation) को स्वीकार किया जा सकता है अथवा किसी ऐसी विलक्षण आलेखन-प्रणाली पर आग्रह किया जा सकता है, जो भाषा के ध्वनिसमूह को यथार्थ रूप से व्यक्त कर सके। किन्तु इन दोनो मे कोई भी स्थिति लाभदायक नही है। दूसरी तो इसलिए सभव नही है, कि हमे ज्ञात है या ज्ञात होना चाहिए, कि भाषा के ध्वनिग्राम मूलक (Phonemic) विश्लेषण मे कोई विलक्षणता नही होती है। प्रथम स्थिति इस कारण से मान्य नही, कि कुछ स्वराकन-विधियाँ अन्यो की अपेक्षा भाषा की समरूपता और नियमबद्धता व्यक्त करने मे अधिक समर्थ होती है। अतएव यहाँ पर भिन्न भिन्न वर्णात्मक लेखन-प्रणालियो के गुणावगुण पर विचार-विमर्श करना व्यर्थ नही होगा। भले ही यह निर्णय जीवन या मृत्यु के समान नही बल्कि अधिमान्यता का है (और विभिन्न प्रयोजनो के लिए यह अधिमान्यता भिन्न हो सकती है)।

इस विचार को मन मे रखते हुए मै यहाँ बोलचाल की उर्दू मे स्वर दीर्घता के सिद्धान्त का विवेचन सक्षेपत इस प्रकार प्रस्तुत करूँगा, जिसके फलस्वरूप एक या दूसरे सिद्धान्त को चुना जा सकता है। समस्या सर्वविदित है। उर्दू मे स्वर i ī [इ, ई] e ē [ए ऐ] a ā [अ आ] o ō [ओ औ] u ū [उ ऊ] रूप मे या इसके समान रूप मे अथवा डा० फर्थ या लडन स्कूल प्रणाली के अनुसार i [इ], y [य्], e [ए], ə [अ्], a [अ], o [ओ], w [व्], u [उ] रूप मे लिखे जा सकते है।[1]

उपर्युक्त दोनो प्रणालियो मे से कोई भी सदेहात्मक नही है (या यदि है भी तो सदेहात्मकता का प्रस्तुत समस्या से कोई सबध नही है)। प्रथम प्रणाली मे पाँच स्वर-मात्राएँ मानी जाती है, जिनमे से कम से कम तीन स्वर-दीर्घता नामक छठी मात्रा (Entity) के साथ (या सभवत उसके पहले) आती है। लदन-प्रणाली आठ भिन्न स्वरो को ग्रहण करती है। ह्रस्व e [ए] और ह्रस्व o [ओ] अन्य ह्रस्व स्वरो से भिन्न है अथवा नही और साथ ही साथ अक्षर-सहित अर्ध स्वर की स्थिति अन्य स्वरो के सम्पर्क मे आकर क्या होती है—

---

१. हार्ले की 'कलोक्यल हिन्दुस्तानी' के अनुसार।

इस तथ्यत्मक प्रश्न की ओर ध्यान दिये बिना निम्नलिखित बातो पर विचार करना युक्तियुक्त है—

(१) ध्वनि विचार की दृष्टि से दीर्घ स्वरो मे सापेक्षिक दीर्घता न तो इतनी प्रधान होती है और न इतनी अविच्छिन्न कि स्वर-दीर्घता का कोई विशिष्ट लक्षण लक्षित हो सके।

(२) दीर्घ स्वरो मे उस प्रकार का एकान्तरण नही होता जैसा कि 'सडक सडके' के शून्य स्वर मे होता है, इस प्रकार का परिवर्तन सभी ह्रस्व स्वरो मे भी नही होता है (a̲, ı को छोडकर)

(३) सभी दीर्घ स्वर शब्द या वाक्य के अत मे आते है, जब कि ह्रस्व स्वर अत मे नही आते (केवल 'न' को छोड कर)।

(४) दीर्घता की भिन्न-भिन्न मात्रा शब्दकोष के रूप मे नही बल्कि वाक्य-लय के अग के रूप मे विद्यमान रहती है। इसके अग-प्रत्यग का विस्तृत विश्लेषण अभी तक नही हो सका है, फिर भी वाह्य रूप से यह सकेत मिल जाता है। मात्रा का अवरोह और आरोह (उसकी ह्रस्वता और दीर्घता) अशत उन अक्षरो (syllables) की प्रकृति से निर्धारित होता है, जिनसे वाक्य का निर्माण होता है।

ऐसा प्रतीत होता है, कि अन्य परिस्थितियो के यथावत् रहते हुए (अर्थात् एक ही और समान लक्षण के अन्तर्गत) अक्षर के उदात्तत्व (heaviness) की अधिकता के साथ-साथ ही दीर्घता की मात्रा अधिक होती जाती है। अक्षर का उदात्तत्व या भारीपन उन परिस्थितियो मे वर्तमान रहता है

(क) जहाँ ह्रस्व या दीर्घ स्वर दो व्यजनो से[३] या व्यजन, स्वर विराम (pause) या अन्य किसी प्रकार की सयुक्त ध्वनि (juncture) से अनुगत होता है।

(ख) जहाँ अक्षर (syllable) के अन्य तत्वो से बिना कोई सबध रखते हुए भी दीर्घ स्वर बना रहता है।

यह स्पष्ट है कि दीर्घ मात्रा-चिह्न (या अन्य समान विधि) के समर्थक उपर्युक्त तीसरे और चौथे सिद्धान्त और दूसरे सिद्धान्त के पूर्वार्ध का सहारा लेते हैं और आठ स्वर वाली लदन प्रणाली के प्रस्तावक प्रथम सिद्धान्त का और दूसरे सिद्धान्त के उत्तरार्ध का अनुरोध करते है।

---

३. यहाँ प्रस्तुत विचार में 'ह्' और अनुनासिक को व्यजन नहीं स्वीकार किया गया है।

रामकृष्ण गणेश हर्षे

दो मराठी शब्द : 'मा' और 'सिनान'

मैने अपने शोध-निबन्ध 'कुछ सुमेरी मराठी समानताएँ'[1] मे मराठी के १२० शब्दो के सबध मे यह निर्दिष्ट किया है कि इनकी व्युत्पत्ति सुमेरी, अक्कादी तथा अस्सीरी शब्दो से अधिक सतोषजनक रूप मे समझी जा सकती है। श्री पोल रीव्हे[2] के अनुसरण पर पहले यह विश्वास किया जाता था कि सुमेरी मालेनेशियन वर्ग से सबद्ध थे और अपने पश्चिमोन्मुखी अभियान मे स्वभावत भारतीय प्रायद्वीप को पार करते समय अपने अवशेष यहाँ छोड गये थे। परन्तु अब उनकी भाषा तथा सस्कृति के समुचित ज्ञान से यह बहुत स्पष्ट हो चुका है कि पूर्व से पश्चिम की अपेक्षा ये पश्चिम से पूर्व की ओर, लगभग वैदिक आर्यो के समकालीन, पलायन करते हुए क्रमश कई तरगो मे भारत मे आये और सुविधानुसार कई स्थानो पर बस गये। मेसोपोटामिया तथा पास-पडोस के प्रदेश के निवासी अक्कादी, असीरी, सीथियन, मेद, नाग, पल्लव तथा दूसरी अप्रमुख जातियो के द्वारा विभिन्न कालो मे इनका पीछा किया गया। ये जल, थल दोनो मार्गो से आये —बलोचिस्तान तथा मलबार तट से। एक ओर मराठी और दूसरी ओर ब्राहुई तथा सिन्धी शब्दो की समानता से इनके आने का मार्ग निर्धारित हो जाता है। सुमेरी तथा द्राविड शब्दो की समरूपता इस बात का सकेत करती है कि दक्षिण मे इनका प्रवेश कहाँ तक हो चुका था और रिजले की 'बगाल की जातियाँ और कबीले' नामक पुस्तक के सदर्भ से यह प्रकट हो जायगा कि इनके कुछ कबीले भारत के धुर पूर्वीय भागो मे प्रवेश पा चुके थे।

उसी शोध-निबन्ध मे यह भी बताया गया है कि समता के लिए प्रस्तुत अधिकाश शब्दो को मूल-शब्द (key word) कहा जा सकता है, उदाहरणार्थ—'बलोता' (ग्रामसमाज की विभिन्न प्रकार से सेवा करने वाले १२ हकदारो मे विभाजित की जाने वाली गाँव की उपज), 'आगर' (खेत, जिसका विकसित अर्थ खेतो से घिरा हुआ घर और बाद मे मलबार तट पर पाये जाने वाले ऐसे घरो के गाँव), 'उकड' (उबाला खाना), 'वाडा' (रक्षित घर), 'लुगडे' (स्त्री-पुरुष के द्वारा पहना जाने वाला वस्त्र), 'इस्तु' (आग), 'सुगी' (खलिहान), 'मुस्कट' (थुथन, मुँह), 'पाट' (छोटी नहर), 'बोरू' (नरकुल), 'डोरा' (धागा), 'कुणवी' (किसान), 'एकूण' (अन्तिम निश्चित योग), 'कासरा' (रस्सी), 'कोथिबीर' (coriander) आदि शब्द

१. बुलेटिन, दकन कालेज रिसर्च इस्टीट्यूट १४; पृष्ठ १६-३२; १९५४।

२. एम० पोल रीव्हे, Le groupe océanien, B S. L, पेरिस, सं० ८३, १९२५-२६, पृष्ठ १४२-६४ और Sumérien et Océanien भी।

साधारण जीवन मे व्यवहार मे आने वाले है जिनका महत्त्व महाराष्ट्र के सामाजिक जीवन की प्रारम्भिक सस्था से ही सिद्ध है।

इस निबन्ध के प्रकाशित होने के बाद बहुत सी ऐसी सामग्री प्राप्त हुई है, जिससे यह विश्वास दृढतर होता है कि महाराष्ट्र की प्राचीन जनसख्या मे सुमेरी-अक्कादी तत्व सक्रिय रूप से विद्यमान थे। सुमेरी आर्य थे, यह सब जानते है, पर अक्कादी तथा खाल्दीयन भी आर्य थे (कम से कम कुछ अशो मे, जो उरर्तु प्रदेश से आये थे)। वास्तव मे खाल्दी का ठीक नाम 'कल्दु' अक्षरविपर्यय से 'कद्रु' ही है (कश्यप की स्त्री), और कल्दु कद्रु के वशज है। हमको अब तक कई वैदिक ऋषि कल्दुओ के अतर्गत मिले है, जैसे अर्बुद काद्रवेय (ऐत० ब्रा० ६ १, शाखा० ब्रा० २९ १) और काद्रु पिंगाक्षी (कश्यप कुल के गोत्रकार)। अत कल्दु नाग ही है और सक्पाल या सकपाल (शखपाल), काकडे (कर्कोटक) आदि कई प्राचीन नाग वश कोकण मे है जो वास्तव मे प्रसिद्ध नाग कुल के नाम ही है।

इस भूमिका के बाद प्राचीन मराठी शब्दो, **मा** और **सिन** या **सिनान**, पर विचार करना चाहूँगा, जो अपने रूप तथा अर्थव्याप्ति की दृष्टि से सुमेरी स्रोत के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से विकसित नही माने जा सकते। मेरे पास की प्राचीनतम 'ज्ञानेश्वरी'[3] (शक स० १२७२) की प्रति मे **मा** या **माॅ** ५६ स्थानो[4] पर आता है और **सिन**, **सिना**, **सिनान** या **सिनार** के विविध रूप २० स्थानो पर आये है। महाराष्ट्री शब्दकोश मे **मा** या **माॅ** शब्दो को सस्कृत से विकसित माना गया है पर व्युत्पत्ति नही दी गयी है। उदाहरणो से पता चलता है कि इसको सस्कृत के निषेधात्मक बल को प्रकट करने वाले अव्यय **मा** तक सीमित रखा गया है, उदाहरणतया—"मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वमगम शाश्वर्ती समा," "मा ब्रूहि दीन वच" या "मा स्म प्रतीप गम" आदि। सत्य यह है कि प्राचीन मराठी के **मा** या **माॅ** शब्द सीधे सुमेरी-अक्कादी शब्द **मा** से लिये गये है,

---

३. इस ज्ञानेश्वरी की प्रति पर आधारित केवल प्रथम अध्याय का रायल अक्टेव साइज के लगभग ४२८ पृष्ठो मे विवेचनात्मक तथा भाषावैज्ञानिक सस्करण प्रकाशित हुआ है।

४ वही : १ ७२ सी, ११७ सी; २ ३३४ सी; ६. ३३२ सी; ७. १०९बी, १९१ बी; ८. ६३ बी, ७८ सी; ९ १२४ डी, ४८७ सी, १० २०३ डी; ११. १५६ डी, ३७६ बी, ३९१ ए, ३९५ डी, ३९७ सी, ४०१ सी, ५०१ सी, ३३७ सी, ६०९ सी, १२. १४८ ए; १३. ९८६ ए; १४ ६ बी, १२ सी, २७ बी, १८७ बी, २१५ सी, ३८६ डी, १५. २१६ सी, २२३ बी, २३१ सी; १६. ११६ सी, ३०७ सी; १८. २४ डी, १८९ सी, २२२ सी, २६५ सी, २९२ सी, ४१९ सी, ४४८ बी, डी, ५६७ सी, ६४२ ए, ९३५ डी, १३४० सी, १४१२ ए, १५८९ सी, १६४७ बी, १७३२ सी, १७३४ सी, १७४७ ए : ये सब 'माँ' के उदाहरण है; 'मा' के लिए देखें—२. २१९ बी; ३. २०७ सी; ८. ९ सी; १५. ३२७ सी। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि 'मा' या 'माॅ' के पर्याय 'मग' का प्रयोग भी एक मात्र स्थल पर पाया जाता है (वही १. ११७)।

जिसका अर्थ है—तक, वास्तव मे, ऐसा होने पर, बाद मे। इसमे निषेध का अर्थ नही है जैसा कि सस्कृत शब्द 'मा' मे है। उदाहरणो की व्याख्या 'न को', 'नाही', 'नकार', 'ना', 'होयना' आदि निषेधात्मक अर्थ मे स्पष्टत गलत है। दिये उद्धरणो मे यदि सुमेरी अर्थ **तब, वास्तव मे** लगाया जाय तो उनकी व्याख्या अधिक सगत होगी। वास्तव मे 'ज्ञानेश्वरी' की विप्र प्रति के ५६ **मा, माॅ** उदाहरणो को भली प्रकार जाॅच करके यह पाया गया है कि सभी स्थलो पर सुमेरी-अक्कादी अर्थ की व्याप्ति ठीक बैठती है। कुछ उदाहरण दिये जा सकते है—

१ आह्मा तव गमे ऐसें। माॅ तुजें जोइस कैसें।
ते नेणो सञया असे। तैसें साघ पा॥१८ १६४७॥
२ अरुणु आगा जवलिके। ह्मणौनि सूर्यातें देखे।
माॅ भूतलीचि न देखे। मुगी कायी॥१८ १७३४॥
३ देवा गोठीचि हे ऐकताॅ। बोधु उपजत असें चित्ता।
माॅ अनुभवें तल्लीनता। नव्हल केवि॥६ ३३२॥
४ अगा ऐसेया जरि जालयाॅ। तरि न मारिजे देह मेलिया।
माॅ सग्रामु केलियाँ। भय काय तुज॥१३ ७४॥
५ सर्वस्वें सिणोनी येथें। आर्जवावें सपत्तिजातें।
मा तेणे धमें साडूनि देहातें। पोसावें काॅ॥३ २०७॥

इस प्रकार इस प्रति के किसी भी प्रसग मे **मा** या **माॅ** का प्रयोग निषेध के अर्थ मे कभी नही हुआ है, सदा इसका अर्थ है—तब, अत, अतएव, फिर, यद्यपि, तब भी, निश्चय ही, आदि। इसका प्रयोग प्रश्नवाचक तथा पूर्वक रूप मे भी किया गया है और इस दृष्टि से सुमेरी-अक्कादी **मा** के पूर्णत समान है जो इसका वास्तविक स्रोत है।

उल्लेखित 'ज्ञानेश्वरी' की प्राचीन प्रति मे **सिना** तथा उसके विभिन्न रूप—**सिनी, सिने-सिनें, सिनाना, सिन्ही, सिनाना (-नी), सिनाने, सिन्हाने, सिनानेपण, सिनार सिनारा,** के २० बार[5] के प्रयोग का सीधा सबध सुमेरी-अक्कादी शब्द **सिना** (= दूसरा, दूसरावाला, भिन्न,) और **सिनान** (=दो) से है। सस्कृत मे कोई भी शब्द ऐसा नही है जिससे इसकी व्युत्पत्ति की जा सके और जिसका ठीक वही अर्थ हो जो इन सब प्रयोगो मे उपयुक्त हो। प्राचीन मराठी मे पाये जाने वाले उदाहरणो मे प्रयोग की दृष्टि से **छिन्न** से इसकी व्युत्पत्ति केवल सभावना मात्र है और दूर की कोडी लगती है यह बात निम्नलिखित उदाहरणो से सिद्ध है—

---

५. सिनसाल: १३. ५६०, १५. १४०; सिना: १७. १६७, १८. ३१२; सिनी: १३. २१४, १८. २७१; सिनें: १५. ४५८; सिने: १८. २७४; सिनहीं: १७. ७०; सिने: १८. ५३; सिनानों; ६. ४२, १०. ३१५; सिनानी: १८. ५४; सिनानें, १०. ८७; सिनाने: ६. ३९, १३ १०५८; सिन्हाने: ११. २४२; सिनानेपण: १५. ५५३; सिनार १८. १६०६; सिनारा: १८. २९०।

१ तैसी पचहेतु मिलणि। पाँचें चि इहिँ करणिँ।
कीजे कर्मलताची लावणी। परि आत्मा तो सिना॥१८ ३१२॥
२ अवयव आणि शरीर। हें वेगलालें काये कीर।
की रसु आणि नीर। सिनी आथि॥१३.२९४॥
३ ययाँचीं नावें आनानें। अनारिसीं वर्तणें।
वेष ही सिनाने अघवयाचे॥१३ १०५८॥
४ हें असो जलतरगा। नाहीं सिनानेपण जेवि गा।
तेवि सत्ताप्रकाश जगा। आपणचि जो॥१५ ५५३॥
५ अगा पूर्वापर सागर। यआँ नावाँसिचि सिनार।
एर अघवें तें नीर। एक जैसें॥१८ १६०६॥

सिना या शिना और सिनसाल या शिनसाल शब्दो की सस्कृत शब्द शीर्ण से व्युत्पत्ति स्पष्टत काल्पनिक है। जब हमारे पास अनेक शब्द मराठी के प्राचीन उत्तराधिकार के रूप मे सुमेरी-अक्कादी स्रोत से आये है, तब कोई कारण नही है कि हम अधिक तर्कसगत व्युत्पत्ति की दृष्टि से उन्ही शब्दो से इनका भी सबध न जोडे। यहाँ विदेशी शब्दो को उधार लेने का प्रश्न नही है, परन्तु उत्तराधिकार मे पाने की बात है। सुमेरी-अक्कादी प्रभाव केवल कुछ शब्दो तक ही सीमित नही है, वरन् कई रीति-रिवाजो मे भी देखा जा सकता है। महाराष्ट्र मे, एक प्रकार से सम्पूर्ण भारत मे, सुमेरी-अक्कादी स्थान-नाम स्वतत्र अध्ययन का विषय है।



अलैकसेई बरखूदारोव

समसामयिक साहित्यिक हिन्दी में शब्द-रचना[1]

राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने के फलस्वरूप हिन्दी मे एक नवीन प्रकार की शब्दावली प्रकट होने लगी है जो रूप मे राष्ट्रीय (मुख्यतया सस्कृत) होते हुए भी वस्तुतत्त्व मे अतरराष्ट्रीय है।

हिन्दी भाषा मे प्रयुक्त सस्कृत शब्दावली मूलत दो प्रकार की हो सकती है एक तो सस्कृत की प्रकृत शब्दावली और दूसरी नवीन शब्द-रचना, जिसे सस्कृत के उपादानो से निर्मित नव-सस्कृतवाद कह सकते है, जैसे **कार्य** और **कर्ता** के योग से बना नया शब्द **कार्यकर्ता**।

नवीन शब्दो का आविर्भाव प्रत्यक्षत समाज के विकास से सबधित होता है। नवीन वस्तुओ और नवीन विचारो को उधार लेते समय या तो किसी अन्य भाषा से शब्द उधार लेना आवश्यक होता है अथवा नवीन शब्दो की रचना करना। किसी दूसरी भाषा से शब्द उधार ले लेना सदैव सभव नही होता, अत शब्द-रचना ही शब्दावली के विकास का मुख्य साधन है। भाषा के आतरिक साधनो के द्वारा किसी भी आवश्यक शब्द की रचना सभव है।

सभी सामासिक अथवा व्युत्पन्न शब्द कम से कम अपनी रचना के क्षणो मे, आन्तरिक रूप की दृष्टि से नवीन अर्थ-बोध के साथ सह-सबद्ध होते है। किसी निश्चित हेतु के बिना नवीन शब्दो की रचना सभव नही है, क्योकि सपूर्ण शब्द-रचना का मूल उद्देश्य पुराने वस्तु-तत्त्व को व्यक्त करने वाले किसी विचार के प्रयोग द्वारा कोश-व्याकरणगत रूप मे किसी नवीन विचार की विशद् व्याख्या करना ही होता है।

हिन्दी शब्द-रचना की प्रक्रिया मे अनेक प्रत्ययो की उत्पादन-क्षमता के साथ नवीन प्रत्ययो और स्वतंत्र सार्थक शब्दो से निर्मित 'शब्द-प्रत्ययो' का आविर्भाव दृष्टिगोचर होता है। नवीन प्रत्ययो का निर्माण सस्कृत के सामासिक पदो के उत्तर-पद के क्रमिक ह्रास के द्वारा निरतर होता जा रहा है, उदाहरणार्थ, भाववाचक सज्ञाओ के लिए **वाद**, **तत्र** आदि तथा विशेषणो के लिए **आत्मक**, **जनक**, **पूर्ण**, **मूलक**, **शील** आदि प्रत्यय प्रयुक्त होते है। यह प्रक्रिया मूल रूप मे परसर्ग जोडकर नवीन व्याकरणगत रचना करने की उस प्रवृत्ति को प्रकट करती है जो सस्कृत मे भी रही है, उदाहरणार्थ—**सहित**, **अन्वित**, **वंचित**, **रहित**, **हीन**, **शाली**, **मय** आदि सज्ञा शब्द-प्रत्यय।

---

१. सोवियत सघ की 'ओरिएंटल इंस्टीट्यूट ऑव् एकेडेमी ऑव् साइसेज' में ७ दिसम्बर १९५३ को प्रस्तुत प्रबंध का सार।

मृत अथवा व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी के रूढ शब्द नियमत बहुत पहले होने वाले ध्वनि और अर्थ के परिवर्तनो के ही परिणाम है। इन रूढ शब्दो के सब से अधिक उदाहरण धातुओ के साथ सस्कृत-प्रत्ययो के एकाकार हो जाने के है, यथा, √बिक<**वि-क्री**, **समझ<सम्-बुद्ध-य** (स० ध्य>प्रा० झ्य); **उत्तर<उत्-तृ**, **उबटन <उद्-वर्त्त-न**, आदि। साथ ही ऐसे उदाहरण भी बहुत है जिनमे पुराने सस्कृत सामासिक पदो की पद-विज्ञान-सबधी सीमाएँ ध्वनि-परिवर्तन के कारण मिट गयी है, अर्थात् तत्सम रूप तद्भव मे बदल गये है, उदाहरणार्थ—**पहिलौटा**<अप० **पढविल-लोट्ठउ**<प्रा० **पढम-पुत्तको (पुत्तओ)**<स० **प्रथम-पुत्रकः**। रूढ शब्दो से जिनकी रूप-रचना व्युत्पत्ति-विश्लेषण के द्वारा खोजी जा सकती है ऐसे परवर्ती शब्द भिन्न है जिनमे प्रत्ययो का ह्रास हो गया है और जिनमे उनके प्रारभिक रूप और इस प्रकार सामासिक या व्युत्पन्न पदो के पद-विज्ञान सबधी अग सुरक्षित है, उदाहरणार्थ, हिन्दी के **-डा**, **-हा** वाले कठिनीकृत (hardened) रूप—**दुखडा**, **मुखडा**, **पनिहा** आदि—तथा हिन्दी की पूर्वी बोलियो मे प्रचलित **वैया**, **ऐया**, **वा**, **इया**, **ओवा**, **औवा**, **औना** आदि स्वार्थिक प्रत्यय।

उत्पादक और शब्द-रचनात्मक प्रकारो (टाइप) मे सबसे पहले विभाषीय अर्थात् सस्कृत और विदेशी भाषाओ के सामासिक और व्युत्पन्न शब्द आते है। अपने प्रारभिक प्रयोग मे तो इनका आकार अस्पष्ट जान पडता है और इस प्रकार ये हिन्दी के रूढ शब्दो के वर्ग मे आ जाते है, परन्तु जब आगे चलकर इन विभाषीय शब्दो की तुलना अन्य उधार लिये गये एकप्रकारीय (monotypical) शब्दो के साथ की जाती है तब उनका आकार स्पष्ट प्रकट हो जाता है और वे तद्धितात या सामासिक शब्दो के वर्ग मे आ जाते है। तथाकथित मिश्रित शब्दो का आविर्भाव हिन्दी द्वारा विभाषीय भाषाओ—सस्कृत और विदेशी, अर्थात् फारसी, अरबी और अग्रेजी की शब्दावली के अपनाये जाने का अतिम परिणाम है। ये मिश्रित शब्द या तो विभाषीय शब्दो मे हिन्दी के प्रत्यय अथवा हिंदी शब्दो मे विभाषीय प्रत्यय जोडकर बनाये जाते है। मिश्र और सामासिक शब्दावली समसामयिक साहित्यिक हिन्दी की महत्वपूर्ण विशेषता है।

§१ साहित्यिक हिन्दी मे शब्द-रचना की निम्नलिखित मूल विशेषताएँ है—

(क) सर्वप्रमुख विशेषता व्युत्पन्न और सामासिक पदो मे समानार्थक शब्दो की बहुसख्या और अनेकरूपता है। ये समानार्थक शब्द प्राय एक दूसरे के पूरक है, साथ ही उनमे ऐसे एकार्थक शब्द भी सम्मिलित है जो अर्थ मे एक दूसरे के पूर्णतया अनुरूप है। एकार्थक समानार्थी शब्दो मे परस्पर सगति प्रकट होती है। उदाहरण के लिए, 'डेमोक्रेसी' का भाव निम्नलिखित व्यापक रूप मे प्रचलित शब्दरचनाओ के द्वारा व्यक्त किया जाता है—**प्रजातंत्र**, **लोकतंत्र**, **प्रजासत्ता**, **लोकसत्ता**, **जनसत्ता**, स०-फा० **लोकशाही**, स०-फा० **प्रजाशाही**। 'डेमोक्रेटिक' का अर्थ व्यक्त करने के लिए **जनवादी**, **लोकवादी**, **प्रजातत्रवादी**, **जनतत्रवादी**, **प्रजातांत्रिक**, **प्रजातत्रीय**, **प्रजातत्री**, **गणतांत्रिक**, **जनतांत्रिक**, **जनतंत्रीय**, **जनतंत्री**, **जनतत्रात्मक**, **लोकतंत्रात्मक**, **लोकतंत्रीय**, **प्रजातात्मक**, स०-फा०-हि० **लोकशाही वाला** शब्द-रचनाओ का प्रयोग होता है।

एक वर्ग की शब्द-रचनाओ द्वारा दूसरे वर्ग के बहिष्करण की प्रक्रिया की गति बहुत मंद रही है। पारिभाषिक वस्तुतत्व मे सामान्यत अनुरूप होते हुए भी इन व्युत्पन्न और सामासिक शब्दो की अंग-रचना से सबद्ध और उसी के द्वारा परिसीमित उनके परस्पर पूरक अर्थो मे अंतर किया जा सकता है। एक ही भाव को व्यक्त करने वाले शब्द-रचना-प्रकारो मे अनेकरूपता होने के कारण साहित्यिक हिन्दी की शैलीगत सामर्थ्य मे अतीव समृद्धि हुई है, उदाहरणार्थ अ०-फा० **गुसलखाना**, स० **स्नानगृह**, स०-हि० **स्नानघर, स्नानालय, स्नानागार**, हि० **नहाने का कमरा**।[2]

शब्द-रचनात्मक समानार्थियो अथवा घनिष्ठ रूप से सबद्ध अर्थ वाले तथा एकार्थक शब्दो के आविर्भाव का कारण भाषा मे बहुत अधिक संख्या मे समानार्थक प्रत्ययो, अर्थात् एकार्थक अथवा घनिष्ठ रूप से सबद्ध अर्थ व्यक्त करने वाले प्रत्ययो और शब्द-प्रत्ययो की विद्यमानता ही है।

(ख) मिश्र और यौगिक शब्द-रचनाओ के नूतन, अर्थात् 'सोपाधिक' शब्द (conditionals) प्रयोग मे पूर्णतया स्थिर नही हो पाये है। प्राय अत्यन्त दृढता से जमे हुए योरुपीय अथवा अंग्रेजी शब्दो के लिए हिन्दी मे संस्कृत के एक या अनेक नूतन शब्द प्रयोग मे आने लगे है। उदाहरणार्थ, अ० **अस्पताल**—स० **अतुरालय, आरोग्यशाला, चिकित्सालय**, अ० **जज**—स० **विचारपति, न्यायाधीश**, अ० **गवर्नर**—स० **राज्यपाल, प्रांतपति** आदि।

अपेक्षाकृत पुराने फारसी-अरबी शब्दो के स्थान पर नूतन संस्कृत शब्दो के प्रयोग के अनेक उदाहरण है।[3] फा० **कार्रवाई, कारखाना, नौकरशाही**; फा०-अ० **अजायबखाना** (हिं०—घर), फा० **उम्मीदवार** आदि शब्द क्रमश स० **कार्यवाही, कर्मशाला, कर्मचारीतंत्र; कौतुकागार, प्रत्याशी** आदि अनुकरणमूलक (अनुवाद के रूप मे उधार लिए हुए) शब्दो के द्वारा अपदस्थ कर दिये गये है। अ० **अखबार** के स्थान पर हिन्दी मे स० **समाचार-पत्र** का व्यवहार होने लगा है। फा०-अ० शब्दो के स्थान पर हिन्दी की शब्द-रचना के भी उदाहरण मिलते है, जैसे, फा० **सालगिरह** स० हि० **वर्षगाँठ**, हि० **बरसगाँठ** या **बरसी** के द्वारा अपदस्थ हो गया है।

इसका कारण यह है कि ठेठ हिंदी के तद्भव शब्द फारसी-अरबी शब्दो की अपेक्षा कम तथा संस्कृत शब्दो की अपेक्षा और भी कम प्रयुक्त होते है।

(ग) व्युत्पत्ति की दृष्टि से बहु-भाषा-संयोग, अर्थात् मिश्र अथवा तथाकथित 'संकरज' (hybrid) शब्द-रचना—प्राचीन और नवीन दोनो प्रकार की—प्रसंगात्मक ही है। उदाहरणार्थ, हि०-फा० **समझदार**, हि०-फा० **फूलदान** (फा० **गुलदान**), अ०-हि० **लापता**, हि०-फा० **चौकीदार, पहरेदार**, अ०-फा० **नंबरदार** (गाँव का मुखिया), आदि प्राचीन 'संकरज'

---

२ दे० प्रेमचंद · 'सेवासदन' जिसमे 'स्नानघर' के साथ ही इन सभी शब्द-रचनाओं का प्रयोग हुआ है।

३ इस प्रकार की स्पष्ट प्रवृत्ति भारतीय संविधान द्वारा हिन्दी को राज्यभाषा घोषित करने के बाद दिखाई देती है।

शब्द-रचना के प्रकार है। स०-फा० **लोकशाही**, हि०-फा० **समझौतापसद**, हि०-स० **समझौता-प्रेमी**, **समझौतावादी**, अ०-स० **मशीनीकरण**, अ०-स० **फौजीकरण**, स०- हि० **उपचुनाव**, अ०-अ० **गैरपार्टी** आदि नूतन 'सकरज' शब्दरचना के प्रकार है।

अनेक नूतन शब्द-रचनाएँ जिनमे 'सकरज' शब्द भी सम्मिलित है, नवीन प्रत्ययो (शब्द-प्रत्ययो) के द्वारा बनाये जाते है।

विदेशी शब्दो मे प्रत्यय या उपसर्ग जोडकर नूतन शब्दो की रचना उन प्रत्यय-उपसर्गो की उत्पादन-क्षमता ही सिद्ध करती है।

(घ) नवीन—मुख्यतया सस्कृत—शब्दावली के निर्माण की प्रक्रिया मे अनुवाद के आधार पर शब्द उधार लेने का ढग व्यापक रूप मे अपनाया जा रहा है। हिन्दी मे अग्रेजी (व्युत्पत्ति की दृष्टि से ग्रीक और लैटिन) से उधार लिये हुए अनुवादमूलक पारिभाषिक शब्दो की बहुलता है, उदाहरणार्थ, **विकेन्द्रीकरण** (लै० decentralization), **प्रतिक्रिया** (reaction) **समाजशास्त्र** (Sociology), **साम्राज्यवाद** (imperialism), **जनित्र** (generator, वाच्यार्थ—जनक), **चलित्र** (motor, वाच्यार्थ—चालक), **देशित्र** (indicator, वाच्यार्थ—साग्र) **सग्रहित्र** (accumulator, वाच्यार्थ—सग्रहकर्ता), **अराजकता** (ग्री० anarchy), **अराजकतावाद** (anarchism) **अवमूल्यन** (devaluation)।

साहित्यिक हिन्दी मे सामाजिक-राजनीतिक तथा उससे भी अधिक वैज्ञानिक-शैल्पिक पारिभाषिक शब्दावली की रचना सस्कृत शब्दो और प्रत्यय-उपसर्गो के प्रयोग द्वारा अतरराष्ट्रीय—प्रधान रूप से ग्रीक-लैटिन—शब्दावली को अनुवाद के आधार पर उधार लेकर की जाती है। यह उसकी स्वाभाविक विशेषता है तथा एक सर्वथा नियमित और अनिवार्य परिणाम है, उदाहरणार्थ, **पूंजीवाद** (capitalism), **उपनिवेशवाद** (colonialism), **अतरराष्ट्रीयता** (internationalism), **व्यापारसघ** (trade union के लिए प्राय प्रचलित और नियमित शब्द **मज़दूरसंघ**, वाच्यार्थ—workers' union के स्थान पर), **गृहमत्री** (आन्तरिक मामलो का मत्री, अग्रेजी के Home Minister का वाच्यार्थ), **गृहनीति** (internal policy अ० home policy, तुलना कीजिए, अदरूनी नीति या पालिसी से), **अवेक्षक** (inspector, overseer, तुलना कीजिए प्रचलित 'ओवरसियर' से) आदि।

(ङ) हिन्दी के बहुसख्यक नवीन शब्द केवल व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'विदेशी' है, रचना-प्रकार और वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से नही। उदाहरणार्थ, ईरानी मूल का शब्द **नौकरशाही** केवल इस कारण विदेशी कहा जा सकता है कि यह **नौकर** और **शाही** शब्दो से बना है। फारसी भाषा से अलग-अलग उधार लिये गये सामाजिक-राजनीतिक शब्दो के रूप मे इस शब्द का वस्तु-तत्त्व विशेषतया नवीन भारतीय रचना है। यही बात सस्कृत से अनूदित **अधिकारीतंत्र** के विषय मे कही जा सकती है। एक ही अर्थ मे प्रयुक्त सस्कृत और अरबी-फारसी मूल के शब्दो मे कभी-कभी शैलीगत अन्तर का आभास भले ही दिखाई दे, वस्तु-तत्त्व की उनमे एकता ही मिलती है, अर्थात् दोनो शब्द एक ही भाव व्यक्त करते है। तुलनार्थ, फा० **अमन-पसद**—स० **शाति-प्रेमी**, फा० **जग-परस्त**—स० **युद्ध-प्रिय**, फा० **आज़ादी-पसद**—स० **स्वतंत्रता-प्रेमी**, फा० **कारख़ाना**

—स० कर्मशाला, फा० कारंवाई—स० कार्यवाही, फा० सालगिरह—स०-हिं० वर्षगाँठ हिं० बरसगाँठ।

(च) हिन्दी की नवीन शब्द-रचना मे सस्कृत के बहुत से शब्द (लगभग ५०) प्रत्यय की भाँति प्रयुक्त होते है, यद्यपि उनमे से अनेक नियमित रूप से (उदा०, **प्राप्त**, **गत**, **जाति**, **विद्या** आदि) तथा अन्य अनेक अपवादस्वरूप (उदा०, **वाद**, **तन्त्र**, **शील**, **शाला** आदि) स्वतत्र अथवा प्राचीन सामासिक पदो मे भी प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, **वर्ग** शब्द प्राय भाववाचक-समूह-वाचक सज्ञाओ के प्रत्यय का कार्य करता है। नवीन शब्दार्थगत रचना-प्रकार **प्रतिनिधिवर्ग** और **विद्यार्थीवर्ग** की प्राचीन शब्दार्थगत रचना-प्रकार **मजदूरवर्ग** से तथा नवीन रचना-प्रकार **आशावाद**, **आशावादी** से प्राचीन भारतीय शब्द-रचना का प्रतिनिधित्व करने वाले प्राचीन रचना-प्रकार **आशीर्वाद**, **धन्यवाद**, **मिथ्यावादी**, **सत्यवादी** की तुलना की जा सकती है।

जहाँ एक ओर शब्द का परपरागत अर्थ करने की सभावना है, जैसे **पूँजीवादी सिद्धान्त** के अर्थ मे **पूँजीवाद** शब्द, जो **पूँजी के शासन** का अर्थ व्यक्त करने वाले शब्द **पूँजीशाही** से स्पष्टत भिन्न है, वहाँ दूसरी ओर शब्दार्थ मे आधुनिकता लाने की भी सभावना है, जैसे **वाद** प्रत्यय से बने हुए अनेकानेक नवीन शब्दो के सादृश्य से **सत्य** के अर्थ मे **सत्यवाद** शब्द की रचना।

§ २ हिन्दी के नवीन प्रकार के शब्द-समास सस्कृत और फारसी दोनो भाषाओ के लिए विदेशी है। यह नवीन प्रकार की शब्द-रचना स्वय अपनी विशिष्ट पद-अर्थ-वैज्ञानिक शब्द-सयोग के बीच जैसी वस्तु कही जा सकती है। सुनीतिकुमार चटर्जी इसे 'असलग्न समास' 'स्वतंत्र, निर्बंध शब्द-समास' या 'शिथिल समास' कहते हैं।[४]

'इस स्वतत्र शब्द-समास' अथवा 'शब्द-बधन' का अध्ययन कोश-विज्ञान या शब्द-रचना की सीमा का अतिक्रमण करके शब्दार्थ-विज्ञान के अतर्गत पहुँचता है। शब्द-बंधन के कुछ उदाहरण है **सिंचाई-विकास-कर**, **प्रथम विश्व-शांति-कांग्रेस**, **अधिक अन्न उपजाओ-आंदोलन**, **विदेशी वस्त्र बहिष्कार**।

§ ३ नव्य भारतीय भाषाओ के व्याकरणगत आकार की एक अत्यत महत्त्वपूर्ण विशेषता यह जान पडती है कि उनमे प्राचीन क्रियागत उपसर्गो का ह्रास हो गया है तथा धातुओ के साथ उपसर्ग पूर्णतया एकाकार हो गए है,[५] उदाहरणार्थ, स० **उद्** + **स्था** = **उत्था** > हि० **उठ**, सं० **उप** + **विश्** = **उपविश** > प्रा० **उवइस** > हि० **बैठ**, इत्यादि।

नवीन शब्द-रूपो की रचना मे सामासिक पदो के उत्तर पद का कार्य असाधारण महत्व का होता है। सस्कृत के **वाद**, **तत्र**, **करण**, **शास्त्र**, **विज्ञान**, **विद्या**, **वेत्ता**, **ज्ञ**, **विद्**, **विरोधी**, **वासी**, **कार**, **कर्ता**, **कारी**, **कर**, **दाता**, **दायी**, **सबधी**, **विषयक**, **जनक**, **आसक**, **कृत**, **गत**, **पूर्वक**, **अर्थ**, **वश**, **गण**, **जन**, **वर्ग**, **आलय**, **गृह**, **आगार**, **शाला**, **पूर्ण**, **शील**, **संपन्न**, **युक्त**, **रहित**, **हीन**, **शून्य**, **प्रिय**, **प्रेमी**, **वादी**, **आकार**, **रूपी** तथा कतिपय अन्य शब्द हिंदी की नवीन शब्द-रचना मे रचनात्मक प्रत्यय

४. दे० सुनीति कुमार चटर्जी: भाषा प्रकाश (बंगला व्याकरण), पृष्ठ १९४।
५. उपसर्गो के मिटने की प्रक्रिया प्राकृतों के विकास से ही प्रारंभ हो जाती है।

या रचनात्मक शब्द-प्रत्यय का कार्य करते है। अत समसामयिक हिन्दी की सस्कृत प्रत्ययात्मक शब्द-रचना का अध्ययन सस्कृत की मूल समास-रचना से भिन्न नही है। इन नवीन शब्दो मे शब्द का दूसरा अग पहले की अपेक्षा अधिक अमूर्त्त होता है। सादृश्य के आधार पर दूसरे अग के कोशगत मूल्य का क्रमश ह्रास होता जाता है और इस प्रकार परसर्ग की भॉति प्रयुक्त होने तथा अन्य प्रत्ययात्मक शब्दो के सादृश्य के कारण स्वतत्र शब्द प्रत्यय का रूप धारण करते जाते है। उदाहरणार्थ, **स्वतत्रता** और **अधिकार** से बने **स्वतत्रतापूर्ण, अधिकारपूर्ण** और **अधिकार-प्राप्त** शब्दो से **पूर्ण स्वतत्रता, पूर्ण अधिकार** तथा **प्राप्त-अधिकार** की, **प्रतिनिधि** और **लेखक** शब्दो से बने **प्रतिनिधिगण, लेखकगण** से **गण-प्रतिनिधि, गणराज्य** की, **प्रजाजन** से **जन-आन्दोलन** की, **मनुष्य-जाति** से **जाति-भेद** की, **मनुष्य-वर्ग** से **वर्ग-भेद** की तुलना की जा सकती है।

§४ यद्यपि हिन्दी मे उपसर्गो की सस्कृत पद्धति अपनायी जाती है, परन्तु ये उपसर्ग सस्कृत की क्रियाओ से कोई सबध नही रखते। उनका प्रयोग शब्द-विशेष की सीमाओ के भीतर ही होता है। उदाहरण के लिए, रूप मे प्राचीन होते हुए भी **विस्थापित** शब्द पद-विज्ञान की दृष्टि से **स्थापित** से सबद्ध है, **स्था**—धातु से नही, अर्थात् **वि** + **स्था** + प्रेरणार्थक मूल पद **आप** ˜ **विस्थाप**+**इत** प्रत्यय वि थ पित। नूतन शब्द-रचना **विनिश्चय** और **विसगत** की सगति क्रमश **चिग** और **म्** धातुओ से नही, बल्कि **निश्चय** सज्ञा से है। व्युत्पन्न शब्दो के वस्तु-तत्व से ही यह प्रकट हो जाता है कि **चि** और **गम्** धातुओ से इस प्रकार के अन्य शब्द बनाना सभव नही है। परन्तु **वि-** की उत्पादन-क्षमता रचित शब्दो से स्वत सिद्ध है। अत, उदाहरणार्थ decentıalısatıon के लिए **वि** (de) + **केन्द्र** (centre) + **ईय** (al) **करण** (ısatıon) **विकेन्द्रीयकरण।**

हिन्दी मे फारसी और अरबी के उपसर्ग क्रमश **बिना** और **गैर** भी प्रयुक्त होते है, जो क्रमश उपसर्ग (Pıeposıtıon) **बे** और विशेषण से विकसित हुए है।

किसी प्रत्यय विशेष का प्रयोग अततोगत्वा उसकी व्युत्पत्ति पर नही, उसके व्यापार-गत मूल्य और उसकी उत्पादन-क्षमता पर निर्भर होता है। सस्कृत शब्द और नवीन भारतीय प्रत्यय **–वाद** अपनी उत्पादन-क्षमता के ही कारण सस्कृत के अतिरिक्त अन्य विदेशी भाषाओ के साथ भी जोडा जा सकता है। फारसी प्रत्यय **–दार** का हिन्दी के मूल पदो के साथ व्यापक प्रयोग होता है। हिन्दी के सबसे अधिक उत्पादक प्रत्यय **–वाला** और **–पन** का भी विदेशी मूल पदो के साथ व्यापक प्रयोग होता है। इस प्रकार यद्यपि प्रत्यय का सर्वाधिक प्रयोग एकभाषीय होता है, फिर भी फारसी-अरबी, अग्रेजी और यहाँ तक कि सस्कृत शब्दो के साथ हिन्दी प्रत्ययो को तथा हिन्दी शब्दो के साथ ईरानी प्रत्ययो को जोडने के उदाहरण इतने अविरल तथा विविध है कि तथाकथित 'सकरज' शब्द-रचना को सामान्य नियम का अपवाद कहने के लिए कोई आधार नही है।

§५ हिन्दी मे शब्द-रचनाओ के स्पष्टत चार प्रकार दिखाई देते है। दो मूल, अर्थात् पद-विज्ञानमूलक और वाक्य-विज्ञानमूलक प्रकार और दो मिश्र, अर्थात् ध्वनि-वाक्य-विज्ञानमूलक

और पद-वाक्य-विज्ञानमूलक प्रकार। इन प्रकारो के बीच घनिष्ठ सबध है, इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार के अतर्गत स्वय बडी विविधता दिखाई देती है। यह विविधता शब्द-रचना की विधियो मे भी है और उन शब्द-रचना के वर्गो मे भी जो इन विधियो से निर्मित होते है।

(क) पद-विज्ञानमूलक प्रकार के अतर्गत शब्द-रचना की सरल विधियाँ स्पष्टत निम्न है—१- प्रत्यय **चोर—चोरी, रस—रसीला**। २--उपसर्ग: **मोल—अनमोल, काम—बेकाम**। ३--आभ्यतर स्वर-सकोच (शून्य प्रत्यय) **मिलना—मेल**। इनके अतिरिक्त सयुक्त विधियाँ भी है—१--प्रत्यय और उपसर्ग **अतरप्रांतीय, प्रतिक्रियावादी**। २--प्रत्यय तथा पुनरावृत्ति **कड़कडाना, फडफडाना, सुनसुनाना, गुनगुनाना, कड़कडाहट** (√+√+ आहट)। ३--आभ्यतर स्वर-सकोच तथा प्रत्यय **खोदना—खुदाई, खेल—खिलाड़ी, लकडी—लकडहारा**। ४--शब्द-समास तथा आभ्यतर स्वर-सकोच **हाथ+कड़ी-हथकडी, हट्ट** (दूकान)+ **ताला=हड़ताल**। ५--शब्द-समास, आभ्यतर स्वर-सकोच तथा प्रत्यय मृत (रूढ) रचनाएँ, जैसे—**पानी+डूब** (ना)+**ई=पनडुब्बी, दो+पाट+आ दुपट्टा**।

वाक्यविज्ञानमूलक प्रकार के अतर्गत शब्द-रचना की निम्न विधियाँ[६] देखी जाती है—१--अभिव्यक्ति के लिए पुनरुक्तिमूलक आवृत्ति **छोटा-छोटा, अधिकाधिक, बीच-बीच में, पीछे-पीछे, पढ़-पढ़कर**। २--समानार्थात्मक आवृत्ति **काम-काज, मेल-मिलाप, मेल-जोल** (मिलना-जुलना), **देख-रेख, देख-भाल, सोच-विचार** इत्यादि। ३--विलोम आवृत्ति अथवा दो विरोधी शब्दो का सयोग **आज-कल, दिन-रात, लेन-देन,** स० **आय-व्यय, ऊँच-नीच,** स० **माता-पिता,** (माँ-बाप) इत्यादि।

(ख) ध्वनि-वाक्य-विज्ञानमूलक और पद-वाक्य-विज्ञानमूलक प्रकार के अतर्गत रूप और सूक्ष्म अर्थ-भेद, दोनो दृष्टियो से भिन्न, अनेक शब्द-रचनाएँ तथाकथित 'अनुप्रासमूलक शब्द-आवृत्ति' जैसी मिलती है √+आ+√+ई—**गरमागरमी, खीचाखीची** (खीचातानी), √+ओ+√–ई—**बाँधा-बूँधी** (बाधना), **बूँदाबूँदी** (बूद), √+√—**खीचखाँच,** (खीचा-तानी), **ठीकठाक,** √+ओ+√—**ठीकोठीक, बीचोबीच,** इत्यादि। इस रचना मे कुछ मिश्र 'समानार्थ-अनुप्रासमूलक' रचनाएँ भी है, जैसे-**देखाभाली** (देखभाल), **खीचातानी** (खीचखाँच), **लिखा-पढ़ी**।

(ग) पद-वाक्य-विज्ञानमूलक प्रकार मे शब्द-समास के अनेक रूप और प्रकार की

---

६. इस रचना-प्रकार के द्वारा वस्तुतः स्वतत्र शब्द-संयोग और शब्द-रचना (सही अर्थ से रूप-रचना) के बीच की स्थिति प्रकट होती है। हिन्दुस्तान की भाषा के इस जीवित लक्षण का तुलनात्मक-ऐतिहासिक और अर्थ-विज्ञानमूलक विश्लेषण उसके दोनो साहित्यिक रूपो में प्रचलित है। दे० अकेदमीसियन ए० पी० बरन्निकोव: 'हिन्दुस्तान में शब्द-आवृत्ति (पूर्वी टिप्पणियाँ, खंड १ लेनिनग्राद १९२७) और 'नव्य भारतीय भाषाओ मे पर्यायात्मक आवृत्ति (प्राच्यविद्या महाविद्यालय की टिप्पणियाँ, खड ३, लेनिनग्राद १९२९)।

शब्द-रचनाएँ पाई जाती है। **स्वराज्य, धनोपार्जन, ग्राम-पचायत, मतदान, भूमिदान, लकड़फोड, मुँहतोड, पतझड, भिखमगा, घुडचढा, घुडदौड, हथकड़ी, हाथी-दाँत** इत्यादि।

§ ६ हिन्दी मे प्रयुक्त सामासिक तथा यौगिक शब्दो के पद-विज्ञान की दृष्टि से दो भेद किये जा सकते है। प्राचीन रूपातरमूलक और नवीन, जिन्हे सश्लेषणात्मक प्रकार की शब्द-रचना कह सकते है। सश्लेषण से यहाँ तात्पर्य है एक या अनेक प्रत्ययो और शब्द-प्रत्ययो का अत्यत निश्चित नियम के अनुसार सयोजन—सयुक्त होने के पहले मूलपद के साथ सयोजन नही, बल्कि सीधे स्वय शब्द के साथ सयोजन। उदाहरण के लिए, रूपातरमूलक प्रकार **सौंदर्य** और सश्लेषणात्मक प्रकार **सुदरता**। प्राचीन प्रकार मे शब्द के भीतर गुण-वृद्धि होकर सधि हो जाती है, जैसे **सुदर** शब्द के प्रथम अक्षर (sy'la le) के स्वर मे वृद्धि होने से **सौदर** बना और फिर इसमे य प्रत्यय जोडकर **सौंदर्य** बनाया गया। **वायु > वायव + ईय = वायवीय**, अर्थात् सधि **उ + ईय = अवीय**।

सश्लेषणात्मक प्रकार की शब्द-रचना मे रचना का सपूर्ण व्यापार एकातत प्रत्यय या 'शब्द-प्रत्यय' और उपसर्ग पर निर्भर होता है। इस प्रकार शब्द का मूलपद ज्यो का त्यो मूल शब्द ही होता है, जैसे **सुन्दरता** शब्द मे मूलपद **सुदर** ज्यो का त्यो सुरक्षित है। इसी के सादृश्य मे **वायु** से **वायुसबधी** शब्द बनता है। यहाँ **सबधी** शब्द विशेषण-प्रत्यय का व्यापार सूचित करता है। तुलना कीजिए अशुद्ध नवीन शब्द-रचना **महानता** और शुद्ध सस्कृत **महत्व**, एक ही अर्थ के द्योतक **विदेशीय** और **वैदेशिक**, अशुद्ध **उपनिवेशिक** और शुद्ध **औपनिवेशिक**, नवीन शुद्ध **इतिहासकार** और प्राचीन शुद्ध **ऐतिहासिक** तथा **अभियोगकर्ता** और **अभियोक्ता**।

हिन्दी शब्द-रचना मे स्पष्टत सश्लेषणात्मक प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है, उदाहरणार्थ, **विद्वान लोग** का प्रयोग **विद्वद्गण, विद्वज्जन** की अपेक्षा अधिक होता है तथा अधिक व्यापक रूप मे समझा जाता है। नियमित रूप **विद्वज्जन** का प्रचलन तो और भी सीमित है, **नैत्य** की अपेक्षा **नित्यता** अधिक सही तौर पर प्रयुक्त होता तथा समझा जाता है। शब्द-उत्पादन की प्रक्रिया मे कुछ प्रत्ययो (**-इक्, -तत्र, -वाद, -इ, -ईय, -पन** आदि) के क्रमिक सयोजन के द्वारा नूतन शब्द-रचना भी देखने योग्य है : **साम्राज्य-वाद-इ-ता**, (वाच्यार्थ imperialistness), **अवसर-वाद-इ-ता** (वाच्यार्थ opportunistness), **प्रजा-तत्र-वाद** (democratism), **अतर-राष्ट्र-ईय-ता** (वाच्यार्थ internationalness), **पडित-आऊ-पन, अ-हस्तक्षेप-कार-इ-ता**, आदि।

एक ओर बोलियो की शब्द-रचना मे नियमत ठेठ हिन्दी की धातुओ और मूलपदो में स्वर-परिवर्तन के तत्त्व दिखाई देते है, जैसे **लेना—लिवैया; छोटा—छुटपन** (मिलाइए, छोटापन, छोटाई); **लडका—लडकपन, बच्चा—बचपन; मोटा—मुटाई** (मिलाइए, मोटाई, मोटापन), **घोडा—घोड़ेवाला, घुडसाल**, इत्यादि। दूसरी ओर सश्लेषणात्मक तत्त्व, अर्थात् मूल शब्द के साथ प्रत्यय के सीधे सयुक्त होने के उदाहरण मिलते है प्राचीन प्रकार की नियमित शब्द-रचना—**सिद्धान्त—सैद्धान्तिक; उद्योग—औद्योगिक, औद्योगीकरण, नव—नवीकरण** के साथ नवीन प्रकार की अशुद्ध (अनियमित) शब्द-रचना **सिद्धान्तिक, उद्योगिक, उद्योगीकरण केन्द्रीकरण**,

नवीकरण, इच्छित (इष्ट के स्थान पर), **क्रोधित, क्रोधमय, कोपित** (क्रुद्ध, क्रुद्धालु, कुपित के स्थान पर) आदि की तुलना कीजिए। इसी प्रकार नियमित **विद्युतीय (वैद्युतिक), पृथकता (पार्थक्य), साहित्यकार (साहित्यिक)**, तथा नूतन शब्द परिभाषाएँ **नवीनतावादी, केन्द्रीयता** (centralism परन्तु वाच्यार्थ मे centralness)।

'स्वार्थिक' (pleonastic) अथवा सघनताकारी प्रत्यय का प्रयोग हिन्दी मे दो प्रकार का मिलता है एक तो **-ई (-आई)** प्रत्यय से बने हुए पुरानी शब्द-रचना के रूपो मे, जैसे, **सुन्दरताई, सुन्दरता, सौंदर्य** आदि अथवा सयोगात् रचनाओ के रूपो मे, जैसे, **भडारघर, भाडागारालय** (?), **भांडागार, भडार; दवाई, दवा** आदि, और दूसरे, बोलियो के बोलचाल वाले रूप मे, जैसे **घसवा** (?)—**घास, घोडवा** (?)—**घोड़ा; बेटवा** (?)—**बेटा, बलिया** (?)—**बाल; भैया—भाई, बुढिया—बूढी** इत्यादि।

§ ७ साहित्यिक हिन्दी मे प्रत्यय के प्रयोग की उनके उद्गम के आधार पर तीन पद्धतियाँ है तद्भव, सस्कृत और विदेशी, अर्थात् फारसी-अरबी। इनमे सबसे अधिक उत्पादन-क्षमता तद्भव पद्धति मे जान पडती है ; उदाहरणार्थ, **-वाला** प्रत्यय 'जानेवाला' (ready to go) जैसे केवल व्याकरणगत 'प्रयोजनसूचक कृदती' रूप मे ही प्रयुक्त नही होता, बल्कि कोश-व्याकरणगत रचनात्मक रूप मे भी इसके विविध प्रयोग मिलते है, जैसे कर्तासूचक सज्ञा, पेशे या उत्पत्ति, निवास आदि के आधार पर अधिकार का आभास देते हुए विशेषण के अर्थ मे, उदाहरणार्थ, **जानेवाला** (preparing to go, goer, he who goes) **सुननेवाला** (hearer, he who heais), **दुकानवाला** (hopkeeper), **पुलिसवाला** (Police), **शहरवाला** (dweller in city), **पहलेवाला** (the former) इत्यादि, तथा विशिष्ट बोलचाल के रूप मे, जैसे, **मेरे वाला, नजदीक वाला, छोटा वाला** इत्यादि।

यद्यपि हिन्दी शब्द-रचना का आधार अधिकतर तद्भव प्रत्यय की पद्धति ही है, परन्तु सस्कृत और फारसी पद्धतियो मे कुछ स्वाधीनता दिखाई देती है। सस्कृत पद्धति मे फारसी पद्धति से भी अधिक स्वाधीनता पायी जाती है। सस्कृत प्रत्यय नियमत सस्कृत शब्द-रचना के ही भीतर रहते है। इसका कारण एक तो यह है कि स्वय सस्कृत मृत भाषा है और दूसरा यह कि साहित्यिक हिन्दी रचना मे सस्कृत का सीधा प्रभाव पडा है। सस्कृत प्रत्यय तथा किसी सीमा तक फारसी प्रत्यय की पद्धतियो की स्वाधीनता उन विशिष्ट शैलियो मे अधिक दिखाई देती है, जो सस्कृत या फारसी शब्दावली से परिपूर्ण होती है। अत हिन्दी शब्द-रचना के अध्ययन का एक पक्ष प्रत्ययो के शैलीगत सूक्ष्म अर्थ-सकेत—सूक्ष्मभाव (shade)—तथा उस सूक्ष्म अर्थ-सकेत के सवेगात्मक और अभिव्यजनात्मक आधार का स्पष्टीकरण भी है। उदाहरणार्थ हिन्दी प्रत्यय **-पन** अर्थ की दृष्टि से अथवा शब्द-रचना के उस वर्ग (भाववाचक सज्ञा) की दृष्टि से जो उसके द्वारा व्यक्त होता है सस्कृत के **-ता** के अनुरूप तो है, परन्तु अपने सूक्ष्म अर्थ-सकेत की दृष्टि से अथवा उस शब्द के अभिव्यजनात्मक सूक्ष्म अर्थ-सकेत की दृष्टि से जो इस प्रयत्य के द्वारा बनाया जाता है वह सस्कृत के **-ता, -त्व** से भिन्न है , उदाहरणार्थ—**नेतापन** (leadership) **नेताशाही** (dictatorship of leader) परन्तु **नेतृत्व** (leadership)।

'Bureaucracy' शब्द का भाव व्यक्त करने के लिए फारसी के **नौकरशाही** का प्रयोग सस्कृत के **कर्मचारीतत्र या अधिकारीतंत्र** से अधिक उपयुक्त है, अतरराष्ट्रीय शब्द 'imperalism' के लिए **साम्राज्यवाद** (भाव या सिद्धान्त के अर्थ मे) की अपेक्षा **साम्राज्यशाही** अधिक उपयुक्त है। शब्द के शैलीगत रग और उसके वस्तुत व मे कितना विरोध है, यह इस तथ्य से प्रमाणित हो जाता है कि **युद्धप्रेमी, युद्धप्रिय, युद्धवादी** (militarist) तथा **युद्धप्रियता, युद्धवाद** (militarism) आदि सस्कृत की नूतन शब्द-रचनाएँ पारिभाषिक प्रयोग को छोडकर सामान्य प्रयोग की दृष्टि से फारसी की नवीन रचनाओ—**जगपरस्त, जगबाज, जगखोर** आदि—की अपेक्षा कम सुविधाजनक है। आधुनिक समाचार-पत्र स्वभावतया इन फारसी शब्दो को ही उनके सस्कृत पर्यायो की अपेक्षा अधिक पसद करते है।[7] परन्तु democracy का भाव हिन्दी मे सस्कृत शब्दो, **लोकतत्र, जनतत्र, प्रजातत्र** के द्वारा 'सकरज' स०-फा० **लोकशाही या प्रजाशाही** की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह व्यक्त होता है। इसी तरह स०-फा० **राजशाही** (Czarism) और स० **राजतत्र** (monarchy) की तुलना की जा सकती है। हिन्दी मे सस्कृत के **शातिप्रेमी, शातिपक्षी, शातिवादी** को फारसी के **अमनपसद** तथा **अमनपरस्त** की अपेक्षा अधिक स्वीकार किया जाता है। अन्तिम शब्द प्राय pacifist के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

§ ८ हिन्दी के रचनात्मक प्रत्ययो के विश्लेषण से यह सभव हो जाता है कि शब्दार्थ-वैज्ञानिक पक्ष मे शब्द-रचना की प्रक्रिया का निम्नलिखित दो दिशाओ मे परीक्षण किया जाय—(क) शब्द के वस्तु-तत्त्व मे परिवर्तन तथा नवीन अर्थ का आविर्भाव तथा (ख) पुराने अर्थ मे नवीन सूक्ष्म अर्थ-सकेत—मुख्यतया सवेगात्मक अभिव्यजनासूचक सूक्ष्म अर्थ-सकेत—का आविर्भाव। इस प्रकार ज्ञात सीमाओ के भीतर शब्द-रचनात्मक और रूप-रचनात्मक प्रत्ययो मे भेद करना सभव हो जाता है। जहाँ तक प्रत्यय जोडकर शब्द के रूपात्मक परिवर्तन और साथ ही शब्दार्थगत परिवर्तन का सबध है **लोमड़ा** (?)—**लोमडी, खाट—खटवा, खटिया; घोड़ा—घोड़वा, घोड़ौवा** आदि के कोशगत रूपरचना-प्रकार को शब्द-रचनाओ का ही अग माना जा सकता है, यद्यपि इनकी स्थिति सिद्धान्तत **दुकान—दुकानदार; मोटा—मोटाई; बोझ—बोझैल; दाढी—दढ़ियल, दाढीवाला** आदि सकुचित अर्थ मे ठेठ शब्द-रचना-प्रकार की अपेक्षा **घोडा—घोडे का, घोडो का, घोडे को, घोड़ो से** आदि व्याकरणगत रूप-रचना-प्रकार के कुछ अधिक निकट है।

'शब्द-रचनात्मक' तथा 'रूप-रचनात्मक' वर्गो मे हिन्दी प्रत्ययो के विभाजन से उन पूरक सूक्ष्म अर्थ-सकेतो का स्पष्टीकरण हो जाता है जो कुछ प्रत्ययो के द्वारा शब्द-रचना की प्रक्रिया मे सक्रमित हो जाते है, चाहे ये सूक्ष्म अर्थ-सकेत प्रत्यय की कोशगत प्रकृति से परिसीमित

---

७. आधुनिक समाचार-पत्रो के ही आधार पर वी० एम० बेसक्रोव्नी (मास्को १९५३) के 'हिन्दी-रूसी कोश' में 'militarist' के लिए उक्त फारसी शब्दों के साथ-साथ 'संकरज' शब्द सं०-फा० युद्धबाज, युद्धखोर; फा०-सं० जंगवादी भी दिये गये है।

हो अथवा सीमित व्यापारगत प्रकृति के हो। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, हिन्दी प्रत्यय **-ऊ** (आऊ) कृदन्त और कर्तासूचक सज्ञा, अर्थात् व्यक्तियो के नाम के साथ-साथ 'सुविधा', 'सामर्थ्य', 'पर्याप्तता', 'कार्यविशेष' के अनुभव के लिए प्रस्तुत होने का भी सूक्ष्म अर्थ-सकेत करता है, जैसे—**जमाऊ** (जमा कर सकने मे समर्थ), **जोताऊ** (जोते जाने के लिए सुविधाजनक), **डुबाऊ** (डूबने के लिए पर्याप्त, डुबकी लगाने के लिए 'सुविधाजनक', 'गहरा')। सस्कृत का विशेषण-प्रत्यय **-मय (-मयी)** हिन्दी की नवीन शब्द-रचना मे 'पूर्णता', 'गुण की प्रचुरता' का अर्थ-सकेत देता है, जैसे, **आनन्दमय, अरबी-फ़ारसीमय**। सस्कृत प्रत्यय **-आलु** और शब्द-प्रत्यय **शील** झुकाव (leaning), विशेषता (character), स्वाभाविक रुझान (propensity), अथवा गुण का अर्थ-सकेत करते है, जैसे—**कृपालु** (kind hearted), **उन्नतिशील, प्रगतिशील** (स्वभाव, विशेषता या प्रकृति के अनुसार progressive)। इसकी तुलना **प्रगतिवादी** (दृष्टिकोण, रुझान या विचारो की दिशा के अनुसार progressive, progressist) से कीजिए।[८]

हिन्दी मे रूप-रचना के आधार निम्नलिखित रचना-प्रकारो मे पाये जाते है (क) स्नेहसूचक ऊनवाचक सज्ञाएँ, जैसे, **बेटी—बिटिया**, तथा (ख) जीवधारियो की पुल्लिग सज्ञाओ से बने स्त्रीलिग रूप, जैसे, **शेर—शेरनी**।

§ ९ प्रत्ययात्मक समानार्थी न केवल प्रत्ययो की विभिन्न पद्धतियो के बीच पाये जाते है, बल्कि एक ही पद्धति के अतर्गत भी मिलते है। परन्तु विभिन्न भाषाओ से लिये गये प्रत्ययो से बने शब्दो मे अर्थ की एकता या समता तो पूर्णरूप मे हो सकती है, परन्तु उनमे शैलीगत सूक्ष्म अन्तर बना रहता है। उदाहरणार्थ, स० **उत्तरदायी, उत्तरदायित्व** फा० **जवाबदेह, जवाबदेही** के पूर्ण अनुरूप है। स० शब्द-प्रत्यय **आलय, आगार, गृह** हि० **घर** और फा० **खाना** का समानार्थी है। फा० प्रत्यय **-दार** अर्थ और व्यापार मे हि० प्रत्यय **-वाला** के सर्वथा अनुरूप है, जैसे, हि०-फा० **पूँजीदार**, फा०, **सरमायादार**, हि० **पूँजीवाला**, स० **पूँजीपति**। फा०**-मद** स०**-मान्** (**-मत्**), **-वान्** (**-वत्**) का पर्याय है, जैसे, फा० **दौलतमंद**, स० **धनवान्, धनी**, अ०-फा० **अक्ल-मद**, स० **बुद्धिमान्**। स० **-ता** और **-त्व** फा० **-ई** और हिं० **-आई, -पन** के समानार्थी है, इत्यादि।

सयोगात् अथवा व्यापारगत समानार्थकता के साथ-साथ ऐसी समानार्थकता भी मिलती है जिसका कारण प्रत्ययो के उद्गम की एकता है। सस्कृत प्रत्यय **-इन** (करण कारक एक-वचन **-ई**), **-ईय, -मान्** का वही अर्थ है, जो हिन्दी और फारसी मे विशेषण प्रत्यय **-ई, -मद** का है। सस्कृत **-इक** बोली के हिन्दी प्रत्यय **-इया** का समानार्थी है। सस्कृत **-त्व** हिन्दी के **-पन** (वैदिक **-त्वन**) का समानार्थी है। भाववाचक सज्ञा के फारसी प्रत्यय **-ई** और हिन्दी प्रत्यय **-ई, (आई)** अथवा सस्कृत के अनुत्पादक **-ई (-की)** का अर्थ एक ही है। प्रत्ययो के अर्थो की इस प्रकार की अनुरूपता उनकी व्युत्पत्ति की एकता पर ही आधारित है। विभिन्न उद्गमो के प्रत्ययो की इस

---

८. ये सूक्ष्म अर्थ-संकेत संस्कृत से हिन्दी में उन शब्दों के साथ आये हैं जिनमें और अधिक स्पष्ट तथा कोशगत अभिव्यजना हुई है।

समानार्थकता और एकार्थता के आधार पर शैलीगत सूक्ष्म विविधताओ की अतीव सभावनाएँ प्रकट होती है। इस सबध मे निम्नलिखित प्रत्ययो अथवा और शब्द-प्रत्ययो की तुलना की जा सकती है—

स० -तन्त्र—फा० -शाही; स० -वाद—अ० -इयत, स० प्रेमी, प्रिय—फा० पसद, परस्त; स० -ता, -त्व—हि० -पन; स० -वादी, -कारी, आदि—फा० बाज़, -ख़ोर, आदि, स० -कार—फा० -ग़ार, -गर; स० -पूर्ण, -शील, -मय, -आलु—हि० -आऊ, -आलू, -ईला, -ऐला (स० इल), इत्यादि।

सामान्यतया हिन्दी शब्द-रचना की यही विशेषताएँ है।



एम० बी० एमेन्यू

ब्राहुई संकेतवाची सर्वनाम

ब्राहुई के तीन सकेतवाची सर्वनाम व्युत्पत्ति सम्बन्धी समस्या प्रस्तुत करते है।

सबसे अधिक सामान्य द्राविडी सकेतवाची निकटवर्ती आधार इ, ई तथा दूरवर्ती आधार अ, आ है। प्रस्तुत प्रसग मे इनकी व्युत्पत्ति की विशद व्याख्या आवश्यक नही है, देखिए—टी० बरो तथा एम० वी० एमेन्यू, ए ड्रेवेडियन एटीमोलाजिकल डिक्शनरी, सूची ३५१ और १। यह कहना यथेष्ट है कि ब्राहुई को अपवाद रूप मे छोड सभी द्राविड भाषाएँ बिना किसी ध्वन्यात्मक कठिनाई के आधार स्वरो के सम्बन्ध मे स्पष्टत स्वजातीय है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन तमिल और कन्नड के साक्ष्य पर कुछ भाषाओ मे उ अथवा ऊ आधार है जिसकी व्याख्या मध्यवर्ती सकेतवाची के रूप मे की जा सकती है।[1] दूसरी भाषाओ मे इसी अर्थ मे इस आधार के रूप है—कुबी (फिजगरेल्द) तथा कुरुख भाषाओ मे आधार हु, इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओ मे ये आधार निकटवर्ती सकेतवाची अर्थ मे है कोता मे उ॰न्, उ॰ळ्, उ॰र्, (स्त्री तथा पुरुषवाची वह तथा वे) जो आधार ई के रूपो से भिन्न रूप प्रतीत होते है,[2] तुल मे उन्दु, उन्दकुळु (यह वस्तु, ये वस्तुएँ—उन्दु तथा इन्द, वैकल्पिक रूप है) ब्रिगेल और मॉनेर के द्वारा निकटवर्ती सकेतवाची के लिए दिये गये है, पर्जी मे इ आधार से बने हुए रूपो के स्थान पर ऊद् (यह पुरुष के लिए), ऊर् (ये पुरुषो के लिए) है, यद्यपि इ आधार के रूप अन्य प्रकार से प्रयुक्त होते है [इद्, इव्—(यह स्त्री या वस्तुए, ये स्त्रियाँ तथा वस्तुएँ)]। निकटवर्ती सकेतवाची का यह सयोग गौण है। दूसरी ओर कुई मे ओ आधार चार सकेतवाचियो मे सुदूरवर्ती है, कुवी (शुल्जे) मे कुई के ओ आधार के सदृश हु आधार है। माल्तो उथि (वहाँ देखो) तथा मलयालम उम्पर् (उठा हुआ स्थान, चबूतरा, स्वर्ग, देवता तथा मस्तूल आदि) बिखरे रूप है।

दूसरे आधार एँ तथा ए है जो कुई मे तीन दूरवर्ती सकेतवाची (उदा० एँ, अ, ओ) मे निकटतम के लिए हैं। कुवी (शुल्जे) एँ कुई एँ के समान है, और हे तीन दूरवर्ती सकेतवाचियो (उदा०—एँ, हे तथा हु) मे मध्य का है।

---

१. प्राचीन कन्नड शिलालेखों की सामग्री के लिए, जी० एस० गई, बुलेटिन ऑव दि डकन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट १०-६८ (१९५०), एल० वी० रामास्वामी अय्यर, दि एवोल्यूशन ऑव् मलयालम मॉरफॉलोजी ३२ (१९३६)। मलयालम के रूप प्राप्त नहीं हुए।

२. एमेन्यू, कोता टेक्स्ट्स, भा० १, २४, अनु० ३९। साधारण सहायक ग्रन्थों की अनुक्रमणिका के लिए देखिए 'ए ड्रैवेडियन एटिमॉलोजिकल डिक्शनरी'।

द्राविड सकेतवाची आधारपजिका

इ			अ	मलयालम, तोडा, कोडगु, कोलमी-नइकी, गडवा, गोंडी, कौंडा, माल्तो
इ	उ		अ	तमिल, कन्नड, कुवी (फिजगेरल्द), कुरुख
इ उ			अ	कोता, तुलु, परजी
इ	एँ	अ	ओ	कुई
इ	एँ	हें	हु	कुवी (शुल्जे)
दा	ओ[3]		ए	ब्राहुई

ब्राहुई मे प्रथम समस्या दूरवर्ती सकेतवाचियो की है। **ए** प्रत्यक्षत कुई-कुवी **एँ** से सम्बद्ध प्रतीत होगा। फिर भी लगता है कि सामान्यत ब्राहुई श्रेणी की तुलना केवल अधिक साधारण द्राविड श्रेणी **इ, उ, अ** से की गयी है। ऐसा होने पर अर्थ के आधार पर **ए** अ के समकक्ष हो जाता है तथा इसमे या तो ध्वनि की अवहेलना की जाती है अथवा निर्विवाद रूप से यह मान लिया जाता है कि प्रोटो ड्रैवेडियन ***आ** से ब्राहुई **एँ** आया है (दे०—ब्रे, वोकेबलरी, एस० बी०)। वस्तुत अनेक व्युत्पतियाँ प्रो० द्र० ***आ** > ब्रा० **आ** (इन्ट्रीज ३३३, ११९२, ११९५, ११९७, १२१९, ३३७०, ४३५५, ४३८५) के सम्बन्ध को स्पष्ट करती है। केवल एक रूप ब्राहुई के निजवाचक सर्वनाम (***तान्** > ब्रा० **तेन**, इन्ट्री २६१२) मे प्रो० द्र० ***आ** > ब्रा० **ए** के सम्बन्ध का अच्छा प्रमाण है। प्रश्नवाचक सर्वनाम **देर्** की तुलना साधारणत *या— से की जाती है जो प्रश्नवाची आधार है, किन्तु अनेक भाषाओ मे इस सर्वनाम के लिए **ए** है और यह प्रतीत होता है कि **य्** कदाचित् **आ** > **ए** के परिवर्तन को स्पष्ट करता है।[4] साक्ष्य का सतुलन इस प्रकार है, अत स्पष्ट ध्वनि विशेषता के आधार पर अग्रसर होना अधिक सगत होगा ***ए** > ब्रा० **ए** (इन्ट्रीज ७६७, २८५६, ३६२७, ४५५२)। निश्चय ही यह कुई-कुवी **एँ** की प्रत्यक्ष व्युत्पत्ति की ओर ले जाती है। कुई की श्रेणी (**इ, एँ,** अ, **ओ**) स्वत **एँ** तथा अ को सम्मिलित करनेवाली प्रोटो द्राविडी श्रेणी के लिए सभावित प्रमाण है। यदि ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से ब्राहुई **ए** का सम्बन्ध ***आ** से न होकर ***ए** से है, तब यह कुई **एँ** से लगभग आवश्यक रूप से ***एँ** तथा *अ को सम्मिलित रखनेवाली प्रो० द्राविडी सकेतवाची श्रेणी को स्थिर करने के लिए सयुक्त होती है। निश्चय ही मूल अनुमान यही है कि ब्राहुई तथा कुई मे साधारणत निकट का सम्बन्ध नही है, और जो इस प्रकार की समानताएँ है वे प्रो० द्राविडी तत्त्व के सुरक्षित रहने के प्रमाण है।

---

३. ब्रे ने अपने व्याकरण में 'ओ' लिखा है पर प्राय. सभी प्रयोगो में दीर्घ स्वर ध्वनितत्व स्वीकार किया है। इसके पश्चात् की 'वोकेबलेरी' में उसने 'ओ' लिखा है।

४. इस सर्वनाम की विशद व्याख्या के लिए दे०—बी० बरो, बी एस ओ ए एस, ११, ५९६-६०० (१९४५)।

निश्चय ही कुई ओ और ब्राहुई ओ को प्रत्यक्षत साथ रखना चाहिए। अब तक इसका स्वरात्मक ध्वनि-ज्ञान समझा नही गया है, लेकिन जब तक कि दोनो भाषाओ के स्वरो के अनुसन्धान से कोई विरोधी प्रमाण उपलब्ध नही होता है, हमको यह स्वीकार कर लेने मे कोई बाधा नही कि ये आधार ध्वन्यात्मक रूप मे दूसरी भाषाओ के उ आधार के साथ है। कुई से निकटता से सम्बन्धित कुवी ने उ आधार रखा है, यद्यपि फिज्ञगेरल्द तथा शुल्जे के कुवी सम्बन्धी विवरण विश्वसनीय नही है, किन्तु वे उ के विषय मे सहमत है। अत कुई ओ इस समय उ का गौण रूप माना जा सकता है। कुई-कुवी के तीन विवरण—कुई इ, ए, अ, ओ, कुवी (शुल्जे) इ, ए, हे, हु, कुवी (फिज्ञगेरल्द) इ, उ, अ—क्रम और रूप की दृष्टि से इतने भिन्न है कि कुई तथा कुवी के लिए केवल इ निकटवर्ती सकेतवाची तथा ए, अ, ओ दूरवर्ती सकेतवाची की श्रेणी को ही निश्चयात्मक रूप से निर्धारित किया जा सकता है। यदि फिजगेरल्द के विवरण को ऊपर-ऊपर से देखा जाय तो किसी भी श्रेणी-क्रम का निर्धारित होना सभव नही है। यह पूर्व कुई-कुवी के *उ तथा *अ की ओर इगित करते है जो अपने उसी क्रम मे तमिल, कन्नड तथा कुरुख मे उपलब्ध है। कुई, शुल्जे की कुवी और ब्राहुई के आधार पर हमने प्रो० द्राविडी श्रेणी मे ए को सम्मिलित करने का निश्चय किया है। कुई तथा कुवी मे इ तथा उ/ओ के मध्य मे ए होना चाहिए। विनफील्ड का कथन है (व्याकरण, पृ० ४३) कि अ व्यवहारिक रूप मे ए का पर्याय है और इसका प्रयोग इतना प्रचलित नही है जितना अन्य सकेतवाचियो का। इससे यह भी सकेत मिलता है कि कुई और शुल्ज़े की कुवी मे समान रूप से ए, उ/ओ, अ के क्रम का ए, अ, उ/ओ के क्रम मे परिवर्तन हुआ है और शुल्जे की कुवी मे कुई मे उपलब्ध पद्धति के द्वारा अ लुप्त हो गया है। यदि कुई-कुवी मे ए की प्रस्तावित अ तथा उ/ओ के पूर्व की स्थिति को ठीक मान लिया जाय, तो इसको प्रो० द्रा० स्वीकार करना बहुत कठिन है, क्योकि ब्राहुई मे ओ ए का उल्टा क्रम मिलता है। इस इतने साक्ष्य के आधार पर हम वास्तव मे प्रो० द्राविडी श्रेणी मे *ए के स्थान को नही जान सकते। मैं समझता हूँ कि मैने सफलतापूर्वक यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है[5] कि कुई के अपने रूप-गठन मे प्रो० द्राविडी का एक प्राचीन तत्व है। यदि यह ठीक है, तो कुई ने सभवत *अ तथा *उ/ओ के पूर्व *ए की स्थिति को बनाये रखने मे दूसरे प्राचीन तत्त्व की रक्षा की है (यद्यपि इसने स्पष्टत बाद के दो रूपो के क्रम को बदल दिया है)। किंतु यह तर्क कम सगत है, और मेरे लिए इसका उल्लेख मात्र पर्याप्त है।

ब्राहुई की पहली समस्या के विवेचन से इस प्रकार परिणाम निकलते है (१) ए का कुई-कुवी ए से समीकरण होना, (२) ओ का उ से समीकरण अनेक भाषाओ मे व्याप्त है और कुई ओ से समीकरण (३) दोनो आधारो के प्रा० द्रा० होने की स्थापना (४) और यह अनिश्चय कि कुई-कुवी क्रम ए, उ/ओ अथवा ब्राहुई क्रम ओ, ए प्रो० द्रा० का प्रतिनिधित्व करता है।

ब्राहुई मे निकटवर्ती सकेतवाची आधार दा- है। दूसरी समस्या है कि क्या प्रो० द्रा०

---

५. द्राविडी क्रियाएँ 'आना' और 'देना', लैंगुएज, २१, १८४-२१३।

श्रेणी-क्रमो *इ (*एं, *उ), *अ मे व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसकी सगति बैठायी जा सकती है, और यदि बैठायी जा सकती है तो किस प्रकार? एडविन टटिल (बी एस ओ एस ४ ७७७, १९२८) का विचार था कि दा– अफगान दा से लिया गया है, उदा०–पश्तो सकेतवाची आधार दा-से, किंतु ब्रे ने इसको स्वीकार नही किया है (वाकेबुलेरी, एस० बी०)। ऐतिहासिक सभा-वनाएँ भी ब्राहुई भाषियो के पश्तो भाषियो के सम्बन्ध का विरोध करती है। उनका सम्बन्ध जितना सिंधी और बलूची से रहा है उतना पश्तो भाषियो से नही।

साधारणत अर्थ के आधार पर दा– को *इ के साथ रखा गया है। ब्रे के अनुसार (वाकेबुलेरी, एस० बी०) "आ<अ<इ, जैसे अर्– और द्रा० इर् (होना), हन्– तथा द्रा० इन् (मीठा) आदि, द्–अग्रश्रुति के फलस्वरूप है, द्>ज्<य्, जैसे देर्, यह परि-वर्तन पूर्ण रूप दाद् के अन्त्य व्यजन से सभवत प्रभावित है, पश्तो दा से अपेक्षाकृत कम।" स्वरो की ध्वन्यात्मकता को सिद्ध करने मे जो दो व्युत्पत्तियाँ दी गयी है, उसके अनुसार ब्रा० अर् 'होना' (अन्निग) का सम्बन्ध *इर्–'रहना, अस्तित्व होना, बैठना' (इन्ट्री ४०७) की अपेक्षा *आ–'हो जाना' (इन्ट्री २८२) से है। दूसरी हन्–'मीठा' तमिल इन्, जिसके अन्तर्गत ब्रा० अ<*इ निहित है, एकमात्र सभव व्युत्पत्ति है। निश्चय ही सम्पूर्ण तमिल रूप, उदा० इनपम्, इनपु –'मीठापन', इनि –'मीठा या सुखद होना' आदि, कन्नड इन्–, इम्पु, इम्बु, इम्मु–'मधुरता, अच्छापन, तथा तेलगु इन्चु–'भला होना', न–'गन्ना' इन्डु–'सुस्वादु अथवा पसन्द का होना', इम्पु–'मधुरता, अच्छापन, प्रो० द्राविडी *इन्–से सम्बद्ध है। फिर भी तेलगु एंम्मं–'सौन्दर्य', कुरुख एम्बा–'स्वाद, स्वाद मे मधुर', माल्तो एम्बे–'मीठापन', एम्ब्-एम्ब्र–'मधुरिमा होना' एम्ब्र–'स्वाद पाना' को यदि किसी प्रकार भी *इन्– शब्दो से सम्बन्धित करना है तो प्रो० द्रा० *एंन्– को स्वीकार करना होगा। इस व्युत्पत्ति के वर्ग मे प्रा० द्रा० इ∼एं का परिवर्तन पाया जाता है, जिसकी व्याख्या तो नही की जा सकती, परन्तु जिसके समानान्तर उदाहरण है। अनेक ब्राहुई व्युत्पत्तियो से *एं> ब्राहु० अ स्पष्ट है (इन्ट्रीज ७१०, १६४५, ३६०८, ४२३४ और सम्भवत ७२३, २००२, ३१०९)। ब्रा० हन्–'मीठा' साधारण ध्वनिशास्त्र के अनुसार *इन्– की अपेक्षा *एंन् से सम्बद्ध है, और इस विशेषता के कारण उत्तर की भाषाओ– ब्राहुई, कुरुख और माल्तो– को एक वर्ग के अन्तर्गत रखना सभावित हो जाता है। इस परीक्षण के फलस्वरूप *इ>ब्रा० अ के लिए यथेष्ट स्पष्ट व्युत्पत्तियाँ नही है और न *ई>ब्रा० आ के लिए ही। अत ध्वनिशास्त्र के अनुसार सकेतवाचक दा– आधार *इ– के साथ नही आता तथा आद्य द्– के प्रश्न से भी बहुत दूर है।

यह विचार करते हुए कि एक ओर ब्राहुई सकेतवाची श्रेणी (दा–, ओ, ए–) मे साधारण द्राविडी श्रेणी के अ– से कुछ भी समरूपता अब तक नही है और दूसरी ओर यह भी बहुत सभव है कि ओ– और ए– के अर्थ मे परिवर्तन हुआ हो, यह सभव है दा–, अर्थ के बावजूद, ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से स्पष्ट *अ– के साथ रखा जा सके। ऊपर ऐसी व्युत्पत्तियो का सदर्भ दिया जा चुका है जिनमे ब्रा० आ<*आ है, और अनेक व्युत्पत्तियाँ ब्रा० अ<*अ को प्रमाणित करती है।

स्वरो की सतोपप्रद परीक्षा के उपरान्त आद्य द्– का विवेचन शेष रह जाता है। अनेक शब्दो के विषय मे यह सुझाव दिया गया है कि ब्राहुई मे आद्य द्–का विकास य् > ज् > द् की श्रेणी के अग्रश्रुत य् से हुई है। ब्रे के दा– के इस स्पष्टीकरण का उल्लेख हो चुका है और इस सकेतवाची द्– की तुलना प्रश्नवाची देर् (तमिल यार्, आर् आदि) के द्– से की जाती है।[6] बरो ने इस समस्या का विवेचन सख्या चार की पादटिप्पणी मे उल्लिखित लेख मे किया है। उन्होने इस बात का उल्लेख किया है कि प्रस्तुत ब्राहुई शब्दो मे अग्रश्रुति का सिद्धान्त, निस्सन्देह रूप से ध्यान मे रखने योग्य इस विचार से कम सम्भव हो जाता है कि उद्धृत पाँच अपवाद रूप आद्य द् वाले शब्दो मे मूल रूप (प्रा० द्राविडी कल्पित रूपो से) से आद्य न् और एक उदाहरण मे ञ् भी है।

ब्राहुई **दितर्**–'रक्त', तमिल **नेय्त्तोर्**, कोता **नेत्र्**, तोदा **नेत्स्**, **जर्** (**कर्**–'रस'), कन्नड **नेसर्**, कोडगु **नेत्त**, तुलु **नेत्तरु**, तेलुगु **नेत्तुरु**, कोलमी **नेतुर्** (? **नेत्तुर्**), नइकी **नेत्तुर्**, परजी **नेतिर्**, गडवा (एस) **नेतूर्**, गोंडी (खाँई) **नत्तेर्**, (मडिया) **नेतुर्**, (अदिलाबाद) **नेत्तुर्**, कुई **नेदेरि**, कुवी (फिजगरल्द) **नेतोरि** (इन्ट्री ३१०६)।

ब्राहुई **दीर्** (पानी) प्रा० द्रा० ***नीर्** (इन्ट्री० ३०५७, ***ईर्** भी)।

ब्राहुई **दे** (सूर्य) तमिल **ञाँयिरु**, **नायिरु**, मलयालम **ञॉयिरु**, **ञॉयरु**, **ञॉरु**, तोदा नो र, कन्नड **नेसर्**, तुलु **नेसुरु** ? माल्तो **नीरु** (इन्ट्री ३३७१)।

ब्रा० **दूई** (जिह्वा) तमिल-मलयालम **ना**, **नावु**, **नाक्कु**, कोता न ल्ग्, न·व्, तोडा नो फ्, कन्नड **नालगे**, **नालिगे**, कोडगु न·वु, तुलु **नालॉयि**, तेलुगु **नालिक**, **नाल्** (उ) क, कोल्मी-नइकी न·ल्क, पर्जी **नेवँड**, गडवा (Oll) नाङ (S) **नांगु** (इन्ट्री ३००९, अधिक समस्याप्रद)।

ब्रा० **देर** (कौन ?) कुरुख **ने** (कौन ?), माल्तो **नेरे** (ह), **नेरि** (थ)। **ने** (थ), **नेरेर्** (कौन आदमी, कौन औरत, कौन व्यक्ति ?) (इन्ट्री ४२२८, यह prothetic न् के द्वारा **यार्** **येर्**, **आर्** **एर्** से विकसित होने वाले ध्वनि-तत्व बरो के मतानुसार मूलत परस्पर सम्बद्ध है)।

इनके साथ जिनको मैं निश्चित समझता हूँ उन दूसरो को भी सम्मिलित करूँगा।

ब्रा० **दरो** (कल, भूत०), तमिल **नेरुनल्**, **नेरुनइ**, **नेन्नल्**, (वही), **नेरु**, (वही) (शीघ्र ही, हाल मे), मलयालम **इन्नले** (कल, भूत०), कोता न र् (नाम ने·त् का विकारी रूप) (वही), **मिन·र्** (भूत० के कल के पहले का दिन), कन्नड **निन्ने** (भूत० कल, हाल ही बीता हुआ समय), कोडगु **निन्न न्दि** (भूत० का कल)[7], तेलगु **निन्न** (वही), गोंडी **निन्ने** (इन्ट्री ३१०९, देखिए उपर्युक्त ***एं** > ब्रा० अ की चर्चा)।

---

६. इसे एल० वी० रामास्वामी अय्यर ने 'इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली' ५-१४८-५१ (१९२९) में प्रतिपादित किया है, ब्रे ने इन्ही से लिया है।

७. इस शब्द के दूसरे भाग के लिए (?–अ न्दि, या -न न्दि), तमिल 'ञानरु (समय, दिन), मलयालम 'ञान्नु (दिन), मिनि ञान्नु मुनि-ञान्नु (परसो, भूत०); कोडगु मोनिअ'न्दि

इन छ व्युत्पत्तियो मे केवल चार (प्रथम दो और अन्तिम दो) की व्युत्पत्ति सतोष-प्रद है। द्– और *न्–का सन्निपाती होना ध्यान देने योग्य और महत्वपूर्ण है। क्या सकेत-वाची दा— का यह सहायक हो सकता है? (व्याख्या करने मे)। अभी तक किसी विद्वान् ने इस विवेचन के सम्बन्ध मे कोई ऐसा साक्ष्य नही प्रस्तुत किया है जिससे न्–रूप का अभी का अध्ययन अनावश्यक हो। माल्तो मे ड्रोजे[८] के अनुसार सकेतवाची इ (यह) और अ (वह) के अतिरिक्त दूरवर्ती सकेतवाची के लिए फैला हुआ रूप न् है जो साधारणत उस समय प्रयुक्त होता है जबकि सकेत करने वाला व्यक्ति उपस्थित हो और जिसका अनुवाद उसने 'जो एक (यहाँ)' किया है। यहाँ हम लोगो के पास न् से बने रूप भी है जो ब्रा० दा–को *अ/आ से सम्बद्ध करते है और हम लोगो के पास अर्थ भी है जो 'वह' तथा 'यह' के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते है, अर्थात्—'जो स्थान मे दूरवर्ती पर सम्मुख उपस्थित है'।

उत्तर की भाषाओ, कुरुख या माल्तो, मे माल्तो दक्षिणी तथा केन्द्रीय भाषाओ की अपेक्षा ब्राहुई से निकट से सम्बद्ध है। दोनो ही उत्तर की भाषाएँ प्रश्नवाची सर्वनाम मे न्–के लिए प्रमाण उपस्थित करती है। माल्तो मे अ–सकेतवाची मे न् के लिए प्रमाण उपलब्ध है। ड्रोजे द्वारा माल्तो के सम्बन्ध मे प्रस्तुत साक्ष्यो से बहुत अधिक आधुनिक प्रमाणो की आवश्य-कता हमको महसूस होती है, पर प्रस्तुत तथ्यो के सम्बन्ध मे कोई सन्देह नही है। अत मै सोचता हूँ कि ब्रा० दा–की समस्या एक सीमा तक सुलझ चुकी है। यह व्युत्पत्तियो के उस वर्ग से (जो अब सख्या मे सात है) सम्बद्ध है जिसमे ब्रा० द्– या तो ब्रा० अथवा प्रा० द्राविडी न्– से सगति स्थापित करता है। पर यह सगति पूर्णत स्पष्ट नही हो सकी है, क्योकि ऐसे अनेक उदाहरण है जिनमे प्रा० द्राविडी *न्–का प्रतिनिधित्व ब्राहुई मे न्–द्वारा हुआ है (इन्ट्रीज़ २९८०, ३०१९, ३०५५, ३०६४, ३०८९)। सम्प्रति हम उसके आगे नही जा सकते है।[९] साधारण द्राविडी के निकटवर्ती सकेतवाची आधार *इ ई की स्थिति ब्राहुई मे अनिश्चित रह जाती है। क्या यह ब्राहुई से विलुप्त हो गया है अथवा इसको पहचाना जा सकेगा? मै समझता हूँ, दूसरी बात अधिक सत्य है। अन्यत्र मैने ब्राहुई ध्वनि (enclitic) उपसर्ग सर्वनामो पर विचार किया है। ब्रे ने उनका और उनके प्रयोग का वर्णन किया है। उनका कथन है कि कर्म, सम्बन्ध तथा सम्प्रदान के अतिरिक्त अन्य विकारी कारको मे उनका प्रयोग आधार ई के साथ होता है जो कारक के रूप मे शेष है, उदा०,—नतिसङ्

इद., तेलगु 'नेंडु (आज); गोंडी (ट्रेंच) नेन्ड्, (विलियमसन) नेर् इद्., कोंडा नेनरू (वही)[२]; कुई नेन्जु (वही), कुवी नीन्जु (वही)।

८. इन्ट्रोडक्शन टु दि माल्तो लैंगुएज, ३१ (१८८४)।

९. यदि यह स्पष्टीकरण संतोष प्रदान करने में असफल रहता है, तो मैं इतना ही सुझाव दूँगा कि 'दा' में द्- 'देर' के सादृश्य पर आया है (इस शब्द से 'द्' का मूल चाहे जो हो)। ऐसे सदर्भ प्रायः आने चाहिए जिनमें 'कौन?' और 'यह' एक दूसरे को प्रभावित कर सकें (उदा०- 'यह कौन है?' 'यह है.....')।

हिना ईतो-ता/'लडकी उनके साथ गयी' (ई- तो-ता [आधार]-उनके साथ), ईकि-नुमा अत् हेशुर् 'वे तुम्हारे लिये क्या लाये (बहु०)?' (ई-कि-नुमा [आधार]-तुम्हारे लिए, बहु०), ईइस्-क 'मेरे अधिकार में' ([आधार] अधिकार मे-मेरे), ईअद्-नं 'तुम्हारे द्वारा' ([आधार]-से-तेरे)। ब्रे ने (वाकेबुलेरी एस० वी०) पहले ही प्रस्ताव किया है कि ई मूलत सकेतवाची था, उदा०—ई-तो-क्ष 'मेरे साथ' मूलत 'इस एक के साथ, अर्थात् मेरे', ई-तो-ता 'उनके साथ' मूलत 'इनके साथ अर्थात् उनके' था। ब्रे का दूसरा भाग जब मुझे प्राप्त नही हुआ था, अपने विचार मे मै अकेला था, पर उनके विवरण से मुझे दुहरा विश्वास हो गया है कि यह स्पष्टीकरण उचित है। केवल एक ही तर्क इसके विरुद्ध है कि निरपेक्ष रूपो (absolute forms (जिस प्रकार ई आन्-, ई- अद्, ई-तो, आदि) मे सीधा ही रूपान्तर प्रत्यय (inflectional suffixes) जोडे जाने वाली साधारण सज्ञाओ के रूप-विकार के सदृश ई के विकारी रूप उन सकेतवाचियो के सदृश नही है जिनमे विशेष विकारी मूल है (उदा०-दा/दाद्, दार्-आन्, दार्-अद्, दार्-तो, आदि)। मै इस अन्तर्विरोध की व्याख्या नही कर सकता, पर मेरा विचार है कि यह ई की व्युत्पत्ति के लिए घातक नही है।[10]

---

१०. मुझे खेद है कि प्रस्तुत संकेतवाची सर्वनामो की व्युत्पत्तियो का प्रसग 'ड्रेवेडियन एटीमोलोजिकल डिक्शनरी' में सम्मिलित नही किया जा सका। इसका मूल कारण यह है कि उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व प्रस्तुत लेख तैयार न हो सका था। सभव है कि पूरक के रूप में इसे सम्मिलित किया जा सके।



ई० एम० विकोवा

आधुनिक बँगला में विधेयात्मक शब्द-संयोग

विधेयात्मक शब्द-सयोग का भाव है उद्देश्य और विधेय का सयोग, ऐसे सयोग जो सघटनात्मक आधार से प्रतीत होते है, या वाक्य के प्रमुख शब्द (अथवा वाक्याश के, प्रमुख या गौण)।

प्रस्तुत निबध मे उन उपकरणो की चर्चा अभिप्रेत है जिनसे आधुनिक बगाली उद्देश्य तथा विधेय की अभिव्यक्ति करती है।

उद्देश्य तथा विधेय की अभिव्यक्ति करने वाले उपकरणो का विश्लेषण करते समय हमने देखा था कि वाक्य का व्याकरणात्मक अश शब्दो (किसी भी व्याकरणात्मक विभाग से सबद्ध) अथवा शब्द-सयोगो का अन्य के प्रसग मे कोई भी व्यापार प्रदर्शित करता है। वाक्याश की इस परिभाषा मे हमने इस बात पर विशेष बल दिया था कि इसके व्याकरणात्मक वर्ग का क्या अर्थ है ?

यह सर्वविदित है कि व्याकरण के एक खड के रूप मे वाक्य-विन्यास के विकास मे तर्कशास्त्र का महत्वपूर्ण योग रहा है। यही कारण है कि प्राय व्याकरणात्मक भाव को तार्किक भाव ही मान लिया जाता रहा है, या दोनो मे बहुत कम अतर माना जाता है। वाक्य को तर्क के अध्ययन का प्रमुख विषय समझा जाता है। वाक्य के निष्कर्ष और उसके विशिष्ट अगो की तुलना तार्किक निष्कर्ष से की जाती है, उसके उद्देश्य तथा विधेय से।

परतु क्योकि निष्कर्ष मे सभी प्रकार के विचारो का समावेश नही हो जाता (एक भाव को व्यक्त करने वाला वाक्य सदैव निष्कर्ष नही कहा जा सकता, उदाहरणार्थ, एक प्रश्न अथवा आज्ञा तर्कशास्त्र की दृष्टि से निष्कर्ष नही मानी जा सकती), अत उसके उद्देश्य तथा विधेय वाक्यगत उद्देश्य तथा विधेय के समान ही नही होते, वरन् प्रत्येक वाक्य के लिए अनिवार्य भी नही होते। इस प्रसग मे हम यह निर्णय नही ले सकते कि प्रत्येक वाक्य के लिए उद्देश्य तथा विधेय का होना आवश्यक है, और न हम यही कह सकते है कि प्रत्येक वाक्य दो खडो मे विभक्त होता है—उद्देश्य तथा विधेय[1]। वाक्य-सगठन के इस रूप के साथ ही उद्देश्य तथा विधेय की

---

१. द्र० भाषा-प्रकाश (बंगला व्याकरण), कलिकाता विश्वविद्यालयेर अध्यापक श्री सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय प्रणीत, तृतीय संस्करण, कलिकाता विश्वविद्यालय कर्तृक प्रकाशित, १९४५, पृ० ३६२, सरल भाषा प्रकाश बाँग्ला व्याकरण श्री सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय प्रणीत, कलिकाता, १९५७, पृ० २९३; बांग्ला भाषार व्याकरण, पंडित हरनाथ घोष और डॉ० श्री सुकुमार सेन कर्तृक प्रणीत, एकादश संस्करण, कलिकाता पृ० २७९, आधुनिक बांग्ला व्याकरण, श्री जगदीशचंद्र घोष प्रणीत, कलिकाता १९५६, पृ० २५८।

औपचारिक, तार्किक परिभाषा निकटत सबद्ध है उद्देश्य वह है जिसके बारे मे वाक्य मे कुछ कहा गया है, और विधेय वह है जो उद्देश्य के बारे मे कहा गया है।

वाक्य मे उद्देश्य तथा विधेय अथवा अन्य शब्दो को छोडा भी जा सकता है। परतु इससे क्या यह समझा जाय कि वाक्य की जब वास्तविक विश्लेषणात्मक मीमासा हो, तब इन लुप्त अगो को भी हम जोड दे ? मेरी दृष्टि मे नही, क्योकि इस तरह से वाक्य के प्रस्तुत स्वरूप को आघात पहुँचेगा, और इससे पूर्ण तथा अपूर्ण वाक्यो का अतर मिट जायगा, साथ ही मानवीय विचारो को अभिव्यक्त करने वाले वाक्यो की विविधरूपता भी नष्ट हो जायगी। भाषा मे ऐसे भी वाक्य हो सकते है जिनमे उद्देश्य अथवा विधेय के बारे मे कुछ न कहा गया हो, ऐसा वाक्य जिसके कोई अग नही है। इस प्रकार के बहुत से वाक्य बँगला मे मिलते है। ऐसे वाक्यो मे केवल स्वीकृति अथवा निषेध का भाव रहता है—हाँ, ना, जैसे, कथोपकथन के वाक्य **बाबू**! (शरत् साहित्य सग्रह, अष्टम सम्भार, ३४४), **नमस्कार दिदि** (वही, ३५४), और ऐसे भी वाक्य—**सावधान**! (वही, ३४१), **अर्थात्**? (वही, ३५०), **किसे**? (बकिम रचनावली, प्रथम खड, ५६८), **छिः** (वही, ५७४), **उत्तम** (वही, ५८४) इत्यादि। ऐसे वाक्यो को सभावित शब्द जोडकर पूर्ण बनाने पर भी उनमे उद्देश्य तथा विधेय नही खोजा जा सकता।

इसके अतिरिक्त वाक्याश की परिभाषा के दूसरे अश पर हम विचार करना चाहते है, जिसमे किसी के बारे मे कुछ कहा जाता है। वाक्य का यह खड एक शब्द ही नही, कई शब्द-सयोगो के द्वारा बनता है, और ये शब्द-सयोग कभी-कभी वाक्य का न्यूनतम रूप भी बनाते है, उदाहरणार्थ, **सिह बने थाके** इस वाक्य मे विधेय **बने थाके** नही होगा, जैसा कि हरनाथ घोष और सुकुमार सेन का मत है[२], वरन् **थाके** होगा।

इस स्थिति से प्रारभ करके हम उद्देश्य और विधेय की परिभाषा इस प्रकार दे सकते है—उद्देश्य वह शब्द अथवा शब्द-सयोग है जिसका रूप सबद्ध भाषा के नियमानुसार कार्य करने अथवा अनुभव करने की स्थिति को प्रकट करने मे सबसे अधिक है। वाक्य का विधेय वह शब्द अथवा शब्द-सयोग है, जो किसी शब्द अथवा शब्द-सयोग के साथ मिलकर उद्देश्य की व्याकरणात्मक स्थिति को व्यक्त करता है और उसके विधेयात्मक रूप (कार्य अथवा स्थिति) को निर्धारित करता है। उद्देश्य और विधेय अन्योन्याश्रित है। अत जहाँ उद्देश्य नही है वहाँ विधेय नही है, और इसकी उलटी स्थिति भी उतनी ही सही है। अपवाद वे अपूर्ण वाक्य हैं, जिनमे उद्देश्य तथा विधेय छोड दिये जाते है।

प्रस्तुत पत्रक मे हम उन स्थितियो का विवेचन करेगे, जहाँ उद्देश्य और विधेय दोनो के रहने पर भी कुछ ऐसे रूप बनते है जिन्हे विधेयात्मक कहा जा सकता है।

उद्देश्य और विधेय के सयोग को विधेयात्मक कहने मे हम उस स्थिति को खोजते है जिसमे वाक्य मे हमे विधेयात्मक सयोग मिले। 'कुत्ता जोर से भूँकता है', इस वाक्य का विश्लेषण करने के उपरान्त ओ० जैस्पर्सन लिखते है कि 'कुत्ता भूँकता है' इस अश मे ही वास्तविक

---

२. **बाँग्ला भाषार व्याकरण**, पृ० २८०।

तथ्य-निरूपण और वाक्य का सार है।[3] जो भी हो, इस से सहमत होना कठिन है। उद्धृत शब्द-सयोग 'कुत्ता भूँकता है' अतत इस वाक्य का टुकडा ही है—'कुत्ता जोर से भूँकता है क्योकि उस टुकडे मे वाक्य के अत हो जाने का भाव नही मिलता। 'कुत्ता भूँकता है', यह कहने के बाद भी श्रोता कुछ और सुनने की अपेक्षा रखता है।

बँगला भाषा की एक विशेषता यह है कि वह कर्तृवाची रूपो के लिए आकारात क्रिया-रूपो का प्रयोग करती है। इस प्रकार का प्रयोग उस वाक्य मे अधिक मिलता है जिसमे कर्म के गुणात्मक स्वरूप की व्याख्या की गयी हो। इन वाक्यो मे विधेय के लिए विशेषणो का व्यवहार होता है अथवा ऐसी सज्ञाओ का जो गुण अथवा स्थिति प्रदर्शित करती है, शब्द जो सभावना व्यक्त करते है अथवा प्रक्रिया को स्पष्ट करने वाली क्रियाएँ। कुछ उदाहरण इस प्रकार है—

"यदिच प्रतापसिह कचनमालार अवस्था अत्यत सकटापन्न, तथापि लोकटाके घरे डाकिया आनिया ताहार काछ हइते किछु ना केनाटा भालो हय ना" (रवीन्द्रनाथ, 'काबुलीवाला'), "सरला भाबिता लागिलेन, वैकालेर घटना ताँहाके बला कर्त्तव्य की ना" (तारकनाथ गगोपाध्याय, 'स्वर्णलता'), "जमीजमा बेचिया कलिकाताय याओया याक" (रवीन्द्रनाथ, 'उलुखदेर विपद'), "आज बाडीते काज आछे, आज आर काहारो सहित देखा हइते पारिबे ना" (रवीन्द्रनाथ, 'काबुली-वाला'), "पडा शेष हये गेला, बाबा ?" (शरच्चन्द्र, 'शेष प्रश्न')।

इस प्रकार के वाक्य-विधानो की ओर हम इसलिए ध्यान दे रहे है, क्योकि इन्हे प्राय कर्ताविहीन, एक-अशात्मक कहा जाता है। कुछ भाषाओ मे इस प्रकार के वाक्य सचमुच एक-अशी वाक्य जैसे ही होते है। परतु बँगला मे इस प्रकार के वाक्य रूसी मे उसी प्रकार के वाक्यो से भिन्न है। रूसी मे ये वाक्य दो अशो से बने होते है।

इस प्रकार के वाक्य-विधानो को सगठन की दृष्टि से कर्मवाचक कहा जायगा। परतु उनका कर्मवाच्य व्याकरणात्मक नही है।

उद्देश्य की भाँति विधेय भी किसी व्याकरणात्मक रूप, सज्ञा—विशेषण, सख्यावाची विशेषण, सर्वनाम, क्रिया अथवा क्रियाविशेषण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। वाक्य के विधेयात्मक अश मे क्रिया का योग अत्यत महत्वपूर्ण है, क्योकि यह जटिल कार्यों, प्रक्रियाओ तथा स्थितियो को व्यक्त करने मे समर्थ है। परतु, यह कहना गलत होगा कि विधेय का सगठन केवल क्रिया से होता है। कुछ वाक्य बिना क्रिया के भी सपूर्ण भाव व्यक्त करते है, जैसे"—अन्नदाबाबू ब्राह्मण ?" ('नौका डूबि')। यहाँ पर यह क्यो कहा जाय कि क्रिया छिपी हुई है ? अथवा इस 'लुप्त' क्रिया को विधेय क्यो माना जाय ? क्या इस वाक्य 'एइ कलमटि रामेर'[4] मे 'लुप्त' और 'अज्ञात' क्रिया के द्वारा उद्देश्य के बारे मे कोई भाव व्यक्त किया गया है ? हमारी दृष्टि मे तो ऐसा कुछ नही है। उद्देश्य 'कलमटि' का व्याकरणात्मक रूप 'रामेर' के माध्यम से ज्ञात होता है।

---

३. ओ० जैस्पर्सन : द फिलोसफ़ी ऑफ् ग्रामर, लंदन, न्यूयार्क, १९३५, पृष्ठ ११४।
४. बाँग्ला भाषार व्याकरण, पृष्ठ २८०-८१।

रामेर' शब्द के द्वारा ही 'राम के स्वामित्व' की व्यजना की गयी है, 'लुप्त' और 'अज्ञात' क्रिया द्वारा नही।

इस प्रकार के विधानो मे क्रिया अनावश्यक जान पडती है, क्योकि उद्देश्य की स्थिति सज्ञा द्वारा पूर्णत प्रकट हो जाती है। बँगला मे यह इसलिए और भी आवश्यक नही है, क्योकि सज्ञा के विधेयात्मक संयोग विरोधी स्थितियो द्वारा एकदम सरल हो गये है। कुछ भारतीय आर्य भाषाओ की तुलना मे, जिनमे जोडने वाली क्रिया आवश्यक है, बँगला और पूर्वी समुदाय की भारतीय आर्य भाषाओ की यह स्थिति एकदम अलग है।

क्रियात्मक तथा सज्ञात्मक विधेयो मे प्रयुक्त होने वाले शब्द-सयोग इस प्रकार है—

(क) क्रियात्मक विधेय के रूप अपेक्षाकृत काफी अधिक है। उन्हे दो वर्गों मे बॉटा जा सकता है—पहले वर्ग मे वे रूप आते है, जिनमे कोश तथा व्याकरण के तत्त्वो की अन्विति है और जो मूलत सयुक्त क्रियाओ के कारण है। दूसरे वर्ग के अतर्गत वे रूप है जिनमे अर्थ का अधिक भार क्रियार्थक सज्ञा तथा कृदत पर पडता है और क्रिया अपना कोश वाला भाव सुरक्षित रखती है।

(ख) सज्ञात्मक विधेयो को भी दो वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग मे वे रूप है जिनमे मूल शब्द निश्चयात्मक शब्दो के बिना कर्तृत्व का भाव नही प्रकट करता (उदा० ए सहज गान नय ए गान नय)। दूसरे वर्ग मे क्रियार्थक सज्ञा वाले रूप आते है, ऐसे रूप जिनमे सज्ञा तथा क्रिया सयोजक का सयोग हुआ है, उदाहरणतया—'आछा', 'थाका', 'हाउया'।

(ग) मुहावरो के माध्यम से बनने वाले विधेयो को एक स्वतत्र वर्ग मे रक्खा जा सकता है, उदाहरणार्थ 'रग धरा' इस वाक्य मे 'वर्षार परे शरतेर नूतनधौत रौद्र येन सोहागाय-गलानो निर्मल सोनार मत **रग धरियाचे**' (रवीन्द्रनाथ, 'काबुलीवाला'), अथवा 'चौख बुलिये नेडया' इस वाक्य मे 'तुइ ना हय एकटुखानि घुरे आय गे माँ, आमि तत्क्षण एइ मासिक पत्रटाय चौख बुलिये नी' (शरच्चन्द्र, 'शेष प्रश्न')।

विधेय के रूप मे व्यवहृत होने मे व्याकरणात्मक शब्द भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते है।

[अनूदित सक्षिप्त]

बाबूराम सक्सेना

हिन्दी में लिंग-भेद के द्वारा सूक्ष्म अर्थ-भेद का द्योतन

हिन्दी के अचेतन पदार्थो के द्योतक शब्दो के विषय मे सामान्य रूप से यह धारणा है कि बडे, कठोर आदि पदार्थो के द्योतक शब्द पुलिग के है और छोटे, नम्र आदि के द्योतक शब्द स्त्रीलिग मे है, यथा, **पत्ता–पत्ती, बिरवा–बिरई, लोटा–लुटिया, रस्सा–रस्सी** आदि। परन्तु हिन्दी शब्दावली पर ध्यान देने से प्रतीत हुआ कि कुछ शब्द अपनी भाषा (और बोलियो) मे ऐसे है, जिनमे लिग-भेद से प्राय मौलिक अर्थ-भेद प्रकट होता है। उन्ही पर इस लेख मे विचार करना अभीष्ट है।

कुछ शब्द ऐसे है जिनमे लिंग-भेद से अर्थ-भेद तो प्रकट है, पर वह व्युत्पत्ति-भेद पर आश्रित है, यथा, **हाल** पु० मे दशा, समाचार आदि का द्योतक है और स्त्री० मे सवारी के पहियो पर चढाया जाने वाला लोहे या रबड का पट्टा है। **गजा** पु० मे उस पुरुष का द्योतक है जिसके सिर पर बाल न हो और **गजी** स्त्री० मे उसी प्रकार के सिर वाली नारी के लिए मौजूद है, तथापि **गजी** स्त्री० मे बनियायन के लिए प्रयोग मे है और स्पष्ट है कि इसकी व्युत्पत्ति भिन्न है। इसी प्रकार पु० **कुलफा** एक तरह का साग है और **कुलफी** स्त्री० एक डिब्बी मे बन्द कर जमायी हुई दूध-मिठाई है।

असाढ़–असाढ़ी, कातिक–कतकी, अगहन–अगहनी आदि युग्मो मे पु० शब्द मास का द्योतक है और स्त्री० उस मास की पूर्णिमा का। यह भेद सस्कृत से चला आ रहा है। इसी प्रकार सस्कृत मे पुलिग शब्द वृक्ष का द्योतक है और नपुसक उसके फल का, यथा, **आम्रः—आम्रम्।**

कुछ युग्मो मे मूल शब्द किसी पदार्थ का द्योतक है और दूसरा मत्वर्थीय अथवा तदीय का। इस श्रेणी मे ऐसे शब्द है–जैसे, **गवाह–गवाही, साख–साखी, नथुना–नथुनी, कुडल–कुडली, अगूर–अगूरी, अँगूठा–अँगूठी, चक्का–चक्की, होला–होली, सलाम–सलामी, सट्टा–सट्टी, मिस्सा–मिस्सी, जाला–जाली**, यद्यपि यहाँ भी अर्थ-भेद का कुछ आभास उपस्थित है। **जाला** मकडी का पु० और **जाली**–लोहे की या आलू आदि खाद्य पदार्थ की। निश्चय ही यहाँ अर्थ-विकास की प्रक्रिया चल रही है।

आगे जिन शब्दो की व्याख्या की जा रही है इनमे शब्द का मूल अर्थ अक्षुण्ण है, तथापि गौण अर्थ-भेद, अर्थ-सकोच, अर्थादेश आदि की प्रणाली से उपस्थित हो गया है।

अगा (पु०) **अँगिया** (स्त्री०) दोनो पहनने के वस्त्र है पु० बडा और स्त्री० छोटा भी है, पर **अगा** पुरुष का वस्त्र है और **अँगिया** स्त्री का। इसी तरह के **कुर्ता–कुर्ती, पाजामा–पाजमिया** भी है। **ओढ़ना–उढ़नी** भी ऐसे ही हैं।

अडा पु० मे उसको कहते है जिससे चिडिया, सॉप आदि जीव निकलते है और **अडी** स्त्री० एक प्रकार के रेशमी वस्त्र का नाम है।

अटा पु० मे बडी कौडी, बडी गोली या रेशम या सूत की लच्छी का द्योतक है, पर **अटी** स्त्री० कमर पर के, धोती के लपेट अथवा खेल मे एक उँगली के ऊपर दूसरी को चढाकर अहसयोग का द्योतक है।

अद्धा पु० मे अधिकतर सवारी की छोटी बैलगाडी के लिए प्रयोग मे आता है, और **अद्धी** स्त्री० एक प्रकार के सूती महीन कपडे के लिए।

ऑख स्त्री० नेत्र का वाचक है, पर **ऑखा, अँखुआ** ऑख के आकार के अकुर का द्योतक है। **ऑख** शब्द भी प्राय इसी अर्थ मे आलू और ईख के उस भाग को कहते है जहॉ से अकुर के फूटने की सभावना है।

अवधी मे **आम, आँब** पु० पके फल का वाचक है और **अमिया, अँबिया** स्त्री० कच्चे का, और यही प्रयोग खडी बोली का है। धीरेन्द्र जी की बोली मे **आम** कलमी का (जो प्राय वडा वडा होता है) और **अमिया** तुख्मी का (जो अपेक्षाकृत छोटा होता है) वाचक है।

कठा-कठी दोनो गले मे पहने जाते है, पर **कठा** एक आभूषण है जो सोने आदि बहुमूल्य पदार्थों का बनता है, परन्तु **कठी** भगत जन पहनते है।

कचरा कूडा कर्कट का द्योतक है पर **कचरी** आलू आदि के बने हुए खाद्य पदार्थ की द्योतक है।

कजला एक विशिष्ट रग के बैल या खरबूज़े का वाचक है, पर **कजली** एक प्रकार का गीत है।

किनारा नदी, तालाब आदि का होता है, और **किनारी (किनार)** धोती, साडी की।

कुडा एक विशेष बर्तन का नाम है और **कुडी** दर्वाजे को बन्द करने की जजीर को कहते हैं।

कुदा लकडी के बडे टुकडे को कहते है, पर **कुदी** भाववाचक है जिसका अर्थ है 'पीटना', 'पिटाई'।

खूँटा वडा होता है और **खूँटी** छोटी, पर पु० शब्द अधिकतर पशुओ के बॉधने की या खीमे की मेख के लिए प्रयोग मे है और स्त्री० कपडे टॉगने की लकडी या लोहे की होती है।

खोपडा नारियल की गिरी को कहते है और **खोपडी** मानव या पशु के सिर या दिमाग को।

गगरा और **गगरी** मे परिमाण का भेद नही है, जैसा **कलसा** और **कलसिया** मे है। परन्तु **गगरा** धातु का बना होता है और **गगरी** मिट्टी की होती है।

घडा पानी रखने का बर्तन है, पर **घडी** समय बताने वाली एक मशीन है, जिसमे आदि काल मे पानी के पात्र का भले ही उपयोग रहा हो, पर अब नही है। अवधी **घरिया** कँसेरे द्वारा प्रयुक्त मिट्टी के बने कुछ सॉचे का द्योतक है, पानी रखने के पात्र का नही, परिमाण अवश्य घडे से छोटा होता है।

चूना-चूनी दोनो का सम्बन्ध चूर्ण से है पर **चूना** पान मे रखकर खाया जाता है और **चूनी** अन्न के विशेष कर दालो के टूटे-फूटे कणो को कहते है जो अधिकतर पशुओ को खिलाई जाती है।

ताला कुफुल को कहते है और **ताली** चाभी को।

पन्ना पुस्तक के पृष्ठ को कहते है और **पन्नी** सोने-चाँदी की होती है जो कपडो मे टाँकी जाती है।

बीड़ा पान का होता है और खाया जाता है, परन्तु **बीड़ी** तम्बाकू की होती है और पी जाती है।

बुंदा कान मे पहनने का गहना है और **बूदी (बुदिया)** मिठाई या रायते मे प्रयोग मे आती है, यद्यपि दोनो शब्दो का स० 'बिन्दु' से सम्बन्ध स्पष्ट है।

भट्ठा ईटो को पकाने का होता है और **भट्ठी** प्राय वह स्थान है जहा शराब बनती या बिकती है।

रोट-रोटी दोनो खाये जाते है, पर **रोट** हाथी, हनूमान जी अथवा देव-दैत्यो का खाद्य है और **रोटी** मानव का।

इसी प्रकार के अन्य पु० स्त्री० युग्मो मे भी सूक्ष्म अर्थ-भेद उपस्थित हो गया है। इनकी सूची नीचे दी जाती है।

शब्द-सूची

१	गिट्टा	(पु०)—गिट्टी	(स्त्री०)।	१७	टोप-टोपा	(पु०)—टोपी	(स्त्री०)।
२	गुडा	(पु०)—गुडी	(स्त्री०)।	१८	टोला	(पु०)—टोली	(स्त्री०)।
३	गुच्छा	(पु०)—गुच्छी	(स्त्री०)।	१९	डाँडा	(पु०)—डाँडी	(स्त्री०)।
४	गुलेला	(पु०)—गुलेल	(स्त्री०)।	२०	डोरा	(पु०)—डोरी	(स्त्री०)।
५	गोटा, गोट	(पु०)—गोटी	(स्त्री०)।	२१	तना	(पु०)—तनी	(स्त्री०)।
६	गोल,गोला	(पु०)—गोली	(स्त्री०)।	२२	धेला	(पु०)—धेली	(स्त्री०)।
७	घाट	(पु०)—घाटी	(स्त्री०)।	२३.	नल	(पु०)—नली	(स्त्री०)।
८	चिट्ठा	(पु०)—चिट्ठी	(स्त्री०)।	२४	पटरा	(पु०)—पटरी	(स्त्री०)।
९	चोआ	(पु०)—चोई	(स्त्री०)।	२५	पापड	(पु०)—पापडी	(स्त्री०)।
१०	चौका	(पु०)—चौकी	(स्त्री०)।	२६	पिडा	(पु०)—पिडी	(स्त्री०)।
११	चोला	(पु०)—चोली	(स्त्री०)।	२७	पीढा	(पु०)—पीढी	(स्त्री०)।
१२	छीटा	(पु०)—छीट	(स्त्री०)।	२८	पुरा	(पु०)—पुरी	(स्त्री०)।
१३	छुरा	(पु०)—छुरी	(स्त्री०)।	२९	फल	(पु०)—फली	(स्त्री०)।
१४	झाड	(पु०)—झाडी	(स्त्री०)।	३०	बंस	(पु०)—बसी	(स्त्री०)।
१५.	टाँका	(पु०)—टाँकी	(स्त्री०)।	३१	बतासा	(पु०)—वतास	(स्त्री०)।
१६.	टुकडा	(पु०)—टुकडी	(स्त्री०)।	३२.	बदला	(पु०)—बदली	(स्त्री०)।

३३ बेना (पु०)—बेनी (स्त्री०)।
३४ भौरा (पु०)—भौरी (स्त्री०)।
३५ माट (पु०)—माटी (स्त्री०)।
३६ मिर्चा, मिर्च (पु०)—मिर्ची (स्त्री०)।
३७ मिस्सा (पु०)—मिस्सी (स्त्री०)।
३८ मुहरा (पु०)—मुहरी (स्त्री०)।
३९ रकाब (पु०)—रकाबी (स्त्री०)।
४० रेत, रेता (पु०)—रेती (स्त्री०)।
४१ रोजा (पु०)—रोजी (स्त्री०)।
४२ लच्छा (पु०)—लच्छी (स्त्री०)।
४३ लट्ठ, लट्ठा (पु०)—लाठी (स्त्री०)।
४४ लत्ता (पु०)—लत्ती (स्त्री०)।
४५ लोना (पु०)—लोनी (स्त्री०)।
४६. शतरज (पु०)—शतरजी (स्त्री०)।
४७. शीशा (पु०)—शीशी (स्त्री०)।
४८. सट्टा (पु०)—सट्टी (स्त्री०)।
४९. सलाम (पु०)—सलामी (स्त्री०)।
५०. साफा (पु०)—साफी (स्त्री०)।
५१. सिक्कड (पु०)—सिकडी (स्त्री०)।
५२. सिल्ला (पु०)—सिल्ली (स्त्री०)।
५३. सेला (पु०)—सेली (स्त्री०)।
५४. हल (पु०)—हाल (स्त्री०)।
५५ हाँडा (पु०)—हाँडी (स्त्री०)।

वी० पी० लेप्रोवस्की

हिंदी में संभावनार्थ* के रूपों का प्रयोग

क्रिया की रीति मे क्रियार्थभेद (mood) कार्य के रूप विषयक अभिव्यक्तीकरण का एक व्याकरणिक विभाग है। क्रियार्थभेद के रूप मे विधान (execution) की वास्तविकता कार्य (action) के विभिन्न सम्बन्धो के सामान्यीकृत विचार या प्रतिबिम्ब होते है। शास्त्रानुसार हिन्दी मे चार प्रकार के क्रियार्थभेद स्पष्ट हैं निश्चयार्थ (Indicative), आज्ञार्थ (Imperative mood), सकेतार्थ (Conditional) और सभावनार्थ (Subjunctive)।

निश्चयार्थ के रूपो के प्रयोग मे वाक्य द्वारा एक कार्य का बोध होता है, जिससे पूर्णता (implementation) कार्य के तथ्य द्वारा उपस्थापित होती है। इस प्रकार क्रिया निश्चयार्थ के रूप मे वास्तविक कार्य को प्रकट करती है, इस प्रकार का कार्य जो उस के भूत-वर्तमान या भविष्य मे हुई पूर्णता का अर्थ सूचित करता है, उदाहरणतया—

'सहसा रक्षा के मुंह से हल्की सी चीख **निकल गई**।' (सुदर्शन, काया-पलट)।

'अब सब कपडा विदेश से **आता है**' (प्रेमचद, समरयात्रा)।

'मैं तो सीधी लाहौर **जाऊँगी**।' (सुदर्शन, काया-पलट)।

आज्ञार्थ, सकेतार्थ और सभावनार्थ के रूप कम वास्तविक कार्यो के लिए प्रयुक्त होते है अथवा वह कार्य जिसका विधान (execution) कार्य के तथ्यो से नही उपस्थापित होता। इस प्रकार इनमे से प्रत्येक अपनी प्रकृति के अनुसार अपनी वास्तविकता प्रकट करता है।

क्रिया आज्ञार्थ के रूप मे इस प्रकार का कार्य प्रकट करती है जिसके विधान (execution) का विचार बोलने वाले व्यक्तित्व से प्रेरक (Incentive) पर आश्रित पाये जाने वाले व्यक्ति द्वारा किया जाता है।

इस क्रियार्थभेद के रूप प्रेरित महत्व की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते है, जैसे—

'मोहन अधीर होकर बोला—अम्मा मुझे रूखी रोटियाँ ही **दे दो**।'

(प्रेमचन्द, मृतक भोज)।

सकेतार्थ के रूप मे क्रिया इस प्रकार के प्रतिज्ञाकृत कार्य को प्रकट करती है, जो वास्तविक घटना के विपरीत होते हुए पूरा नही हुआ है, जैसे—

'डॉ० चढ्ढा को मित्रो ने पकड लिया, नही तो वह नश्तर अपनी गर्दन पर **मार देते**।'

(प्रेमचन्द, मत्र)।

---

*Subjunctive mood.

सभावनार्थ (Subjunctive mood) के रूप मे क्रिया ऐसे अवास्तविक कार्य को प्रकट करती है, जिसका प्रत्यक्षीकरण विपरीतता मे होता है, जैसे —

'शायद मालिक-मकान ही आ गया हो।' (सुदर्शन, आपबीती)।

'मोहन को उसके पागलपन की खबर हो ऐसी बात न थी।' (अश्क, कुन्ती)।

अवास्तविक कार्य को प्रकट करने के लिए तीनो क्रियार्थभेदो मे से सभावनार्थ बहुत प्रयुक्त होता है। बहुत से विभिन्न रूपो द्वारा इसकी व्याख्या की जाती है जिसकी अभिव्यक्ति हिन्दी मे दिये गये क्रियार्थभेदो की सहायता से की जा सकती है।

हिन्दी के सभावनार्थ की पद्धति मे कार्य की पूर्णता का समय तथा उसकी प्रकृति और रूप निर्धारित करते हुए इसके तीन प्रकार पाये जाते है—१ सामान्य प्रकार (simple form, वर्तमान भविष्य का रूप), २ अपूर्ण रूप, और ३ पूर्ण रूप।

क्रिया के मूल मे व्यक्तिगत अन्तो को जोडकर सम्भावनार्थ का सामान्य प्रकार बनाया जाता है, नीचे कुछ 'अन्त' है—

'ऊँ' उत्तम पुरुष एकवचन 'ए' अन्य पुरुष और मध्यम पुरुष एकवचन, 'एँ' उत्तम और अन्य पुरुष बहुवचन, 'ओ' मध्यम पुरुष एकवचन।

सभावनार्थ के सामान्य रूप मे 'होना' क्रिया कुछ सीमा तक साधारण नियम से हटती हुई लगती है।

सभावनार्थ के अपूर्ण और पूर्ण रूप वर्तमान कृदंत (Present Participle) और भूत कृदत (Past Participle) के सयोग से सहायक क्रिया 'होना' के सभावनार्थ के साधारण रूप के भीतर विश्लेषित होकर बनते है।

विद्वानो के अनुसार सभावनार्थ के सामान्य प्रकार (simple form) के विकसित रूप वर्तमान निश्चयार्थ मे खोजे जा सकते है।

वर्तमान निश्चयार्थ का रूप विषयक (model) पुनर्ज्ञान स्पष्टत इससे सबद्ध पाया जाता था कि —

(अ) वर्तमान तथा अन्य कालो के महत्व की अभिव्यक्ति कृदत (Participle) के रूप करते थे। यह विकास नयी भारतीय भाषाओ की विशेषता है।

(ब) मध्यकालीन भारतीय भाषाओ और नयी भारतीय भाषाओ के सक्रमण काल मे इच्छार्थक (Optative) रूप समाप्त हो गये थे, जो नये भारतीय भाषाओ मे खोज लिये गये और वे उन रूपविषयक छायार्थो को अभिव्यक्ति देते है जो हिन्दी मे सभावनार्थ के द्वारा व्यक्त की जाती है।

सभावनार्थ के रूपो मे सामान्य रूप बहुत प्रयुक्त होता है और अपूर्ण रूप सब से कम।

सभावनार्थ के पूर्ण और अपूर्ण रूपो मे सामान्य रूप से शब्दार्थ सम्बन्धी विशेष अन्तर यह है कि वे कार्य की निश्चित प्रकृति की ओर सकेत करते है।

सभावनार्थ का स्वतत्र और आश्रित दोनो प्रकार के वाक्यो मे प्रयोग होता है। इस निबध

मे आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के स्वतत्र वाक्यो मे सभावनार्थ के रूपो के प्रयोग पर विचार किया गया है।

वर्तमान साहित्यिक हिन्दी मे सभावनार्थ के स्वतत्र वाक्यो मे प्रयोग के कालो के समस्त क्षेत्र को बॉटने मे भाषा-सामग्री का विश्लेषण सहायक है।

§१. सूचना की अप्रामाणिकता की अभिव्यक्ति

सभावनार्थ के रूप उन वाक्यो को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते है जो ऐसे किसी कार्य की पूर्णता की ओर सकेत करते है, जो वास्तविकता के विपरीत न हो। इसमे वाक्यो मे अगभूत के रूप मे साधारणतया 'शायद', 'कदाचित्', 'स्यात्' आदि जोडे जाते है। उदाहरणतया—

'शायद आपको उसपर विश्वास **न आए**।' (सुदर्शन, राजा)।

'कदाचित् इसी से वे नाराज हो **गये हो**।' (कौशिक, कर्त्तव्य का बल)।

'वह मेरे चाव को पहिचान गयी है। कुछ गाँव वाले भी स्यात् **जानते हों**।'

(वृन्दावन लाल वर्मा, मृगनयनी)।

सभावनार्थ का अपूर्ण रूप सामान्यतया वर्तमान काल के अर्थ को प्रकट करता है। दिये हुए रूप के सदर्भ के आश्रित होकर कभी-कभी निश्चयार्थ के अपूर्ण रूप के समय सबध से पृथक् न होते हुए भी वह भूतकाल का अर्थ दे सकता है, जैसे—

'शायद वे समझते थे कि यह लोग हमे पकडने आये है, या **समझते हो** कि कोई न कोई इनकी तलाश करने तो आयेगा ही। उससे अच्छी-अच्छी चीजे ऐंठेंगे।'

(प्रेमचद, कुत्ते की कहानी)।

किन्तु सभावनार्थ के पूर्ण रूप मे समय-सबध (time relation) मे यह पृथक् नही किया जा सकता।

(अ) निश्चयार्थ के अपूर्ण रूप से—

'किसी बैद हकीम को बुलाने भेजना चाहते होगे। शायद बुख़ार तेज हो **गया हो**।"

(प्रेमचद, बैर का अन्त)।

(ब) निश्चयार्थ के पूर्ण रूप से—

'फिर तो मन-ही-मन मे हम लोगो को आशीर्वाद देने लगी। शायद उन्हे पिछले बच्चो की याद भी आने **लगी हो**।' (प्रेमचद, कुत्ते की कहानी)।

(स) निश्चयार्थ के (Pluperfect) रूप से—

'मेरे कमरे मे क्या करने आया था? कही मुझे धोखा तो नही **हुआ**।' शायद दीदी जी के **कमरे से आया हो।**

(प्रेमचद, निर्मला)।

इस प्रकार सभावनार्थ के रूपो से वे छायार्थ उनमे से प्रत्येक की अभिव्यक्ति के लिए निश्चयात्मक क्रियार्थभेद (Positive Mood) की पद्धति मे नष्ट हो जाते है। इस प्रकार काल के छायार्थ (shades) केवल सदर्भ से बतलाये जा सकते है।

ऊपर के उदाहरणो मे क्रिया-विधेय (Verb-predicate) ऐसे कार्य को प्रकट करता है, जिसका बोध वक्ता के अनुसार सही तथ्य के रूप मे नही होता। विश्वास के स्तर भिन्न हो सकते है।

किन्तु वाक्य कभी-कभी क्रिया-पद से बने कार्य को नकारात्मकता से सीमित कर सकता है। तब फिर क्रिया अल्प विश्वसित कार्य को प्रकट करती है। ऐसा छायार्थ 'ही' के प्रयोग से प्राप्त होता है, उदाहरणतया—

'ऐसा अवसर फिर शायद ही **मिले**।' (प्रेमचन्द, कुत्ते की कहानी)।

'महासिह को तो कदाचित् ही कभी पहले ऐसे प्यारे शब्दो को सुनने का अवसर **मिला हो**।' (प्रेमचद, दुर्गादास)।

§२. स्वीकृत बात की अभिव्यक्ति

नीचे दिये गये उदाहरणो मे वाक्य का क्रिया-विधेय सभावनार्थ के कुछ रूपो मे प्रवेश करते हुए वक्ता द्वारा स्वीकृत कार्य की सूचक वास्तविकता के रूप मे प्रकट करता है, जैसे—

'आप भले ही ऐसा **करते हों** परन्तु मैंने आज तक कोई काम इच्छा के विरुद्ध नही किया।' (कौशिक, अपराधी)।

स्वीकृति (assumption) का विकल्प हो सकता है, ऐसी स्थिति मे वाक्य मे 'या' शब्द अभिव्यक्ति-खण्डो मे विभाजक सबध को व्यक्त करने के लिए जुड जाता है, जैसे—

'जैसलमेर रहे या नष्ट **हो जाय,** मगर महाराज कैद न रहेगे।' (सुदर्शन, प्रबला)।

इन उदाहरणो मे वाक्य का मतलब व्यक्त स्वीकृति के विपरीत है। यह वाक्य पहले वाक्य की स्वीकृति के रूप विषयक छायार्थ—जिसका क्रिया-विधेय सभावनार्थ के रूप मे है—का सहायक है। इसका अर्थ दोनो वाक्यो मे दृढ सम्बन्ध का होता है।

शब्दार्थ-सबध मे यह मेल स्वीकृति-सूचक आश्रित वाक्य-खड और प्रधान वाक्य-खड की कडी की याद दिलाता है।

§३. तुलना की अभिव्यक्ति

सभावनार्थ के रूप ऐसे वाक्यो मे प्रयोग किये जाते है जिनका लक्ष्य एक घटना को दूसरी घटना से तुलना करते हुए अधिक विधिवत् और निर्विघ्न बताना होता है। ऐसे वाक्यो की विशेषता यह है कि वे अपने अगभूत (component) मे 'मानो' और 'जैसे' शब्दो को समाहित करते है, उदाहरणतया —

'मानो सहानुभूति, दु ख, ममता और प्रेम के सम्मिश्रित भावो की मूर्ति **हो**। इसे देखकर मरने वाले रोगियो के लिए मरना सरल हो जाता था।' (कृष्णचन्द, दर्द गुर्दा)।

'मुँह जैसे किसी चोट से पीछे को बैठ गया **हो**।' (यशपाल, आदमी का बच्चा)।

तुलना व्यक्त करने वाले वाक्यो में बहुधा अवधिसूचक क्रिया (Durative verb) का प्रयोग होता है, जो कार्य की अविच्छिन्नता का अर्थ रखते हुए अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्टता देता है, जैसे—

'हाय यह पीडा ! मानो तीव्र लहरे तट से **टकरा रही हो**।' (कृष्णचन्द, दर्द गुर्दा)।

§४. आवश्यकता और कृतज्ञता की अभिव्यक्ति

आवश्यकता, कर्त्तव्य के विचार को व्यक्त करने के लिए सभावनार्थ मे केवल सामान्य रूप (simple form) का प्रयोग होता है। इस स्थिति मे जिन वाक्यो के क्रिया-विधेय कर्मवाच्य मे होते है, बहुत ही लाभदायक होते है, जैसे—

'स्वय जगत् सिह से **पूछ लिया जाय**।' (सुदर्शन, भग्न-हृदय)।

किन्तु आवश्यकता, कर्त्तव्य का अभिप्राय उन वाक्यो से भी व्यक्त किया जा सकता है, जिनका क्रिया-विधेय (Verb-predicate) कर्तृवाच्य के रूप मे हो, उदाहरणार्थ—

'स्नेह ने कहा, मै तुम्हे बताऊँ, एक शानदार नृत्य पार्टी हो **जाये** ग्राड मे।'

(कृष्णचन्द्र, अन्नदाता)।

'सदेह की छाया भी वहाँ न **हो**।' (लक्ष्मीनारायण मिश्र, एक दिन)

आवश्यकता या कर्त्तव्य का अभिप्राय आज्ञा के छायार्थ के साथ भी हो सकता है, जबकि क्रियार्थक सज्ञा (Infinitive) सभावनार्थ के परोक्ष रूप (indirect form) मे अन्य पुरुष एकवचन के रूप मे मिलकर व्यक्त होती है, उदा०—

'देखना तुम्हारे घर मे कोई सॉप **न मरने पाये**।' (प्रेमचन्द, नागपूजा)।

इस उदाहरण मे आवश्यकता या कर्त्तव्य का अभिप्राय सदर्भ के आश्रित होकर 'इच्छा' और 'आज्ञा' का छायार्थ दे सकता है।

ऊपर के तमाम उदाहरणो की यह विशेषता है कि शब्द प्रकरण के कार्य मे प्रवेश कर उस व्यक्ति को—जिसका कार्य आवश्यकता और कर्त्तव्य के विचार-बोध के साथ कडी जोडता है—स्पष्ट नही करते।

कभी-कभी वाक्य ऐसे शब्द से सम्बद्ध होते है, जो कार्य की आवश्यकता या कर्त्तव्य को निभाने वाले व्यक्ति को स्पष्ट करते है। ऐसे वाक्य प्राय समाचार-पत्रो के शीर्षक-पक्ति हुआ करते है, जैसे—

'सरकारी कर्मचारी चुनाव मे कोई भाग **न लें**।' ('भारत', ३ फरवरी, १९५७)।

§५. आलकारिक प्रश्नो से युक्त आवश्यकता, कर्त्तव्य और सम्भावना के अभिप्राय की अभिव्यक्ति

आलकारिक वाक्यो मे स्वीकृति या अस्वीकृति प्रश्न के रूप मे भावावेग के साथ अभिव्यक्त होती है। सभावनार्थ के सामान्य रूप (simple form) मे क्रिया-विधेय के प्रयोग मे आवश्यकता, कृतज्ञता और सभावना के अभिप्राय प्रसारित होते है। ऐसी स्थिति मे क्रिया मे नकारात्मकता का आभास तो नही होता, किन्तु विचारत वाक्य नकारात्मक लगता है, उदा०—

'निमिष भर के लिए बसन्ती असमजस की दशा मे खडी रही। क्या वह उस वेश्या के पैरो मे **जा गिरे**?' (अश्क, सतीत्व का आदर्श)।

'अब मुझे यह अवसर मिला है, इसे क्यो **छोड़ूँ**?' (प्रेमचन्द, ईश्वरीय न्याय)।

'वह कैसे भूल जावे कि कौसिल मे उनकी उपस्थिति केवल सरकार की कृपा और विश्वास पर निर्भर है।' (प्रेमचद, आदर्श विरोध)।

आलकारिक प्रश्नो को व्यक्त करने वाले वाक्य प्रश्न रूप मे सर्वनाम और क्रिया-विशेषण मे भी हो सकते है। इस प्रकार दिये उदाहरणो मे प्रश्न रूप मे क्रिया-विशेषण 'क्यो' का प्रयोग वाचिककार्य (verbal action) की आवश्यकता के औचित्य के प्रति नकारात्मक है और 'कैसे' का प्रयोग कार्य-विधान की सम्भावना के प्रति नकारात्मक है। वाक्य मे प्रश्नवाचक शब्द की अनुपस्थिति मे कर्त्तव्य का रूप-विषयक छायार्थ स्पष्टत प्रकट होता है।

हिन्दी मे क्रिया के साथ 'न' की उपस्थिति मे 'क्यो' क्रियाविशेषण का प्रयोग बहुत होता है। इनमे भी आलकारिक प्रश्न रहता है। किन्तु उनका रूप-विषयक छायार्थ उनसे भिन्न प्रकार का है।

'क्यो न' से सयुक्त वाक्य वाचिक कार्य (verbal action) के सभावना-बोध का छायार्थ व्यक्त करते है, जैसे—

'उसके मन मे एक नयी आकाक्षा अकुरित हुई। क्यो न घर लौट चलूँ।' (प्रेमचन्द, गृह-दाह)।

'आदमी सीमाओ को छूता हुआ क्यो चले? मध्य का मार्ग क्यो न अपनाए?' (अश्क, तौलिये)।

§६ कार्य के औचित्य, आवश्यकता इत्यादि के संबंध में पूछ-ताँछ की अभिव्यक्ति

इस प्रकार के वाक्यो मे कार्य मे आवश्यक औचित्य इत्यादि के सबध मे पूछ-ताँछ की जाती है। इनमे क्रिया-विधेय सभावनार्थ के सामान्य रूप मे प्रकट होता है, उदाहरणतया—

'जीजी, एक बात पूछूँ?' (विष्णु प्रभाकर, उपचेतन का छल)

'इन्द्रमणि ने पूछा—क्या मर्जी है, जाऊँ, उसे लाऊँ?' (प्रेमचद, महातीर्थ)।

'तुमको वह डिब्बा दिखाऊँ?' (कृष्ण चन्द्र, मेरे मित्र का बेटा)।

ऊपर के उदाहरण मे यह स्पष्ट है कि बोलने वाला प्रत्युत्तर देने वाले से आज्ञा माँगता है अथवा साधारणतया प्रत्युत्तर देने वाले का कार्य के प्रति औचित्य का अभिप्राय जानना चाहता है। इस प्रकार के शब्दार्थक छायार्थ सदर्भ के आधार पर ही व्यक्त होते है।

वाक्य की बनावट मे प्रश्नवाचक शब्द हो सकता है, जैसे—

'कहाँ लगाऊँ चाय बीबी जी?' (अश्क, तौलिये)।

§७. आकुलता (puzzling) मिश्रित प्रश्न की अभिव्यक्ति

इस प्रकार के आकुल कर देने वाले प्रश्नवाचक वाक्यो मे कार्य के विषय

मे ध्यान, अनिश्चय, शका की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे वाक्य मे साधारणतया संभावनार्थ के सामान्य रूप का प्रयोग होता है , उदाहरणतया —

'दूसरे दिन जमना का मन डोल रहा था—वह **जाय** या **न जाय** ?'

(कृष्णचन्द्र, पिंडारे)।

'इस बस्ते को कहाँ **छिपाऊँ** ?' (कृष्णचन्द्र, आता है याद मुझको)।

'वह एक क्षण सोचती है—इसमे **बैठूँ** ?' (प्रेमचन्द, निर्मला)।

आकुल करने वाले प्रश्न सूचक वाक्यो मे समय-समय पर प्रश्न के अभिप्राय को हटाने वाले की-सी विशेषता पायी जाती है।

§८. वास्तविक कार्य की अभिव्यक्ति

इस प्रकार के वाक्यो मे क्रिया सभावनार्थ के सामान्य रूप मे होकर वास्तविक कार्य को प्रकट करती है, उदाहरणतया —

'पर इस मन मारने का यह फल। गाढे परिश्रम के रुपये **लुट जायें**।'

(प्रेमचन्द, मूठ)।

'उनका मुझ पर कितना स्नेह था! मेरे बगैर भोजन करने न जाते थे, वही मेरे शत्रु हो **जायँ**, यह बात अकारण नही हो सकती।' (प्रेमचद, निर्मला)।

इस प्रकार के समान वाक्यो मे सशस्त्र भावनात्मक सबध वाचिक कार्य (verbal act) बोध के इस तथ्य से बाधित होता है कि वह कार्य परिस्थिति-जन्य होकर भी बोलने वाले के मस्तिष्क मे आकुलता उत्पन्न कर देता है। अविश्वासात्मक छायार्थ भी स्पष्टत सभावनार्थ द्वारा अभिव्यक्त होता है।

§९. इच्छा, सकल्प सबंधी छायार्थ की अभिव्यक्ति

सभावनार्थ का सामान्य रूप आशय और तैयारी का छायार्थ भी व्यक्त करता है। इसमे बोलने वाला अपने ही लिए उस मतलब की बात कहता है। इसलिए आशय और तैयारी की अभिव्यक्ति का मूल्य उत्तम पुरुष के लिए है, जैसे–

'ग्यारह बज गये। मै **चलूँ**।' (विष्णु प्रभाकर, उपचेतन का छल)।

'मैं तो जरा नन्हे को **देख जाऊँ**।' (अश्क, नन्हा)।

'चलो कोई और जूता ही **खरीद लूँ**, कोई सस्ता जूता।' (कृष्णचन्द्र, जूते पहनूँगा)।

'चलो अब घर चले, आओ तुम्हे **उठा लूँ**।' (कृष्णचन्द्र शहतूत का वृक्ष)।

उदाहरण से यह बात साफ है कि उत्तमपुरुष के सर्वनाम विषय के कार्य मे प्रवेश कर छोडे जा सकते है, क्योकि पुरुष (person) का व्याकरणिक सकेत क्रिया द्वारा ही हो जाता हे।

यह लक्ष्य करने योग्य है कि वाक्य जो आशय या तैयारी व्यक्त करते है, उनके प्रारभ मे 'जरा' या आज्ञार्थ का क्रिया रूप 'चलना', 'आना', 'लाना' आदि का प्रयोग होता है।

§१०. अभिलाषा (desire) और वाछा (wish) की अभिव्यक्ति

अभिलाषा और वाछा की अभिव्यक्ति सभावनार्थ के सामान्य रूप से होती है। अभिलाषा का छायार्थ साधारणतया स्पष्ट होता है, जबकि वाक्य मे 'काश' शब्द का प्रयोग न हो, उदाहरणतया —

'मै और कुछ नही चाहता, मेरा बच्चा **बच जाय**।' (सुदर्शन, अँधेरी दुनिया)।

'फिर मुस्करा कर कहने लगा—कुछ इनाम भी **मिल जाय** कल ईद है बाबू जी।' (कृष्णचन्द्र, खूनी नाच)।

'काश' शब्द का प्रयोग अभिव्यक्ति की भावनात्मक विशेषता स्पष्ट करता है।

'काश, मै भी एक्टर **बन जाऊँ**'—वह सोचता।' (ख्व०अ०अब्बास, अँधेरा और उजाला)।

ऊपर के उदाहरणो मे वाचिक कार्य (verbal action) की जो अभिलाषा व्यक्त की गई है, उसमे भविष्य की कल्पना चित्रित है। सकेतित समय के महत्व से स्पष्ट है कि विपरीत तथ्यो से कार्य नही उपस्थापित किया गया है। इस सबध मे दिये गये वाक्य जिनका क्रिया-विधेय सकेतार्थ के रूप का लगता है, अभिलाषा व्यक्त करने वाले वाक्यो से पृथक् किये जाते है।

व्याकरणिक रूपात्मक सबधो मे अभिलाषा व्यक्त करने वाले वाक्य विशेष कारक नियमो के विभाग मे नही आते। वे वक्ता की अभिलाषा व्यक्त करते है, उदाहरणतया —

'राम तुम्हारा भला **करें**।' (कृष्णचन्द्र, जेहलम मे नाव पर)।

'तुम्हारी शादी अच्छी जगह **हो**, तुम्हे अच्छा वर **मिले**।' (अश्क, ताँगे वाला)

'नौज' का व्यवहार 'अभिलाषा' के नकारात्मक स्वरूप को व्यक्त करता है, जैसे—

'नौज कोई तुम जैसा आदमी **हो**!' (प्रेमचद, शतरज के खिलाडी)।

§११ भयपूर्ण इच्छार्थक अभिप्राय की अभिव्यक्ति

यहाँ जिन वाक्यो की परीक्षा की गई है उनमे आरभ मे साधारणतया 'कही' क्रियाविशेषण लगता है और फिर क्रिया 'न' से भी सयुक्त होती है, उदाहरणतया—

'जरा बच कर जाना। रास्ते मे एक आदमी बेहोश पडा है। कही नीचे आकर **कुचला न जाय**।' (सुदर्शन, घोर पाप)।

'कही बाबू जी बिगडे न!' (प्रेमचन्द, निर्मला)।

'वह आज किधर चली गई है? कही बीमार **न हो गई हो**।' (कृष्णचन्द्र, बाँधवाली)।

इस प्रकार के समान वाक्यो मे क्रिया-विधेय ऐसे कार्य को प्रकट करता है, जिसका बोध वास्तविक विश्वास योग्य तथ्य नही प्रतीत होता। इसलिए ये वाक्य उन वाक्यो के समान है जिसे प्रथम पैराग्राफ (§१) मे देखा गया था। किन्तु वे अपनी विशेषताएँ भी रखते है। उनके द्वारा ऐसे कार्य की अभिव्यक्ति होती है, जो वक्ता मे भय पैदा करते है।

§१२. उत्प्रेरणा-प्रबोधन (incentvie) की अभिव्यक्ति

उत्प्रेरणा के अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए सभावनार्थ का सामान्य रूप प्रयोग मे लाया जाता है।

वाचिक कार्य (verbal action) के पूरक होकर वे अपने मे वक्ता के लिए क्या उपस्थित करते है—इस बात पर आश्रित अभिव्यक्ति के तीन प्रकार के रूप-विषयक कारक पाये जाते है—

(अ) नम्र निवेदन, (ब) कार्य के सम्मिलित-बोध (combind realization) की अपील, (स) अप्रत्यक्ष प्रेरणा (incentive)।

इस प्रकार के विभाग केवल शब्दार्थक नियम पर ही नही आधारित है, बल्कि जहाँ तक वे व्याकरणिक अभिप्राय मे विभिन्न पुरुषो से सम्बद्ध है, रूपात्मक नियम पर भी आधारित है।

(अ) नम्रनिवेदन

नम्र निवेदन की अभिव्यवित मे 'आप' सर्वनाम का प्रयोग होता है जो विधेय की क्रिया के अन्य पुरुष (third person) बहुवचन की सहायता से चुनाव को घटित करता है—

'महाराज! आप मेरे राजा है। आप मेरे सम्मुख सिर न झुकायें।'
(सुदर्शन, प्रबला)।

'खुदा के लिए आप मेरा पीछा करना छोड दे।' (कृष्णचन्द्र, वेक्सीनेटर)।

(ब) सम्मिलित कार्य की अपील की अभिव्यक्ति

सम्मिलित कार्य की अपील की अभिव्यक्ति के लिए वाक्य मे व्याकरणिक अभिप्राय की दृष्टि से उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रयोग होता है। इस प्रकार के वाक्य तब प्रयोग किये जाते है, जब वक्ता किसी को किसी काम को पूर्ण करने के लिए अपने को भी उन्ही कर्त्ताओ मे गिनकर प्रेरित करता है, उदाहरणतया—

'आओ, हम तीनो फिर नन्दसर चलें।' (कृष्णचन्द्र, गरजन की एक शाम)।
'ख़ैर, आइए अब हम चाय पिएँ।' (विष्णु प्रभाकर, उपचेतन का छल)।
'चलो, जरा पार्क घूम आयें।' (वल्लभ अग्रवाल, मूड)।

(स) अप्रत्यक्ष प्रेरणा (inducement) की अभिव्यक्ति

कार्य की क्रिया के उद्देश्य के विषय मे जब प्रेरणा अप्रत्यक्ष होती है, तब वे बाते विचाराधीन हो जाती है। ऐसे वाक्य मे वक्ता का प्रत्युत्तर देने वाला उसके सकल्प के विषय मे कार्य के सूचक की भाँति समझा जाता है। ऐसे वाक्यो मे क्रिया-विधेय अन्य पुरुष के रूप मे होता है; जैसे—

'सुल्तान ने अदालत से कहा—गवाह शपथ ले, वह जो कुछ कहेगा, सच कहेगा।'
(यशपाल, दादा कामरेड)।

'अलगू ने दीन भाव से कहा, समझू साहु ही चुन ले।' (प्रेमचन्द, पचपरमेश्वर)।

जब अनिश्चयात्मक सर्वनाम 'कोई' का प्रयोग कर्त्ता की भाँति होता है तब साधारणतया वाक्य प्रेरणा का कर्त्तव्य-आवश्यकता का सम्मिलित छायार्थ (shade) व्यक्त करता है यथा—

'सावधान! मेरे निकट कोई न आये, मै सेनापति हूँ।' (सुदर्शन, प्रबला)।

निष्कर्ष

एक स्वतत्र वाक्य मे सभावनार्थ निम्नलिखित की अभिव्यक्ति करता है—

(१) सूचना की अविश्वसनीयता, (२) स्वीकृति, (३) तुलना, (४) आवश्यकता का अभिप्राय, (५) आवश्यकता-कृतज्ञता-सभावना के अभिप्राय की अभिव्यक्ति, उन वाक्यो मे जिनमे आलकारिक प्रश्न हो, (६) कार्य-विधान के सापेक्ष औचित्य-आवश्यकता की पूछ-ताँछ, (७) व्याकुल करने वाले प्रश्न, (८) वास्तविक कार्य, (९) सकल्पात्मक अभिप्राय, (१०) अभिलाषा, वाछा, (११) भयमिश्रित इच्छार्थक अभिप्राय, (१२) प्रेरणार्थक अभिप्राय।

स्वतत्र वाक्यो मे सभावनार्थ के प्रयोग के ये कुछ खास नमूने है। शब्दार्थक अभिप्राय से रूपविषयक मूल्य जो सभावनार्थ की सहायता से प्राप्त होते है, वे दो भागो मे वाँटे जा सकते है—(१) जिसमे कार्य-विधान की वास्तविकता के मूल्य का अभिप्राय प्रकट न हो (अनुच्छेद १–८) और (२) इष्ट-सकल्प सूचक अभिप्राय (९–१२ अनुच्छेद)। वाक्य मे प्रथम विभाग की अभिव्यक्ति मे सूचना का चेतन तार्किक बौद्धिक विकास (evolution) पाया जाता है। द्वितीय विभाग इस तथ्य से आबद्ध है कि उसमे कार्य करने के लिए वक्ता की प्रवृत्ति, प्रयत्न इत्यादि प्रकट होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विभाग भाषा मे व्यक्त किये गये बौद्धिक और सकल्पात्मक प्रक्रिया से सम्बद्ध हो जाता है। अभिलाषा-सकल्प सूचक अभिप्राय मे बौद्धिक स्तर पर विचार-छाया का अन्तर है, किन्तु दिये गये समूहो मे अर्थ का कोई स्पष्ट स्थूल अन्तर नही दिखाया जा सकता।

इस प्रकार परीक्षा योग्य अनुच्छेद४–७, ९, १०, १२ परस्पर एक दूसरे से शब्दार्थक धरातल पर मिले हुए लगते है। अभिव्यक्ति मे उनका कथन प्रस्तुतीकरण (presentation) के लक्ष्य या महत्व द्वारा समर्थित होता है। इसमे वक्ता इस या उस कार्य के बोध को यह समझता है कि वह वास्तविक घटनाओ के क्रम की प्रेक्षाओ (perspective) के विकास द्वारा घटित होता है। उपर्युक्त महत्व-उद्देश्य का छायार्थ उपर्युक्त अभिव्यक्ति के रूपविषयक अभिप्राय के समय सभावनार्थ के सभी प्रकारो मे से सामान्य प्रकार मे व्यक्त होता है जिसके लिए भविष्य का अभिप्राय व्यक्त करना स्वाभाविक होता है।

सूचना की अविश्वसनीयता को अभिव्यक्त करने मे और स्वीकृति, तुलना और भय की व्यजना मे (अनु० १–३, ११) अभिव्यक्ति एक वाक्य का भाव व्यक्त करती है, क्योकि ऐसी स्थितियो मे वास्तविकता सभावना-आवश्यकता वाचिक कार्य सम्पूर्ण साक्ष्यो (evidences) सहित निर्दिष्ट नही होता। यहाँ सभावनार्थ के विभिन्न प्रकारो का प्रयोग होता है।

रूपविषयक विभिन्न अभिप्रायो के प्रकाशन मे सदर्भ का बहुत महत्व होता है। अज्ञात प्रश्न यह है कि वह व्यक्ति, जिससे कथन किया जाता है, वह वाचिक कार्य (veıbal actıon) का तत्पर (actıve) पूर्ण कर्त्ता हो भी सकता है और नही भी हो सकता है—यह तथ्य कम महत्व का नही है। उपर्युक्त रूपविषयक अभिप्राय की सदर्भगत आश्रयता (context-condıtıonalness) तभी थी जब वह नियमित व्याकरणिक रूपो से जुडी थी।

रूपविषयक कथन मे सुर (ᵀntonatıon) का भी विशेष महत्व है। कभी-कभी (आलकारिक प्रश्नो मे) सुर वाक्य का जीवन-सहायक होता है।

फिर भी सदर्भ और सुर रूपविषयक अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त है। इसलिए इस प्रकार अर्थ धारण करने वाला वाक्य, अपनी बनावट तथा व्याकरणिक चिह्नो के विचार से कई रूपो मे विशेषित होता है। ये रूप कुछ इस प्रकार है—

(१) साहित्यिक हिन्दी मे रूपविषयक (modal) छायार्थ का पारस्परिक सबध वाक्य मे विभिन्न शब्दो द्वारा जाना जाता हे (जरा, चलो, काश, मानो, शायद आदि)। इस प्रकार के प्रत्येक शब्द का प्रयोग निश्चित रूपविषयक अभिप्राय की व्यजना के लिए बाध्य है, जैसे 'मानो' तुलना के लिए और 'चलो' मन्तव्य के लिए प्रयुक्त होता है।

(२) रूपविषयक छायाओ का पारस्परिक सबध व्याकरणिक पुरुष (grammatıcal person) के विचार से सम्बद्ध है—जैसे, तैयारी और उद्देश्य की अभिव्यक्ति उत्तम पुरुष एकवचन के अभिप्राय के लिए और अप्रत्यक्ष प्रेरणा का छायार्थ अन्य पुरुष एकवचन के लिए प्रयुक्त होगा।

(३) रूपविषयक छायार्थ का पारस्परिक सबध क्रिया के वाच्य-रूप (voıce-form) से जाना जाता है—जैसे, कर्मवाच्य का रूप आवश्यकता या कृतज्ञता के छायार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। और वह रूप निश्चित विश्लेषणात्मक क्रिया के ढाँचे—जैसे 'पाना' क्रिया के सभावनार्थ का योग क्रियार्थक सज्ञा के साथ कृतज्ञता को व्यक्त करता है।

(४) रूपविषयक छायार्थो का पारस्परिक सबध क्रिया-विधेय की उपस्थिति मे नकारात्मकता (negatıon) की उपस्थिति से भी जाना जाता है—जैसे, भयमिश्रित इच्छार्थक अभिप्राय 'कही न' से और सभावना का अभिप्राय 'क्यो न' से व्यक्त होता है।

(५) रूपविषयक छायार्थ का पारस्परिक सबध वाक्य मे प्रश्नवाचक शब्द के शब्दार्थ-विचार द्वारा भी जाना जाता है—जैसे, वाक्य मे 'क्यो' के प्रयोग से जिसमे आलकारिक प्रश्न होता है, उस कार्य की आवश्यकता, तथा 'कैसे' के प्रयोग से सभावना नकार दी जाती है।

●

डबल्यू० ए० चर्निशोव

समानाधिकरण

समानाधिकरण एक विशेष प्रकार का विशेषण ही जान पडता है। इसके द्वारा सज्ञाओ तथा सज्ञा और सर्वनामो के पारस्परिक समानाधिकारी सबध व्यक्त किये जाते है। हिंदी मे मुख्य शब्द के सबध मे समानाधिकरण की अधिकता पदविज्ञान मूलक तथा वाक्य-विज्ञानमूलक—दोनो प्रकार की होती है। पद-विज्ञान की दृष्टि से यह अधीनता मुख्य शब्द के साथ सामानाधिकरण की व्याकरणगत अनुरूपता मे प्रकट होती है, तथा वाक्य-विज्ञान की दृष्टि से शब्द-समूह-विशेष के विभिन्न अशो के बीच सपर्क के रूप मे हिंदी की विश्लेषणात्मक प्रकृति के कारण, जैसा कि हम आगे देखेंगे, पद-विज्ञानमूलक अधीनता के बहुत थोडे उदाहरण मिलते है, अत समाना-धिकरण की मूल विशेषता वाक्य-विज्ञानमूलक ही है।

हिंदी मे समानाधिकरण कोई एक शब्द भी हो सकता है तथा शब्द-समूह भी।

समानाधिकरण की विशेषणमूलक परिभाषा के विपरीत उसका प्रयोग विशेष्य के बिना भी होता है। ऐसी स्थिति मे विशेष्य शब्द पहले के सदर्भ मे आ चुका होता है और इस प्रकार समानाधिकरण रूपक अलकार का रूप ले लेता है।

विशेष्य शब्द के साथ सयुक्त होने पर समानाधिकरण उस शब्द का स्पष्टीकरण करता है तथा अनेकानेक सबधो मे उसकी विशेषता बतलाता है। उदाहरणार्थ समानाधिकरण के द्वारा निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट हो सकती है—

१ सामाजिक स्थिति—एक दिन **अकबर बादशाह** ने अपने **वजीर राजा बीरबल** से पूछा (कहावतो की कहानियाँ, ३८)।

२ विकास—सबसे पहले कतरास के **युवक कार्यकर्ता** पशुपति नाथ ने उठकर अपना आरोप-पत्र पढकर सुनाया। (रेणु, परती परिकथा, ४७६)।

३ कौटुम्बिक या पारिवारिक सबध—तीन साल हुए मैने अपनी सारी जायदाद अपने **भानजे जुम्मन** के नाम लिख दी थी। (प्रेमचद, सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, १३६)।

४ सवेगात्मक भाव व्यक्त करने वाला नाम या शब्द—लुत्तो हुकुम देता है—पकड लाओ **साले जित्तन** को। (रेणु, परती० १९९)।

५ सज्ञा-नामो मे रूप की विशेषता—फुलिया को **गरमी बीमारी** हो गयी। (रेणु—मैला आँचल, २८७)।

६ जाति और उपजाति का नाम—चमार टोली का **ननकेसर चमार** ताल ठोक कर नाचता हुआ आगे बढ आता है। (रेणु, परती० ५०५)।

७ व्यक्तिवाचक सज्ञाओ के शब्दार्थ—**देवताओ और मदिरो के नगर बनारस** मे रह कर भी आभा रानी को सब से पहले अपने भगवान की याद आती है। (रेणु, मैला आँचल, १०२)।

८ निर्जीव पदार्थो (समाचारपत्रो, पत्रिकाओ, वैज्ञानिक और साहित्यिक प्रकाशनो आदि) के स्थिति-सूचक नाम—भूमिहार टोले का प्रयागचद **दैनिक आर्यभूमि** मे प्रकाशित सवाद को जोर-जोर से सुना रहा है। (रेणु, परती०, ३६१)।

इस शब्द-समूह मे आश्रित अथवा अधीन अग वह होता है जो समूह के दूसरे अग की कोई विशेषता अथवा गुण बताता हो, अर्थ स्पष्ट करता हो अथवा उसकी वस्तुस्थिति को प्रकट करता हो। अत यह ध्यान देने की बात है कि समानार्थक पुनरावृत्तियो को, जो कि हिदी मे व्यापक रूप से प्रचलित है और जिनका रूप समानाधिकरण समूहो के ही समान होता है, समानाधिकरण नही माना जा सकता, क्योकि उनमे विशेषण का लक्षण नही होता। समानार्थक पुनरावृत्ति दो शब्दो—पूर्ण तथा सापेक्ष समानार्थको—का समूह होता है। इनके बीच का सबध विशेष शब्द तथा उसके समानाधिकरण के समानाधिकरणात्मक सबध से सर्वथा भिन्न होता है, यथा—**पालन-पोषण, जॉच-पडताल, काट-छाँट** आदि।

अन्य विशेषणो की भाँति समानाधिकरण आत्मगत (subjective) सबध के द्वारा प्राय सज्ञा के साथ सबद्ध होता है। परतु ऐसे उदाहरण भी कम नही है जिनमे समानाधिकरण का सबध सर्वनाम के साथ मिलता है, यथा—

(१) अगर ईश्वर ने उन्हे वाणी दी होती तो वे झुरी से पूछते—'तुम **हम गरीबो** को क्यो निकाल रहे हो?' (प्रेमचद सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, १९१)।

(२) वही मेरी आँखो का उजाला, **मुझ अधे** का सहारा, मेरे जीवन का आधार और मेरे जर्जर शरीर का प्राण था। (प्रेमचन्द, सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, १२६)।

समानाधिकरण एक शब्द मात्र के द्वारा भी व्यक्त हो सकता हे तथा शब्दो के समूह के द्वारा भी। पहला प्रत्यक्ष (सीधा) समानाधिकरण कहा जायगा तथा दूसरा प्रसरित अथवा विस्तरित समानाधिकरण, यथा—

(१) **जिले की राजनीति के जनक रामकिसन बाबू** के बँगले पर वह जिस समय हाजिर हुआ उस समय पुलिस की लारी खडी थी। (रेणु, मैला आँचल, १७१)।

(२) एक बार बोलो कलेजा खोल कर—**गरीबो के नेता लुत्तोबाबू** की—ई–ई ! जै, जै, जै! (रेणु, परती०, ६३)।

समानाधिकरण विशेष्य के पहले भी आ सकता है तथा उसके बाद भी। उसकी स्थिति कुछ भी हो—विशेष्य शब्द के पूर्व या पश्चात्—रहता वह सदैव मुख्य शब्द के निकट ही है, उसके साथ प्रत्यक्षत सटा हुआ। प्रसरित समानाधिकरण का प्रयोग जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणो मे देखा जा सकता है, नियमित रूप से सदैव पूर्व की स्थिति मे होता है। ऐसे अप्रत्यक्ष ढग के समानाधिकरण भी, जो सामाजिक स्थिति, व्यवसाय या पेशे की प्रकृति का बोध कराते है, विशेष्य के पूर्व ही प्रयुक्त होते है, यथा—

(१) **करघा मास्टर टुनटुन जी** को मगला देवी का सोशलिस्ट आफिस मे रहना बडा बुरा लगता है। (रेणु, मैला आचल, २१४)।

(२) **तहसीलदार हरगौरीसिह** ने नये रैयतो के साथ जमीनबदोबस्ती का ऐलान कर दिया है। (रेणु, मैला आँचल, २१९)।

प्रत्यक्ष अथवा अप्रसरित समानाधिकरण, जो व्यवसाय, जातिगत उत्तराधिकार, जाति, वश-परपरा अर्थात् मनुष्य की जन्मजात विशेषताओ अथवा सामाजिक सबधो के आधार पर प्राप्त स्थितिसूचक सवेगात्मक नामो या सबोधनो का बोध कराते है, नियमित रूप से विशेष्य के पश्चात् ही प्रयुक्त होते है, यथा—

(१) हसलगज के **हरखू तेली** ने अलबत पैसा जमाया। (रेणु, मैला आँचल, २१५)।

(२) **बिरसा माझी** अब लेटा नही रह सकता। (रेणु, मैला आँचल २४७)।

इसके अतिरिक्त सर्वनामो के साथ सबद्ध समानाधिकरण भी सदैव विशेष्य के साथ प्रयुक्त होते है। पुन ऐसे समानाधिकरण भी, जिनमे विशेषता के विस्तार की मात्रा का अतर होता है, सयुक्त रूप मे भी प्रयुक्त होते है। सयुक्त समानाधिकरण वे है जिनका विशेष्य के साथ एक ही सा सबध होता है, यथा —

(१) नीम की ठढी छाया मे गुरुदीन चौधरी अपना मोटा लट्ठ सँभाले हुए बैठे है और उसकी **बुढ़िया माँ शकूरन** उससे बाते कर रही है। (जहूरबख्श, शबनम, ७०)।

(२) प्राणमोहन बाबू ने कुछ दिन हुए अपने घर मे अमलेश का आना-जाना बन्द कर दिया था। इसलिए (उनकी **पुत्री** और अपनी चचेरी **बहन**) **वीणा** के पीछे हाथ धोकर पड गया है। (रेणु, मैला आँचल, १९८)।

एक ही विशेष्य शब्द के जब दो समानाधिकरण हो तो मिश्रित समानाधिकरण होगा। इसमे एक समानाधिकरण पहले आता है और दूसरा बाद मे, यथा—

(१) **बूढ़ा रघू रामायनी** थर थर काँप रहा है। (रेणु, परती० ३६५)।

(२) गाँव के प्रसिद्ध ओर पुराने लाल **बुझक्कड झिम्मल मामा** ने ग्राम-पुस्तकालय के पठनागार मे घोषणा की। (रेणु, परती० १५)।

(३) जाति के **सरदार झल्लू मोची** और **घोवन मोची** को वह रोज दारू पिलाता है। (रेणु, परती० ३५२)।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि समानाधिकरण नियमित रूप मे ऐसे शब्द के द्वारा व्यक्त किया जाता है जो कोश-विज्ञान तथा शब्दार्थ-विज्ञान की दृष्टि से विशेष्य शब्द से भिन्न होता है। ऐसे शब्द-समूह अवश्य हो सकते है, जिनमे समानाधिकरण के द्वारा विशेष्य शब्द की कोश-विज्ञान की दृष्टि से आवृत्ति हो जाती है। परन्तु ऐसी आवृत्ति मे समानाधिकरण का लक्षण उसी दशा मे होता है जब उसके द्वारा मुख्य शब्द का अर्थ निश्चित करने मे सहायता मिलती हो। यदि ऐसा नही होता तो आवृत्ति केवल शैली का एक गुण कहा जाना और उसका उद्देश्य मुख्य शब्द पर बल देकर वाक्य की व्यजकता मे वृद्धि करना मात्र होगा। शब्द को दुहराना समाना-

धिकरण के रूप मे तभी उपयोगी हो सकता है जब उसके द्वारा किन्ही पूर्व अज्ञात विशेषताओ का उद्घाटन होता हो, उदाहरणार्थ—

(१) शीत का प्रकोप हुआ और सारा गाँव खाँसी मे ग्रस्त हो गया और वह सारी विपत्ति **झींगुर** की करनी थी—**अभागे हत्यारे झीगुर** की। (प्रेमचद, सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, ४१)।

(२) बोलिए एक बार प्रेम से—सोशलिस्ट पार्टी की जय! यह **पार्टी** असली है, **किसानो की पार्टी, ग़रीबो की पार्टी**। (रेणु, मैला आँचल, १३३)।

विशेष्य शब्द के साथ घनिष्ठ रूप मे सबद्ध होने के कारण समानाधिकरण का वाक्य मे वही व्यापार होता है जो स्वय विशेष्य शब्द का होता है। वाक्य मे विशेष्य शब्द की स्थिति प्रमुख और गौण, दोनो श्रेणियो की हो सकती है। सामान्यत उसका व्यापार, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणो मे देखा जा सकता है, उद्देश्य अथवा पूरक का होता है। समानाधिकरण सज्ञा के साथ क्रियाविशेषण के व्यापार मे बहुत कम सयुक्त होता है। विशेष्य शब्द के उद्देश्य के व्यापार को पुष्ट करते हुए वह उसे क्रियाविशेषण के नही, बल्कि पूरक के व्यापार के लिए सक्षम बनाता है। इन दो मूलभूत व्यापारो के अतिरिक्त विशेष्य शब्द का अपने अधीन समानाधिकरण के साथ-साथ ऐसा व्यापार—सबोधन का व्यापार भी हो सकता है जिसका वाक्य के साथ कोई व्याकरणगत सबध न हो।

ऊपर दिये गये विविध उदाहरणो से यह भी निष्कर्ष निकल सकता है कि यद्यपि विशेष्य और समानाधिकरण दोनो का व्यापार एक ही अवश्य होता है, समाधिकरण के रूप मे प्राय विशेष्य शब्द के रूप का सादृश्य नही होता। इससे प्रकट होता है कि दोनो मे पूर्ण अनुरूपता नही होती।

वाक्य मे समानाधिकरण-सबध से जुडे हुए शब्दो की यह अपूर्ण अनुरूपता कुछ ऐसे तत्वो पर निर्भर होती है जिनकी उपस्थिति भी अनिवार्य नही है। इन तत्वो मे एक है समानाधिकरण के व्यापार वाले शब्द की परिवर्तनशीलता और दूसरा उसके पर्याय विशेषणो की विद्यमानता।

समानाधिकरण और विशेष्य शब्द की प्रथम और मूलभूत अनुरूपता लिंग की अनुरूपता है। यदि विशेष्य शब्द का लिग ज्ञात हो तो प्राय बिना किसी भ्रम के, बिना किसी पूरक सकेत के उसके समानाधिकरण के लिग का निश्चय किया जा सकता है। यद्यपि इसे सपूर्ण नियम कहना सभव नही है, फिर भी समानाधिकरण की अधीनता का यह परिचयात्मक लक्षण प्राय अत्यत अनुल्लघनीय है।

एकवचन मे समानाधिकरण के प्रत्यक्ष या सीधे प्रयोग की स्थिति मे दोनो अगो मे उसी प्रकार कोई परिवर्तन नही होता, जैसे इसी प्रकार के प्रयोग वाले विशेष्य शब्द के अन्य विशेषण अपरिवर्तित रहते है।

परन्तु अप्रत्यक्ष प्रयोग की स्थिति मे अर्थात् उस स्थिति मे जब समानाधिकरण-सबध वाला एक अग पश्चात्-प्रयोग वाला होता है, तब इस पश्चात्-प्रयोग का प्रभाव दोनो अगो पर पडता है और उसी के द्वारा उन दोनो के और साथ ही उनके पर्याय विशेषणो के रूप का निश्चय होता है। यह नियम केवल पुलिग सज्ञाओ पर ही लागू होता है, एकवचन वाली स्त्रीलिंग सज्ञाएँ तथा उनके विशेषणो मे कोई परिवर्तन नही होता।

परन्तु पुलिग तथा स्त्रीलिग दोनो सज्ञाओं के बहुवचन मे समानाधिकरण वाले शब्द-समूह के दोनो अगो पर पश्चात्-प्रयोग की स्थिति का भिन्न-भिन्न प्रभाव पडता है। स्त्रीलिंग शब्द-समूह का पहला अश उस दशा मे भी एकवचन के अपरिवर्तित रूप मे रहता है, जब कि दूसरा अश बहुवचन रूप हो जाता है, उदाहरणार्थ—

(१) आपको सुनना मना है क्यो डूबी थी **कुमारी बेटियाँ**। (रेणु, परती० १२६)।

बहुवचन के अप्रत्यक्ष प्रयोगो मे बहुवचन सूचक -ओ प्रत्ययात शब्द-समूह के उसी अश मे जोडा जाता है जो पश्चात्-प्रयोग वाले दूसरे अश के ठीक पहले आता है। पहला अश या तो अपरिवर्तित रहता है या, यदि वह पुलिग अकारात शब्द हुआ तो, एकवचन का अप्रत्यक्ष रूप ले लेता है। इस प्रकार यहाँ रूपो की पूर्ण अनुरूपता दिखाई देती है। यदि पश्चात्-प्रयोग के कारण दूसरे अश मे पद-विज्ञानगत परिवर्तन हो जाय तो पहले अश मे केवल अशत परिवर्तन होता है, जिससे विशेष्य शब्द के अप्रत्यक्ष प्रयोग के रूप की सूचना तो मिलती है, परन्तु बहुवचन के रूप की सूचना नही मिलती, यद्यपि परस्पर सबद्ध होने के कारण दोनो अश बहुवचन का ही अर्थ देते है, यथा —

(१) जीन एक पीर का नाम है। वह कभी-कभी मनमोहन वाला रूप धर कर **कुमारी** और **बेवा लडकियों** को भरमाता है। (रेणु, मैला आँचल, ३१५)।

(२) हवेली परगना के इतिहास मे पाँच-सात इस्टेट की **विधवा** हिंदू **रानियो** के राज-काज की बाते मिलती है। (रेणु, परती०, ४१६)।

समानाधिकरण-शब्द-समूहो के अशो मे इस प्रकार की अननुरूपता उन शब्द-समूहो मे भी देखी जाती है जो सबोधन के लिए प्रयुक्त होते है तथा जिनका वाक्य से व्याकरणगत सबध नही होता।

हिंदी मे कर्ताकारक से भिन्न सबोधन कारक का पृथक् रूप होता है। एकवचन का सबोधनकारक कर्ता के बराबर होता है। केवल आकारात पुलिग सज्ञाओ का रूप सामान्यतया एकारात हो जाता है। सभी सज्ञाओ का बहुवचन रूप ओकारात होता है और उसमे लिग-भेद नही होता।

समानाधिकरण सबध से जुडे सबोधन-सूचक शब्दो मे पहला अश या तो अपरिवर्तित रहता है या यदि वह अपरिवर्तनीय हुआ तो एकारात हो जाता है, यद्यपि उसके समस्त विशेषण विधेयात्मक रूप मे प्रयुक्त होते है, उदाहरणार्थ —

(१) उठो किसानो के **बेटे सपूतो**। (रेणु, मैला आँचल, १३०)।

(२) **किसान भाइयो**, माँगने से कुछ नही मिलेगा। (नागार्जुन, बलचनमा, १७६)।

(३) महाराना सग्रामसिंह फिर अपने वीरो से बोले '**मेरे प्यारे साथी सिपाहियो**, लडो और ख़ूब लडो!' (जहूरबख़्श, शबनम, १५४)।

यद्यपि, जैसा कि हम देख चुके है, समानाधिकरण और उसका विशेष्य शब्द दोनो सामान्यत एक ही लिंग के होते है, परन्तु यह निरपवाद नियम नही है। कभी-कभी दोनो के लिंग मे अतर भी हो सकता है, यथा—

(१) उन्होने उस हत्याकाड की शिकार एक युवती की बेबसी का करुण चित्र एक नयी कविता मे उपस्थित किया था। (अश्क, छीटे, ५२)।

(२) गाँवो मे सामन्तशाही व्यवस्था का मूलाधार जमीनदारी अब टूट चुकी है। (हीरा प्रसाद त्रिपाठी आचलिक उपन्यास, कल्पना, मई, १९५८, पृ० ५८)।

विशेषण और विशेष्य मे लिग-सबधी इस अननुरूपता के होते हुए भी दोनो मे एक शब्दार्थ-गत अतर होता है जो साधारणतया लिग के रूप से सबध नही रखता।

हिदी मे समानाधिकरण विशेष्य शब्द के साथ कुछ अन्य अधीन अथवा स्वतत्र शब्दो के द्वारा भी सयुक्त हो सकता है। सयुक्त करने का यह कार्य सयोजको—यानी या अर्थात्—सयोज-नात्मक शब्दो—जैसा, सरीखा, सा—तथा पूर्ण अर्थद्योतक शब्दो—नामी, नामक अथवा नाम का, शीर्षक, उर्फ, सिफत—के द्वारा होता है, यथा—

(क) सयोजक (१) एक कोठरी मे बैठकर जित्तन बाबू यानी श्री जितेन्द्रनाथ मिश्र जी एक टक खिडकी से देख रहे है। (रेणु, परती०, १५)।

(२) ढहती हुई हवेली की एक एक ईट पर नागरी अक्षर 'प० पु० ह०' का मार्का है, 'प० पु० ह०' अर्थात् परानपुर हवेली। (रेणु, परती०, २१)।

(ख) सयोजनात्मक शब्द (१) गाँव के लोगो के सिरहाने सपने मे मँडराते है—दुलारी-दाय की धारा मे बाढ आयी है चाँदी के रुपयो जैसे पोठी मछलियाँ परती पर झिलमिल पानी मे छटपटा रही है। (रेणु, परती०, २६९)।

(२) कम्फू की देवी दुर्गा जैसी लडकी आ रही है। (रेणु, परती०, ३७९)।

(३) स्वय अभय का परिवार बहुत बडा नही था, उसमे अभय के सिवा दो जन और थे— एक उसकी हीरे सी पत्नी और दूसरा उसका फूल सा बच्चा।

(ज़हूरबख्श, शबनम, १०६)

(ज) पूर्णार्थ अर्थ द्योतक शब्द—(१) एक दिन प्रेस नोट मे यह खबर प्रकाशित हुई कि पुर्णिया ज़िले के मीरगंज नामक गाँव मे मलेरिया स्टेशन खोला गया है।

(रेणु, मैला आँचल, ६१)।

(२) श्री सियाराम शरण गुप्त का जन्म झाँसी जिले के अतर्गत चिरगाँव नाम के क़स्बे मे हुआ है। (गुलाबराय)

(३) गुलेरी जी ने उसने कहा था शीर्षक कहानी मे बीच की घटनाओ का वर्णन मरणासन्न लहना सिह की स्मृति के रूप मे किया है। (गुलाबराय)।

(४) उन्होने दीनदयाल तिवारी उर्फ दीनू की उचित खातिर की और जवाब दिया। (रेणु, परती०, १६७)

(५) इस फरिश्ता सिफत औरत पर आपके जैसे पाँच रुपये वाले लाख नोट कुर्बान किये जा सकते है। (ज़हूरबख्श, शबनम, ३२)

अन्य शब्दो के द्वारा सयुक्त होने वाले समानाधिकरण विशेष्य के पूर्व या पश्चात् दोनो प्रकार से प्रयुक्त हो सकते है, परन्तु इन दोनो प्रकार के प्रयोगो की स्थिति दृढ और अनिवार्य

रूप से निश्चित होती है। इस प्रकार, सयोजनात्मक शब्दो—**जैसा, सरीखा** अथवा **सा** की तथा पूर्णता द्योतक शब्दो—**नामक, नामी, नाम का, शीर्षक** या **सिफत** की सहायता से जुडने वाले समानाधिकरण सदैव पूर्व-प्रयोग की स्थिति मे रहते है। **यानी** और **अर्थात्** सयोजको तथा पूर्णार्थ द्योतक शब्द **उर्फ़** के द्वारा सयुक्त होनेवाले समानाधिकरण सदैव पश्चात्-प्रयोग की स्थिति मे रहते है। उपर्युक्त उदाहरणो से यह भी देखा जा सकता है कि सयोजनात्मक शब्द—**जैसा, सरीखा, सा**—को छोडकर पश्चात्-प्रयोग के रूप मे समानाधिकरण को जोडनेवाले अन्य शब्दो का समानाधिकरण के रूप पर कोई प्रभाव नही पडता।



द्वितीय खण्ड : संस्कृति

कृष्णदत्त वाजपेयी

मध्यप्रदेश का कलात्मक वैभव

वर्तमान मध्यप्रदेश मे प्राचीन महाकोशल के मुख्य भाग के अतिरिक्त विंध्यप्रदेश तथा सम्पूर्ण मालवा सम्मिलित है। प्राचीन भारतीय इतिहास मे इन तीनो भूभागो का महत्व रहा है। महाकोशल या दक्षिण कोशल का वह भाग जिसमे होकर नर्मदा नदी बहती है, विशेप रूप से उल्लेखनीय है। नर्मदा के तट पर अनेक प्राचीन बस्तियो के अवशेष मिले है। यह नदी दक्षिण कोशल से मालव-प्रदेश मे बहती हुई पश्चिम को जाती है। इसके तटवर्ती जबलपुर नरसिहपुर तथा होशगाबाद जिलो मे और मालव प्रदेश के निमाड और धार ज़िलो के अनेक स्थानो मे विविध प्रागैतिहासिक हथियार आदि तथा चित्रित गुफाएँ मिली है। इनके द्वारा इस प्रदेश मे बसने वाले आदि-मानव की सभ्यता पर प्रकाश पडा है। मालव के कई प्राचीन स्थानो—महेश्वर, नवदातोली, नागदा और उज्जैन मे हाल मे जो उत्खनन तथा सर्वेक्षण कार्य हुए है, उनके द्वारा प्रागैतिहासिक काल के सबध मे महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। ऐतिहासिक काल मे उज्जयिनी तथा विदिशा—मालव के ये दो प्रमुख राजनैतिक एव सास्कृतिक केद्र हुए। मालव-प्रदेश का पूर्वी भाग 'आकर' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसकी राजधानी विदिशा थी। पश्चिमी भाग 'अवन्ती' कहलाया, जिसका केद्र उज्जयिनी नगरी हुई। ई० पूर्व छठी शती से मालव का प्राय क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। लगभग ई० पूर्व दूसरी शती से यहाँ तथा इसके उत्तर कई स्थानो पर ललित कला का विकास हुआ। इनमे साँची, विदिशा, एरण, पवाया (पद्मावती) और मदसौर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक विध्यप्रदेश का अधिकाश प्राचीन काल मे 'चेदि जनपद' के नाम से प्रख्यात था। बाद मे इसे 'जेजाकभुक्ति' कहने लगे तथा परवर्ती नाम 'बुदेलखड' और 'बघेलखड' प्रसिद्ध हुए। कला की दृष्टि से यह भूभाग बहुत समृद्ध है। सतना जिले मे स्थित भरहुत नामक स्थान पर ईसवी पूर्व दूसरी शती मे एक विशाल बौद्ध-स्तूप का निर्माण हुआ। इस स्तूप के बहुसख्यक प्रस्तरावशेष इस समय कलकत्ता के भारतीय सग्रहालय, प्रयाग के सग्रहालय तथा रामवन (जिला सतना) मे सुरक्षित है। गुप्त-वाकाटक-काल मे विंध्यप्रदेश के अनेक भागो मे कला की उत्कृष्ट कृतियो का निर्माण हुआ। भूमरा और नचना-कुठारा के शैव मदिर और मूर्तियाँ तथा खोह, उँचेहरा, नागौद आदि स्थानो से प्राप्त कलाकृतियाँ यह सूचित करती है कि चौथी-पाँचवी शती मे विध्यप्रदेश मे भारतीय कला की बडी श्रीवृद्धि हुई। मध्यकाल मे इस प्रदेश मे चदेलो का शासन हुआ, जो अपनी कलाप्रियता के लिए प्रख्यात है। उनके द्वारा बनवाये गये खजुराहो के मदिर इसके ज्वलत प्रमाण है।

महाकोशल-प्रदेश मे गुप्त-शासन-काल के बाद उल्लेखनीय राजवश कलचुरियो का हुआ। उनकी कई शाखाएँ थी। इनमे त्रिपुरी तथा रतनपुर के कलचुरि-राजवश विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इनके राज्यकाल मे महाकोशल तथा विन्ध्यप्रदेश के विभिन्न भागो मे कलाकृतियो का निर्माण हुआ। इन स्थानो मे त्रिपुरी और रतनपुर के अतिरिक्त नोहटा, अमरकटक, चदरेह, सुहागपुर, मढपिपरिया आदि स्थान उल्लेखनीय है।

मध्यप्रदेश के कलात्मक अवशेषो मे सबसे प्राचीन उन गुफाओ के चित्र कहे जा सकते है जो यहाँ के कतिपय स्थानो मे मिले है। इनमे होशगाबाद, पचमढी, रायगढ, सिघणपुर आदि के चित्रित गह्वर आते है। हाल मे सागर जिले मे नरयावली तथा आबचद नामक दो स्थानो मे चित्रित गुफाओ का पता चला है। इन गुफाओ मे निवास करने वाला आदिम मानव अनेक रगो द्वारा विविध प्रकार के चित्र बनाता था। इन चित्रो के मुख्य विषय मृगया, पशुओ पर सवारी, गाना-बजाना, और नृत्य है। कला की दृष्टि से ये चित्र वनचर मानव के प्रारभिक प्रयास होने के कारण बडे रोचक हे। आदिम लोग पाषाणो के अनेक प्रकार के हथियार भी बनाते थे। बाद मे धातु का भी प्रयोग विविध अस्त्रो के लिए होने लगा। मध्यप्रदेश के अनेक स्थानो से इस प्रकार के हथियार मिले हैं।

ऐतिहासिक युग मे आने पर हम पाते है कि मौर्य-काल मे उत्तर भारत के अनेक स्थानो मे स्तूपो का निर्माण हुआ। सम्राट् अशोक ने साँची मे भी एक बडे स्तूप का निर्माण कराया, जहाँ उसका एक स्तभ-शिलालेख भी मिला है। अशोक का दूसरा लेख जबलपुर से लगभग ३० मील दूर रूपनाथ नामक स्थान मे एक चट्टान पर उत्कीर्ण है। मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग मे अबिकापुर जिले मे रामगढ नामक पहाडी की गुफाओ मे मौर्यकालीन कई लेख उपलब्ध है। इन लेखो से प्रतीत होता है कि यहाँ पर सभवत एक प्राचीन नाटचशाला थी, जिसके समीप ही नर्तकियो के निवास की भी व्यवस्था थी।

साँची मे अशोक के द्वारा जिस स्तूप का निर्माण कराया गया उसके चारो ओर शुग-काल मे एक अलकृत वेदिका का निर्माण हुआ। इस वेदिका के तोरण-द्वार विशेष रूप से उल्लेखनीय हे। इन पर भगवान् बुद्ध के जीवन-सबधी दृश्य, उनके पूर्व जन्म की कथाएँ तथा लोक-जीवन-सबधी विविध दृश्य अत्यन्त कलापूर्ण ढग से दिखाये गये है। भरहुत-स्तूप का निर्माण साँची-वेदिका के कुछ ही पहले सम्पन्न हुआ। वहाँ की कला मे भी अनेक जातक-कथाओ के अतिरिक्त यक्ष-यक्षियो, नाग-नागियो आदि की बहुसख्यक मूर्तियाँ मिली है। साँची और भरहुत—दोनो जगह नारी के श्री रूप की अभिव्यक्ति के साथ प्राकृतिक दृश्य तथा विविध अलकरण सुरुचिपूर्ण ढग से उत्कीर्ण मिलते है। अनेक प्रकार के धार्मिक और सामाजिक उत्सवो, आमोद-प्रमोदो तथा शृगार की विविध रीतियो को जिस यथार्थ ढग से पाषाण पर चित्रित किया गया है, उससे तत्कालीन कलाकारो की प्रतिभा का पता चलता है। साँची और भरहुत दोनो स्थानो पर भगवान् बुद्ध का मूर्तरूप मे आलेखन नही मिलता, केवल उनसे सबधित प्रतीक मात्र मिलते है—यथा, धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, स्तूप, मुकुट आदि। शुगकालीन समाज के अध्ययन के लिए साँची और भरहुत की कला मे प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। शुगकाल के अतिम समय की एक अभि-



पृथिवी का उद्धार करते हुए विशाल वराह-प्रतिमा का सामने का भाग

[एरण, गुप्त काल]



द्वारस्तभ का निचला भाग, जिस पर परिचारिकाओ सहित मकरारूढा गगा दिखायी गयी है।

खजुराहो से; पूर्व मध्यकाल (प्रयाग संग्रहालय)।



साची तोरण-द्वार के एक भाग का दृश्य—समय लगभग ई० पू० १०० । नीचे सुसज्जित हाथी तथा अशोक वृक्ष के नीचे सन्नतागी स्त्री-प्रतिमा है। मध्य मे सवारी करते हुए लोग है तथा एक ओर ऋष्यश्रृग की कथा का आलेखन है। ऊपर धर्मचक्र की पूजा तथा आम्रफल तोडती हुई युवती का आलेखन है।



गोद मे बालक लिए जैन तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका, पूर्व मध्यकाल, विदिशा से।

लिखित यक्ष-प्रतिमा पवाया से मिली है। इसके लेख से पता चलता है कि यह मणिभद्र यक्ष की मूर्ति है। इसी समय की एक अन्य विशाल यक्ष-प्रतिमा हाल मे विदिशा मे मिली है।

ईसवी पूर्व दूसरी शती मे हेलियोदोर (हेलियोडोरस) नामक एक यूनानी राजदूत ने वर्तमान विदिशा नगर के पास बेसनगर नामक स्थान मे भगवान् विष्णु के सम्मान मे गरुडध्वज सहित एक स्तम्भ का निर्माण कराया, जैसा कि स्तभ पर लिखे हुए ब्राह्मी लेख से पता चला है। यह खभा सम्राट् अशोक के स्तभो के ढग का है और इस बात का सूचक है कि शुग काल मे वैष्णव धर्म का प्रभाव विदेशियो पर भी पडने लगा था।

कुपाण-सातवाहन-काल (ई० प्रथम-द्वितीय शती) मे वर्तमान जबलपुर जिला के त्रिपुरी स्थान मे कई बौद्ध-विहारो का निर्माण हुआ। उनके कुछ अवशेष त्रिपुरी की खुदाई से प्राप्त हुए है। कुषाणो तथा सातवाहन राजाओ के अनेक सिक्के भी त्रिपुरी तथा दक्षिण-पूर्वी मध्य-प्रदेश के कई स्थानो से प्राप्त हुए है। इस काल मे निर्मित बौद्ध तथा हिंदू देवो की अनेक प्रतिमाएँ साँची तथा ग्वालियर-सग्रहालय मे है।

गुप्त-वाकाटक-काल मे इस प्रदेश मे कला की विशेष उन्नति हुई। सागर जिला के एरण नामक स्थान से गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त का एक लेख मिला है, जिससे पता चलता है कि इस नगर को इस शासक ने 'स्वभोग नगर' (अपने आमोद-प्रमोद का नगर) बनाया था। गुप्त-काल के अनेक महत्वपूर्ण कलावशेष एरण से मिले है। इनमे भगवान् विष्णु तथा वराह की विशाल प्रतिमाएँ उल्लेखनीय है। गुप्त-काल मे महाविष्णु का जो मदिर एरण मे बनाया गया, उसमे मध्य मे विष्णु की मूर्ति तथा अगल-बगल वराह और नृसिह की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की गई। भगवान् विष्णु की प्रतिमा चतुर्भुजी है। वे लम्बी वनमाला धारण किये है। इस मदिर के गर्भगृह के द्वार पर एक ओर गगा तथा दूसरी ओर यमुना की मूर्तियाँ उत्खचित हे। गुप्त-काल मे मदिरो के द्वार पर गगा और यमुना की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा रूढ-सी हो गई थी। कालिदास ने इसका उल्लेख महादेव जी के विवाहोत्सव पर इस प्रकार किया है—

"मूर्ते च गगायमुने तदानी सचामरे देवमसेविषाताम्।" (कुमारसभव ७, ४२)। अर्थात् मूर्तरूप मे गगा और यमुना हाथ मे चॅवर लिए हुए उस समय महादेव की सेवा मे विद्य-मान थी।

एरण की वराह-मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उस पर वल्कलधारी तथा कमडलु लिए हुए ऋषियो का अकन बडे प्रभावोत्पादक ढग से किया गया है। विद्याधरो तथा ब्रह्मा आदि देवो की प्रतिमाएँ भी उस पर उत्कीर्ण है। वराह के गले मे जो भारी माला है उस पर अन्य अलकरणो के साथ कई राशियो का चित्रण है। वराह भगवान् ने पृथिवी को अपने दाहिने दाँत पर उठा लिया है। पृथिवी का इस प्रकार उद्धार करते हुए वराह की अनेक प्रतिमाएँ गुप्तकाल मे और उसके बाद निर्मित हुई। विदिशा तथा एरण मे ऐसी कई प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई है।

वराह-मूर्ति पर हूणशासक तोरमाण के प्रथम राज्य-वर्ष का ब्राह्मी लेख खुदा है। इसमे एरण के प्रादेशिक शासक मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु के द्वारा एक मदिर बनवाने का

उल्लेख है। गुप्तकालीन एक दूसरा लेख विष्णु-मदिर के सामने स्थित गरुडध्वज-स्तम्भ पर भी उत्कीर्ण है। इस विशाल स्तम्भ के ऊपर सर्प पकडे हुए गरुड की मूर्ति आमने-सामने बनी है। गरुड की यह मूर्ति मानवाकार है। खम्भा नीचे चौपहला तथा ऊपर अठपहला है। इस पर उत्कीर्ण लेख मे गुप्त सवत् १६५ (४८४ई०) दिया हुआ है और गुप्त सम्राट् बुधगुप्त का नाम अकित है। नौ पक्तियो के इस लेख मे यह लिखा है कि बुधगुप्त के राज्यकाल मे यमुना और नर्मदा नदियो के बीच वाले प्रदेश के शासक सुरश्मिचद्र थे। उनके अधीन एरण के विषयपति मातृ-विष्णु और उसके छोटे भाई धन्यविष्णु ने, लेखक के अनुसार, जनार्दन विष्णु का यह ध्वजस्तम्भ स्थापित किया।

गरुडध्वज-स्तम्भ के समीप ही गुप्तकालीन स्तम्भो की एक पक्ति है। इन पर मगलघट, मिथुन, पत्रावली आदि का सुदर चित्रण है। इन खभो के नीचे जो आधार है उन पर अनेक पौराणिक दृश्य दिखाये गये है। इनमे कृष्णलीला-सबधी दृश्य—यमलार्जुनोद्धार, कालिय-दमन, यशोदा-कृष्ण आदि—विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये सभी शिलापट्ट गुप्तकालीन है। सभव है कि इस प्रकार के अन्य शिलापट्ट यहाँ जमीन के अदर दबे हो।

गरुडध्वज-स्तम्भ के दूसरी ओर प्राचीन भग्न प्रतिमाओ का एक ढेर है। इसमे कई मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अत्यन्त उच्च कोटि की है। अशोक वृक्ष की डाल पकडे, विविध आभूषणो से अलकृत शालभजिका की एक मूर्ति दर्शनीय है। इसके पृष्ठभाग पर भी ऐसी ही छवि अकित है। निर्माण-शैली के आधार पर इसका समय ई० पू० प्रथम शती ठहरता है। इस प्रकार की सन्नतागी स्त्रियो की प्रतिमाएँ साँची और मथुरा की कला मे भी प्राप्त है। अन्य मूर्तियो मे शेषशायी विष्णु, त्रिविक्रम तथा अनेक उत्कीर्ण इमारती पत्थर है। एरण गाँव के समीप बीना नदी के तट पर पृथिवी का उद्धार करते हुए वराह की एक सर्वागपूर्ण मूर्ति पडी है, जिसके लेख से ज्ञात होता है कि वह महेश्वरदत्त तथा वराहदत्त के द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी।

एरण से कुछ दूर विदिशा और उसके पास उदयगिरि की गुफाएँ गुप्तकालीन कला-कृतियो के लिए बहुत प्रसिद्ध है। विदिशा मे यक्ष-यक्षियो तथा नाग-नागियो की कई उल्लेखनीय मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हे। उदयगिरि की गुफाओ मे सबसे महत्वपूर्ण मूर्ति वराह की है। इस विशाल प्रतिमा मे वराह भगवान् का सुगठिन, ओजपूर्ण शरीर तथा उनके द्वारा पृथिवी का उद्धार अत्यन्त सजीव ढग से दिखाया गया है। उदयगिरि की गुफाओ मे गुप्तकालीन अन्य कई मूर्तियाँ तथा अभिलेख उत्कीर्ण है। इनमे से अधिकाश चद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय के है।

जबलपुर जिले मे तिगवाँ नामक स्थान पर गुप्तकालीन एक मदिर मिला है, जिसमे अन्य कलाकृतियो के साथ आकर्षक मुद्रा मे खडी हुई यमुना की एक सुन्दर मूर्ति है। इसी जिले मे सपाट छत वाले अन्य अनेक गुप्तकालीन मदिर है। रायपुर जिले मे राजीम नामक स्थान से भी गुप्त युग की अनेक सर्वागपूर्ण कलाकृतियाँ मिली है।

विध्यप्रदेश मे जो स्थान गुप्तकालीन कला के लिए विशेष महत्व के है उनके नाम

नचना, भूमरा, नागौद, उँचेहरा तथा मढखेरा है। नचना मे पार्वती का मदिर तथा उसकी प्रतिमाएँ उच्च कोटि की है। यहाँ की चतुर्मुखी शिवमूर्ति कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। भूमरा का शिव-मदिर भी उल्लेखनीय है। इसमे शिव-पार्वती, सूर्य, गगा, यमुना आदि की मूर्तियो के अतिरिक्त विविध मुद्राओ मे शकर के गण तथा अनेक अलकरण बडे सुरुचिपूर्ण ढग से दिखाये गये है। गुप्तकालीन मूर्तिकला की बारीकियो को समझने के लिए भूमरा की कलाकृतियाँ देखी जा सकती है। नागौद से पुष्पित वृक्ष की डाल पकडे, आकर्षक भाव-भगिमा मे खडी हुई शालभजिका-मूर्ति मिली है। इसका अग-सौष्ठव दर्शनीय है। उँचेहरा गुप्तकाल मे उच्चकल्प के राजाओ का केद्र था। यहाँ गुप्तकालीन एकमुखी तथा चतुर्मुखी अनेक शिवलिग प्राप्त हुए है। टीकमगढ के समीप मढखेरा नामक स्थान मे सूर्य का मदिर है, जिसकी अधिकाश गुप्तकालीन मूर्तियाँ अब भी सुरक्षित है।

ग्वालियर के समीप पवाया (पद्मावती) से भी इस काल की अनेक कलाकृतियाँ मिली है। एक शिलापट्ट पर गीत, वाद्य और नृत्य का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है। यहाँ से प्राप्त अभयमुद्रा मे सूर्य-मूर्ति तथा ताडपत्रो से सुशोभित एक स्तभ-शीर्ष भी उल्लेखनीय है। पद्मावती से मिट्टी की बनी हुई अनेक कलापूर्ण मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है। पाँचवी-छठी शती मे वर्तमान मध्यप्रदेश के उत्तर-पश्चिम सीमावर्ती मदसौर नामक स्थान भी ललित कला और व्यवसाय का एक अच्छा केद्र बना। इसका तत्कालीन नाम दशपुर था। यहाँ से प्राप्त अनेक कलापूर्ण मूर्तियो और अभिलेखो से दशपुर नगर की समृद्धि तथा वहाँ के कलाप्रेमी जनो की रुचि का पता चलता है। सवत् ५२९ वि० (४७२ ई०) का एक लेख दशपुर से मिला है। इसमे उस नगर तथा वहाँ के निवासियो के काव्यमय वर्णन के बाद दशपुर के रेशम-व्यवसायियो द्वारा तैयार किये गये वस्त्रो का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलक्तोऽपि।
नारीजन प्रियमुपैति न तावदश्र्या यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते॥'

अर्थात् यौवन और सौदर्य-सम्पन्न महिलाएँ, चाहे वे स्वर्णहार तथा ताम्बूल-पुष्पादि से अलकृत क्यो न हो, तब तक अपने शृगार को अपूर्ण मान कर प्रिय के पास जाने मे लजाती है जब तक उनके पास दशपुर का बना हुआ रगीन रेशमी वस्त्रयुगल न हो।

प्राचीन काल मे विज्ञापन का यह कैसा सुदर उदाहरण है! दूसरे श्लोक मे कपडो की बारीकी और उनकी लोकप्रियता का कथन इस प्रकार है—

"स्पर्शवता वर्णान्तर विभागचित्रेण नेत्रसुभगेन।
यै सकलमिद क्षितितलमलकृत पट्टवस्त्रेण॥"

अर्थात् ये वस्त्र छूने मे मुलायम है, विविध रग-वैचित्र्य से युक्त है और आँखो को आनन्द प्रदान करने वाले है। यह सारी पृथिवी इन रेशमी वस्त्रो द्वारा अलकृत कर दी गई है।

दक्षिण मालव मे बाघ (प्राचीन व्याघ्र) स्थान की गुफाओ की चित्रकला भी गुप्तकालीन है। बाघ मे प्राप्त राजा सुबधु के गुप्तकालीन ताम्रपत्र से यह बात प्रमाणित होती है। इस लेख से

पता चलता है कि माहिष्मती के राजा सुबधु के द्वारा भगवान् बुद्ध की पूजा तथा भिक्षुओ के निर्वाह के लिए एक गाँव का दान किया गया। बाघ के भित्ति-चित्रो मे से अनेक नष्ट हो चुके है, परन्तु जो बचे है उनसे इस कला की उत्कृष्टता का पता चलता है। एक स्थान पर सगीत का रोचक दृश्य चित्रित है, जिसे प्राचीन 'हल्लीसक-नृत्य' का उदाहरण कहा जा सकता है। पत्रावली आदि विविध अलकरण भी यहाँ की कला मे सजीवता के साथ आलेखित है। बोधिसत्वो की अनेक कलाकृतियो का तथा नारी के विविध भावो का चित्रण भी बडी सुरुचि के साथ किया गया है।

मध्यकाल मे मध्यप्रदेश के अनेक स्थानो मे स्थापत्य और मूर्तिकला का विकास हुआ। इनमे खजुराहो, ग्वालियर, सुहानियाँ, ग्यारसपुर, उदयपुर, करीतलाई, रतनपुर, सिरपुर, सोहागपुर, गुरगी आदि स्थानो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। खजुराहो मे चदेलो के शासन-काल मे ससारप्रसिद्ध मदिरो का निर्माण हुआ। अधिकाश मदिर शैव है, कुछ वैष्णव तथा जैन है। इन मदिरो का निर्माण अत्यत कुशल कलाकारो द्वारा सपन्न हुआ। इनकी निर्माण-शैली उत्तर-भारत की शिखर-शैली के रूप मे प्रसिद्ध है। ये ऊँची कुर्सियो पर बने है। उनमे अर्द्ध-मडप, मडप, महामंडप, अतराल तथा गर्भ-गृह—ये पाँच भाग दिखाये गये है। इसे 'पचायतन-शैली' कहते है। मदिर का प्राय सम्पूर्ण भाग अनेक आकर्षक मुद्राओ मे खडी हुई स्त्री-पुरुषो की प्रतिमाओ तथा विविध कलापूर्ण अलकरणो से मडित है। विविध देवी-देवताओ तथा उनके पार्श्वचरो की प्रतिमाओ के अतिरिक्त लोक-जीवन के कितने ही मनोरजक दृश्यो को इन मदिरो पर शाश्वत रूप प्रदान किया गया है। सौदर्य और श्रृगार का यहाँ इतनी विविधता के साथ अकन मिलता है कि दर्शक आश्चर्यचकित रह जाता है।

ग्वालियर तथा उसके समीप सुहानियाँ, पधावली, मितावली आदि स्थानो से अनेक मध्यकालीन प्रतिमाएँ मिली है। पूर्व-मध्यकालीन हिंदू-कला के विकास का अध्ययन करने के लिए ये विशेष उपयोगी है। ग्वालियर मे सास-बहू तथा तेली का मदिर, ग्यारसपुर का मदिर तथा विदिशा जिले मे उदयपुर का प्रसिद्ध उदयेश्वर मदिर भी कला की दृष्टि से बडे महत्व के है। ये मदिर शिखर-शैली के है। इनमे खजुराहो वाली अनेक विशेषताएँ पायी जाती है। पश्चिमी मालवा मे धार, माडू, विजयगढ, बरवानी आदि अनेक स्थानो मे भी ई० ७वी से १३वी शती तक मूर्तियो तथा प्रतिमाओ का निर्माण बडी सख्या मे हुआ। महाकोशल मे करीतलाई, रतनपुर, सिरपुर, सुहागपुर, अमरकटक आदि स्थान मध्य-काल मे कला के प्रमुख केन्द्र हुए। वहाँ वैष्णव तथा शैव-धर्म सबधी देवी-देवताओ के मदिरो तथा प्रतिमाओ का बहुत बडी सख्या मे निर्माण हुआ। केवल सिरपुर (प्राचीन श्रीपुर) से अनेक बौद्ध प्रतिमाएँ भी मिली है। इनमे पाषाण-मूर्तियो के अतिरिक्त बुद्ध-बोधिसत्व आदि की कलापूर्ण कास्य प्रतिमाएँ भी है। प्राचीन मूर्ति-विज्ञान के विकास को समझने के लिए इनका विशेष महत्व है। चदेलो की तरह कलचुरि-शासक भी कला के प्रेमी थे। उनके समय मे विध्यप्रदेश के गुरगी, चदरेह आदि स्थानो मे कितनी ही कलापूर्ण प्रतिमाओ का निर्माण हुआ। ग्वालियर के सास-बहू तथा तेली के मदिर, सुहानियाँ, सुरवाया और कदवहा के मदिर वास्तुकला की दृष्टि से भी महत्व के है।

तेरहवी शती के बाद भी मध्यप्रदेश के अनेक भागो मे कला का विकास जारी रहा। जैन-मदिरो और प्रतिमाओ का निर्माण अब विशेष रूप से हुआ। सोनागिरि, ग्वालियर, आहार आदि कई स्थानो मे परवर्ती जैन प्रतिमाएँ मिली है। छोटे दुर्ग भी अनेक महत्वपूर्ण स्थानो पर निर्मित होने लगे। इन्हे गढ या गढी कहते थे। बैरागढ, राहतगढ, दुर्ग, सिरपुर, धामौनी आदि स्थानो मे ये दुर्ग देखे जा सकते है। मुसलमानी शासनकाल मे निर्मित जो इमारते स्थापत्य की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है वे माडू, धार तथा चँदेरी के अनेक महल, मस्जिदे ओर महराबे है।



एच० डी० सकालिया

आर्य समस्या: भारतीय-ईरानी संबंधों पर नया प्रकाश

आर्य बाहर से आये, तो कब और कहाँ से आये—यह प्रश्न काफी दिनो से विचाराधीन है। रूढिवादी दृष्टिकोण है कि ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य मे आर्यो के विदेशी होने और भारत आने का कोई निर्देश नही है। परन्तु ई० १५८८ मे ही फ्लोरेस के व्यापारी फिलिप्पो मास्सेट्टी ने सस्कृत, ईरानी, ग्रीक, लैटिन तथा अन्य योरोपीय भाषाओ मे अत्यधिक भाषावैज्ञानिक समानता की पहचान की थी। पूरे दो सौ वर्षों बाद, ई० १७८६ मे सर विलियम जोन्स ने इन भाषाओ की एकस्रोतीय उत्पत्ति विषयक अपना मत प्रतिपादित किया। भाषावैज्ञानिक साम्य का पोषण करते हुए मैक्सम्यूलर ने इस समस्या का स्पष्टीकरण किया और उनका कथन है कि यह मात्र भाषावैज्ञानिक प्रश्न है, इससे जाति विवक्षित नही है। इस मत का पेन्का ने घोर विरोध किया है और मूल आर्य अथवा भारतीय-जर्मन जाति के अस्तित्व के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। परन्तु इस विवाद का सबध आर्यभाषाभाषी नृवश के उद्‌गम-स्थान से है। यह जहाँ कही भी हो, बहुमत दक्षिण रूस मे मानता है। माना जाता है कि मूल भारोपीय उद्‌गम-स्थल छोडने के बाद, घूमते हुए भारतीय-ईरानी सम्मिलित कबीले पामीर प्रदेश, वक्षु और सर की इरान्वेज तलहटी मे बस गये। निश्चय ही यह मत जरस्थु-पूर्व के यश्त और प्राचीन वैदिक साहित्य मे परिलक्षित सास्कृतिक सादृश्य पर आधारित है। यह कहा जाता है कि ईरान की प्राचीन आर्य सस्कृति और प्राचीन भारतीय आर्य सस्कृति मे बहुत कम अतर किया जा सकता है, क्योकि दोनो की मूल भारतीय-ईरानी सस्कृति है।

परन्तु यह सास्कृतिक सादृश्य भारत से प्राप्त भारतीय-ईरानी वस्तुओ से प्रमाणित नही किया जा सकता है, न हम भारत मे भारतीय आर्य-आगमन का ही काल निर्धारित कर सकते है। ऋग्वेद और ईरानी गाथाओ के भाषाशास्त्रीय अध्ययन से १०००-१५००ई० पू० का अनुमान किया जाता है। इसके आधार पर आस्ट्रियावासी नृतत्वज्ञ हाइने गेल्डर्न ने हमारा ध्यान गगाघाटी तथा लूरिस्तान और दक्षिण रूस से प्राप्त कुछ काँसे की वस्तुओ के सादृश्य की ओर आकर्षित किया था। हाल ही मे सर मार्टिमर ह्वीलर ने मोहनजोदडो और हरप्पा के किलेबद नगरो को आर्य-पूर्व दुर्ग (पुर) माना है, जिन्हें आक्रामक आर्यों ने अपने युद्धदेवता इन्द्र के सेनापतित्व मे नष्ट किया था; यद्यपि यह आर्य आक्रमण के सिद्धान्त-प्रतिष्ठापन का प्रमुख चरण था। विद्वानो को आर्यो द्वारा छोडी गयी या ईरान से लायी गयी सुनिश्चित वस्तुएँ नही मिल सकी है। वस्तुत, यदि कुछ रहा भी हो तो उनका मृत्तिका भाण्ड-खण्डो या अन्य

वस्तुओ के रूप मे भेद कर पाना दु साध्य है, अत हम उनकी सास्कृतिक सज्जा और उनके जीवन के उपादानो के बारे मे बहुत थोडा जान सके है।

इस सौ वर्ष पुरानी समस्या पर, पूना के डेक्कन कालेज के पोस्ट ग्रेजुएट और रिसर्च सस्थान तथा एम० एस० विश्वविद्यालय बडौदा द्वारा मध्य प्रदेश सरकार के सहयोग से नियोजित, महेश्वर और नवदाटोली की खुदाइयो से प्रथम बार निश्चित प्रकाश पडा है।

महेश्वर नर्मदा के उत्तर तट पर स्थित है। ठीक दूसरी ओर नवदाटोली है। पहला होल्करो के अधीन बुनकर उद्योग तथा सुन्दर मदिरो और घाटो से समृद्ध नगर था। दूसरा मल्लाहो का छोटा सा गाँव है। ये दोनो मालवा से दक्षिण के प्राचीन मार्ग पर अवस्थित है, और यहाँ प्राचीन काल से आज तक घटवारी होती आयी है। स्वय नर्मदा यहाँ नौगम्य है, और सडको के प्रचलन से पहिले, पूर्व से पश्चिम भारत मे अन्न, लकडी तथा अन्य भारी सामान ले जाने के लिए मुख्य व्यापारिक साधन थी।

'महाभारत' और पुराणो से ज्ञात होता है कि नर्मदा घाटी को यदु के यादवो की शाखा हैहयो ने बसाया था। मूलत यदु ऋग्वेद मे उल्लिखित आर्य जन थे—इन्होने नाग कुल की कन्या से विवाह किया था। अन्तत इन्होने नागो को नर्मदा-घाटी से खदेड दिया और माहिष्मती (अधुना महेश्वर) तथा अन्य स्थानो मे बस गये।

इस प्रकार धुँधले अतीत में नर्मदा-घाटी मे आनुपूर्वी सास्कृतिक तथा जातीय वर्गो के बसने की अविच्छिन्न परपरा थी।

यद्यपि ककालो और लिखित साक्ष्यो के अभाव मे आज दिन भी हम इनका नृवश नही जान सके है, किंतु इस वर्ष और पिछले वर्ष हुई नवदाटोली की बडी खुदाई तथा १९५२-५३ ई० मे महेश्वर तथा नवदाटोली की गहरी खुदाई हमे परपरा को उचित परिपार्श्व मे देखने मे सहायता करती है, और हमे प्रथम वासियो की सास्कृतिक प्रगति तथा उनके साज-सामान के स्रोत अथवा स्रोतो का पता देती है। यह दूसरी बात अप्रत्याशित महत्व की है, क्योकि उत्खनित वस्तुओ का काल-निर्धारण कार्बन-१४ विधि से हुआ है।

सार रूप मे साक्ष्य यह है पाषाण-काल के काफी बाद, जिसका नर्मदा तट पर महेश्वर मे अच्छा प्रमाण मिलता है, लोग घाटी और नर्मदा के दोनो किनारो पर ऊँची काली कछार भूमि मे बस गये। नवदाटोली का अधिवास पूर्व-पश्चिम मे ९०० फीट और उत्तर-दक्षिण मे ६०० फीट फैला हुआ है (यद्यपि मूल अधिवास अधिक विस्तृत रहा होगा, क्योकि यह स्थान ४ विभिन्न ऊँचाइयो मे काटा गया है, और दिया हुआ क्षेत्रफल भलीभाँति उत्खनित ऊँचाई का है)।

लोग पास-पास खडे किये गये काष्ठ-स्तम्भो पर बाँस की चटाई और मिट्टी डाल कर बने आयत, समायत अथवा गोल घरों मे रहते थे। मिट्टी की दीवारो और तलो को चिकना करने और कीडो से बचाने के लिए चूने का हल्का पलस्तर किया जाता था। कमरे या आँगन के एक कोने मे चूने से पुता बडा तिमुँहा चूल्हा होता था, ठीक जैसा कि बम्बई के कुछ घरो मे आज भी पाया जाता है। सम्भवत एक विशेष कमरा कोठार के उपयोग मे आने के लिए अलग कर दिया

पर यह सबध अथवा निरसन दिक् अथवा काल मे सीमित नही था। यह अविच्छिन्न था और भारत मे सौराष्ट्र, राजपूताना, मालवा, खानदेश, महाराष्ट्र और मैसूर तक विस्तृत रहा है। यह इन सब प्रदेशो से प्राप्त एक-से मृत्तिका-भाण्डो के रूप-गठन से स्पष्ट है। इनके अन्तर स्थानीय है, और कबीलो के वैभिन्य का निर्देश करते है।

जब हम मध्य भारत और ईरान के स्तरीकृत स्थलो के मृत्तिका-भाण्डो के विशिष्ट रूपो और कला-रूपो का भाषावैज्ञानिको द्वारा अनुमानित काल १६००-११०० ई० पू० के परिप्रेक्ष्य मे विचार करते है, तो यह कहना कि इनमे से कुछ कबीले आर्य थे, अत्युक्ति न होगी। पर अभी हमे मालवा, राजपूताना, सौराष्ट्र तथा भारतीय-ईरानी सीमाप्रदेशो की जॉच-पडताल कर ईरान और भारत के बीच इस लम्बे निस्सरण का अन्वेषण करना शेष है।



लोचनप्रसाद पाडेय

संस्कृत साहित्य में 'महाकोशल' शब्द का प्रयोग

सस्कृत साहित्य मे 'कोशल' नाम सुविदित है। कोशलेश्वर, कोशलेश, कोशलाधिपति इत्यादि शब्दो का प्रयोग सस्कृत भाषा के काव्यो मे प्रचुरता से पाया जाता है। कविकुल गुरु कालिदास के महाकाव्य 'रघुवश' मे कई स्थलो पर हमे 'कोशल' नाम से युक्त शब्द तथा पद मिलते है, यथा—

१—उत्तरकोशलेश्वर (दिलीप)—सर्ग २, श्लोक ५।

२—कोशलाधिप (अज)—सर्ग ८, श्लोक ७०।

३—मगध-कोसल-केकय शासिनाम्—सर्ग ९, श्लोक १७।

४—पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान्—सर्ग ९।

शिलालेखो तथा ताम्रशासनो मे भी 'कोशल' या 'कोसल' शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र पाया जाता है। वर्तमान छत्तीसगढ विभाग के रायपुर जिले मे महानदी के तट पर राजिम या राजीवलोचन नामक एक प्रसिद्ध क्षेत्र है। वहाँ श्री राजीवलोचन भगवान् के तथा श्री कुलेश्वर महादेव के प्राचीन मदिर है जिनमे बीजक या प्रशस्ति (शिलालेख) भी है।

आज से ७०-८० वर्ष पूर्व राजिम क्षेत्र मे पाण्डुवशीय नन्नदेव के तनय महाशिव तीवर-देव का एक त्रिफली ताम्रशासन प्राप्त हुआ था जो आज भी श्री राजीवलोचन के मन्दिर मे सुर-क्षित है। उसमे सस्कृत भाषा मे लिखित एक ग्रामदान का उल्लेख है। उस लेख के प्रारम्भ मे 'ओ स्वस्ति श्रीपुरात' उत्कीर्ण किया हुआ मिलता है।

उक्त ताम्रशासन मे श्रीमान् तीवरदेव 'महाशिव', 'परम वैष्णव' और 'प्राप्त सकल कोसलाधिपत्य', इन विशेषणो से अलकृत है। ताम्रलेख की मुद्रा पर निम्नलिखित श्लोक उत्कीर्ण है—

श्रीमत्तीवरदेवस्य **कोसलाधिपतेरिदम्।**
शासन धर्मवृद्धचर्थं स्थिरमाचन्द्रतारकम्॥

अर्थात् श्रीमान् कोसलाधिपति तीवरदेव का यह शासन धर्मवृद्धि के लिए, जब तक चन्द्रमा और तारक वृन्द रहे, स्थिर रहे।

महाशिव तीवरदेव का शासनकाल ५०० और ६०० ख्रिष्टाब्द के मध्य मे बैठता है। उसकी राजधानी महानदी के किनारे श्रीपुर थी जो कि वर्तमान छत्तीसगढ विभाग के रायपुर जिले मे है। दक्षिणापथान्तर्गत कोसलराज्य तथा उसके शासक का उल्लेख प्रयाग के किले के स्तम्भ-लेख मे भी है। स्तम्भ पर महाराज समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उत्कीर्ण है। उसमे कोसल का

उल्लेख इस प्रकार है—'कौसल्यक महेन्द्र '। समुद्रगुप्त का शासनकाल ३३० से ३७५ ख्रिष्टाब्द के बीच मे है। इन कोसल के अधिपति 'महेन्द्र' महाराज की स्वर्णमुद्रा बलोदा बाजार (तहसील रायपुर) मे मिली है जिस पर 'महेन्द्रादित्य' bo‵ loaded script मे उत्कीर्ण है। ख्रिष्टाब्द के ६००-७०० मे दक्षिणापथवर्ती कोसल राज्य अवश्य ही सुसम्पन्न और सुशासित था। चालुक्यवशीय महाराज पुलकेशी की प्रशस्ति मे निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है—

गहिणा स्वगुणैस्त्रिवर्गतुगा, विहितान्यक्षितिपालमानभगा ।
अभवन्नुपजातिभीतिर्लिगा, यदनीकेन **सकोसला** कलिगा ।

निजाम हैदराबाद-राज्यवर्ती एलापुर और अजन्ता के मन्दिर-समूह की कीर्ति भारतव्यापिनी है। एलापुर (एलोरा) मे दशावतार नामक एक मन्दिर है। मन्दिर के एक भाग मे एक खण्डित शिलालेख है। उसमे नीचे लिखा श्लोक है—

दण्डेनैव जिगाय वल्लभवल य सिन्धुदेशाधिपम्।
काचीश सर्कलिग**कोसलपति**, श्रीशैलदेशेश्वरम्॥
शेषान् मालव लाटगुर्जरपतीन्, अन्याच नीत्वावश।
य श्रीवल्लभतामवाप ॥

हर्ष-सम्वत् १५३ अर्थात् ७५६ ख्रिष्टाब्द का एक शिलालेख नेपाल के पशुपतिनाथ जी के मन्दिर मे गुप्तलिपि मे लिखा विद्यमान है। उसमे भी कोशलराज्य का उल्लेख इस प्रकार है—

माद्यद्दन्तिसमूहदन्तमुसलै क्षुण्णारिभूभृच्छिरो।
गौडोड्रादिकलिग**कोशलपति**श्रीहर्षदेवात्मजा ॥
देवीराज्यमती कुलोचितगुणैर्युक्ता प्रभूता कुलै ।
येनोढा भगदत्त-राजकुलजा लक्ष्मीरिव क्षमाभुजा॥

यह कोशल राज्य कलिग राज्य का निकटवर्ती था। चीनदेशीय बौद्ध विद्वान् हुएनसाग ने भारत-भ्रमण के उद्देश्य से यात्रा करते हुए कोशल राज्य की भी यात्रा की थी। उसके भ्रमण-वृत्तान्त मे कोशल राज्य का विस्तार अकित है। उसने कोशलनरेश का भी परिचय दिया है। कोशल-नरेश जाति का क्षत्रिय था और उसके कथनानुसार वह बौद्धधर्मावलम्बी था। किन्तु उसने कोशलाधिपति का नाम और उसकी राजधानी का नाम नही लिखा। उस विवरण मे राजधानी के निकट की नदी, तालाबो और पर्वतो का भी उल्लेख नही मिलता। ६२९ से लेकर ६४५ ईसाब्द पर्यन्त हुएनसाग भारत मे रहा। कोशल राज्य मे उस समय कोई महापण्डित और कुशल नैयायिक था। हुएनसाग ने उसके समीप दो महीने ठहर कर न्यायशास्त्र पढा था।

महानदी का दूसरा नाम चित्रोत्पला है। इसी के तीर पर कोशलाधिपति महाशिव तीवरदेव की राजधानी 'श्रीपुर' नामक नगर मे थी। यह इस समय रायपुर जिले मे एक छोटे से ग्राम के रूप मे है। इस समय इसका नाम 'सिरपुर' है। यह श्रीपुर का प्राचीन अस्थिककाल, ध्वंसावशेष मात्र है। यदि हुएनसाग की यात्रा के समय कोसल की राजधानी श्रीपुर मे थी तो

अवश्यमेव वह यही आकर ठहरा था। कोशलराज्य से ह्वेनसाग आन्ध्र राज्य को गया। पुरातत्वज्ञ जनरल कनिंगम और विंसेन्ट स्मिथ ने अपने भारत-इतिहास के विवरणपत्रो एव मानचित्रो मे कलिंग और कोशल को मिलाकर 'महाकोशल' नाम से परिचय दिया है। क्या कोई विद्वान् बताने की कृपा करेंगे कि 'महाकोशल' नाम का प्रयोग और उसका आधार किस ग्रन्थ, ताम्रलेख वा शिलालेख मे पाया जाता है; यह मेरी विनीत भाव से जिज्ञासा है।

मेरी जिज्ञासा पर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन महोदय ने यह लिखा था—"बौद्ध धर्मग्रन्थो में अभी तक महाकोसल का नामोल्लेख मिला नहीं है।"
समुद्रगुप्त के प्रयागवाले स्तम्भ-लेख मे कौसल्यक महेन्द्र के बाद महाकान्तारक व्याघ्रराज मिलता है। ज्ञात होता है, कोसल (दक्षिण या महा-) व्याघ्रराज के शासनाधीन 'महाकान्तार' राज्य का निकटवर्ती था।



सी० ए० लेविस

'सभापर्व' के दिग्विजय आख्यान का भौगोलिक प्रकरण : पूना के आलोचनात्मक संस्करण द्वारा स्वीकृत कुछ पाठों का समालोचन

'महाभारत' के नये आलोचनात्मक सस्करण के प्रकाशन से, जो पूना के भाण्डारकर शोधसस्थान मे अब भी चालू है, भारतवर्ष विषयक अध्ययन मे हुए महान् योग का अतिमूल्याकन असभव है। फिर भी भौगोलिक नामो की वर्तनी-निर्धारण जैसे छोटे किन्तु महत्वपूर्ण ब्यौरे के विषय मे कुछ अधिक प्रयास सभव था। बहुधा पादटिप्पणियो मे अनुसूचित पाठ-भेद ग्रन्थ मे स्वीकृत पाठो से श्रेष्ठ प्रतीत होते है। इस निबन्ध के लेखक ने यद्यपि पिछले तीन वर्षो मे पी-एच० डी० थीसिस के लिए इस विषय का विस्तृत अध्ययन किया है, किन्तु प्रस्तुत निबन्ध का विस्तार सीमित होने के कारण वह 'सभापर्व' के दिग्विजय की भौगोलिक नामावली की इसी दृष्टिकोण से चर्चा तक ही सीमित रहेगा और जहाँ कही भी साक्ष्य पर्याप्त होगे, नये पाठ सुझावेगा। नीचे के विवेचन मे हर हालत मे पहला नाम पूना के सशोधित सस्करण मे पाया जाने वाला होगा और केवल उसका वही पाठान्तर इस विवेचन मे सम्मिलित किया जायगा जिसके ठीक होने की कुछ सभावना होगी या जो किन्ही अन्य कारणो से रोचक होगा। जैसा कि सर्वविदित है, विभिन्न दिग्विजय अर्जुन, भीमसेन, सहदेव और नकुल के है, जिन्हे इन्द्रप्रस्थ से युधिष्ठिर ने क्रमश उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के देश जीतने के लिए भेजा था। अत अब हम उन उद्धरणो का निर्देश तथा विवेचन करेगे, जिनके सबध मे सशोधित सस्करण का पाठ सदिग्ध अथवा अन्य साक्ष्यो से असमर्थित लगता है, और तदनन्तर हम अपने पाठ-सशोधन-सबधी सुझावो को निष्कर्षो के रूप मे अनुसूचित करेगे।

§ १. आनर्त (महाभारत २।२३।१४) [के २, २, ३, बी२, ६, डी१, २, ६ अनन्त]

कालकूट और कुलिन्द जैसे औदीच्च जनो के साथ आलोचनात्मक सस्करण का पाठ बहुत सम्भव प्रतीत नही होता है। सस्कृत ग्रन्थो मे कुलिन्द सर्वदा गढवाल मे रखे गये है, जब कि महाकाव्य के अन्य उद्धरण, स्वतत्र ग्रथ तथा अभिलेख[1] आनर्त को काठियावाड मे स्थित मानते है। हिमालयीय-स्थिति-समर्थक साक्ष्य के अभाव मे आख्यान के इस भाग मे इस दूसरे की

---

१. महाभारत ६। १०। ५०; काव्यमीमांसा, (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज) ९३, मत्स्य पुराण ११४. ५१। वायु पु० ४५। १३१; इडियन एन्टीक्वेरी खण्ड ७, पृ० २५९।

उपस्थिति पाठ-विकृति, अथवा जैसा कि अधिक सभव है, लिपिको द्वारा किये गये पाठ-सशोधनो के प्रयत्नो का फल मानना ही तर्कसगत लगता है। तदनुसार 'आनर्त' का सुधार 'तगण' होना चाहिए, जिनका उल्लेख टॉलेमी[२] ने सरबोस (सस्कृत-सरयू) नदी के उपरले भाग मे किया है और इस प्रकार ये उसी लेखक के अनुसार[३] सहारनपुर के उत्तर मे बसे कुलिन्दो के पडोसी होगे।

§ २. **सुह्म** (महाभारत २।२४।२०) [डी, ६ स्वक्ष, डीएन १ सुक्ष 'छोटा', बी३ सुम्म, टी१, जी३, एम१ वग, जी २,४,५ वक]

§ ३. **चोल** (वही) [के १ शैल, के३ वैन, बी१, ४ इलोल]

इस सदर्भ मे सुह्म' और, चोल'[४] बिलकुल अप्रासगिक है, और इन्हे निश्चय ही लिपिक के पाठ-सशोधन का परिणाम होना चाहिए, क्योकि 'महाभारत' तथा अन्य ग्रन्थो के सारे साक्ष्य पहले को पूर्व मे पश्चिम बग के मिदनापुर जिले तथा दूसरे को दक्षिण के तजौर तथा त्रिचनापल्ली जिलो मे स्थित मानते है। परन्तु अनुसूचित पाठो मे से कोई भी पाठोद्धार के लिए उचित साक्ष्य नही देते। डी ६ प्रति के 'स्वक्ष' पाठ से अनुमान होता है कि मूल पाठ 'द्यक्ष' रहा होगा, जिसका उल्लेख 'महाभारत' के उपायन पर्व मे किया गया है।

§४. **गोपालकच्छ** (महाभारत २। २७। ३) [बी१; बी४, के४, गोपालकक्ष]

ग्रन्थ मे इनकी भौगोलिक स्थिति देखते हुए, जहाँ इनका सबध मल्ल और कोसल के साथ है, अवान्तर पाठ 'गोपालकक्ष' (गोपालो की वन्य विश्राति-स्थली) आलोचनात्मक सस्करण के स्वीकृत पाठ 'गोपालकच्छ' (गोपालो द्वारा अधिकृत कूल) की अपेक्षा अधिक सार्थक है। निश्चय ही विवरण किसी भीतरी भूभाग का निर्देश करता है। यही नाम भीष्मपर्व की बडी भौगोलिक सूची मे आता है जहाँ इसका सबध कुरु-जागल से है, जिसकी पहचान सरहिंद के जगली प्रदेश से की जा सकती है।

§५. **सोत्तमानपि चोत्तरान्** (महाभारत २। २७। ३) [बी१, डी, बी, टी स्वोत्तरानपि, 'सोत्तमानपि' के स्थान पर, बी१ कोषल, बी२, ४, ५, डीएन२, टी१ कोसल, बी६, डीएन१, डी१-५ कोशल, चोत्तरान्' के लिए]

आलोचनात्मक सस्करण का पाठ स्पष्ट ही असन्तोषप्रद है। 'सोत्तरानपि कोसलान्' बहुत से हस्तलेखो द्वारा प्रमाणित अधिक वरीय पाठ होगा। यह सर्वविदित है कि अवध के कोसलो

---

२. ७।२।१३। ३. ७।१।४२। ४. श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का अनुसरण करते हुए श्री जायसवाल (जर्नल ऑफ बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसायटी, खण्ड १८, पृ० ९७) इस उद्धरण को उत्तरी चोलों को गिलगित के आसपास मानने के लिए यथेष्ट प्रमाण मानते हैं, परन्तु ऐसा सिद्धान्त इतने संदिग्ध साक्ष्य पर कमजोर प्रतीत होता है।
५. महाभारत : ६, १०, ५५।

की दो शाखाएँ थी, उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल, पहले की राजधानी श्रावस्ती (आधुनिक सहेत-महेत) तथा दूसरे की कुशावती (आधुनिक सुल्तानपुर—गोमती के तट पर) थी। इसके पूर्व 'महाभारत' २। २४। १ मे उल्लिखित कोसल स्पष्ट ही दक्षिण कोसल है।

§६ उन्नाट (महाभारत २। २७। ५) [बी १ मर्ग, डी४, ५ भल्लाट, डी३ मल्लाट, टी१ कर्णाट]

आलोचनात्मक सस्करण का पाठ यहाँ पूर्णतया असतोषप्रद है। 'उन्नाट' के लिए वस्तुत भल्लाट' एक निश्चित सुधार है। 'कल्कि पुराण'[६] और कूर्म विभाग प्रकरणो के पाठ मे इसका उल्लेख 'भत्ल' नाम से हुआ है, जहाँ इसे उत्तरी-पूर्वी खण्ड मे रखा गया है। टॉलेमी[७] इसे 'बर्हे' कहता है, तदनुसार इसकी पहचान पश्चिमी आसाम के आधनिक भरो[८] से की जा सकती है। श्री डे[९] 'भल्लाट' की व्युत्पत्ति की व्याख्या 'भरराष्ट्र' के भ्रष्ट रूप से करते है, परन्तु अधिक सभाव्य यह प्रतीत होता है कि यह 'भल्ल' तथा तिब्बती-ब्रर्मी प्रत्यय 'ट' के योग से बना है। डी३ का रूप 'मल्लाट' 'म' और 'भ' के आकृति-साम्य के कारण हुआ लगता है जब कि टी१ का रूप 'कर्णाट' लिपिको के सपादन का रोचक उदाहरण है, क्योकि तेलुगु भाषी लिपिक के लिए कन्नड भाषा-भाषी प्रदेश परिचित होगा, 'भल्लाट' अपरिचित।

§७. मलय (महाभारत २। २७। ८) [वी१, बी२-४, डीएन, डी१, २, ६ मलद, टी१ मल्लज, जी१, ३-६ मालव]

आलोचनात्मक सस्करण स्पष्ट ही अशुद्ध है, क्योकि मलय के केवल धुर दक्षिण मे ही होने की सभावना हे। यहाँ अवान्तर पाठ 'मलद' एक निश्चित सुधार है, क्योकि पुराणो के भुवन-कोष[१०] प्रकरण मे इस नाम के जनपद का उल्लेख पूर्व मे बसे हुए जनपदो मे हुआ है और इसकी पहचान आधुनिक मालदह से की जा सकती है। मालव यद्यपि एक ख्यातिप्राप्त जन का नाम है, किंतु इस सदर्भ मे वे असगत होगे, क्योकि इनकी पूर्वीय स्थिति के लिए कोई प्रामाणिक साक्ष्य नही है। मूलत राजपूताना के ये निवासी ईसा की छठी शताब्दी मे उज्जैन[११] प्रदेश मे आ गये थे, जहाँ आज दिन भी इनका नाम मालवा मे सुरक्षित है।

§८. सोपदेश (महाभारत २। २७। ९) [वी१ सोमदेश, एस१, के१, एन १ सोमधेय, के ३ सोमकीय, के४ सोमवेय]

आलोचनात्मक सस्करण का स्वीकृत रूप कही दूसरी जगह भौगोलिक सज्ञा के रूप मे

---

६ कल्कि पुराण ३।७।३६; ३।१४।३, बृहत्संहिता १४।३०। ७. ७।२।२०। ८ श्री राय चौधरी (स्टडीज इन इडियन एन्टीक्वीटीज, पृ० ११९) मल्लाट की पहचान टॉलेमी (७।१।६६) के फिल्लेइटाई से करते हैं जो ग़लत है। इसकी व्युत्पत्ति यूनानी फिल्लोन 'पत्र' हुई है, अतः यह पत्तो को वस्त्र के स्थान पर पहनने वाले आदिवासियों का निर्देश करता है—जैसे संस्कृत-साहित्य के पर्णशबर और उड़ीसा के आधुनिक जुआग। ९ ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० ३१। १०. ब्रह्माण्ड, पृ० २७, ५२; मत्स्य पृ० ११४, ४४। ११. कादम्बरी (सं० रिडिंग) पृ० २११, २१४; जर्नल ऑफ़ बिहार उडीसा रिसर्च सोसाइटी खण्ड ९, पृ० ४०४।

नही प्रयुक्त हुआ है। सभवत 'सोमदेश' शुद्ध पाठ है। इसकी पहचान सोमपर्वत के प्रदेश से की जा सकती है, जो 'अमरकोश' के अनुसार अमरकण्टक पर्वत ही था।

§० **काच बगाधिपं** (महाभारत २। २७। २२) [एन१, वी१, बी, डीएन, डी१-५ कर्वं बी१, ४ कर्क-, डीएन२ कर्प-, डी१, २ कप्-, डी ३ कर्च-,-आटाधिपति]

आलोचनात्मक सस्करण का पाठ दो कारणो से अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिए—प्रथमत चूँकि पिछले श्लोक मे बगो का उल्लेख हो चुका है, उनका दुबारा निर्देश निरर्थक है, दूसरे अवान्तर पाठ 'कर्वट' का औचित्य दो स्वतत्र स्रोतो—(बृहत्सहिता[१२] और काश्यप-सहिता)[१३] से सुनिश्चित सिद्ध हो चुका है। पहला ग्रथ इसे दक्षिण-पूर्व मे ही नही, वरन् प्रस्तुत प्रकरण की ही तरह ठीक सुह्म के बाद रखता है और दूसरा इसे मातग और ताम्रलिप्तक के साथ सयुक्त करता है। 'मार्कण्डेय पुराण'[१४] के कूर्म विभाग प्रकरण मे उल्लिखित कर्वताशन पर्वत से इसको सम्बद्ध नही करना चाहिए, क्योकि इसकी और 'बृहत्सहिता' की ब्यौरेवार तुलना से यह पार्जिटर का भ्रम सिद्ध होता है, जिसका कि अन्य लोगो ने अनुसरण किया है।

तुलनीय—मार्कण्डेय पुराण ५८की १२। जब्वाख्य-मानवाचल -शूर्पकर्ण-व्याघ्रमुख कर्वताशन्। तथा बृहत्सहिता १४।५ पद्ममल्यवद् गिरिय व्याघ्रमुख-सुह्म-कर्वट। दूसरे ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि पर्वत-सूची मलयवत् (मार्कण्डेय पुराण, मानवाचल) पर समाप्त होती है, और व्याघ्रमुख से जन-सूची प्रारम्भ होती है। यह भ्राति 'मार्कण्डेय पुराण' के पाठ के भ्रष्ट होने के कारण उत्पन्न हुई है। कर्वताशन का अस्तित्व पूरी तरह भ्रष्ट पाठ के कारण सम्भव हुआ है।

§१०. **चोपकृत** (महाभारत २।२८।४३) [वी१, बी३-५, डीएन, डी ३-५ ताली, (वी१, बी४, डीएन१ ताला)-कट।]

'चोपकृत' के लिए 'तालीकट' निश्चित सुधार है। पुराणो के भुवन कोश[१५] प्रकरण मे इस नाम के एक स्थान का पश्चिम मे उल्लेख हुआ है, और प्रस्तुत सदर्भ की तरह ही इसका सूर्पारक (आधुनिक सुप्पर) से गहरा सबध है। 'बृहत्सहिता'[१६] के कूर्म विभाग प्रकरण मे भी इसका उल्लेख है, जहाँ इसे दक्षिणी भाग मे रक्खा गया है। डे[१७] इसकी पहचान कावेरी तट के तलकड से करते है, परन्तु ऐसी स्थिति स्पष्ट ही अमान्य है क्योकि पुराण और 'महाभारत' इसे सुप्पर के निकट रखने मे सहमत है।

§११. **अन्ताखीं चैव रोमां च** (महाभारत २।२८।४९) [वी१, एन१, बी१-३,६, डी२-५; के २-४

---

१२. बृहत्संहिता, १४।७। १३. काश्यप संहिता २५।९। १४. मार्कण्डेय पुराण (अनुवाद), पृ० ३५६, श्री सेन (इण्डिएन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, खण्ड ८, १९३२, पृ० ५२१) तथा श्री शाफेर (एथ्नोग्राफी ऑफ् इन्शियेन्ट इडिया, पृष्ठ ९) ने इसे स्वीकार किया है। १५. ब्रह्माण्ड पुराण २७।५८ तालकट। वायु पुराण ४५।१२८ कालीटर (वर्ण विपर्यय के कारण); वामन पुराण १३।५१ आलिकट (आद्य व्यंजन की च्युति के कारण) १६ बृहत्सहिता १४।११। १७. ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० २०२।

अटवी, के१, बी४,५ आटवी, एस १ अवरी, एन१, वी१, के३ रोमाश्च, बी१, २, ४, ६, डी१ रामा च, बी३, ५, डी ३–५ दास च] ।

इस पाठ सबधी समस्या का सतोषप्रद समाधान सभापर्व के काल-निर्धारण के लिए अत्यधिक महत्व का है। एजर्टन[१८] ने पाठ मे 'रोमा' (-रोम) के आधार पर इसकी तिथि के प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व होने के लिए तथा सभवत एक या दो शताब्दी पश्चात् होने के लिए तर्क दिये है। अभी हाल ही मे श्री मोतीचन्द्र[१९] ने सुझाव दिया है कि सभापर्व पुष्यमित्र शुग के काल (१८४-१४८ ई० पू०) का माना जा सकता है और इस स्थापना के लिए एक तर्क इस उद्धरण मे 'अन्ताखी' की उपस्थिति भी है, जिसे वे सेल्युकिड राजा अन्तियोकस् तृतीय (२२१-१८७ ई० पू०) अथवा अन्तियोकस् चतुर्थ (१७१-१६३ ई० पू०) के प्रति दौत्य का सकेत मानते है। जैसा कि हम देखेगे, ये दोनो तर्क 'अन्ताखी' और 'रोमा' को मूल पाठ का अग मान कर ही है, जिसके लिए कोई निश्चित प्रमाण नही है। पहला भी एजर्टन[२०] का निजी मत है, जिन्हे स्वय इसकी प्रामाणिकता के बारे मे सदेह है , विशेष करके जब यह नाम सस्कृत-साहित्य मे और कही नही मिलता, यह पुनर्घटित रूप ही लगता है। अत ऐसे साक्ष्य पर सभापर्व की तिथि निर्धारित करना जोखिम का काम है। अन्य पाठ 'अटवी' कही अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है। यह बहुत से हस्तलेखो मे उद्धृत हुआ है, जब कि पिछले नाम 'औष्ट्र कर्णिक' से स्पष्ट है कि दिग्विजय प्रकरण उडीसा के अन्तराल मे एक ऐसे अप्रसिद्ध भाग का सकेत करता है जहाँ आटव्यो के रहने की आशा स्वाभाविक है। पुराणो के भुवनकोश प्रकरणो मे[२१] यह शबरो तथा पुलिन्दो से सम्बद्ध किया गया है और दक्षिण मे निर्दिष्ट है।

यह देखना शेष रहता है कि 'रोमा' मूल पाठ है, और यदि ऐसा है तो क्या यह रोम का सकेत करता है, या सयोग से किसी समाननामा भारतीय जन का। इस प्रश्न का विशिष्ट भौगोलिक महत्व है, क्योकि यदि 'महाभारत' के समय रोम ज्ञात था, तो यह सिद्ध होता है कि अब तक जितना समझा जाता रहा है, उससे कही अधिक आर्यो को ससार का विस्तृत परिचय था। यदि हम इस स्थल पर पाठ-विकृति की सम्भावना को छोड भी दे, तो ऐसा कुछ असम्भाव्य प्रतीत होता है। कुछ प्राकृत[२२] भौगोलिक सूचियो का साक्ष्य ऐसे मत के विरुद्ध है, क्योकि वे 'रोमको' का उल्लेख भारतवर्ष मे बसी विदेशी जातियो की तरह करते है, यद्यपि उनमे उनके बसने की दिशा का कोई सकेत नही है। इसी नाम के एक जन का वराहमिहिर[२३] भी उल्लेख करता है, परन्तु चूंकि सूची भौगोलिक न होकर ज्योतिष सम्बन्धी है, उनकी पहचान का कोई साधन नही है।

---

१८. सभापर्व (पूना संशोधित सस्करण), परिचय पृ० २७। १९. जर्नल ऑफ् यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी, दिसम्बर १९४३। २०. जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, खण्ड ५८, पृ० २६२। २१. ब्रह्माण्ड पुराण १५।५७: मत्स्य पुराण ११४।४८: वायु पुराण ४५।१२६। २२. किर्फेल: डी काज्मोग्राफी डेर इन्डेर, पृ० २२७। २३. बृहत् सहिता १६, ६।

श्री एजर्टन की 'रोमा' की रोम से की गई पहचान का सदेह करने का दूसरा कारण दिग्विजय प्रकरण मे ही है। यह कहा गया है कि सहदेव ने कलिग और औष्ट्र-कर्णिको को विजित करने के बाद, आन्तियोक, रोम और यवनपुर को दूतो द्वारा वशीभूत किया और अन्त मे समुद्र तट पर पहुँच कर लकेश्वर विभीषण के पास दूत-प्रतिनिधि भेजे। यह कथन दो महत्व के प्रश्नो को उत्पन्न करता है, प्रथमत चूँकि प्रत्येक दिग्विजय का अन्तिम नाम विजय की चरम सीमा का सकेत करता है, आशा की जा सकती थी कि अन्तियोक के नाम का उल्लेख अधिक दूर होने की वजह से लका के दूत-प्रतिनिधियो के बाद होता। दूसरा, जिन परिस्थितियो मे अन्ताखी इत्यादि को दूत भेजे गये है, विलक्षण है, कारण कि उनके भेजने के समय सहदेव तट से दूर भीतर ही रहा होगा, तट पर पहुँचने के बाद ही वह लका के लिए दूत-मण्डल भेजता है। पर यदि हम 'अटवी' पढे तो कठिनाई तत्काल ही दूर हो जाती है, क्योकि भीतर के ही निवासियो को दूत-मण्डल भेजने के लिए समुद्र तट पहुँचने तक रुकना निरर्थक होगा। 'रोमाच' के स्थान पर 'रोमश' (लोमयुक्त) पढा जा सकता है, जिसका कुछ विन्ध्यवासी जातियो के लिए प्रयोग स्वाभाविक ही है।

§१२. **भरुकच्छ** (महाभारत २।२८।५०) [एस१, के३ रुरु–, के१ रुद्र–, के२ मरु–, एन१, वी१ तरु–, बी१ भद्र–, बी३-६ उरु–, डीएन१-२, डी६ तत]

सशोधित सस्करण मे 'भरुकच्छ' (आधुनिक भडौच) स्वीकृत किया गया है, जो असम्भाव्य लगता है, क्योकि 'महाभारत' २।२८।४८ मे अनुसूचित सारी जगहे भारत के पूर्वार्ध मे है। सहदेव का यात्रा-मार्ग बताता है कि वह सुदूर दक्षिण के पाण्डच प्रदेश (आधुनिक तिन्नेवल्ली तथा मदुरा जिले), द्रविड (पेन्नार और बेत्लार के बीच का भूभाग), ओड्र-केरल, आध्र (गोदावरी और कृष्णा के बीच का तेलुगु भाषी प्रदेश), तलवन और कलिग (महानदी और गोदावरी के मध्य का भूभाग) होता हुआ बगाल की खाडी के किनारे-किनारे ऊपर की तरफ बढ रहा है। अत एकाएक पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित भरुकच्छ का उल्लेख पूर्णरूपेण असम्भाव्य है। इसकी कही अधिक सभावना है कि विभीषण के प्रति भेजा गया दूत-मण्डल पूर्वी समुद्र तट पर किसी पत्तन से चला था—यवनपुर से (उडीसा के तट पर महानदी के मुहाने मे कोई यवन व्यापारिक चौकी) अथवा ताम्रलिप्त से जहाँ से फाहसीन लका के लिए चला था। अत यहाँ भरुकच्छ असगत है, और सभवत डीएन १, २, डी ६ का पाठ 'तत कच्छागतो' (तब समुद्र तट पर आकर) स्वीकार कर लिया जाना चाहिए।

§१३. **अपरपर्यट** (महाभारत २।२९।१०) [एन१, डी ५, ६, बी४, डीएन, के १ अमरपर्वत, वी१, डी१-४, ६ एम०, बी२, ३, ५, ६ अमरकण्टक, के२, बी१ अमरपर्यट, एस१, के ३,४ अमरपर्पट]

इस जगह पर पाठ-भेदो की उलझन 'रामायण' के एक उद्धरण मे भी परिलक्षित है, जहाँ सदर्भ तथा नाम का रूप इस बात का निर्देश करता है कि विचाराधीन स्थान और प्रस्तुत उद्धरण का स्थान एक ही होना चाहिए। तुलनीय—महाभारत २।२९।१० कृत्स्न पचनद चैव तथैवा-परपर्यट। रामायण २।२७।२–३ शतद्रु अतरच्छ्रीमान्नदी इक्ष्वाकुनन्दन ।

एलधाने नदी तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वतान् ।।

पञ्चनद और शतद्रु के उल्लेख से स्पष्ट है कि इन समान रूपो से यह दोनो महाकाव्य एक ही स्थान का निर्देश करने है। रामायण के अन्य पाठो की जॉच से भी मूल रूप के बारे मे इसी प्रकार का अनिश्चय दिखाई देता है, उदाहरणतया—

दाक्षिणात्य सस्करण २।७१।३ अपरपर्यट, उत्तरी-पश्चिमी सस्क० २।७७।३ अमरकण्टक, बगीय सस्क० २।७७।३ अमरकण्टक ।

महाकाव्य के इन रूपो मे अमरकण्टक (मेकल पर्वतमाला का वह भाग जहॉ नर्मदा का स्रोत है) प्रस्तुत सदर्भ मे भौगोलिक अप्रासगिकता के कारण स्पष्टत अस्वीकार कर दिया जा सकता है। फिर भी यह लिपिको के (भौगोलिक तारतम्य का ध्यान रखे बिना ही) किंचित् अज्ञात स्थान-नामो को अधिक प्रसिद्ध स्थान-नामो के द्वारा सुधारने के प्रयास का रोचक उदाहरण है।

पुन यही नाम 'महामायूरी'[२४] की सूची मे भी भिन्न रूपो मे प्राप्त होता है, जो नीचे अनुसूचित है—

सस्कृत स्रोत हस्तलेख डी मरुपर्वत, एच मरपर्वत ओ मरपर्यट,
चीनी लिप्यन्तर सघवर्मन (५१६ ई०) पर्पट, इत्सिग (७०५ ई०) मरपर्पट, अमोघवज्र मरपर्पट,
तिब्बती लिप्यन्तर अमरपर्पट

इन रूपो मे अधिकाश निर्देश करते है कि सज्ञा का पूर्वार्ध 'अमर' होगा, न कि 'अपर'। द्रष्टव्य है कि 'महामायूरी' के सारे पाठो मे' प' न हो कर 'म' है। चीनी लिप्यन्तरो मे आद्य-स्वर 'अ' का लोप इस तथ्य से समझा जा सकता है कि 'अनन्दोऽमरपर्पटे' उद्धरण मे आद्य 'अ' नही लिखा जायगा, अत लिपिक इसकी उपेक्षा कर सकते है। शब्द का उत्तरार्ध निश्चित करना अधिक कठिन है, जिसके लिए तीन अभ्यर्थी है—पर्वत, पर्यट और पर्पट। श्री लेवी अन्तिम को श्रेष्ठ मानते है। यह हेमचन्द्र[२५] द्वारा उद्धृत पर्याय मौराष्ट्री और कच्छी को देखते हुए एक वनस्पति अथवा खनिज का नाम है जो सौराष्ट्र या कच्छ मे पाया जाता है। अत वे विचाराधीन प्रकरण मे नाम का उद्धार 'अमरपर्यट' करेगे।

ऐसे मत के विषय मे दो आक्षेप हो सकते है पहला, हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत पर्याय 'अमरपर्यट' कच्छ या सौराष्ट्र मे है जो कि पचनद और शतद्रु से काफी दूर होगा, दूसरा यह कि लेवी द्वारा उपयोग किए गए हस्तलेखो मे पर्यट' पाठ नही है। रामायण के किसी भी पाठ मे ऐसा रूप नही मिलता, और पूना के सशोधित सस्करण के सपादको द्वारा प्रयुक्त हस्तलेखो मे से केवल तीन मे ही है। दूसरी तरफ, तीनो ग्रन्थो के हस्तलेखो मे पर्वत मिलता है, और इसलिए यह सरल पाठ माना जा सकता है। अत हम पाठ का उद्धार 'अमरपर्वत' कर सकते है।

§१४. **उत्तरज्योतिक** (महाभारत २।२९।१०) [वी१, एन१, डी५,६, डीएन, बी४, के १ उत्तरज्योतिष]

---

२४ जूर्नाल अजिआतीक–१९०५, पृ० ६६। २५ अभिधान चिन्तामणि १०५५–६।

'उत्तरज्योतिष' अधिक अच्छा रूप है। सम्भवत. यह कूर्म विभाग प्रकरण[२६] का उत्तम-ज्योतिष' अथवा 'उपज्योतिष' ही है। जहाँ यह मध्य प्रदेश मे माना गया है। ऐसी पहचान के लिए दिशा का अन्तर कुछ बाधाजनक नही है, क्योकि यही ग्रन्थ सरस्वती तट वासियो को मध्यप्रदेश मे रखते हैं, इस नदी, जिसके किनारे शूद्र और आभीर रखे जाते हैं, और उत्तर ज्योतिषियो के बीच दिग्विजय आख्यान के अनुसार कोई बडा अन्तर नही रहा होगा।

§१५. **वृन्दाटक** (महाभारत २।२९।१०) [बी४, ५, डी३, ४, डीएन दिव्यकट, वी १ बिन्दुकट, डी ६, एस १ विन्दाटक, एन१, डी२, के २-४ वृन्दारक]

पूना के आलोचनात्मक सस्करण मे स्वीकृत पाठ से 'महामायूरी'[२] के वृन्दकट की तुलना की जा सकती है, जो वैमानिक, दरद और कश्मीर से सम्बद्ध है, और इस प्रकार स्पष्टत उत्तरपश्चिम मे रखा जाना चाहिए। 'टक' को आसानी से 'कट' की विकृति माना जा सकता है जो लिपिको की असावधानी से सहज सभव है।

उपसहार मे हम पाठ मे किये गये अपने सुधारो को इस प्रकार अनुसूचित कर सकते है—

महाभारत २।२३।१४	आनर्त	के लिए	तगण
२।२७।३	गोपालकच्छ	,,	गोपालकक्ष
,,	सोत्तमानपि चोत्तरान्	,,	सोत्तरानपि कोशलान्
२।२७।५	उन्नाट	,,	भल्लाट
२।२७।८	मलय	,,	मलद
२।२७।९	सोपदेश	,,	सोमदेश
२।२७।१२	कार्चं बगाधिप	,,	कर्वटाधिपति
२।२८।४३	चोपकृत	,,	तालीकट
२।२८।४९	अन्ताखी चैव रोमाच	,,	आटवी चैव रोमशान्
२।२८।५०	भरुकच्छ	,,	तत कच्छ-
२।२९।१०	अपरपर्यट	,,	अमरपर्वत
२।२९।१०	उत्तरज्योतिक	,,	उत्तरज्योतिष
२।२९।१०	वृन्दाटक	,,	वृन्दाकट

---

२६ बृहत्संहिता, १४।३।९ पराशर। २७ पंक्ति ७५।

बलदेव प्रसाद मिश्र

छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन

वस्तुत छत्तीसगढ का लोक-जीवन एक अद्‌भुत मिश्रित लोक-जीवन है जिसमे उत्तर-प्रदेश का पर्याप्त योगदान है। यहाँ के अधिकाश निवासी उत्तर प्रदेश से आये है। स्थानीय कहे जाने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो प्राय सब के सब उसी दिशा से आये है। शूद्रवर्ग मे भी अनेक लोग अपनी परम्परा वही से मानते है। जन-जातियो मे भी कइयो ने अपना सबध उत्तर से जोड रखा है। कोरबा और पाण्डू कौरव और पाण्डव की याद दिलाते है। कँवर लोग तो अपना सबध कौरवो-पाण्डवो से जोडते ही है। आभीरो की एक शाखा कनौजिया राउत कहाती है। चमारो मे भी कन्नौजिया चमार होते है। यहाँ की प्रधान नदी महानदी भी चित्रोत्पला गगा कही जाती थी जिसका अर्थ है कि यहाँ के लोग गोदावरी की अपेक्षा गगा से अपना अधिक सान्निध्य रखना चाहते थे। यहाँ के नाई, धोबी, तमोली, तन्तुवाय, बढई, लोहार आदि सब के सब प्राय उत्तरप्रदेशीय प्रथाओ का ही परिपालन करते है, और यहाँ की जो जन बोली—छत्तीसगढी—विकसित हुई है उसकी परम्परा का आदि स्रोत अवधी (बैसवाडी) ही मे मिलता है—अवधी से बघेली और बघेली से छत्तीसगढी।

परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उसमे दक्षिण प्रदेश का योगदान नगण्य हो। गोड लोग तो दक्षिण प्रदेश से ही आकर यहाँ बसे और इस तरह बसे कि उनके कारण ही यह प्रदेश 'गोडवाना' कहलाया। कई गोड लोग बडे गर्व से अपने को रावणवशी कहते है और छत्तीसगढ मे तो नही परन्तु छत्तीसगढ के समीप ही सिवनी छिन्दवाडा के क्षेत्रो मे आज दिन भी मेघनाद की पूजा सामूहिक ढग पर करते है। उनकी अपनी परम्परा और अपनी सस्कृति है जिसे मूलरूप मे आर्य-सस्कृति कहा ही नही जा सकता। उनके अपने लोकगीत है, अपने लोकनृत्य है, अपने आचार-विचार है, अपनी प्रथाएँ और अपने सस्कार है। गोडो के समान अन्य अनेक जनजातियो ने भी इस छत्तीसगढ मे चिरकाल से अपना निवास बनाया है। दक्षिणी भाषा मे 'कोण्ड' शब्द का अर्थ होता है 'पहाड'। उत्तरी भाषा मे 'नग' का अर्थ भी है 'पहाड'। उत्तर के नाग लोग भी गोडो की भाँति पहाडी रहे होगे। उन्होने भी यहाँ कई राज्य स्थापित किये। कलिंग से कलगा लोग आये और यहाँ बस गये। उराँव लोग जिन्हे वनराउ अथवा वानर जाति का वंशज कहा जाता है, यहाँ पर्याप्त सख्या मे है। इस प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी दिशाओ के गिरिजनो तथा आदिमजातीय कहलाने वाले अन्य जनो ने पदार्पण करके स्थानीय लोक-जीवन को किसी न किसी प्रकार प्रभावित किया अवश्य। परन्तु ऐसे सब प्रभावो मे दक्षिण के गोडो ही का प्रभाव विशेष उल्लेखनीय है।

छत्तीसगढ क्षेत्र की भौगोलिक सीमाएँ घटती बढती रही है। 'अष्टादश अटवी राज्य' का उल्लेख तो बहुत प्राचीन है और उसी की परम्परा मे 'अट्ठारह गढ' की स्थिति इस ओर उडीसा आदि मे भी रही है। हैहयवशियो का राज्य जब इस क्षेत्र मे द्विधा विभक्त हुआ तब उन दोनो राज्यो के अट्ठारह-अट्ठारह गढ मिलाकर इस पूरे क्षेत्र का नाम 'छत्तीसगढ' पड गया होगा। गढो की सख्या घटती-बढती भी गई, परन्तु छत्तीसगढ के नाम मे कोई घट-बढ न हुई। हैहयवशी लोग उत्तर से धर्म-सस्कृति लेकर आये थे। लगभग एक हज़ार वर्षो तक उनका आधिपत्य इस ओर रहा। उनके पूर्व के भी कुछ राजकुलो का पता लगता है। वे भी आर्य-सस्कृति-सम्पन्न थे। श्रीपुर उस समय यहाँ का केन्द्रस्थल था जहाँ न केवल शिवोपासना अपने उत्तम रूप मे थी किन्तु बौद्धो और, आरग के से समीपवर्ती स्थल मे, जैनो की भी अच्छी मान्यता थी। परन्तु गोडो के आधिपत्य के पश्चात् उन्ही के अनुकरण पर यहाँ का लोक-जीवन भी निरक्षर हो चला, और धीरे-धीरे यहाँ का उज्ज्वल अतीत भग्नावशेषो मे, कतिपय लोक प्रथाओ मे, उक्तियो और गीतो मे, तथा इसी प्रकार की वस्तुओ मे सिमट कर रह गया। नयी परिस्थिति मे उसने अब फिर चेतना प्राप्त की है और आज का छत्तीसगढ केवल अनुसधित्सुओ का अजायबघर होकर ही नही पडा हुआ है, किन्तु समग्र राष्ट्र के अनेकानेक क्षेत्र सम्पन्न बनाने की क्षमता लेकर आगे बढ रहा है।

बौद्धो के ह्रास के बाद मध्यकालीन छत्तीसगढ भले ही पिछडा रहा हो परन्तु मुस्लिम शासको के वातावरण से वह अछूता रह कर ऐसी सस्कृति धारण किये हुए है जिसमे हम विशुद्ध भारतीय तत्वो का अच्छा परिचय पा सकते है—चाहे वे तत्व उत्तर के हो, चाहे दक्षिण के। और, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, उन तत्वो मे उत्तर की विशुद्ध आर्य परम्परा का ही अश विशेष रूप से मिलेगा। छत्तीसगढ का लोक-जीवन ऐसे ही भारतीय तत्वो पर आधारित है। यहाँ स्त्रियो मे परदा की प्रथा नही है, पुरुषो मे सगोत्र विवाह की प्रथा नही है। दोनो ही गीत और नृत्य का स्वच्छन्द आनन्द लेते है तथा कृषि एव राम तथा कृष्ण से, और शिव तथा शक्ति से सबधित पर्वो मे सामूहिक रूप से हजारो वर्ष पुरानी परम्परा का किसी न किसी रूप मे पालन करते रहते है।

यो तो बस्तर के माडिया, रायगढ के कोलता, जसपुर के उरॉव, सरगुजा के कोरबा और कवर्धा के बैगा मे छत्तीसगढी लोक-जीवन का प्रतिनिधित्व नही के बराबर ही मिलेगा फिर भी उस लोक-जीवन ने सरहद्दी मानवो अथवा अन्य जनजातियो को प्रभावित न किया हो, यह बात नही है। वह प्रभावित हुआ भी और उसने प्रभावित किया भी। विशेष प्रभाव तो उस पर आर्य-जीवन का ही पडा है, अतएव उसने जन-जातियो को आत्मसात करने मे विशेष सफलता दिखाई है। आज ऐसी कई जन-जातियाँ इस छत्तीसगढ मे है जिनकी न कोई अलग बोली रह गई है न अलग आचार-विचार की परम्परा। गोडो तक की राजगोड शाखा इतनी आर्य हो गई है कि विशुद्ध क्षत्रियो के यहाँ उसके विवाह-सबध भी हो चले है। उन जनेऊधारी सज्जनो के आचार-विचार अनेक क्षत्रियो से भी अधिक द्विजत्व-सम्पन्न है।

लोक-जीवन है सर्वसामान्य लोगो का जीवन, न कि किसी व्यक्ति-विशेष या जाति-विशेष या स्थान-विशेष का जीवन। किसी जाति-विशेष या स्थान-विशेष के विशेषण से जब वह शब्द

सीमित कर दिया जाता है तब स्वभावत अपेक्षा यह रहती है कि हम लोक-जीवन के उस पक्ष की ही विशेष चर्चा करे जो उसकी जाति-विशेष अथवा स्थान-विशेष मे पाया जाता हो। छत्तीसगढी लोक-जीवन की चर्चा का भी अभिप्राय कदाचित् यही है कि ऐसी बातो का विशेष उल्लेख किया जाय जो समग्र भारत मे नही किन्तु इस स्थान-विशेष मे ही प्रचलित है और वे बाते किसी जाति-विशेष से—उदाहरणार्थ गोडो, कॅवरो, पनिको, तेलियो, ठाकुरो आदि से—ही सबधित नही किन्तु इस स्थान के सर्वसाधारण से सबधित है। ऐसी बातो मे यहाँ की भाषा का स्थान सर्वप्रथम है, क्योकि लोकजीवन की अभिव्यक्ति का सबसे प्रबल माध्यम भाषा ही है। भाषा ही से सबधित वस्तुएँ है लोकगीत, लोक-कथाएँ, लोकोक्तियाँ और फिर लोकनृत्य आदि जो लोक-जीवन को बडी क्षमता के साथ अभिव्यक्त करते है। तदनन्तर यहाँ की रहन-सहन, यहा के रीति-रिवाज, यहाँ का पहिनावा–ओढावा, यहाँ के आचार-विचार आदि की बाते आती हैं।

पहले हम भाषा की ओर दृष्टिपात करले। छत्तीसगढी भाषा ने देवनागरी लिपि ही को अपनाया है और अभी-अभी तक उसका दर्जा एक बोली ही का रहा है। अब उसमे कुछ काव्य-रचनाएँ और ग्रथ-रचनाएँ होने लगी है और उसका एक क्षेत्रीय रूप स्थिर हो रहा है। अतएव अब यदि हम चाहे तो उसे एक भाषा कह सकते है। किन्तु भारत की मान्य भाषाओ मे न तो उसकी स्वतत्र इकाई है और न होनी भी चाहिए, क्योकि वह उसी प्रकार हिन्दी की अगभूता है जैसे अवधी, बघेली आदि। जो सज्जन उसके साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे है उन्हे यह तत्व ध्यान मे रखना चाहिए, नही तो उन्ही के बताये मार्ग पर चल कर किसी दिन हलबी, लरिया तथा खरवारी के समान शाखाएँ अपनी मातृस्थानीय छत्तीसगढी ही से स्पर्धा करने लग जायँगी और अपनी स्वतत्रता की माँग मे अपनी सामूहिक सचित निधि भी खो बैठेंगी।

छत्तीसगढी के प्राय सब शब्द उत्तर प्रान्त से लिये गये है, परन्तु भौगोलिक भेद के कारण उनके उच्चारण मे भेद होता गया और इसी भेद ने आज अनेक शब्दो मे पर्याप्त अन्तर उपस्थित कर दिया है। ‘रूमाल’ ‘उरमाल’ बन गया और ‘हृष्ट’ हो गया है रोठ’। इसी तरह ‘सत्य’ ‘सिरतोन’ हो गया और ‘स्वय’ ‘सवागे’ हो गया है। केवल मुख-सुखता ही ने इस बोली मे हृदय को हिरदे, ‘मूछ’ को ‘मूछी’ और ‘मुह’ को ‘मूँह’ बनाकर नही रख छोडा किन्तु जीवन की सादगी ने बग और उत्कल प्रभाव को पसन्द करते हुए, उत्तर प्रदेशीय लिगभेद तक को दूर कर दिया—फिर सस्कृत और मराठी के लिगभेद की तो बात ही क्या है। यहाँ राजा का बेटा और राजा की बेटी के लिए एक ही सा प्रयोग है—‘राजा के बेटा’ अथवा ‘राजा के बेटी।’ इसी प्रकार ‘तू खाता है’ और ‘तू खाती है’ के लिए एक ही प्रयोग है—‘तै खात हस।’ इसीलिए तो कभी-कभी अपढो की हिन्दी मे सुनने को मिल जाता है कि ‘वह औरत आता है।’ लोक-जीवन की इस सादगी ने भाषा के अन्य क्षेत्रो मे भी अपना प्रभाव दिखाया है। उदाहरणार्थ ‘तर’ ‘तम’ सरीखे तुलना-वाचक प्रत्ययो का भी यहाँ अभाव है। हृष्टतम को, व्यक्त किया जायगा इन शब्दो मे ‘निचट रोठ’ अथवा ‘सब्बोले बिढियन निचट रोठ।’ बहुवचन की सूचना के लिए प्राय ‘मन’ का प्रयोग कर दिया जायगा, जैसे ‘वे लोग’ के लिये ओ मन।’ यह भी संक्षिप्त होकर कभी-कभी बन जाता है ‘उन’। मन की भाँति ‘हर’ भी एक ऐसा शब्द है जो कभी आदर के अर्थ मे, कभी कर्ताकारक के चिह्न के अर्थ मे और कभी बिना किसी

खास मतलब के ही प्रयुक्त हो जाता है। "मै हर कहे रहेवँ", "मैं हर कहतेवँ", "राजा हर 'कहि है" आदि इसके उदाहरण है। निश्चयात्मक "ही" के लिए छत्तीसगढी मे 'च' का प्रयोग होता है, जैसे 'मै नहि च जावँ।' यही 'नहिच' सक्षिप्त होकर कभी-कभी 'नीच' बन जाता है।

वर्णो की मितव्ययिता की दृष्टि से कभी-कभी क्रियापदो से सज्ञाशब्द बना लिये जाते है और कभी सज्ञा शब्दो से क्रियापद भी बना लिये जाते है। अवधी आदि की भॉति छत्तीसगढी मे भी यह प्रवृत्ति भरपूर देखने को मिलेगी। टोन्हा करने वाले को 'टोनहा', अदालतो के चक्कर लगाने वाले को 'कछेरिया', गिजर (हँसने) की प्रवृत्ति रखने वाले को 'गिजरा' इसी प्रवृत्ति के कारण कहा जाता है और इसी प्रवृत्ति के कारण 'उसने बात की' हो जाता है—'ओ हर गोठिया-इस' और 'वह काला पड गया' हो जाता है—'ओ हर करियाइस।' राष्ट्रभाषा को यह मितव्ययिता अपनानी चाहिए।

छत्तीसगढी के व्याकरण मे उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुष का प्रयोग है, भूत, भविष्य और वर्तमान काल का भी प्रयोग है, कारक चिह्न आदि भी है, परन्तु वचन दो ही है, और जैसा कि पहिले कहा गया है, लिगभेद का कही पता नही है। एक विशेषता अवश्य है कि क्रियापदो के व्यवहार मे शिष्ट लोगो का प्रयोग अलग रहा करता है और निम्न स्तर के अशिष्ट लोगो का प्रयोग अलग रहा करता है। वर्तमानकालिक रूप मे शिष्ट लोग कहेगे 'मैं चलत हौ' 'हम चलत हन', 'तै चलत हस' 'तुम चलत हौ', 'ओ चलत हैं', उन चलत है, और अशिष्ट लोग कहेगे—'मैं चलत हवौ' 'हम चलत हवन', 'तै चलत हवस', 'तुम चलत हवौ', 'ओ चलत हवै' 'उन चलत हवै'। भविष्यकालिक रूप मे शिष्ट लोग कहेगे—'मै चलिहौ' 'हम चलब,' 'तै चलबे' 'तुम चलिहौ', 'ओ चलिहै' 'उन चलिहै', अशिष्ट लोग कहेगे—'मै चलहू' 'हम चलबोन' 'तै चलबँ' 'तुम चलहू,' 'ओ चलही' 'उन चलही'। भूतकालिक रूप मे अलबत्ता शिष्ट लोग कहेगे 'मै चलेवें' 'हम चलेन', 'तै चले' 'तुम चलेव', ओ चलिस' 'उन चलिन' और अशिष्ट लोग भी इसी प्रकार का प्रयोग करेगे। सभव है अशिष्ट लोगो का यह प्रयोग कुछ जाति-विशेष ही तक सीमित हो। व्याकरण के कुछ-कुछ प्रयोग तो स्थानभेद से भिन्न-भिन्न भी हो गये है। कर्मकारक 'का' को 'कही' 'ला' कहा जाता है कही 'खा' कहा जाता है और कही 'का' ही रह जाता है।

छत्तीसगढी मे देशकाल की सूचना देने वाले शब्द तत्सबधी क्रियाओ के सयोग से बना लिये गये है। दूरी के द्योतन के लिए 'कुकरी उडान भर' (जितनी दूर तक एक मुर्गी एक उडान मे जा सकती है) अथवा 'धाप भर' (जितनी दूर एक मनुष्य एक ही सास मे धावन कर सकता है) आदि के प्रयोग होते है और समय के द्योतन के लिए 'कुकरा बासत बेरा' (ब्राह्म मुहूर्त जब कि मुर्गा बोलता है), 'पहट ढीले के बेरा' (प्रात काल जब कि जानवर ढीले जाते है), 'सुवारी नहाये के बेरा' (मध्याह्न पूर्व की बेला जब कि सूपकार लोग स्नान करके भोजन बनाने की तैयारी मे लगना चाहते है), 'भइसा ॲधियार के बेरा' (सध्योत्तर बेला जब कि रात के अँधेरे मे भैंसो की श्यामता अलक्षित हो जा सकती है) के से प्रयोग होते है।

कुछ मनोरजक प्रयोग इस प्रकार है—मै सूत मुलाएवँ (मै इतना सो गया कि समय का ज्ञान ही न रहा), 'ओकर सुताई बूता ला देख' (देखो तो उसने किस तरह सोने ही को मानो अपना

धन्धा बना लिया है), 'हपटे बन के पथरा, फोरै घर के सील' (ठोकर खा रहा है वन के पत्थर से और रुष्ट होकर बदला ले रहा है घर की सिल से), 'पर्रा भर लाई, गने न सिराई' (यह पहेली है जिसका उत्तर होगा तारागण) 'माटी के बोकरा चोकरा खाय, थोरे मारे बहुत नरियाय' (यह भी पहेली है जिसका उत्तर होगा 'मृदग')। ऐसे-ऐसे मुहावरो, ऐसी कहावतो और पहेलियो से भी छत्तीसगढी लोक-जीवन की सादगी का अच्छा पता चलता है।

परम्परा से जो लोकगीत चले आ रहे है वे उस स्थान के लोक-जीवन के अच्छे दिग्दर्शक रहा करते है। छत्तीसगढ मे अनेक प्रकार के लोकगीतो का प्रचलन है। एक 'कर्मा' नामक गीत की पक्तियाँ है—"जीयत जनम लेबे, हसि लेबो खेल लेबो, मरे ले दूलम ससार।" अर्थ है कि 'जन्म जीने के लिए धारण किया गया है। हम लोग हसेगे और खेलेगे। मरने पर तो यह ससार दुर्लभ हो जायगा।' ऐसी ही मस्ती छत्तीसगढ के लोक-जीवन मे है। उसे आज की मस्ती के आगे कल की कोई चिन्ता नही रहती। वह अभावग्रस्त होते हुए भी अभावो का अनुभव नही करना चाहता। एक दूसरा कर्मा-गीत है—"कोलकी ले झाक देखे, डाग भर बेला, लकर लकर आवत होही मोर अलबेला।" व्यग्र नारी-हृदय कह रहा है कि उसका अलबेला अब झटपट घर आता ही होगा क्योकि गली से झाँक कर उसने देखा है कि अब सूर्य पश्चिम के क्षितिज से एक बाँस ऊपर ही रह गया है। दिन भर काम और रात को आराम का सकेत देने वाली यह है यहाँ के लोकजीवन की भावना। एक सुआ-गीत है—

उपर राज ले आये मोरे जोगिया बैरगिया, रे सुअना,
वो तो छेकि बैठिस धरम दुआर, रे सुअना वो तो छेकि बैठिस०।
मुठा भर चाउर देइदे जोगिया बैरगिया ला रे सुअना,
वो तो छाडि दीही धरम दुआर रे सुअना, वो तो छाडि दीही०।
मुठा भर चाउर तोर घर भरि जाय बहिनी।
मैं तो नी छाडौ धरम दुआर—रे सुअना मै तो नी छाडौ०।

योगी ने जब मुट्ठी भर चावल लेना अस्वीकार किया तब उसे थाली भर चावल लेने का आग्रह किया गया। उस पर भी जब वह न माना तो बडी ननद दे डालने का प्रलोभन दिया गया। तब भी वह न माना तो—

छोटकी ननदल देइदे जोगिया बैरगिया लारे सुअना,
ओ तो छाडि देही धरम दुआर।
अतकाल सुनके बहिनी जोगिया बैरगिया हा रे सुअना,
वो तो लेइ लानिस डोलवा फदाय रे सुअना वो तो लेइ लानिस०॥

यह गीत न केवल ननद और भावज के निश्छल हास-परिहास का सकेत देता है, किन्तु बज्रयानी बौद्धो के उस प्रभाव का भी सकेत देता है जो यहाँ के लोक-जीवन मे प्रविष्ट हो चुका होगा। यहाँ की कई जातियो मे देवर का अपनी भौजाई के साथ विवाह जायज मान लिया गया है। परन्तु वह जायज होता है ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु के उपरान्त। इस प्रथा से प्रभावित एक देवर

और उसकी सधवा भौजाई के बीच हुए वार्तालाप को निम्न लिखित सुआगीत मे प्रस्तुत किया गया है, जिसमे दोनो के मनोभावो की अभिव्यक्ति का कौशल द्रष्टव्य है —

तरी नारि न न नान तरि नरि नाना, रे सुअना।
अँगुरी ला मोरि मोरि देवरा जगायेन
दुर रे कुत्ता, तैं दुर रे बिलैया, रे सुअना, फेर कौने पापी हेरत कपाट।
नो हौ कुकुर मैं नो हौ बिलैया रे सुअना, फेर छोटे देवर नन्दलाल।
आये बर ऐहा बाबू मोरे घर ला रे सुअना, फेर सूत जैहा भैया के पलग।
भैया के पलग भौजी मुसडी चाबत है रे सुअना, फेर तोरे पलग सुख नीद।
मोरे पलग बाबू छुरी कटारी रे सुअना, सुन ले देवर नन्दलाल।
हमरे पलग बाबू कारी नागिन रे सुअना फेर डकी डकी के जिउरा लेय।
तुम्हरे पलग भौजी कारी नागिन रे सुअना, फेर भैया ल कैसे बचाय।
तुहरे भैया बाबू बड नगमतिया, फेर अपना जिउरा लेथे बचाय।
तारी नारि न न नाना तरि नरि नाना, रे सुअना—

देवर चुपचाप भावज के कमरे मे घुसकर उसकी अँगुलियाँ मरोड-मरोड कर उठा रहा है। भावज कुत्ता बिल्ली या पापी समझकर उसे दुत्कारती है। वह बताता है कि वह तो उसका देवर नन्दलाल है। भावज सकेत करती है कि वह अपने भाई के पलग पर सो जाय, किन्तु वह तो भौजाई के पलग पर ही सुख की नीद चाहता है, इसलिए बहाना बनाता है कि भाई की पलग पर मच्छर काटते है। भावज कहती है कि उसके पलग पर तो छुरी कटारी और काली नागिन है जो डक मार-मार कर प्राण ले लेगी। देवर पूछता है कि तब उसके बडे भाई उस डक से कैसे बच जाते है। भावज उत्तर दे देती है कि वे तो बडे सँपेरे (गारुड़ी) है जो अपना जीवन बचा लेते है। बेचारा देवर निरुत्तर हो जाता है और सुआ-नाच 'नारी नारी नाना' की ध्वनि के साथ आगे चल पडता है।

लोकगीतो की कुछ और भावनाएँ भी द्रष्टव्य है। विवाहगीत की दो पक्तियाँ है—

कारे गोरे बिटिया झिन कहिहा, कारे है श्री भगवान हो।
माई के कोख कोहार के आवा, कोउ करिया कोउ गोर हो।

कितनी सफाई से साँवले पति के लिए गोरी कन्या का मन सन्तुष्ट कराया जा रहा है।

एक वियोगिनी छत्तीसगढ के सुप्रसिद्ध ददरिया गीत मे कह रही है—

फुटहा मदिर कलस तो नइ हे।
दोइ दिन के अवइया दरस तो नइ हे॥

अर्थात् कुटिया नष्टभ्रष्ट हो गई और छप्पर भी उड गया परन्तु दो दिन का वादा करके जाने वाला प्रिय अब तक दर्शन नही दे रहा है। यहाँ देवरूप प्रिय के ससर्ग से कुटिया को भी मदिर कह देना कितना पावन हो गया है।

एक सयोगिनी की ददरिया इस प्रकार है—

तावा के रोटी सेकत रहिते
तोला आघू मे बैठा के देखत रहिते ।।

छत्तीसगढ चावल खाने वाला देश है। उसे पर्वकाल ही समझिए जब रोटी बनती है। प्रिय सामने बैठा हो इससे बढकर और कौन पर्वकाल हो सकता है। उसके दर्शन के सन्मुख फिर उस रोटी का भी क्या मूल्य ? वह तो तवा मे सिकती ही रह जायगी और "उन्हे भूलि गई गैया इन्है गागरि उठाइबो" का सा दृश्य सामने आ जायगा। यही तो उस भाव-प्रवण नारी की एकान्त कामना है। ददरिया गीतो मे जिस तत्परता के साथ प्रिय और प्रेमिका अपने हृदय के निश्छल भाव उडेल-उडेल कर सवाल-जवाब के रूप मे पक्तियो पर पक्तियाँ कहते चले जाते है वह किसी भी सुहावनी सध्या के समय किसी भी देहाती अचल मे देखा जा सकता है। बडी मादकता रहती है उन स्वरो मे। छत्तीसगढी लोकगीत कितना भावुक और प्रतिभामय है यह ऐसे प्रसगो मे बडी सरलता के साथ देखा जा सकता है।

'अत मे बासगीत की कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जा रही है जिसमे एक राउत दम्पति का वाद-विवाद है। गीत इस प्रकार है—

पत्नी कहती है —

छेरी ल बेचौ, मेढी ल बेचौ , बेचौ भैसी बगार।
बनी भूती मे हम जी जाबो , सोबोन गोड लमाय।

पति कहता है —

छेरी न बेचौ भेडी न बेचौ, ना बेचौ भैसी बगार।
मोले मही मे हम जी जाबो, औ बेचौं तोहूला घलाय।

पत्नी— कौन तोरे करही रामे रसोई, कौन करै जेवनार।
कौन तोरे करही पलग बिछौना, कौन जोहै तोर बाट ।।

पति— दाई करिहै रामै रसोई, बहिनी करै जेवनार ।
सुलखी चेरिया पलग बिछैहै, औ मुरली जोहै मोर बाट ।।

पत्नी— सास डोकरिया मरघट जैहै, ननदि पठौ ससुरार।
सुलखी चेरिया हाटन बिकैहै, औ मुरली नदी मे बोहाय ।

पति— दाई ला रखहू अमर खवाके, बहिनी रखू छै मास।
सुलखी चेरिया बाधी छादी रखहू, औ मुरली ला रखहू जी मे डार।

पत्नी अपने पति का गाये चराना नही देख सकती, क्योकि वह उतना भी उसका आँखो से ओझल होना नही सह सकती। वह प्रस्ताव करती है कि बकरी, भेड, भैस सब बेचकर मजदूरी करके सुख की नीद सोया जाय। पति कहता है कि जीविकोपार्जन के लिये क्या दूध दही बेचना उत्तम नही है ? दुधारू पशुओ को बेचने की नौबत आई तो वह अपनी उस प्रस्ताविका पत्नी ही को

बेच डालेगा। पत्नी कहती है कि यदि वह बेच डाली गई तो रोटी कौन बनायेगा, पलग कौन बिछायेगा, रास्ता कौन देखेगा। पति कहता है कि मा रसोई बनाएगी, बहिन थाली परोस देगी नौकरानी पलग बिछा देगी और मुरली की तान रास्ता देखती रहेगी, प्रतीक्षा करती रहेगी। पत्नी कहती है कि वृद्धा सास तो मरने ही वाली है, ननद अपनी सुसराल चली जायगी, नौकरानी बिक जाने वाली है और मुरली नदी मे बहा दी जाने वाली है। पति कहता है कि मैं मा को अमृत पिला-कर रख लूँगा, बहन को छ महीने ससुराल न भेजूँगा, नौकरानी को जबरदस्ती रोक रखूँगा और मुरली को तो अपने जी मे ही छिपाकर रख लूँगा।

राउतो का गाये चराते रहना और वही एकान्त मे मस्ती की बशी बजाते रहना सुप्रसिद्ध है। छत्तीसगढ की यह राउत जाति भी बडी रहस्यमय है जिसने छत्तीसगढी लोकजीवन को कई प्रकार से प्रभावित किया है। 'राजपूत' का अपभ्रश ही 'राउत' हुआ, ऐसा कुछ लोगो का अनुमान है। ये अपने को कृष्णानुयायी आभीर वशज 'अहिरा' या 'गहिरा' कहते है। कुछ विद्वानो ने इन्हे विदेशी माना है और कुछ ने शुद्ध भारतीय। 'राउत' का एक अर्थ होता है 'बहादुर'। यद्यपि इनकी उपजातियाँ मुर्गा ही नही किन्तु चूहा और सुअर तक हजम कर जाती है फिर भी छत्तीसगढी लोग, जिनकी स्नान-ध्यान और छुआछूत तथा साफ-सुथरे रहने और अपने घर-द्वार साफ-सुथरे रखने की परम्परा पर्याप्त प्रसिद्ध है, इनके हाथ का भरा पानी सादर ग्रहण करते है। अपने उत्सवो मे शराब मे सराबोर रहने वाली यह जाति कदाचित् इसीलिए इतनी समादृत हुई, क्योकि किसी समय सचमुच ही वह बहादुरी के साथ इस अचल मे राज्य कर रही होगी।

गोसेवा इस जाति का प्रधान कार्य है और गोपाल कृष्ण इनके मान्य है। परन्तु प्रधान रूप से ये पूजते है सँहडा देव को, दूल्हा देव को, गोसाईं देव को जो सब के सब अनार्यो के देवता जान पडते है। 'गोबर-धन खुदाना' इनका प्रधान उत्सव है। गोबर के एक ढेर को गायो के पैर से कुचलवा देना ही गोवर्धन खुदाना है। दीपावली के अवसर पर गायो ने हरे चारे के लिए पर्वतारोहण कर लिया, यही इस उत्सव का आदि रूप जान पडता है जिसने श्रीकृष्ण जी के समय गोवर्धन-पूजा का रूप धारण कर लिया होगा। सभव है कि श्रीकृष्ण जी के समय से ही यह पूजा चली हो, और अब उसका विकृत रूप शेष रह गया हो . अब तो सँहडा देव की पूजा इस 'गोवर्धन खुदाने' का आवश्यक अग हो गयी है। सभव है, यह 'सँहडा' शब्द ,सडहा' से बना हो और सडहा या सँड़हा अर्थात् साडवाला देव का विकृत रूप हो गया हो। गोसेवक जाति के लिए इस प्रकार सँड़हा देव की पूजा स्वाभाविक हो जाती है।

राउत लोग गोवर्धन-पूजा के अपने महान पर्व के अवसर पर गायो के गले मे 'सुहाई' (एक प्रकार का आडम्बरपूर्ण रक्षा कवच) बाँधते है और स्वत ऐसी भडकीली वीर वेष भूषा धारण करते है जिसमे सामने कौडियो का और पीछे मोरपख का सयोग रहता है। कौडी है लक्ष्मी का प्रतीक और मोरपख है मत्र-तत्र अभिचार अथवा अन्य विपत्तिरूपी सर्पो के प्रतीकार का प्रतीक। सम्पत्ति आवे और विपत्ति जाय, यह इस वेषभूषा का प्रतीकार्थ हो सकता है। परन्तु राउतो ने शायद ही ऐसा अर्थ सोचा होगा। गुजा तथा मोरपख धारी श्रीकृष्ण के अनुकरण मे

कौडियो और मोरपखो का पहिनावा चल पडा होगा। रंग-बिरंगी फतुही और बढिया काला डडा, जिससे पटा-बनेठी गदका-फरी आदि के भी हाथ इन राउतो द्वारा खेल लिये जाते है, इनकी उस वेषभूषा मे सम्मिलित हैं। इसी वेषभूषा से वे गलियो-गलियो नाचते और मस्त हो-हो कर गाते रहते है। जिसके मन मे स्फूर्ति आ जाय वही ज़ोर से 'हो ' कहकर लाठी ऊँची कर देता है, नृत्य क्षण भर के लिये रुक जाता है और वह अपना पद अथवा दोहा कह देता है या गा देता है और नृत्य फिर प्रारभ हो जाता है।

इस पर्व के साथ 'नवाखाई' (नवान्नप्राशन) का पर्व सम्मिलित हो जाता है और कही 'मातर' कही 'मडई' के पर्वों का सयोग हो जाता है। 'मातर पूजा' राउतो की विशेष पूजा है जो पशुओ के आगन्तुक रोग निवारणार्थ रात्रि मे की जाती है और वहाँ सुअर अथवा मुर्गे आदि की बलि दी जाती है और हो सका तो बलिपशु को गायो से कुचलवाया जाता है। 'मडई' पूजा रोग की अधिष्ठात्री ककाली देवी की पूजा है। इसमे अनेक जनजातियाँ भाग लिया करती है, अतएव यह छत्तीसगढी लोक-जीवन का अभिन्न अग बन गई है। इसके साथ राउतो का नाच अनिवार्य रूप से सम्मिलित हो गया है। केवट और गोड लोगो का यह विशेष उत्सव है। 'मडई' का अर्थ है मडाना अथवा स्थापना करना। एक लबे बाँस के ऊपर मयूरपख के चन्द्रक लगाकर तथा काँदई नामक एक नदी तीर की कन्द के छिलको से युक्त रस्सियाँ नीचे से ऊपर तक उस बाँस मे बाँधकर उसकी स्थापना की जाती है। वही मडई है। देवारो और गोडो की मडई मे लाल या काली पताकाओ की माला भी नीचे से ऊपर तक एक बाँस मे लगी रहती है। सभव है, यह प्राचीन काल के इन्द्रध्वज से सबधित पूजन-परम्परा हो। एक मडई का निमत्रण पाकर अन्य मड-इयाँ वहाँ अपनी-अपनी पूजा लेने पहुँच जाती है और इस प्रकार कई गाँव के लोग मिलकर सामू-हिक महोत्सव मना लिया करते है।

छत्तीसगढी लोक-जीवन की यह एक स्वल्प बानगी है। नयी सभ्यता के संचार से यह लोक-जीवन भी अब नये-नये रग ग्रहण कर रहा है। जहाँ की स्त्रियाँ हमारे देखते-देखते उत्त-रीय अथवा कचुकी धारण करना दूषित समझती थी वहाँ अब कुर्तियो का आम रिवाज चल पडा है और जहाँ के पुरुष अच्छी खासी डेढ-दो मील की यात्रा को 'धाप' भर ही मान लिया करते थे वे अब रेल के स्टेशनो और बस स्टैण्डो पर यान की प्रतीक्षा करते हुए घण्टो बैठे दिखाई देगे। फिर भी छत्तीसगढ़ी लोक-जीवन अब तक अपनी स्वच्छता और निश्छलता के लिए प्रसिद्ध है। वह उन के गीतो की तरह आडम्बरहीन और उनके नृत्यो की तरह ही उल्लासपूर्ण है। वह जग से छत्तीस न रहते हुए भी प्रभु-चरणो से छ और तीन का नाता अब भी निभाये हुए है।

●

वा० वि० मिरासी

रामगढ़ की मूर्तियाँ

श्री वा० कृ० पराजपे ने अपनी सद्य प्रकाशित पुस्तक "'मेघदूत' पर नया प्रकाश" मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास के 'मेघदूत' मे वर्णित रामगिरि सरगुजा जिले का रामगढ ही है और इसके प्रमाण मे उन्होने उस पर्वत की मूर्तियो को प्रस्तुत किया है। ये मूर्तियाँ राम, लक्ष्मण और सीता की है, ऐसा उनका कथन है। बीच मे राम, उनकी बाईं ओर लक्ष्मण और दाईं ओर सीता की मूर्ति स्थित है। सामान्यत राम के बाएँ बाजू सीता की मूर्ति होती है। परन्तु वहाँ वह दाएँ बाजू रखी गई है। इससे मूर्ति के अति प्राचीन होने का सबूत मिलता है, ऐसी भी उनकी मान्यता है। इससे उन्होने यह भी अनुमान निकाला है कि रामगढ़ प्राचीनतम स्थान है। 'छत्तीसगढ स्टेट-गजेटियर' मे उन मूर्तियो के चित्र भी है, जिन्हें उन्होने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १६२ पर दिया है।

श्री पराजपे ने स्वय उन मूर्तियो को नही देखा है, दूसरो के वर्णन पढकर उन्होने अपनी धारणा बनायी है। उन मूर्तियो को वस्त्र पहना कर उनकी फोटो ली गई है, अत फोटो से वे पहचानी नही जाती। फिर भी, वे फोटो से जिस मूर्ति को सीता समझते है उसके हाथ मे 'कमडलु' क्यो दिया गया है, यह शका 'सकाल' (२८-९-५८) के पुस्तक-समीक्षक ने व्यक्त की है, जो स्वाभाविक है। वर्षों पूर्व दो व्यक्तियो ने उन मूर्तियो को अपनी आँखो देखकर उनका वर्णन लिखा है। सन् १८७४ मे कनिघम के सहायक वेग्लर रामगढ गये थे। उन्होने रामगढ का सविस्तर वर्णन कनिंघम के 'आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ इडिया रिपोर्ट्स' (जिल्द १३, पृष्ठ २१, ५५) मे किया है। वह कहता है, "सीता के नाम पर जो मूर्ति बतलाई जाती है वह गगा अथवा अन्य किसी नदी की होगी। उसके दाहिने हाथ मे रुद्राक्ष-माला और बाएँ हाथ मे कमडलु है। बीच की मूर्ति इन्द्र अथवा शिव की होगी। उसके एक हाथ मे वज्र और दूसरे हाथ मे त्रिशूल और मस्तक पर सर्प का फन है। पर यदि वज्र के कारण उसे 'इन्द्र' कहा जाय तो उसके मस्तक पर सर्प का फन कहाँ से आ गया ? अतएव वह मूर्ति शकर की ही होनी चाहिए, ऐसा तर्क पेगमर ने प्रस्तुत किया। परन्तु साथ ही उसने यह भी कहा कि इन्द्र की मूर्ति क्वचित ही मिलती है। अत हो सकता है कि वह इन्द्र की ही मूर्ति हो। श्री पराजपे अतिम प्रतिमा को लक्ष्मण की मूर्ति बतलाते है। वेग्लर ने उसे राम की कहा है, क्योकि उसकी बाईं ओर सीता और दाई ओर हनुमान की मूर्ति दिखलाई देती है। अत इस मूर्ति के सबध मे शका का स्थल नही रह जाता। इसके पश्चात् सन् १९०५ मे श्री इ० वी० कावडन रम्से आई० सी० एस० रामगढ गये और उन्होने उन मूर्तियो का जो विस्तारपूर्ण वर्णन किया है वह उपर्युक्त 'छत्तीसगढ स्टेट गज़ेटियर' मे छपा है। इन महाशय

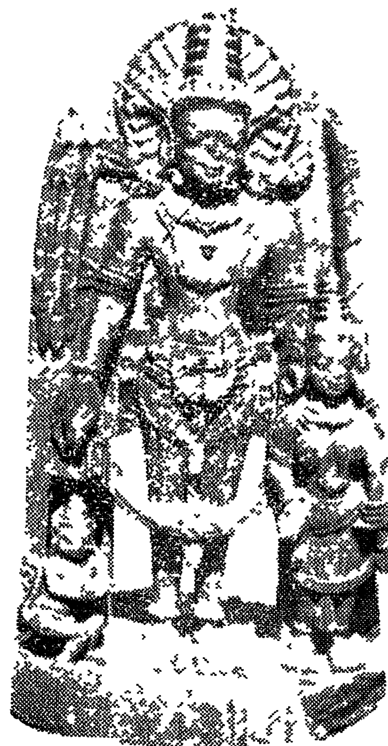
रामगढ़ की मूर्तियाँ



रेवती



बलराम



राम

[नागपुर सग्रहालय की कृपा से]

को भारतीय शिक्षा-शास्त्र का तनिक भी ज्ञान नही था। स्थानीय व्यक्तियो ने उन तीन मूर्तियो को क्रमशः सीता, राम और लक्ष्मण की मूर्ति कहा और वेग्लर ने उसे सत्य मानकर वैसा लिख दिया। उनकी पुस्तक को पढकर ऐसा जान पडता है कि श्री पराजपे ने वेग्लर की पुस्तक अवश्य देखी है। फिर भी उन्हे काप्डेन और रम्से के मत स्वीकारने मे कोई झिझक नही हुई, प्रत्युत उन्होने वहाँ की स्त्री-मूर्ति को राम की दाहिनी ओर होते हुए भी सीता की मूर्ति मान कर यह निर्णय दे दिया कि वे तीनो मूर्तियाँ अत्यन्त प्राचीन है। साथ ही यह भी प्रतिपादित किया कि 'मेघदूत' का रामगिरि रामगढ ही हो सकता है। उनकी पुस्तक की परीक्षा करते समय मेरा ध्यान रामगढ की मूर्तियो की ओर गया। उनकी पुस्तक की मूर्तियाँ वस्त्रावृत दिखलाई देने से उन्हे पहचानना कठिन था। फिर भी, सीता के हाथ मे कमण्डलु कैसे और राम के मस्तक पर सर्प का फन कहाँ से आ गया, इसकी छानबीन आवश्यक प्रतीत हुई। अत मूल शिल्प के चित्रो का अध्ययन आवश्यक जान पडा। सौभाग्य से नागपुर-सग्रहालय के क्यूरेटर डा० पटवर्धन तथा उनके सहायक श्री रोडे कुछ मास पूर्व रामगढ की यात्रा कर चुके थे और उन्होने प्रतिमाओ के चित्र भी लिये थे। उन्होने वे चित्र मुझे दिये जिनको इस लेख के साथ छापा जा रहा है।

इन चित्रो पर मनन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यवर्ती मूर्ति इन्द्र, शकर या राम की न होकर बलराम की है। बलराम की मूर्ति कैसी होनी चाहिए, इसका वर्णन 'वैखानसागम' मे इस प्रकार दिया गया है—"अथ बलभद्र राम मध्यमदशतालमिति द्विभुज त्रिनत दक्षिणहस्तेन मुसलधर वामेन हलधर श्वेताम्भ रक्तवस्त्रधरमुद्बद्धकुन्तल दक्षिणेन हस्तेन पद्मधरा प्रसारित-वामहस्तामेव कारयेत।"[1] उपर्युक्त पक्तियो मे कहा गया है कि बलराम की मूर्ति दशताल ऊँची, द्विभुज और त्रिभगी होनी चाहिए। उनके दाहिने हाथ मे मूसल और बाएँ हाथ मे हल होना चाहिए। बलराम का वर्ण गौर तथा वस्त्र लाल हो, उनके केश ऊपर बँधे हुए हो। उनके दाहिने हाथ मे कमल हो और बायाँ हाथ फैला हुआ हो।

वराह मिहिर की 'बृहत्सहिता' मे बलराम की मूर्ति का निम्नानुसार वर्णन है—

बलदेवो हलपाणिर्मदविभ्रमलोचनश्च कर्त्तव्य ।
विभ्रत्कुडलमेक शखेन्दुमृणालगौरवपु ॥

इसमे बलराम के एक ही कान मे कुडल होना चाहिए, ऐसा एक अधिक लक्षण दिया गया है। इस लेख के साथ प्रकाशित मध्यवर्ती मूर्ति का निरीक्षण करने से पता चलता है कि उसमे बलराम के बहुत से लक्षण मिलते है। मुख्य लक्षण तो ये है कि उसके दाएँ हाथ मे हल है (वेग्लर के अनुसार वज्र नही, और दाएँ हाथ मे मूसल, त्रिशूल नही), दोनो कानो मे कुडल और मस्तक पर रत्नजटित किरीट है। गले मे अनेक आभूषण और पुष्पमाला है। बाहु पर अगद, हाथ मे वलय, उनका अधोवस्त्र घुटने तक ही है, कमर करधनी से बँधी हुई है और उसका छोर आगे छूटा हुआ है। बलराम शेष के अवतार माने जाते है, इसलिए उसका निदर्शक शेष का फन उनके

---

१. गोपीनाथ राव, एलिमेंटरी हिन्दू इक्नोग्रैफ़ी, जिल्द १ भाग २, परि० पृ० ४४।

मस्तक पर दिखलाया गया है। इन सब लक्षणो से यह मूर्ति राम की नही, बलराम की है, इसमे तनिक भी सन्देह नही।

बलराम के दाहिनी ओर स्थित मूर्ति रेवती की है, सीता की नही। श्री पराजपे का कथन है कि वह राम की दाईं ओर होने से अत्यन्त प्राचीन काल की स्थापित प्रतीत होती है। पर उनका यह अनुमान मध्यवर्ती मूर्ति के बलराम की सिद्ध हो जाने से निराधार हो जाता है। इस स्त्री के हाथ मे कमण्डलु होने से वह गगा के समान कोई नदी होगी, ऐसा वेग्लर का तर्क था। परन्तु यदि ऐसा होता तो पीठ पर नदी का चिह्न खुदा होता। गगा की पीठ पर मगर का चिह्न उत्कीर्ण मिलता है। परन्तु उस मूर्ति पर किसी नदी का चिह्न नही है। बलराम की दाहिनी ओर उसका स्थान होने से वह मूर्ति बलराम की स्त्री रेवती की होनी चाहिए, ऐसा कहा गया है। उसके दाहिने हाथ मे कमल होना चाहिए और बायाँ हाथ फैला हुआ होना चाहिए, यह 'वैखानसागम' मे उल्लिखित है। ये लक्षण प्रस्तुत मूर्ति से मेल नही खाते। शिल्पकार ने बलराम की मूर्ति बनाते समय जैसे परिवर्तन किये है वैसे ही इस मूर्ति के सबध मे भी किये होगे। इस मूर्ति के मस्तक पर किरीट और उसके पीछे तेजोवलय दिखलाया गया है, दोनो कानो मे प्राचीन ढग के कुडल है। गले मे रत्नजटित कठा और हार है। बाहु और हाथ पर अलकार है। बाये हाथ मे कमण्डलु है। दाएँ हाथ की वस्तु रुद्राक्ष-माला होनी चाहिए, ऐसा वेग्लर का तर्क था। परन्तु उसकी बनावट रज्जु के समान दिखलाई देती है, अत वह पाश होगा। प्राचीन समय मे देवी की मूर्तियो के हाथो मे कमण्डलु और पाश दिखाने की प्रथा थी। इसी प्रथा का यहाँ पालन दिखाई देता है। इस मूर्ति का अधोवस्त्र घुटने तक आया हुआ दिखलाई देता है। पैरो मे कडे-छडे है।

तीसरी, बलराम के बाएँ बाजू स्थित मूर्ति श्री पराजपे के अनुसार लक्ष्मण की न होकर राम की है। राम के शिर पर किरीट-मुकुट और पीछे तेजोवलय है। दाएँ हाथ मे शख और बाएँ हाथ मे धनुष है। दाईं ओर नीचे तीन पैने बाण दिखाई देते है। बलराम की मूर्ति के समान कठ, बाहु, हाथ और पैर मे अलकार और वस्त्र दिखाये गये है, राम की बाईं ओर सीता की छोटी मूर्ति किरीटधारिणी और विविध अलकार विभूषिता प्रदर्शित है। उसके दाएँ हाथ मे चक्र और बाएँ हाथ मे नालयुक्त कमल प्रदर्शित है। हाथ, पैर और गले मे रेवती के समान ही अलकार आदि दिखाई देते है। राम के दाहिने बाजू बैठी मुद्रा मे हाथ जोडे हनुमान दिखलाये गये है। मूर्ति के महत्व के अनुसार उनके आकार प्रदर्शित करने की प्रथा थी। इसलिए राम की मूर्ति सब से बडी, सीता की उससे आधे आकार की और हनुमान की सब से छोटी दिखलाई गई है।

ये मूर्तियाँ रचना, अलकार आदि की दृष्टि से मध्ययुग की जान पडती है। उनमे शिल्पकार ने रामगढ के क्षेत्र मे बसने वाले आदिवासियो के चेहरे-मुहरे की नकल की है। इनसे प्राचीन सरगुजा राज्यान्तर्गत रामगढ के प्राचीनत्व अथवा कालिदास के 'मेघदूत' के रामगिरि के सबध में कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता।

●

अमलिया पेज्जाली

बौद्ध साधना का अन्तरंग अर्थ

ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्धधर्म की यह महान् विशेषता है कि इसने आलोचनात्मक विभज्यवाद[1] (विचारयोग्य सामग्री को सभी सभाव्य विकल्पो मे विभाजित करके प्रत्येक विकल्प के खण्डन करने का सिद्धान्त) को विकसित किया। बुद्ध को ठीक ही चतुष्कोटिक न्यायप्रणाली का सस्थापक कहा जाता है,[2] यद्यपि इसके विकास का श्रेय उनके परवर्ती अनुयायियो को है। यह बौद्ध विचारधारा का उसके समग्र इतिहास मे अथवा वस्तुवादी, वैपुल्यवादी, माध्यमिक तथा विज्ञानवादी निकायो की विभिन्न अवस्थाओ मे प्रमुख लक्षण रही है।

आरम्भ से लेकर परवर्ती विकास तक बौद्ध विचारधारा मे असाधारण परिवर्तन हुए है जिनको देखकर हमे आश्चर्य होता है कि कैसे विभिन्न युगो मे रहने वाले विभिन्न प्रकार के शिष्य बुद्ध को अपना शास्ता मान सके। किन्तु यदि इस बात की तलस्पर्शी गम्भीरतर गवेषणा करे तो ज्ञात होगा कि बौद्ध धर्म मे एक ऐसी क्रियाशील शक्ति थी जिसका उपर्युक्त प्रकार से अकुरण (तथा विकास) होना एक तार्किक अनिवार्यता थी।

यह परिवर्तन उपासना मे स्वत क्रमश प्रकट हुआ जिससे बुद्ध मानव या देशिक से लोकोत्तर पुरुष हो चले। धर्मशास्त्र मे मौलिक्य बौद्धधर्म का भाववाद निरपेक्ष सर्वेश्वरवाद मे परिणत हो गया। अभिधर्मशास्त्र मे धर्मो की विपुलता धर्मता की निरपेक्षता मे बदल गई; विज्ञानशास्त्र मे प्रत्यक्षवाद और दृष्टिवाद चतुष्कोटिक न्याय मे बदल गये (द्रष्टव्य डा० मूर्ति लिखित 'दी सेण्ट्रल फिलासफी आव् बुद्धिज्म' पृ० ५)। नीतिशास्त्र मे भी परिवर्तन क्रान्तिकारी था, यहाँ अर्हत् का आदर्श बुद्धत्व-प्राप्ति के आदर्श मे बदल गया। मेरे विचार से बौद्ध विचारधारा के इतिहास मे अन्तिम प्रश्न का सर्वाधिक महत्त्व है। यह उसका सार है। क्योकि एक दृष्टि से इसमे अन्य सभी प्रश्नो का अन्तर्भाव हो जाता है।

उपासना धर्मशास्त्र की अभिव्यक्ति है जिसके तार्किक समर्थन अभिधर्मशास्त्र तथा विज्ञान-

---

१. कोष्ठक के अन्तर्गत लेखिका के मन्तव्य को सक्षेप में समझाने का प्रयत्न किया गया है—संपादक। २. लेखिका का यह विचार कुछ प्रचलित अन्धविश्वासो पर निर्भर है। विद्वानों ने इस न्यायप्रणाली को बुद्ध-पूर्व सिद्ध किया है। द्रष्टव्य: दार्शनिक, द्वितीय वर्ष, अक २ में डा० मूर्ति के इस मत की समीक्षा और पं० विधुशेखर भट्टाचार्य लिखित 'झा मेमोरियल वाल्यूम' में 'चतुष्कोटि' शीर्षक लेख—सम्पादक।

शास्त्र है। नीतिशास्त्र (विनयशास्त्र) धर्मशास्त्र का वैसे ही परिशिष्ट है जैसे साधना दर्शन (सम्यक् दृष्टि) का प्रतिफल है।

नैतिकता के अन्तर्गत जीवन के समस्त मूल्यो का समावेश हो जाता है जो कर्म तथा सकल्प के आभुक्त कर्म तथा आरभक कर्म के (जिस कर्म का फल भोग लिया जाता है वह आभुक्त कर्म है और जो कर्म फल देना आरम्भ करता है वह आरम्भक है) प्रतिफल है। बुद्ध कर्म-विपाक मे हस्तक्षेप नही करते, वे केवल उसके सार्वभौम पहलू पर प्रकाश डालते है। उन्हे कभी शक्ति-देव के रूप मे नही स्वीकार किया गया, जैसा कि हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म मे ईश्वर की धारणा है। उन्हे सदैव मान्य लोकोत्तर पुरुष (पुरुषोत्तम या अतिमानव) या विज्ञान-देव के ही रूप मे माना गया। इतने पर भी उन्होने धर्मचक्र का प्रवर्त्तन किया है, मनुष्यो को सम्यक् सम्बोधि दिखायी है और तथता का प्रकाश दिया है।

शाक्यमुनि की देशना के अनुसार विनय (निर्वाण साधना) शील के अभ्यास तथा शमथ के ध्यान से आरम्भ होती है, तथता के स्वभाव की विपश्यना (प्रज्ञा अथवा सम्यक् सबोधि) मे इसका परिपाक होता है।[3]

शील का अभ्यास साधक के लिए आवश्यक ही नही है बल्कि इसके परित्याग के प्रलोभन को भी उसे आरम्भिक भूमिका मे बचाना चाहिए। बुद्ध शीलव्रत को स्वय साध्य मानने के पक्ष मे न थे।

इसी प्रकार साधक को शमथयान पर चलना चाहिए और वहाँ रुक न जाना चाहिए, क्योकि वह साधन है न कि स्वय साध्य। साध्य विपश्यना या सम्यक् सबोधि है। इसमे अन्तत आराम-प्राप्ति सभव है।

विभिन्न निकायो के अपने शीलव्रत है, किन्तु शील का आन्तरिक मूल्य सर्वत्र अनपेक्ष है। शील राग-द्वेष का नियमन तथा क्लेश की विजय है। जो राग-द्वेष मे निमग्न है उसे विपश्यना उपलब्ध नही हो सकती।

शमथ का अर्थ मन को शान्त तथा स्थिर रखना है। यह चित्त की एकाग्रता है, जब सभी विक्षेप और औद्धत्य शान्त हो जाते है तो विपश्यना का यान सुलभ हो जाता है।

किन्तु हीनयान और महायान दोनो मे विपश्यना का आलम्बन एक ही नही है। तात्पर्य यह कि महायान की विपश्यना अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। हीनयान का लक्षण वस्तुवाद था, जो धर्मो की शून्यता मे बाधक था। यही कारण है कि अभिधर्म (सर्वास्तिवाद) धर्म-नैरात्म्य तक नही पहुँचता है। यह मात्र पुद्गल-नैरात्म्य का समर्थन करता है—सभी धर्म निरात्म है (निरात्मान सर्वे धर्मा), पुद्गल चेतनतत्व नही है और वह रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान इन पाँच स्कन्धो का मात्र सघात है।

अविद्या आत्म-स्वभाव के अन्धविश्वास का हेतु है। जो इस अन्धविश्वास से सग्लन है वह संसार (जन्म मरण का चक्रवत् परिवर्तन) मे घूमता है। जब विपश्यना प्रतिवेध के द्वारा

---

३. शमथयान और विपश्यना यान ये दो बौद्ध साधना के क्रमिक सोपान हैं—सपादक।

ऐसे अन्धविश्वासो का परीक्षण करती है तब पुद्गल के निरवद्य स्वभाव(जो नि स्वभावता है) का प्राकटच और बोध होता है। तभी अविद्या तथा अन्य एकादश निदानो का, समस्त ससार का, निरोध सुलभ हो जाता है।

आभिधार्मिक निकायो मे द्वादश निदानो के चक्र या प्रतीत्य समुत्पाद को कारणतावाद का नियम माना जाता है जो धर्मो के उत्पाद तथा विनाश को कालिक अनुक्रम (काल-धारा) के रूप मे मानता है (डा० मूर्ति दी सेण्ट्रल फिलॉसफी ऑव् बुद्धिज्म, पृ० ७)। धर्मों को स्वलक्षणत वस्तु-सत् माना जाता है, यद्यपि उन्हे नित्य नही माना जाता। धर्मो की क्षणिकता या क्षणभगवाद हीनयान की देशना है।

नीतिशास्त्र मे हीनयानी निकाय अर्हत् के आदर्श को प्रस्तुत करते है। यह प्रत्येक बुद्ध का यान है। हीनयानी प्रत्येक बुद्धयान के निरोध-पक्ष पर, क्लेशो के निरोध तथा आवरण के निरोध पर, बल देते है और कोई भावात्मक आदर्श नही बताते। यह सभी लौकिक मलो का मात्र निरोध है। ज्ञेयावरण के निरोध को लाने के लिए वे प्रयत्न नही करते।

इस सन्दर्भ मे कर्त्तव्य पालन के लिये सबसे अनुकूल मार्ग भिक्षु-जीवन है। सघ का परिवेश, विनय जिनकी सघ मे देशना होती है और एक भिक्षु का दूसरे भिक्षुओ पर अनुशासन मिलकर इसी जीवन को अर्हत्त्वप्राप्ति के सर्वथा उपयुक्त बना देते है। प्रतिमोक्ष भी इस ओर उपपाद्य है। यह तप की भॉति भिक्षु की सहायता करता है और पापियो को दण्डकर्म प्रदान करता है। दण्डकर्म श्रावको को शुद्ध कर सकते है और उनके दुरित को धो सकते है। इनमे कर्म-विपाक का नियम कुछ शिथिल हो जाता है।

भिक्षुओ का सघ पवित्रता का आलय और निधान है। भिक्षुओ का कर्त्तव्य इस निधि का संरक्षण और वर्धन करना है और मनुष्यो को सतत निर्वाणमार्ग दिखाना है। इसलिए यह सघ त्रिरत्नो मे से एक रत्न है और बुद्ध तथा धर्म (अन्य दो रत्नो) के मध्य एक जीवन्त सम्बन्ध है।

महायान की दृष्टि हीनयान-दृष्टि से भिन्न है। यह धर्मो को वस्तु-सत् नही मानता और फलत यह सिद्ध करता है कि परमार्थ की दृष्टि से वैपुल्यवाद असमीचीन है। यहॉ विपश्यना गम्भीरतर हो जाती है। आत्मा (पुद्गल) के घटकरूप धर्मो की शून्यता प्रमाणित करके और उन्हे मात्र परिकल्पक तथा भ्रान्ति सिद्ध करके (पुद्गल-नैरात्म्यवाद स्थापित करके) महायान विषयगत धर्मो की तात्त्विकता का खण्डन करता है (धर्म-नैरात्म्यवाद)। इस प्रकार की परीक्षा तथा गवेषणा भ्रान्ति के अपनय मे तथा अविद्या-परिवार के अपमर्दन मे सहायक है।

माध्यमिक निकाय का दावा है कि धर्मो की शून्यता (अतात्त्विकता) को धर्मों का नै.स्वाभाव्य (नि स्वभावता या स्वभावशून्यता) समझना चाहिये। यहॉ प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ धर्मों का अनिवार्य इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) है।

इसके विपरीत विज्ञानवादी निकाय का दावा है कि धर्मों की तात्त्विकता के खण्डन का निष्कर्ष यह हैं कि धर्म मायामात्र है तथा अपने सास्कृतिक रूप मे मिथ्या हैं। यद्यपि धर्म नैरात्म्यवाद यहाँ भी मान्य है, तथापि इसका आधार ज्ञाता तथा ज्ञेय के द्वैत का भ्रम है। विज्ञानवादी निकाय विशुद्ध विज्ञान (विज्ञप्तिमात्रता) को जिसमे सृष्टि करने की शक्ति है, परमतत्व

मानता है। यहाँ प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य मायिक जगत् को निर्धारित करने वाले नियम से है।

महायान की नैतिक समस्या भी हीनयान से भिन्न है। यहाँ अर्हत्व-प्राप्ति के स्थान पर बुद्धत्व-प्राप्ति आदर्श है। इसके लिए विशुद्धि आवश्यक है, किन्तु यही सबोधि की समस्त प्रक्रिया नही है। यह मात्र तैयारी है, बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग का प्रथम सोपान है। यहाँ वैयक्तिक विशुद्धि पर्याप्त नही है। बोधिसत्व (बुद्धत्व को प्राप्त करने वाला) दूसरो के लिए जीता है। ससार-बन्ध मे पडे हुए अविद्या से विमुग्ध (विमूढ) तथा दु ख भोगने वाले समस्त सत्वो के प्रति करुणा पारमार्थिक प्रगति का उत्स है। बोधिसत्व का ध्यान अपने ऊपर कभी भी नही रहता। वह स्वार्थ-वाद से सर्वथा विमुक्त है। वह बुद्ध (परम कारुणिक) की देशना का सम्पूर्णता मे (आशिक रूप मे नही) पालन करता है। सबोधि प्राप्त करने के पश्चात् शाक्यमुनि ने सबोधि को मात्र अपने तक सीमित रखने के प्रलोभन को जीता था। उसी क्षण वह आजीवन समस्त सत्वो को मुक्त करने के लिए पूर्णतया सलग्न थे।

महायान का दूसरा सारगर्भित सिद्धान्त है कि क्रममुक्ति सभव है। वास्तव मे हीनयान ने भी निर्वाणप्राप्ति के मार्ग मे चार विभिन्न सोपानो को माना था। प्रथम सोपान स्रोतापन्न का है जो मार्ग मे प्रविष्ट हो चुके है। द्वितीय सोपान सकृदागामी का है जिन्हे निर्वाणलब्ध करने मे केवल एक बार जन्म लेना है। तृतीय सोपान अनागामी का है जिन्हे पुन जन्म नही लेना पडता (जिन्हे इसी जीवन मे निर्वाण प्राप्त होने वाला है)। अन्तत चतुर्थ सोपान अर्हतो का है जिन्हे निर्वाण लब्ध है। किन्तु महायान मे क्रममुक्ति का अर्थ है कि अनास्रव वैराग्य मार्ग के, जो निर्वाण का सीधा (ऋजु) मार्ग है, अतिरिक्त एक और सरल, यद्यपि टेढा (अनृजु) मार्ग है। समय पाकर यह दूसरा मार्ग भी निर्वाण तक पहुँचता है। यह स्वर्गो का यान है। जो पूर्ण वैराग्य का प्रणिधान (व्रत) नही कर सकते वे (श्रावक) लौकिक या श्रावक यान का अनु-सरण करते है जो अभ्युदय-सुख अथवा सापेक्षिक हित प्रदान करता है। श्रावक त्रिरत्नो की, बुद्ध, सघ और धर्म की, शरण लेते है और मोक्षभागीय सामान्य शीलव्रतो का पालन करते है। वे उपासक कहे जाते है और ससार मे अनासक्त होकर रहते है तथा पुण्य सपादक कर्म करते हैं। पुण्य के फल मे उन्हे सुखमय जीवन मिलता है जिसमे निर्वाण के लिए अवशिष्ट शीलव्रतो को सम्पन्न करने तथा कठिन तप करने को उन्हे यथेष्ट बल प्राप्त होता है। इसके विपरीत बोधिसत्वो के शुभकर्म लोकोत्तर होते है, वे केवल निर्वाण के लिए सपादित किये जाते है और पुण्य या कोई कर्म नही उत्पन्न करते।

स्पष्ट है कि निर्वाण का सीधा मार्ग दूसरे मार्ग से अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और महत्व-शाली है, किन्तु महायान ने श्रावको के लिए जिनमे बलवीर्य का अभाव रहता है, क्रममुक्ति की संभावना को माना है। यह मानवता-प्रेम महायान का व्यापक लक्षण है।

बौद्धो की नैतिक साधना का समन्वय आर्य अष्टागिक मार्ग मे है जिसके सोपान हैं, सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक स्मृति तथा सम्यक् समाधि। प्रथम दो सोपानो को परमार्थ की भूमिका तथा साधना

का लक्ष्य समझना चाहिए, क्योकि वे प्रज्ञा का विधान करते है। तदनन्तर तीन सोपान शील-व्रत के अभ्यास है और अन्तिम तीन सोपान ध्यान या समाधि के सोपान है। साधना के आरभ मे ही त्रिरत्नो मे श्रद्धा अपेक्षित है, क्योकि वह सम्पूर्ण मार्ग की सफलता को निश्चित करती है। मार्ग पर चलने का सकल्प ठीक वह है जो कर्मबन्ध का अपच्छेद करता है।

महायान बोधिचित्त के महत्व पर बल देता है जो पारमार्थिक प्रगति मे पथ-प्रदर्शन करता है। इसके (बोधिचित्त के) चार आश्रम है—(१) पूर्व जन्म के कर्म से प्राप्त गोत्र (पारमार्थिक या गुरु-शिष्य-परम्परा) (२) बोधिचित्त का स्वय उत्पादन (३) सभी सत्वो के प्रति करुणा तथा (४) तथागत की अवस्था का ध्यान।

बोधिचित्त दो प्रकार का हो सकता है—बोधिप्रणिधिचित्त (बोधि की ओर अग्रसर होने का सकल्प) और बोधि प्रस्थानचित्त (बोधि पर तात्कालिक ध्यान का अभ्यास)। दूसरा मार्ग अपेक्षाकृत सीधा है, किन्तु कठिन होने के कारण बिरले ही इसका अनुसरण करते है।

निर्वाण के मार्ग मे प्रवेश करने के लिए प्रणिधान तथा सवर (शीलव्रत) अनिवार्य है। तत्पश्चात् प्रथम चार पारमिताओ का (अर्थात् दानपारमिता, शीलपारमिता, क्षान्तिपारमिता तथा वीर्यपारमिता का) सपादन अपेक्षित है। इन सबको शीलपारमिता के अन्तर्गत किया जा सकता है। ये तीन मूल दोषो को, मोह, राग और द्वेष को, दूर करती है और सद्गुणो को विकसित करती है। इनके अनन्तर ध्यानपारमिता आती है। इसका लक्ष्य विषय-वासना का उच्छेद है। इसके लिए चार प्रकार के ध्यान बताये जाते है। पहला ध्यान विशुद्ध नही है, क्योकि वह आस्वादन से सप्रयुक्त है। इसका रूप वितर्क और विचार का है। दूसरा ध्यान शुद्धक है। तीसरा ध्यान अनास्रव है। चौथा ध्यान स्कन्धो के बारे मे है और कर्मविपाक से उपलब्ध है। चारो ध्यानो के अपने-अपने चार आलबन है जो क्रमश अशुचिभावना (शरीर की अशुद्धता को सोचना), मैत्री (सभी सत्वो के प्रति प्रेम), आनापानस्मृति अर्थात् प्राणायाम तथा पाँच स्कन्धो के पुद्गलीय सघात है। सभी ध्यान रूपधातुक है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मै कह सकती हूँ कि निर्वाण-साधना के आन्तरिक तथा अनिवार्य अग शमथ और विपश्यना है। शमथ और विपश्यना दोनो एक दूसरे की अपेक्षा मे साथ-साथ चलते है। जब मन प्रगाढ ध्यान (शमथ) मे रहता है तब विपश्यना इसे सुप्ति से बचाती है, और जब विपश्यना विक्षेपो से आक्रान्त होती है तो शमथ मन को नियत्रित करता है और पुन विपश्यना को उत्पन्न करता है। शमथ मन की पूर्ण शान्त अवस्था या सुस्थिरता है। शमथ की पराकाष्ठा समाधि है। कुछ महायानी ग्रथो के अनुसार सभी प्रकार की समाधियॉ कौसिद्य, आलबन-विस्मरण, विक्षेप, औद्धत्य, अव्यायाम और व्यायाम—इन छ दोषो से अनुविद्ध है। ये दोष, श्रद्धा, छन्द, व्यायाम, प्रश्रब्धि, स्मृति, सप्रज्ञान, चिन्तना और उपेक्षा—इन आठ विपरीत क्रियाओ द्वारा दूर किये जा सकते है।

कौसिद्य को श्रद्धा, छन्द, व्यायाम और प्रश्रब्धि से जीता जा सकता है। आलबन विस्मरण को स्मृति से, विक्षेप और औद्धत्य को सप्रज्ञान से, अव्यायाम को चिन्तना से और व्यायाम को उपेक्षा से रोका जा सकता है।

ध्यान-मार्ग (समाधि) मे श्रद्धा रखने से पहले समाधि की कामना उत्पन्न होती है। तदनन्तर वीर्य होता है जो कायचित्त की कर्मण्यता लाता है। इससे कायचित्त की प्रश्रब्धि आती है और तब कौसिद्य का पूर्णतया उच्छेद हो जाता है।

स्पष्ट है कि स्मृति आलबन-विस्मरण को दूर करती है और सप्रज्ञान (ध्यान) विक्षेप तथा औद्धत्य को रोकता है। विक्षेप और औद्धत्य को जीतने के समय जो व्यायाम की कमी अनुभूत होती है उसे चिन्तना द्वारा जीता जाता है। जब विपश्यना शमथ मे उसके विचार के साथ घटती है तब समस्त व्यायाम को रोकने के लिए उपेक्षा आवश्यक है।

इस प्रकार मन (चित्त) की शिक्षा महत्वपूर्ण है। कहा जाता है कि जिसने मन को अपने वश मे कर लिया है उसके वश मे सभी धर्म है। विपश्यना अगोचर (पारमार्थिक) विचार है। यह प्रज्ञा पारमिता है, तथता के लक्षण की दृष्टि है। खण्डनात्मक विचार (शून्यता) के रूप मे विपश्यना के कई सोपान है—वितर्क या सावृतिक सत्य की गवेषणा, विचार या अद्वय-तत्त्व का परीक्षण, स्वलक्षणो का विवेक तथा परिकल्पो (चैतसिक कृतियो) की सबोधि।

विपश्यना भूतप्रत्यवेक्षा है। यह भूत तथता है क्योकि यह पुद्गल-नैरात्म्यवाद और धर्म नैरात्म्यवाद की संबोधि को उपपन्न करती है। यह अद्वय सबोधि (ज्ञान) है। यह विशुद्ध या सम्यक् सबोधि है। माध्यमिक मत से यह सभी धर्मो की प्रकृति (प्रकृतिर्धर्माणाम्) है। एक अर्थ मे विपश्यना विचार (गवेषणा) की प्रक्रिया और विचार का लक्ष्य दोनो है। विचार के लक्ष्य के रूप मे यह तर्कोर्ध्व (तर्कातीत) ज्ञान है और विकल्पो (प्रत्ययमूलक विचारणाओ) से मुक्त है। यह मात्र भूततथता है। गुण मे यह गभीर अप्रमेय और असख्येय है।

विपश्यना स्वत परमार्थ, परम मूल्य या परम श्रेय है। यह सर्वोत्कृष्ट पारमिता है। यही अन्य पारमिताओ की व्यवस्थापिका है और समस्त साधनमार्ग को प्रकाशित करती है।

शमथ और विपश्यना दोनो चार आर्यसत्यो के लक्षण को उनके सोलह रूपो मे व्यक्त करते है। ऐसा वे ज्ञानलोक के द्वारा करते है जो आकाश-आनन्त्य-समापत्ति, विज्ञान-आनन्त्य-आयतन-समापत्ति, अकिञ्चन-आयतन्-समापत्ति और नैव-सज्ञान-असज्ञान-आयतन-समापत्ति, इन चार आरूप्यधातुक समापत्तियो मे विशद करता है। इस प्रकार भाववर्ग (ससार का अन्त) लब्ध होता है और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

देहनिरोध से कर्म-विपाक के आभोग होने पर निरुपाधिशेष निर्वाण प्राप्त हो जाता है। मोक्ष कर्म और क्लेश का निरोध है। निर्वाण तथागत के रूप मे प्रज्ञा को प्राप्त करना है।

इस प्रकार समझने पर पारमार्थिक साधना तथता के खोजने के लिए पूर्णतया आत्म-शून्यता (नैरात्म्य) का यान है। विपश्यना यान के द्वारा साधक प्रत्येक दृष्टि से अपने को मुक्त करता है और अपनी आत्मभावना को दूर करता है। उसकी कोई अपनी दृष्टि नही होती है। उसे केवल अपने को सभी दृष्टियो से शून्य करना रहता है। उसे भूततथता के समक्ष मात्र तथता होना है, अन्तत. यह खोजना है कि न तो ज्ञाता सत्य है और न ज्ञेय, किन्तु मात्र स्वय-प्रज्ञा या तथता सत्य है।

सगमलाल पाण्डेय

साधु निश्चलदास : आधुनिक वेदान्त का जनक

हिन्दी दर्शन-साहित्य के विषय मे यह धारणा प्रचलित है कि यह नगण्य है, इसमे एक भी मौलिक दर्शन-ग्रथ नही है, अभी हाल से, लगभग १९४७ ई० से, कुछ लेखक हिन्दी मे दर्शन-ग्रथ लिख रहे है और पिछली शताब्दियो मे इस भाषा मे दर्शन-ग्रथो की रचना नही हुई। यह धारणा कितनी निर्मूल है, इसका पता इस बात से लगाया जा सकता है कि स्वामी विवेकानन्द ने साधु निश्चलदास (निधन सन् १८६३ ई०) के 'विचारसागर' के विषय मे कहा है कि "भारत मे जितना प्रभाव इस पुस्तक का है उतना पिछली तीन शताब्दियो मे किसी भी भाषा मे लिखी गयी दूसरी पुस्तक का नही है।"[1] १६वी शती के मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' और तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के पश्चात् यदि कोई महत्वपूर्ण और मौलिक ग्रथ भारत की किसी भाषा मे लिखा गया तो वह 'विचारसागर' ही है। यह ग्रथ खडी बोली हिन्दी पद्य तथा गद्य मे लिखा गया है। इसमे पारिभाषिक वेदान्त का केवल गहरा अध्ययन ही नही, प्रत्युत नयी दिशाओ मे उल्लेखयोग्य विकास भी दीख पडता है। इसकी मौलिकता इस बात से भी ऑकी जा सकती है कि इसके अनुवाद मराठी, बॅगला व अग्रेज़ी मे हो चुके है।[2]

किन्तु 'विचारसागर' साधारण जिज्ञासुओ के लिए ही लिखा गया है। विशिष्ट तथा प्रौढ जिज्ञासुओ के लिए इसके लेखक ने 'वृत्तिप्रभाकर' नामक ग्रथ की रचना की है। इसमे खडी बोली हिन्दी गद्य मे अद्वैत वैदान्त की गूढ समस्याओ का समाधानपूर्वक विवेचन किया गया है। सबसे अधिक उल्लेखयोग्य बात इसमे यह है कि एक ओर तो भामतीकार वाचस्पति मिश्र, सक्षेपशरीरककार सर्वज्ञात्समुनि, पचदशीकार विद्यारण्य स्वामी, न्यायमकरन्दकार आनन्दबोध, वेदान्त परिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि मौलिक ग्रथकारो और अद्वैत प्रस्थान-कारो के कतिपय सिद्धान्तो को अद्वैत परम्परा से विसगत दिखाया गया है और दूसरी ओर नव्य-न्याय के प्रमुख प्रवर्तको और आचार्यो, गगेश उपाध्याय, रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य के कुछ सिद्धान्तों का अद्वैत-सम्मत खडन किया गया है। इसमे अनिर्वचनीय ख्याति का सयु-क्तिक और सविस्तर निरूपण है।

डायसन और स्वामी विवेकानन्द से काफी पहले निश्चलदास ने अद्वैत वेदान्त की सयुक्तिक व्याख्या आधुनिक भाषा और शैली मे की है। आधुनिक वेदान्त की समस्त प्रवृत्तियो का सूत्र-

---

१. विवेकानन्द, कम्प्लीट वर्कस, भा० ४, पृ० २८१।

२. परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृ० ४३५।

और जिस प्रकार शकराचार्य ने मनुष्यमात्र को तत्वज्ञान का अधिकार दिया था उसी प्रकार उसने भी दिया। उसने भी माना कि वेदाध्ययन मे शूद्रो का अधिकार नही है। पर यहाँ वेदो का रूढिगत अर्थ है। वेदो का जो अर्थ उसने निश्चित किया है उसमे मनुष्यमात्र का अधिकार है। केवल सस्कृत भाषा मे व्यक्त वेदो के अध्ययन मे उन्ही लोगो को अधिकार है जिनका उनकी विधि से उपनयन सस्कार हुआ है, और स्पष्ट है कि इन वेदो के अनुसार शूद्र का उपनयन सस्कार नही होता। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इन वेदो का अध्ययन तत्वज्ञान का हेतु है। 'छन्दोग्य उपनिषद्' के अनुसार नारद को चारो वेदो के अध्ययन के अनन्तर भी तत्वज्ञान नही हुआ। अतएव तत्वज्ञान का हेतु वेदाध्ययन नही है। अद्वैतपरक वाक्य का बोध ही तत्वज्ञान का हेतु है और इसमे मनुष्यमात्र का अधिकार है। इस प्रकार निश्चलदास ने आधुनिक वेदान्त को जनतत्र और समाजवाद या साम्यवाद के अनुयायियो की माँगो के अनुकूल कर दिया है। जेसे भक्तो ने नारा लगाया कि "हरि को भजे सो हरि का होई" अर्थात् भक्ति मे सबका समान अधिकार है, वैसे उसने भी घोषणा की कि जो जिज्ञासु है उसे वेदान्त का अधिकार है। जिज्ञासा मनुष्यमात्र की प्रवृत्ति है और इस कारण वेदान्त मे भी मनुष्यमात्र का अधिकार हे।

§३ निश्चलदास ने तत्वज्ञान की तीन विधियाँ बतलाई। पहली विधि तत्वदृष्टि, दूसरी विधि अदृष्टि और तीसरी विधि तर्कदृष्टि है। यद्यपि उसने इसको रूपक द्वारा मूर्तिमान बनाकर क्रमश उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अधिकारी माना है, तथापि उसका तात्पर्य यह है कि ये तत्वज्ञान की तीन वैकल्पिक विधियाँ हे। इनमे से किसी का अवलम्बन लेकर आत्म-स्वरूप तत्वज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। तत्वदृष्टि विधि अद्वैत तत्ववाद का ज्ञान है। ब्रह्म, माया, जीव और ईश्वर तथा इनके सबध को समझकर ब्रह्म का साक्षात्कार करना तत्वदृष्टि विधि है। 'विचारसागर' के चतुर्थ तरग मे इमका सविस्तर वर्णन है। पाश्चात्य दर्शन की भाषा मे इसे तत्वदर्शन-प्रणाली (metaphysical method) कहा जा सकता है। यही ज्ञानमार्ग है। इसके अनुसार आत्मा के दो स्वरूप है, एक सामान्य रूप तथा दूसरा विशेष रूप। सद्रूप सामान्य रूप है और असगता, कूटस्थता, नित्यमुक्तता, चिद्रूपता, आनन्द आदि विशेष रूप हैं।[९] यद्यपि आत्मा सामान्य-विशेष के द्वद्व से मुक्त है तथापि प्रतीति के अनुसार उसके सामान्य और विशेष रूप कहे जाते है। "सर्व कू जो प्रतीति होवे है आत्मा का सत् रूप, सो तो सामान्य रूप है। और केवल ज्ञानी कू जो प्रतीति होवे चेतन, आनन्दादिक, सो विशेष रूप है।[१०] सामान्य रूप अज्ञान का विरोधी नही है, केवल विशेष रूप अज्ञान का विरोधी है। "सामान्य रूप की प्रतीति सर्व कू अविद्याकाल मे भी होवे है, और चेतन आनन्द रूप आत्मा है', यह प्रतीति सर्व कू अविद्याकाल मे भी होवे है। अविद्याकाल मे चेतन, आनन्द, मुक्तता, शुद्धता भी है, परन्तु प्रतीति होवे नही, यातैं अनहुए के समान है। इस अभिप्राय ते चैतन्य आनन्दादिक न्यूनकालवृत्ति कहिए है और सद्रूप अधिककालवृत्ति कहिए है। इस रीति से सद्रूप का और चेतन आनन्दा-

---

९. विचारसागर, पृ० ६८, २१५। १० वही, पृ० ६७।

दिको का सामान्य-विशेष भाव नही भी है, परन्तु अल्पकाल और अधिक काल मे प्रतीति होने तै सामान्य-विशेष भाव की न्याई है। या कारण तै आत्मा का सत्रूप, सामान्य अश कहिए है और चेतन आनन्दादिक विशेष अश कहिए हे।"[११] आत्मा के सामान्य रूप का ज्ञान परोक्ष है और विशेष रूप का ज्ञान प्रत्यक्ष या अपरोक्ष। प्रत्यक्ष मे यह नियम नही है कि इसमे इन्द्रिय-सबध मे ही ज्ञान होना चाहिए। "विषय ते वृत्ति का सबध होय के विषयाकार वृत्ति जहा होवे तहा प्रत्यक्ष ज्ञान कहिए है। सो विषय ते वृत्ति का सबध कहू इन्द्रिय द्वारा होवे है, कहू शब्द से होए है जैसे 'दशम तू हे' इस शब्द से।"[१२] "अह ब्रह्मास्मि या वृत्ति का विषय जो ब्रह्म (आत्मा) नामे सबध है, याते ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष सभव है।"[१३]

यहाँ वेदान्त की प्रक्रिया बहुत कुछ अग्रेज दार्शनिक एफ० एच० ब्रैडले की विधि से मेल खाती है। ब्रैडले ने भी निरपेक्ष सत् (ब्रह्म) के सामान्य ज्ञान को सभी वृत्तियो (ideas) का विषय माना है और उसके विशेष रूप मे सत्ता तथा चेतनता और आनन्द आदि की एकता पर बल देते हुए अपरोक्ष ज्ञान की कल्पना की है।[१४] पर जहाँ वेदान्त का अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान से पूर्णतया भिन्न है वहाँ ब्रैडले ने अपने अपरोक्ष ज्ञान को इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विकास माना है। यह उल्लेखयोग्य है कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और निरपेक्ष सत् के अपरोक्ष ज्ञान के विरोध को न समझने के कारण ही ब्रैडले के दर्शन मे असगतियाँ आ गयी है। यदि ब्रैडले के दर्शन से यह दोष दूर कर दिया जाय तो उसकी विधि निश्चलदास की तत्वदृष्टि-विधि बन जायगी।

अदृष्टि-विधि का सविस्तर वर्णन 'विचारसागर' के पचम तरग मे है। यह उपासना-मार्ग है। प्रणव-उपासना या ओकार-उपासना इसमे विहित है। इसका प्रधान लक्ष्य लय-चिन्तन या प्रपच-विलय है। इसमे पहले हिरण्यगर्भ (ईश्वर) की प्राप्ति होती है और तत्पश्चात् ब्रह्म या आत्मा का अभेद ज्ञान होता है। पाश्चात्य दर्शन की भाषा मे इस विधि को रहस्यात्मक प्रणाली (mystical method) कहा जा सकता है।

तर्कदृष्टि-विधि का सविस्तर वर्णन 'विचारसागर' के षष्ठ तरग मे है। पाश्चात्य दर्शन की भाषा मे यह तर्कसम्मत प्रणाली (logical method) है। इसे सशयात्मक (sceptical) या काण्ट की भाषा मे समीक्षात्मक (critical) विधि भी कहा जा सकता है। इस विधि मे माना जाता है कि वेद, गुरु, शिष्य और उपदेश सभी मिथ्या हैं। परन्तु चूँकि जगत् भी मिथ्या है और समकोटिक वस्तुएँ ही परस्पर बाधक-साधक होती है, इसलिए मिथ्या जगत् की निवृत्ति मिथ्या गुरु, मिथ्या वेद, मिथ्या उपदेश और मिथ्या शिप्य से ही हो सकती है। परन्तु इन सब मिथ्या वस्तुओ का साक्षी चेतन नित्यसिद्ध है, क्योकि उसके न सिद्ध होने पर मिथ्यातत्व का भी ज्ञान न होने से वह असिद्ध हो जायगा। यह चेतन आत्मा सदा एकरस है। और सब कुछ इसी का साक्षिभास्य है। सभी वस्तुओ का अस्तित्व दृष्टिकाल मे

---

११. वही, पृ० ६७-६८। १२. वही, पृ० १७२। १३. वही, पृ० १७३।
१४. एफ० एच० ब्रैल्डले: अपीरेंस एण्ड रियालिटी, अध्याय १३-१४।

ही है, उसके पूर्व और अनन्तर नही। अतएव इस विधि मे दृष्टिसृष्टिवाद की मान्यता है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम एकजीववाद है।

इस विधि मे गुरु से सुने हुए अथवा ग्रथो मे पढे हुए आत्मतत्व का बोध मन्द रहता है। उस पर अनेक सशय उठते है जिनका परिणाम दृष्टिसृष्टिवाद और एकजीववाद है। इन सशयो की निवृत्ति के हेतु मनन करना पडता है, जिसके दो व्यापार है: तत्पदार्थशोधन और त्वपदार्थ-शोधन। मनन का निर्देशन इस प्रकार 'तत्वमसि' का सिद्धान्त करता है। इसके फलस्वरूप 'अह ब्रह्मास्मि' की अपरोक्ष वृत्ति होती है।

इन तीन विधियो का विकल्प मानने से निश्चलदास ने अद्वैतवाद के तीन वैकल्पिक रूपो की स्थापना की। कदाचित् इन तीनो मे सब से अधिक प्रभाव आधुनिक युग मे तर्कदृष्टि-विधि का हुआ है।

§ ४ तर्कदृष्टि से निश्चलदास ने अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन चार प्रमाणो का तत्वज्ञान मे सुन्दर उपयोग दिखाया है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार श्रुत्यनुसारी तर्क या अनुमान ही ब्रह्मनिश्चय का हेतु है, स्वतत्र अनुमान नही। इस सिद्धान्त को मानते हुए भी निश्चलदास ने अनुमान को अधिक महत्व दिया। जैसा पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म के सामान्य रूप का ज्ञान सभी को श्रुति-निरपेक्ष अनुमान से हो सकता है। फिर, निश्चलदास के अनुसार "वेदान्त-वाक्यनतै अद्वितीय ब्रह्म का जो निश्चय सिद्ध हुआ है, तिसकी सभावना मात्र का हेतु अनुमान प्रमाण है, स्वतत्र अनुमान ब्रह्म निश्चय का हेतु नही।"[१५] इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रुत्यनुसारी अनुमान से ही ब्रह्म का निश्चय होता है, वैसे स्वतत्र अनुमान से यद्यपि ब्रह्म की सभावना मात्र का ज्ञान हो सकता है, किन्तु ब्रह्म निश्चय नही हो सकता। यहाँ निश्चलदास ने बडे महत्व की बात कही है। अनुमान से किसी वस्तु की सभावना मात्र का ही ज्ञान हो सकता है, उसके निश्चय का नही। फिर अनुमान से उस वस्तु का केवल सामान्य रूप ही विदित हो सकता है, विशेष रूप नही। अतएव यदि निश्चलदास ने स्वतत्र अनुमान द्वारा ब्रह्म के सामान्य रूप का ज्ञान और उसकी सभावना मात्र का ज्ञान होना सिद्ध किया है तो वह अनुमान-प्रमाण की स्वरूपता और विषय-क्षेत्र के पूर्ण अनुकूल है। अनुमान-प्रमाण को माननेवाला इससे अधिक नही चाहता। इस प्रकार जहाँ निश्चलदास ने श्रुत्यनुसारी तर्क की महत्ता को अक्षुण्ण रखा वहाँ उसने स्वतत्र तर्क की मर्यादा का भी पूर्ण निर्वाह किया। आधुनिक वेदान्त मे उसकी प्रणाली द्वारा ही युक्ति का प्राबल्य है। ब्रह्मनिश्चय मे युक्ति का जैसा उपयोग होता है उसका भी निरूपण निश्चलदास ने अच्छे ढग से किया है। जिन परार्थानुमानो का उपयोग ब्रह्म-निश्चय मे होता है उनमे से निम्नलिखित दो का महत्व विशेष रूप से है—

(क) "जीवो ब्रह्माभिन्न चेतनत्वात्। यत्र यत्र चेतनत्व तत्र तत्र ब्रह्माभेद यथा ब्रह्मणि।"[१६] अर्थात् जीव ब्रह्म से अभिन्न है क्योकि वह चेतन है। जो वस्तु चेतन है वह ब्रह्म से अभिन्न है जैसे स्वय ब्रह्म ही। इस तर्क को हम यो भी रख सकते है—जीव ब्रह्म ही है, क्योकि

---

१५ वृत्तिप्रभाकर, पृ० ४४। १६. वही, पृ० ४४।

जीव का अस्तित्व और चेतनत्व वैसे ही अभिन्न है जैसे ब्रह्म का अस्तित्व और चेतनत्व। जिसका चेतनत्व और अस्तित्व अभिन्न हो वही ब्रह्म है।

(ख) "व्यावहारिक प्रपचो मिथ्या। ज्ञाननिवर्त्यत्वात्। यत्र यत्र ज्ञाननिवर्त्यत्व तत्र तत्र मिथ्यात्वम् यथा शुक्तिरजतादौ।"[१७] अर्थात् जगत् मिथ्या है, क्योकि ज्ञान द्वारा वह निवर्त्य है (हट जाता है)। जो ज्ञान से निवर्त्य है वह मिथ्या है—जैसे शुक्ति मे रजत।

उपमान का ब्रह्म निश्चय मे यौ उपयोग है—

(क) "आत्मपद का अर्थ कैसा है? या प्रश्न का 'देहादिवैधर्म्यवान्' आत्मा है, ऐसा गुरु के उत्तर से अनित्य, अशुचि, दु खस्वरूप देहादिकन से विधर्मा नित्य शुद्ध आनन्दरूप आत्मपद का वाच्य है, ऐसा एकान्तदेश मे विवेचनकाल मे मन का आत्मा सै सयोग होय कै उपमिति ज्ञान होये है।"[१८] और

(ख) "प्रपच मै ब्रह्म की विधर्मता का ज्ञान उपमान है औ प्रपच तै विधर्म ब्रह्म है, यह उपमान प्रमाण का फल उपमिति ज्ञान है।"[१९]

अर्थापत्ति का ब्रह्म निश्चय मे यो उपयोग है—

(क) 'तरति शोकमात्मवित्।' अर्थात् आत्मवित् शोक को पार करता है। "इहाँ ज्ञान ते शोक की निवृत्ति श्रुत है। ताकी शोकमिथ्यात्व बिना अनुपपत्ति है। याते ज्ञानते शोक की निवृत्ति का अनुपपत्तिसे बधमिथ्यात्व की कल्पना होवे है।"[२०]

(ख) महावाक्यो मे जीव-ब्रह्म का अभेद सुना जाता है। "सो ओपाधिक भेद होवे तो सभवे। स्वरूप से जीवब्रह्म का भेद होवे तो सभवे नही। याते जीव ब्रह्म के अभेद की अनुपपत्ति से भेद का ओपाधिकत्वज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणजन्य है।"[२१]

अनुपलब्धि का ब्रह्म-निश्चय मे उपयोग यह जानने मे है कि प्रपच पारमार्थिक नही है। "जो पारमार्थिकत्वविशिष्ट प्रपंच होता तो जैसे प्रपच की स्वरूप तें उपलब्धि होवे तैसे पारमार्थिक प्रपच की भी उपलब्धि होती ओ स्वरूप से तो प्रपंच की उपलब्धि होवे है, परमार्थिकरूप ते प्रपच की उपलब्धि होवे नही। याते पारमार्थिक विशिष्ट प्रपच का अभाव है। इस रीति से प्रपंचाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि से होवे है।"[२२]

अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का इस प्रकार ब्रह्म-निश्चय मे उपयोग दिखाने से निश्चलदास ने ब्रह्मनिश्चय के हेतु मे भी अनुमान को महत्व दिया।

शकरोत्तर युग के अधिकाश सस्कृत के अद्वैत ग्रथो मे तत्वदृष्टि और तर्कदृष्टि की अपेक्षा अदृष्टि की ही अधिक मान्यता है। इससे उनमे सगुण-उपासना ही स्वीकृत है। यद्यपि अद्वैतसम्मत सगुण-उपासना मे साम्प्रदायिकता की गन्ध भी नही है तथापि प्राय सभी अद्वैतियो ने सगुण-उपासना मे शैव या वैष्णव सम्प्रदाय का समर्थन किया है। आज भी अद्वैत-सम्प्रदाय के अनुयायी सन्यासी व्यवहार मे शैव या वैष्णव पाये जाते हैं। अप्पयदीक्षित-जैसे अद्वैतवादी भी साम्प्रदायिक थे। उनकी आलोचना

---

१७. वही, पृ० ४४। १८. वही, पृ० ९५। १९. वही, पृ० १०२
२०. वही, पृ० १०८। २१. वही, पृ० १०८। २२. वही, पृ० १९६।

करते हुए निश्चलदास ने कहा कि 'महाभारत' के टीकाकार नीलकण्ठ का सिद्धान्त-वचन न समझने के कारण ही उन्होने शिव को विष्णु से बडा ठहराया है—"भारत तात्पर्य नहि देख्यो। जो अप्पयदीक्षित बुध लेख्यो।"[२३] साम्प्रदायिक लोग श्याल-सारमेय न्याय से परस्पर कलह करते है।[२४] वास्तव मे विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, देवी आदि मे प्रत्येक के दो-दो अर्थ होते है, कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म। प्रत्येक सम्प्रदाय मे उस सम्प्रदाय का इष्टदेव कारण-ब्रह्म के अर्थ मे लिया जाता है और दूसरे सम्प्रदायो के इष्टदेव कार्य-ब्रह्म के अर्थ मे लिये जाते है। इस प्रकार प्रत्येक सम्प्रदाय मे वस्तुत कारण-ब्रह्म की प्रशसा और कार्य-ब्रह्म की निन्दा है। उदाहरण के लिए शैवमत मे शिव कारण-ब्रह्म है और विष्णु कार्य-ब्रह्म, अतएव यहाँ शिव की प्रशसा और विष्णु की निन्दा है। परन्तु वैष्णव मत मे विष्णु कारण-ब्रह्म है और शिव कार्य-ब्रह्म, अतएव वहाँ विष्णु की प्रशसा और शिव की निन्दा है। कारण-ब्रह्म के रूप मे विष्णु, शिव इत्यादि की कही भी निन्दा नही है और न कार्य-ब्रह्म के रूप मे उनकी कही प्रशसा है। यह है तर्कदृष्टि से साम्प्रदायिक मतो का समन्वय जो अद्वैत वेदान्त का ही परिनिष्ठित मत है। निश्चलदास ने इसी दृष्टि का समर्थन किया है।[२५] आधुनिक वेदान्त मे यही वेदान्त-धर्म कहा जाता है। इसी के अन्तर्गत गाधी जी ने सर्वधर्म-समन्वय किया। वास्तव मे यही विश्वधर्म है। यही वह सम्प्रदाय है जो जरा भी साम्प्रदायिक नही है।

§ ६ तर्कदृष्टि से मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थानभेद की रीति से निश्चलदास ने समस्त शास्त्रों और दर्शनो का अद्वैतवाद मे समन्वय किया है जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित सिद्धान्त है—

(क) सकलशास्त्रन का परम प्रयोजन मोक्ष है।

(ख) मोक्ष का साधन ज्ञान है।

(ग) सो ज्ञान अद्वय निश्चय रूप है।

(घ) भेद-निश्चय यथार्थ नही।

(ङ) सारे शास्त्र साक्षात् अथवा परम्परा तें ब्रह्मज्ञान के हेतु है।[२६]

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सभी शास्त्रो का चूडामणि है। अद्वैत वेदान्त के प्रस्थानो का भी निश्चलदास ने इस प्रकार से समन्वय किया है—

(क) "आत्मस्वरूपे बध का नाशरूप वा परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष वेदान्त श्रवण का फल नही। वेदान्त श्रवण ते पूर्व ही आत्मा मैं बन्ध का लेश नही तथापि अत्यन्त असत् बन्ध की प्रतीति होवे है। यातें भ्रमतें ही वेदान्तश्रवण मे प्रवृत्ति होवे है। जाकू बन्धभ्रम नही होवे ताकी प्रवृत्ति होवे नही। सकल अद्वैतशास्त्र का इस पक्ष मे ही तात्पर्य है।"[२७]

(ख) "सर्वमत मे ईश्वर एक है, सर्वज्ञ है, नित्यमुक्त है। ईश्वर मे आवरण का अगीकार

---

२३. विचारसागर, पृ० ४५२। २४. वही, पृ० ४६८-६९। २५. वही, पृ० ४६३-६९। २६. वही, पृ० ४३१। २७ वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३६३।

किसी अद्वैतवाद के ग्रथ मे नही। जो ईश्वर मे आवरण कहे, सो वेदान्त सम्प्रदायते बहिर्भूत है।"[२८] इस प्रकार ईश्वर मे माया की केवल विपेक्षशक्ति है, आवरणशक्ति और मलशक्ति नही है।

(ग) अवच्छेदवाद, प्रतिविम्बवाद और आभासवाद मे निश्चलदास ने अवच्छेदवाद का खडन किया है और यदि 'विचारसागर' मे आभासवाद को अद्वैतवाद का मुख्य सिद्धान्त बताया है,[२९] तो 'वृत्तिप्रभाकर' मे प्रतिबिम्बवाद को।[३०] इससे लगता है कि वह आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद दोनो मे से किसी को भी मान सकता है। उसका मत है कि "प्रतिबिम्बवाद मे अथवा आभासवाद मे आग्रह नही, चेतन मे ससारधर्म का सभव नही और जीव-ईश का परस्पर भेद नही इस अर्थ के बोध के अर्थ अनेक रीति कही है, जिस पक्ष मे असग ब्रह्मात्मबोध होवे सोई पक्ष आदरणीय है।"[३१] यही बात 'विचारसागर' मे भी कही गयी है।[३२] पर लगता है कि वह प्रतिविम्बवाद को उपर्युक्त तीनो वादो मे अधिक अद्वैतसम्मत समझता है।

(घ) दृष्टिसृष्टिवाद ही सकल अद्वैतशास्त्र का अभिमत है।[३३] तथापि सृष्टिदृष्टिवाद मे अद्वैतवाद की हानि नही है।[३४]

§७ निश्चलदास ने जीव-ब्रह्म और जगत्-ब्रह्म के सबधो पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है। इस समय अधिकाश वेदान्ती दोनो सबधो मे भेद नही करते और दोनो को तादात्म्य सबध कहते है। पर यह अद्वैतवाद के अनुकूल नही है। जीव-ब्रह्म मे अभेद समानाधिकरण या मुख्यसमानाधिकरण है। जगत्-ब्रह्म मे बाध-समानाधिकरण है।[३५] यह विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थान का मत है। वार्तिकप्रस्थान मे आभासवाद की रीति से जीव-ब्रह्म मे भी बाध-समानाधिकरण माना जाता है। सभवत इसी कारण निश्चलदास ने प्रतिबिम्बवाद को आभासवाद से अधिक अद्वैत-सम्मत ठहराया है। लगता है कि आभासवाद की रीति से जीव-ब्रह्म का बाध-समानाधिकरण अद्वैतवाद का प्रौढिवाद है। वस्तुत जीव-ब्रह्म मे अभेद सबध है और जगत्-ब्रह्म मे तादात्म्य या अनन्यत्व। तादात्म्य सबध जीव-ब्रह्म का सबध नही हो सकता, क्योकि वह ज्ञान और ज्ञेय का सबध है और "भेद और अभेद से विलक्षण अनिर्वचनीय रूप है।"[३६] शकराचार्य के शब्दो मे "यद्व्यतिरेकेण यस्य अग्रहणम् तत्तस्य आत्मत्वम् (तादात्म्यम्)", अर्थात् जिसके बिना जिसका ज्ञान न हो, उन दोनो का तादात्म्य सबध है। जीव तो द्रष्टा या साक्षी है। जगत् दृश्य या साक्षिभास्य है। ब्रह्म जीव का साक्षात् उपादान कारण है, किन्तु जगत् का विवर्त कारण है, क्योकि जगत् का साक्षात् उपादान कारण माया है।

इस प्रकार निश्चलदास ने अद्वैत वेदान्त का तलस्पर्शी अनुशीलन करके सारग्राही दृष्टि दी है। उसने नव्यन्याय और अद्वैतवेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। ख्याति-वाद और प्रामाण्यवाद के विवेचन मे उसने तत्सबधित अन्य भारतीय दर्शनो

---

२८ वही, पृ० ३६३। २९ विचारसागर, पृ० ३९५। ३० वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३६६। ३१. वही, पृ० ३६६। ३२. विचारसागर पृ० ३९५। ३३. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३९४, विचारसागर, पृ० २८६। ३४. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३९४। ३५. वृत्तिप्रभाकर, पृ० ३४९-५१। ३६. विचार सागर, पृ० ३८५।

की भी मीमासा की है। अन्त मे उसने अद्वैत मतो की ही तर्कसम्मतता का प्रतिपादन किया है।

'विचारसागर' और 'वृत्तिप्रभाकर' को उसने सस्कृत मे न लिखकर हिन्दी मे लिखा। यदि वह चाहता तो सस्कृत मे लिख सकता था, क्योकि उसका सस्कृत-ज्ञान परिपक्व था और उसने कठोपनिषद् की एक टीका सस्कृत मे भी लिखी है। पर वैसा करने पर उसके ग्रथो का महत्व अधिक न होता, क्योकि सस्कृत मे दर्शन पढकर उसे हिन्दी मे व्यक्त करने से उसके विचारो की स्पष्टता और मौलिकता बढी है और उसे वेदान्त के वाह्य रूप तथा आन्तरिक रूप को पहचानने मे सहायता मिली है। फिर जो लोग सस्कृत नही जानते उन्हे भी अद्वैतवाद का प्रमाणिक ज्ञान हो, इस शुभ उद्देश्य से उसने इन ग्रथो की रचना हिन्दी मे की है। अपने उद्देश्य मे वह सर्वथा सफल हुआ है। इन ग्रथो के कारण हिन्दी-क्षेत्र मे अद्वैतवाद का प्रचार बढा है और इसी कारण स्वामी विवेकानन्द ने (कम्प्लीट वर्क्स, भाग १, पृ० २८२) कहा कि "जहॉ जहॉ हिन्दी बोली जाती है वहॉ निम्नवर्ग के लोग भी बंगाल के उच्च वर्ग के अधिकाश लोगो की अपेक्षा अधिक वेदान्त को समझते है।"

आधुनिक भाषा मे सर्वप्रथम अद्वैतवाद का प्रामाणिक और सारग्राही अध्ययन, सयुक्तिक और अधिकारपूर्ण विवेचन तथा असाम्प्रदायिक और जनतत्रीय रूप प्रस्तुत करने के कारण निश्चलदास उचित अर्थ मे आधुनिक वेदान्त का जनक है। जैसे अद्वैतवाद सर्वप्रथम उत्तरी भारत मे उपजा और कालान्तर मे उसका अखिल भारतीय प्रभाव हुआ, उसी प्रकार इसका आधुनिक सस्करण भी सर्वप्रथम निश्चलदास की कृतियो के रूप मे उत्तरी भारत मे ही उतरा और कालान्तर मे समस्त भारत और विश्व मे फैला।



वासुदेवशरण अग्रवाल

कुछ मध्यकालीन अपभ्रंश नाम

लगभग राष्ट्रकूट युग (नवी शती) से भारतीय पुरुष नाम अपभ्रश भाषा के साँचे मे ढल गये। इस प्रकार के अनेक नाम उस युग के शिलालेखो और जैन-पुस्तक-प्रशस्तियो मे मिलते है। उनमे अपभ्रश भाषा की मूल्यवान सामग्री निहित है। अनुसधान की दृष्टि से उनका अध्ययन आवश्यक है। यहाँ उस प्रकार के कुछ नामो की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव का निजी पुकारने का नाम **धोर** हुआ (ए० इ० भाग १८, सजन प्लेट)। 'राधभट' का **राहड**, वाग्भट का **बाहड**, त्यामभट का **चाहड** रूप हो गया। विष्णुवर्धन (घोर समुद्र के होयसल राजा—१११५ ई०) को **बिट्टिदेव** या **बिट्टिग** कहा गया है। पश्चिमी चालुक्य सम्राट सत्याश्रय (९९७—१००८ ई०) को **सत्तिग**, कर्कराज को **कक्क** और गोविन्द को **गोयिन्द** कहा गया है। गोविन्द का रूप **गोज्जिग** भी मिलता है (ए० इ० ६, १७७)। आम्रराज का **ऑबड़**, ककुत्स्थ का **कक्कुक** (भडारकर लेख सूची १६६३), (गुर्जर प्रतिहार नरेश) निर्भयराज का **निम्भर** (जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० ६५) सुभटसिह का **सुहडसीह**, श्रद्धासिह का **सादल**, **साढाक, या साढू**, शालिक का **सालिग**, यशोराज का **जासल** आशराज का **आसल** रूप मिलता है। विश्वल देव को **बीसल** या **बीसल** कहा गया है। विग्रहराज या विग्रहपालदेव के लिए भी **बीसलदेव** रूप आता है। णकारान्त नामो का भी एक गुच्छा है, जैसे प्रह्लादन का **पाल्हण**, प्रह्लादनपुर का **पाल्हणपुर** (वर्तमान पालनपुर), त्रिभुवन का **तिहुण**, आह्लादन का **आल्हण** स्पष्ट है। पर **केल्हण** सम्भवत केलिसिह का रूप था (भडार० ५७९)। हेमचन्द्र व्याकरण मे 'केलायइ' का अर्थ 'सँवारना' है। **केल्हा** (स्त्री नाम) का अर्थ 'सँवारी हुई' हो सकता है। **कीला** नववधू के लिए देशी शब्द था (देशीनाममाला २–२३)। उससे सबधित **कील्हणदेवी** नाम हो सकता है। **साल्हण** का स० रूप 'श्लक्ष्ण' सभव है। 'सल्लक्षण' से भी **सल्हण** या 'श्लाघ्' धातु से **सलह** हो सकता है। **बिल्हण** नाम प्रसिद्ध था। देशी **बीलण** का अर्थ 'स्निग्ध' या 'मसृण' था, अथवा **बील्ह** का अर्थ 'श्वेत' भी था। **उल्हण** का सबध 'उल्लण' (आर्द्रकरण, पाइअसद्दमहण्णवो, २१३) से या 'उल्लअण' (- समर्पण) से सभव है। **कल्हण** कल्ल, कल्य, कल्याण का विक्षिप्त रूप था। **लाल्हण देवी** नाम लालन से था और **मल्हना** (= विलासवती) का सबध देशी 'मल्हण' (लीला) से था। अपभ्रश में लीलायमान के लिए '**मल्हंत**' आता है। **गोल्हण, द्रूल्हण, स्त्रल्हण** नाम रूप भी आये है, पर उनका मूल स्पष्ट नही। कुछ नकारान्त नाम भी ध्यान देने योग्य है, जैसे **सन्नामल** स० 'सज्ञा', प्रा० अप० 'सण्णा' से, **मन्नू** स० 'मनोज्ञ' से, **बिन्नू** स० 'विज्ञ' से, **सिब्बन** स० 'सर्वज्ञ' प्रा० 'सव्वण्णू'

(त्रिविक्रम १-२-१७), 'सब्बन' से हो सकते है। **सन्न** का मूल 'श्लक्ष्ण' (प्रा० सण्ह) या 'सूक्ष्म' (प्रा० सण्ह, त्रिविक्रम १-२-६६) भी सभव है। **नानक** स० 'ज्ञानदेव >प्रा० 'नाणदेव' से निकला है।

स० 'स्नेहालु' से प्रा० 'णेहालू' और बोलचाल मे **नेहाल** या **निहाल** बनता है। गॉवो मे **कन्नू** नाम आज भी चलता है। उसका मूल स० 'कृतज्ञ' होना चाहिए। त्रिविक्रम (१-२-१०) ने **कअण्णू** रूप दिया है। 'सेतुबध' मे भी 'कृतज्ञ' के लिए **कअण्णुअ** आया है। मध्यकाल मे **सोमल** नाम प्राय मिलता है जिसका मूल प्रा० 'सोअमल्ल' या अप० 'सोमाल' या स० 'सुकुमार' था। **नीधा** 'स्निग्ध'>'निद्ध' से, **मूधा** स० 'मुग्ध'>'मुद्ध' (त्रिविक्रम १-४-३४) से बना। **पन्नालाल** मे 'पन्ना' प्रा० 'पण्णअ' या स० 'पर्णक' से तो स्पष्ट ही है, पर स० 'प्रज्ञा', प्रा० 'पण्णा' से भी 'पन्ना' बन सकता है। स० 'क्षेमगुप्त' से 'क्षीमाक' (प्रशस्ति सग्रह पृ० २) और उससे **खीमाक**, **खीमा** नाम बनते थे। 'पृथुल' से **पिहुल**, 'वृन्द' से **बिन्दा**, 'वृद्ध' से **बीधा** या **बीदा** बनता था। चदेल नरेश विद्याधर को **बीदा** और **बिज्जाहर** या **बीजड** भी कहा जाता था। चदेल राजा **धग** के नाम का अर्थ था 'काला भौरा' (देशी नाम-माला ५-५७)। ऐसे ही **गड** का अर्थ था 'वीर' या 'अरण्य' (देशी० २-९९)। **गडासिह** मे पिछला अर्थ ही सगत बैठता है। कृष्ण तृतीय के उत्तराधिकारी राजा को **कोट्टिग, खोट्टिग, खोटिक** कहा गया है (भडारकर सूची १३३)। उसका मूल 'कोट्टिग'>'कोट्टपाल' होना चाहिए। **आभू** नाम भी मिलता हैं जो स० 'अद्भुत< प्रा० 'अब्भुअ' का रूप था (अपभ्रश काव्यत्रयी, पृ० ७७—अद्भुत आभू इति प्रसिद्ध)। स० 'धन्य' का अपभश मे **धन्ना** होता था। **धन्ना सेठ** प्रसिद्ध नाम था। लाला **सुक्कीमल** नाम भी लोक मे चालू है। स० 'सुकृती' से अपभ्रश मे 'सुक्कइ' होता था और 'सुकृत' से 'सुक्कउ' (अपभ्रश पाठावली, पृ० १०६)। 'प्रीति' से **पीइ** 'भगवती' से **भयवइ** और 'भूति' से **भूइ** स्त्री नाम थे। बूलचन्द मे 'बूल' स० 'विपुल'>प्रा० 'विउल'>अप० 'बिउल' का रूप था। **कल्लू** या **कलुआ** नाम भी प्रचलित है इसका मूल 'कल्य' होना चाहिए। कल्याणसिह, कल्याणदेव, कल्याणराज आदि सब को पुकारने मे **कलुआ** कहा जा सकता था।

प्रताप का **पाताक>पाता** बनता था (जैन-पुस्तक-प्रशस्ति-सग्रह, पृ० ४९-५०)। लवणप्रसाद या लावण्य प्रसाद का **लूण** या **लूणा** बनता था। देशी 'धन्धा' (=लज्जा, देशी नाम माला ५-५७) से **धंध, धधल, धंधूक, धधिल** आदि नाम बनते थे। स० शील, शीलादित्य के आधार पर **शिलुक, शीलुक, शिल्लुक, शीलू, सीलू** आदि नाम चलते थे (भडारकर सूची २६, ३१)। **छज्जू** नाम लोकप्रसिद्ध है। **छाजल, छाजड़, छज्जल, छज्जुक** आदि रूपो का मूल अप० प्रा० 'छज्ज' (=सुशोभित होना) धातु है जिसे प्राकृत वैयाकरण स० धातु 'राज्' का धात्वादेश मानते थे। **ननुआ, नन्नुक, नन्न** का मूल देशी 'णण्ण' (=बडा भाई, देशी० ४-४६) ज्ञात होता है। **खुमानसिंह** नाम भी लेखो मे और लोक मे काफी मिलता है। इसका स० रूप 'क्षुम्यमान्'> प्रा० 'खोम्माण' (=अति क्षुब्ध) था। **जेसल, जेन्द, जिंदा, जीदड** इन नामो के पूर्व पद मे 'जय' शब्द निहित है, जैसे जयशाल, जयेन्द्र, जयन्त आदि। **बेजल्ल, वइज, वइजि, वयज, वयजा, वयजू, वइजादित्य** आदि नामो मे पूर्व पद का आधार 'वैद्य' था (भंडारकर सूची २९८, २९७,

३०७, ६२३)। भडारकर सूची ३७३ मे **लाखणपाल** और ३७७ मे **लाखणपाल्ह** रूप है। इससे ज्ञात होता है कि स० 'पाल' से ही **पाल्ह, पाल्हू, पाल्हुका** आदि नाम रूप बनते थे। **खेदनलाल** भी लोकविदित है। इसका मूल स० 'खेदज्ञ' है जिसमे 'खेद' का अर्थ है ससार का श्रम, या ससार-चक्र जनित कष्ट (रत्नचन्द्रकोश २-५७६)। **छडिका, छड्डक, छाडा, छाडाक, छाडि, छाडू** (जैन पुस्तक०, पृ० १७१) आदि नामो के मूल मे 'छड्ड' धातु है। जन्म के बाद जो बच्चे घूरे पर फेककर पुन मोल ले लिये जाते है, उनके ये नाम होते थे जो पबेडू, फिक्कू, बहाऊ, घुराऊ के समानार्थक थे। इन्हे ही **सोलक, सोलाक, सोल्लाक, सोली, सोलुका** (प्रशस्ति-सग्रह, पृ० १७९-८०), **सोल्लू** (क्षिप् <सोल्ल = फेकना, हेम० ४-१४३) या **खीवड** (स० 'क्षिप्' >प्रा० 'खिव्व' या 'खिव') भी कहते थे। लोक मे **सुल्ला** नाम पछॉह मे सुना जाता है। इसी से सबधित **छीतर** नाम है। आहर शिलालेख मे **च्छितराक, च्छित्तराक, च्छितर** नाम आये है (ए० इ० १-१७३, १७७)। 'देशी नाम-माला' के अनुसार **छेत्तर** का अर्थ है पुराना शूप ('जीर्ण शूर्पाद्युपकरणम्)। मेरठ की बोली मे टूटी डलिया 'छीतरी' कहलाती है। उस डलिया मे रखकर जो बच्चा छठी पूजन के दिन कूडो पर डाल दिया गया हो उसके लिए यह नाम होता था। मॉ उस बच्चे को भगिन से पुन ले लेती थी, या मान लिया जाता था कि मृत्यु के देवता को एक बार समर्पित करके पुन प्राप्त किया गया है। इस प्रकार के नाम गुजरात आदि मे भी प्रचलित है। सभवत **छित्तू छीता, छीतू, छीतक, छीतूक** (सूची १२४८) नाम भी इसी कोटि के थे (क्षिप्त>छित्तड या स्पृष्ट-छित्त)। भडारकर सूची १४५० मे **फाहि** नाम आया है जो स० 'स्फाति' (=वृद्धि) से प्रा० 'फाइ' का रूप है। **नापा** (भडारकर सूची ७८९) स० 'ज्ञा' धातु से बना जिसका एक प्राकृत रूप 'णप्पइ' (प्राकृतप्रकाश) होता था। वीवीक (सूची २५१) स० वीचि>प्रा० वीवी (षड्-भाषाचन्द्रिका, पृ० १७२), **कोक्कल** (सूची ९९) स० 'व्याहरति' का प्राकृत धात्वादेश 'कोक्कइ' (हेम० ४-७६, इसी के 'कुक्क', 'कुक्कल' रूप भी है), **वासटा** (सूची १६५४, सूर्यवर्मन् की पुत्री और हर्षगुप्त की पत्नी) स० 'विकसित' का प्राकृत रूप 'वासट्ट', **पाबू** (सूची ८२२, ७११, ७५९) स० 'पर्व'>प्रा० 'पव्व' (=जो पर्व के दिन जन्मा हो), **रट्टवा** (सूची १५३७, गुहिल-राज बालादित्य की रानी) स० 'राष्ट्रपा'>प्रा० 'रट्टवा', **तीवर** (सूची १६५२) स० 'तीव्र'> प्रा० 'तिव्व' (दुर्विषह्य, देशी० ५-११), **आउक** (सूची १५३७) स० 'आयुष्मान'>प्रा० 'आउ' 'आउग', **लिंबदेव** (प्रशस्ति-सग्रह पृ० १७१ पर लिबा, लीबाक, लिबाक आदि) प्रा० 'लिंब' (कोमल या नम्र, रत्नचन्द्रकोश ५-८२४) आदि नाम-निर्वचन ध्यान देने योग्य है। नामो मे **ट** प्रत्यय भी अपभ्रश युग मे जोडा जाता था, जैसे **मोगट, सोमट** (जू० १८१९), **वज्जट** (वज्जड), **लक्खट** (सूची १७९६)। लाखामडल प्रशस्ति मे अचलवर्मन् को **समरघघल** कहा गया है, अर्थात् युद्धभूमि मे घबडाहट उत्पन्न करने वाला। इसमे 'घघल' का अर्थ था घबडाहट (रत्न-चन्द्रकोश ५-७३७, घघलिअ =घबड़ाया हुआ)। लखणपाल के बदायूँ लेख मे **वसावण** नाम स०'वैश्रवण' से ज्ञात होता है। पृथिवीषेण द्वितीय वाकाटक नरेश की माता कुन्तलकुमारी **अज्झित भट्टारिका** थी। यह नाम सं० 'अध्यात्म'>प्रा० 'अज्झत्त' से सबधित ज्ञात होता है। **लड्डिका** नाम 'लड्ड' धातु (=लाड करना, छोह दिखाना) से निष्पन्न 'लड्डिय', 'लड्डिया'

का ही रूप है। चाहमान राजा कीर्तिपाल (ए० इ० ११-७९) को **कीतू** (वही, ११-७४), **कीत्तुक** और **कीतपाल** कहा गया है। **बूटडि** (प्रशस्ति-सग्रह, पृ० १७, २३), **बूटडि** (पृ० २९, ३१), **बूटर** (पृ० ८०), **बुट्ट, बूट, बूटा** (ए० इ०, ११-३३) नामो का एक वर्ग है। इनका निर्वचन स० 'व्युष्ट' > प्रा० वुट्ट, वूट से सभव है, अर्थात् जो प्रात काल जन्मा हो। **गोसा, गोसल** नामो का अर्थ भी यही था (गोस = प्रभात, प्रात काल, देशीनाम० २-९६)। **खूडा** (प्रशस्ति-सग्रह, पृ० १७०) देशी **खुड्डओ** का रूप था जो स० क्षुद्र > प्रा० छुल्लक > खुल्लक से सम्बन्धित था (षड्भाषा-चन्द्रिका, पृ० १७१) **हानू** या **हन्नू** नाम विचारणीय है, (प्रशस्ति सग्रह, पृ० १८०)। देशी 'हणु' का अर्थ है सावशेष या बाकी बचा हुआ (देशी० ८-५९) अर्थात्, वह बच्चा जो अपने कई भाई बहनो मे आखिरी हो, जिसे हिन्दी मे पेट की खुरचन और पजाबी मे 'ढड्ढघरोडी' कहा जाता है। ऐसा ही नाम **सेसिका** था (= शेषिका, बची खुची, प्रशस्ति-सग्रह, पृ० १७९)। स्त्री नाम **हाधू, हादू** का सबध देशी 'हद्धओ' (=हास, देशी नाम० ८-६२) से था (हासवाली, हँसतामुखी)।

राजेन्द्र का एक रूप **राइन्द** मिलता है (कुमारपाल चरित १-२८)। उसी वजन पर योगीन्द्र से **जोइन्द** बना। भडारकर-सूची का (स० ४१, १३७९) **धीइक** नाम स० 'धृतिक' > प्रा० 'धिइक' से है। **हालू** नाम देशी 'हालुओ' (=क्षीब, मतवाला, देशी० ८-६६) से था। **वेल्लक, बेल्लिका** (प्रशस्ति-सग्रह, पृ० १७८) स० 'रम्' के प्राकृत घात्वादेश 'वेल्ल' से बना (प्राकृत-प्रकाश, पृ० ९५)। त्रिविक्रम ने विलासवती का पर्याय **वेल्लरी** लिखा है। जैन-पुस्तक 'प्रशस्ति-सग्रह' मे प्राप्त **सेढक, सेढाक, सेढा** नाम उस व्यक्ति के लिए थे जिसने उपवासो की श्रेणि या श्रेढि (=सेढि, सीढी) पूरी की हो। **अणहिल** या **अनहिल** (सूची १३५२) का सम्बन्ध देशी 'अणह' (= अक्षत, देशी नाम० १-१३) या 'अनह' (=अनघ, निर्दोष, पवित्र) से था। **जच्छिका** (सूची १४९९) मे 'जच्छ' धातु (= दान देना, हेम० ४-२१५) का अर्थ था। **गोगा, गोगाक, गोगिल** आदि नाम (प्रशस्ति-सग्रह, पृ० १७०) सभवत स० 'गोग्रह' > प्रा० 'गोगाह' से सबधित थे, जिनका अर्थ था (आक्रमणकारियो से युद्ध करके) गायो को वापस छीन लेने वाला। पछाँही हिन्दी मे **पर्सेडिया** नाम चलता है जिसका सबध देशी 'पसिडि' (=सुवर्ण, पाइअ लच्छि नाममाला, ५०) से था। 'देशीनाममाला' (६-१०) मे 'पसडि' स्वर्ण का पर्याय लिखा है। **छेदा, छेदी** वह बच्चा कहलाता था जिसकी नाक छेद दी गयी हो। इसे ही **झूला** भी कहते थे जो नाम बैसवाडी मे चलता है (झुत्ती = छेद, देशीनाम० ३-५८)। **झाबर या झाबरमल्ल** नाम भी राजस्थान मे प्रसिद्ध है। यह स० 'ध्वजपट' (प्रा० झयवड, झयवर, झावर) से सम्बन्धित है। प्राचीन प्रथा के अनुसार लाख रुपये पीछे एक दीपक और करोड पीछे एक ध्वजा लगायी जाती थी। **मझन** नाम का सबध 'मध्याह्न' से था जिसका प्राकृत रूप 'मज्झण्ण' था, अर्थात् जिसका जन्म दोपहर के समय हुआ हो। **लहनासिंह** नाम मे 'लहना' स० 'श्लक्ष्णक' > प्रा० 'लहणअ' का रूप है। मारवाडी अल्ल **ढंढणिया** मे 'ढण्ढण' का देशी रूप 'डण्ढण' था जिसका अर्थ 'चपल' था (अव्युत्पन्न चपल वाचि प्रातिपदिक—भोजकृत सरस्वतीकठाभरण, १-२६३) **दलेलसिंह** मे 'दलेल' पद स० 'दलवत्' > प्रा० 'दलिल्ल' का रूप है।

प्राकृत शब्दो का एक गुच्छा है जो कितने ही नामो मे देखा जा सकता है, जैसे 'नदी' से **नई**, 'मति' से **मई**, 'दूती' से **दूई**, 'शची' से '**सई**', 'प्रणयी' से **पणई**, 'भारती' से **भारई**, 'वृहस्पति' से **बिहस्सई**, श्रुति से '**सुई**', 'प्रकृति' से **पयई**, 'पति' से **पई**, 'स्वादु' से **साउ**, 'विधु' से **विहू** 'विधि' से **विही** आदि। अपभ्रशकालीन नामो की अपरिमित सामग्री शिलालेखो, मूर्तिलेखो और पुस्तक-प्रशस्तियो तथा साहित्यिक वर्णनो मे उपलब्ध है। उनकी परम्परा अभी तक अनपढ क्षेत्रो मे चालू है। देहाती मतदाताओ की सूची मे ऐसे नामो का भडार ही मिलेगा। प्राचीन हिन्दी भाषा की निधि उन नामो मे सुरक्षित है, और उनका व्यवस्थित अनुसधान होना चाहिए। इनके व्याकरण-सम्मत नियम भी थे जो स्पष्ट समझे जा सकेगे। धातु और प्रत्ययो से ही तब भी शब्दो का स्वरूप निष्पन्न होता था। उनमे प्राकृत धात्वादेशो का महत्वपूर्ण स्थान था। नामो की रचना मे पाणिनि के समय से ही पूर्वपद और उत्तरपद दो भाग होते थे। इनमे उत्तरपद का लोप करके पूर्वपद मे एक प्रत्यय जोड दिया जाता था, जैसे 'देवराज' या 'देवदत्त' से **देविल, देविक, देविय देवल, देवक** आदि रूप बनते थे। पूर्व पद ही विशेष महत्वपूर्ण समझा जाता था। प्राकृत एव अपभ्रश युग मे यही बात रही, जैसे 'आशराज' या 'अश्वराज' के लिए **आसल** और 'यशोदेव' के लिए **जासल** या **जसल**, एव 'विश्वदेव' के लिए **विश्वल** या **बीसल**। कभी-कभी व्यक्तियो के कई नाम होते थे। एक मुख्य नाम होता था और दूसरा गौण नाम होता था, जैसा राष्ट्रकूट नरेशो के नामो मे प्रसिद्ध है (फ्लीट, ए० इ० ६-१८६, इ० ऐ० १२-१५९)। गौण नाम को 'अपर नाम' भी कहा जाता था, जैसे "हरिवर्म्मनामा श्रीमम्म इत्यपर नामकृतप्रतीति" (कुदराकोट-लेख, ए० इ० १-१८०)। स्त्रियो के नामो मे पिता के घर का नाम 'पैतृक नाम' कहलाता था। पति के यहाँ आने पर पति के नाम के अनुसार नया नाम रक्खे जाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जैसे "श्रेष्ठि वीरदेव पत्नी वीरमती, मोल्ही इति पैतृक नाम" (जैन-पुस्तक-प्रशस्ति-सग्रह, पृ० ९८)।

●

कन्हैयालाल सहल

ऋग्वेद की लोकोक्तियाँ

पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय मे असीरिया की भाषा तथा इतिहास आदि के प्रोफेसर डॉ० एस० एन० क्रेमर ने मिट्टी के दो बडे पट्टो का पता लगाया था जिन पर, कहा जाता है कि दुनिया की सबसे पुरानी लिखित कहावते और सूक्तियाँ अकित है। इस्तनबुल म्यूज़ियम के सैकडो साहित्यिक महत्व के पट्टो मे उक्त दो पट्ट भी प्राप्त हुए थे। सुमेरियन कहावतो का यह सग्रह आज से ३,६०० वर्ष पहले हुआ था। डा० क्रेमर की गणना के अनुसार बाइबिल की कहावतो से १,००० वर्ष से भी पूर्व ये कहावते सगृहीत हो चुकी थी। इन कहावतो के रूपान्तर आज भी प्रचलित है। कहावतो मे से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

"जीने की अपेक्षा निर्धन का मरना अच्छा, यदि उसे रोटी मिलती है तो नमक नही मिलता, यदि नमक मिलता है तो रोटी नही मिलती। यदि उसे घर मिलता है तो पशु रखने की जगह नही मिलती, यदि पशु रखने की जगह मिलती है तो घर नही मिलता।"[1]

राजस्थानी और मराठी मे इससे मिलती-जुलती निम्नलिखित कहावत उपलब्ध होती है—

"चणा जठे दात ना अर दात जठे चणा ना।" (राजस्थानी)—अर्थात् जहाँ दाँत हे, वहाँ चने नही और जहाँ चने हैं, वहाँ दाँत नही।

"दात आहेत तर चणे नाहीत आणि चणे आहेत तर दात नाहीत।" (मराठी)

तात्पर्य यह है कि सब प्रकार की सुविधाएँ एक साथ नही मिलती, जहाँ धन है, वहाँ विद्या नही, जहाँ विद्या है, वहाँ धन नही। इसी तरह की एक असमी कहावत भी है—"भात हले पूत नाइ, पूत हले भात नाइ।" अर्थात् जहाँ भोजन है, वहाँ पुत्र नही है और जहाँ पुत्र है, वहाँ भोजन नही है।

विश्व की सब से प्राचीन लिखित कहावते कौन सी है, इस प्रश्न पर विचार करते समय ऋग्वेद की कहावतो पर हमारा ध्यान गये बिना नही रहता। ऋग्वेद का काल-निर्धारण चिरकाल से विद्वानो के वादविवाद का विषय रहा है, इसलिए ऋग्वेद की कहावतो पर विचार कर लेने पर भी विश्व की प्राचीनतम लिखित कहावतो का चाहे निर्णय न हो सके तथापि उससे इतना तो स्पष्ट हो जायगा कि हमारे देश मे कहावतो की एक बहुत प्राचीन परम्परा रही है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दो मे "ऋग्वेद से शुरू करके अब तक के भारतीय साहित्य मे

---

१ दि हिन्दुस्तान टाइम्स साप्ताहिक, रविवार, मार्च १९५२, पृ० १३।

प्रवाद और कहावतो का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 'ऋग्वेद' तथा 'अथर्ववेद' मे कितने ही पूरे अर्ध ऋक्, पाद या अर्ध पाद को अर्थत लोकोक्ति या कहावत कहा जा सकता है।"[2] इसी प्रकार 'बाङला प्रवाद' के विद्वान् लेखक श्री सुशीलकुमार दे की भी मान्यता है कि "न वै स्त्रैणानि सख्यानि, सन्ति" (ऋग्वेद-सवाद सूक्त १०।९५।१५) जैसे प्रवाद-वाक्य न केवल ऋग्वेद मे, बल्कि ब्राह्मण-ग्रन्थो और बौद्ध त्रिपिटक मे भी विरल नही है।"[3]

वह पूरी ऋचा, जिसमे "न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति" नामक प्रवाद-वाक्य का प्रयोग हुआ है, इस प्रकार है—

"(उर्वशी की उक्ति)—पुरुरवा, तुम मृत्यु-कामना मत करो। यही मत गिरो। तुम्हे वृक (भेडिया) आदि न खाये। स्त्रियो की मित्रता कोई मित्रता नही होती। स्त्रियो और वृको का हृदय एक समान होता है।"[4]

आनन्दसागर सूरीश्वर ने 'आगमीय सूक्तावल्यादि' मे 'सूक्त', 'सुभाषित', 'सग्रह श्लोक' और 'लोकोक्तियाँ'—इस प्रकार उक्तियो के चार प्रकारो का सग्रह किया हे। चारो का क्रमश एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

१ सूक्त नेह लोके सुख किचिच्छादितस्याहसा भृशम्।
मित च जीवित नृणा, तेन धर्मे मति कुरु॥ (आगमीय सूक्तावलौ ३९९)

२ सुभाषित प्राणिपतितवत्सला प्रणभ्रजनहितकारिण खलु उत्तम पुरुषा । (ज० २४७)

३ सग्रहश्लोक अनतधर्मणोऽर्थस्यैकाशेनेति निरुक्तय ।
न्यासदेशागत शास्त्र, न्यस्यते न्यस्तमेव तत्॥

४ लोकोक्ति वीरभोग्या वसुन्धरा (आचाराग सूत्र २६-१९)

'सूक्तावल्यादि' मे घुणाक्षरन्याय जैसे लौकिक न्यायो को भी लोकोक्तियो के अन्तर्गत ही स्थान दिया गया है।

ऋग्वेद मे भी 'सग्रह श्लोक को छोडकर अन्य तीनो प्रकार की उक्तियो के उदाहरण मिल जाते है। सूक्त, सुभाषित और लोकोक्ति का एक-एक उदाहरण यहाँ ऋग्वेद' से उद्धृत किया जा रहा है—

सूक्त[5] न दुरुक्ताय स्पृहयेत्। अर्थात् अपशब्द बोलने की इच्छा नही करनी चाहिए।

सुभाषित अनुब्रुवाणो अध्येति, न स्वपन्। (५।४४।१३) अर्थात् अभ्यास के द्वारा ही मनुष्य अध्ययन कर पाता है, न कि सोते हुए।

लोकोक्ति न गर्दभ पुरो अश्वान्नयन्ति। (३।५३।२३) अर्थात् अश्व के सम्मुख गर्दभ नही लाया जाता है।

---

२. द्रष्टव्य भूमिका राजस्थानी कहावता। ३. द्रष्टव्य बागला प्रवाद, भूमिका, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ६। ४. द्रष्टव्य हिन्दी ऋग्वेद, रामगोविन्द त्रिवेदी, पृष्ठ १३७०। ५ वेदो में ऋचाओ के समूह को 'सूक्त' के नाम से अभिहित किया गया है। वेदो की उक्तियाँ हमें कर्त्तव्य-पथ की ओर उन्मुख करती है, शान्ति, समृद्धि और शक्ति की प्रेरणा उनसे मिलती है। ऐसी उक्तियो को यदि 'सूक्त' की संज्ञा दी गयी हो तो यह उचित ही है।

यहाँ पर सूक्त, सुभाषित और लोकोक्ति आदि का सैद्धान्तिक विवेचन अभीष्ट नही है, ऊपर केवल यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि विद्वानो ने सूक्त, सुभाषित और लोकोक्तियो के अलग-अलग वर्ग निर्धारित किये है।

ऋग्वेद के सूक्त और सुभाषितो पर कुछ विद्वानो ने विचार किया है, किन्तु ऋग्वेद की लोकोक्तियो का अभी तक किसी विद्वान् ने विधिवत् अध्ययन नही किया है। फिर भी समस्त ऋग्वेद पढ जाने के बाद जो हमारी धारणा बनती है, वह यह है कि ऋग्वेद मे लोकोक्तियो की अपेक्षा सूक्त और सुभाषितो की सख्या अधिक है। यहाँ ऋग्वेद से कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जा रही है जिन्हे आकार-प्रकार आदि की दृष्टि से लोकोक्ति अथवा कहावत के नाम से अभिहित किया जा सकता है—

१ बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश। (१।६४।३२)

अर्थात् अधिक सन्तान वाला अधिक कष्ट उठाता है। राजस्थानी भाषा मे इस आशय की कहावते आज भी प्रचलित है। उदाहरणार्थ—

(क) "घण जाया घण ओलमा, घण जाया घण हाण।" अर्थात् अधिक बच्चो के होने से अधिक उपालम्भ मिलते है और अधिक हानि उठानी पडती है।

(ख) "घण जाया घण नास।"[६] अर्थात् सन्तान की अधिकता कुटुम्ब की एकता का नाश कर देती है।

२ केवलाघो भवति केवलादी। (१०।११७।६)

अर्थात् जो अकेला भोजन करता है, वह केवल पाप ही खाता है। राजस्थानी की एक कहावत है—

"बॉट कर खाणू सुरग मे जाणू।" अर्थात् जो बॉट कर खाता है, वह स्वर्ग मे जाता है।

३ न स सखा यो न ददाति सख्ये। (१०।११७।४)

अर्थात् मित्र होकर भी जो व्यक्ति नही देता, वह मित्र कहाने योग्य नही है।[७]

४ जायेदस्तम्। (३।५३।४)

अर्थात् स्त्री ही घर होती है। 'न गृह गृहमित्याहुगृहिणी गृहमुच्यते' तथा 'बिन घरणी घर भूत का डेरा' आदि अनेक प्रवाद-वाक्य लौकिक सस्कृत तथा भारतीय भाषाओ मे बहुप्रचलित है।

५ नावाजिन वाजिना हासयन्ति। (३।५३।२३)

अर्थात् घोडे के साथ घोड़े की ही प्रतियोगिता करायी जाती है, अन्य की नही। तात्पर्य यह है कि घोडे की प्रतियोगिता मे यदि गधा रख दिया जाय तो उससे केवल हॅसी ही होगी।

किन्तु यहाँ 'सूक्त' का जो उदारहण दिया गया है, उसका तात्पर्य एक शिक्षाप्रद महत्वाक्य से है। 'अक्षैर्मा दीव्यः' (१०।३४।१३) अर्थात् 'जुआ मत खेलो' जैसी उक्तियाँ भी 'सूक्त' के अन्तर्गत आती हैं। ६ रूपांतर-घन जाया कुल मेहनो। ७ मिलाइए (क) आपद्गत च न जहाति ददाति काले। सन्मित्रलक्षणमिद प्रवदन्ति सन्तः॥ (ख) A friend in need is a friend in deed

ऋग्वेद की समस्त लोकोक्तियो का आकलन करना लेखक का उद्देश्य नही है। ऊपर पाँच लोकोक्तियाँ यह सिद्ध करने के लिए दी गयी है कि ऋग्वेद मे केवल प्राज्ञोक्तियाँ ही नही है, लोकोक्तियाँ भी है।

जैसा ऊपर कहा गया है, ऋग्वेद की लोकोक्तियो का अभी कोई वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत नही किया गया है। हाँ, द्या द्विवेद नामक एक विद्वान् ने अवश्य 'नीति-मजरी' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसमे आठ अध्याय और दो सौ श्लोक है। श्लोक के पूर्वार्द्ध मे कोई सूक्ति अथवा कहावत है तथा उत्तरार्द्ध मे स्पष्टीकरण के लिए किसी कथा की ओर सकेत है जिसका या तो ऋग्वेद मे वर्णन हुआ है अथवा जो वहाँ प्रसगत प्राप्त है। यहाँ 'नीति-मजरी' से उदाहरणार्थ कुछ श्लोक उद्धृत किये जा रहे है --

बहुप्रजस्य पुत्रस्य सुवाचोऽपि सदा विपत्।
सीदन्निन्द्र मधुच्छन्दा वयस्याचट्टचोत न ।।—ऋ० १।४।६
विभज्य भुञ्जते सन्तो भक्ष्य प्राप्य सहाग्निना।
चतुरश्चमसान्कृत्वा त सोममृभव पपु ।।—ऋ० १।२०।६
शुभाशुभ कृत कर्म भुञ्जते देवता अपि।
सविता हेमहस्तोऽभूद् भगोऽन्ध पूषको द्विज ।।—ऋ० १।३५।९
प्रभोरपि धिगर्थित्व रूपहानि करोति यत्।
मेधातिथि यदायाचदिन्द्रो मेषोऽभवत्तत ।।—ऋ० १।५१।१
तत्त्वविदपि ससारे मूढो भवति लोभत ।
तत्त्वज्ञा सारमायाचदिन्द्रमन्न गवा ग्रहे।।—ऋ० १।६२।३
अन्य सुहृज्जनो भ्राता शत्रुर्भ्राता सहोदर ।
अश्विभ्या तारितो भुज्युस्त्रित कूपे निपातित ।।—१।१०५।१७
यादृशाज्जायते जन्तुर्नाम कर्मास्य तादृशम्।
अश्विनावश्वजावश्व ददतु पेदवे सितम्।।—ऋ० १।११६।६
कुलक्रमागतो धर्मो न त्याज्य प्रभुभि सह।
कण्वोऽश्विभ्या भिषग्भ्या हि सुत्वद् सुश्रुत्कृत सुहृद्।।—ऋ० १।११७।८
न दद्याद्दोषशीलानामाश्रय क्रूरकर्मणाम्।
दैत्या दत्ताश्रया कूपे प्राक्षिपन्रेभवन्दनौ।।—ऋ० १।११६।११-२४

द्या द्विवेद ने स्वय ही 'नीति-मजरी' के श्लोको की रचना की और उन पर टीका लिखी। टीका मे सायण-पद्धति का अनुसरण किया गया है जिससे स्पष्ट है कि 'नीति-मजरी' का रचयिता सायण से पूर्ववर्ती नही हो सकता।

हरिहरप्रसाद गुप्त

कुछ हिंदी, गुजराती और मराठी कहावतें : एक तुलनात्मक अध्ययन

कहावतो मे तुलना, सादृश्य अथवा विरोध का मुख्य स्थान होता है, क्योकि इन्ही के सहारे ये किसी तथ्य को चोखे और चुभते ढग से रखने मे समर्थ होती है। इनमे अभिधेय अर्थ के स्थान पर व्यजना की प्रधानता होती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रो के किसी सार्वजनीन अनुभव को उपमा, उदाहरण एव अन्योक्ति के सहारे ये इतने सटीक ढग से रखती है कि श्रोता पर इनका अचूक प्रभाव पडता है। वस्तुत व्यावहारिक जीवन की गुत्थियो को सुलझाने मे ये सक्षिप्त अनुभव-सार बडे काम के होते है। हमारे वर्तमान साहित्य मे सस्कृत की सूक्तियो, लोकोक्तियो और न्यायो का इन्हे स्थान प्राप्त होता है। प्रस्तुत निबध मे कुछ हिंदी, गुजराती और मराठी कहावतो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ किसी की सम्पत्ति का दूसरा कोई उपभोग करे, इस तथ्य को **अडे सेवे कोई बच्चे लेवे कोई** अथवा **अधी पीसे कुत्ता खाय** इन विरोधसूचक उक्तियो से स्पष्ट किया जाता है। मराठी मे यह **आधळी दळते कुत्रा पीठ खातो या आधळे दळते कुत्रे पीठ खाते** के रूप मे है। इसी आशय की एक अन्य 'म्हाणी' भी प्रचलित है **आईजीच्या जिवावर बाई जी उदार**—अर्थात् मॉ सग्रह करे और बाई (कोई स्त्री) लुटाती फिरे। गुज० मे इस भाव के लिए **कीडी सघरे ने तीतर खाय** लोकोक्ति है।

२ कोई अपराध करने वाला जब शेखी बघारता है तब हिन्दी मे **उलटा चोर कोतवाल को डाटे** अथवा **चोरी करे और सीनाजोरी करे** या **चोरी और मुँहजोरी** प्रचलित है। गुज० मे यह **उलटो चोर कोतवाल ने दडे** है। मराठी मे यही **चोराच्या उलट्या बोबा** अर्थात् 'चोर का उलटे शोर मचाना' के रूप मे मिलता है। उलटे हाथ से ओठो पर आघात कर निकाली आवाज़ (विशेषत होली के अवसर पर) को मराठी मे 'बाब' कहते है। शिव को प्रसन्न करने के लिए हिन्दी तथा मराठी दोनो मे अनुकरणात्मक 'बम' शब्द प्रचलित है, हिन्दी मुहा० 'बमकना'-(बढ-बढकर बाते करना) मे कदाचित् 'बम' का अर्थविस्तार ही है। इसी से सबधित हिन्दी मे 'बमक जाना', 'बोलना' या 'बोला जाना' 'अत हो जाना' या 'टॉय टॉय फिस होना' के अर्थ मे है। मराठी मे भी यह मुहावरा 'बम बाजणे' के रूप मे है। मराठी मे **बोब मारणें** तथा **बोंबलणे** शोर मचाने के अर्थ मे आते है।

३ जहॉ रहे वहॉ के स्वामी से मिलकर रहे, इस नीति को **जल में रहे मगर से बैर**

कहावत मे व्यक्त किया गया है। मराठी मे यही **जलात पायांत राहून माशाशी वैर** तथा गुजराती मे **दरीयामां रहेवुं ने मगर साथे वैर** रूप मे प्राप्त है।

४ **कर्म प्रधान विश्व करि राखा** अथवा **कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धि कर्मानुसारिणी** सूक्ति भारतीय जीवन-दर्शन को स्पष्ट करती है। इस आशय की **जैसी करनी वैसी भरनी** लोकोक्ति भी है। मराठी और गुजराती मे भी यह क्रमश **करावे तसे भरावें** तथा **करणी तेवी पार उतरणी** के रूप मे प्राप्त है।

५ निर्बल सदैव सबल का शिकार रहा है। **अजापुत्रं बलिदद्यात्** उक्ति इसी भाव की निर्देशिका है। अवधी क्षेत्र मे समाज की इस अनैतिकता के लिए एक बडी मार्मिक उक्ति है—**दुबरे क मेहर गॉव भरे क सरहज या भौजाई**। गुज० मे भी यह **गरीबनी बहू सौनी** (सब की) **भाभी** रूप मे प्रचलित है। मराठी मे **गरीबाला कोणीहीं काम सांगावें** गरीब की बेबमी को चित्रित करता है।

६ किसी परिस्थिति का सामना करने के लिए यदि पहले से तैयारी न की गयी तो उस मूर्खता को **आग लगे खोदे कुवॉ** सूक्ति से अभिव्यजित किया जाता है। गुजराती मे इसी का रूपातर है **आग लागे त्यारे कुवो खोदवा जवु**। मराठी मे यही **तहान (प्यास) लागल्यावर विहीर खणणे** के रूप मे प्राप्त है।

७ बुरा मनुष्य कभी भी नही सुधर सकता, इसके लिए हिंदी मे यह उक्ति प्रसिद्ध है—**कोयला होय न ऊजला सौ मन साबुन लाय**। मराठी मे भी यही **कोळसा किती उगाळला तरी काळाच**। इसी लक्ष्य को ध्यान मे रखकर एक अन्य कहावत भी है **कुत्ते की पूँछ टेढी की टेढ़ी**। मराठी मे यही इस प्रकार है **कुत्र्याचे शेपूट नळीत घातले तरी वाकडेच** अथवा **कुत्र्याचे शेपूट वाकडे ते वाकडेच**। गुजराती मे यह इस प्रकार है **कूतरानी पूंछड़ी वाकी ते वांकीज**।

८ अत्यधिक परिश्रम करने पर यदि फल अत्यल्प हो गया हो तो कहा जाता है: **खोदा पहाड निकली चुहिया**। मराठी मे भी यही है **डोंगर पोखरून** (पहाड खोदकर) **उदीर** (चूहा) **काढणें**। गुज० मे यही **खोदवो डुंगर ने काढवो उंदर** है।

९ निर्धन व्यक्ति यदि अपनी सामर्थ्य से बाहर पुण्य करता है तो **घर बेचकर तीर्थ करना** कहते है। गुजराती मे भी यही उक्ति है। वस्तुत सस्कृत के 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत्' (अर्थात् ऋण करके घी पीना) से यह प्रभावित है। मराठी मे यह **ऋण काढून सण** (पर्व) **करणे** रूप मे प्रचलित है।

१० व्यावहारिक जीवन मे एक नीति है **जैसे को तैसा**। मराठी मे यह **जशास तसे** रूप मे प्रचलित है। ये भाव सस्कृत **शठे शाठ्यं समाचरेत्** से प्रभावित है। इस आशय को **सेर का सवा सेर** अथवा गु० **शेरने माथे सवाशेर** से भी व्यक्त करते है।

११ **रुपए की माँ पहाड चढ़ती है** या **सबका बाप रूपैया** अथवा **सबसे बड़ा रुपैया** या **रुपया गुरू और सब चेला** के लिए मराठी मे **दाम करी काम** आता है। गुजराती मे यह **दाम करे काम बीबी करे सलाम** है।

१२ परिश्रम करता रहे तो कभी न कभी सिद्धि प्राप्त होगी ही, इस आशय के लिए **बूंद बूंद या फुही फुही से तालाब भरता है** कहावत है। मराठी मे यह ज्यो की त्यो है **थेवें थेवे तळे** (तलैया) **साचे**। गुजराती मे यह इस प्रकार है **काकरे काकरे पाछ** (सरोवर के चारो ओर बाँधी गई दीवार) **बधाये, टीपे टीपे** (टीप = बूँद) **सरोवर भराय।**

१३ दूर चले जाने पर प्रिय व्यक्ति को भी लोग भूल जाते है। इस भाव के लिए कहा जाता है **नजर (या ऑख) ओट पहाड ओट**। गुजराती मे यह इस प्रकार है **नजर बहार ते कदर बहार** अर्थात् ऑख से ओझल होने पर मर्यादा या मुरव्वत भी समाप्त हो जाती है। मराठी मे इसे **दृष्टि आड सृष्टि** कहते है। अग्रेजी मे यही **आउट ऑफ साइट, आउट ऑफ माइंड** है।

१४ निराश्रित के लिए साधारण सहारा भी बहुत है, इसके लिए कहा जाता है **डूबते को तिनके का सहारा**। गुजराती मे इसे **डूबतो माणस तणखलु (तिनका) पकड़े** तथा मराठी मे **बुडत्याला काडीचा आधार** कहते है।

१५ किसी कार्य मे जब मतैक्य नही होता तो स० मे कहा जाता है **मुण्डे मुण्डे मति-भिन्ना** अथवा **भिन्नरुचिर्हि लोक** । एतदर्थ हिन्दी मे **जितने लोग उतनी राय** गुजराती मे **तुंवडे तुंवडे जदी बुद्धि, जुदे मोढे** (मुख) **जुदी बात** तथा मराठी मे **व्यक्ति तितक्या** (उतनी) **प्रकृति** कहा जाता है।

१६ मूर्खो मे साधारण समझदार व्यक्ति भी विद्वान् सदृश आदर पाता है अथवा नगण्य वस्तुओ के मध्य साधारण उपयोगी वस्तु भी महत्वपूर्ण हो जाती है। इसके लिए हिन्दी मे कहा जाता है: **अधों में काना राजा** अथवा **जहाँ पेड़ न रूख तहाँ रेंडइ महापुरुष**। स० मे भी **एरडोऽपि द्रुमायते** है। गुजराती मे ये **आंधळामां काणों राजा** तथा **उज्जड गाममा एरडो प्रधान** रूप मे प्रयुक्त होते है। मराठी मे यह भाव इस प्रकार व्यक्त होता है **वासरात** (बछडो मे) **लगडी गाय शहाणी** (चतुर या प्रमुख)।

१७ कठोर हृदयी या नीरस व्यक्ति को अपनी करुण कथा सुनाना व्यर्थ है, इसके लिए **अंधरे के आगे रोवइ आपन दीदा खोवइ** एक अवधी जनोक्ति है। एतदर्थ गुजराती मे **आंधळाने आरसी ने बेहराने शख** तथा मराठी मे **आंधळ्या पुढे नाच आणि बहिऱ्या पुढे गाणें म्हणी** है।

१८ एक ओर से काम होता चले और दूसरी ओर से बिगडता चले, इस भाव के द्योतन के लिए अवधी लोकोक्ति है **रसरी बरत जाय पँड़वा** (भैस का नर बच्चा) **चबाए जाय**। गुजराती तथा मराठी मे इसके लिए क्रमश **आगळ भणता जाय पाछतुं भूलता जाय** व **पुढें पाठ मागें** (पीछे) **सपाट है।**

१९ एक ही साथ दो काम होने पर कहा जाता है **एक तीर मे दो शिकार** या **एक पंथ दो काज**। गुजराती में यह **एक कांकरे बे** (दो) **पक्षी मारवा** तथा मराठी मे **एक दगडानें दोन पक्षी मारणें** है। ये दोनो कहावते अग्रेजी टू बर्ड्ज़ इन वन् स्ट्रोक् से प्रभावित है।

२० दो वस्तुओ अथवा व्यक्तियो के गुणो मे अत्यधिक अतर रहता है तो इसके लिए एक ऐतिहासिक कहावत है **कहाँ राजा भोज कहाँ गंगवा तेली**। गुजराती मे भी यह ज्यो की

त्यो है : **कहाँ राजा भोज कहाँ गागो तेली।** मराठी मे इसी भाव के लिए एक अन्य म्हाणी है **कोठे** (कहाँ) **इन्द्राचा ऐरावत, कोठे शामभटाची तट्टाणी** (छोटी घोडी)।

२१ सब की गृहस्थी मे एक ही दशा है अथवा एक समान समस्या है इस बात को व्यक्त करने के लिए अवधी मे एक कहावत है **सबके घरे माटी का चूल्हा।** यह सास्कृतिक कहावत गुज० तथा म० मे भी क्रमश इसी रूप मे है· **घरे घरे माटी ना चुला व घरोघर मातीच्या चुली।**

२२ स्वार्थसिद्धि के लिए छोटे से छोटे व्यक्ति की भी खुशामद करनी पडती है, इसके लिए हिन्दी कहावत है **गरज पर गदहे को भी बाप (या मामा) कहना पडता है।** गुजराती मे यही उक्ति इस प्रकार है **गरजे गधेडाने बाप कहेवो पडे।** मराठी मे यह **अडला हरि या नारायण गाढवा** (गधा) **चे पाय धरी है।**

२३ ज्ञानी गम्भीर होता है और थोडे ज्ञान वाला व्यक्ति अपने प्रदर्शन के लिए आतुर रहता है। इसके लिए सस्कृत मे उक्ति है **अगुष्ठोदकमात्रेण शफरी फर्फरायते।** हिन्दी मे इस भाव के लिए एक अन्य उक्ति है **अधजल गगरी छलकत जाय।** गुजराती मे भी यह इसी रूप मे है: **अधुरो घडो बहु छलकाय।** मराठी मे यह **उथल पाण्याला** (पानी का) **खल-खल फार** (अधिक) है।

२४ **लोभ पाप कर मूल** इस भाव को **लालच बुरी बला** से भी व्यक्त किया जाता है। गुजराती मे यह इस प्रकार है· **अतिलोभ पापनुं मूल।** मराठी मे इसे इस प्रकार कहते है **अति लोभाँने पापाचरणाची प्रवृत्ति होते।**

२५ अपने ऊपर विपत्ति पडने पर दूसरो की भलाई की ओर ध्यान नही जाता, इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को **आप मरे जग डूबा** मे व्यक्त किया गया है। गुजराती मे यह **आप मुवे डुब गई दुनियां** तथा मराठी मे **आपण मेले** (स्वय मृत होने पर) **जग बुडलें** है।

२६ स्वत परिश्रम के बिना सिद्धि प्राप्त नही होती अथवा बिना अपने किये सफलता प्राप्त नही होती। इसके लिए कहा जाता है **अपने मरे बिना स्वर्ग किसने देखा।** यह उक्ति गुजराती और मराठी दोनो मे ही ज्यो की **त्यो है**—गुज० आप **मुवा बिना स्वर्गे न जवाय,** मराठी **स्वतः मेल्या शिवाय स्वर्ग दिसत नाहीं।**

२६ किसी को थोडा सहारा या आश्रय दो तो वह धीरे-धीरे पूरा अधिकार चाहने लगता है। इस मानव दुर्बलता को **हाथ पकडकर पहुँचा पकडना** मे साकेतिक ढग से व्यक्त किया गया है। गुजराती मे भी यही है **आंगळी आपीए** (आपुन = देना) **तो पहोंची पकड़े।** अवधी मे एक उक्ति है **बैठइ क जगहा देइ तो ओलरि जाय।** मराठी मे भी यही है **भटाला** (ब्राह्मण को) **दिली ओसरी** (ओसार) **भट हातपाय पसरी।** सस्कृत मे इस भाव के लिए **चंचुप्रवेशे मुसलप्रवेशो** सूक्ति है।

२८ सामाजिक कार्यों मे या सहयोग से सम्पन्न होने वाले उत्तरदायित्वो की सफलता के लिए यह अपेक्षित है कि दोनो पक्ष उसके लिए बराबर प्रयत्नशील हो। इस नीति को प्रकट करने के लिए एक साधारण अनुभव की बात कही जाती है **एक हाथ से ताली नही बजती।** गुज-

राती व मराठी दोनो मे ही इसका प्रचलन क्रमश इस प्रकार है **एक हाथे ताळी न पडे, एका हाताने टाली बाजत नाहीं।**

२९ कोई स्वार्थी यदि अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किसी का अनभल ताके या मनावे तो इससे क्या किसी की हानि हो सकती है ? यह तो उस स्वार्थी की घृणित मनोवृत्ति की ही परिचायिका है, यही मनोभावना इस प्रकार व्यक्त की गयी है **कसाई के मनाये गाय नही मरती।** मराठी मे यह इस प्रकार है **कावळ्या** (कावळा = काग) **च्या शापा ने कुठे गाय मरते।** गुजराती मे यही भाव इस प्रकार है **कणियाना शापथी कुई वरसाद** (बरसात) **अटके।**

३० मानव की असावधानी या अन्यमनस्कता के स्वभाव को प्रकट करने वाली एक बडी सुन्दर उक्ति है **गोद में लरिका गॉव भर मे ढिढोरा।** गुजराती मे भी यही है **केडे छोकरो ने गामां ढढेरो।** मराठी मे इसका दूसरा पाठ है **कमरेला कलसा नि** (और) **गांवरा बळसा** (फेरा)।

३१ अवसर खोने पर पछताना ही हाथ रहता है, अत मनुष्य को सदैव कार्यतत्पर रहना चाहिए। इस उपदेश को **समय चूकि पुनि का पछताने या गया वक्त फिर हाथ आता नही** मे कहा गया है। गुजराती मे भी यही है **गयो अवसर पाछे न आवे।** मराठी मे यह इस प्रकार है· **गेली बेल परतयेत** (परताणे = लौटा) **नाही।**

३२ आर्त व्यक्ति अपनी ही बात जोतता है, 'इसके लिए **गरजमंद बावला** कहा जाता है। गुजराती मे यह **गरज विचारी बापडी** (दीन) तथा मराठी मे यह **गरज आगळ अक्कल आंधणी या गरजवंताला अक्कल नाहीं है।** इस सबध मे 'रामचरित मानस' की यह सूक्ति आरत **के चित रहै न चेतू, पुनि पुनि कहै आपनो हेतू** भी ध्यान देने योग्य है।

३३ यदि कोई किसी वस्तु का न तो उपभोग करे और न दूसरे को करने दे, तो अवधी मे कहा जाता है **न तोका न मोका भरसाई में झोंका।** मराठी मे यह इसी रूप मे है **ना तुला** (तुझको) **ना मला** (मुझको) **घाल** (डालना) **कुत्र्याला** (कुत्ते की)। गुजराती मे यह इस प्रकार है **गुंजनो कूतरो न खाय ना खावा दे।** सस्कृत मे **न देवाय न पित्राय** प्रचलित है।

३४ असमर्थ या दरिद्र से दान की बात कहना उसकी दरिद्रता के प्रति व्यग है। इसे लोकोक्ति के रूप मे कितने सुन्दर ढग से समाज ने व्यक्त किया है। अवधी मे एक कहावत है **लरिकन के दाना नाहीं, पित्तरन सराध मॉगैं।** गुजराती मे यही इस प्रकार है **घरना छोकरा घंटी चाटे ने** (और) **उपाध्यायने** (उपाध्याय को) **आटो।** मराठी मे इसे एक अन्य प्रकार से कहा गया है . **घरच झालें थोडें, नि व्याह्याला धाडले** (धाडणे = भेजना) **थोड।**

३५ प्रत्येक वस्तु की शोभा उचित स्थान पर ही होती है, इस अनुभव को इस प्रकार कहा गया है **घोडा घोड़साल में, बेटी ससुराल में**, या **हीरो की कीमत जौहरी जाने।** गुजराती मे पहली उक्ति ज्यो की त्यो है **घोडु घोडारमां ने कन्या सासरामाज शोभे।** दूसरी लोकोक्ति मराठी मे लगभग उसी रूप मे है **हिरा कोंदणांत** (जडाव मे) **च** (निश्चय पूर्वक) **उठून दिसतो।**

३६. दूसरो को सुख पहुँचाने वाला साधारणत कष्ट मे रहता है। सामाजिक जीवन के इस पहलू को **दिया के नीचे अँधेरा** मे बडी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है। यह गुजराती और मराठी मे भी प्राप्त है। गुजराती **दीवा तळे अधाड़**; मराठी **दिव्या खाली अधार।**

३७ एक बार का डहकाया या धोखा खाया हुआ व्यक्ति फूक-फूक कर कदम उठाता है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए साकेतिक कहावत है- **दूध का जला मठा फूंक-फूंक कर पीता है।** गुजराती मे भी यह इसी प्रकार है **दूध नो दाझ्यो छास फूकीने पीए।** मराठी मे भी यही है· **दुधाने तोड** (मुख) **पोळणें** (पोलणे = जलना) **की ताक**(तक्र)**सुद्धां फुंकून पितात।**

३८ जहाँ रहे उसके अनुकूल आचरण करे इस बात के लिए कहा जाता है **जैसा देस वैसा भेस।** गुजराती और मराठी दोनो मे यह इसी रूप मे है—गुज० **देश तेंवो वेश**, मराठी **देश तसा वेश।**

३९ चुप रहने से सारे झगडो से मुक्ति मिल जाती है, इसीलिए कहावत है **सब से भला चुप।** गुजराती मे भी इस प्रकार है **न बोल्यामा नव गुण।** मराठी मे भी यही है **सब से बडी चूप।** सस्कृत मे इसका रूप है **मौन सर्वार्थ साधनम्।**

४० किसी वस्तु की महिमा सदा नही रहती, एतदर्थ कहा जाता है **चार दिना की चाँदनी फिर अँधेरी रात।** गुजराती मे यही इस प्रकार है **नवो निशाळीयो** (पढवैया) **नव दिवस।** मराठी मे यह इस रूप मे है **नव्याचे नऊ दिवस।**

४१ लक्ष्य भेद अनिश्चित रहने पर भी यदि हानि की सभावना न हो तो कहते हैं **लग गया तो तीर नही तो तुक्का।** गुजराती मे यह इस प्रकार है **वागवु** (लगाना) **तो तीर नहीं तो टखो।** मराठी मे इस अनिश्चित लाभ को इस प्रकार कहा गया है **गाजराची पुगी** (तुबी) **बाजली तर बाजली नाहीतर खाऊन टाकली।**

४२ सत्य को भय नही, इसके लिए हिंदी तथा गुजराती दोनो मे एक ही कहावत है हि० **साँच को आँच नहीं**, गुजराती **सत्चनो कदी आंच न आवे।** सस्कृत मे यह **सत्यमेव जयते** के रूप मे है। मराठी मे भी यही प्रचलित है।

४३ स्तुति, खुशामद या चापलूसी किसको अच्छी नही लगती, इस अनुभव को इस प्रकार कहा जाता है **खुशामद खुदा को भी प्यारी है।** गुजराती मे भी यही है· **खुशामत तो खुदाने पण प्यारी।** मराठी मे यह इस प्रकार है: **खुशामत कोणाला आवडत** (आवडणे = चाहना) **नाहीं**

इन कहावतो के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि भारत के इस विस्तृत क्षेत्र की सास्कृतिक एकता का स्वरूप क्या है। दार्शनिक चिन्तन, धार्मिक भावना, सामाजिक आदर्शों, नैतिक मानदण्डो, आर्थिक व्यवस्था आदि की दृष्टि से किस सीमा तक व्यापक समता है और जो किंचित् भिन्नता है उसके कारण क्या है, इनपर भी इस अध्ययन से प्रकाश पडता है।

जगदीश गुप्त

मध्यदेश का एक अज्ञात सांस्कृतिक केन्द्र अंगईखेड़ा

मध्यदेश के प्रमुख प्राचीन सास्कृतिक केन्द्रो मे हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, कापिल्य, सकाश्य, अहिच्छत्रा, मथुरा, कान्यकुब्ज, नैमिषारण्य, कौशाम्बी, श्रावस्ती, सारनाथ, काशी और प्रयाग आदि की गणना की जाती है। इस सूची को कितना ही विस्तृत क्यो न किया जाय, 'अगईखेडा' इसमे उपलब्ध नही होगा, क्योकि इतिहास एव पुरातत्व की दृष्टि से उसकी महत्ता अब तक सर्वथा अज्ञात रही है। वहाँ के निवासी भी उसके ऐतिहासिक एव सास्कृतिक महत्व से प्राय





(१) सन्मुख (२) पार्श्व।

चित्र नं० १२—अगईखेडे से प्राप्त बडी काली चित्तियो वाले पत्थर की मूर्ति का शिरोभाग जो ग्रीक मेष देवता (Pan) का प्रतीत होता है। समय कुषाण-कालीन या उससे कुछ पूर्व।

अपरिचित है। जो कुछ परिचय उन्हे है उसका तजकिरा मुज़फ्फर हुसेन ख़ॉ ने अपने 'नामा-ए-मुजफ्फरी' मे इस तरह किया है—

"जिस जगह पर अब यह कस्वा शाहाबाद है, एक कस्बा 'अगईखेडा' के नाम से बसा था और उसमे ठठेरो की कौम आबाद थी इस कस्बए अगईखेडा की आवादी की मुतल्लिक हमे कोई तारीख़ हिन्दी नही मिली मगर हमारे एक महक्किक दोस्त ने, जो कौम के हिन्दू थे, एक ससकिरत की पोथी से तर्जुमा करके कुछ बयान लिखाये जो नज्र हाजिरीन पेश किये जाते है 'रवायत है कि अगई अस्ल मे अगदगढ था। राजा अगद ने यह बस्ती अपने नाम से बसायी थी। राजा अगद महाराजा रामचन्द्र के सिपहसालार थे बाज राजा अगद को महाराजा रामचन्द्र की औलाद मे भी बताते है।'"—पृष्ठ १६५-१८०।

इसी विवरण मे पॉच प्रसिद्ध कुओ—गगोदक, समुन्दरखार, सौभद्रक, कोषोदक, और पयोवर्त के अतिरिक्त नर्वदा, वाराहवर्त आदि नौ तीर्थो की गणना भी करायी गयी है। लोक प्रचलित 'आठ कूप, छेत्र नव नर्वदा प्रसिद्ध जामे, बॉवन मोहल्ले आम जात देस देस को' के रूप मे भी ऐसी ही कुछ पूर्व स्मृतियॉ सुरक्षित है। 'अगदागाडो' और 'पुष्पावती' भी इसके अन्य नाम बताये जाते हे। मुजफ्फर खॉ के अनुसार 'कस्बा शाहाबाद मुल्के अवध का सबसे बडा कस्बा है।'

यह सारा विवरण अँगईखेडे को एक महत्वपूर्ण सास्कृतिक केन्द्र के रूप मे मान्यता दिलाने के लिए पूर्णतया अपर्याप्त है। इससे केवल यही सकेत मिलता है कि इसका इतिहास सभवत प्राचीन है तथा किसी अगद नाम के राजा से इसका नाम सम्बन्धित है। इसमे सदेह नही कि पुराणो मे सूर्यवश के प्रसग मे लक्ष्मण के दो पुत्रो मे अगद का नाम मिलता है—'अगदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ।' (भागवत ९।११।११)। पर वह सस्कृत की कौन सी पोथी थी जिसमे इसका पूरा इतिहास अकित था, यह जिज्ञासा को उभार कर मात्र प्रश्न के रूप मे रह जाता है। इससे अधिक कुछ हाथ नही आता। प्राचीन कहे जाने वाले स्थानो की भारतवर्ष मे कमी नही है, परन्तु बिना पुरातत्व की यथेष्ट सामग्री के किसी भी स्थान के सास्कृतिक इतिहास का प्रामाणिक पुनर्गठन सभव नही है।

मुझे हर्षमिश्रित आश्चर्य हुआ जब अगईखेडे से स्तरीय उपलब्धि (surface findings) के रूप मे शुग-कुषाण और गुप्तकाल की प्रभूत सामग्री उपलब्ध होने लगी। उपलब्धियो ने खोज की वृत्ति को जागृत किया और खोज-वृत्ति ने उपलब्धि को अनेकमुखी समृद्धि प्रदान की। विविध कालो की मृण्मूर्तियॉ, मुद्राएँ, आलिखित इष्टक-खण्ड, N. B. P. से युक्त ओपदार पात्र, खण्ड-मुद्रालेख, ताम्रफलक, पाषाण मूर्तियॉ तथा विभिन्न प्रकार के खण्डित मृत्पात्र आदि सब ने मिलकर पिछले एक डेढ वर्ष मे मेरे चित्र-कक्ष (studio) को ज़बरदस्ती सग्रहालय (Museum) का रूप दे दिया। सग्रह की प्रत्येक वस्तु के खोजने-पाने का स्वतन्त्र इतिहास है जो व्यक्तिगत है और जिसका अगईखेडे के सास्कृतिक इतिहास से कोई सम्बन्ध नही है। यहाँ इस दूसरे इतिहास की चर्चा ही अभीष्ट है।

भारतवर्ष का क्रम-बद्ध इतिहास मौर्य-काल से आरभ होता है। इससे पूर्व हडप्पा और मोहेनजोदडो के काल से लेकर मौर्यकाल तक का व्यवधान अपेक्षित प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे पूरी तरह भरा नही जा सका है, यद्यपि पुरातत्व के विद्वान् इस दिशा मे सक्रियता-पूर्वक सलग्न है। अगईखेडे से जो प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई है वह उसके इतिहास को वर्तमान समय से लेकर मौर्यकाल तक प्राय क्रमबद्ध कर देती है और इस प्रकार ऐतिहासिकता उसे मध्यदेश के किसी भी पूर्वोक्त सास्कृतिक केन्द्र के समकक्ष रख देती है। इधर दो ताम्र-अस्त्र (copper ımplements) भी प्राप्त हुए है, जो अगईखेडे के इतिहास को सहस्रो वर्ष पीछे खीच ले जाते हैं। विधिवत् उत्खनन (excavatıon) होने से पूर्व ही जब यह स्थिति दिखायी दे रही है तो वैज्ञानिक रीति से उत्खनित किये जाने पर और भी अप्रत्याशित तथ्य प्रकाश मे आने की सभावना स्पष्ट प्रतीत होती है। चौडी भारी ईटो से बनी दूर-दूर तक फैली हुई नीवे इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अगईखेडा वर्तमान समय मे भले ही 'खेडा' या 'कस्बा' रह गया हो पर मध्यकाल से पूर्व प्राचीन युग मे वह अवश्य ही एक छोटा किन्तु समृद्धिशाली महत्वपूर्ण सास्कृतिक नगर था जिसमे समय-समय पर अनेक धर्मों, जातियो और राजसत्ताओ का प्रभुत्व रहा होगा। कन्नौज, मथुरा, सकिसा, कपिला, अहिच्छत्रा के समीपस्थ होने के कारण तथा मूर्ति-मुद्राओ की व्यापक समरूपता के कारण यह सहज ही प्रतीत होता है कि इस केन्द्र का सास्कृतिक सम्बन्ध इन सब से अवश्य रहा होगा। इस प्रतीति को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए मध्यदेशीय पुरातत्व की सामग्री के विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है जो इस क्षेत्र के विशेषज्ञो का कार्य है। यहाँ केवल उपलब्ध सामग्री की रूपरेखा तथा उसके महत्व का कुछ परिचय मात्र दे देना पर्याप्त है। सामग्री का निरीक्षण-परीक्षण सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एव पुरातत्व विभाग के वर्तमान अध्यक्ष तथा मथुरा सग्रहालय के भूतपूर्व क्यूरेटर श्री कृष्णदत्त वाजपेयी और प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एव पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष तथा कौशाम्बी उत्खनन के सचालक श्री गोवर्धनराय शर्मा ने अनेक बार सम्मिलित रूप से किया है। मुद्राओ की प्राचीनता एवं तिथि-क्रम मे स्व० डॉ० अल्तेकर का मत भी सम्मिलित है। श्री वाजपेयी जी ने भी इस कार्य मे यथेष्ट सहायता दी है। अनेक मूर्ति-मुद्राओं की महत्ता का निश्चय करने मे डॉ० सतीशचन्द्र काला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री रायकृष्णदास तथा श्री ब्रजमोहन व्यास से भी परामर्श लिया गया है। यो सग्रहालयाध्यक्षो के सामने जब कोई नयी सामग्री आती है तो वे उसे अपने सग्रहालय के लिए प्राप्त करने की बात पहले सोचते है, उसकी प्राचीनता के निश्चयात्मक निर्धारण का प्रश्न उनकी दृष्टि मे प्राय उतना तात्कालिक नही होता, परन्तु मुझे अधिकतर सबसे सद्भावपूर्ण परामर्श ही प्राथमिक रूप से मिला है।

अभिलिखित वस्तुएं

उपलब्ध सामग्री के इस वर्ग मे इष्टक-खड, सीले तथा कुछ मुद्राएँ आती है। एक बृहदाकार इष्टक-खड पर पर्याप्त प्राचीन अवस्था के ब्राह्मी अक्षरों मे 'ततिजसो इटाकु' अकित मिलता है जो ई० पू० प्रथम शती के लगभग का अनुमानित किया गया है। एक सील पर



चित्र न० १—अगईखेडे का दक्षिणाभिमुख भाग इसके खुदे हुए अश से अनेक मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई है।



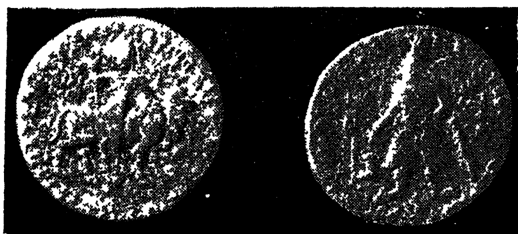
चित्र न० २—अगईखेडे के दक्षिणाभिमुख भाग से सर्वप्रथम प्राप्त कुषाणकालीन स्त्री-मृण्मूर्ति।



चित्र न० ३—अगईखेडे से प्राप्त शुगकालीन मिट्टी की मिथुन-मूर्ति।



चित्र न० ४—कुषाणकालीन यक्षमुख क्रीडा-शकट।



चित्र न० ८—अगईखेडे से प्राप्त विम कैडफाइसिस का ताँबे का सिक्का—समय लगभग ४० से ७७ ई०।



चित्र न० ७—अगईखेडे से प्राप्त एक पचमार्क सिक्का। लगभग ४०० ई० पू०।



चित्र न० ५—अगईखेडे से प्राप्त अर्चा-सरोवर का खडित अश।
पहली-दूसरी शती ई०।
(Votive Tank)



चित्र न० ९—अगईखेडे से प्राप्त कुषाणकालीन पुरुष मृण्मूर्ति का शीश।



चित्र न० ६—अगईखेडे से प्राप्त आयुधालकृत शिरोभूषायुक्त देवी—सिनीवाली की मृण्मूर्ति। शुग काल।



चित्र न० १०—अगईखेडे से प्राप्त अनेक कुषाणकालीन मिट्टी के

'चपठस्य' तथा एक अन्य पर 'पुरणिकाया' आलिखित है, जो क्रमश तीसरी और पाँचवी शती ईसवी की प्रतीत होती है। यह सीले वैयक्तिक नामो वाली है। दूसरी सील किसी 'पुरणिका' या 'पौराणिका' नामक स्त्री की है। दोनो सीले मिट्टी की है तथा पहली मे 'स्वस्तिक' एव दूसरी मे 'त्रिरत्न' का चिह्न लाच्छिन है। तीसरी सील ताँबे की है जिस पर ब्राह्मी अक्षरो मे 'वेरत-पतिफिलि' उत्कीर्ण है। अक्षराकृति से सील गुप्तकालीन सिद्ध होती है। इसमे पाचालो का नागयुक्त प्रसिद्ध चिह्न तथा वशप्रतीक चन्द्रमा भी अकित है। गुप्त-काल मे सस्कृत का प्रयोग शिष्ट समुदाय मे सर्वप्रचलित था। ऐसी दशा मे इस सील मे प्राकृत का प्रयोग भाषा की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण कहा जायेगा। इसके अतिरिक्त कुषाण-काल, उत्तर कुषाण-काल तथा गुप्त-काल की अनेक स्वर्ण एव ताम्र मुद्राएँ अभिलिखित है। कुछ विदेशी ढग की मुद्राओ पर ग्रीक अक्षर भी मिलते है। स्वर्ण मुद्राएँ शाहाबाद के स्वर्णकारो के पास सुरक्षित है, जिनमे केदार-कुषाण मुद्राओ के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त आदि के सिक्के भी है। चाँदी-सोने के उत्तर गुप्तकालीन तथा मुस्लिम काल के सिक्के सख्या मे कही अधिक उपलब्ध हुए है पर वे उतने महत्वपूर्ण नही है।

पंचमार्क सिक्के एवं अन्य महत्वपूर्ण ताम्र-मुद्राएँ

भारतवर्ष मे जितने प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए है उनमे अभी तक पचमार्क सिक्के सबसे अधिक प्राचीन माने जाते है। जो पचमार्क मुद्राएँ अगईखेडे से मिली है उनका समय डॉ० अल्तेकर ने चौथी से दूसरी शती ई० पू० के बीच निर्धारित किया था। विम कैडफाइसिस (लगभग ४०-७७ ई०) तथा अन्य अनेक क्षत्रपो एव कुषाण शासको की ताम्र-मुद्राएँ भी उपलब्ध हुई है, जिनका विशेष अध्ययन अभी नही किया जा सका है। एक ताम्र-मुद्रा सभवत मौर्यकाल की है, जिस पर वृक्ष, स्तभ, हाथी आदि प्रसिद्ध चिह्न मुद्रित है।

मृण्मूर्तियाँ (Terracottas)

अब तक लगभग साढे तीन सौ मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी है जिनमे अधिकाश खडित है। इनमे से अनेक कौशाबी, झूँसी, राजघाट, अहिच्छत्रा आदि से प्राप्त मूर्तियो के समरूप है। मृण्मूर्तियो का कालनिर्धारण शैली-शिल्प, चित्रित-वस्तु, उत्खनन-स्तर आदि के आधार पर किया जाता है, किन्तु अभी तक इसकी कोई निर्भ्रान्त पद्धति नही निकल सकी है। इस दिशा मे जितना अध्ययन-मनन तथा सामग्री-सचयन अपेक्षित है उतना कदाचित् नही हुआ है। तथापि मृण्मूर्तियो की प्राचीनता की परख की ही जाती है और उसी के आधार पर सग्रहालयो मे मूर्तियो के काष्ठाधारो पर काल-निर्देश दिया रहता है। कला की दृष्टि से मृण्मूर्तियो मे अति साधारण से लेकर अति असाधारण शिल्प-कौशल के इतने स्तर मिलते हैं कि वह भी एक स्वतन्त्र अनुशीलन का विषय प्रतीत होता है। अंगईखेडे से उपलब्ध मृण्मूर्तियो पर न्यूनाधिक यह सभी बातें लागू होती है। मथुरा शैली की काली और लाल मिट्टी की शुग-कुषाणकालीन मूर्तियो से लेकर गुप्त-काल तक की शैली मे निर्मित मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। यह मूर्तियाँ क्रीडा, अलकरण, पूजन आदि विविध भावो से रची जाती थी। बालको के खिलौनो मे 'यक्ष-मुख

क्रीडा-शकट' अद्वितीय स्थान रखता है। दो पहियो वाले मेष, गज आदि की आकृति के ऐसे पशु-मुख मृच्छकटक मथुरा, कौशाबी आदि से भी प्राप्त हुए है, पर यक्ष आकृति से युक्त इतना कलापूर्ण क्रीडा-शकट अभी तक कदाचित् कही अन्यत्र उपलब्ध नही हुआ। इस पर अकित पुरुषाकृति मथुरा की यक्ष-मूर्तियो से मिलती-जुलती है और यह सिद्ध करती है कि मथुरा-कला का विस्तार इस क्षेत्र तक था। शुगकालीन 'गजलक्ष्मी' और मिथुन मूर्तियो के टीकरे भी, जो कई प्रकार के उपलब्ध हुए है, इसी प्रभाव का साक्ष्य देते है। विशाल मानवकाय (सभवत बुद्ध मूर्ति) का एक खडित पदाश भी मिला है। कुछ छोटी बुद्ध-मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है।

अर्चा-सरोवर (Votize tank) और नैगमेष (Naigmesh)

दुदुभि-वादक युक्त यह अर्चा-सरोवर मातृदेवी की उपासना का प्रतीक है। कोशाबी और अहिच्छत्रा से कई अर्चा-सरोवर प्राप्त हुए है। वैसा ही एक अगईखेडा से मुझे मिला। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सन् १९४८ ई० मे, Ancient India, Vol. IV मे प्रकाशित अपने लेख 'Terracotta Figurines of Ahichhatra District' मे votive tank के विषय मे लिखा कि यह पार्थियन या इडोपार्थियन प्रभाव से विनिर्मित है, क्योकि तक्षशिला मे भी यह पाये गये है। अत लगता है इनका प्रचार ईरानी प्रभाव से गाधार मे और गाधार से सारे उत्तर भारत मे हुआ। बगाल मे अब भी ऐसे यम पुकुर (yama Pukur) बना कर कुमारियाँ यम का अर्चन करती है। डॉ० अग्रवाल ने अहिच्छत्रा से प्राप्त इन अर्चा-सरो का समय १००-२०० ई० के लगभग निर्धारित किया है। अगईखेडे वाले सरोवर (चित्र न० ५) की आकृति उक्त लेख के साथ प्रकाशित प्लेट न XXXVIII से तुलनीय है। दोनो का सादृश्य इस बात को सिद्ध करता है कि उत्तर पाचाल की राजधानी अहिच्छत्रा और उसके दक्षिणी भाग मे स्थित 'अगई-खेडा' के बीच ईसवी सन् के आसपास समान सास्कृतिक धारा प्रवाहित हो रही थी। इसका अकाट्य प्रमाण वे मेषकर्णी मूर्तियाँ हैं जो दोनों स्थानो से मिलती है तथा जिन्हे वासुदेवशरण जी ने 'नैगमेष' (Naigmesh) की सज्ञा प्रदान करते हुए ४५०-६५० ई० के लगभग का माना है। इनका सम्बन्ध उन्होने मथुरा की 'हरिनैगमेष' मूर्तियों से माना है तथा इन्हे सतानोत्पत्ति से सम्बद्ध देवता विशेष की मूर्तियाँ बताया है। मुझे यह मूर्तियाँ कुछ अधिक प्राचीन प्रतीत होती है, क्योकि अर्चासरो की तरह इनका स्रोत भी विदेशी ही प्रतीत होता है। शाहाबाद से ही एक चित्तीदार प्रस्तरमूर्ति का शिरोभाग मिला है जो किसी यवन देवता, सभवत ग्रीक मेष देवता (Pan) का जान पडता है, क्योकि उसकी रचनाशैली यूनानी लगती है और सिर पर घूमे हुए सीग अत्यन्त स्पष्ट है। ग्रीवा की ऐसी पुष्टता भारतीय मूर्तियो मे कही भी नही मिलती। विदेशी वेशभूषा से युक्त इतनी मूर्तियाँ अगईखेडे से मिली हैं कि लगता है किसी समय मे वह यवन शक, कुषाण राजाओ से अवश्य अनुशासित रहा होगा। मथुरा तो ईसवी सन् के आसपास लगभग पाँच शताब्दियो तक इनकी प्रभुता का एक प्रमुख केन्द्र बनी रही। मथुरा से श्रावस्ती और अयोध्या जाने वाले मार्ग अगईखेडे या उसके समीपवर्ती भाग से होकर जाते होगे, इसकी पूर्ण सभावना प्रतीत होती हैं। अन्यथा किसी असम्पृक्त एकाकी स्थान पर इतने सास्कृतिक सूत्रो की एकता मिलना सभव नही है। इसके अतिरिक्त अगईखेड़ा गर्रा नदी के वर्तमान तट से कुछ ही

मील दूर पर स्थित है और कहा यह जाता है कि कभी यह नदी अगईखेडे के बिलकुल पास थी। रेत और नावो के टूटे भाग, जो कभी-कभी पाये जाते है, इसकी पुष्टि करते है। यह नदी छोटी होते हुए भी उत्तर पाचाल के दक्षिणी भूभाग तक जाती है, और जलमार्ग से कन्नौज की यात्रा सभव बनाती है। प्राचीन सास्कृतिक केन्द्र ऐसे ही जलमार्गों के समीप विकसित हुए, यह सुविदित है। इन तथ्यो को दृष्टि मे रखकर अगईखेडा मथुरा और अहिच्छत्रा आदि से प्राप्त मृण्मूर्तियो की शैली और रूपाकृति के बीच इतनी घनिष्ठ समता एव सगति की व्याख्या कुछ सरलता-पूर्वक की जा सकती है।

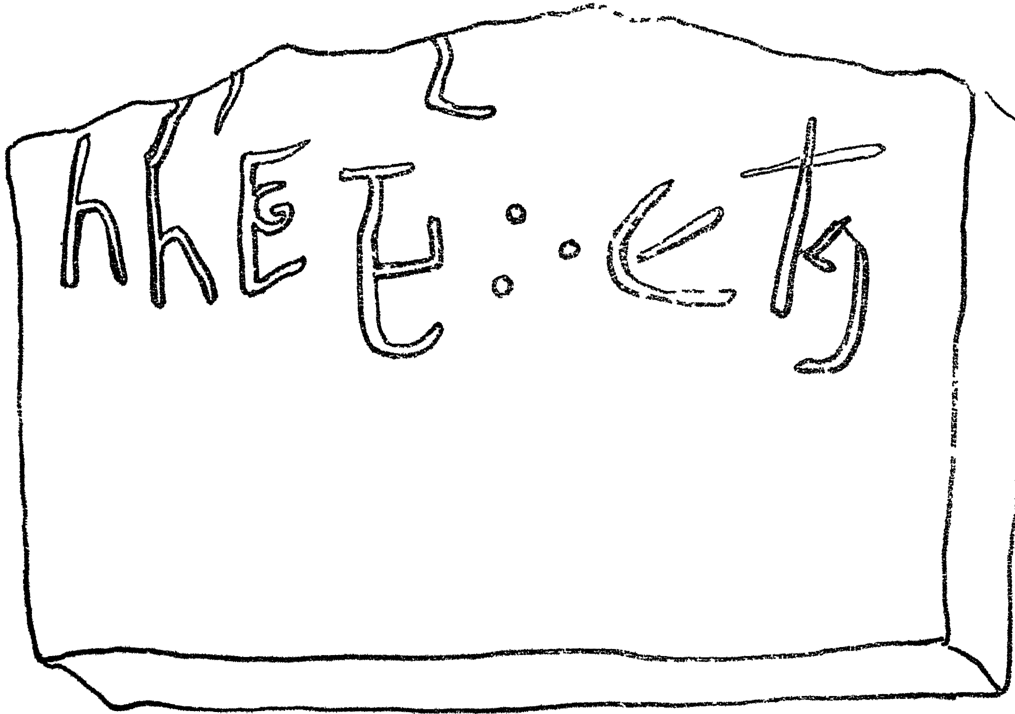
आयुधालकृत शिरोभूषा युक्त देवी—सिनीवाली

मध्यदेश के अनेक प्राचीन सास्कृतिक केन्द्रो से उत्खनन द्वारा मिट्टी की ऐसी अनेक स्त्री-मूर्तियाँ मिली है जिनकी शिरोभूषा अकुश, परशु आदि विविध आयुधो से अलकृत मिलती है। अगईखेडा से ऐसे दो टीकरे अभी तक मिले है। दोनो की रचनाशैली भिन्न है, किन्तु मूर्तरूप एक ही है (चित्र न० ६)। अभी हाल ही मे एक नीव की खुदाई करते समय कौशाबी मे, बलिपात्र के समीपस्थ, ऐसी ही मूर्ति मिली है जिसका प्राचीन सदर्भ श्री गोवर्धनराय शर्मा को तैत्तरीय सहिता मे 'सिनीवाली, सुकिरीरा, सुकपर्दा स्वौपशा' के रूप मे मिला। 'सिनीवाली' शब्द मृण्मयी देवी के अर्थ मे ऋग्वेद मे अनेक बार प्रयुक्त हुआ है और 'मोनियर विलियम्स' मे इस शब्द की व्युत्पत्ति सदिग्ध मानी गयी है। 'सुकपर्दा' विशेषण स्पष्ट रूप से इस विचित्र प्रकार की शिरोभूषा की ओर इगित करता है। केशो का आयुध रूप मे विशेष अलकरण जिस मृण्मूर्ति मे मिलता है वह 'सुकपर्दा, सिनीवाली' ही है, अब यह प्राय असदिग्ध रूप से स्वीकार किया जाएगा। कदाचित् यह देवी किसी आदिम अथवा आगत अनार्य जाति की उपास्य रही होगी—इसीलिए 'सिनीवाली' शब्द की सस्कृत व्युत्पत्ति नही मिलती। मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाबी आदि की तरह अगईखेडे मे भी इसकी उपासना की परम्परा पहुँची थी यह वास्तव मे रोचक एव महत्वपूर्ण तथ्य है।

प्राप्त सामग्री का इससे अधिक परिचय देना इस लेख की सीमा मे सभव नही है। अंत मे जिला हरदोई, जिसमे अगईखेडा यानी ऑझी-शाहाबाद स्थित है, के पुरातत्वपरक सर्वेक्षण की रिपोर्ट (Archaeological Survey of India, New Series Vol II N W P and Oudh Vol II pp. 277-283) की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए यह निवेदन करना चाहता हूँ कि सारा हरदोई जिला डीहो और खेडो से भरा हुआ है, जिसमे कही भी खुदाई का विधिवत् कार्य अभी नही हुआ है। सर्वेक्षणकर्त्ता को हरदोई से इडो-सिथियन सिक्को के मिलने की सूचना थी, परन्तु शाहाबाद के पुरातत्व विषयक महत्व का विशेष उल्लेख उसने कोई नही किया है। चन्द्रवशी हैहय क्षत्री ठठेरो को पराजित करके वर्तमान शाहाबाद को सन् १६७७ ई० मे अगईखेडे के पास नवाब दिलेर खाँ ने बसाया, यही ऐतिहासिक बात उसमे मुख्य रूप से उल्लिखित है। 'फूलमती देवी' के 'थान' की चैत्य जैसी आकृति के आधार पर उसके बौद्ध परम्परा से उद्भूत होने का अनुमान अवश्य लगाया गया है।

अभी तक 'अगदी' या 'अगई' मे निहित 'अगद' शब्द का ऐतिहासिक सदर्भ स्पष्ट नही हो पाया है। सभव है, 'आँझी' शब्द भी मूलत उसी से सम्बद्ध हो जिससे 'अगई'। पौराणिकतया जैसे मथुरा से शत्रुघ्न का सम्बन्ध माना जाता है उसी प्रकार लोक विश्वास के आधार पर लक्ष्मण के पुत्र अगद से इसका सम्बन्ध तब तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक कोई दूसरी स्पष्ट ऐतिहासिक व्याख्या न की जा सके।

पूछा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य, कविता और चित्रकला को छोडकर पुरातत्व के इस बीडह् बन मे मैं कहाँ आकर भटक गया तो उत्तर यह है कि प्रेम मे क्या नही करना पडता। शाहाबाद मेरी जन्मभूमि जो है—स्वर्गादपि गरीयसी।



चित्र न० ११—अंगईखेडे की पुरानी नीव से प्राप्त ईंट पर अकित ब्राह्मी अक्षर जो अपनी आकृति से ई० पू० की प्रथम शताब्दी से भी अधिक प्राचीन प्रतीत होते है।

रामरतन भटनागर

मध्ययुग की वैष्णव संस्कृति

मध्ययुग के देशी-विदेशी इतिहासकारो ने मध्ययुग की भारतीय सस्कृति को इस्लामी सस्कृति से अनन्यत प्रभावित माना है। उनके अनुसार इस्लाम की अप्रतिरोधित विजय-यात्रा के फलस्वरूप राजपूत-युग की सस्कृति का सर्वोच्छेदन हो गया और उसके स्थान पर विदेशी एवं विजातीय इस्लामी सस्कृति ही अपना चोला बदल कर प्रतिष्ठित हुई। इसीलिए इतिहास-ग्रथो मे मध्यदेश के मध्ययुगीन इतिहास को मध्य एशिया और ईरान के इतिहास से अनिवार्यत जोड दिया जाता है, मानो भारतीय मध्य युग इस्लामी इतिहास का ही कोई स्वर्णिम अध्याय हो।[1] जहाँ कुछ अधिक सतुलित दृष्टि से काम लिया गया है, वहाँ इस मध्यदेशीय सस्कृति को मिली-जुली सस्कृति अथवा 'हिन्दुस्तानी सस्कृति' कहा गया है[2] और उसे हिन्दू मुस्लिम सस्कृतियो का समन्वय अथवा योगायोग माना गया है। कदाचित् यह प्रयत्न कही भी नही हुआ है कि दिल्ली के मुसलमान शासको पर से दृष्टि हटा कर मध्यदेशीय जनता के सास्कृतिक अभ्युत्थान की ओर दृक्पात किया जाए और उसे केन्द्रवर्ती महार्घता प्रदान की जाए। उपयुक्त दृष्टिकोण के अभाव मे मध्ययुग का सास्कृतिक अध्ययन अभी तक अपूर्ण रहा है और उसमे तात्कालिक जनप्रवृत्तियो और पूर्ववर्त्ती सास्कृतिक परपराओ का वह प्रतिफल उपस्थित नही हो सका है जो वाछनीय है। इसका फल यह हुआ है कि हम मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य को सम्यक् महत्व नही दे सके हैं।

मध्ययुग की इस वैष्णव सस्कृति का मूलाधार भक्ति है और यह भक्ति विष्णु के अवतारो, विशेषतया नृसिह, राम, कृष्ण, विट्ठल के प्रति उन्मुख है। यह भक्ति-भाव गुप्त युग के पौराणिक उपासना-भाव से भिन्न है और इसके जीवनादर्श भी भिन्न है। गुप्तयुग और राजपूत-युग का आदर्श मानव सामत था जो ऐश्वर्य, साहस, शौर्य और शृगार का प्रतीक था तो भक्ति-युग का आदर्श मानव वैष्णव सत अथवा भक्त था। इस आदर्श को ही हनुमान, भरत, लक्ष्मण और उद्धव जैसे भागवतो के वृत्तान्तो मे चरितार्थ किया गया है। यह कहा जा सकता है कि गीता और भागवत मे यह आदर्श पहले ही पल्लवित हो चुका था और मध्ययुग के लिए यह कोई नयी खोज नही था। परन्तु यह निश्चित है कि मध्ययुग से पहले यह आदर्श व्यावहारिक और जीवनोपयोगी नही बन सका था, न वह इतना सर्वांगी और सर्वग्राही ही था। अपनी ऐतिहासिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही मध्ययुग ने प्राचीन उपकरणो को लेकर वैष्णव भावना और

---

१. डॉ० ताराचंद : इन्फ्लुएंस ऑव् इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर; पृ० १३७।

२. डॉ० एस० आबिद हुसेन : दि नेशनल कल्चर ऑव् इंडिया; दि हिन्दुस्तानी कल्चर।

'भक्ति' की यह नयी पुनरावृत्ति उपस्थित की और युग के सस्कारी प्रयत्नो को नयी केन्द्रीयता दी। 'नयी वैष्णवता' मध्यदेश के लिए नया युगधर्म बन गई।

इस युगधर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ विशिष्ट तथ्यो को सामने रखे। ये तथ्य बौद्ध धर्म के ह्रास से सबधित है। बौद्ध धर्म के खण्डहरो पर ही हिन्दू नवोत्थान का जन्म हुआ जिसका एक प्रमुख अग्रस्तभ वैष्णव सस्कृति थी। एक प्रकार से वैष्णव धर्म और सस्कृति बौद्ध धर्म और सस्कृति से विकास, विलयन और विरोध के तीन तत्वो से सबधित है। ८०० ई० से १२०० ई० तक हम इन तीनो प्रक्रियाओ को द्रुतगति से अग्रसर होते पाते है। पहले यह प्रक्रिया दक्षिण भारत मे सपन्न हुई,[3] फिर पश्चिमी भारत मे[4] १००० ई० के बाद मगध और बगाल-उडीसा के क्षेत्र ही बौद्ध धर्म के केन्द्र बने रह गये थे।[5] अलबेरूनी के ग्रथ 'किताबुलहिद' से यह स्पष्ट है कि काशी तक के क्षेत्र मे ब्राह्मण धर्म की व्याप्ति थी।[6] १२०० ई० के लगभग मगध और बगाल से बौद्ध धर्म का उन्मूलन हो गया, यद्यपि उडीसा १५६० ई० तक बौद्ध धर्मावलबियो का गढ बना रहा। एक तरह से चौदहवी-पद्रहवी शताब्दियाँ वैष्णव धर्म के उन्नयन की शताब्दियाँ है, जब कि वैष्णव धर्म से सबधित नये आन्दोलनो का सूत्रपात होता है और बौद्ध सस्कार हिन्दू सस्कारो का रूप ग्रहण कर लेते है। बौद्ध धर्म के हिन्दू धर्म मे विलीन होने की प्रक्रिया विभिन्न प्रदेशो मे विभिन्न समय उद्घाटित हुई परन्तु उसकी रूपरेखा समान ही है। १५०० ई० के बाद वैष्णव सस्कृति उत्तर भारत मे सर्वव्याप्ति प्राप्त कर लेती है और नया जीवनादर्श महान् साधको और कवियो की साधना मे सपूर्ण रूप से विकसित हो जाता है। कला-कगाल के सहस्र दल खुलने लगते है और नये कठ, नये स्वर, नये स्वप्न, नये रूप, नये साहित्य, नये सगीत, नये चित्र और नये शिल्प के रूप मे नयी जाग्रति बन जाते है।

उत्तर भारत मे बौद्ध धर्म के पतन के सबध मे लामा तारानाथ की साक्षी[7] महत्वपूर्ण है, यद्यपि उसको सपूर्ण रूप से विश्वसनीय नही माना जा सकता। बल्लभी, नालदा और बौद्ध गया जेसे प्रमुख बौद्ध केन्द्रो मे किसी भी प्रकार के ऐसे उत्कीर्ण लेख अथवा चिह्न नही है जो बौद्ध धर्म के पतन के सबध मे तिथिचक्र उपस्थित कर सके अथवा ह्रास की प्रक्रिया और विस्तार की सूचना दे। उस युग के दानपत्रो से भी हमे कोई सहारा नही मिलता, न कुमारिल और शकर जैसे क्रियमाण व्यक्तित्वो अथवा चक्रयान, सहजयान, तत्रयान, मत्रयान जैसे महत् आन्दोलनो से ही हम निश्चित तथ्यो की उपलब्धि कर पाते है।

सीमातों के इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ७२९ ई० तक सिध मे हीनयानी सप्रदाय के समितिया स्कूल का प्राधान्य था और तात्रिक प्रवृत्तियो का प्रवेश हो चला था।[8] यह भी सभव है कि इस हीनयानी सप्रदाय मे भी बाद के युगो मे पूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया हो।

---

३. हुमायू कबीर : दि इंडियन हेरिटेज, दि हिन्दुस्तानी वे; पृ० ७९-८९। ४. डॉ० आर० सी० मित्र : दि डिक्लाइन ऑव् बुद्धिज्म इन इंडिया; प्र० ९, पृ० १०३-१२४। ५. वही : प्र० ४, पृ० ३६-४८। ६. वही : प्र० ५, पृ० ४९-८९। ७. शरत् चन्द्र दास : तारानाथ; पृ० ६२-६४। ८. डॉ० आर० सी० मित्र : वही, पृ० ३४।

विदेशी लेखको के उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण धर्म की बढती हुई लोकप्रियता ने स्थानीय बौद्धो को शकित कर दिया था और उन्होने नवागन्तुको से अभिसधि करके देश की परतत्रता का द्वार उन्मुक्त कर दिया। अलबेरूनी के कथनानुसार मध्यएशिया, खुरासान, अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत मे बौद्ध धर्म के अवशेष भी नही बचे थे।[९] यद्यपि निजामुद्दीन के ग्रथ 'तबकाते अकबरी' मे स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि अपने चौदहवे आक्रमण मे (१०२२ ई० मे) सुलतान महमूद को कुरैत की घाटी से गुज़रना पडा जिसके उपासक सिहोपासक थे (कदाचित् शाक्यसिह से तात्पर्य है)।[१०] जलालाबाद और पेशावर के बीच के भाग मे अब भी बौद्ध धर्म के अवशेष मिलते है। विद्वानो का विचार है कि समितिया बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म-भाव के इतना निकट था कि वह अनायास ही कालातर मे उसमे अतर्भुक्त हो गया, यद्यपि १२२५ ई० तक एक चीनी यात्री के वृत्तात मे उसके अवशेष का आभास मिलता है।[११]

उत्तर-पश्चिम मे नवी शताब्दी तक जालधर, गुजरात, राजपूताना, गाधार और उड्डीयान मे बौद्ध मत प्रतिष्ठित था और पुरुषपुर के प्रसिद्ध कनिष्क बिहार की सर्वदिक् प्रतिष्ठा थी।[१२] बल्लभी (गुजरात) मे शीलादित्य सप्तम् के समय तक (७७०ई० तक) बौद्ध धर्म का सम्मान था, यद्यपि सिलवेन लेवी के अनुसार उस समय तक बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म बन गया था और उसने शैवमत की अनुरूपता ग्रहण कर ली थी जिसमे वह अतत लयमान हो गया।[१३] पाँचवी शताब्दी मे समितिया स्कूल मालवे मे स्थापित हो गया था और युवान्चाग के समय मे मगध और मालवा बौद्ध ज्ञान के प्रमुखतम केन्द्र थे। इत्सग के समय मे वल्लभी के विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि नालद से कम नही थी। गुजरात के शासक राष्ट्रकूट दतिवर्मन् के एक शिलालेख (८६७ ई०) मे मगलाचरण मे बुद्ध की वन्दना है, यद्यपि विष्णु और शिव से अभयदान की प्रार्थना की गयी है, और उसके भाई ध्रुव द्वितीय के दानपत्र (८८४ ई०) मे बौद्ध सघ का स्पष्ट उल्लेख है।[१४]

११वी शताब्दी के कसिया (कुशीनारा) के एक कलचुरि शिलालेख से यह पता चलता है कि शिव-पार्वती और बुद्ध-तारा बहुत-कुछ समान रूप से और एक ही समय आराध्य थे। दानी पहले शिव-पार्वती की वन्दना करता है और फिर बौद्धमतावलबी के रूप मे विश्वेश्वरी तारा और परम प्रबुद्ध बुद्ध के प्रति अपनी आस्था प्रकट करता है।[१५] मध्ययुगीन शैव भावना के विकास मे कलचुरियो का महत्वपूर्ण स्थान है और तिब्बती परपरा मे कर्ण को स्पष्ट रूप से तीर्थक कहा गया है जिसने बगाल पर आक्रमण कर महाराजा नयपाल को पराजित किया, यद्यपि दीपकर श्रीज्ञान ने मध्यस्थ बनकर शाति स्थापित करवा दी। परन्तु कलचुरियो के युग के मध्यप्रदेशीय शिलालेखो से यह स्पष्ट है कि उस समय तक बौद्ध मत वहाँ से लुप्त नही हुआ था। ११७८ ई० और ११९२

---

९. साचाउः वही, जिल्द २, पृ० ३५३। १०. इलियट एण्ड डाउसन : हिस्ट्री ऑव् इंडिया, भाग २, पृ० ४६५। ११ डॉ० आर० सी० मित्र : वही, पृ० ८५। १२. तककुसो : इत्संग, पृ० १७७ १३. लेवी : ले नेपाल; पृ० ८१७। १४. एपिग्राफिका इडिका, भाग ६, पृ० २८५ और भाग २२, पृ० ६४। १५ वही भाग १८, पृ० १२८।

ई० के दो शिलालेख इस दिशा मे विशेष महत्वपूर्ण है। खजुराहो के कुछ मदिर दसवी शताब्दी तक बौद्ध मदिर थे, जैसे घटई जैनमदिर। महोबा से इस युग के अनेक बौद्ध शिल्प प्राप्त हुए है जिनमे सातन नाम के एक कलाकार की कृति भी है जिसमे लोकनाथ, बुद्ध, तारा, सिहनाद अवलोकितेश्वर उत्कीर्ण है। यह कृत्ति ११वी शती के उत्तरार्द्ध की जान पडती है।[१६] सीरपुर मे आठवी शती के एक मंदिर मे ध्यानी बुद्ध और राम की मूर्तियाँ साथ-साथ प्रतिष्ठित है जिससे यह ज्ञात होता है कि आठवी शती मे ही यह स्थानान्तर प्रारभ हो गया था।[१७] दसवी-ग्यारहवी शती मे अनेक अन्य प्रमाण इस सक्रमण के मिलते है।

बारहवी शताब्दी बौद्ध धर्म के ह्रास और वैष्णव धर्म के पुनरुत्थान का अतिम चरण है और इस शती के अत मे हम इस्लामी आक्रमण के फलस्वरूप बौद्ध चैत्यो, विहारो और सघारामो को सपूर्ण रूप से ध्वस्त होते पाते है। फल यह होता है कि धर्मभावना के क्षेत्र मे एक भीषण अतराल उपस्थित हो जाता है और चौदहवी शताब्दी मे ही नामदेव (१२७०-१३५० ई०) और रामानद (१२९९-१४१० ई०) के प्रयत्नो से इसकी पूर्त्ति होती है। परन्तु इस्लामी प्रहार के बिना भी बौद्धधर्म कालातर मे नवोत्थित हिन्दूधर्म मे अतर्योजित हो जाता। इस्लामी आक्रमण ने इस अतर्योजन-प्रक्रिया को त्वरा दी और उस युग के सामने कोई अन्य मार्ग ही नही छोडा। सम-सामयिक उल्लेखो से इसकी अनिवार्यता का पता चलता है। गोविन्दचद्र की दो पत्नियाँ कुमार देवी और वासन्तदेवी बौद्ध थी और महायान की उपासिका थी यद्यपि स्वय गोविन्दचद्र वैष्णव थे। जयचद (११७०-११९३ ई०) के राजगुरु मित्रयोगी भी बौद्ध ही कहे जाते है।[१८] इस तरह यह निश्चित है कि बारहवी शताब्दी मे विलयन-प्रक्रिया बडी तेजी से गतिशील थी और बौद्ध तथा हिन्दू साधानाएँ तत्र-मत्र, ध्यान पूजोपचार एव प्रतीको के क्षेत्र मे घुली-मिली चल रही थी। इसी समय के लगभग वज्रयान, सहजयान, मत्रयान, चक्रयान शैव और वैष्णव तात्रिक सप्रदायो मे परिवर्तित हो जाते है। शैव तात्रिक सप्रदायो के सबध मे हमे विस्तृत जानकारी प्राप्त है।[१९] परन्तु वैष्णव तात्रिक सप्रदायो का इतिहास अभी अलिखित ही है। केवल बगाल के सहजिया[२०] और राजस्थान के निरजन मत[२१] का किचित् इतिहास उद्घाटित हुआ है। सभवत १२०० ई० मे महा-राज लक्ष्मणसेन की पराजय और मृत्यु के कारण बगाल इस्लामी शासन के अतर्गत आ गया। सेन वश के द्वारा ही बंगाल मे वैष्णव सस्कारो का जन्म हुआ और राधा-कृष्ण सबधी प्रचुर साहित्य लक्ष्मणसेन के समय मे निर्मित हुआ। जयदेव और उमापतिधर इन्ही लक्ष्मणसेन से सबधित हैं। मिथिला और नवद्वीप बहुत पहले से वैष्णव धर्मोत्थान के केन्द्र बन गये थे और शासक वशो के कर्णाटकीय होने के कारण दक्षिण के सस्कारो का यहाँ प्राचुर्य था। इन सस्कारो ने ही उत्तर

---

१६. ए० आर० ए० एस० ओ० (१९१५-१६), पृ० १७१, प्लेट १, ३। १७. डॉ० आर० सी० मित्र: वही, पृ० ४० (ए० एस० जे० भाग २७, पृ० ५-६ से उद्धत)। १८. डॉ० आर० सी० मित्रः वही, पृ० ४२। १९. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी नाथ सम्प्रदाय (१९५०)। २०. दिनेश चन्द्र सेन : सहजिया सम्प्रदाय (बँगला)। २१. डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल : योग-प्रवाह, पृ० ३८-५४।

मे कर्णाटकी सगीत और भागवतप्रियता की दागबेल डाली और राधा-कृष्ण की प्रेमकथा को पल्लवित किया। बाद मे सोलहवी शती के अत तक हमे बौद्ध साधको और गृहस्थो के चिह्न मिल जाते है, परन्तु धार्मिक शक्ति के रूप मे बौद्ध धर्म इस्लामी आक्रमण के साथ ही समाप्त हो जाता है। अराजकता और धर्म-विद्वेष की इस एक शताब्दी (तेरहवी शताब्दी) के बाद जब हम चौदहवी शताब्दी मे प्रवेश करते है तो पजाब मे नामदेव और काशी मे रामानद के रूप मे दो महान् वैष्णवो के हमे दर्शन होते है और पढरपुर की विट्ठल-भक्ति तथा राघवानद की रागानुगा रामभक्ति नये सस्कारो के साथ विकासमान दिखलायी देती है। उत्तर भारत मे बौद्ध धर्म का अतिम केन्द्र नालद था जिसके खडहरो मे बौद्ध धर्म के विकास की अतिम छ शताब्दियो का इतिहास निहित है।

बौद्ध धर्म के इस पतन-चक्र के साथ जब हम मध्ययुगीन वैष्णव धर्म के क्रमविकास को मिला कर देखते है तो सारी प्रक्रिया स्पष्ट ही समझ मे आ जाती है। इस क्रम-विकास की सभी शृखलाएँ अभी उद्घाटित नही हो सकी है, परन्तु गुप्तयुग (पुराण-युग) मे ही उसका मूल माना जा सकता है। पाँचवी शताब्दी से दक्षिण भारत और गुजरात मे वैष्णव धर्म के चिह्न मिलने लगते है। वास्तव मे वैष्णव भक्तिवाद तमिल और कन्नड प्रदेशो मे होता हुआ १२वी शती के उत्तरार्द्ध मे महाराष्ट्र पहुँचता है और तेरहवी शताब्दी मे उत्तर भारत मे बौद्ध धर्म के लोप से उत्पन्न अतराल के कारण अप्रत्याशित रूप से सफलता प्राप्त करता है। यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत मे प्रवेश से पहले वह बौद्ध और जैन धर्मो एव आचार-विचारो से बहुत-कुछ ग्रहण कर चुका था और महाराष्ट्र के प्राथमिक सतो अथवा वारकरी सप्रदाय के भक्तो मे उसका परिपूर्ण व्यक्तित्व विकसित हो चुका था। बाद की शताब्दियो मे उसने तात्रिक विचारधारा को भी ग्रहण किया और विट्ठल-भक्ति के स्थान पर मधुर भक्ति अथवा शृगार-भक्ति की योजना के द्वारा लीलावाद और राधावाद के रूप मे एक नये भावोल्लास और एक नये समन्वय की उपलब्धि की। सोलहवी शताब्दी की राधावल्लभी और हरिदासी वैष्णव साधनाएँ और पश्चात् रामभक्ति के अतर्गत स्वमुखी और तत्सुखी शाखाओ का विकास स्पष्ट रूप से यह द्योतित करता है कि बौद्ध तात्रिक साधनाएँ वैष्णव धर्म की उदारता के सहारे किस प्रकार उत्तरोत्तर शक्ति के साथ उसमे प्रवेश करती गयी थी और उनके कारण वैष्णव धर्म का प्रारभिक नैतिक स्तर किस प्रकार त्रस्त हो उठा था। जो हो, यह स्पष्ट है कि मध्ययुग की वैष्णव सस्कृति मे अनेक विविध एव विरोधी जातीय-विजातीय सास्कृतिक तत्व अविच्छिन्न रूप से समीकृत हो गये थे।

वैष्णव भक्ति का प्रारम्भिक स्वरूप आलवारो की रचनाओ 'तेवारम्' और 'प्रबंधम्' (नालियर, दिव्य) मे मिलता है जिसका सकलन नाथ मुनि (८२४-९२४ ई०) ने किया। नाथ मुनि का वंश पाचरात्र वैष्णव सप्रदाय मे दीक्षित था और वही रामानुज के श्रीवैष्णव सप्रदाय का मूल है। रामानुज (१०१७–११३७ ई०) ने ही श्रीवैष्णव सप्रदाय को संगठित किया और 'प्रबधम्' को 'पचम वेद' का स्थान दिलाया। उन्ही के प्रयत्नो से आलवारो की मूत्तियाँ वैष्णव मदिरो मे स्थापित हुई। आलवारो का युग पल्लवो का युग है जो पहली शताब्दी से आरंभ होकर ८५० ई० तक समाप्त हो जाता है। आलवारो का ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार

है पोगइ, पुदम् (भूत), पइ, तिरुमलिसै, नाम (शठकोप), मधुकर, कुलशेखर, पेरिय (विष्णु-चित्त), गोदा (अण्डाल), तोण्डरदिप्पोड्डि, तिरुप्पाणर और तिरुमगइ। इन अलवारो की रचना मे प्रमुखता नामालवार के चार शतको और तिरुमगइ के छ शतको को मिली है जिन्हे क्रमश वेद और वेदाग माना गया है। इन दोनो मे भी नामालवार अधिक उत्कृष्ट है, क्योकि उनकी रचनाओ मे उपनिषद्, वेदात, गीता और भागवत का निचोड मिल जाता है। विशिष्टाद्वैत के परवर्त्ती आचार्यो ने नामालवार को 'कूटस्थ' सज्ञा दी है, क्योकि श्री-वैष्णवो की आस्था और वैचारिक भूमि का आरभिक रूप उन्ही मे प्राप्त होता है। उन्हे हम आलवार-साहित्य के केन्द्र मे प्रतिष्ठित पाते है। इसमे सदेह नही कि रामकृष्ण के प्रति भक्ति-भावना के जो अनेक परिपार्श्व मध्ययुग मे उत्तर भारत मे विकसित हुए, उनका मूल रूप 'नालियर प्रबधम्' मे मिल जाता है, परन्तु हिन्दी का भक्ति साहित्य तमिल और कन्नड पद-साहित्य से किस प्रकार सबधित है, यह कहना कठिन ही है। प्रारभिक वैष्णवो मे से अनेक दाक्षिणात्य है और उनके द्वारा पद-रचना की सूचना भी हमे मिलती है, यद्यपि ज्ञानदेव और नाम-देव से हिन्दी पद-परपरा की स्थापना होती है। विद्वानो का विचार है कि भक्ति-तत्र का आरभ सूर्योपासना के साथ हुआ और आरभ मे सूर्य 'विष्णु' के रूप मे प्रकाम्य बने। बाद मे सात्वत यादव जाति मे देवकी पुत्र वासुदेव कृष्ण को लेकर यह भाव विकसित हुआ और वह वासुदेव 'भागवत' कहे गये। उनके भक्त भागवत कहलाये। भागवत धर्म का आरभ ब्रजप्रदेश मे हुआ, परन्तु सभवत दूसरी शती ई० पू० के लगभग भागवत धर्म पाचरात्र आगम के नाम से प्रसिद्ध होकर दक्षिण मे पहुँचा और अर्चावतार की कल्पना के द्वारा उसने अनेक स्थानीय इष्टदेवो को विष्णु के अवतार के रूप मे भागवत धर्म मे स्थान दिया। इस नये अतर्योग के फलस्वरूप ही तमिल प्रदेश मे आलवार भक्ति का जन्म हुआ।

तेरहवी शताब्दी में कर्णाटक मे विट्ठल-भक्ति का जन्म हुआ और दासकूटो (दासो) की साधना और उनके रचित पद-साहित्य के रूप मे नया भक्तिभाव सामने आया। ये दास दास्य भाव के उपासक और मध्व के द्वैत भाव के समर्थक है। मध्व (१२००-१२७६ ई०) के भक्तिवाद का आधार भागवत पुराण है और उन्होने द्वैताश्रित कृष्णभक्ति का ही प्रचार किया है।[२२] मध्व के बाद सम्प्रदाय की गद्दी को नरहरि तीर्थ (आ० १३३१ ई०) ने सुशोभित किया और सस्कृत का आश्रय छोड़कर कन्नड पदसाहित्य को प्रश्रय दिया। इस 'हरिदासी' सप्रदाय मे नरहरि तीर्थ के पश्चात् श्रीपादराज (आ० १४९२ ई०), व्यासराय तीर्थ (१४४६-१५३९ ई०) और शिनप्पा (१५-९१-१५६३ ई०) आते है। इनका प्रचुर पदसाहित्य प्राप्त है। श्रीपादराय ने पहले-पहल 'भ्रमरगीत', 'वेणुगीत' और 'गोपी-गीत' का कन्नड अनुवाद प्रस्तुत किया। ये अनुवाद श्रीरगम् के मदिर मे प्रत्येक दिन गाये जाते रहे है। वास्तव मे वैष्णव-भक्ति के व्यापक प्रसार का श्रेय 'हरिदासो' को है, क्योकि उनके पद 'तेवारम्' और 'प्रबधम्' के तमिल साहित्य की भाँति शिष्ट जनो की वस्तु नही थे। यह जन-साहित्य था और हरिदासो ने राग-रागिनियो मे बाँध कर उसे लोकप्रियता

२२. कलचरल हेरिटेज ऑव् इंडिया, भाग २, पृ० ३५१।

दी। हरिदासो का पद-साहित्य मगला के वैष्णव साहित्य की भाँति भावात्मक और शृगार-प्रधान नही है, क्योकि उनका दृष्टिकोण सयत और निर्वैयक्तिक था। उनकी लोककल्याण-भावना भी सपूर्णत जाग्रत थी। तत्कालीन कर्णाटकीय सगीत के विकास ने इस भक्तिभाव के प्रचार मे बडी सहायता की।

महाराष्ट्र मे वैष्णव भक्ति का प्रमुख केन्द्र पढरपुर रहा है। यह भीमा नदी के तट पर बसा है जो कर्णाट और महाराष्ट्र के बीच सीमा-रेखा का निर्माण करती है। कर्णाटकी हरिदासी भक्ति और पढरपुर की विट्ठल भक्ति एक ही इष्टदेव बिठोवा पर आधारित है और दोनो समकालीन भावप्रक्रियाएँ है। परन्तु जहाँ हरिदासी भक्ति विशुद्ध आलवार भक्ति (रागानुगा भक्ति) है, वहाँ वारकरी भक्ति गोरखनाथ के योग और चक्रधर के महानुभाव पथ की भूमिका को लेकर विकसित होती है। महाराष्ट्री स्रोतो से १२०७ ई० मे गोरखनाथ की अवस्थिति का पता चलता है। इन्ही के शिष्य गहिनीनाथ से निवृत्तिनाथ (१२७३-१२९७ ई०) दीक्षित थे। ये निवृत्ति ज्ञानेश्वर के ज्येष्ठ भ्राता और दीक्षागुरु थे। ज्ञानेश्वर (१२७५-१२९६ ई०), सोपान (१२७७- १२९६ ई०), मुक्ताबाई (१२७९-१२९७ ई०) और चागदेव (मृ० १३०५ ई०) मे हम भक्ति के नवीन योगायोग की स्पष्ट झलक देखते है। इसे हम अद्वैत भक्ति या (निर्गुण) योगाश्रित भक्ति कह सकते है। इस परपरा मे गोरा कुम्हार (ज० १२६७ ई०), विसोवा खेचर (मृ० १३०९ ई०), सम्पत माली (मृ० १२९५ ई०), चोखामेला (मृ० १३३८ ई०), नरहरि सुनार (मृ० १३१३ ई०), सेना (आ० १४४८ ई०), कन्होपात्र (आ० १४६८ ई०) और भानुदास (१४४८-१५१६ ई०) उल्लेखनीय है। परन्तु इस वारकरी भक्ति को लोकप्रियता नामदेव (१२७०-१३५० ई०) के द्वारा ही प्राप्त हुई और पश्चिमी हिन्दी प्रदेश, मुख्यत पजाब मे वैष्णव भक्ति के बीजारोपण का श्रेय भी उन्हे ही प्राप्त है।

ऊपर के ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत मे वैष्णव धर्म का मध्ययुगीन विकास दक्षिण के आलवारो, हरिदासो और वारकरी सप्रदाय के भक्तो का आभारी है। हरिदास (दासकूट) और वारकरी आन्दोलनो को हम बहुत कुछ समकालीन भी मान सकते है, परन्तु यह निश्चित है कि ये समानातर रेखाएँ मध्य युग की उत्तर भारतीय भक्ति-रेखा को पुष्ट करती रही, यद्यपि कालातर मे उत्तर भारत की वैष्णव भक्ति ने बौद्ध धर्म के पतन से उत्पन्न अतराल को भरने के प्रयत्न मे उत्तर महायानी विकास (वज्रयान, तत्रयान, मत्रयान, सहजयान और कालचक्रयान) के भी अनेक तत्व ग्रहण कर लिये। वास्तव मे सोलहवी शताब्दी मे उत्तर भारत के वैष्णव सस्कार इन्ही विविध प्रभावो के कारण विविध सप्रदायो मे बँट जाते है। उनमे मत्र, तत्र, शृगार भाव और गुह्य साधनाओ की योजना स्पष्ट रूप से पूर्ववर्त्ती बौद्ध साधनाओ की ओर इगित करती है। परन्तु यह भी निश्चय है कि इस समन्वय ने वैष्णव सस्कृति के उदार और उदात्त व्यक्तित्व का निर्माण किया है।

उत्तर भारत के वैष्णव सस्कारो की रूपरेखा को हम पश्चिमी हिन्दी प्रदेश से आरभ करेंगे। पश्चिमी हिन्दी प्रदेश की सीमा गुजरात तक फैली थी। वास्तव मे भाषा और सस्कृति की दृष्टि से गुजरात, मारवाड, मालवा, राजस्थान, उज्जयिनी और मथुरा का सास्कृतिक

सीमात ही था। इस क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण सास्कृतिक केन्द्र पाटण था जहाँ युग के शौर्य, साहस विद्वत्ता, कला और सस्कृति को प्रचुर प्रश्रय मिला था।

गुजरात मे वैष्णव धर्म (भागवत धर्म) का प्रवेश गुप्त युग मे हुआ और सभवत एक छोटा वर्ग इस धर्म का अनुयायी भी बन गया, यद्यपि बाद मे शैव और जैन धर्मो का गुजरात मे विशेष प्रचार हुआ। गिरनार पर्वत पर स्थित ४५५ ई० मे कृष्णार्पित एक मदिर हमे प्राप्त है और उत्तर गुजरात मे इस समय के अनेक ऐसे मदिर खोज निकाले गये है जिनमे विष्णु के किसी-न-किसी अवतार की प्रतिष्ठा है। स्वय हेमचन्द्र ने पाटण के एक विष्णु-मदिर का उल्लेख किया है। १०७४ ई० के एक शिलालेख मे प्रारभ मे द्वादशाक्षरी मत्र आता है जिससे वासुदेव के प्रति इष्ट-भावना की स्थापना होती है। हेमचन्द्र (१०८९-११७३ ई०) ने 'काव्यानुशासन' मे दो ऐसे श्लोक उद्धृत किये है जिनसे उस युग की कृष्णोपासना पर प्रकाश पडता है।[२३] 'कीर्तिकौमुदी' मे सोमेश्वर (११८४-१२५४ ई०) का उल्लेख है कि जैन वसुपाल शकर और केशव दोनो मे आस्था रखते थे और 'सुरतोत्सव' मे राधा-कृष्ण के प्रेम-विलास का निर्देश है। इसी समय के लगभग वीरधदेव ने वीरनारायण के नाम से एक विष्णु-मदिर का निर्माण कराया था। नवी शताब्दी मे गुजरात के ब्राह्मणो पर (जो पाशुपत धर्म मे दीक्षित थे) शकराचार्य के वेदात-दर्शन का गहरा प्रभाव पडा, परन्तु रामानुज, मध्व और निम्बार्क तथा अन्य वैष्णव आचार्य गुजरात को अधिक प्रभावित नही कर सके, यद्यपि उनकी उत्तर-भारत-यात्रा के मार्ग मे गुजरात पडता था और एक तरह से उसे उत्तरापथ और दक्षिणापथ को जोडने वाला मध्यवर्त्ती क्षेत्र कहा जा सकता है। इन आचार्यो मे से किसी ने गुजरात को अपने प्रचार का केन्द्र नही बनाया, परन्तु उनकी विचारधारा ने उसे सहिष्णु और उदार अवश्य बनाया होगा।

१५वी शताब्दी तक राजस्थान शैवधर्म मे दीक्षित रहा है और वहाँ नाथपथियो एव शाक्तों का प्राधान्य रहा। सभवत गहरवार (राठौर) राजपूतो की जो शाखा जयचद की पराजय के बाद जोधपुर मे स्थापित हुई वह वैष्णव भक्तिभाव भी अपने साथ लेती गयी और बाद मे उसने मेडता मे ही एक शाखा स्थापित की। इसी मेडता-वश मे मीराँ (१५००-१५४८) का जन्म हुआ। मीराँ का जीवनवृत्त ही प्रमाण है कि उनके समय मे वैष्णव भक्ति राजस्थान मे प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सकी थी और मीराँ की साधना ब्रज-सप्रदायो से स्वतत्र व्यक्तिगत स्तर की वस्तु थी। बाद मे सतरहवी शताब्दी मे औरगज़ेब के शासन-काल मे कॉकरौली मे श्रीनाथ जी की स्थापना हुई और वैष्णव धर्म का एक प्रमुख केन्द्र राजस्थान मे स्थापित हुआ। परन्तु पूर्वी राजस्थान मे आमेर राज्य के 'गलता' स्थान पर इस प्रकार का एक प्राचीन केन्द्र था और सभवत रामानंद के समय मे इस केन्द्र की स्थापना हो चुकी थी। वैष्णवो मे यह केन्द्र उत्तर तोताद्रि के नाम से प्रसिद्ध था। मेवाड के राणा कुभ (१४३३-१४६८ ई०) का 'गीत-गोविन्द' का अनुवाद और उनकी रानी झाली का रैदास का शिष्यत्व यह सिद्ध करते है कि पद्रहवी शताब्दी के आरभ मे वैष्णव भावना राजस्थान मे अपनी जड जमा रही थी और उसे

२३. के० एम० मुंशी : गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, पृ० ७७।

हम उस हिन्दू पुनरुत्थान से सबधित कर सकते है जिसका प्रतीक मेवाड का शिशोदिया वश था।[२४]

पश्चिमी हिन्दी प्रदेश मे सरहिंद नामदेव के समय (१२७०-१३५०) मे ही वैष्णव भावना का केन्द्र बन चुका था, परन्तु प्राचीन युग मे यह क्षेत्र नाथपथी योगियो और सूफियो की क्रीडाभूमि रहा है। फलस्वरूप, विशुद्ध वैष्णव भाव का प्रसार वहाँ असभव था। १५वी शती मे पूर्वी पजाब और सरहिद मे वैष्णव साधना निर्गुण साधना के रूप मे विकसित हुई और गुरु नानक (१४६९-१५३८ ई०) उसके आदि प्रवर्त्तक कहे जा सकते है। 'गुरु ग्रथ साहब' (स० १६०४ वि०) मे वैष्णव भावना के निर्गुण रूप का बडा विस्तार सकलित है, यद्यपि बाद मे सिख-पथ के रूप मे उसने साप्रदायिक आधार ग्रहण कर लिया। दक्षिण-पश्चिमी हिन्दी प्रदेश मे ग्वालियर के तोमर वश (१४००-१५१९ ई०) और गढकुडार-ओरछा के बुन्देलो ने ईसा की पद्रहवी शताब्दी मे हिन्दू सस्कृति का प्रतिनिधित्व किया और पूर्ववर्त्ती प्रतिहारो, परमारो, चन्देलो, बुन्देलो कछवाहो और चौहानो की सास्कृतिक परपराओ को अग्रसर किया। ये दोनो राज्य साहित्य, सगीत तथा कलाओ के केन्द्र बन गये और मध्य युग के वैष्णव साहित्य के आरभ के लिए हमे इन्ही स्वतत्र राज्यो की ओर देखना पडता है। पिछले दिनो मे गोस्वामी विष्णुदास (आ० १४३५ ई०)[२५], थेघनाथ (आ० १५०० ई०)[२६] और मानक कवि (१४८९ ई०)[२७] का काव्य प्राप्त हुआ। जिससे पता चलता है कि ब्रजप्रदेश के कृष्ण-भक्ति-आन्दोलन और कृष्ण-काव्य की लगभग एक शताब्दी की साहित्य-साधना थी जो पुराणो के अनुवाद और विष्णुपदी के रूप मे प्रचलित थी। इस क्षेत्र से तत्कालीन जैन कवियो का काव्य भी प्राप्त होता है जो अपभ्रश जैन-काव्य की परपरा से प्रत्यक्ष रूप से सबधित है। ओरछा के बुन्देलो ने भी इस परपरा को जीवित रखा और नवरत्नो मे से दो रत्न बीरबल और तानसेन अकबर को रामचन्द्र बुन्देला से ही प्राप्त हुए थे। वास्तव मे ब्रजभाषा और बुन्देलखण्डी क्षेत्रो मे वैष्णव धर्म की परपरा बहुत पहले स्थापित हो गयी थी। कालिजर, खजुराहो और चित्रकूट के मदिर इसके प्रमाण है।

कान्यकुब्ज, प्रयाग और काशी मे गहरवारो के समय मे ही ब्राह्मण-धर्म को महत्व मिल चुका था। गोविन्दचन्द्र (१११४—११५५ ई०) के समय मे ब्राह्मणो की सर्वोपरि प्रतिष्ठा थी और उस युग की अतर्वेदीय स्थिति का पता पडित दामोदर शर्मन् के ग्रथ 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण से चलता है। जयचद की पराजय के बाद (११९३ ई०) इस क्षेत्र मे ब्राह्मण धर्म का प्रभाव और भी बढा होगा। ज्ञानेश्वर के पिता विठ्ठलपत को काशी से व्यवस्था-पत्र मिलने पर ही जाति मे स्थान मिला, इससे यह स्पष्ट है कि धर्म और समाज-व्यवस्था के क्षेत्र मे समस्त उत्तर भारत और महाराष्ट्र पर काशी की धाक थी। ऐसा जान पडता है कि उत्तर भारत मे राम-मत्र के प्रचार का सारा श्रेय राघवानद को है जिन्हे 'अवधूत' भी कहा गया है। यही राघवानद रामानद (१२९९-१४१० ई०) के गुरु थे। 'सिद्धान्तपचमात्रा' नाम का उनका एक ग्रथ भी हमे

---

२४. के० एम० पणिक्कर: सर्वे ऑव् इडियन हिस्ट्री, पृ० १७७-८। २५ 'महाभारत-कथा' और 'रुक्मिणी-मंगल'। २६. भगवत्गीता भाषा। २७. बैतालपच्चीसी।

प्राप्त है जिसमे योग-सप्रदाय और श्रीवैष्णव-सप्रदाय के समन्वय के प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस पुस्तिका की प्रति गोवर्धन के रामानुजी हनुमान-मदिर मे पायी गयी है जिससे यह स्पष्ट है कि बारहवी शती के मध्य मे राघवानद द्वारा वैष्णव नवोत्थान का आरभ हो गया था। नाभादास ने लिखा है कि राघवानद ने पृथ्वी का पत्रावलबन किया और वर्णाश्रम धर्म तथा भक्ति के सार्वभौम प्रचार के बाद काशी मे आ बसे।[२८] रामानद के सबध मे फर्कुहर का मत है कि उनका सबध दक्षिण के किसी पुरातन रामोपासक अद्वैत सप्रदाय से था जो बाद मे श्रीवैष्णवो मे अतर्भुक्त हो गया और वे ही दक्षिण से 'अगस्त्य-सहिता' और 'अध्यात्म रामायण' जैसे ग्रथ लाये।[२९] इस कार्य का श्रेय कदाचित् रामानद को ही मिलेगा। इसमे सदेह नही कि उत्तर भारत मे वैष्णव धर्म के योग्य पुरुष रामानंद ही थे। पद्रहवी शताब्दी रामानद की शताब्दी कही जा सकती है।

अयोध्या इस्लामी आक्रमण से बहुत दिनो तक बची रही और वहाँ वैष्णव धर्म के विकास के लिए हमे कई शताब्दियो पीछे जाना होगा। यह निश्चय है कि मध्य युग मे अयोध्या हनुमद् भक्ति और रामभक्ति का एक प्रमुख केन्द्र था और कदाचित् योग-साधना का भी वहाँ प्राधान्य रहा था। प्राचीन युगो के खण्डहर और मदिर इसी ओर इगित करते है।[३०]

पूर्वी हिन्दी प्रदेश (मिथिला और बिहार) मे बौद्ध धर्म का अस्तित्व इस्लामी आक्रमण के बाद तक रहा और एक बार फिर नालद के ध्वसो को पुन जीवत करने की चेष्टा की गयी। कहा जाता है कि कबीर के समय मे उनके शिष्य भगवानदास ने धनौती मे एक मठ की स्थापना की थी, परन्तु वास्तव मे सोलहवी शती तक बौद्ध और शैव प्रभाव इस क्षेत्र मे प्रधान रहे है। वैसे नान्यदेव (१०१७ ई०) के द्वारा कर्णाटकी राजवश की स्थापना के कारण भागवत धर्म की प्रतिष्ठा यहाँ ग्यारहवी शताब्दी मे ही हो गई थी और बाद मे ओनवाल वश भी वैष्णव धर्म का समर्थक था, परन्तु जनता मे शैव और शाक्त साधनाएँ प्रचलित थी। सोलहवी शताब्दी मे जनकपुर अवश्य रामभक्ति का केन्द्र बन गया और वारिपुर-दिग्पुर का तुलसी ने स्पष्ट उल्लेख किया है।[३१] बिहार के सूफी सतो की परपरा के मूल मे भी रामानद का नाम लिया जाता है जिससे रामानद के व्यापक प्रभाव का पता चलता है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैष्णव धर्म का जो रूप बिहार मे विकसित हुआ उसपर पूर्ववर्त्ती बौद्ध सस्कारो की गहरी छाप थी।

सीमातो मे मध्यप्रात और बगाल-उडीसा के प्रदेश आते है। मध्यप्रात मे वैष्णव धर्म का प्रसार ११वी शताब्दी मे हो गया था। इस शताब्दी की हैहय शासनकालीन कुछ प्रतिमाएँ मैहर के पास एक स्तभ पर खुदी मिली हैं। इस स्तभ पर मत्स्य, बुद्ध, वामन और कल्कि की मूर्त्तियाँ एक के ऊपर दूसरी स्थित है। दूसरे स्तभ पर कूर्म, वाराह और नरसिह की प्रतिमाएँ

---

२८. पत्रालब पृथ्वी करि काशी स्थाई। चार बरन आश्रम सबहीं को भक्ति दृढ़ाई। (नाभादास: भक्तमाल, ३०)। २९. फ़र्कुहर: आउटलाइन ऑव् इडियन रिलीजस बुक्स, पृ० ५६। ३०. लाला सीताराम: अयोध्या का इतिहास। ३१. तुलसीदास: कवितावली।

मे सग्रथित कर दिया और पुराणोक्त 'धर्म' ही इहलोक-परलोक के निमित्त जीवनचर्या बना। उसीसे आर्य-जीवन मे एकसूत्रता और निरतरता आयी। इन्ही पुराणो के द्वारा जहाँ एक ओर बौद्धधर्म का उन्मूलन किया गया, वहाँ मुसलमानो से उत्क्रात हो जाने पर इन्ही के द्वारा हिन्दू धर्म और सस्कृति के सरक्षण का कार्य सपन्न हुआ। पौराणिक उपाख्यानो मे ऐसा बहुत कुछ था जो नयी पीढियो को आर्यपरपरा मे दीक्षित करने मे सफल हुआ और जिसने विदेशियो के धर्मप्रचार की दुर्दमनीयता का उत्क्रमण किया। नयी जातियाँ पौराणिक गोत्रो को अपनाकर ही वर्णाश्रम धर्म मे व्यवस्थित हुई। वास्तव मे पुराणो के आधार पर मध्ययुगीन ब्राह्मण-समाज शीर्षस्थान ग्रहण कर सका। पुराणो ने ही नव हिन्दू चेतना को जन्म दिया और हिन्दू समाज को आश्चर्यजनक जीवनक्षमता दी। पुराणवाचक मध्ययुग का केन्द्र-पुरुष बन गया और उसने जनपदीय भाषाओ के माध्यम से पुराणो के संदेश को घर-घर पहुँचाया। उसने अतीत को पुनर्जीवित किया। वास्तव मे कवियो, सुधारको, दार्शनिको, पौराणिको और भक्तो, मब ने पुराण-ग्रथो से प्रेरणा प्राप्त की। उन्ही के माध्यम से वैष्णव सस्कृति ग्रामीण समाज तक पहुँची और उसने पौर सस्कृति पर निरतर वृद्धिमान ईरानी प्रभाव को चुनौती दी। इसमे सदेह नही कि मध्ययुग मे वैष्णव धर्म और सस्कृति के द्वारा भारतीयता की रक्षा हो सकी।[३२]

गहरवारो की पराजय से पहले उत्तर भारत सपूर्ण रूप से समृद्ध था। अरबी यात्रियो ने उसके नगरो के ऐश्वर्य और वैभव का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। परन्तु बाद की पूरी शताब्दी (१३वी शताब्दी) अराजकता की शताब्दी रही है। मदिर खण्डित किये गये, शताब्दियो की सचित धन-सपत्ति लूट का विषय बनी, बलात्कार और अपहरण अराजक जीवन के नियम बन गये। इस्लाम का झडा चतुर्दिक फहराने लगा। बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन ने वर्णाश्रम धर्म के सामने एक विषम समस्या खडी कर दी। लोग सुरक्षा की खोज मे जहाँ-तहाँ घूमने लगे और इसी समय बडे-बडे जन-समूह स्थानातरित होकर दूर-दूर बस गये। गुजरात और देवगिरि मे ब्रज, बागडू और मारवाड की अनेक जातियाँ जा बसी और ये अपने साथ उत्तर की भाषाएँ लाई।[३३] धर्मगुरु, पण्डित, कवि, कलाकार और साधु-सन्यासी सुदूर गाँवो मे चले गये जहाँ विद्वेपी यवनो से बचकर वे अपने सस्कारो को सुरक्षित रख सकते थे। इस्लामी प्रभुत्व-क्षेत्र मे जो जन रहे उनके सामने यही मार्ग था कि वे नारी-समाज को परदे के पीछे बद कर दे और जातिवाद, पचायत और महाजन को लेकर स्वतत्र गढ बना कर अपने लिए नये ससार के निर्माण का प्रयत्न करे।[३४]

इस्लाम की विजय के कारण सास्कृतिक क्षेत्र मे उथलपुथल मच गयी। सस्कृत का राजाश्रय समाप्त हो गया और राजाश्रय मे पनपने वाली पण्डित-मडलियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गई। पण्डितवर्ग काशी, मिथिला, नवद्वीप और पुणे मे केन्द्रित हो गया और उसने नयी स्मृतियो का निर्माण कर व्यवस्थाओ के द्वारा पुरातन सस्कारो की सुरक्षा एव रक्तशुद्धता का प्रयत्न किया। यह

---

३२ संपा० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : रामानन्द की हिन्दी रचना, पृ० २८।
३३. के० एम० मुंशी : वही, पृ० ११४। ३४. डॉ धीरेन्द्र वर्मा : विचारधारा (१९३७)

प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ, यह कहना कठिन है, परन्तु उससे जातिविद्वेष और सकीर्ण अह का जन्म अवश्य हुआ। साधु-सन्यासियो के बडे-बडे अखाडे बने और ध्वस्त बौद्ध चैत्यो, विहारो का स्थान मठो और आश्रमो ने ले लिया। जीविका के उपार्जन मे असमर्थ पण्डितवर्ग सुदूर नगरो और ग्रामो मे पुरोहिती अथवा पौराणिकी वृत्ति के द्वारा किसी तरह जीने का प्रयत्न करने लगा। कई शताब्दियो बाद यही निराश्रित पण्डितवर्ग देशी राज्यो और देशाधिपति अकबर पातशाह का आश्रय पाकर रीति कविता की नीव डालता है और स्वस्थ सौन्दर्य के स्थान पर भोगवादी एव चमत्कारनिष्ठ शृगार-परपरा का निर्माण करता है। इस समस्त विशृखलता का फल यह हुआ कि समाज का नेतृत्व पण्डितवर्ग के हाथ से निकल कर अपढ साधको, सन्यासियो, योगियो और सूफियो के हाथ मे चला गया जो देशी भाषाओ मे लोकगीतो और लोकछदो के सहारे अटपटी वाणी मे जनता को ससार की असारता और वैराग्य का उपदेश देते हुए स्थान स्थान पर विचरने लगे। वल्लभाचार्य के समय तक यह विषम परिस्थिति बनी रही है और उनके 'कृष्णस्त्रोत्र' मे इससे उबरने की उत्कट आकाक्षा सन्निहित है।[३५] वास्तव मे बाहरी ध्वस से वह भीतरी ध्वस अधिक व्यापक और विनाशकारी था जिसने शताब्दियो मे निर्मित आस्थाओ, जीवनप्रेरणाओ और परपराओ को आमूल नष्ट कर दिया था। इसी बाहरी-भीतरी ध्वस पर अगली शताब्दियो मे रामानन्द और वल्लभाचार्य द्वारा नयी जन-सस्कृति का निर्माण होता है जिसे हम व्यापक अर्थो मे 'वैष्णव सस्कृति' कह सकते है। इस सस्कृति ने उस भोगवादी ईरानी सस्कृति को चुनौती दी जो इस्लामी विजय के बाद नगरो मे विकसित हो रही थी और जिसे इतिहासकारो ने भ्रातिवश मध्ययुग का प्रतिनिधित्व दिया है। सच तो यह है कि नयी आस्था के निर्माण का काम रामानद, कबीर, सूर, तुलसी और मीराँ के काव्य से ही हुआ और ध्रुपद-धमार की नयी गायकी तथा राजस्थानी-कागडा कलमो की चित्रकला मे राधाकृष्ण के प्रेमकथात्मक प्रतीको और रागमाला चित्रो के द्वारा एक नितान्त अभिनव भावलोक की सृष्टि हुई जो माधुर्य, शक्ति और साहस से ओतप्रोत था और जिसमे भारतीय सस्कृति का तप, चिंतन और रस सर्वरूपेण अक्षुण्ण था। वैष्णव सस्कृति की विकासोन्मुख कहानी नयी निष्ठा के निर्माण और विस्तार की कहानी है।

ऊपर के ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत मे नव वैष्णव सस्कारो के प्रवेश का समय भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे भिन्न-भिन्न है और आरभ मे उसकी प्रगति धीमी रही है, परन्तु ग्यारहवी शताब्दी के आरभ मे ही समस्त अतर्वेद पर व्यापक रूप से वैष्णव विचारावली और धर्मसाधना की छाप थी। बारहवी शताब्दी के अतिम दशक मे पठानो का आक्रमण बवण्डर की भाँति समस्त उत्तरापथ को रौदता हुआ चला गया और उसकी प्रलयकरी गति मे प्राचीन सस्कार, धर्म, आदर्श और व्यवहार ध्वस्त होकर खण्डहर बन गये। फलस्वरूप तेरहवी शताब्दी मे वैष्णव धर्म अप्रत्याशित गति से अग्रसर हुआ और गुजरात से बगाल तक तथा पजाब से उडीसा तक उसकी जयभेरी बजने लगी। दर्शन के क्षेत्र मे उसने रामानुज के विशिष्टाद्वैत, मध्व के द्वैत और निम्बार्क के द्वैताद्वैत का आश्रय लिया और अद्वैत भक्ति के स्थान पर द्वैतभावसपन्न

३५. संपा० भट्ट रमानाथ शर्मा: कृष्णाश्रयषोडश ग्रंथ, श्लो० २, ३, ५।

दास्यभावा एव भेदाभेदी श्रृगारी भक्ति को प्रश्रय मिला। इस्लाम के सस्कारो और सूफी साधना की भावपरता से भी उसने सबल प्राप्त किया परन्तु उसने स्वय अपने भीतर से ऐसी शक्ति विकसित कर ली जिसके कारण वह नाना प्राचीन धर्मो, सप्रदायो, भक्ति-भावो और प्रतीको का समुच्चय कर सका और अनेकानेक सस्कारो को एक विराट् समन्वय मे गूँथ सका। यह विराट् समन्वय ही मध्ययुग की वैष्णव सस्कृति है।

इस वैष्णव सस्कृति मे द्वैत और अद्वैत का समाधान साधना की भूमि पर हुआ है। 'ब्रह्मसूत्र' 'गीता' और 'उपनिषद्' का तत्वज्ञान इस सस्कृति का मस्तिष्क है, 'भागवत' और 'अध्यात्म' उसका हृदय है, षोडषोपचार उसकी पूजापद्धति है और वर्णाश्रम धर्म उसका लोक-व्यवहार है। पुरातन विभिन्न साधनाएँ विभिन्न सप्रदायो मे भिन्न-भिन्न रूप धारण करके उदित हुई है और मधुर भाव (श्रृगार भक्ति), वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि सभी दृष्टिकोणो से साधना बलवती हुई है, यहाँ तक कि मीरॉ की दाम्पत्यभावा और चैतन्य की महाभावा श्रृगारिक भावना का भी उसमे समाहार है। पौराणिक व्रतोपासन इस वैष्णव सस्कृति के कर्मकाण्ड है। मूल रूप मे ऐकातिक होते हुए भी मध्ययुग का वैष्णव भक्तिभाव उदार है और "हरि को भजै सो हरि को होई" दृष्टिकोण के द्वारा उसने वर्णाश्रम की कठोरता और सामाजिक आचार-विचार की सकीर्णता का परिहार किया है। इसमे सदेह नही कि सोलहवी शताब्दी के अत तक यह वैष्णव सस्कृति अपने सहस्र दल विकसित कर चुकी थी और साहित्य, सगीत एव कला के क्षेत्र मे इस शताब्दी का योगदान वैष्णव सस्कृति का ही योगदान है। इस वैष्णव सस्कृति ने 'हिन्दूकरण' की प्रक्रिया का विकास किया और पराजित हिन्दू जाति को आशा, उल्लास और विजय का नया रक्षास्तोत्र दिया। रामानद और बल्लभाचार्य मध्ययुग के दो प्रमुख सास्कृतिक व्यक्तित्व है जिन्होने इस सस्कृति के कडे-कोमल पक्षो को नया रूप दिया और विदेशियो से आक्रान्त उत्तरापथ को आतक और अवसाद के गर्त्त मे से उबारा। तुलसी के व्यक्तित्व और साहित्य मे इन दोनोपक्षो का समाहार हो जाता है और इसीसे हम उन्हे उसी प्रकार इस मध्ययुगीन वैष्णव सस्कृति का केन्द्रीय पुरुष कहेगे जिस प्रकार कालिदास को गुप्त युग का केन्द्रीय व्यक्तित्व। स्वय तुलसी की रचनाओ मे एक अत्यन्त विराट् और उदार सकलन एव समन्वय है जो उन्हे मध्ययुग का सर्वश्रेष्ठ महाकवि ही नही, सर्वोत्कृष्ट सास्कृतिक नेता भी बना देता है। 'रघुवश' से 'रामचरितमानस' की तुलना करने पर हमे उन दो विभिन्न जीवनादर्शों का पता लग जाता है जो वैदिक काल से भारतीय सस्कृति को प्रेरित करते रहे है। शील, सौन्दर्य और साहस के साथ लोक-कल्याण और करुणा का समावेश कर तुलसी ने वैष्णव सस्कृति को एक नया मानदण्ड दिया जो अभी भी भारतीय हृदय-मन को प्रबोधन देने मे समर्थ है। इस्लामी परिवेश को प्रधानता देकर मध्ययुग के इतिहासकार उस वैष्णव सस्कृति की अवहेलना करते रहे है जिसे हम सच्चे अर्थो मे जन-सस्कृति कह सकते है। वैष्णव सस्कृति का यह नवीन उत्थान प्रत्यावर्त्तन नहीं, भविष्य की ओर बढता हुआ साहसी कदम है। अगली शताब्दियो के साहित्य और संस्कार मे इसके प्रमाण प्रचुर मात्रा मे मिलेगे।

●

फ़्रेंकलिन एजर्टन

बुद्ध और तत्त्वविज्ञान

सैद्धान्तिक तत्त्वविज्ञान भारतवर्ष मे सदा ही व्यापक रूप से परिवर्धित होता रहा। इन सिद्धान्तो का मूल स्वय ऋग्वेद मे प्राप्त होता है। परन्तु दर्शन के सुव्यवस्थित नियमबद्ध सिद्धान्त बहुत वाद तक आविर्भूत नही हुए। इस प्रसग मे समय की सीमा को लेकर विद्वानो मे व्यापक मतभेद है। सभवत अब कोई भी यह नही कहेगा कि प्राचीन उपनिषदो मे ऐसी व्यवस्थित दर्शन-पद्धतियाँ उपलब्ध होती है। मुझे इसी प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी सत्ता महाभारत-काल तक भी नही थी। 'महाभारत' से मेरा अभिप्राय स्वर्गीय वी० एस० सुक्थकर तथा उनके सहयोगियो द्वारा पुनर्निर्मित महाकाव्य से है जो निस्सदेह अपने मूल रूप के निकटतम दिखायी देता है—ऐसा मूल रूप जिसे कभी प्रकाशन का सौभाग्य मिल सकेगा। मैने अन्यत्र प्रतिपादित किया है कि 'महाभारत' मे साख्य और योग शब्दो का तात्पर्य उन दर्शन-पद्धतियो से नही है जिनके अर्थ मे परिवर्ती काल मे उनका प्रयोग होने लगा। उनका तात्पर्य है मुक्ति के दो साधनो से—प्रथम ज्ञानमूलक और द्वितीय कर्ममूलक। वास्तव मे मेरा व्यक्तिगत विचार, जिससे अनेक विद्वान् सहमत नही होगे, यह है कि ऐसा कुछ भी जिसे सम्पूर्ण एव सर्वक्षेत्रीय दर्शन-पद्धति कहा जा सके, भारतवर्ष मे ईस्वी सन् के काफी बाद तक आविर्भूत नही हुआ।

उस समय अर्थात् २०० ई० के लगभग बौद्ध तथा प्राचीन परम्परावादी ब्राह्मण-दोनो ऐसी पद्धतियो का विकास कर रहे थे। एक दूसरे के मत से भिन्नता रखने वाली अनेक बौद्ध शाखाओ के नाम परिज्ञात है। उनके निर्माता तथा अनुयायी निश्चय ही शून्य मे से अपने सिद्धान्तो की रचना नही करते थे। उनके अनेक मत उन अल्प व्यवस्थित विचारो पर आधारित है जो उनके पूर्ववर्त्ती बौद्ध साहित्य मे लेखबद्ध कर लिये गये थे, और इसमे सदेह नही कि बौद्धो तथा उनके निकटवर्ती ब्राह्मणो मे बौद्धिक प्रतियोगिता थी। मेरे मत से पाली मे लिखित बौद्ध नियमो के प्राचीनतम भाग अपने समय की किसी व्यवस्थित दर्शन-पद्धति को प्रमाणित नही करते, यद्यपि उनमे सिद्धान्तो के पूर्वाभासो अथवा आगे विकसित होने वाले अध्यात्म-विज्ञान से सम्बद्ध कुछ विचारो के प्रारम्भिक रूप अवश्य सन्निहित है।

कुछ भी हो, ऐसे लोग थे और अब भी है जो यह विश्वास करते है कि बुद्ध स्वय अध्यात्म-विज्ञान की एक व्यवस्थित पद्धति के ज्ञाता थे। यह मत हाल ही मे (१९५८ ई०) श्री हेल्मय वान ग्लासेनाप ने, जो जर्मनस्थित ट्यूविनगेन (Tubingen) के सस्कृत प्रोफेसर है, हरमैन ओल्डेनवर्ग की 'बुद्ध' विषयक ख्यातिप्राप्त कृति (प्रथम प्रकाशन १८८१ ई०) के तेहरवे सस्करण के विस्तृत परिवर्धित अश मे प्रतिपादित किया है। इस विषय मे वान ग्लासेनाप का मत ओल्डेन

बर्ग के सर्वथा विपरीत है। मैं ओल्डेनबर्ग से पूर्णतया सहमत हूँ। मै सोचता हूँ, यह निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि न केवल बुद्ध के पास तत्वविज्ञान की पद्धति का अभाव था वरन् यह भी कि तत्वविज्ञान मे उन्हे तनिक भी रुचि नही थी। उन्होने उसे व्यर्थ और उपयोगिता-रहित ही नही समझा वरन् उसकी चर्चा करना भी अस्वीकार कर दिया। पाली प्रमाण, ग्रथो मे ऐसे अनेक अवतरण है जिनसे इसे सिद्ध किया जा सकता है। सबसे अधिक स्पष्ट है मालुक्य सुत्तन्त, 'मज्झिम निकाय' का ६३वॉ उपदेश। 'मज्झिम निकाय' 'सुत्तपिटक' का एक भाग है और 'सुत्तपिटक' के बारे मे यह विश्वास किया जाता है कि इसमे कुल मिलाकर प्रचलित बौद्ध साहित्य और सिद्धान्तो के प्राचीनतम रूप सग्रहीत है।

इस सुत्त मे मालुक्यपुत्त नामक भिक्खु बुद्ध के पास आकर शिकायत करता है कि उन्होने कुछ ऐसे प्रश्नो की व्याख्या नही की है जो उसकी दृष्टि मे बहुत महत्वपूर्ण है, जैसे क्या जगत् शाश्वत है या नही ? यह ससीम है या असीम ? आत्मा और शरीर समान है या भिन्न ? बुद्ध मृत्यु के बाद रहते है या नही ? अथवा क्या मृत्यु के बाद उनका अस्तित्व रहता है और नही भी रहता, या न तो अस्तित्व है और न अनस्तित्व ही ? मालुक्यपुत्त ने स्पष्टत कह दिया कि जब तक बुद्ध इन प्रश्नो का उत्तर नही देगे, या यह नही स्वीकार कर लेगे कि उनको उत्तर ज्ञात नही है, वह बौद्ध सघ मे नही रहेगा।

इसके उत्तर मे बुद्ध ने पहले तो उससे पूछा—"क्या जब मैंने तुमको अपने साथ धार्मिक जीवन व्यतीत करके के लिए आमन्त्रित किया था, मैंने इन विषयो की व्याख्या करने का वचन दिया था ? अथवा तुमने इस शर्त पर सघ मे प्रवेश किया था कि मैं इन विषयो की व्याख्या करूँगा।" भिक्खु ने स्वीकार किया कि ऐसा नही था।

तब बुद्ध ने एक बहुत महत्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक दृष्टान्त प्रस्तुत किया—"यदि एक आदमी विषाक्त तीर से घायल होता है और उसके मित्र उसके उपाचार के लिए वैद्य अथवा शल्यचिकित्सक लाते है और मान लो कि वह कहता है कि मैं इस तीर को निकालने नही दूंगा और न उपचार ही करने दूँगा, जब तक मैं उस व्यक्ति के विषय मे सारी बातो का पता नही लगा लूंगा जिसने मुझे मारा है, कि उसका नाम, उसकी जाति, उसका आकार, रूपरग, आवास क्या है ? अथवा वाण, धनुष तथा प्रत्यचा ठीक किस पदार्थ की बनी है उसका ज्ञान मुझे नही हो जायगा ? क्या इन व्यर्थ तथा निरर्थक प्रश्नो के उत्तर पाने के पहिले ही वह व्यक्ति अपने विषाक्त घाव से मर नही जायगा ? इसी प्रकार बुद्ध का धार्मिक जीवन सबधी सिद्धान्त जगत् और आत्मा की प्रकृति पर, अथवा मृत्यु के बाद बुद्ध का क्या होगा जैसे प्रश्नो पर आधारित नही है। जगत् और आत्मा की प्रकृति कुछ भी हो, सासारिक अस्तित्व और उसका दुख रह जाता है, जिससे मुक्ति पाने की शिक्षा देना मेरा उद्देश्य है। मैंने उन प्रश्नो की व्याख्या इस कारण नही की है कि वे अनुपयोगी है, उनका सबध धर्म के आधारभूत सिद्धान्तो से नही है और उनसे निर्वाण प्राप्त नही होता। मैंने उसी का आख्यान किया है जो केवल उपयोगी है, जिसका धर्म के आधार-भूत सिद्धान्तो से सबध है और जिससे निर्वाण प्राप्त होता है—अर्थात् दुख का सत्य, दुख का कारण, दुख से मुक्ति, और दुख से मुक्ति पाने के उपाय।"

वान ग्लासेनाप तर्क प्रस्तुत करते है कि यह और ऐसे अन्य अश (क्योकि यह अश अपने मे अप्रतिम नही है) केवल उपदेशात्मक उद्देश्य के लिए है। उनके अनुसार बुद्ध ने मालुक्यपुत्त को दार्शनिक सिद्धान्त का अधिकारी नही समझा, इसीलिए उसके समक्ष व्याख्या करना अस्वीकार कर दिया। अब इसमे कोई सदेह नही है कि कभी-कभी पाली धर्मग्रथो मे और प्राय उनके बाद रचित बौद्ध धर्म के अन्य परवर्ती ग्रथो मे भी यह प्रदर्शित किया गया है कि बुद्ध ने जनसाधारण को सरलतर शब्दो मे उपदेश दिया तथा उसके सैद्धान्तिक सार भाग को उन अधिक बुद्धिमान व्यक्तियो के लिए सुरक्षित रक्खा जिनकी बौद्धिक ग्रहणशीलता के विषय मे कहा जाता है कि वे आश्वस्त थे। पर मैं इस अभिप्राय को ग्रहण करने मे असमर्थता का अनुभव करता हूँ (जो कि बुद्ध के प्राचीन ग्रथो मे वर्णित सरल, कोमल, दयालु और सौम्य स्वभाव से असगत ही नही प्रतीत होता वरन् पूर्वाग्रह एव हठधर्मिता से युक्त भी दिखाई देता है।), विशेषतया उस उपदेश से जिसकी ओर मैने ऊपर निर्देश किया है, क्योकि उसमे स्पष्टतम शब्दो मे कहा गया है कि मालुक्यपुत्त द्वारा रक्खे गये अध्यात्मज्ञान सम्बन्धी सैद्धान्तिक प्रश्न बुद्ध की समस्त शिक्षाओ से सगति नही रखते।

फिर यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि बुद्ध को जनता द्वारा अपने दार्शनिक सिद्धान्तो के न समझे जाने का भय था तो भी यह मानना कि उपर्युक्त भिक्षु के भी विषय मे उन्होने वही सोचा, उपयुक्त प्रतीत नही होता। मालुक्यपुत्त के प्रश्न दार्शनिक सैद्धान्तिक समस्याओ से उसके यथेष्ट रूप से परिचित होने का स्पष्ट सकेत करते है। उसके कथन से आभासित होता है कि वह अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक बौद्धिक सजगता के साथ यथार्थ के चिरतन तत्वो के विषय मे बुद्ध द्वारा सभावित उपदेशो को सुनने के लिए तत्पर था—विशेषत अन्य प्रतिस्पर्धी सम्प्रदायो के मत की विरुद्धता सिद्ध करने के लिए, जैसा कि अगले अनुच्छेद मे उद्धृत वान ग्लासेनाप के विचारो से प्रकट होता है।

वान ग्लासेनाप ने ओल्डेनबर्ग तथा अन्य विद्वानो द्वारा स्वीकृत विचारदृष्टि का खण्डन करते हुए लिखा है—"बौद्ध मत मे यथार्थ के चिरतन अविनश्वर तत्वो के विषय मे कुछ भी नही कहा गया है। केवल यही कहकर सतोष कर लिया गया है कि किसी चिरस्थायी आत्मा से शून्य यह ससार क्षणभगुर तथा दु खमय है। अतएव निर्दिष्ट मत के विद्वानो द्वारा यह मान लिया गया कि बौद्धमत किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित नही है। वह केवल मुक्ति का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुन करता है तथा समस्त दार्शनिक ऊहापोह का तिरस्कार करता है। इससे पूर्व यह सभव नही माना जाता था कि अन्य प्रचलित मतो की स्पर्धा मे अपने को प्रतिष्ठित करने की इच्छा रखने वाले मत के लिए आवश्यक था कि वह अनेक दार्शनिक सैद्धान्तिक प्रश्नो का उत्तर प्रस्तुत करे तथा अपनी नैतिकता को आधारभूमि प्रदान करे, यदि वह शास्त्रार्थ मे उनके विरोध मे अपने को शक्तिशाली सिद्ध करना चाहता है।"

मेरे पास ऐसा कोई कारण नही है जिससे यह विश्वास किया जा सके कि बुद्ध अन्य सम्प्रदायो से स्पर्धा के प्रपच मे पडना चाहते थे। वे वैसे ही थे जैसे महात्मा गाधी। दूसरे मतावलम्बी ही उनके पास आते थे। ऐसा कोई प्रमाण नही है जिससे यह सिद्ध हो कि बुद्ध उनके

पास गये। ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध के पास जो भी गया उन्होने उसका उदारतापूर्वक स्वागत किया तथा उसके द्वारा पूछे गये समस्त प्रश्नो का उत्तर अत्यन्त सरलता से दिया। गाधी जी की तरह ही उन्होने दार्शनिक सैद्धान्तिकता की कोई आवश्यकता नही समझी। चाहे अपनी नैतिकता की स्थापना के लिए हो, चाहे किसी और कारण, जैसा उनके ही शब्दो से मुझे प्रतीत होता है। वान ग्लासेनाप का 'पूर्वाधार' वाला तर्क उनके लिए कोई शक्ति नही रखता होगा। उनकी नैतिकता कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो पर आधारित थी जो उनके लिए स्वत सिद्ध थे। दो सहस्राब्दियो से भी अधिक समय से अधिकाश हिन्दुओ को ऐसा ही प्रतीत होता रहा। जैसा बुद्ध को लगा वैसा ही उनके समस्त अनुयायियो को भी प्रतीत हुआ कि इन सिद्धान्तो को मानने के लिए किसी तर्कयुक्त दार्शनिक आधार की आवश्यकता नही है, और बुद्ध की व्यावहारिक नैतिकता के लिए भी किसी दार्शनिक सिद्धान्त की अपेक्षा का अनुभव नही किया गया, वैसे ही जैसे गाधी जी के विषय मे। पर यह निश्चय ही सत्य हो सकता है कि बुद्ध के अनेक अधिक परवर्ती अनुयायियो ने 'मालुक्य सुत्तन्त' तथा वैसे ही अन्य उपदेशो मे सिखाये गये पाठ को भूलकर अथवा उसकी अवहेलना कर अन्य मतवादियो, विशेषत ब्राह्मणो, की दार्शनिक व्याख्याओ की प्रेरणा से अपनी स्वतत्र दार्शनिक पद्धति का निर्माण कर लिया हो।

यह प्रश्न कि बुद्धधर्म के सिद्धान्त-ग्रथो मे कौन से तत्व बुद्ध के अपने उपदेशो को सही रूप से प्रस्तुत करते है, अत्यन्त कठिन है। अपने अन्तिम रूप के विश्लेषित किये जाने पर वह अधिकतर व्यक्तिपरक ही प्रतीत होता है। मै समझता हूँ, इसमे किसी का मतभेद नही होगा। यही बात, कुल मिलाकर ऐतिहासिक ईसा मसीह के वास्तविक उपदेशो और 'न्यू टेस्टामेट' के पारस्परिक सबध मे कही जा सकती है। किन्तु ओल्डेनबर्ग की उपक्रमणिका के पूर्व भाग मे वान ग्लासेनाप ने कुछ अतिशय बुद्धिमानी की बाते कही है, जिनमे उन्होने इस विषय मे ओल्डेनबर्ग की उस सामान्य धारणा की सुरक्षा की है जिसके अनुसार सरलतम, अतिशय मानवीय भावना से युक्त तथा कम से कम रहस्यमयी प्रवृत्ति की पवित्र कथाएँ सभवत सबसे अधिक प्राचीन एव बुद्ध के अपने वचनो का प्रतिनिधित्व करने वाली मानी गयी है। कुछ पूर्ववर्ती विद्वानो ने इसके लिए ओल्डेनबर्ग की आलोचना की थी। वान ग्लासेनाप ने समुचित उत्तर देते हुए कहा—"यह मान्यता कि अतिमानवीय दैवीशक्तिसम्पन्न बुद्ध (जैसा कि बाद मे उन्हे माना जाने लगा) बौद्ध इतिहास के आरम्भकर्ता होगे और सिंहलवासी भिक्षुओ द्वारा बाद मे पाली ग्रथो मे बुद्ध का मूलत सरल मानवीय व्यक्तित्व बाद मे गढ कर स्थापित कर दिया गया, इतिहास के स्वाभाविक विकास-क्रम का विरोधी प्रतीत होती है, यद्यपि मानवीय व्यक्तित्व मे भी अशत चमत्कारिक तत्व समाविष्ट है।"

उसने बडे औचित्यपूर्वक इस बात की ओर निर्देश किया है कि हमारे समय मे ही गाधी (जो अत्यन्त सरल, सौम्य तथा सकोचशील थे) तथा अन्य धार्मिक नेताओ पर ईश्वरतत्व का आरोप देखते-देखते किया जाने लगा। ऐसा भारतवर्ष मे ही नही, ससार के अन्य भागो मे भी घटित हुआ है। अच्छा होता यदि वान ग्लासेनाप ने इसी प्रकार की स्वस्थ एव विचारपूर्ण दृष्टि बुद्ध तथा उनके दार्शनिक सिद्धान्तो के सबध मे अपनायी होती। कम से कम मुझे तो इसमे स्वा-

भाविक विकास-क्रम का विरोध ही दिखायी देता है कि बुद्ध से किसी दार्शनिक सिद्धान्त को सम्बद्ध किया जाय, क्योकि तब मेरे मत से इसका तात्पर्य होगा 'मालुक्य सुत्तन्त' जैसे लिखित अशो को सिंहलवासी भिक्षुओ द्वारा रचित परवर्ती कृति मानना, विशेषत तब जब यह स्पष्ट नही होता कि उन्होने किस कारण बुद्ध मत के मूल रूप को बदलने की चेष्टा की। गाधी की भी दार्शनिक ऊहापोह मे कोई रुचि नही थी। पर इस तथ्य के कारण उनकी धार्मिक महत्ता कम हुई हो, ऐसा आभास नही मिलता। यद्यपि उनके समय मे अन्य अनेक धर्म तथा दर्शन, जिनमे भारतीय और विदेशी दोनो सम्मिलित है, उतने ही जागरूक थे जैसे बुद्ध के समय मे रहे होगे। बुद्ध की तरह उन्होने भी यह अनुभव किया कि उनसे सघर्ष करना निरर्थक है। बिना राग-द्वेष के अपने उपदेशो को सरलतापूर्वक प्रचारित होते देखकर ही वे सतुष्ट थे।

मानवीय बुद्ध जिन्हे वान ग्लासेनाप ने परपरा के प्राचीनतम अशो के बीच से खोज निकाला है, दार्शनिक सिद्धान्तवादिता से उतना ही विरक्त थे जितना कि अलौकिकता से।



सी-एच० वॉदवील

भागवत धर्म में प्रेम-प्रतीकवाद

प्रेम-प्रतीकवाद के माध्यम से लौकिक प्रेम तथा दिव्य प्रेम मे सादृश्य की अभिव्यक्ति सभी आस्तिक धर्मों की एक सामान्य विशेषता है, जब तक कि वे परमात्मा और जीवात्मा मे पारमार्थिक अथवा प्रातिभासिक, नित्य अथवा अनित्य भेद स्वीकार करते है। पारलौकिक सबध उपमेय होता है और लौकिक सबध उपमान—ज्ञात के सहारे अज्ञात की व्यजना होती है और बूझ के सहारे अनबूझ की।

फिर भी इस प्रेम-प्रतीकवाद की अभिव्यक्ति मे विभिन्न धार्मिक तथा दार्शनिक संप्रदाय नितात भिन्न दिखलाई पडते है—परमात्मा कभी प्रेमी और कभी प्रेमिका के रूप मे और कभी पति के रूप मे तथा आत्मा उसकी भार्या अथवा वल्लभा के रूप मे और इसी प्रकार प्रेम स्वत महासुख अथवा महादु ख के रूप मे प्रस्तुत किये जाते है। इस अलौकिक प्रेम-व्यापार मे जीवात्मा तथा परमात्मा के पारस्परिक सबधो के विषय मे नाना संप्रदाय अपनी-अपनी मान्यताओ के अनुसार नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते है। इस पारलौकिक सबध मे निम्नलिखित मे से किसी एक अथवा अनेक तत्वो का समावेश हो सकता है—

१ एकात निष्ठा और पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना (केवल आत्मा के पक्ष मे)।
२ ईश्वर से मिलन की वेदनापूर्ण लालसा (आत्मा के पक्ष मे)।
३ कृपा अथवा अनुग्रह (केवल परमात्मा के पक्ष मे)।
४ पारस्परिक आकर्षण।
५. मिलन का परमानद।

प्रेम-प्रतीकवाद की अभिव्यक्ति नितात सादृश्यमूलक अथवा यत्किंचित् यथार्थमूलक भी हो सकती है। बहुधा उपमेय (लोकोत्तर प्रेम) मे एक ही दो तत्व ऐसे होते है जिनका वर्णन उपमान (लौकिक प्रेम) द्वारा भलीभॉति हो सकता है। उस दशा मे उपमान का वर्णन इस प्रकार किया जाता है कि वह धार्मिक साँचे मे अधिक से अधिक फिट बैठ जाय—औचित्य पर अधिक ध्यान नही दिया जाता। प्राय ही लौकिक प्रेमव्यापार का नही बल्कि एक परिस्थिति-विशेष अथवा क्षण-विशेष का वर्णन किया जाता है, तथापि कभी-कभी दिव्य (अलौकिक) प्रेम की तुलना के लिए लौकिक प्रेमव्यापार का ही आश्रय लिया जाता है। अत प्रेम-प्रतीकवाद मे उपमान एक प्रकार से लौकिक प्रेम का उन्नयन अथवा उसका दैवीकरण प्रतीत होता है। और चूँकि लौकिक प्रेम को ऐंद्रियता की भावना से पूर्णतया पृथक् नही किया जा सकता, इसलिए इस प्रकार का दैवीकरण

दूसरे शब्दो मे लौकिक यौन सबध का ही दैवीकरण है। चैतन्योत्तर बगाली वैष्णव सप्रदाय स्थूल यौन सबध के दैवीकरण का और फिर उसी प्रकार दिव्य प्रेम मे वासनापरक ऐद्रियता के आरोप का ज्वलत उदाहरण प्रस्तुत करता है।

यह ध्यान देने की बात है कि नास्तिक दर्शन-सप्रदाय भी लौकिक प्रेम के महत्व की निताात उपेक्षा करने के बावजूद भी लौकिक प्रेमव्यापार मे कुछ तत्वो को पृथक् कर प्रेम-प्रतीकवाद का उपयोग करते है। यह विशेषता मध्यकाल के बौद्ध तथा शैव तान्त्रिको मे भलीभाँति देखी जा सकती है जब वे अकथनीय महासुख का वर्णन करने के लिए, जो दो विरोधी तत्वो—प्रज्ञा-उपाय, सज्ञा-करुणा, शिव-शक्ति (बाद मे कृष्ण-राधा)—के सयोग से तथा युगनद्ध सहजावस्था तक पहुँच जाने से सभव माना जाता है, वर्णन करने के लिए यौन सबध का बारबार निर्देश करते हैं। यहाँ पर वैयक्तिक सबध का प्रश्न नही उठता, क्योकि ये विरोधी शब्द शक्ति अथवा सत्ता के प्रतीक-मात्र है, जिनका परमानुभूति मे विलय हो जाना अवश्यम्भावी है। लौकिक प्रेम की दृष्टि से यह अपने मनोवैज्ञानिक सदर्भ से पृथक् एक सुखात्मक तत्व ही है जो सहजसुख के समकक्ष यौगिक महासुख के लिए पृष्ठभूमि प्रदान करता है। इस प्रसग मे किसी प्रतीकवाद की चर्चा मुश्किल से होगी, क्योकि महासुख स्वत मैथुनपरक आनद की ही चरम परिणति है।

यद्यपि महासुख और मैथुन का सबध यथार्थ है तथापि विरोधी शब्दो के धर्म या गुण सादृश्यमूलक मात्र है। एक सिद्धान्त की कल्पना पुरुष के रूप मे और दूसरे की स्त्री के रूप मे की जाती है। एक सक्रिय है तो दूसरा निष्क्रिय। शैव सिद्धान्त मे पुरुष (शिव) निष्क्रिय है और शक्ति (प्रकृति) सक्रिय—जैसा कि वेदान्त मे माया। बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय इसके प्रतिकूल है। परन्तु उस प्रकार का आरोपण महत्वहीन है। महत्व की बात तो दोनो पक्षो का विरोध और आकर्षण तथा उनका अद्वैत स्थिति मे अन्तिम पुनर्विलय है जो पूर्णानन्द की ही जाति का है।

लौकिक सबध को तनिक भी महत्व न देते हुए तान्त्रिक साधक ऐसे सभी प्रकार के सबधो को, जिनमे लौकिक प्रेम के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पक्ष सन्निहित हैं, दृढतापूर्वक तिरस्कृत करता है। अर्धांगिनी एक स्त्री की अपेक्षा अलौकिक शक्ति अथवा प्रकृति की अभिव्यक्ति के रूप मे केवल सम्भोग की दृष्टि से देखी जाती है। लौकिक प्रेम लौकिक अर्थ मे एक योगी के लिए वर्जित है। इसी कारण स्त्री को परकीया होना चाहिए। यदि वह वारागना अथवा नीच जाति की स्त्री है तो और भी अच्छा है। अतएव तान्त्रिक सम्प्रदाय के प्रेम-प्रतीकवाद की प्रवृत्ति यौन-व्यापार को उसके लौकिक सदर्भ से अलग करने की है। वह प्रेम-सबध के वैयक्तिक पक्ष की उपेक्षा भी करता है।

तान्त्रिक साहित्य और सम्प्रदाय के विकास के बहुत पहले हम वैदिक ऋषियो को ब्रह्म और जीव के संबध को व्यक्त करने के लिए प्रेम-प्रतीकवाद का स्वल्प प्रयोग करते हुए पाते है। उदाहरणार्थ बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।२१) के प्रसिद्ध मत्र मे—

तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न वह्यम् किचन वेद नान्तरम्।
एवमेवायम् पुरुष प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बह्यम् किंचन वेद नान्तरम्॥

परन्तु इस उपनिषद्-वाक्य मे यौन-सयोग से उत्पन्न विलय की स्थिति मात्र की तुलना समाधि के आनन्द से की गयी है। ब्रह्म और जीव के मध्य प्रेमी और प्रेमिका के रूप मे जो दो पक्षो का लाक्षणिक सादृश्य है वह यहाँ प्रत्यक्षत स्पष्ट नही होता।

वैदिक साहित्य मे लौकिक प्रेम की कल्पना काम के रूप मे की गयी है। वह (काम) स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण से उत्पन्न काम-वासना को व्यक्त करता है। ऐसी काम-वासना का लक्ष्य, चाहे वह एक या दोनो के अनुभव की वस्तु हो, यौन-सबध ही होता है। काम का वर्णन सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, अदम्य और समाज-विरोधी शक्ति के रूप मे किया गया है। यह एक महान् साम्य विधायक है। इसके द्वारा अनेक भिन्न जातियो और जीवन स्तरो—राज पुत्रियो और ऋषियो, अप्सराओ और पुरुषो—से सबधित प्राणियो का एकीकरण होता है। स्वभावत उग्र और अहंकारी होने के कारण यह उदात्त भावनाओ और क्रियाओ का प्रेरक नही है, परन्तु वह पर्याप्त दु ख उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। ऋग्वेद (१०।९५) मे पेन्जर[१] के अनुसार "ज्ञात भारोपीय साहित्य की सर्वप्रथम प्रेम-कहानी उर्वशी और पुरुरवा के अभूतपूर्व दु खान्त प्रेम की कहानी है जिसमे प्रेम का सूत्रपात नारी करती है और पुरुष दु खभागी बनता है।

एक प्रबल मानवीय प्रवृत्ति के वैयक्तीकरण के रूप मे 'काम' महाकाव्य और पुराण के अनेक उपाख्यानो मे प्रधान पात्र है जिनमे वह निश्चित रूप से एक कष्टदायक और अधम व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि उसकी गणना अर्थ, धर्म और मोक्ष के साथ जीवन के चार लक्ष्यो मे की जाती है तथापि उसे धर्म-विरुद्ध और मुमुक्षुओ के लिए एक सघातक शक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। विवाह की रूढ पद्धति मे, जिसके अन्तर्गत कन्यादान आता है, उसका कोई स्थान नही है। वह (काम) विवाह की गन्धर्व-रीति को प्रेरित कर सकता है जो 'मानव-धर्मशास्त्र' (३, ३२) के अनुसार इच्छा से उद्भूत होता है और उसका उद्देश्य मैथुन है। परन्तु गन्धर्व-विवाह क्षत्रिय जाति के लिए एक रियायत सा लगता है। फिर भी विवाह के उपरान्त पत्नी (कामिनी) अपने पति के साथ लौकिक प्रेम का सुखानुभव करते समय उसके साथ पूर्णत भिन्न तथा अपरिवर्तनीय सम्बन्ध मे प्रवेश करती है जिसमे काम महत्वहीन हो जाता है। 'महाभारत' मे हिन्दू जाति नारी के ही माध्यम से लौकिक प्रेम के स्तर से ऊपर उठ कर एक उत्कृष्ट उदात्त वृत्ति-प्रधान शक्ति के रूप मे प्रकट होती है। 'महाभारत' मे बहुत से सुरम्य प्रेमाख्यान हैं जिनमे नल और दमयन्ती की कथा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दाम्पत्य सबध की समरसता और अपरिवर्तनशीलता पर जोर देते हुए यह कथा हिन्दू दाम्पत्य जीवन की पवित्रता का आदर्श प्रस्तुत करती है; किन्तु पति जब अपनी विश्वसनीय पत्नी मे सुकुमार भावना से अनुरक्त-सा प्रतीत होता है तब भी उसका स्नेह कभी भी वासना अथवा अहकार से मुक्त नही होता। वह सदा ही न्यूनाधिक काम से

---

१. 'कथा-सरित्सागर' के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका।

प्रभावित होता है। इसके विपरीत पत्नी के प्रेम मे असीम गभीरता रहती है, उसमे सम्पूर्ण भक्ति-भाव और उत्कट आत्मसमर्पण रहता है जिससे वह बडा से बडा आत्मोत्सर्ग कर सकती है। जहाँ पर पति के प्रेम का उल्लेख एक दुर्बलता के रूप मे किया जाता है (जैसे, रामायण मे राम-विलाप) वहाँ हिन्दू सती नारी मे वही प्रेम एक उत्कर्षक भावना का प्रतीक हो जाता है। पति की कृतघ्नता और अयोग्यता बहुधा उसे (पत्नी को) अपने मार्ग से विचलित करने के स्थान पर एक ऐसा अवसर प्रदान करती है जिससे वह अपने चरित्र के सोने मे प्राणोत्सर्ग के सुहागे का सयोग कर सकती है। वे ही 'पवित्र नारियाँ' अपने योद्धा पतियो की अपेक्षा भारतीय महाकाव्य की सच्ची नायिका है। वे अपनी कोमलता और मुग्धता को सुरक्षित रखती है जो उनके प्रेम को सचमुच मानवीय बनाता है। पर उनके प्रेम मे एक निरपेक्ष, करीब-करीब अलौकिक पवित्रता, गम्भीरता और पूर्ण आत्म-समर्पण रहता है जो वस्तुत उसे (प्रेम को) एक प्रकार की धार्मिकता की भावना प्रदान करता है। यह कहा जा सकता है कि दाम्पत्य-प्रेम का नारी-आदर्श, जैसा कि 'महाभारत' मे बताया गया है, तत्वत धार्मिक होता है और उसका लक्ष्य उस अपूर्ण मानव की अपेक्षा, जिसके प्रति उसका आचरण होता है, उच्चतर होने का अधिकारी है। अतएव 'महाभारत' प्रेम को पति-पत्नी के बीच आदर्श प्रेम-सम्बन्ध मानता है जो काम-वासना मात्र से ऊपर उठ जाता है। परन्तु केवल पत्नी ही वस्तुत इससे उदात्त और उत्कृष्ट बन पाती है अथवा यो कहिए वही इसे अपनी साधना बना पाती है। पवित्र हिन्दू सती नारी पहले से ही भक्त होती है।

यह निश्चित करना कठिन है कि 'महाभारत' मे विकसित अखण्ड प्रेम के नारी-आदर्श ने भागवत धर्म के आदर्शो को कहाँ तक प्रभावित किया है। 'महाभारत' मे विहित नारी-धर्म और 'भगवद्गीता' द्वारा सच्ची भक्ति के लिए प्रतिपादित प्रकृति और भावनाओ मे विलक्षण साम्य है। तथापि 'भगवद्गीता' मे मुश्किल से ही कोई प्रेम-प्रतीकवाद है। कृष्ण अपने भक्तो के प्रति अनुराग बारम्बार व्यक्त करते है (१२।१४ और २०) और गीता के ग्यारहवे अध्याय के ४४वे श्लोक मे अनेक दृष्टातो के सहारे इस कथन पर बल देते है— पितेव पुत्रस्य सखेव सख्यु प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम्। अर्थात् कृष्ण अपने भक्तो के लिए वैसे ही है जैसे पिता पुत्र के लिए, मित्र मित्र के लिए और प्रेमी अपनी प्रेयसी के लिए। परन्तु यह कही भी ध्वनित नही होता कि भक्त की आत्मा कृष्ण के प्रति वैसी ही भावना रक्खे जैसे एक निष्ठावती नारी अपने अभीष्ट पति के प्रति रखती है।

अत तामिल सन्त कवियो के धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत प्रेम-प्रतीकवाद के विचार-निष्ठ प्रयोग के लिए हमे ईसा की ७ वी शताब्दी की प्रतीक्षा करनी होगी।

सबसे प्राचीन शैव सन्तो मे सम्बन्दर हैं जिनकी तिथि ईसा की ७ वी शताब्दी के पूर्वार्ध के आसपास है। उनके समय मे शमनो, सर्वशक्तिमान् जैनो और ईर्ष्यालु बौद्धो का प्रभुत्व था। इन सबके विरुद्ध वह शैव अद्वैत के साहसी परन्तु एकाकी प्रवर्त्तक थे। शिव और तिरुवण्णमालइ तथा चिदम्बरम् के रमणीय तीर्थों की प्रशस्ति मे लिखे गये बहुत से स्तोत्रो मे हृदय की भक्ति बहुत प्रमुख नही है। सम्बन्दर का अपने ईश्वर से सम्बन्ध एक स्वामिभक्त सेवक के अपने स्वामी

के सम्बन्ध से बढकर है। तथापि कम से कम दो अवतरणो[2] मे प्रेम-प्रतीकवाद का सकेत है। प्रथम अवतरण मे शिव की चरण-स्तुति करती हुई एक नारी का वर्णन है —

"तुम्हारे चरणो मे भय-विनत हो वह पुकारती, हे धूर्जटे! हे देव, मेरे शरण्य, हे वृषभ-वाहन!"

"मरुहल् के देव! जहाँ नव कुमुदिनियाँ विकसित होती है वहाँ क्या उसे इस हृदय की वेदना मे छोड जाना उचित है?" (१७)

अग्रेज़ी अनुवाद-कर्त्ताओ को प्रस्तुत पद्याश की व्याख्या मे सन्देह हुआ।

भूमिका के पहले ही जोडी गयी एक बाद की टिप्पणी मे उन्होने स्वयं पुस्तक मे दी हुई व्याख्या से भिन्न एक दृष्टिकोण व्यक्त किया —

"इससे मिलते-जुलते तामिल धार्मिक काव्य के अन्य स्तोत्रो से इस स्तोत्र की पूरी-पूरी तुलना उनका (लेखको का) यह विश्वास सुदृढ करती है कि स्तोत्रगत 'वह' (स्त्री) भक्त के अतिरिक्त कोई नही है जो अपनी उपमा एक प्रेमाकुल स्त्री से देता है, उदाहरणार्थ १९ वे पद्याश मे।"

१९ वाँ पद्याश उस नारी की, जो अपने प्रेमी के लिए व्यथित है, प्रणय-वेदना का और उससे आविर्भूत शरीर पर पड़े हुए चिह्नो का निर्देश करता है —

"जैसे हरी शाखाओ वाले पुण्णइ के कुसुमित होते तरुवर मे, वैसे ही मुझ पर प्रेम का विशद चिह्न बना हुआ है, क्योकि वह, जिसने मेरी व्यथा को दूर किया था, अभी भी अनन्त सन्ताप छोड गया।"

प्राचीन तामिल काव्य मे ऐसी कल्पना की गयी है कि अपने प्रियतम के वियोग-दुख से प्रेमियों के शरीर पर चिह्न पड जाते है। इस विश्वास का दृष्टांत तृतीय सगम से सम्बन्धित ४०० कविताओ के एक सकलन 'अग नानूरु' मे मिलता है, जिसकी विषय-वस्तु यथार्थत वियुक्त पति-पत्नी की यातना ही है। अनुरक्त पत्नी कादली[3] का करुणापूर्ण चरित्र ही उसमे प्रधान है और वह प्राचीन राजस्थानी साहित्य की विरहिणी का सच्चा प्रतिरूप है। कबीर ने उस विरहिणी का उपयोग आत्मा की ब्रह्म के लिए उत्कण्ठा के प्रतीक के रूप मे किया। यह महत्वपूर्ण बात है कि उत्तरी और दक्षिणी भारत मे विभिन्न युगो मे और विभिन्न धार्मिक प्रसगो मे एक ही प्रकार का लोक-साहित्य जीवात्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध के सबसे उपयुक्त प्रतीक के रूप मे आया।

सम्बन्दर मे, जिसकी धार्मिक प्रेरणा बहुत उच्चकोटि की नही है, प्रेम-प्रतीकवाद का उपयोग भिन्न है। परन्तु वाशगर के बारे मे, जिन्हे दीक्षितार ने सम्बन्दर से दो शताब्दी बाद ईसा की ९वी शताब्दी मे रक्खा है, ऐसा नही है। उनके महान् ग्रन्थ 'तिरुवाशगम्' का वर्णन इन शब्दो मे किया गया है 'उत्कट धार्मिक भावनाओ का हर्षोन्मत्त काव्य मे धारा-प्रवाह उद्रेक।' इस कृति का मुख्य विषय है कवि की अपने ईश्वर शिव के प्रति विषादपूर्ण उत्कण्ठा।

---

२. इन छंदों के अँग्रेजी अनुवाद तथा उनकी क्रमसंख्याएँ एफ० किंग्जबरी तथा जी० ई० फिलिप्स के संकलन (हेरिटेज ऑफ़ इंडिया सीरीज में प्रकाशित १९२९ ई०) के अनुसार है। ३. जिसे तालेवी या नायगी (सं० नायकी) भी कहा जाता है। प्राचीन तामिल काव्य मे 'विरह' और 'विरहिणी' शब्द अपरिचित है।

माणिक्क का हृदय अपने देव के प्रति प्रेमाभिलाषा मे (निनरु उरुक) निरन्तर तरल हो उठता है। वह उसका वर्णन करते है[४] —

"हे रत्नो के स्वर्णिम और यशस्वी पर्वत! जो तुममे निरन्तर अनुरक्त है उन्हे वरदान दो। मेरे प्रभु! मेरी आत्मा को द्रवित करते हुए तुम मेरे अन्तर मे निवास करो।"

आत्मा की परमात्मा के प्रति इस लालसा की उपमा गौ की अपने बछडे के प्रति प्रदर्शित अभिलाषा से दी गयी है —

"जैसे एक गाय अपने बछडे के लिए उत्कण्ठित रहती है उसी भावना से मै उसकी खोज करूँगा, मेरी उत्कट आत्मा द्रवीभूत भले ही हो जाय।"

वह प्रेम जो भक्त की आत्मा को उपभुक्त और द्रवीभूत कर देता है, सामान्यत, ऐसे पदो मे व्यक्त किया गया है जो स्नेह अथवा सुकुमारता की अपेक्षा अभिलाषा की ओर अधिक इगित करते है। उदाहरणार्थ, 'तिरुवाशगम' (३४, ७) मे —

"जो शिव से प्रेम नही करता उसका स्पर्श मै नही करूँगा।" (किग्सबरी और फिलिप्स, पृ० १२१)।

जिस शब्द का अनुवाद 'प्रेम' किया गया है वह है, 'वेण्डार' अर्थात् 'कामना, अभिलाषा करना', और प्रस्तुत पक्ति का अनुवाद पोप ने अधिक औचित्य के माथ इन शब्दो मे किया है— 'जो शिव की कामना नही करते'।

उसी प्रकार दूसरे उद्धरण मे—'परन्तु मेरे प्रत्यग मे उसने प्रेम की उन्मत्त कामना भर दी।' (ट्रेड—किंग्सबरी और फिलिप्स, पृ० १२७)। पुस्तक मे सीधा-सीधा 'माल' शब्द है जिसका अर्थ 'कामना, अभिलाषा' होता है।

यद्यपि ५१ वे और अन्तिम स्तोत्र 'मुक्ति का विस्मय' मे प्रथम पद्याश 'प्रेममार्ग' अर्थात् 'पत्ती नेरी' का उल्लेख करता है तथापि यह उत्कण्ठा समूची कविता का प्रमुख स्वर है। पत्ती (भक्ति) का अनुवाद पोप ने 'पुण्य प्रेम' किया है। 'पत्ती नेरी' शब्द का चयन ही लेखक के इस अभिप्राय को ध्वनित करता है कि वह उत्कण्ठा के साधन को गीता के भक्ति-मार्ग के अनुरूप बनाना चाहता है।

यद्यपि 'तिरुवाशगम्' शिव की प्रशस्ति एक वैयक्तिक, सर्वानुग्रहपूर्ण और सम्वेदनशील ईश्वर के रूप मे करता है तथापि गीता की तरह उसने भी प्रतीकवाद का उपयोग नही किया है। माणिक्क सुसस्कृत ब्राह्मण था। 'तिरुवाशगम्' के प्रत्येक अश से यह सिद्ध होता है कि वह 'भागवत' के विचार और परम्पराओ से प्रभावित था, क्योकि इस ग्रन्थ के शिव 'भगवद्गीता' के कृष्ण की भूमिका मे कई बार आते है, और यह तो हमने देखा ही है कि प्राचीन भागवत धर्म लौकिक प्रेम-सम्बन्ध और लोकोत्तर प्रेम अथवा भक्ति के बीच सादृश्य नही स्वीकार करता था। तथापि माणिक्क की प्रेम-विषयक धारणा ने विरह-तत्व अथवा जीवात्मा की परमात्मा के प्रति उत्कण्ठा

---

४. 'तिरुवाशगम्' के उद्धरण जी० यू० पोप के अनुवाद से ग्रहण किये गये है। जहाँ इसका अपवाद है वहाँ अन्यथा सूचित किया गया है।

को प्रधानता देकर एक नये, वैयक्तिक तथा भावात्मक तत्व की प्रतिष्ठा की है जिससे प्राचीन भागवत धर्म अनभिज्ञ है।

'तिरुवाशगम्' के अतिरिक्त माणिक्क वाशगर ने 'तिरुक्कोवइ' नामक रोमास की रचना की। इस रचना का विषय एक ऐसी विरहिणी की असह्य वेदना है जिसका प्रियतम (पति) विदेश मे व्यवसाय करने गया है। यहाँ पर भी हम वियुक्त प्रेमियो के विषय का सविस्तर वर्णन पाते है जिसे 'अग नानूरु' के प्राचीन कवियो ने सम्पादित किया था। परन्तु इस बार वह प्राचीन राजस्थानी-साहित्य के 'बीसलदेव-रास' और 'ढोला-मारू' से मिलते-जुलते गल्प के लोकप्रिय रोमास के आवरण मे प्राप्त होता है। परन्तु जहाँ प्राचीन राजस्थानी आल्हे मे सरल लौकिक प्रेम और एक वियुक्त पत्नी की अपने विदेश गये हुए पति के लिए, जिससे उसका सयोग पुन हो जावेगा, करुणार्द्र विरह-व्यथा का निरूपण है वहाँ 'तिरुक्कोवइ' की नायगी को ऐसा सुख दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त, यह कहानी लोक-कथा मात्र नही है। माणिक्क के अनुयायियो ने इस कविता की रूपक के आधार पर आध्यात्मिक व्याख्या की है। यदि यह व्याख्या वस्तुत न्यायसगत है तो भारत मे 'तिरुक्कोवइ' को ब्रह्म-जीव के गूढ प्रेम-बन्धन को व्यक्त करने के लिए लोकप्रिय रोमास के प्रतीकात्मक उपयोग का प्रथम प्रयास माना जा सकता है।

माणिक्क के बहुत पहले बौद्ध और जैन सन्यासियो ने लोकप्रिय लोक-कथाओ के अन्तर्गत उपदेश निहित करने मे बडी कुशलता प्रदर्शित की थी। बौद्धो ने जातको जैसे कल्पित कथानको को श्रेष्ठ माना, जब कि जैन भिक्षु रूपक अथवा लोकप्रिय कहानी के सरल रूपान्तर को अच्छा मानते है, जिसमे विशिष्ट जैनी उपसहार भद्दे रूप मे जुडा रहता है। परन्तु उन रूढ धर्मानुयायियो से लौकिक प्रेम को किसी प्रकार का अनुमोदन नही प्राप्त हुआ। अत्यन्त मार्मिक प्रेम-कथाओ के जैन रूपान्तर—उदाहरणार्थ प्रसिद्ध 'तारागोला'[५]—मे लौकिक प्रेम की निरर्थकता यथोचित रीति से सिद्ध की गयी है और प्रेमी अन्त मे जैन भिक्षु बन जाते हैं। यह समझना सरल है कि उन शमनो के अमानवीय दृष्टिकोण और धर्म के प्रति उनकी तिरस्कार-भावना ने किस प्रकार सभी सच्चे भक्तो की दृष्टि मे उन्हे घृणास्पद बनाने मे योग दिया होगा।

माणिक्क की कथा मे अकृत्रिम लोक-काव्य का गौरव और स्वाभाविक रमणीयता है जो रूपक के पाण्डित्य-प्रदर्शन से बहुत दूर है। तथापि यह ध्यान देने योग्य है कि कवि ने अपनी कथा के गूढ महत्व की व्याख्या करने का कोई प्रयास नही किया और श्रोताओ को मनमाना अर्थ लगाने के लिए स्वतत्र रहने दिया। व्याख्या करने की यह स्वतत्रता इस सन्त के एक प्रशसक द्वारा लिखित कविता के प्रथम छद मे ही उपस्थित है—

---

५. ईसवी सन् १६४३ में प्राकृत-पद्य में विरचित एक रूमानी प्रेमकथा। कहानी पाँचवीं शताब्दी के श्री पदलिप्त (अथवा सिरी पालित्त) की एक प्रसिद्ध जैन धर्म-कथा 'तरंगवती' पर आधारित है।

'इसकी चर्चा करते समय ब्राह्मण इसे ही वेदो का और योगी आगमो का सार कहेगे। कामी पुरुष इसे ही कामशास्त्र का और तार्किक इसे ही तर्कशास्त्र का ग्रन्थ कहेगे।'[६]

हिन्दू धार्मिक परम्परा श्रोताओ के पक्ष मे इस स्वतत्रता और व्यञ्जना-शक्ति पर पूरा-पूरा विश्वास करने की इस विधि का अनुमोदन नही करती। दूसरी ओर, यह पूर्ववर्ती सूफियो के सादृश्य-भाव (मोत्तल) की प्राथमिकता से विलक्षण साम्य प्रकट करता है। सूफी उपदेशक एक प्रकार की चेतावनी के रूप मे साधारण भाषा के पदो का सादृश्यार्थ मे प्रयोग करते हुए प्राय निर्देश और व्यञ्जनाओ के सहारे आगे बढता है। ऐसा वह श्रोताओ की आत्मा को जागृत करने के लिए करता है जो शनै शनै समीकरण की क्रमिक प्रक्रिया द्वारा इसके गहन अर्थ को समझ जायँगे। गूढ पथ पर जितना ही वे प्रगतिशील होगे उतना ही उनमे प्रत्येक शब्द अथवा क्रिया मे, चाहे देखने मे वह कितना ही महत्वहीन क्यो न हो, सादृश्यात्मक अर्थ और अलौकिक पुकार[७] को खोज निकालने की क्षमता आएगी। सूफी धर्म-प्रचार ने उपाख्यान का भी बहुत प्रयोग किया है। ७ वी-८ वी शताब्दी मे बसरा सूफियो की पहली पीढी का हिंडोला था और असख्य उपदेशक (कोस्स) सगीतात्मक गद्य (किस्स) मे उपाख्यानो के सहारे जनता को शिक्षा देने मे और उनको अपने धर्म मे दीक्षा देने मे सलग्न थे। बसरा के पूर्ववर्ती सूफियो का तामिल सन्त-कवियो पर प्रभाव कालक्रम के आधार पर अमान्य नही सिद्ध किया जा सकता जबकि भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ इस की सभावना[८] की ओर इशारा करती है।

माणिक्क वाशगर के धर्म-परिवर्तन का उपाख्यान और 'तिरुवाशगम्' मे निहित आत्म-कथात्मक वृत्तान्त ही उपर्युक्त मुसलमानो के प्रभाव को ध्वनित करता है। हमे यह विदित होता है कि मदुरा के सम्राट् अरिमर्तनम् का युवक ब्राह्मण मन्त्री माणिक्क अपने स्वामी द्वारा मुसलमान व्यापारियो से राजसी अस्तबलो के लिए घोडे खरीदने के लिए समुद्र-तट भेजा गया था।

---

६. 'तामिल साहित्य और इतिहास का अध्ययन', लन्दन, १९३०, पृ० १०३ पर वी० आर० दीक्षितार द्वारा उद्धृत। ७. तुल० एल० मसिग्नों: लेक्सीक तेकनीक द ला मिस्तीक मुसुलमेन, पारिस, ग्यूथनर १९२२, पृ० ९७-९८। ८. बसरा अरब खाड़ी का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था जो ७वीं-८वी शताब्दी मे इस्लाम-दर्शन और सस्कृति का विशाल केन्द्र था और प्रबल धार्मिक भावना का प्रचार-केन्द्र भी था। दूसरी ओर, हम यह जानते हैं कि हि० की दूसरी शताब्दी मे भारत और मुस्लिम देशो के मध्य व्यापार और सास्कृतिक सम्बन्ध सब से अधिक था और अधिकांश व्यापार बसरा से ही होता था। मुसलमान व्यापारी अच्छे धर्मप्रचारक थे और जहाँ कही वे जाते थे, मुसलमान सन्त उनका अनुगमन करते।

सातवीं शताब्दी मे ही समृद्ध मुसलमान व्यापारी-समुदाय मालाबार-तट पर व्यवस्थित ऐश्वर्यशाली रूप से बस गया था और ९वीं शताब्दी के पूर्व ही उसका प्रभाव सम्पूर्ण पश्चिमी तट एव दक्षिणी राज्यो मे फैल चुका था।

८वीं शताब्दी के मध्य तक चरंगनोर और मालदिव के मोपलो का धर्म-परिवर्तन हसन बस्री के शिष्य बसरा के मालिक इब्न दिनार के शिष्यो ने सम्पन्न किया था। ९वीं शताब्दी

माणिक्क की धार्मिक आत्मा अनुरागी देवता शिव की उत्कट कामना मे विलीन थी। जब वह समुद्र की ओर जा रहा था उसे एक रहस्यमय गुरु मिले। वह मानवीय वेश मे स्वय शिव ही थे जिन्होने उसे एक वृक्ष के नीचे दर्शन और अलौकिक ज्ञान दिया। जनश्रुति के अनुसार माणिक्क लोकोत्तर प्रेम मे लवलीन होने के कारण राजा को घोडे लाकर न दे सका, अतएव उसे कडी सजा की आशका थी। उसी समय शिव उसकी रक्षा के लिए एक विदेशी व्यापारी के वेश मे आये और घोडो के एक बडे झुण्ड को, जिसे दूर देश से लाने का उन्होने बहाना किया, साथ लेते आये।[९]

पाण्डय राजा के समक्ष कोडा लेकर खडे हुए और एक अरब व्यापारी के रूप मे सौदा करते हुए शिव की कल्पना कुछ अद्भुत-सी है। यह कहानी इस बात की ओर सकेत करती है कि अपने रहस्यमय गुरु के द्वारा अथवा समुद्र-तट पर स्थित धर्मोत्साही मुसलमान व्यापारियो के सम्पर्क से माणिक्क मुसलमानी एकेश्वरवाद के और शायद बसरा के कुछ मुस्लिम सन्तो के ससर्ग मे आये थे। इसी प्रभाव के आधार पर उनके प्रबल अद्वैतवाद की, वेदान्त के विचारो की उपेक्षा की, और एक उच्चकोटि के रहस्यात्मक उपदेश को प्रतिपादित करने के लिए साधारण लोक-कथा के उपयोग की—जो सूफी धर्म-प्रचारको की अपनी विशेषता थी—विशिष्ट प्रणाली की व्याख्या की जा सकती है।

लोकोत्तर प्रेम की 'काम' अथवा परमात्मा के प्रति आत्मा की उत्कण्ठा के रूप मे माणिक्क की धारणा बसरा के पूर्ववर्ती सूफियो की धारणाओ से साम्य रखती है। एक महत्त्वपूर्ण हदीथ, जिसका श्रेय सूफियो के पहले प्रमुख महात्मा हसन बसरी (६४३—७२८) को दिया जाता है, और जिसका प्रचार, उसके शिष्य जैद ने किया, ईश्वर और आत्मा के पारस्परिक प्रेम को पारस्परिक कामना (इश्क) बताता है—वह इश्क जो पर्दा उठाकर आत्मा को ब्रह्म-दर्शन करा देता है।[१०] जद ने स्वय अलौकिक प्रेम की कल्पना 'इश्क' या 'शौक' अर्थात् आत्मा की परमात्मा के प्रति उत्कट

के प्रारम्भ में मालाबार के अन्तिम चेर राजाओ ने मुसलमानी धर्म अपनाया। दूसरी ओर १२०-१२४ हि० मे जारिर ब०हाजिम अज्दी ने बसरा में भारतीय उद्गम के संशयवादियो के एक दर्शन-सम्प्रदाय की स्थापना की। (दे०मैसिग्नाँ, पृ० ६५)। वे संशयवादी सोमनियों के नाम से पुकारे जाते थे। इस नाम मे तामिल सन्तो की घृणा के पात्र शमनो को पहचानना सरल है। यह मानना स्वाभाविक है कि तामिल शैव सन्त इस्लाम के एकेश्वरवाद की ओर आकृष्ट हुए और नास्तिक शमनो के विरुद्ध जो उनका संघर्ष था उसमे वे इस्लाम को एक सहयोगी के रूप मे देखना चाहते थे। (एन एम) ९. दे० दीक्षितार की पुस्तक का १००वाँ पृष्ठ; जी० यू० पोप के 'तिरुवाशगम्' के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका (ऑक्सफ़र्ड, १९००) भी। इसमें कहा गया है कि व्यापारी 'आर्य देश' अर्थात् विदेश से आये। पोप के अनुसार "यह माना जा सकता है कि इस (विदेश) का अर्थ अरब है। भारत और पाश्चात्य देशो के मध्य, जहाँ से न केवल माल अपितु प्रभावशाली विचारधाराएँ भी आयीं, जलयानों द्वारा व्यापार होता था, इस तथ्य की ओर सारा का सारा वृत्तान्त इंगित करता है।" (दे० वही, पृ० २०) १०. दे० मैसिग्नाँ की पुस्तक का पृष्ठ १७३।

कामना और अभिलाषा के रूप मे की है। उसने हुब्ब और मुहब्बह शब्दो को अस्वीकृत कर दिया क्योकि उनका अर्थ होता है परमात्मा और उससे उत्पन्न आत्मा के बीच समानस्तर की पारस्परिक मित्रना। उसके धर्मोपदेशो मे इस विषय का यही स्वर प्राय गूँजता है —

"हे बन्धुओ ! क्या तुम ईश्वर की कामना (शौक) के लिए आँसू नही बहाओगे ? जो इम भावना से ईश्वर की भक्ति करता है वह उसके दर्शन से वचित कैसे रह सकता है ?"[११]

पूर्ववर्ती सूफियो मे से हसन बसरी के शिष्य मालिक इब्न दिनार और मोदर कारी और धूल 'नून मिसरी ब्रह्म के प्रति आत्मा के अनुराग की व्याख्या 'शौक' के रूप मे करते है। परन्तु बसरा के सूफियो मे से केवल राबिया ही ऐसी है जो हुब्ब की अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप मे व्याख्या करती है। इस विषय मे दो प्रकार के प्रेमो[१२] का विवेचन करते हुए उसने लिखा है कि अपूर्ण प्रेम आत्मा की अपने आनन्द के लिए कामना है और पूर्ण प्रेम स्वत ईश्वर की निजी आनद-लीला के लिए अनासक्त कामना है।

मोहसिबी के सयोग से 'हुब्ब' और 'मुहब्बह' शब्दो का तीसरी शताब्दी हिजरी मे प्रचलन हुआ और यह व्याख्या हल्लाज और इब्न दाऊद के बीच एक प्रसिद्ध विवाद का विषय बनी। परन्तु बसरा के सूफियो की पहली पीढी ने, जिसमे सब के सब कट्टर मुसलमान थे, परमात्मा और जीवात्मा के बीच के प्रेम-सम्बन्ध की अपरिवर्तनीयता पर काफी जोर दिया है। इस सम्बन्ध का तात्पर्य आत्मा के पक्ष मे निरपेक्ष आत्मसमर्पण तथा उत्कट कामना से है। यही मालिक इब्न दीनार की धारणा थी जिसके शिष्यो ने चरगनोर के मोपलो को, जो ८ वी शताब्दी मे इस्लाम-धर्म स्वीकार करने वाली पहली हिंदू जाति थी, अपने धर्म मे दीक्षित किया। अत ८ वी-९ वी शताब्दी के तामिल सन्त-कवियो पर बसरा के पूर्ववर्ती सूफियो का यत्किंचित् प्रभाव था, यह निराधार नही। इसी प्रभाव ने उनकी लोकोत्तर प्रेम-विषयक विशिष्ट धारणा के विकास मे निश्चय ही अपना योग दिया होगा।

माणिक्क तथा सूफियो की दृष्टि मे ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उत्कण्ठा अलौकिक प्रेम के विकास मे एक क्षण मात्र की घटना नही है अपितु वह प्रेम का सार-तत्व ही है। इतना ही नही, वही उसकी पराकाष्ठा है। अत रहस्यात्मक चिन्तन-प्रणाली के अनुरूप बनाने के लिए प्रेम के सुखात्मक पक्ष की अपेक्षा उसके वेदनापूर्ण पक्ष पर ही अधिक बल दिया जाता है और प्रेमकथा की सरल रूप-रेखा तो उसी असह्य वेदना के वर्णन के लिए भूमिका मात्र है। तामिल लोक-साहित्य की व्यथित कादली अथवा तलीवी, जो 'तिरुक्कोवइ' की नायिका है, भारतीय धार्मिक-साहित्य मे लोकोत्तर प्रेम के प्रतीक के रूप मे प्रथम मानवी है। यह कहना शायद अत्युक्ति नही कि विरह-प्रेम के रूप मे लोकोत्तर प्रेम की रहस्यात्मक धारणा, जिसने उत्तर के लोकप्रिय साहित्यो मे अत्यधिक महत्त्व प्राप्त किया और भारतीय सूफी साहित्य को अभिभूत किया, 'तिरुक्कोवइ' मे बीज-रूप मे विद्यमान है। माणिक्क का प्रेम-प्रतीकवाद का उपयोग पूर्णतया सादृश्यात्मक है। कभी-कभी मनुष्य रूप मे प्रत्यक्ष होने के

११. दे० मैसिग्नाँ की पुस्तक, पृष्ठ १९२-१९३। १२. मैसिग्नॉ द्वारा उद्धृत, पृष्ठ १९४।

बावजूद भी शिव अपनी पारलौकिकता की अगम्य ऊँचाई के कारण भक्तो की पहुँच के बाहर रह जाते है।

आलवार के नाम से प्रसिद्ध वैष्णव कवि-सन्तो की भावना थोडी भिन्न है। उनका विष्णु-अवतार के सिद्धान्तो मे विश्वास और कृष्ण की पौराणिक कथा के प्रति उत्साह उनके प्रेम-प्रतीकवाद मे यथार्थवाद का एक नया पुट देता है। यहाँ भी हम लौकिक-प्रेम का तुलनात्मक निर्देश पाते है जिसके अनुसार ईश्वर (कृष्ण) की कल्पना प्रेमी अथवा पति के रूप मे और जीवात्मा की ब्रह्म की प्रेयसी अथवा पत्नी के रूप मे की गयी है। यहाँ पर भी आत्मा को विरहिणी माना गया है। आलवारो मे सर्वश्रेष्ठ नाम्मालवार[13] ने अपने को उस स्त्री के रूप मे चित्रित किया है जो अपने प्रियतम के वियोग मे घुली जा रही है फिर भी उसी पर पूर्णतया निर्भर है।

अपने अलौकिक प्रभु के दर्शन से वचित होने के कारण आत्मा जिस पीडा का अनुभव करती है वही नाम्मालवार के धार्मिक काव्य की आधारभूत प्रेरणा है। यदि वह कभी कृष्ण के दर्शन और आलिंगन का आनन्द प्राप्त करता है तो उसके सुख मे एक नये वियोग का भय मिश्रित रहता है, और वे अस्थायी मिलन के क्षण केवल उसकी अनन्त कामना की अग्नि को और भी उद्दीप्त कर देते है। तथापि इस अत्यधिक अन्तर्द्वन्द्व मे प्रेम की पराकाष्ठा का निवास है, क्योकि मोक्ष से भी अधिक वाछनीय है ईश्वर का सान्निध्य—यहाँ तक कि चिन्ता और दु ख मे भी। ऐसा प्रतीत होता है कि नाम्मालवार की दृष्टि मे अलौकिक प्रेमलीला का प्रदेश आत्मा ही है, तथापि 'तिरुविरुत्तम्' के तीसरे शतक मे उनका विचार यह है कि जो ईश्वर के सम्पर्क मे तत्वत नही आ सकता उसे उसकी मूर्त्ति और पुराण मे वर्णित कृष्ण-कथा की ओर अपना मन केन्द्रित करने मे ही सन्तोष मिलता है। नाम्मालवार की दृष्टि मे पुराणगत कृष्ण एक रहस्यानुभूति के, जो उसकी आत्मा मे ही घटित होती है, दृष्टान्त मात्र है। अपनी धार्मिक अनुभूति को व्यक्त करने के लिए नाम्मालवार जिन शब्दो का बारम्बार प्रयोग करते है वे है 'निनरु कुमिरुमे' जिसका शाब्दिक अर्थ है 'फूट पडने की स्थिति मे होना'। दासगुप्ता के अनुसार इसकी व्याख्या प्रेम के सतत मथने वाले भाव के अर्थ मे की गयी है जो गम्भीर से गम्भीरतर होता जाता है, कभी बिखरता नही और न समाप्त ही होता है। हृदय मे प्रेम की मन्थन और अन्त प्रवेश की क्रिया उसी तरह शब्द-हीन, मौन और अव्यक्त होती है जैसे वह गाय जिसके स्तन दूध से आपूरित हो और अपने दूर बँधे हुए बछडे के पास पहुचने की उत्कण्ठा को मुख से पूर्णतया व्यक्त नही कर सकती![14] माणिक्क की तरह नाम्मालवार की अभिव्यञ्जनाओ मे एक गत्यात्मक शक्ति, आत्मा का एक दु खान्त अन्त-र्द्वन्द्व ध्वनित होता है जो उस मधुर और शान्तिपूर्ण भक्ति से जो कृष्ण के सयोग-सुख की ओर ले जाती है, और जिसका प्रतिपादन 'भगवद्गीता' ने किया है, बहुत दूर है। 'भागवतपुराण' मे वर्णित गोपियो की कृष्ण के दर्शन के लिए कामना उसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है।

---

१३. आलवारो की तिथि के विषय मे बहुत विवाद हो चुका है। दासगुप्ता ने (भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ३, ६५) नाम्मालवार की तिथि ईसा की ८वीं शताब्दी के अन्त अथवा ९वीं के आरम्भ मे निश्चित की है। १४. पृष्ठ सं० ७८-७९।

नाम्मालवार ने 'भागवतपुराण' का प्रत्यक्ष उपयोग किया है या नही, इसमे सन्देह है। परन्तु उनकी कृतियो मे कृष्ण-गोपाल और गोपियो का असख्य निर्देश है और स्वभावत उनकी प्रवृत्ति गोपियो से और कभी-कभी कृष्ण की सगिनी नपिण्णइ (राधा) से अपना तादान्म्य स्थिर करने की है। उस स्थिति मे नपिण्णइ (राधा) का उल्लेख विष्णु की चिरसगिनी की अपेक्षा एक वियुक्त स्नेहशीला पत्नी के रूप मे किया गया है।

आण्डाल को छोडकर नाम्मालवार और दूसरे आलवार कृष्णोपाख्यान को प्रतीको का एक वन मानते है जिसका उपयोग अपने क्षणिक आवेशो के अनुसार करने की उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता है। उस कथा मे वह अपना तादात्म्य कभी गोपियो (नपिण्णइ को लेकर) कभी कृष्ण के सहचर गोपो, कभी (अपने पूर्ववर्त्ती पेरियालवार की तरह) कृष्ण की उपमाता यशोदा से करने मे स्वतत्र थे। परन्तु उन सभी पौराणिक कथाओ का उल्लेख निश्चय ही सच्चे भक्तो के रूप मे हुआ है जो अपने प्रभु मे पूर्णतया अनुरक्त तथा उसके दर्शन के लिए विकल रहते है और अपनी विरह-व्यथा के चरम महत्व को चरितार्थ करते है।

आठवी शताब्दी के प्रारम्भ मे पेरियालवर की आध्यात्मिक पुत्री, कवियित्री आण्डाल ने कृष्णोपाख्यान के पात्रो के साथ भावात्मक सारूप्य को, जो आलवारो की अपनी चीज थी, आगे बढाया। रहस्यवादियो के मध्य मणि-रूप आण्डाल के सम्पर्क से प्रेम-प्रतीकवाद मे यथार्थ का और भी अधिक पुट आ गया। श्रीरङ्गम् मे प्रतिष्ठित प्रभु तिरुमल (विष्णु) के प्रति अपने तीव्र अनुराग मे उसने केवल उन्ही को अपना पति मानने का सकल्प किया। पौराणिक कथा के अनुसार उसके आध्यात्मिक पिता पेरियालवार उसे परिणय-परिधान मे मूर्त्ति के पास ले जाने को सहमत हुए। उनके ले जाते ही प्रभु ने अपने हाथ बढा दिये और उससे प्रेमालिङ्गन किया और फिर वह उसी प्रकार अतर्धान हो गयी जैसे हवा।[१५] यह कथा आण्डाल की 'तिरुप्पावइमप्पतु' तथा 'नाचियार तिरुमोली' नामक कविताओ के भावात्मक स्वर के अनुरूप ही है। 'नाचियार तिरुमोली' नाम्मालवार की 'तिरुविरुत्तम्' की भाँति एक विरह-गाथा है। वह एक शोक-गीत है जिसका विषय है पत्नी की आत्मा—आण्डाल—का उसके अलौकिक प्रियतम श्रीरङ्गम् के प्रभु तिरुमल से वियोग। परन्तु नाम्मालवार की अपेक्षा आण्डाल का दृष्टिकोण अधिक यथार्थवादी है, क्योकि वह अपने को उसी की वास्तविक पत्नी मानती है जिसे उसने अपने मन से पति रूप मे वरण कर लिया है। 'तिरुप्पावइ' मे मायन (कृष्णगोपाल) नन्दगोपाल के नन्दन, 'उत्तरी मथुरा के बालकृष्ण' ही 'गोपी' आण्डाल के प्रेमी है। सुन्दर केशो वाली नपिण्णइ का वर्णन विष्णु की प्रेमिका नीला देवी के अवतार के रूप मे हुआ है, परन्तु उसका कोई धार्मिक महत्त्व नही है। वह कृष्ण-गोपाल की चपल सगिनी है और रासलीला मे उनकी सहचरी है। उनकी अलौकिक प्रेमिका होने के कारण नपिण्णइ मायन से कभी भी वियुक्त नही हो सकती। इसके अतिरिक्त नृत्य-बाला होने के कारण वह वियुक्त आत्मा का आदर्श नही हो सकती। अत नाम्मालवार के विपरीत आण्डाल कभी-कभी अपना तादात्म्य नपिण्णइ

---

१५. दीक्षितार, पृष्ठ ११३।

से नही अपितु एक नामहीन गोपी से करती है जो विरहिणी है और भगवान् कृष्ण की सच्ची भक्त है।

'हरिवश' और 'विष्णुपुराण' से लेकर 'भागवतपुराण' तक फैली हुई प्राचीन पौराणिक राधा को कोई स्थान नही देती। किंतु यह मानने के लिए पर्याप्त तर्क है कि भागवत का प्रणेता—परपरा जिसका दाक्षिणात्य उद्गम सामान्यतया स्वीकार किया जाता है—गोनृत्य मे कृष्ण की सहचरी के रूप मे राधा नपिण्णइ से परिचित है। 'भागवत पुराण' (१०।३०) की कृष्ण के अपनी इष्ट गोपी के साथ प्रेम-पलायन करने की अन्तर्कथा की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते है कि यह आख्यान राधा के साथ कृष्णलीला की ओर सकेत करता है, यद्यपि राधा का नाम वहाँ नही आया है। हमारे विचार से 'भागवत' के रचयिता का ऐच्छिक मौनव्रत कृति के धार्मिक उद्देश्य की दृष्टि से पर्याप्त रूप से न्यायसगत था। जहाँ तक कि वह विष्णु की चिरसगिनी नीलादेवी के अवतार के रूप मे मानी गयी है, राधा-नपिण्णइ धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्ति को अवश्य एक उलझन सी लगी होगी।

'भागवत पुराण' के अन्तर्गत इष्ट गोपी की अन्तर्कथा का विलक्षण निबन्धन यह ध्वनित करता है कि लेखक राधा को कृष्ण की सगिनी के रूप मे स्वीकार करने के पक्ष मे नही था, क्योकि वह स्वय कृष्ण को विष्णु का अवतार न मानने की अपेक्षा परम भागवत ही अधिक मानता था।

यद्यपि आलवारो ने 'उत्तरी मथुरा के बालकृष्ण' का अपनी परम अलौकिक सत्ता श्रीरङ्गम् के भगवान् विष्णु से और उनकी सगिनी नपिण्णइ का नीलादेवी से तादात्म्य स्थापित किया तथापि वे कृष्ण-कथा का प्रतीकात्मक अर्थ लेना चाहते थे; और जैसा हमे ज्ञात है, स्वय आण्डाल ने अपना तादात्म्य नपिण्णइ से नही अपितु विरहावेश मे एक साधारण गोपी से किया है। इसी प्रकार 'भागवत' मे इष्ट गोपी महाभक्ता के रूप मे प्रकट होती है। वह एक महान् सन्त है जिसकी जन्मजन्मान्तर की अपनी पूर्ण भक्ति ने भगवान् के हृदय पर विजय पा ली थी। उसका तिरस्कार सभी आत्माओ को विनय का एक पाठ पढाने के लिए है जिनकी प्रवृत्ति अपने प्रभु के प्रेम पर गर्व करने की है और जो यह भूल जाते है कि उनका सर्वस्व उस प्रभु के ऊपर पूर्णत निर्भर है। अन्तत यह अन्तर्कथा स्वामिभक्त गोपियो के हृदय की विरहाग्नि को उद्दीप्त करने का उद्देश्य पूरा करती है। "सच्चिदानद भगवान् ने केवल यह दिखलाने के लिए कि काम-पीडित कितने दयनीय होते है और स्त्रियो का हृदय कितना दूषित होता है, उसके साथ केलि की।" यह अवतरण तथा अन्य भी, जो गोपियो की कामना और अपने प्रिय तथा स्वामी कृष्ण के प्रति उनके पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना पर जोर देते हैं, स्वत रूपक बन जाते है। यह तथ्य कि नायिका का नाम गुप्त रखा गया है, इस उपकथा की प्रतीकात्मक प्रकृति का एक दूसरा संकेत है। प्रकृति से सामान्यतया यथार्थवादी होने पर भी 'भागवत पुराण' मे गोपियो की उपकथा के निबन्धन मे प्रेम-प्रतीकवाद का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। ऐसा करने मे उन्होने निश्चय ही उसी विरह-तत्व को प्रस्तुत किया है जो आलवारों की कविताओ मे इतना प्रधान था। यद्यपि आलवारो के अनुसार गोपियाँ कृष्ण की परकीया है तथापि वे स्वकीया है, निष्ठावती, सती पत्नियाँ है, क्योकि उनके हृदय मे कृष्ण के दर्शन और सामीप्य की उत्कट कामना है जो

उच्चकोटि की भक्ति का लक्षण है। 'भागवत पुराण' के धार्मिक महत्त्व की इस व्याख्या का भक्ति के सूत्र-ग्रन्थ—'शाण्डिल्य' और 'नारदभक्तिसूत्र' भी समर्थन करते है। फर्कुहर का मत है कि दोनो ही 'भागवत पुराण' पर स्पष्टतया आधारित है। परन्तु इस प्रकार के प्रत्यक्ष आधार का शायद ही कोई प्रमाण हो। यह अधिक सम्भव है कि यह दोनो ग्रन्थ और 'भागवत' भी आलवारो के उपदेश पर आधारित है, यद्यपि 'नारदभक्तिसूत्र' उन उपदेशो के अधिक निकट है जैसा कि उक्त ग्रन्थ मे भक्ति-विरह को उच्चस्थान प्रदान करने से ध्वनित होता है। फर्कुहर कहते है कि 'नारदभक्तिसूत्र' का केवल दाक्षिणात्य भागवतो ने प्रयोग किया है।[१६] वस्तुत नारद के ग्रन्थ मे भक्ति-धर्म और वेदान्त के अद्वैतवाद मे सामजस्य स्थापित करने का कोई प्रयास नही है, परन्तु 'शाण्डिल्यसूत्र' भेदाभेद का दृष्टिकोण ग्रहण करता है।

'शाण्डिल्यसूत्र' का लेखक भक्ति की व्याख्या ईश्वर मे परानुरक्ति[१७] कहकर करते है और यह मत स्थापित करते है कि भक्ति न तो सकल्प है, न क्रिया और न विश्वास अपितु वह हृदय का अनुराग है। स्वप्नेश्वर-भाष्य 'सस्था' शब्द का विवेचन करते हुए 'महाभारत' के एक अवतरण की ओर निर्देश करता है जहाँ 'सस्था' का अर्थ पति के प्रति पत्नी की भक्ति से है। गोपियो के कृष्ण के प्रति प्रेम को शाण्डिल्य ऐसी भक्ति के परिपूर्ण उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करते है जिसका अनुभव हृदय की एकान्त निष्ठा मे होता है। सच्चे भक्तो के चित्त की इस एकाग्रता का, जिस पर गीता से लेकर सभी भागवत ग्रन्थो मे बल दिया गया है, गोपियो मे चूडान्त निदर्शन है। यह ध्यान देने की बात है कि शाण्डिल्य ने किसी और रूढधर्मानुयायी पात्र की चर्चा नही की है।

'नारदभक्तिसूत्र' शाण्डिल्य के ग्रन्थ की अपेक्षा भक्तिदर्शन से कम और उसकी अभिव्यक्ति और लक्षणो से अधिक सम्बन्धित है। सूत्रसख्या १,२ मे भक्ति की परिभाषा 'परमप्रेमरूप' कहकर निर्धारित की गयी है। ऐसे सन्दर्भ मे 'प्रेम' शब्द का प्रयोग एक नवीनता है, परशुराम चतुर्वेदी[१८] ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि उक्त शब्द महाकाव्य मे विरल है, परन्तु काव्य मे इसका प्रयोग प्राय मिलता है, जहाँ पर मुख्यतया यह दो प्रेमियो की उत्कट सुकुमार भावना और लालसा को व्यक्त करता है। यहाँ पर 'रूप' शब्द द्वारा, जिससे तुलना की ध्वनि निकलती है, मानवीय प्रेम-बन्धन के निर्देश पर जोर दिया गया है। विशेषण 'परम' से यह भी परिलक्षित होता है कि भक्ति लौकिक प्रेम से भिन्न है। नारद स्पष्ट रूप से कहते हे कि परम प्रेम अथवा लोकोत्तर प्रेम रहस्यमय और अनिवर्चनीय है। यह केवल अनुभव से जाना जा मकता है, परन्तु लौकिक प्रेम से इसका सादृश्य है। इसके लक्षण है सम्पूर्ण आत्मसमर्पण, विस्मृत होने पर अतिशय वेदना और भगवान के प्रताप और असीम महिमा की सतत चेतना। परम प्रेम काम का विरोधी है और उस स्वार्थपूर्ण प्रेम का भी जो एक प्रेयसी अपने

---

१६. फ़र्कुहर : ए रिलिजस आउटलाइन आॅव् इडिया, आॅक्सफ़र्ड, १९२०, पृष्ठ २३३। १७. शाण्डिल्यसूत्रम्, स्वप्नेश्वरभाष्यसहित, एन० एल० सिंह का अंग्रेजी अनुवाद, इलाहाबाद, १९१८ (सैक्रेड बुक्स आॅव् दि हिंदूज) १, १, १। १८. परशुराम चतुर्वेदी, मध्यकालीन प्रेम-साधना, इलाहाबाद, १९५३।

प्रियतम के प्रति रखती है। यदि गोपियो मे अपने प्रभु के प्रति अनन्त श्रद्धा और नि स्वार्थ भाव का अभाव होता तो इनका प्रेम भी उस वासनापूर्ण अधम प्रेम के सदृश होता जैसा व्यभिचारिणी स्त्रियो का अपने जार प्रेमियो के प्रति होता है। अत 'भागवत पुराण' (१०, २९, ११) मे निर्दिष्ट जड-बुद्धि का भागवत धर्म के सिद्धान्तवादी स्पष्ट रूप से तिरस्कार और निन्दा करते है। परम भक्तो के आदर्श रूप मे गोपियाँ कृष्ण की विश्वासपात्र पत्नियो के अतिरिक्त कुछ नही हो सकती। कृष्ण के विषय मे पौराणिक गोपियाँ परकीया थी या नही, यह महत्वहीन है, क्योकि वे पवित्र और नि स्वार्थ पत्नीव्रत की प्रतीक है। नारद के विवेचन के अनुसार यह दाम्पत्य प्रेम अन्य सभी प्रेमो से श्रेष्ठ है—

"श्रद्धावान सेवक अथवा पत्नी की भाँति पूर्ण निष्ठा से प्रेम का—केवल प्रेम का—आचरण करना चाहिए।"

'नारदभक्तिसूत्र' के ४।५४ मे गिनाये गये प्रेम के लक्षणो मे 'कामनारहितम्' और 'प्रतिक्षण वर्द्धमानम्' है। अत यद्यपि इसमे शान्ति और परमानन्द (४।६०) रहता है तथापि प्रेमा भक्ति तल्लीनता की निश्चेष्ट स्थिति नही अपितु शाश्वत कामना की सक्रिय स्थिति है (४।६६)। यह एकादश भक्तियो की गणना से स्पष्ट है जिसके अन्दर भक्ति के कारण (१।२), उपाय (३।४), भाव अथवा वृत्ति (५।६)—जिनमे सर्वश्रेष्ठ हे कान्ता भाव की भक्ति और अन्त मे प्रेम के गुण या लक्षण है—९ आत्मनिवेदनासक्ति, १० तन्मयासक्ति और ११ परमविरहासक्ति। इनमें परमविरहासक्ति भक्ति की पराकाष्ठा है। अत नारद के लिए केवला रति, जो भगवान् के माधुर्य का उपभोग करती है, भक्ति की चरम स्थिति नही है। यहाँ तक कि तन्मयता भी अन्तिम सोपान नही है। परमविरहासक्ति ही भक्ति की चरम सीमा है जिससे सद्य मोक्ष की प्राप्ति होती है, और जिसमे यद्यपि भक्त ईश्वर से नित्यत सयुक्त हो जाता है तथापि उसे यह अनुभव होता है मानो वह उससे वियुक्त हो। सूक्ष्म दृष्टि से यही वह अवस्था है जो 'भागवत' मे वर्णित रास-लीला मे गोपियो की है और जो बाद मे वैष्णव धर्म के बगाली-सम्प्रदाय मे राधा की है। उदाहरणार्थ गोविन्ददास मे—

"रोदति राधा श्याम करि कोरे, हरि हरि कहँ गये प्राणनाथ मोरे "

अर्थात् श्याम को अपने हाथो मे लेकर भी राधा रोती है—'हे हरि! हे हरि मेरे जीवननाथ कहाँ गए?' अत. ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती भागवतो की भक्ति की कल्पना मे सर्वाधिक महत्व विरह-तत्व दिया गया और इस धारणा का सबध तामिल कवि-सन्तो से, जो स्वय पूर्ववर्ती सूफी धर्म से प्रभावित हुए होगे, जोडा जा सकता है। 'भागवत पुराण' मे यही धारणा कृष्ण की गोपियो के साथ प्रेम-लीला के वर्णन मे व्यजित हुई है और आगे चलकर भक्ति के सूत्रग्रन्थो मे, विशेषकर 'नारदभक्तिसूत्र' मे इसकी शास्त्रीय विवेचना हुई। आलवारो की धार्मिक प्रेरणा, 'नालायिर प्रबन्धम्' के रचयिता नाथमुनि से लेकर रामानुज के आध्यात्मिक गुरु यामुनाचार्य तक के पूर्ववर्ती वैष्णव धर्मशास्त्रियो के सिद्धान्तो के लिए आधार प्रस्तुत करती है।

नाथमुनि के पौत्र यामुनाचार्य, जिनका समय १०वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और ग्यारहवी का पूर्वार्द्ध है, 'नारदभक्तिसूत्र' के रचयिता के समकालीन हो सकते है। वैष्णव दार्शनिको में

सर्वप्रथम यामुनाचार्य आलवारो की शिक्षा पर काफी आधारित दीख पडते है। वह एक ऐसे सिद्धान्त के प्रवर्त्तक है जिसके अनुसार आत्मा ईश्वर और बहुरूप बाह्य ससार दोनो से भिन्न एक आत्म-चेतन तत्व है और जिसने ससार और ईश्वर के द्वैत का निराकरण किया ही नही (दासगुप्त)। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यामुन का ईश्वर और आत्मनिर्भर आत्मा के आदर्श सम्बन्ध के विषय मे दृष्टिकोण आलवारो से भिन्न नही था और उनकी भक्ति-विषयक धारणा के अन्तर्गत न केवल पूर्ण समर्पण या प्रपत्ति अपितु कामना और विरह भी आते है। इसका अनुमोदन एक पक्ति के द्वारा होता है जिसका रचयिता होने का श्रेय उन्हे है और जिसे स्वामी त्यागीशानन्द ने अपने 'नारदभक्तिसूत्र' सस्करण मे उद्धृत किया है[१९]—

दर्शनम् परभक्ति स्यात् परज्ञान तु सगम।
पुनर्विश्लेषभिरुत्वम् परमाभक्तिरुच्यते ॥

"दर्शन परभक्ति है, सयोग परज्ञान है, और पुन वियुक्त होने का भय परमा-भक्ति है।" यह कथन 'नारदभक्तिसूत्र' के अनुकूल है जो भक्ति के सोपानो मे परम-विरह को सबसे ऊँचा स्थान प्रदान करता है। इसमे तनिक सन्देह है कि आलवारो का रहस्यवाद किसी भी प्रकार के विश्वदेवतावाद के लिए स्थान नही छोडता और इस तर्क के अनुसार वेदान्त के अद्वैतवाद से सामजस्य नही स्थापित किया जा सकता। यह जानना रोचक है कि रामानुज के आध्यात्मिक पूर्वज यामुनाचार्य ने इस प्रकार के सामजस्य का प्रयास ही नही किया अपितु स्पष्टत ईश्वर से भिन्न, फिर भी उस पर पूर्णरूपेण निर्भर एक सत्ता के रूप मे जीवात्मा की नित्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। भक्ति की शास्त्रीय विवेचना करने वाले पडितो ने आलवारो के समय से ही भक्ति की गत्यात्मक धारणा बनायी थी जिसकी चरम स्थिति शान्ति की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व है—ईश्वर-प्राप्ति मे भी एक अतृप्त पिपासा, अलौकिक प्रेमी के पूर्णतर ज्ञान के लिए एक निरन्तर कामना है। अत लोकोत्तर प्रेम मे परितुष्टि नही। यह तो ऐसी विरहिणी अथवा अपने देवता के वियोग-दु ख से सतत पीडित और उसके दर्शन-सुख का उपभोग करते हुए भी उसी की कामना मे आसक्त विश्वासपात्र पत्नी का चरित्र है जो आलवारो के और उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारियो के लिए लोकोत्तर प्रेम का सबसे उपयुक्त प्रतीक है।

जबकि रामानुज से लेकर महान् वैष्णव आचार्य भक्ति की बौद्धिक और निश्चेष्ट धारणा ग्रहण कर रहे थे और वेदान्त के सिद्धान्तो के साथ उसका समन्वय कर रहे थे उस समय तामिल कवियो की लोकोत्तर प्रेम की विशिष्ट धारणा दक्षिण से लेकर उत्तर तक, विशेष रूप से उत्तर-पश्चिमी भारत मे, जहाँ पर यह धारा इस्लाम के अद्वैतवाद और सूफी रहस्यवाद के प्रत्यक्ष प्रभाव से बल पा चुकी थी, अधिकाश धार्मिक साहित्य को प्रेरित कर रही थी। यह धारणा एक व्यक्तिगत ईश्वर के लिए वैयक्तिक आत्मा की कामना पर और उन कवियो के विशिष्ट प्रेम-प्रतीकवाद पर बल देती थी। इसमे विरहणी के चरित्र को प्रधानता दी गयी थी। राजस्थान की कवियित्री मीरा आण्डाल की उत्तरी प्रतिरूप है। यह कि 'भागवत पुराण' उस धार्मिक

---

१९. मद्रास, १९५२, पृष्ठ ४६।

धारा का अद्वितीय और मौलिक उद्गम नही है इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि उक्त धारा उन साहित्यो मे—उदाहरणार्थ कबीर और उत्तरी भारत के सन्तो के दोहो और पदो मे भी प्राप्य है जिन पर 'भागवत पुराण' का ऋण बिल्कुल नही अथवा अत्यल्प है।

उत्तरी भारत की सभी भाषाओ मे, विशेषरूप से १४वी से १७वी शताब्दी तक, विरह-प्रधान रहस्यवादी साहित्य की असाधारण वृद्धि यह स्पष्ट प्रदर्शित करती है कि दक्षिण से उत्तर तक की जनता की धार्मिक चेतना प्रेम-प्रतीकवाद के एक विशिष्ट स्वरूप से लिपटी हुई है जो ईश्वर और ससीम आत्मा के शाश्वत भेद पर और उनके सम्बन्ध की अपूर्व अपरिवर्तनीयता पर जोर देता है और जो प्राचीन भागवत धर्म मे इत पूर्व अज्ञात था।



तृतीय खण्ड : साहित्य

विश्वनाथ प्रसाद

हिंदी के विकास की कुछ झाँकियाँ

आधुनिक भारतीय भाषाओ के विषय मे प्राय अनुमान किया जाता है कि उनमे से प्रत्येक किसी न किसी प्राकृत या अपभ्रश से विकसित हुई है। कुछ लोग हिन्दी के विषय मे भी ऐसा ही विचार करते हैं। परन्तु हिन्दी मे निश्चित रूप से किसी एक ही प्राकृत या अपभ्रश के रूप और लक्षण न मिलने के कारण उसे उनमे से किसी एक से ही व्युत्पन्न मानना युक्तिसगत नही प्रतीत होता। यूरोप की 'रोमास' कुल की भाषाओ के समान हिन्दी वस्तुत सक्रमण की प्रणाली से विकसित हुई है, व्युत्क्रमण की प्रणाली से नही। उद्योतन सूरि की 'कुवलयमाला' के अनुसार ८वी-९वी शताब्दी मे कम से कम सोलह प्रादेशिक भाषाएँ या बोलियाँ व्यवहृत थी। उत्तर मे पजाब और पूर्व मे बिहार-बगाल के बीच की भाषाएँ और बोलियाँ बोल-चाल के रूप मे अपनी-अपनी स्थानीय विशेषताओ के बावजूद भी शनै-शनै एक समान आदर्श की ओर उन्मुख होती जा रही थी। ८वी से १२वी शताब्दी के अपभ्रश ग्रथो से यह स्पष्ट है कि इसी प्रवृत्ति के कारण उस समय की साहित्यिक भाषा का बहुत कुछ अशो मे आदर्शीकरण हो चुका था और लिखित रूप मे उनके स्थानीय भेदो मे बहुत अधिक अन्तर नही रह गया था। साहित्यिक व्यवहार के लिए एक समान भाषा के रूप मे हिन्दी का आविर्भाव उस समय के अपभ्रंश ग्रथो मे स्पष्टत परिलक्षित है। सक्रमण की इस प्रणाली से हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य के उदय और विकास के सर्वोत्तम प्रमाण हमे मिलते है सिद्ध कवियो की कृतियो मे। इसमें सन्देह नही कि हिन्दी के प्राचीन से प्राचीन रूप हमे उन्ही के ग्रंथो मे प्राप्त होते है।

सन् १९१६ ई० मे स्वर्गीय प० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा 'बौद्ध गान ओ दोहा' के नाम से सिद्ध कवियो के कुछ ग्रथो के सग्रह के प्रकाशन के उपरान्त उनकी भाषा के सम्बन्ध मे नाना प्रकार के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये। स्वय शास्त्री महोदय तथा कुछ अन्य विद्वानो ने उसे बँगला का आदि रूप समझा। इसके विपरीत दूसरे महानुभावो ने उनमे उडिया या मैथिली या भोजपुरी या मगही के प्राचीन रूपो के दर्शन किये। सच तो यह है कि इन पूर्वीय भाषाओ मे बहुत कुछ समता है और ये सभी मागधी अपभ्रश से ही सम्बद्ध है जिसके स्थानीय रूपो मे उस समय बहुत अन्तर नही प्रकट हुए थे। इसलिए इन ग्रथो के अनेक प्रयोगो मे इनमे से किसी एक या अन्य के कुछ रूप या विकास के लक्षण ढूँढ निकालना सहज ही सभव है। पर इस सबध मे सबसे अधिक ध्यान देने की जो बात है वह यह है कि इन सिद्ध ग्रथो मे से अधिकाश बिहार के प्रसिद्ध विद्यापीठ नालन्दा और विक्रमशिला मे ही लिखे गये थे और इनके बहुतेरे लेखक इन्ही क्षेत्रो के निवासी थे। इसलिए इस अनुमान मे निश्चय ही विशेष बल आ जाता है कि उन लोगो की आधारभूत

भाषा उस समय की प्रचलित मागधी या मगही का ही कोई रूप रही होगी। उसी की नीव पर उन लोगो ने अपनी रचनाओ मे पश्चिमी अपभ्रशो के आदर्शीकृत रूपो तथा पार्श्ववर्ती पश्चिमी प्रदेशो के प्रचलित रूपो का निधडक मिश्रण करके एक ऐसी साहित्यिक शैली का विकास किया जिसके माध्यम से वे अपने विचारो को अधिक विस्तीर्ण जनवर्ग तक पहुँचा सकते थे और उन्हे प्रभावित कर सकते थे। फलत एक ही रचना के दर्पण मे अनेक रूपो की झलक दिखायी पडती है। वास्तव मे हिन्दी इसी प्रकार के स्वाभाविक और यादृच्छिक मिश्रणो का परिणाम है, जिसके प्राचीनतम नमूनो का साक्ष्य हमे सिद्ध-साहित्य मे मिलता है।

स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल तथा श्री राहुल साकृत्यायन पहले व्यक्ति थे जिन्होने इन सिद्ध कवियो मे हिन्दी के उद्‌गम और विकास की ओर तथा इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया कि इनके द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य का आदि काल प्रामाणिक रूप से पीछे हटकर ८वी शताब्दी ईस्वी मे जा पहुँचता है। इन रचनाओ मे से जो सबसे पुरानी हैं उनमे भी हिन्दी के साथ उनके भाषा-साम्य को प्रकट करने वाली ऐसी बहुतेरी पक्तियाँ है जैसे, "जहि मण पवण ण सचरै" आदि जो एक स्वर या एक व्यजन के परिवर्तन मात्र से (इस उदाहरण मे केवल 'ण' के स्थान मे 'न' और जहि के 'अ' के स्थान में 'ए') बहुत परवर्ती काल की विकसित हिन्दी के रूप मे परिणत हो जाती है।[1] राहुल जी ने अपनी 'हिन्दी काव्य-धारा' मे सिद्ध कवियो की थोडी सी चुनी हुई रचनाओ के नमूनो की जो हिन्दी छाया दी है, उनकी ओर एक नज़र डालने से भी इस बात की पुष्टि के प्रमाण मिल जायँगे। वे तिब्बत से सिद्ध-साहित्य की जो हस्तलिखित प्रतियाँ ले आये थे, उनमे कई ऐसे विशेष लक्षण वाले रूप मिलते हैं जो शास्त्री, बागची और शहीदुल्ला के सस्करणो मे दिये हुए रूपों से भिन्न हैं और मगही तथा हिन्दी रूपों से अधिक सामीप्य और सादृश्य प्रदर्शित करते हैं। ये तिब्बती हस्तलिखित प्रतियाँ[2] कुटिलाक्षरो मे लिखी हुई है जो ९वी से १३वी शताब्दी तक प्रचलित थे और नैपाली हस्तलेखो से अधिक प्राचीन तथा भाषा के अध्ययन के लिए अधिक प्रामाणिक हैं। सिद्ध-साहित्य मे हिन्दी या मागधी-हिन्दी भाषा और साहित्य के उद्‌गम स्रोत के अस्तित्व के पक्ष मे जो सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाण दिया जा सकता है वह यह है कि उनमे जो साहित्य-रूप और छन्द प्रयुक्त हुए है, विशेषकर दोहा, पद्धरि[3] और पद, उनकी परम्पराएँ हिन्दी मे ही सुरक्षित और विकसित पायी जाती हैं तथा उनके रागात्मक तत्व बँगला और उड़िया की अपेक्षा हिन्दी ध्वनियो के अधिक अनुरूप हैं। इसके अतिरिक्त कई ऐसे रूप भी हैं जो स्पष्टत मगही या बिहारी रूप हैं, जैसे—**पड़िल, बुड़िल, घरे घरे, एत्थ, एथु** (अत्र), **जे, जवे** (जब), **तवे** (तब), **अइसे, अइसनि, कइसनि, मातेल** (मत्त) आदि। मूर्धन्य 'ण' के साथ

---

१. 'जहि' या ह्रस्व एकारान्त 'जेहि' शब्द से ही तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' का श्री गणेश किया है—मिलाइए : 'जेहि सुमिरत सिधि होय।' **२. तिब्बती हस्तलेखों पर आधारित सरहपा की कृतियों का राहुल जी द्वारा सम्पादित एक संस्करण बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित हुआ है।** **३. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में पद्धरियों का विकास चौपाई के रूप में हुआ।**

ही साथ न' वाले रूप भी मिलते है, जैसे—णहि और न, नाहि आदि। हिन्दी के दन्त्य 'स' वाले तद्-भव रूपो के अनेक उदाहरण **बतिस, परबस,** चौसठ, सुभासुभ आदि शब्दो मे मिलते है। भाषा के रूपो के अध्ययन से यह भी प्रकट होता है कि इस काल मे विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ निश्चित रूप से प्रारभ हो गयी थी। सज्ञा, विशेषण और कृदन्त के अविभक्तिक रूपो के ऐसे बहुतेरे उदाहरण मिलते है जो विशेषणवत् प्रयुक्त होते हुए भी अपने रूपो मे लिग, वचन और पुरुष के अनुसार कोई परिवर्तन नही प्रदर्शित करते। यह अपभ्रश की अवस्था से हिन्दी की उत्पत्ति और विकास का एक स्पष्ट भेदक लक्षण है।

ये सिद्ध कवि बौद्ध धर्म के वज्रयान सम्प्रदाय के थे जो सहजयान की एक शाखा था और इन्होने महासुखवाद तथा शून्यवाद के दार्शनिक सिद्धान्तो का एक सन्धानात्मक तथा रहस्यात्मक शैली मे प्रचार किया जिसे 'सन्धा भाषा' (अर्थात् खोज की भाषा) सज्ञा से अभिहित किया गया है। इसमे जिन विशेष रूपको, उपमाओ और सकेतो का प्रयोग किया गया है उनका अभिप्राय यही था कि उनके धार्मिक सिद्धान्तो की ओर साधारण जनता का ध्यान प्रभावशाली ढग से आकर्षित हो। उन्होने इसी उद्देश्य से अपनी साहित्यिक रचनाओ मे इस बात का प्रयत्न किया कि उनकी भाषा यथासभव साधारण जनता की भाषा के निकट रहे। इस भाषा मे तत्सम रूपो की अपेक्षा तद्भव रूपो की अधिकता इसी प्रवृत्ति का फल है।

इन सिद्ध कवियो मे सबसे प्राचीन थे सरहपा (८वी शताब्दी ईस्वी) जिनके दो और वैकल्पिक नाम—सरोजवज्र पाद और राहुलभद्र ग्रथो मे उल्लिखित है। ये नालन्दा मे रहते थे, पर पीछे गुन्तूर जिले के श्री पर्वत पर रहने लगे। वज्रयान-सिद्धान्त पर उनके बत्तीस ग्रथ तिब्बती तजूर मे अनुवादित मिलते है। इनमे से कम से कम सोलह, जिनकी सूची राहुल जी ने दी है, मगही-हिन्दी से अनुवादित किये गये थे। इनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय है—दोहाकोष, काया-कोष, अमृतवज्र गीति, सरहपाद-गीतिका, चर्यागीतिदोहाकोष और महामुद्रोपदेश-दोहाकोष। उन्होने अपने ग्रथो मे जातिवाद, पुस्तकस्था विद्या, निरर्थक अन्धविश्वास और बहुदेवदेवीवाद तथा विधिवितडावाद की तीव्र आलोचना की है।

इनके शिष्य शबरपा (९वी शताब्दी ई०) के भी छ ग्रथ मगही-हिन्दी-मिश्रित भाषा मे लिखे हुए मिलते है, जिनमे कई सरल सुन्दर गीत है। शबरपा के शिष्य थे लुइपा, जिनके पाँच ग्रथो के अनुवाद तिब्बती भाषा मे मिलते है। उन्होने बडे सूक्ष्म और सटीक सकेतो द्वारा गुरु और ब्रह्म की महिमा का बखान किया है। चौरासी सिद्धो मे उन्हे प्रथम स्थान देकर उनके प्रभाव को मान्यता प्रदान की गयी है। इनके अतिरिक्त भूसुकपा ने भी, जिनका दूसरा नाम था शान्ति-देव, मिश्रित लोक-भाषा मे 'सहजगीति' नामक एक ग्रथ लिखा था, जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा मे मिलता है।

सरहपा, कण्हपा आदि इन सिद्ध कवियो के अतिरिक्त नालन्दा के करणरीपा, विरूपा, डोम्बिपा, महीपा और ककणपा, भगल (भागलपुर) के जयानन्द, वैशाली के दीपकरश्रीज्ञान, वैशाली के तिलोपा और गदाधर, विक्रमशिला के धम्पा, मिथिला के हरिब्रह्म और ओदन्तपुर (बिहार) के शान्तिपा के नाम उल्लेखनीय है। शान्तिपा इतने प्रकाड विद्वान् थे कि उन्हे

कलिकाल-सर्वज्ञ की उपाधि मिली थी और विक्रशिला विश्वविद्यालय के वे द्वारपडित नियुक्त किये गये थे। ये सभी ९ वी से ११वी शताब्दी के बीच हुए थे। बख्तियार ने नालन्दा और विक्रमशिला पर जब चढाई की तो ये सभी अपने ग्रथो के साथ तिब्बत भाग गये। वहाँ इनकी कृतियो का पूरा सम्मान हुआ। वे या तो मूल या अनुवादित रूप मे वहाँ सुरक्षित रही। बीस सिद्ध कवियों की अतिरिक्त सूची मे चौरगीपा का भी नाम आता है। नाथपथ के सन्तो मे भी चौरगीनाथ का नाम लिया जाता है। इनके 'प्राणसकली'[४] नामक ग्रथ मे हिन्दी गद्य के प्राचीनतम नमूने मिलते है जिनमे भोजपुरी और राजस्थानी के भी बहुतेरे रूप मिश्रित हैं।

सिद्ध कवियो से गोरखनाथ का जो अविच्छिन्न सम्बन्ध था, उसने पजाब तथा पश्चिमी राजस्थान से लेकर पूर्वी बगाल तक उनके प्रभाव के प्रसार मे जोडने वाली जजीर की कडी का काम किया। सिद्ध कवियो के पदो और छन्दो का प्रभाव विद्यापति तथा हिन्दी के सूर, तुलसी, कबीर आदि भक्त और सन्त कवियो तथा बगाल और आसाम के ब्रजबुलि साहित्य पर भी पडा। उनके पद, दोहे और चौपाइयो मे वही परम्परा जीवित रही। उनकी वाणी मे अन्धविश्वासो, सकीर्णताओ और जातीय कट्टरताओ के प्रति वही विरोध की भावना जाग्रत रही। हिन्दी भाषा और साहित्य के उद्गम की इन झाँकियो का यथार्थ मूल्याकन तो तभी हो सकेगा जब उपर्युक्त समस्त साहित्य का प्रकाशन हिन्दी मे हो सके।

इसके उपरान्त हम ज्योतिरीश्वर (१३२५ ई०) और विद्यापति (१३६० से १४९८ ई०) के युग मे पहुँचते है जिनकी रचनाएँ जितनी मैथिली से संबद्ध है, उतनी ही हिन्दी से भी।[५] इस बात की विशेष व्याख्या का अवसर तो यहाँ नही है, फिर भी प्रसगवश यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि जिस अवहट्ट मे ज्योतिरीश्वर ने अपना 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति ने अपनी 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' लिखी थी, वह अपभ्रश का ही परवर्ती विकास था, जिसमे एक ओर तो पुरानी मैथिली के तत्व थे, जैसे 'ल' वाले भूतकालिक रूप जो मगही, भोजपुरी आदि अन्य मागधी बोलियो मे भी समान रूप से पाये जाते है और दूसरी ओर पश्चिमी शौरसेनी रूपो के भी तत्व है। आधार रूप मे यह भी वही अवहट्ट है, जिसका प्रयोग अब्दुर्रहमान के 'सन्देशरासक' (१३वी शताब्दी ईस्वी) तथा 'प्राकृत-पैंगलम्' के उदाहरणो मे मिलता है, जिनका रचना-काल ११वी से १४वी शताब्दी है। इसमे एक ओर जहाँ सम्बन्ध के चिह्न क और के पाये जाते है, जो मागधी बोलियो की विशेषता है तो दूसरी ओर को, का, कर, करी और करे—सम्बन्ध के इन परसर्गों के भी बहुतेरे उदाहरण मिलते है, जो निश्चय ही ब्रजभाषा और अवधी मे पाये जाने वाले हिन्दी के रूप है।

---

४. दे० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ-सम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५०, पृ० १३७-३८। ५. विद्यापति ने अपनी पदावली विशुद्ध मैथिली में नहीं, बँगला में नहीं, वरन् हिन्दी-मिश्रित एक व्यापक भाषा में लिखी थी, जिसमें इन सबके तत्व विद्यमान थे। इस सम्बन्ध में दे० डा० सुकुमार सेन : ब्रजबोली की कहानी, भारतीय साहित्य, जनवरी, १९५६ ई०, पृ० ७१-८४।

सामान्य वर्तमान के **कहइ, होइ, पालै, राखै** आदि और ह मे अन्त होने वाले **करहि, बुज्झिह, धरिज्जिह** आदि रूप पश्चिमी शौरसेनी मे समान रूप से व्यवहृत है। 'कीर्तिलता' मे हिन्दी सर्वनामो के कई प्राचीन रूपो के भी स्वच्छन्द प्रयोग मिलते है, जैसे, **जो, जैन, जसु, तसु, तासु, तुझ, केहु, काहु** आदि। विद्यापति के अवहट्ट मे "वीर छत्र देखन को कारन सुरगन सोये, गगन तरू" इस प्रकार के अनेक वाक्य मिलते है, जिनमे मैथिली के साथ हिन्दी के कई स्पष्ट रूपो के मिश्रण के दृष्टान्त मिलते है। ज्योतिरीश्वर के गद्यग्रथ 'वर्णरत्नाकर' मे भी मैथिली रूपो के साथ कई ऐसे प्रयोग है, जो समान रूप से हिन्दी मे पाये जाते हैं। वास्तव मे जिस अवहट्ट भाषा मे इन लेखको ने लिखा है वह एक अखिल भारतीय भाषा थी, जो अपने आधारभूत स्थानीय रूपो के साथ अपनी अभिन्नता की रक्षा करती हुई भी व्यापकता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थानो मे व्यवहृत बोलियो के रूपो को भी ग्रहण करती गयी थी। इस अर्थ मे वह किसी प्रदेश-विशेष की भाषा नही, वरन् विविध प्रादेशिक बोलियो के-जैसे, राजस्थानी, गुजराती, नेपाली हिन्दी, मैथिली तथा हिन्दी-क्षेत्र की अन्यान्य बोलियो के विकास की प्रारभिक अवस्था का समान स्रोत थी। पूर्वी प्रदेश की ओर बगाल, आसाम[६] और उडीसा[७] मे भी अपने व्यवहार-क्षेत्र का विस्तार करती हुई इसने 'ब्रजबुलि' या 'ब्रजबोली' सज्ञा ग्रहण कर ली, जो पश्चिमी हिन्दी की ओर निश्चित रूप से झुकी हुई थी।[८] अवहट्ट और ब्रजबोली के सारूप्य-सम्बन्ध को 'कीर्तिलता' मे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वस्तुत ब्रजबोली अवहट्ट का ही विकसित रूप थी।

'कीर्तिलता' के पहले भी ब्रजबुलि के व्यवहार का उदाहरण बिहार के प्रसिद्ध कवि उमापति (१४वी शताब्दी ई०) के गीति-नाटक 'पारिजात-मगल' मे मिलता है जिसके गीत हिन्दी और मैथिली-मिश्रित ब्रजबुलि मे ही रचे गये थे।

वस्तुत गद्य और पद्य दोनो मे इन ग्रथो की तत्सम शब्दो से भरी हुई अलकृत शैली एक

---

६. शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव (१४वी शताब्दी ई०) ने असमी-मिश्रित ब्रजबुलि में काव्य-रचना की। शंकरदेव की ब्रजबुलि के नमूने के रूप में ये पंक्तियाँ उद्धृत हैं—
"पद पंकज मंजिरे सुरे हरय चित्त हामार। शंकर कर छाड़ विरह केहि जग आधार॥"

७. उड़ीसा में हमे रामानन्द राय (१५वीं शताब्दी ई०) के ग्रंथ मिलते है जिनमें ब्रज-बुलि का व्यवहार किया गया है।

८. ब्रजबुलि को दिनेशचन्द्र सेन ने बँगला का रूप नही, वरन् 'बंगाली का सम्यक्कृत हिन्दी-रूप' (thoroughly Hindi-ized form of Bengali) कहा है। दे० उनका—बगाली लेंग्वेज ऐड लिटरेचर, कलकत्ता, १९५४ ई०, पृ० ५३ तथा ५०८—५०९। यही नहीं, उन्होने बँगला के बहुतेरे वैष्णव कवियों की भाषा पर हिन्दी का स्पष्ट प्रभाव बताया है और 'काहाँ', 'ताहाँ', 'कवलूँ', 'हइलूँ' जैसे रूपो तथा बँगला में बहुवचन के लिए प्रयुक्त कारक-चिह्न 'दिग' को इसके उदाहरण में प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त ब्रजबुलि में खड़ीबोली, ब्रजभाषा, मैथिली और बँगला के मिश्रण के संबंध में दे० सुकुमार सेन, ए हिस्ट्री ऑफ बंगाली लिटरेचर, कलकत्ता, १९५३ ई०, पृ० १ तथा भारतीय साहित्य, जनवरी, १९५६, पृ० ७७।

ऐसी सुविकसित परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा का परिचायक है जो पूर्व मे आसाम और पश्चिम मे गुजरात के बीच के समस्त प्रदेश मे समान रूप से व्यवहृत थी और जो इस विस्तीर्ण प्रदेश की साहित्यिक तथा सास्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति की साधन थी। दामोदर शर्मा के 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' (१२वी शताब्दी ई०) मे भी जो भोजपुरी मे लिखा हुआ है, यही तत्सम-प्रवृत्ति दिखाई पडती है। पश्चिमी शौरसेनी क्षेत्र मे 'कुवलयमालाकथा' (९वी शताब्दी ई०) और तरुणप्रभसूरि की 'भद्रकथा' (१४वी शताब्दी ई०) का प्रमाण मिलता है, जिनमे देशी और तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दो का अधिकाधिक प्रयोग हुआ है।

यह ध्यान देने की बात है कि विद्यापति की पदावली को हिन्दी के सभी विद्वानो ने हिन्दी के प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रथो मे परिगणित किया। इसकी पुष्टि मे यह कहा गया है कि क्रिया-पद आदि के कुछ व्याकरणिक रूपो मे अन्तर रहते हुए भी मैथिली की शब्दावली की हिन्दी से वैसी ही समानता है जैसी ब्रजभाषा, कनौजी और अवधी से और इस प्रकार विद्यापति की पदावली' पर हिन्दी साहित्य का वैसा ही दावा है जैसा 'बीसल देवरासो' पर।[१] परन्तु यह विचारणीय है कि विद्यापति के अतिरिक्त मैथिली के अन्य प्रसिद्ध साहित्यकारों की ओर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने अब तक कुछ भी ध्यान नही दिया। उनमे हिन्दी के विकास के जो रूप हमे मिलते है, जो झाँकियॉ दिखाई पडती है, वे कदापि नगण्य नही हैं और उनकी ओर हिन्दी के विद्वानो का ध्यान अविलब जाना चाहिए।

इन अवहट्ट ग्रथो मे भाषा के विकास के एक और महत्वपूर्ण पक्ष की ओर भी मै ध्यान आर्कषित करना चाहता हूँ। इस काल की भापा पर मुस्लिम सस्कृति का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से पडने लगा था, जैसा कि इनके वर्णनो मे अरबी और फारसी के बहुतेरे शब्दो के व्यवहार से प्रकट होता है। 'वर्णरत्नाकर' और 'कीर्तिलता' दोनो मे **तीर, तुलुक** (तुर्क), **प्याजु, ओहदा, अदब** (अदब), **दर, सदर, देमान** (दिवान) जैसे बहुतेरे रोजमर्रे के आगत शब्द पाये जाते है।

पूर्वी प्रदेशो मे भाषा-सम्मिश्रण की प्रक्रिया द्वारा एक सामान्य मिश्रित भाषा—खडी बोली हिन्दी के विकास की दिशा मे सूफी मत के प्रचारको की देन का महत्व उल्लेखनीय है। उनके शागिर्दों द्वारा उल्लिखित उनकी उक्तियों तथा रचनाओं मे हमे भाषा-समीकरण के सच्चे नमूने और प्रामाणिक उदाहरण मिलते है। साधारण बोलचाल मे प्रचलित हिन्दी के ऐसे सामान्य शब्द ही नही जैसे, **भात, खिचड़ी, खाट, चारपाई, डोला, खिड़की, लँगोटी** आदि और ऐसे बहुतेरे देशी व्यक्तिवाचक नाम ही नही, जैसे **छज्जू गवाई, बीबी पुजारी, भीखन प्यारा** (पिआरा) **जोहन, मौलाना नाथन** आदि, वरन् उनके द्वारा स्वेच्छोच्चरित हिन्दी के पूरे-पूरे वाक्य और स्वरचित या उद्धृत दोहरे भी मिलते है।

परन्तु इसे मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी (११९८ ई०) आदि मुस्लिम आक्रमण-कारियो की विजय का प्रभाव या परिणाम मान बैठना उचित नही होगा। सच बात तो यह है कि अपने आक्रमण के सौ वर्षों के भीतर ही इन मुसलमानो ने वास्तविक देशानुराग और भार-

---

१. रामचन्द्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास, वि० स० २०१२, पृ० ५७।

तीय भावना को अपनाकर अपने को पूर्णत भारतीय रग मे रँग डाला था। उनके बीच अमीर-खुसरू (१२५५ ई०) जैसे हिन्दी कवि का आविर्भाव इस बात का ज्वलन्त उदाहरण हे। यदि उसके नाम से प्रचलित रचना का अल्पाश भी सत्य हो तो वह यह मिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उसकी अन्तर्निहित प्रवृत्ति शत-प्रतिशत भारतीय थी।

यह वह समय था जबकि पश्चिम की ओर से कई सूफी फकीर पूर्व की ओर आ चुके थे और वहाँ की जनमडली मे उन्होने अपने मत का प्रचार किया। जनता के लिए अपनी बातो को सुबोध बनाने के लिए और उनके हृदय मे प्रवेश पाने के लिए उन्हें भाषा के एक ऐसे रूप का प्रयोग करना पडा जो अधिक से अधिक लोगो के द्वारा आसानी से समझा जा सकता हो। पश्चिमी हिन्दी से वे पहले से ही थोडा-बहुत परिचित थे, क्योकि देश के पश्चिमी भाग की जनता के ससर्ग और मपर्क मे वे पहले ही आ चुके । जब वे पूर्वी प्रदेशो मे आए तो लिखित और उच्चरित दोनो ही रूपो मे हिन्दी का व्यवहार करते समय वे उसमे स्थानीय प्रयोगो का मिश्रण करने लगे। इस तरह शब्दावली मे दो प्रकार के मिश्रण उनके द्वारा सहज भाव से होने लगे—एक तो उनकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध तुर्की, अरबी और फारसी शब्दो के, जो सर्वथा स्वाभाविक बात थी और दूसरे अवधी, भोजपुरी तथा अन्य पूर्वी भाषाओ और बोलियो के प्रयोगो के। हिन्दी के विकास मे भाषायी मिश्रण और सम्बद्धता की इस प्रवृत्ति और प्रक्रिया का बडा सुन्दर निदर्शन[10] हमे इन सूफी सन्तो के फारसी मे लिखे हुए पत्रो (मलफूज़ात) तथा उपदेशात्मक वाणियो (मकतूबात) मे मिलते हैं, जिनमे पद्य और गद्य दोनो ही रूपो मे हिन्दी की उदाहरणीय सूक्तियाँ उद्धृत की गयी है।[11] यह ध्यान देने की बात है कि स्वत इन सूक्तियो मे विदेशी उद्‌गम के शब्दो का व्यवहार जान-बूझ कर नही किया गया है। इन सूफी सन्तो मे से बहुतेरे अभी अज्ञात ही है और उनकी लिखित सामग्री बहुत कुछ अधकार मे ही पडी हुई है। इसलिए उनके द्वारा प्रयुक्त हिन्दी के कुछ महत्वपूर्ण उदाहरणो का थोडा सकेत यहाँ रुचिकर और उपयुक्त होगा।

बिहार के १४वी शताब्दी के सूफी सन्त हज़रत शर्फुद्दीन अहमद मनेरी के सब से पुराने मलफूजात 'मआदन्-उल-मआनी' मे किसी मजमे के बयान के सिलसिले मे एक रोचक घटना का वर्णन है। मौलाना जलालुद्दीन मुल्तानी ने बताया कि किसी हिन्दू कवि ने विवेच्य विषय को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किया है। पूछे जाने पर उन्होने किसी दोहे का यह अश उद्धृत किया—

---

१०. कबीर (१३९८-१५१७ ई०) ने इस भाषा-मिश्रण की प्रक्रिया को पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ अपनी रचनाओ में चरितार्थ किया है और एक उदार दायरे के भीतर पंजाबी, राजस्थानी, खड़ीबोली, अवधी, पूर्वी (भोजपुरी आदि) सभी के प्रयोगों को समाबद्ध कर लिया है। इसे केवल सधुक्कड़ी कह कर टाल देना (रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ९७) हिन्दी के विकास और प्रसार के विषय में एक बहुत बडे तथ्य से मुँह मोड लेना है।

११. पटने के मेरे मित्र प्रो० हसन हसकरी साहब ने ऐसे अनेक महत्वपूर्ण मलफ़ूज़ो और मकतूबो की खोज की है और उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया है। इस प्रसग में प्रधानतः उसी सामग्री का सकेत किया गया है।

'बाट भली पर साँकरी'[12] अर्थात् राह वही अच्छी होती है जो सँकरी हो। इस पर सन्त ने दूसरे अश के लिए ठहरे बिना उत्तर दिया, 'देस भला पर दूर' अर्थात् देश वही अच्छा होता है जो दूर का हो।

इससे उस जमाने मे पश्चिम मे मुलतान से लेकर पूर्व मे बिहार तक हिन्दी के विस्तीर्ण प्रसार और लोकप्रियता का पता चलता है।

हज़रत शर्फुद्दीन अहमद मनेरी के शागिर्द हजरत मौलाना मुजफ्फर शम्स बल्खी (बिहार के मखदूम, १४वी शताब्दी ई०) ने पत्रो के अपने सग्रह मे (मौलाना कर्मुद्दीन के नाम से लिखे हुए १२१ वे पत्र मे) एक कमाच या एकतारा बजानेवाले का वर्णन किया है, जो हजरत शर्फुद्दीन अहमद के पास आया और उसने अपना मामूली-सा बाजा बजाते हुए निम्नलिखित दोहरा[13] गा सुनाया—

एकत कन्दी बेधना भूतर भरके काइँ।
चिताहीन इच्छा मरन तितही न्हाइँ॥

जान पडता है, इसके भी कुछ शब्द छूट गये है या बदल गये है। शब्दो से ऐसा अर्थ प्रकट होता है कि एक छोटे-से कडे ने समस्त ससार के शरीर को बेध दिया है और एक स्वेच्छा-नुकूल चिताहीन मृत्यु की स्थिति मे पहुँचा दिया है जहाँ पहुँच कर लोग उसीमे स्नान करते या निमग्न हो जाते है। इसमे उस समाधि की अवस्था का सकेत है जिसमे साधक इच्छानुसार मृत्यु का आलिगन करता है अर्थात् अपनी हस्ती मिटा डालता है और बिना चिता के ही अपनी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न कर डालता है।

इस उक्ति की रहस्यात्मक भावना ने उस सन्त के मर्म को इस प्रकार स्पर्श कर लिया कि वह बिलकुल द्रवीभूत हो गया और आँसू बहाने लगा।

इससे पता चलता है कि हिन्दी के दोहे कितनी आसानी से मुस्लिम फकीरो द्वारा समझ लिये जाते थे और वे कितनी भावुकता से उनका अर्थ-ग्रहण और रसास्वादन करते थे।

हज़रत मुजफ्फर शम्स बल्खी के नाम से कई किताबे और उक्तियाँ प्रचलित है, जिनमे उनके हिन्दी 'चुटकुले', 'नुस्खे', 'फलनाम' (फलादेश) और 'तबीर ख्वाब' (स्वप्न-विचार) उल्लेखनीय है। परन्तु इनकी हस्तलिपि दो सौ वर्षो से पुरानी नही है। उनका निम्नलिखित दोहरा शाह मनौअर द्वारा उद्धृत किया गया है, जो शाहदौलत मनेरी के पुत्र थे। ये अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे। इनका सुन्दर मकबरा मनेरशरीफ मे अब भी विद्यमान है।

---

१२. ये उद्धरण कबीर के निर्देशों का स्मरण दिलाते हैं जिसके अनुसार 'प्रेम-गली अति साँकरी' होती है, क्योंकि 'ता में दो न समाहिं' तथा दूर का एक ऐसा देश है, जिसमें रैन नहीं होती और जो 'बिराना' नही अपना देश है। १३. दोहरा या दोहा उस समय का सबसे अधिक प्रचलित और लोक-प्रिय छन्द था, जिसने जान पड़ता है, इन सूफी सन्तों का मन मोह लिया था।

काला हसा निरमला बसै समुन्दर तीर।
पख पसारै बिख हरै निरमल करै सरीर।।
दर्द रहै ना पीर।।

अर्थात् वह काले रग का निर्मल हस समुद्र के तीर पर रहता है। वह अपने पख फैलाता है, विष हर लेता है और शरीर को निर्विकार कर देता है, जिससे न दर्द रह जाता है न पीडा।

बोलचाल मे व्यवहृत रोज़मर्रे की हिन्दी का एक नमूना हजरत काजी सुत्तर (१३८५ ई०) की किताब 'माअदन्-उल-असरार' मे मिलता है। इनकी कब्र मुजफ्फरपुर जिले के बनिया-बसाढ मे मौजूद है। उन्होने हिन्दी का निम्नलिखित वाक्य १४वी शताब्दी के ऊछ-निवासी फकीर मखदूम जलालुद्दीन बुखारी द्वारा उच्चरित बताया हे। फीरोज शाह तुगलक इन्हे अपना गुरु मानता था। वह वाक्य है—खदा है फदा कहाँ ?

स्वय हज़रत शर्फुद्दीन अहमद मनेरी का भी एक सुन्दर अर्थपूर्ण वाक्य उनके एक समसामयिक शागिर्द के लिखे हुए 'मुक्तबाते सादी' की हस्तलिखित प्रति के हाशिये पर अकित है, जो फतुहा खानकाह के पुस्तकालय मे सुरक्षित है।

हज़रत ख्वाजा अजीज़ुल्ला के मलफूज़ 'राहत-उल्-अरवाह' मे, जिसकी हस्तलिखित प्रति १६७३ ई० की है, पाक पट्टन के बाबा फरीद शकरगज (१५वी शताब्दी ई०) की पक्तियाँ दी हुई है,[१४] जिनको हज़रत शर्फुद्दीन अहमद मनेरी (१२६२-१३८० ई०) ने उद्धृत किया था—

कलहा लबडी बावली बन्दी करे न लज्ज।
जोहा खोय न पाइए निरगुन सबही छज्ज।

अर्थात् झगडालू, मिथ्यावादी, पागल तथा बन्धन मे पड़े हुए निर्लज्ज होते है। उस सर्वव्यापी निर्गुण तत्त्व को वे खोजकर भी खो देते है और प्राप्त नही कर पाते।

दोहरा—सात. सुख देखकर लोग कहे दरवेस।
अन्दर तेरी भावले (?) बाहर कोरा भेस।।

लिपिकार के प्रमाद के कारण इस दोहे की प्रथम और दूसरी पक्ति के पूर्वार्ध के कुछ अशो के छूट जाने या विकृत हो जाने के कारण इसका अर्थ केवल प्रसग के सहारे समझा जा सकता है। प्राय लोग साधु-सन्तो की कोरी बाहरी वेश-भूषा को देख कर भ्रम मे पड जाते है और यह नही समझ पाते कि उनके अन्दर तो केवल पागलपन का विकार ही विकार है।

बाबा फरीद का 'हिन्दी ज़िक्र' उस समय का बहुत ही लोकप्रिय ग्रथ था, जिसका प्रचार और प्रभाव १७वी सदी तक कायम था। इसका एक बडा से बडा, प्राचीन से प्राचीन

---

१४. शेख फ़रीद की कुछ रचनाएँ 'आदि ग्रंथ' में भी सगृहीत है।

उल्लेख शेख मुहम्मद गौस ग्वाहरी (१६वी शताब्दी ई०) के 'जवाहिरे ख़म्सा' मे मिलता है। ये बिहार के हजरत हाजी हमीद हुजूर (१५वी शताब्दी) के शागिर्द थे, जिनकी कब्र सारन जिले के गोपालगज महकमे के रतनसराय नामक गाँव मे मौजूद है। १७वी सदी के और हस्त-लेखो मे भी इसका ज़िक्र आया है, जैसे जमदाहा के सन्त के 'कौवाली लीला' मे जिससे मालूम होता है कि बाबा फरीद के 'हिन्दी जिक्र' का उपयोग उस समय शिक्षा के लिए पाठ्य-ग्रथ के रूप मे दूर-दूर तक किया जाता था।

अम्बेर (बिहार) के मशहूर सूफी सन्त हज़रत अहमद चर्मपोश (चमडे का कपडा पहनने वाले १४वी शताब्दी ई०) ने, जो हजरत शर्फुद्दीन अहमद के चेचेरे भाई थे, कई उच्च कोटि की रचनाएँ की थी, जिनमे उनके रहस्यात्मक अनुभव, उदार सहानुभूति, धार्मिक सहिष्णुता विश्व-बन्धुत्व तथा उन्नत विचार की अभिव्यक्ति हुई है। उनके एक शिष्य शेख़ अल्लाउद्दीन अली-बिन-इब्राहीम द्वारा सगृहीत 'जिया-उल्-कुलुब' नामक ग्रथ मे उनका एक दोहरा दिया हुआ है जो इस प्रकार है—

मीता मान न मूनिया सिरमनि काहाँ होय।
एँही बिधा विदमान मै नर ना कीनी कोय।।

हस्तलिखित प्रति मे इस दोहे का जो पाठ उपलब्ध है, उससे इसका अर्थ स्पष्ट नही होता और इसके लिए उसके प्रसग की अपेक्षा प्रतीत होती है। यहाँ एक बनावटी साधु या फकीर जो अपने त्याग का प्रदर्शन किया करता है और एक सच्चे सन्त जो बिना किसी अहकार या दिखावे के सदाचार और विनय के नियमो का अनुसरण करता है, इन दोनो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "मैं इतना अधिक विद्वान् और बुद्धिमान हूँ कि मेरी बराबरी करने वाला कोई पैदा ही नही हुआ। हे मित्र ! जो ऐसा सोचता है उसे, मुनि या फकीर न मानो। भला कही ऐसा अहकारी मिथ्याचारी व्यक्ति सन्तो मे शिरोमणि हो सकता है ?"

आगे बताया गया है कि इस सबंध मे जो सत्य है वह इस देश के बुद्धिमान लोगो को, जो हिन्दू धर्म के मर्मज्ञ है, अच्छी तरह मालूम है। इन पक्तियो मे जो सौन्दर्य और अमूल्य विवेक है, उससे प्रभावित होकर सन्त ने कहा कि अरबी भाषा मे इस तरह की कोई उक्ति नही पायी जाती।

इस दोहे मे 'काहाँ' शब्द निश्चित रूप से पूर्वी या बिहारी प्रयोग है, जो इसी रूप मे शब्द के तकाज़े की भी पूर्ति करता है, अपने पश्चिमी 'कहाँ' रूप मे नही।

सग्रहकर्ता ने 'ज़िया-उल्-कुलुब' के एक अवतरण की टिप्पणी करते हुए, जिसमे अपने मूल उद्गम स्थान स्वर्ग के परम पद पर पहुँचकर ईश्वर मे विलीन हो जाने के लिए आत्मा की तडप का वर्णन है, अपने विषय को स्पष्ट करने के लिए एक बडा सुन्दर उदाहरण दिया है। उन्होने बच्चे के व्यवहार का दृष्टान्त दिया है, जो संसार में जन्म लेते ही 'वहाँ-वहाँ' कह कर रोने और चिल्लाने लगता है और इस प्रकार अपने जिस दिव्य स्रोत से उसका आविर्भाव हुआ है, उसके प्रति अपना आकुल अनुराग और आकर्षण व्यक्त करता है। ऐसे प्रसंगो मे इस प्रकार के हिन्दी के

शब्दो का प्रयोग न केवल इन मुस्लिम सन्तो के हिन्दी-ज्ञान का, वरन् भाषा के प्रति उनकी सच्ची रचनात्मक अभिरुचि और सहज सौन्दर्यानुभूति के साधन के रूप मे उनकी अभिव्यजना शक्ति का भी सूचक है, यहाँ तक कि वे अपने मार्मिक उद्‌गारो, साहित्यिक अलकरणो और विषय की विवृतियो के लिए हिन्दी का स्वच्छन्द व्यवहार करने लगे थे।

कुछ दूसरे मकतूबो से गहरी रहस्यानुभूतियो से व्याप्त निम्नलिखित हिन्दी दोहरो के उद्धरण का लोभ सवरण करना यहाँ कठिन प्रतीत होता है—

बाट भली पर साँकरी नगर भला पर दूर।
नाँह भला पर पातरा नारी कर हर चूर॥

इसका अर्थ यह है कि मार्ग सकीर्ण ही अच्छा है, जिससे गुज़रने के लिए दुई को बिलकुल मिटाकर प्रिय से एक हो जाना पडता है। देश दूर का ही अच्छा होता है जहाँ जाकर लौटना नही है, उसीमे विलीन हो जाना है। बन्धन की रस्सी वही अच्छी है, जो पतली और सूक्ष्म हो। स्त्री के हाथो की चूडी वही अच्छी है, जो पतली हो और एक दूसरी से टकराकर आवाज़ न करे। कुछ अन्य दोहरे इस प्रकार है।

सागर कोइ पताल पानी लाखन बूद लखाय।
बजर पडे यह मथुरा नगरी कान्हा प्यासा जाय॥[१५]
कहा पवन एँ (याँ) घर ठठर (ठहर) कहा पवन निस्तार।
बीच पँलदिया घर चुए बूद पडै भभार॥
जालै तौ झलकै जलौ बिकट कटार।
जहिं सरोत सो तस भँखै तही भयौ भिनसार॥
जेठ असाढ न आइयाँ पातॉ भरहर बाहँ।
तेइ भीरी बिसार घन तिहकइ जल थल नाँह॥
आइ कौन तन पखेरुआ जगल करहि उदास।
ककर चुनि जल बीन्ह धनि तेही छूव न बास॥

दोहो की इन पक्तियो मे पाठ-शोध की अपेक्षा है। प्रो० हसन अस्करी को जो हस्त-लिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई है, उनके फारसी अक्षरो मे लिखे हुए पाठो का रूप स्थिर करने के लिए हम लोगो ने बहुत प्रयास किया, पर अब तक इससे अधिक कुछ सफलता प्राप्त नही हो सकी। बस इतना झलकता है कि इनमे जीव के ससार मे आगमन और प्रयाण की चर्चा की गयी है। न जाने कहाँ से यह प्राणवायु यहाँ इस घर मे प्रवेश करके ठहरती है और कहाँ चली जाती है। छप्पर (पलाणी) के बीचोबीच यह घर चूता रह जाता है और छेदो से होकर बडी-बडी बूँदे टपकती

---

१५. ऊपर 'मआदन्-उल्-मआनी' के वर्णन में इसी दोहरे का संकेत है। इसकी तुलना रहीम (१५५२-१६२५ ई०) के इस निम्नलिखित दोहे से कीजिए, जो इससे प्रभावित जान पड़ता है: धनि रहीम जल पक को लघु जिय पियत अघाय। उदधि बडाई कौन जो जगत पियासो जाय॥

रह जाती है। जीवन के अभावो की कभी पूर्ति नही हो पाती और उसकी शून्यता और पीडा ज्यो की त्यो बनी रह जाती है।

यदि वह ज्योति जीवन मे प्रज्वलित होती है तो उसकी झलक से जल जाता हूँ और यदि वह तीक्ष्ण रूप मे प्रकट होती है तो जैसे विकट दुधारी कटार चल जाती है और कट जाता हूँ। जिस स्रोत से उद्गम हुआ है, उसीका उपयोग करते हुए सासारिक जीवन की यह रात कट जाती है और फिर सबेरा हो जाता है।

जेठ-आषाढ मे बाहो मे भरभराकर पत्ते नही आते। उसके सामने यह भी भूल जाओ कि बादल होगे तो हरे भरे पत्ते होगे। उसे तो न जल से सबध है न थल से। गरमी हो या बरसात हो, चाहे कोई भी अवस्था हो वह तो सदा एकरस, एकरूप और निर्विकार रहता है।

न जाने इस शरीर मे यह कहाँ का पखेरू आ गया जो इस जगल को आखिर उदास करके चला जाता है। ककड चुन-चुन कर जल और धन के साधन बिन-बिनकर वह घोसला बनाता है, पर बस नही पाता। उसका बनाया हुआ निवास उसे छू भी नही पाता। ये सारे सासारिक प्रयास अन्ततोगत्वा निष्फल हो जाते है।

इन उद्धरणो मे भाषा-मिश्रण के बडे सुन्दर उदाहरण मिलते है। यहाँ एक ही साथ हमे अवधी (चुए, पडै, करहिं आदि), ब्रजभाषा (जलौ, भयो आदि), खडी बोली (आई), पजाबी (आइयाँ), भोजपुरी (तेइ, भीरी, तिहकइ, भिनसार) के स्वच्छन्द प्रयोग मिलते है।

दरभगे के भीखा शाह सैलानी (१५वी शताब्दी ई०) ने एक वाक्य का व्यवहार किया है, जिसमें 'पूर्वीभाषा' का स्पष्ट उल्लेख है। कबीर ने भी अपनी भाषा को पूर्व की बोली ही कहा है—

बोली हमरी पूर्व की, हमैं लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, जो धुर पूरब का होय।।

—बीजक, साखी १९४।[१६]

यहाँ पूर्व शब्द श्लिष्ट है और उसके दो अर्थ है—एक तो पूर्व दिशा के पक्ष मे और दूसरा पुरातन के पक्ष मे। पूर्व मे साधारण बोलचाल के रूप मे हिन्दी के व्यवहार का एक प्रमाण हमे १५वी सदी ई० के गया जिले के औरगाबाद इलाके के अमझर के फकीर सैयद मुहम्मद के उदाहरण मे मिलता है, जो उस स्थान के निवासियो से हिन्दी मे ही बातचीत करते थे। उनके समसामयिक जीवनी-लेखक ने अपनी किताब 'मनकीहे मोहमदी' मे उनके द्वारा उच्चरित एक वाक्य को उद्धृत किया है, जिसे उन्होंने ग्वालो के एक मुखिया के प्रति कहा था। वह उनके मत मे दीक्षित होकर उनका चेला बन गया था। उसने उनसे पूछा कि अब जबकि मुसीबत के दिन बीत गये और बिहार के सूबेदार दरया खाँ नूहानी के हुक्म से उनके लिए कई इमारते और खनकाह बन गये तब वे अपने अनुयायियो को उस जगह को छोडकर जगल मे जाने को क्यो कह रहे है।

---

१६. मूल बीजक, बंबई, १९५१ ई०।

वह एक साधारण-सा वाक्य है—"न माना जइयो, इहाँ न रहना ।" इसमे 'माना', 'रहना' तथा 'जइयो' पच्छिमी हिन्दी या खडी बोली के प्रयोग है और 'इहाँ' पूर्वी का। जनसाधारण की बोलियो मे यह हिन्दी का तथा हिन्दी मे स्थानीय बोलियो का प्रतिबिम्ब इस बात का परिचायक है कि मुस्लिम फकीरो तथा अन्यान्य सामाजिक सम्पर्कों के द्वारा जन-समाज मे किस प्रकार अलक्ष्य रूप से भाषायी सम्मिश्रण का व्यापार क्रियान्वित था। इन मुस्लिम फकीरों के प्रभाव से हिन्दी का प्रसार द्रुतगति से बढता जा रहा था।

इसी प्रकार 'दक्खिनी' के रूप मे हिन्दी के विकास मे भी हमे पारस्परिक सम्पर्क और मिश्रण की सक्रिय परम्परा का पता चलता है। मलिक काफूर के समय से ही बहुतेरे गूजर उधर जा चुके थे और १३वी सदी से तो अपनी विजय के उपरान्त मुस्लिम सुल्तानो ने उधर जाकर अपना राजकाज ही चलाना शुरू कर दिया। उनके साथ केवल मुसलमान ही नही, अनेक हिन्दू कर्मचारी, व्यापारी, योद्धा, मुसद्दी आदि भी वहाँ गये। दक्षिणी-भाषा-भाषी जनवर्ग से उनके बढते हुए ससर्गो के प्रभाव 'दक्खिनी' के विकास और इतिहास मे स्पष्टत. देखे जा सकते है।

शताब्दियो पहले से हिन्दी मे क्षेत्रीय भाषाओ और बोलियो के साथ सम्मिश्रण तथा पारस्परिक अन्तर्भाव की जो प्रक्रिया सहज, स्वाभाविक रूप से काम करती आ रही है और जिसकी एक झॉकी ऊपर प्रस्तुत की गयी है, वह उसके विकास और प्रसार का एक प्रबल, प्रभावशाली साधन रही है। उसके यथावत् अध्ययन और अनुशीलन के बिना हिन्दी का इतिहास सागोपाग और ठीक-ठीक नही लिखा जा सकता।



लुइस रनू

संस्कृत शब्दावली में प्रधान और अप्रधान अर्थ

वैयाकरणो के अनुसरण पर काव्यशास्त्री वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ की चर्चा करते है। मुख्य अर्थ बाधित होने पर उस से सबध रखनेवाला लक्ष्यार्थ ही मान्य है। मुख्यार्थ निरन्तर (वाह्य) है और लक्ष्यार्थ सान्तर (आभ्यन्तर) है, सान्तर के दो अर्थ हो सकते है, एक तो अप्रत्यक्ष (मुख्य अर्थ प्रत्यक्ष है) और दूसरा गभीर अथवा गूढ (मुख्यार्थ अपेक्षाकृत ऊपरी है)। मुख्यार्थ का बोध सकेत द्वारा होता है, किंतु लक्ष्यार्थ का बोध रूढि (परम्परा) के आधार पर कराया जाता है। लक्ष्यार्थ तथा रूढि का सबध समझने के लिए बहुत-सी बातो का ध्यान रखना चाहिए।

सस्कृत काव्य मे अप्रधान (अप्रत्यक्ष) अर्थो का प्रयोग अत्यन्त व्यापक ही रहा है, प्राय समस्त अलकार अप्रत्यक्ष अर्थों पर आधारित है। यह सच है कि प्रत्येक साहित्य की अलकृत भाषा मे इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं किन्तु सस्कृत मे जो श्लेष तथा गूढ (रहस्यमय) अर्थ की व्यापकता मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

श्लेष के विधान द्वारा एक शब्द के दो अर्थ व्यक्त किये जाते है। ये दोनो अर्थ वाक्य के दूसरे शब्दो के साथ सगति रखते है और इसी कारण से दूसरे शब्दो के भी बहुधा दो अर्थ होते है। श्लिष्ट शब्द का एक अर्थ स्पष्टतया प्रत्यक्ष है और दूसरा अर्थ अप्रत्यक्ष, यद्यपि इस अप्रत्यक्ष अर्थ का सदर्भ के कारण अधिक महत्व हो सकता है। कवियो ने सस्कृत शब्दो की असाधारण अनेकार्थकता से पूरा लाभ उठाया है। यह अनेकार्थकता (बह्वर्थकता) एक प्रकार से सस्कृत की जन्म-सिद्ध विशेषता ही है, किंतु इसका इतना विकास इसीलिए हो सका है कि प्राचीन भारत के धार्मिक, पौराणिक तथा दार्शनिक चिन्तन मे द्व्यर्थक अथवा बह्वर्थक अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति विद्यमान थी। यहाँ पर इस बात पर बल देना उचित ही होगा कि पश्चिम मे अलकृत साहित्य भले ही एक प्रकार से सयोगवश उत्पन्न हुआ हो किंतु सस्कृत अलकृत साहित्य प्राचीन भारतीय प्रवृत्तियो की परिणति ही है। गद्य हो अथवा पद्य, ललित साहित्य हो अथवा धार्मिक (नीति-विषयक), सर्वत्र प्रारभ ही से इस प्रवृत्ति के लक्षण विद्यमान है।

सस्कृत काव्य की (कम से कम परिष्कृत रचनाओ की) एक दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्यक्ष अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य रहस्यमय, गूढ अर्थ भी अप्रत्यक्ष रूप से इसमे व्याप्त रहता है, जिसकी ओर सकेत करना कवि का वास्तविक उद्देश्य है। 'किरातार्जुनीयम्' का उदाहरण लीजिए। द्वादश सर्ग के १६वे छन्द में "वृक्ष-समूह न जलानेवाली तथा जलाशयो को न सुखानेवाली अग्नि" की चर्चा है। पाठक के मन में अनायास ही प्रश्न उठेगा कि यह अग्नि क्या हो सकती है। किंतु

इसी छन्द मे इस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है—वह रहस्यमय अग्नि इद्र-पुत्र अर्जुन का तेज है (तेज के लिए धाम शव्द का प्रयोग हुआ, इस शब्द का प्रथम अर्थ सभवत सस्थान अथवा कृत्य है)। अन्य उदाहरण यहाँ पर अनावश्यक है। काव्य के असख्य छन्दो के विषय मे पाठक के मन मे ये प्रश्न उठते है—आखिर कवि क्या कहना चाहता है ? इस चमत्कार का क्या अर्थ है ? प्रकृति के नियमो का यह विपर्यय क्यो ?

उपर्युक्त दो विशेषताएँ, अर्थात् बह्वर्थकता (जो अशत कृत्रिम है) तथा रहस्यात्मकता, मूलभूत तथा सवद्ध है। दोनो वैदिक मत्रो मे विद्यमान है। ऋग्वेद मे दो भिन्न शैलियाँ पायी जाती है। एक सरल शैली जिसमे प्रत्यक्ष अर्थ प्रधान है और व्यजना का एक प्रकार से अभाव है, उदाहरणार्थ उषाविषयक मत्र तथा इद्र से सवध रखनेवाले अधिकाश मत्र इसी शैली मे लिखे गये है। दूसरी शैली अलकृत, अस्पष्ट और गूढ है। इसमे द्वयर्थकता (प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अर्थो) का वाहुल्य है। ऋग्वेद के इस भाग के दो और कभी तीन स्तर होते है। कहने का अभिप्राय यह नही है कि काव्यशास्त्रीय श्लेष वेद मे मिलता है किंतु फिर भी इसमे एक अस्पष्ट, अपरिष्कृत श्लेष विद्यमान ही है। जब ऋषि किसी साधारण घटना अथवा प्रकृति के किसी व्यापार का वर्णन करते है, वे वास्तव मे और कुछ जतलाना चाहते है, और जब वे इस साधारण घटना अथवा प्रकृति के उस व्यापार की ओर सकेत करना चाहेगे तो वे किसी और बात की चर्चा करेगे। मेरी दृढ धारणा है कि लूडर्स (Lueders) का निम्नलिखित कथन नितान्त भ्रामक है—"हमे हमेशा के लिए इस विश्वास को छोड देना चाहिए कि वैदिक ऋषि प्राय एक बात कहते है और दूसरी बात सोचते है तथा अपने विचारो पर परदा डालने के लिए ही मत्रो का उच्चारण करते है (दे० तरुण, भाग १, पृ० १०)। ऋषि जो कहना चाहते है उसे अवश्य कहते है और जब वे घोडो की दौड अथवा गोशाला मे बद गायो की चर्चा करते है, वे उस दौड और उन गायो के विषय मे तो सोचते है किंतु साथ-साथ वे कवियो की प्रतिद्वन्दिता तथा रात्रि के अधकार के विषय मे भी सोचते है। यह अव्यक्त अर्थ-समूह ही मत्र के वास्तविक अर्थ का उद्घाटन कर सकता है। ऋग्वेद का प्रत्येक शाब्दिक एकार्थक अनुवाद शिक्षण मात्र के लिए कुछ ही महत्व रखता है, किंतु अद्वैतवादियो की शब्दावली मे वह अविद्या के क्षेत्र तक सीमित रहता है। "समुद्र से मधुमय लहर उत्पन्न होती है"(४, ५८, १), "पत्थर अपनी पीठ पर अश्व को वहन करता है" (८, २६, २४), आदि उक्तियो का समीचीन अर्थ नही लगाया जा सकता है जब तक अप्रत्यक्ष अर्थो का सहारा न लिया जाय। यज्ञ की तैयारी के लिए याजको को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाता है—"नौका का निर्माण करना, हल जोतना, पालो को तैयार करना घोड़ो को सतुष्ट करना. कवच सीकर प्रस्तुत करना" (१०, १०१)। क्या इससे इनकार किया जा सकता है कि यहाँ पर प्रतीको तथा रूपको द्वारा धार्मिक साधना की ओर सकेत किया गया है ? उन अप्रत्यक्ष अर्थों की आवश्यकता और भी स्पष्ट हो जाती है जब बेरगेन्न (Bergaigne) के अनुकरण पर ऋग्वेद के सब महत्वपूर्ण शब्दो का प्राथमिक अर्थ खोज निकालकर उसी को बराबर अनुवाद मे रखा जाता है। इस प्रकार के शाब्दिक एव एकार्थक अनुवाद का अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि मंत्र का वास्तविक अर्थ समझने के लिए अप्रत्यक्ष अर्थ

का सहारा लेना निन्तान्त अनिवार्य है। प्राचीन भारत के कुछ आचार्य वैदिक मत्रो के आनर्थक्य की चर्चा करते है, इसका एकमात्र कारण यह है कि वे शाब्दिक अर्थ तक सीमित रहकर (जो बहुधा निरर्थक ही है) गूढार्थ का ध्यान नही रखते थे। बेरगेञ्ज शाब्दिक अर्थ पर इतना बल देते थे कि वे **गो** का अर्थ गाय ही मानते थे (यद्यपि स्पष्टतया 'दूध' अथवा 'चमडे' की चर्चा होती थी और अततोगत्वा 'किरण' अथवा 'शब्द') और फलस्वरूप उनको स्वीकार करना पड़ता था कि वैदिक मत्रो मे अस्वाभाविक प्रतीक, असगत उपमाएँ, यहाँ तक कि अनर्थक सामग्री भी मिलती है। किंतु वही बेरगेञ्ज अप्रधान अर्थो का सहारा लेकर वैदिक विचार-धारा की एक विस्तृत प्रतीकावली का निर्माण करते थे, जिसमे आध्यात्मिक तथा यज्ञविषयक भावनाएँ भी सम्मिलित थी और इस प्रकार वे भाषा से अनेकार्थकता अथवा गूढार्थ को हटाकर उसी को विचार-धारा मे रखते थे।

प्रतीको के विषय मे जो काव्य तथा वेदो का सबध है, इसकी ओर भारतीय विद्वानो ने भी सकेत किया है। आनर्थक्य के किसी समर्थक के इस तर्क का खडन करते हुए कि मत्रो मे **अविद्यमान** वस्तुओ की चर्चा है जैमिनि कहते है कि गौण अर्थ का ध्यान रखकर उन मत्रो का रहस्य स्पष्ट हो जाता है (दे० मीमासा सूत्र १, २, ४६)। शबरस्वामी इस उत्तर की व्याख्या करते हुए काव्य का उदाहरण देते हैं, जिसमे नदी का वर्णन करते समय उन्ही शब्दो का प्रयोग होता है, जो नारी के शरीर के वर्णन मे आते है।

वैदिक मत्रो के रहस्यमय अर्थ का बहुत समय से अस्तित्व स्वीकृत हुआ है किंतु इस अर्थ का समीचीन महत्व नही दिया गया है। काव्य के छन्दो की भाँति ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के बहुत से स्थलो के विषय मे पाठक के मन मे अनायास ये प्रश्न उठते है—वर्ण्य विषय क्या है? किस देवता की स्तुति हो रही है? इस प्रतीक का क्या अभिप्राय है? इन परस्पर-विरोधी उक्तियो का समाधान क्या हो सकता है? वेदो की रहस्यात्मकता प्रसिद्ध ब्रह्मोदय-विषयक मत्र (ऋग्वेद १, १६४) तक सीमित नही है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के दार्शनिक अशो मे प्राय रहस्यमूलक छन्द मिलते ही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों और काव्य मे महान् अतर है, किंतु बीच की लडियाँ हमें **निघंटु, निरुक्त, ब्राह्मणों, उपनिषदो** आदि में प्राप्त है। यास्क की व्युत्पत्तियाँ असगत सी लगती है और अक्सर परिहास का विषय बन चुकी है, वास्तव मे मत्रो के गूढार्थ का समाधान इनका उद्देश्य है। निघटु मे कहा गया है कि नाम विशेष को छोडकर 'नदी' के लिए ३७ सज्ञाएँ मिलती है, 'शब्द' के लिए ५७ और 'जल' के लिए १०१। इसका क्या अर्थ हो सकता है? इस प्रकार की प्रचुरता एक तर्कसगत शब्दार्थ-विज्ञान मे अनावश्यक है। वास्तव मे उन संख्याओ मे गूढार्थ, व्यग्यार्थ, प्रतीकात्मक अर्थ आदि सम्मिलित है।

ब्राह्मण-साहित्य का उद्देश्य है यज्ञ-विषयक मानवीय कार्य-कलाप तथा उसके द्वारा सूचित धार्मिक और दार्शनिक तत्वो का सबध प्रतिपादित करना। इस प्रकार के सबध **'निदान'** अथवा 'बधु' कहलाते है, ओलिविए लाकाँब (Olivier Lacombe) उनको 'सत्त्वात्मक अनुरूपता की लड़ियाँ' कहकर पुकारते हैं। 'निदान' शब्द द्वारा मूलभूत तत्वो की अभिव्यक्ति

होती है, इस कारण से इस शब्द को ऋग्वेद के उस मत्र मे स्थान मिला जिसमे यज्ञ की स्थापना वर्णित है (देखिए १०, १३०, ३)। 'निदान' के अतिरिक्त निम्न शब्दो का भी प्रयोग होता है—आयतन, प्रतिष्ठा, सम्पद्, आदेश। ऋग्वेद के उपर्युक्त मत्र मे यज्ञ के विषय मे कहा गया है कि वह एक आदर्श प्राचीन प्रथा तथा उसके अनुकरण की अनुरूपता ही है (दे० १०, १३०, ६-७)। इस प्रकार का यज्ञ-विषयक गूढ चितन स्पष्टतया वैदिक साहित्य की द्वचर्थकता अर्थात् अन्योन्याश्रित प्रधान और अप्रधान अर्थों का सहारा लेता है।

जिस प्रकार ब्राह्मणो मे यज्ञ-विषयक वैदिक सामग्री का चितन मिलता है, इस प्रकार उपनिषदो मे वैदिक दर्शन की व्याख्या है। उपनिषदो मे भी प्रधान और अप्रधान अर्थ के उपर्युक्त साहचर्य-विचार का विकास हुआ है। उपनिषदो की तत्सबधी सामग्री का प्रधान उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि प्रधान और अप्रधान अर्थों के साहचर्य मे एकता लायी जाय, इसका कोई सिद्धान्त स्पष्ट कर दिया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अप्रधान अर्थो की सख्या और बढा दी गयी है। उपनिषदो मे जिन **प्रतीको और विद्याओं** की चर्चा है, ये सब शब्दो के अप्रधान अर्थो पर आश्रित है। क्या **उपनिषद्** ही का अर्थ (**अध्यात्मम्** और **अधिदैवतम्** का) सन्निधान नही है?

ब्राह्मणो तथा प्राचीनतम उपनिषदो मे **ब्रह्मोदय** अर्थात् धार्मिक विषयो के वाद-विवाद मिलते हैं। इनमे ऋग्वेद के पुराने रहस्य नाटकीय ढग से प्रस्तुत किये गये है। कभी-कभी प्रश्नो तथा उत्तरो का क्रम पहले ही से निर्धारित प्रतीत होता है—प्रत्येक वक्ता मत्र-सग्रह के क्रमानुसार अपना पाठ सुनाता है (दे० वाज० स० अध्याय २३)। किंतु प्राय उसमे अधिक स्वतत्रता दी जाती है और सवाद स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ 'शतपथ' ब्राह्मण के दसवे काण्ड मे हम देखते है कि कोई पुरोहित किसी गृहस्थ के लिए पुरोहिताई करना चाहता है और गृहस्थ पुरोहित की विद्या की जाँच करने के बाद ही उसे अपना पुरोहित बनाता है। अन्यत्र यजमान श्वेतकेतु एक यज्ञ का आयोजन करना चाहता है। उसका पिता उद्दालक पुरोहित के ज्ञान की परीक्षा करने लगता है। प्रारभ मे पुरोहित सही उत्तर दे पाता है किंतु अत मे वह अपनी पराजय स्वीकार करता है। इस पराजय के दो लक्षण सर्वविदित है और समस्त सस्कृत साहित्य मे पाये जाते है—एक तो मौन रहना तथा दूसरे, पुरोहित का यह निवेदन कि वह विजयी का शिष्य बन जाय। एक अन्य स्थल पर पाँच विद्वानो की चर्चा है जो आपस मे किसी निर्णय पर नही पहुँच सकते है और किसी गृहस्थ की सेवा करने की प्रतिज्ञा करते है, यदि वह उनके प्रश्नो का सन्तोषजनक उत्तर दे सके। अनन्तर गृहस्थ क्रमश पाँचो से प्रश्न करते-करते उनको धार्मिक शिक्षा देता है। वृहदारण्यक उपनिषद् मे सभी ब्रह्मोदय राजा जनक मे केंद्रीभूत है। राजा जनक अपने होता के ज्ञान की सहायता से ब्राह्मणो की परीक्षा लेते है। अत होता ब्राह्मण याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने लगता है। बाद मे पॉच ब्राह्मण क्रमश याज्ञवल्क्य से हार जाते है, अतिम प्रश्नकर्ता शाकल्य ऐसे प्रश्न पूछता है जो मानवोचित ज्ञान का अतिक्रमण करते है और फलस्वरूप उसका सिर फट जाता है। एक अन्य स्थल पर जनक स्वय याज्ञवल्क्य की परीक्षा लेते हैं और सतोषजनक उत्तर पाकर उनके शिष्य बन जाते है। अन्यत्र याज्ञवल्क्य जनक के प्रश्नो का उत्तर

तो देते है किंतु ऐसी नौबत भी आ जाती है कि याज्ञवल्क्य को स्वीकार करना पडता है कि राजा जनक ने उनको उनके सिद्धान्तो से विचलित कर दिया है (अर्थात् जनक ने उनको उनके सिद्धान्तो के पूरे-पूरे निरूपण के लिए बाध्य किया है)। फिर भी राजा का शाकल्य के समान कोई अनर्थ नही होता, राजकीय मर्यादा का पूरा ध्यान रखा गया है। ध्यान देने योग्य है कि उन समस्त ब्रह्मोदयो के विषय यज्ञ के परे की समस्याओ से सबध रखते है, उदाहरण—उद्गीथ की उत्पत्ति, चारो परमार्थ (शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १०), अर्क (जिसके दो अर्थ है, अर्थात् पौधा और अग्नि)। जो कोई किसी समस्या का समाधान कर पाता है वह **एवंविद्** कहलाता है क्योकि वह मत्र मे सन्निहित तेज अर्थात् ब्रह्मन् जानता है और फलस्वरूप जिस चीज को वह जानता है उसे वह प्राप्त कर लेता है। अततोगत्वा विश्व मे विद्यमान गूढ सबधो पर उसका पूरा अधिकार हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य मे रहस्य का कितना महत्वपूर्ण स्थान है, जो तत्रवाद मे मत्र का स्थान है वही वैदिक विचारधारा मे रहस्य का होता है, अर्थात् वह एक सर्जनात्मक शक्ति ही है।

यह स्वाभाविक ही है कि वैदिक विचारधारा से प्रेरणा लेनेवाले परवर्ती दर्शनो मे, अर्थात् मीमासा तथा वेदान्त मे यदि उस रहस्य के नही, कम से कम उस द्व्यर्थकता के अवशेष पाये जाते हैं। मीमासा का उद्देश्य है वैदिक **विधियों** का निरूपण, अत उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वेदो के वे अश अलग किये जायँ जिनमे 'विधि' का अभाव है अर्थात् **मंत्र** और **अर्थवाद**। यह विभाजन वैदिक शब्दो के अर्थ और उनका सापेक्ष महत्व निर्धारित किये बिना सभव नही हैं। सिद्धान्तत अप्रत्यक्ष अर्थ रखने वाले अश **अर्थवाद** अथवा **मंत्र** है और प्रत्यक्ष अर्थ रखने वाले अश **विधि** के अतर्गत आ जाते है। मीमासा सूत्रो मे (३, २, १) अवश्य ही कहा गया है कि मत्रो मे शब्दो का अप्रधान अर्थ हटाकर उनके प्रधान अर्थ का ध्यान रखना चाहिए। (यह सिद्धान्त व्याकरण की परिभाषाओ मे भी पाया जाता है—"किसी शब्द के विषय मे कोई भी व्यापार उस शब्द के प्रधान अर्थ ही से सबध रखता है, न कि उसके अप्रधान अर्थ से")। किंतु इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् तुरत इसके अपवादो की चर्चा होती है (दे० ३, २, ३ आदि)। वास्तव मे यह विकास सदर्भ के कारण ही हुआ है अर्थात् **ब्राह्मण** को दृष्टि मे रखकर, जिसके साथ **मंत्र** का अनिवार्य सबध रहता है। फिर भी मीमासा मे **गौणार्थ** का प्रयोग भी है, जो **लाक्षणिक अर्थ** से अलग माना जाता है (दे० कुमारिल १, ४, २८)। **लक्षणार्थ** तब होता है जब मुख्य अर्थ से संबंध रखनेवाला कोई अन्य अर्थ व्यक्त किया जाता है, **गौणार्थ** तब होता है जब अप्रधान अर्थ तथा मुख्य अर्थ का संबंध दोनो के सामान्य गुणो पर ही आधारित है। उदाहरणार्थ ब्रह्मचारी 'अग्नि' कहा जाता है, क्योकि उसके गुणो से अनायास ही 'अग्नि' की कल्पना हो सकती है।

मंत्रों तथा **ब्राह्मणों** के संबध का सिद्धान्त ही (अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान के अनुसार मत्र का अनुकूलन) अर्थपरक प्रतीकवाद का परिणाम है। ऐसे मत्र कम ही मिलते है जिनका आनुषागिक अनुष्ठान के साथ संबध प्रधान अर्थ पर निर्भर है; मत्र का 'लिंग' प्राय कोई प्रतीकात्मक शब्द है। कुमारिल का कहना है कि **सामर्थ्य** कभी प्रत्यक्ष अर्थ और कभी अप्रत्यक्ष अर्थ पर

निर्भर रहता है (३, २, १), किंतु वास्तव मे अप्रत्यक्ष अर्थ कही अधिक महत्व रखता है। उसी स्थल पर कुमारिल उन परिस्थितियो का निरूपण करते है जिनमे अप्रधान अर्थ को प्रश्रय दिया जा सकता है—**जहत्स्वार्थाभिधायित्व** (मुख्य अर्थ छोड देने की क्षमता), **सघात** (दोनो अर्थो का सामजस्य), **परिकल्पना**, **सोपपदा वृत्ति**, **समुदायप्रसिद्धिता**, **वाक्यार्थ**, **अल्पप्रसिद्धित्व**, **अल्पप्रयोगिता**, **सादृश्य**। यह सब समान रूप से प्राचीन मत्रो तथा काव्य के छन्दो पर लागू होता है। एक अन्य स्थल पर जैमिनि (१, ४, २३ आदि) अर्थवाद की विशेषताओ का निरूपण करते हुए कहते है कि ये ही अप्रधान अर्थ की विशेषताएँ भी है। अन्य शब्दो मे वेद के सभी अग जो 'विधि' के अतर्गत नही आते, उन सब का अप्रधान अर्थ ही ध्यान मे रखना चाहिए। इससे अप्रधान अर्थ की व्याप्ति स्पष्ट ही है।

वेदान्त मे भी यह सब लागू है। ऊपर इसका उल्लेख हो चुका है कि उपनिषदो के मूल मे एक प्रतीकवाद निहित है, जो अप्रधान अर्थ पर आधारित है। अत यह स्वाभाविक है कि शकरवादी वेदान्त मे भी इस विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित है। शकर तथा ब्रह्मसूत्रो के अनुसार वेदो के सभी वाक्य जो प्रतीको के सहारे ब्रह्म का निरूपण करते है अप्रमाणिक है। क्या इसके फलस्वरूप उन्हे 'अविद्या' के अतर्गत मानना चाहिए ? जी नही ! क्योकि इसका परिणाम यह होता कि काफी बडी सख्या मे वेदो के अश अनावश्यक सिद्ध होते। ये स्थल उपासना के काम मे आते है। अत उपासना अप्रधान अर्थ, प्रतीकादि पर आश्रित है। ये प्रतीक मिथ्या न होकर **अध्यास** अथवा **अध्यारोप** के परिणाम है, अत अध्यास वास्तव मे धार्मिक (दार्शनिक) मात्र नही है, वह शब्दार्थपरक भी है। शकरवादी अद्वैत मे (तथा अन्य दर्शनो मे भी) शब्द का अप्रधान अर्थ उसके प्रधान अर्थ से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सबध रखता है, प्रधान अर्थ या तो पूर्णतया अथवा अशत सुरक्षित रह सकता है, अथवा उसे पूर्णतया छोड भी दिया जा सकता है। वास्तव मे प्राय यही हुआ करता है कि प्रधान अर्थ के साथ जो सबध है वह रखा भी जाता है और छोड भी दिया जाता है। मूलभूत वाक्य **तत् त्वमसि** ले ले—**त्वम्** व्यावहारिक **अहं** का अर्थ छोड देना है और **तत्** भी **जो अहं नहीं है** ऐसा अर्थ छोड देता है। दूसरे शब्दो मे अप्रधान अर्थ गौण (प्रतीकात्मक या बाह्य) नही है किन्तु वह **लक्ष्य** अर्थात् अप्रत्यक्ष या अभ्यन्तर है। 'लक्षणा' का अद्वैत में महत्वपूर्ण स्थान है, उदाहरणार्थ इसमे **ब्रह्मन्** की समस्त परिभाषाएँ वाच्य न होकर लक्ष्य ही है। ओलिविए लाकॉब के अनुसार 'लक्षणा' एक 'प्रकार' से साधारण भाषा तथा परा विद्या के बीच का पुल ही है। यह स्पष्ट है कि आत्मन् और ब्रह्मन् की विशेषताओ का एकीकरण करने के लिए शकराचार्य को बहुधा 'अप्रधान अर्थ' का ही सहारा लेना पडता है। दूसरी ओर रामानुज, जो अद्वैत पर इतना बल नही देते है, प्राय शाब्दिक अर्थ से सतोष कर लेते है।

तत्रवाद मे अप्रधान अर्थ का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योकि तत्रवाद वास्तव मे एक प्रतीकवाद है जो भाषा के अस्वाभाविक प्रयोग पर ही निर्भर रहता है और मत्रो की एक नवीन व्याख्या की सृष्टि करता है (**मत्रशास्त्र**)। किंतु यहाँ पर इसका विश्लेषण नही किया जायगा।

सहार के रूप मे कहा जा सकता है कि विज्ञान तथा शिल्प-विषयक शास्त्र (इनमे श्रौत गृह्य और धर्मसूत्र भी सम्मिलित है), यथार्थवादी दर्शन, महाभारत तथा रामायण, सरल शैली के काव्य-ग्रथ ये सब प्रत्यक्ष अर्थ को ही ध्यान मे रखते है। कुछ अन्य क्षेत्रो मे द्वचर्थक शब्दावली तथा अप्रधान अर्थ का न्यूनाधिक मात्रा मे प्रयोग होता है अर्थात् दोनो मीमासा (वेदान्त के लिए कम से कम शकरवादी अद्वैत), तत्रवाद, काव्यशास्त्र, भाषा-दर्शन, ललित साहित्य मे काव्य का समस्त क्षेत्र। यह प्रवृत्ति वैदिक मत्रो से प्रारभ होकर दूसरे रूप मे वैदिक गद्य के दार्शनिक अशो मे परिलक्षित है, अर्थात् ब्राह्मणो, उपनिषदो तथा आरण्यको मे। उस समस्त सामग्री मे साधारण अर्थ के परे एक अन्य अर्थ का सहारा लिया जाता है, भाषा के साथ एक प्रकार से बल-प्रयोग होता है—या तो द्वचर्थकता को जानबूझ कर स्थान दिया गया है (जैसे मत्रो तथा काव्य मे), या विभिन्न अर्थों के एकीकरण का प्रयास हुआ है (जैसे उपनिषदो और अद्वैत मे)। बौद्ध ग्रथो मे एक तीसरा समाधान मिलता है—वहाँ तो प्रधान और अप्रधान अर्थ दोनो को हटाकर शून्य का प्रतिपादन हुआ है। धर्मशास्त्र मे मध्यमार्ग अपनाया गया है—प्रामाणिक शिक्षा देने के उद्देश्य से इसमे नियमो का समन्वय अपेक्षित रहा है, जो मीमासा से प्रेरणा लेनेवाले उपायो द्वारा सभव हो सका है। व्याकरण एकार्थक है जहाँ तक वह 'लोक' अर्थात् प्रचलित भाषा से सबध रखता है, किंतु पाणिनीय सूत्रो की सकीर्ण व्याख्या का सिद्धान्त अपनाने के कारण व्याकरण द्वचर्थकता का सहारा लेने के लिए बाध्य हो जाता है और इस प्रकार उसको अपने तर्कों मे आभ्यन्तर अर्थ को भी ध्यान मे रखना पडता है।



परशुराम चतुर्वेदी

संत-साहित्य के प्रामाणिक पाठ का प्रश्न

सत-साहित्य के पाठ की प्रामाणिकता पर विचार करते समय हमारा ध्यान स्वभावत. कई बातो की ओर चला जाता है। सर्वप्रथम हम यह अनुमान करने लगते है कि इसके मूल रचयिता कैसे व्यक्ति रहे होगे, कैसी स्थिति मे उन्होने इसकी रचना की होगी, किस रूप मे की होगी तथा इसके लिए वे साधारणत किस प्रकार के साधनो का प्रयोग करते रहे होगे। ऐसे साहित्य की अधिकाश रचनाओ का रूप ठीक वैसा ही नही पाया जाता जैसा अन्यत्र उपलब्ध होता है, जिस कारण न केवल हमारी दृष्टि पहले उनकी अनेक विलक्षणताओ पर चली जाती है, अपितु इसके साथ ही हमे यह भी सोचना पड जाता है कि जिन पाठशोध-सबधी नियमो का पालन बहुधा सर्वत्र किया जाता है, वे क्या उसी रूप मे यहाँ भी लागू होगे ? अथवा यदि कतिपय आवश्यक बातो को दृष्टि मे न रखकर, ऐसा किया जाय तो, क्या वह उचित और न्यायसगत कहा जा सकता है ? सच तो यह है कि किसी भी साहित्य की रचनाविशेष के पाठशोध की समस्याओ का हल तब तक समुचित और सतोषजनक नही कहा जा सकता जब तक उसकी निर्माण-सबधी वस्तुस्थिति का सम्यक् परिचय न प्राप्त कर लिया जाय तथा जब तक उसके रूप-सबधी सुधार की अपेक्षा उसके मूल के पुनरुद्धार की ओर पूरा ध्यान न दिया जाय।

सत-साहित्य, और विशेषत उसके प्रारभिक अश के रचयिता प्राय अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित व्यक्ति थे और उनका सपर्क अधिकतर ऐसे लोगो के साथ रहता था जो जन-साधारण की कोटि के कहे जा सकते है। वे या तो इस प्रकार के व्यक्तियो के समाज मे जाकर अपनी बाते कहा करते थे अथवा अपने निकटवर्ती शिष्यो को उपदेश देते थे। इसके सिवाय उनका ध्यान जितना अपने कथनीय अथवा प्रतिपाद्य विषय की ओर रहता था उतना उसके माध्यम भाषा की ओर नही जाता था, इसी कारण वे अपनी परिस्थिति के अनुसार मनमाने शब्दो एव वाक्यो के प्रयोग करते थे। उनकी भाषा का खिचडीपन तथा, इसी कारण, उसमे किये गये प्राय विकृत फारसी, सस्कृत, देशज एव अप्रचलित शब्दो के प्रयोग और उनकी व्याकरण-सबंधी अनेक भूलें भी उनके इसी स्वभाव के परिचायक हैं। उनके प्रवचनो का विशिष्ट अश बहुधा गेय वा पद्यमय रहता था जिसमे छदोनियमो के प्रति उपेक्षा की सभावना बनी रहती थी। फिर भी, आकर्षण वा चमत्कार-प्रदर्शन की दृष्टि से उसमे प्राय श्लेष, यमक अथवा अनुप्रास के बहुत से ऐसे प्रयोग मिल जाते है जिनके कारण या तो उसमे कुछ न कुछ दुरूहता आ गयी है या उसका रूप अटपटा वा विलक्षण बन गया है।

ऐसी दशा मे सतकवियो की रचनाओ का स्वहस्तलेखो (autographs) मे पाया

जाना स्वभावत सरल नही हो सकता। उनका रूप अधिकतर वैसा ही हो सकता है जैसा उनके मुख से सुनकर लिखने वाले श्रोताओ द्वारा लिपिबद्ध हुआ होगा। ऐसे लोगो की श्रवणशक्ति, शब्दग्रहण की योग्यता, सावधानी, विषय-परिचय तथा लेखनाभ्यास आदि के अनुसार उनमे कभी-कभी परिवर्तन वा परिवर्धन हो जाता होगा तो कभी-कभी, उनके कुछ अशो के यथावत् उतारने मे प्रमाद भी हो जाता होगा। इसके सिवाय इस बात की भी कम सभावना नही कि प्रवचनकर्त्ता कभी-कभी अपने एक ही पद्य को अन्यत्र किंचित् भिन्न रूप मे प्रकट कर दे और उसको वहाँ इस दूसरे रूप मे ही लिपिबद्ध कर लिया जाय। ऐसी रचनाओ के सग्रहो का यदि उनके रचयिताओ द्वारा एक बार पुर्ननिरीक्षण न हो जाय, तो अनेक भ्रमो का निराकरण कभी सभव नही हो सकता, किंतु जहाँ तक पता है, सत-साहित्य के कम-से-कम आरभकालीन अश के सबध मे ऐसा नही किया गया। इन रचनाओ को या तो उनके निर्माताओ के शिष्यो-प्रशिष्यो ने अधिकतर उनके देहात हो जाने पर सगृहीत किया अथवा ऐसे छोटे-बडे सग्रहो की प्रतियो का प्रसारण (transmission) उनके साप्रदायिक मठो द्वारा, अवैज्ञानिक रूप मे, होता आया।

जहाँ तक वैसी रचनाओ का प्रश्न है जिनका निर्माण शिक्षित सतो द्वारा हुआ अथवा जिनके विषय मे यह भी सभावना है कि उन्हे इन्होने कही अपने हाथ से लिखा भी होगा, हम उसका भी समाधान उतनी सरलता से नही कर सकते। एक तो इसलिए कि ऐसे सतो के स्वहस्त-लेखो के उपलब्ध होने की बहुत कम सभावना है, और दूसरे इस कारण भी कि इनके शिक्षित होने का तात्पर्य सदा यही नही होता कि इन्हे शुद्ध रूप मे लिखने का वैसा अभ्यास भी रहा होगा। इसके सिवाय कभी-कभी ऐसा भी होता था कि सत सुन्दरदास जैसे प्रकाड पडित भी अपनी रचनाओं को किसी दूसरे से लिखा लिया करते थे अथवा गुरु अर्जुनदेव जैसे कुछ सतकवि, अपनी तथा दूसरो तक की रचनाओ का सग्रह करते समय, किसी अन्य की ही सहायता लेते थे। इन दोनो दशाओ में केवल निरीक्षण मात्र हो पाता था। लिपिकारो का सीमित ज्ञान उनके द्वारा साधारणत कैथी, मुड़िया अथवा गुरुमुखी आदि लिपि का प्रयोग किया जाना तथा कभी-कभी प्रतिलिपि करते समय, उनमे से किसी-किसी के जी मे पाठ-सुधार की प्रवृत्ति का जग जाना—ये कतिपय ऐसी बाते रहा करती थी जिनके कारण पाठ-सबधी भूलो की सख्या मे सदा वृद्धि होते जाने की ही आशका बनी रह सकती है। इस प्रकार की भूले न केवल सतो की मुक्तक रचनाओ के सग्रहो मे मिलती है, अपितु उनके दो-चार उपलब्ध प्रबध-ग्रथो मे भी कम नही पायी जाती।

सत-साहित्य की अभी तक प्राप्त हस्तलिखित प्रतियो मे दिखलायी पडने वाली वैसी भूलो के कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते है—

(१) लिपि वा अक्षर अथवा वर्णमाला सबधी प्रयोगो के अतर्गत—जैसे, 'व'-'ब', 'श'-'स', 'ष'-'ख' आदि विषयक मनमाने प्रयोग, 'क्ष' के स्थान मे 'छ' एव 'ज्ञ' के स्थान मे 'ग्य' का प्रयोग तथा, इसी प्रकार, 'ए'-'ऐ' की जगह कभी-कभी 'अे'-'अै' के प्रयोग।

(२) सयुक्ताक्षरो के रूप मे किये जाने वाले अनावश्यक प्रयोग—जैसे, 'दु ख' का 'दुक्ख' और 'सुख' का 'सुक्ख' कर देना आदि।

(३) मात्राओ के रूपो मे परिवर्त्तन—जैसे, 'कौतुक' का 'कौतिग' करना और 'चातक' का 'चात्रिग' वा 'चातृग' तक लिख देना।

(४) विंदु, विसर्ग, चद्रविदु तथा अनुनासिक वर्ण सबधी विशिष्ट प्रयोग—जैसे, 'नाम' के स्थान पर 'नाउ' के प्रयोग, 'नम ' के बदले 'नमह्' के प्रयोग, 'माहिं' की जगह 'माहिं' लिख देना तथा 'प्राण' की जगह 'प्रान' का व्यवहार करना।

(५) विराम-चिह्नो के प्रयोग मे बहुधा कामा (,) के स्थान पर खड़ी पाई (।) दीख पडती है—जैसे, दोहो वा साखियो की प्रत्येक पक्ति अथवा चौपाइयो की अर्द्धा-लियो तक मे यति के स्थलो पर पाया जाता है।

(६) 'य' की जगह कभी-कभी 'ए' का प्रयोग कर देना—जैसे, 'यह' के स्थान पर 'एह' लिखना तथा 'ओ' की जगह कभी-कभी 'वो' को स्थान देना—जैसे, 'ओर' शब्द को 'वोर' का रूप दे देने मे दिखाई पडता है।

(७) कही-कही शब्दो के अत मे 'अ' अथवा उनके मध्य मे 'इ' को जोडकर उनका विस्तार कर देना—जैसे, 'गरु' की जगह 'गरुअ' तथा 'काया' की 'काइया' अथवा 'माया' की जगह 'माइया' लिखने मे देखा जा सकता है।

(८) कभी-कभी बहुत से शब्दो को विकृत रूप दे दिया जाता है—जैसे 'आयुध' का 'आवध', 'वायु' का 'बाव', 'दीक्षा' का 'दष्या', 'निन्दा' का 'निंद्या', 'सशय' का 'ससा', 'विश्वास' का 'बेसास', 'हृदय' का 'रिदै' आदि कर देने मे पाया जाता है।

(९) व्यजनभेद के भी उदाहरण मिलते है—जैसे, 'युक्ति' के 'जुगति', 'पुष्प' के 'पुहप' व 'वियोग' के 'बिवोग' कर देने मे।

(१०) कभी-कभी तो इनके ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं जिनमे और भी अधिक परि-वर्त्तन दिखाई पडता है—जैसे, 'वाक्य' को 'बाइक', 'पथ्य' को 'पछि', 'पहुचा' को 'पहुता', 'मत्सर' को 'मछर' तथा 'मरघट' को 'मडहट' कर देने मे देखा जा सकता है।

(११) शब्दो के रूपो मे कही-कही कुछ अन्य प्रकार के भी परिवर्तन देखने मे आते हैं—जैसे, 'कवल' के 'कौल' मे, 'यह' के 'येह' मे, 'प्रलय' के 'परलै' मे, 'प्रियतम' के 'प्रीतम' मे, 'लवण' के 'लूण' मे, 'कर्म' के 'क्रम' मे, 'भ्रम' के 'भर्म' मे, 'निर्गुण' के 'न्रिगुण' वा 'नृगुण' मे, 'सर्प' के 'स्रप' मे, 'शून्य' के 'सुन्नि' मे तथा 'बिछडे' के 'बिहडे' कर देने मे दिखाई पडता है।

(१२) कभी-कभी 'ई' को 'य' तथा 'य' को 'इ' कर देते हैं जिससे शब्दो के रूप बदल जाते है—जैसे, 'पिंड' का 'प्यड' और 'बिंब' का 'ब्यब' कर देना तथा इसी प्रकार 'उद्यम' को 'उदिम' एव 'अनन्य' को 'अनिन' रूप दे देना।

(१३) ऐसे ही कभी-कभी 'य' का 'ई', 'ए' का 'ऐ' तथा 'व' और 'अव' का 'औ' मे परि-

वर्तित होना भी दिखाई पडता है,—जैसे, 'इद्रिय' के 'इद्री', 'निश्चय' के 'निहचै', 'समय' के 'समै', 'पवन' के 'पौन', 'हवस' के 'हौस' तथा 'दिवस' के 'दौस' हो जाने मे देखा जाता है।

(१४) कही-कही सयुक्ताक्षरो मे परिवर्तन कर दिया जाता है—जैसे, 'रक्षा' के 'रख्या' और 'लज्जा' के 'लज्या' करने मे है, जहाँ अन्यत्र अकेले अक्षरो को सयुक्त करके लिखते हैं—जैसे, 'बधा'-'बध्या' वा 'सौपा'- 'सौप्या' मे।

(१५) कभी-कभी 'माना' वा 'बेधा' जैसे शब्दो को क्रमश 'मानिया' वा 'बेधिया' जैसा लिखते है; 'श्रोता' को 'सुरता', 'गुह्य' को 'गूझ', 'और' को 'हौर', 'शौच' को 'सुच्या', 'शका' को 'सक्या' कर देते है तथा 'पुरुष' को 'पुरिस' एव 'इक' को 'हिक' तक बना डालते है।

(१६) उच्चारण मे सुलभता लाने के लिए 'प्रगट' का 'परगट' एव 'स्तन' का 'अस्तन' वा 'थन', 'स्पर्श' का 'परस' वा 'सपरस', 'सरस्वती' का 'सुरसति', 'स्मरण' का 'सुमिरण', 'परमेश्वर' का 'परमेसुर' तथा इसी प्रकार 'स्वाद' का 'साद' कर देना आदि बहुत अधिक पाया जाता है।

उपर्युक्त उदाहरणों मे बहुत से ऐसे है जो सत-साहित्य के अतिरिक्त अन्य स्थलो मे भी पाये जाते हैं और उनमे से कई प्रयोग बहुधा उन हस्तलिखित प्रतियो मे मिलते है जिनकी प्रतिलिपि पजाब, गुजरात वा राजस्थान मे की गयी है। परन्तु सत-साहित्य के सबध मे यह विशेष रूप से कहा जा सकता है कि उसमे प्राय जानबूझ कर स्वर-विपर्यय वा वर्ण-विपर्यय कर दिया जाता है तथा ऐसे ही कारणो से कुछ आलोचको ने इसकी भाषा को 'सधुक्कडी भाषा' नाम देना उचित समझा है। इसी प्रकार कभी-कभी लिखित शब्दो का पारस्परिक मिलान करते समय अथवा एक ही शब्द को विभाजित करके लिखने की जो असावधानी कर दी जाती है, और जिसके कारण बहुधा बहुत अनर्थ भी हो जाता है, वह अन्यत्र भी द्रष्टव्य है। छूट गये शब्दो अथवा वाक्यो को कही लिख कर वहाँ उपर्युक्त स्थलनिर्देश कर देने की भूल भी केवल यहीं नही पायी जाती। परन्तु सत-साहित्य के हस्तलेखो मे जहाँ ऐसे उदाहरणो का बाहुल्य है वहाँ अन्यत्र अपवादस्वरूप ही देखा जाता है, जिसका कारण सभवत यही है कि इसके लिपिकार अधिकतर न केवल अयोग्य है अपितु वे अपनी 'सधुक्कडी भाषा' का मोह बडी कठिनता से त्याग पाते हैं। अतएव, यहाँ तक कह डालने मे भी कदाचित् कोई अत्युक्ति न समझी जाय कि और स्थलो पर ऐसी बाते भूलो मे गिनी जा सकती है, यहाँ के लिए वैसा नही कह सकते।

सत-साहित्य के पाठ की प्रामाणिकता के सबध मे कतिपय अन्य बाते भी उल्लेखनीय है। बहुत से पदो वा साखियो के सग्रहो मे जो किसी पथ वा सप्रदाय की ओर से तैयार किये गये है, बीच-बीच मे यत्र-तत्र तुलनीय रचनाओ का समावेश करते जाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऐसे स्थलो पर बहुधा भ्रम उत्पन्न होने की आशका रहती है। उदाहरण के लिए दादू-पंथ अथवा बावरी-पथ के अनुयायियो द्वारा संगृहीत रचनाओ की बहुत-सी प्रतियो के अतर्गत

सग्रहकर्त्ता ने किसी सतविशेष की बानियो को एक स्थल पर एकत्र करते समय उनमे से किसी न किसी एक के आगे अनेक ऐसी रचनाएँ भी दे दी है जो उस सत की नही हो सकती, किंतु जिनका समावेश वहाँ पर केवल भावसाम्य के आधार पर तुलनामात्र की दृष्टि से कर दिया गया है। ऐसी पक्तियो मे यदि किसी के नाम का 'भोग' न लगा हो तो यह कहना कठिन हो जाता है कि वे उस सत की नही हो सकती जिनकी रचनाओ का सग्रह वहाँ विशेष रूप से किया जा रहा है। ऐसे अवतरणो का समावेश कही-कही सिक्खो के 'गुरु ग्रथ साहब' मे भी किया गया है, जहाँ शेख फरीद के 'सलोको' मे बीच-बीच मे तीन-चार नानक के नाम की रचनाएँ भी आ गयी है।

रचनाओ के अत मे 'भोग' परक नामो के समावेश द्वारा कभी-कभी एक दूसरे प्रकार की कठिनाई की सभावना रहती है। किसी ऐसे नाम की मात्राओ का योग यदि किसी अन्य के नाम की मात्राओ से मेल खा जाता है अथवा 'भोग' वाली पक्ति मे केवल किंचिन्मात्र ही हेरफेर कर लेने पर पद्यविशेष किसी अन्य की भी रचना कहा जा सकता है तो उसमे परिवर्तन कर दिया जाता है और उसके मूल रचयिता का पता लगाना हमारे लिए बहुधा असभव सा हो जाता है। सत कबीर की रचनाओ के सग्रह 'कबीर-ग्रथावली' के अतर्गत आयी हुई एक साखी (२।१८) केवल थोडे से परिवर्तन के साथ मझन की 'मधुमालती' मे भी मिलती है, उसकी एक अन्य साखी (३।२१), उसी प्रकार, 'गुरु ग्रथ साहब' मे सग्रहीत शेख फरीद के सलोको मे आ जाती है तथा उसकी एक तीसरी साखी (३।४१) भी केवल कुछ ही परिवर्तनो के साथ फिर हमे इन्ही के अतर्गत मिल जाती है। ऐसे प्रसगो मे यह कह देना मात्र पर्याप्त नही कि परवर्ती कवि ने अपने पूर्ववर्ती की रचना को केवल थोडे से सुधार के साथ अपना लिया होगा। जब तक इस बात का पुष्ट प्रमाण न मिल जाय कि वह सग्रह विशेष भी, जिसके अतर्गत ऐसी रचना समाविष्ट की गयी है, उसके जीवनकाल के पहले ही तैयार हो गया था तथा वह पद्य किसी तीसरे की रचना भी नही हो सकता जिससे दोनो ने ही लिया हो। 'कबीर-बीजक' का 'सब्द' १० 'बषना जी की वाणी' मे पद ६० के रूप मे मिलता है, उसका 'सब्द' ७६ 'सूरसागर' (ना० प्र० सभा सस्करण) के पद ३६९ के रूप मे मिलता है तथा उसकी साखियाँ १९६ और २११ सत दादू दयाल की बानियो की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियो मे भी है। इनमे केवल कुछ ही शब्दो का हेरफेर दृष्टिगोचर होता है। तो क्या ऐसी दशा मे यह अनुमान करना सर्वथा असभव है कि कबीर साहब की रचनाओ का वह प्रामाणिक सग्रह सत्रहवी शताब्दी के पहले नही किया गया होगा ?

अतएव, जिस प्रकार किसी रचना के शब्दो मे उसके लिपिकारो के अनुसार, रूप एवं उच्चारण सबधी परिवर्तन आ जाते है, उसी प्रकार उसके वाक्यो वा समूची पक्तियो तक मे, उसके सग्रहकर्त्ताओ के अनुसार भेद आ जाने की सभावना रहा करती है। कोई व्यक्ति किसी रचना का पाठ सुनाता है अथवा उसे कही पढता है और उसे अपनी स्मृति मे न्यूनाधिक सुरक्षित रखता है, किंतु उसके रूप का सदा ठीक पूर्ववत् वहाँ कायम रह जाना बहुधा सभव नही है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उसका केवल अधूरा रूप टिक पाता है जिस कारण उसे अन्यत्र व्यक्त करते समय उसकी कमियो की पूर्ति अपनी ओर से करनी पड जाती

है और ऐसी दशा मे हमे उसके मूलभाव मात्र का आश्रय लेना पडता है। परन्तु वैसे भावो का पद्यबद्ध किया जाना केवल किसी एक ही कवि द्वारा सभव नही। इसलिए यह भी सभावना रहती है कि उसके मूल रचयिता का नाम सर्वथा विस्मृत हो जाय और उसके स्थान पर किसी और का ही नाम उपयुक्त समझ लिया जाय। इस प्रकार के परिवर्तन अधिकतर वही हुआ करते है जहाँ रचनाओ का प्रचार मौखिक रूप मे विस्तार पाता है और जहाँ इसके साथ रचनाओ की भाषा अथवा रूप की अपेक्षा उनमे 'निहित' भावो की सुरक्षा का प्रश्न सर्वप्रमुख रहा करता है। सत-साहित्य की यह एक विशेषता रही कि इसका अधिकाश रूप पहले इसी नियम के अनुसार परिवर्तित होता आया। एक ओर जहाँ, इसके पदो के गेयत्व के कारण, इस ओर प्रेरणा मिली वहाँ दूसरी ओर इसकी साखियो के छोटी और सरलतापूर्वक उद्धृत करने योग्य होने के कारण इस प्रवृत्ति को बल मिला। इस प्रकार एक ही बानी के कभी-कभी विविध रूप बन कर विभिन्न प्रतियो मे प्रवेश पा गये। उदाहरण के लिए सत कबीर के ही समझे जाने वाले एक पद (क० ग्र० स० १२, पृ० ९२) का रूप अन्यत्र (गु० ग्र० साहब, रागु आसा ६) दूसरा हो गया, इसी प्रकार एक अन्य पद (क० ग्र० स० १६२, पृ० १४१-२) का भी रूप दूसरे सग्रह (बीजक, सबद २) मे भिन्न हो गया। यदि केवल कबीर की रचनाओ का ही तुलनात्मक अध्ययन, विभिन्न प्रतियो और सस्करणो के अनुसार किया जाय, तो उनमे इतने प्रकार के पाठभेद मिलेगे जितने कदाचित् अन्यत्र नही मिल सकते और हम उनके कारण एक विचित्र गोरखधधे मे भी पड सकते है।

सत-साहित्य-सबधी रचनाओ के पाठभेद पर विचार करते समय हमारे सामने कुछ कठिनाइयाँ एक अन्य कारण से भी आ सकती है। यहाँ पर बहुत-सी हस्तलिखित प्रतियो के प्रारभ मे, और कभी-कभी अत मे भी, हमे ऐसे रचयिताओ के नाम देखने को मिलते है जिनसे उक्त कृतियो के साथ वस्तुत कोई भी सबध नही रहता, किंतु जो उनके किन्ही शिष्यो वा अनुयायियो द्वारा रचित होने पर भी स्वय उनके ही नाम से प्रचलित हो जाती है तथा जिन्हे, इसी कारण, उनके नाम से चलाये गये पंथ वा सप्रदाय मे बडी श्रद्धा के साथ देखने भी लगते है। यदि ऐसे ग्रथ केवल छोटी-बडी रचनाओ के संग्रह-मात्र होते है, तो उस दशा मे उनके अतर्गत अनेक ऐसी रचनाएँ आ सकती है जो सचमुच उन्ही सतो की कृतियाँ है और उन्हे अधिक से अधिक विकृत रूप दे दिया गया है। परन्तु जो निबधो वा प्रबधो के रूपो मे है तथा जिनमे वैसे सतो के प्रति प्रशसात्मक बातो के उल्लेख भी पाये जाते है, उनमे प्राय उक्त प्रकार के उदाहरणों का अभाव रहता है और हमे उनकी प्रामाणिकता स्वीकार करने का कोई साधन नही मिलता। इस कठिनाई का सामना हमे साधारणत उस समय करना पडता है जब हम किसी सत की विविध रचनाओ को एकत्र कर उसकी 'ग्रथावली' के सम्पादन का काम हाथ मे लेते है और जब हमे कभी-कभी एक वृहत् ग्रथराशि मे से केवल उन्ही को चुनना रहता है जिनका निर्माण वस्तुत- उसके द्वारा हुआ होगा तथा शेष को अस्वीकृत करने के लिए हमें उपयुक्त कारण भी देने पड जाते हैं।

अतएव, सत-साहित्य के मूल पाठो की प्रामाणिकता का निर्णय करने तथा उनके पुन-

रुद्धार मे सफल होने के लिए हमे अपनी दृष्टि न केवल हस्तलिखित प्रतियो मे उपलब्ध पक्तियो पर डालनी पडेगी, अपितु अपना ध्यान अनेक प्रासगिक बातो की ओर ले जाना पड़ सकता है। तभी हमारे द्वारा उन दोनो प्रकार के भ्रमो का पूर्ण निराकरण भी होगा जिन्हे हम प्राय 'चाक्षुष' एव 'ममज्ञसबधी' भूलो (अर्थात् क्रमश visual errors and psychological errors) के नाम दिया करते है। इनमे से प्रथम को दूर करने मे हमे यहाँ इस बात से सहायता मिल सकती है कि हम उन्हे सहसा भ्रमात्मक अथवा दोषजन्य ही न स्वीकार कर ले, प्रत्युत इसके साथ ऐसी धारणा को भी प्रश्रय दे कि वे बाते प्रयोगरूढिता के कारण भी सभव हो सकती है। इसी प्रकार उक्त दूसरे से भी बचने मे हम उस परिज्ञान द्वारा लाभ उठा सकते है जो तद्विषयक मूल परिस्थितियो से सबध रखता हो। सत-साहित्य की रचनाओ के लगभग आदिकाल, अथवा कम से कम सत कबीर के समय से ही उसमे बहुत-सी ऐसी अभिव्यक्तिपरक शैलियो का समावेश होता गया तथा उनके लिए ऐसे अनेक विशिष्ट शब्दो का प्रयोग भी होने लगा जिनके मूल कारण तत्कालीन परिस्थिति मे भी ढूंढे जा सकते है। एक विशेष प्रकार के वातावरण एव क्रमागत परम्परा ने सत कबीर के सस्कारो मे कुछ अपूर्वता ला दी, जिसके आधार पर निर्मित उनके विलक्षण व्यक्तित्व के कारण अनेक विचित्र कथन-शैलियो को प्रेरणा मिली तथा अनेक शब्दो के स्वरूप मे भी स्थिरता आ गयी। उनके अनुसरण वा अनुकरण मे परवर्त्ती सतो द्वारा क्रमश प्रोत्साहन मिलता गया जिससे वैसी प्रवृत्तियो मे उत्तरोत्तर प्रौढता आती चली गयी। इसके परिणामस्वरूप जो कुछ भी सामने आया उसे हमे रूढिवत स्वीकार करना पड गया। इस कारण ऐसे प्रयोगो को हम न तो सहसा भ्रमात्मक ठहरा सकते है, न इनकी प्रामाणिकता मे वैसा सदेह प्रकट कर सकते है। यहाँ पर भाषाशैली एव छद-योजना से अधिक ध्यान भाव की ओर देने तथा अधिकतर विशिष्ट प्रयोग-रूढियो के लिए छूट देते रहने की प्रवृत्ति अपेक्षित होगी।



मुंशीराम शर्मा

जायसी की विरहानुभूति का आध्यात्मिक पक्ष

अध्यात्म-प्रधान कवियो की वाणी मे सयोग की अपेक्षा विरहानुभूति की जो तीव्रता प्रतिपादित हुई है, वह उनकी सहज साधना की परिचायिका है और इसी आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद के ऋषि ने अपने प्रभु से वियोग का अनुभव करके ही कहा था, 'कब मैं उस वरुण, वरणीय देव के अन्तस्तल मे, क्रोड मे प्रवेश करूँगा ? क्या वह मेरे समर्पण को स्वीकार करेगा ? कब मै प्रसन्न मन से उसके दर्शन कर सकूँगा ?' (७–७६–२)। साधनो का उल्लेख करते हुए वैदिक ऋषि शारीरिक दमन के साथ मन के सयम को भी विस्मृत नही करते। प्रभु की पूजा करनी है तो शरीर का, इन्द्रियो का दमन तो करना ही पडेगा, मन को भी वश मे करना होगा।[1]

योगदर्शन के अष्टागो मे भी शारीरिक और मानसिक तप वर्णित हुए है। ब्रह्मचर्य शारीरिक तप है तो अहिंसा और सत्य मानसिक तप के अन्तर्गत है। वैसे दोनो ही एक दूसरे पर अवलम्बित है। एक की साधना दूसरे की साधना मे सहायक ही नही होती, उसे प्रभावित भी करती है। साधना क्लेश-बहुल है, पर इन क्लेशो को साधक स्वेच्छा से वरण करता है। वह जानता है कि यही क्लेश उसे ऐहिकता से हटा कर आध्यात्मिकता की ओर ले जायँगे, पृथिवी से छुडा कर उसे द्युलोक मे प्रविष्ट करेंगे। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पदमावत' मे लिखा है—'जो दुख सहै होइ सुख ओका। दुख बिनु सुख न जाइ सिव लोका ।।'

साधक अपने प्राणाधार की प्राप्ति के लिए अनवरत रूप से चतुर्दिक् भ्रमण करता रहेगा, वह उस पथ पर अपना सर्वस्व तक निछावर कर देगा, अपने अग-अग को तप की भट्ठी मे डाल कर भस्म बना देगा और क्षण भर के लिए भी उसे तब तक स्थिरता या सतुष्टि प्राप्त नही होगी, जब तक वह अपने प्रियतम के द्वार पर उसकी एक झलक प्राप्त न कर ले। प्रिय के पथ मे उसकी आँखे बिछी रहती है और हृदय मे एक ही लालसा जाग्रत रहती है— 'कब सो घरी करै तहँ फेरा।' अर्थात् कब वह पुनीत घडी उदय होगी जब उसका प्रिय उसकी आँखो के आगे उपस्थित होगा।

अध्यात्म-पथ के पथिक जायसी ने सात समुद्रो के वर्णन रूप मे जिन विघ्नो का उल्लेख किया है और उनके बहाने जिन विकट कष्टो का निर्देश किया है, उनसे प्रिय की ओर ले जाने

---

१. यो अग्नितंन्वो दमे देवं मर्तः सपर्यंति। – ऋ० ८-४४-१५।
युञ्जानः प्रथमं मनः तत्वाय सविताधिय। – यजु० ११-१।

वाले मार्ग की भीषणता का थोडा सा अनुमान तो हो ही जाता है। वेद ने अधम, मध्यम और उत्तम तीन पाशो का नाम लिया है, जिन्हे तम, रज और सत के आवरण अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहा जा सकता है। साधक जब तक इन पाशो, आवरणो और शरीरो से मुक्ति न प्राप्त कर ले, तब तक प्रिय की सधस्थता कहाँ है? स्थूल शरीर के मोह और लोभ दो साथी है, सूक्ष्म शरीर के साथ द्वेष और क्रोध लगे है, कारण शरीर से मद और अहकार का सबध है। लोभ पार्थिव पदार्थो के साथ होता है और मोह परिवार के प्रति। लोभ और मोह का एक जोडा है। द्वेष मे ईर्ष्या रहती है और वह मन मे छिपा भी रहता है, क्रोध मे अन्दर की द्वेषाग्नि भडक उठती है। द्वेष और क्रोध का दूसरा जोडा है, और दोनो की अभिव्यक्ति मनो-कामना की पूर्ति मे बाधक बनने वाले व्यक्ति के प्रति होती है। मद मे मानव अपनी ही महत्ता के चारो ओर चक्कर काटता रहता है और अपने बडप्पन के नशे मे किसी को कुछ भी नही समझता। अहकार मद का बडा भाई है जो धरित्री से लेकर स्वर्ग तक अपना विस्तार चाहता है। इस प्रकार मद और अहकार का तीसरा जोडा है। इन्ही को भारतीय मनीषियो ने षड्रिपुओ की सज्ञा दी है।

जायसी ने मोह को क्षार, लोभ को क्षीर, द्वेष को दधि, क्रोध को उदधि, मद को सुरा तथा अहकार को किलकिला समुद्र से उपमित किया है। मोह उमड कर विवेक, सत्य या वास्तविकता पर परदा डाल देता है। अत जैसे ही विवेक जाग्रत होगा, मोह भाग जायगा। मोह के कारण कभी मानव ऊँचा उठ जाता है और कभी नीचे गिर जाता है।[२] ऐसा मोह के आलम्बन के कारण होता है। वास्तविकता के प्रकट होते ही हमे मोह से मुक्ति मिल जाती है।[३] लोभ के सम्मुख माणिक्य, मोती और हीरे रहते हैं, जिन्हे देख कर मन अधीर होता है।[४] द्रव्य और उसका उपभोग मानव को प्रभु-सयोग के पथ से भटका कर विनाश की ओर उन्मुख कर देते है।[५] जायसी लोभ को दूर करने के लिए योग और त्याग के मार्ग पर चलने का उपदेश देते है। योग का मार्ग सब के स्थान पर एक के स्नेही बन जाने का मार्ग है।

द्वेष मे जलन है; पर यदि द्वेष के उद्देश्य को हम बदल सके, तो द्वेष का भाजन भी बदल जायगा। हम किसी से प्रतिस्पर्धा के कारण द्वेष करते है। प्रतिस्पर्धा ईर्ष्या पर अवलम्बित है। कोई हमसे लौकिक उन्नति की दौड मे आगे न निकल जाय; ज्ञान, बल या धन मे कोई हमारा प्रतिपक्षी न रहे, हमारे द्वेष का यही लक्ष्य है। इसके स्थान पर यदि हम अपनी न्यूनताओ को द्वेष का लक्ष्य बना ले तो दूसरो से द्वेष करने की अपेक्षा हम अपने पर ही झुंझलाने लगेगे। यह मन्यु की अवस्था है जिसमे मनन और अपने दोषो का परिमार्जन सम्मिलित है। जायसी ने इसीलिए लिखा है 'जो जाने सत आपुहि जारै'। यह अपने अवगुणो को जलाना है। यह द्वेष ऐसा दधि है जिसकी एक बूँद से ही द्रव्य-लोभ का समग्र दूध जम जायगा। दूसरो से द्वेष करना तो काँजी

---

२. खिन तर होहिं खिनहिं उपराही। —पदमावत ; सात समुद्र खण्ड, दोहा १। ३. जेहि सत टेकि करै गिरि काँधा। —वही। ४. दरब देखि मन होहि न धीरा। —वही, दो० ३। ५. पंथ भुलाइ बिनासै जोगू। —वही, दो० ३।

की बूँद है जो इसे फाडकर फैला देगी, दूध का भी जल बना देगी जिसकी प्रवृत्ति ही निम्नगा है। द्वेष से द्वेष बढता ही जायगा और वह हमे नीचे से नीचे गिराता जायगा।

द्वेष-दमन के लिए जायसी ने रूपक की लपेट मे प्राणायाम की ओर भी सकेत किया है। यह रूपक है लोभ-दूध को द्वेष-दधि से जमा कर मन की मथानी से सॉस की डॉडी (नौती) द्वारा हृदय या भाव की चोट दे-देकर साढी को फोडना और प्रेमरूपी घी को निकालना। इस क्रिया द्वारा द्वेष नही, प्रेम का विस्तार होगा। प्रेम ही द्वेष का शमन करने मे समर्थ है। द्वेष करना ही है तो दूसरो से नही, अपने दोषो से द्वेष करो। अपने दोषो से द्वेष तथा दूसरो के सद्‌गुणो से प्रेम जितना ही अधिक होता जायगा, उतना ही अधिक हम आत्मा के निकट आते जायँगे। प्राणायाम और हार्दिक प्रेम-भावना द्वेष के दूरीकरण की अमोघ ओषधि है। प्रेम की अग्नि मे जो जलन-क्लेश सहना पडता है, वह व्यर्थ नही जाता, एक न एक दिन सुफल लाता ही है।[६]

क्रोध भयकर है। यह भभकता है तो धरित्री से लेकर स्वर्ग तक को जला डालता है। शरीर की धरती और मस्तिष्क का स्वर्ग दोनो इसकी भीषण लपटो मे जलकर खाक हो जाते है। भौहे टेढी हो जाती है, ऑखो मे खून उतर आता है, नासिका के रध्र ज्वारभाटा बन जाते है और दॉत अधरों को चबाने लगते है। जैसे चूल्हे पर चढे हुए कडाह मे तेल खौलता है, वैसे ही सारा शरीर खौलने लगता है। न शरीर आपे मे रहता है, न दिमाग। इस क्रोध को बेध कर शासन मे रखने वाला प्रेम का मलयगिरि है। प्रेमरूपी चदन का सौरभ जहॉ-जहॉ पहुँचेगा, वही-वही क्रोध का वेग शात होता जायगा और क्या धरित्रीरूपी शरीर तथा क्या स्वर्गरूपी मस्तिष्क, सब के सब अपनी-अपनी स्थिति मे आ जायँगे।[७]

मद तो नशा है ही। मद मे ग्रसित व्यक्ति झूम-झूम कर चलता है।[८] उसका शिर फिर जाता है, सामान्य अवस्था मे नही रहता। दर्प से उन्मत्त बन कर वह कर्त्तव्य-पालन से भी विमुख हो जाता है। मै बहुत बडा हूँ, मेरा कोई क्या बिगाड सकता है ? मै यह भी नही करूँगा, वह भी नही करूँगा, देखे किसकी मजाल जो मेरी ओर ऑख भी उठा सके ? इस प्रकार मद-छत्र को ऊपर ताने हुए व्यक्ति दूसरो की तो अवहेलना तथा अपमान करता ही है, अपने सच्चे अभ्युत्थान का भी शत्रु बन जाता है। कर्त्तव्य-पथ पर पैर नही रखेगा, तो आगे बढ ही कैसे सकेगा ? जायसी कहते है नशा पीना ही है, तो प्रेम का नशा पियो और प्रेम के मार्ग मे सिर को पतगे की भॉति बलिदानी बनाओ। जब तक बलिदान की, त्याग की भावना जाग्रत न होगी, तब तक अपना खाद्य, साध्य या लक्ष्य भी प्राप्त नही होगा।

विघ्नो मे सबसे ऊपर अहकार है। जायसी ने इसे किलकिला समुद्र माना है, जिसके सामने सभी धैर्य छोड बैठते है और भयभीत बन जाते है। अहकार पर्वत की भॉति

---

६. प्रेम कैं आगि जरै जो कोई। दुख तेहि कर न अबिरथा होई॥ –वही; दो० ४। ७. यह जो मलयगिरि प्रेम कर बेधा समुद्र समीर। –वही; दो० ५। ८. जो तेहि पियै सो भांवरि लेई। –वही; दो० ५।

उठता है। इसके उठते ही समुद्र-मथन जैसी गभीर हलचल उत्पन्न हो जाती है, जो कभी-कभी प्रलय की भी सूचना देने लगती है।[९] अहकारी व्यक्ति का नेत्रस्फालन निखिल ब्रह्माण्ड को निगल जाने की आकाक्षा रखता है। कुभकार के चक्र की भाँति घूमता हुआ यह बढता ही जाता है और एक बार तो अपने सामने पडने वाले की हिम्मत पस्त कर ही देता है। साधक का सबसे बडा शत्रु यही है। साधना मे जो अतिम और सब से प्रबल सकट है, वह यही अहकार है।[१०] साधक को मत्य से विचलित करने वाला भी यही है।[११] इसकी तीव्रता और सूक्ष्मता दोनो ही अपने प्रभाव-चमत्कार से साधना-पथ को आक्रान्त कर देती है। जो साधक इनकी चपेट मे आ गया, वह नष्ट हो गया, पर जो इन से बच गया, वह स्वर्ग-सुख का अधिकारी भी निश्चित रूप से बन जाता है।

अहकार पर विजय प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता है।[१२] गुरु के रूप मे मानो हम अपने से बडे किसी व्यक्तित्व की सत्ता स्वीकार करने लगते है। गुरु का अर्थ ही महान् है। गुरुओ का गुरु तो परमेश्वर ही है, पर वह दृष्टिगोचर नही है। गुरु सदैव आँखो के आगे रहता है और साधक पल-पल मे उसकी अनुभूति से लाभ उठाता है। गुरु की गुरुता सदैव उसके समक्ष प्रस्तुत रहती है। अपने सामने एक महती सत्ता की अनुभूति साधक को अहकार से बचाने वाली है। गुरु का महत्व साधना-पक्ष मे इसीलिए अनिवार्य माना गया है। यही गुरु उस परम गुरु से मिलाने वाला है। पर यह गुरु वस्तुत गुरु हो, जो न तो स्वय स्वर्ग का राज्य चाहता है, न सिद्धिजन्य दैवी उपभोगो की आकाक्षा रखता है और न अपने शिष्य को ही उनके ऐश्वर्यों की ओर ले जाना चाहता है। गुरु और शिष्य दोनो ही केवल उसके दर्शनो के अभिलाषी हो, जिसकी प्रेम-तरगे प्राणिमात्र को अपनी ओर आकर्षित कर रही है। यह सत्ता निखिल सत्ताओ की मिति है, चेतनो मे चेतन है, देवो मे देव और ज्योतियो मे ज्योति है।

'पार्वती महेश खड' मे जब पार्वती सुरूपा अप्सरा बन कर रतनसेन के सामने मोहक चकाचौध उत्पन्न करने लगी तो रतनसेन ने साधक की दृष्टि से उसे उपयुक्त उत्तर देते हुए कहा था—

'अप्सरे! भले ही तू सुन्दरी हो, अनुपमेय स्वर्ग की निधि हो, पर मुझे तो पद्मावती के अतिरिक्त, अपने ध्येय से पृथक्, कोई भी अन्य आकर्षक प्रतीत नही होता। और मैं जो उसके स्मरण मे मरा जा रहा हूँ, उसका लाभ तो तू स्वय अपनी आँखो से देख रही है। देख, मैं अभी उसके लिए प्राण दे भी नही पाया, अभी तो केवल कष्ट सहन कर रहा हूँ, तप की ज्वाला को झेल रहा हूँ, इतने मे ही तेरी जैसी अप्सराएँ मेरी सेवा मे आकर खडी हो गईं। यदि प्राण दे दूँगा, तो स्वर्ग मे क्या बीतेगी, इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है।'[१३]

---

९. मायेरंभ समुद जस होई। भै परलय नियराना जबहीं।—वही; दो० ७। १०. एही ठांव सांकर सब काहू।—वही; दो० ७। ११. एही समुद आये सत डोला। वही; दो० ७। १२. एही ठांव कहँ गुरु सँग लीजिय।—वही; दो० ७। १३. पार्वती महेश खण्ड-दोहा; दो० ४।

साधक का लक्ष्य वही परम सत्ता होनी चाहिए। स्वर्ग लेकर वह क्या करेगा।[१४] पार्थिव सुखो की भाँति स्वर्गिक सुखो की भी एक सीमा है। साधक का सुख, उसका चरम आनन्द तो प्रभु की प्राप्ति है। यह एकनिष्ठ प्रेम से ही सभव है जो स्वर्ग-सुख को भी निकट खीच लाता है। हाँ, साधक उसके आकर्षण-पाश मे आबद्ध नही होता। वह स्वर्ग-सुख को भी लात मार देता है। गुरु-कृपा उसे प्रभु-कृपा तक पहुँचा देती है जिससे वह प्रभु-प्रेम को, भगवद्भक्ति को भुक्ति और मुक्ति दोनो के ऊपर प्रतिष्ठित करने मे समर्थ हो जाता है।

ऊपर जिन विघ्नो तथा विघ्न-जन्य क्लेशो की ओर सकेत किया गया है, वे सभी साधको की अनुभूति के विषय है। इन क्लेशो से साधक घबडाता नही है। गुरु ने उसके अन्दर प्रभु-वियोग की जो चिनगारी डाल दी है, उसको सुलगाने तथा प्रज्वलित करने मे वह लगा रहता है। क्लेशो का वरण मानो उस चिनगारी को जाज्वल्यमान रूप देने मे उसका सहायक बनता है। जो सहायक है उसे तो अपनाया ही जाता है, दुतकारा नही जाता। लौकिक वियोगी भले ही क्लेशो से भयभीत हो, पर परमार्थ-प्रेमी तो वियोग की अनुभूति को अपना सर्वप्रमुख सहारा समझता है। अत वियोग की अनुभूति मे आ जाने वाले क्लेशो का भी वह स्वागत करता है। वियोग को दूर करने वाले जितने साधन हैं, वे सब उसे प्यारे है। जो आवरण उसे प्रभु के सम्मुख जाने से रोकते हैं, उन्हे तो हटाना ही पडता है। तिल-तिल जलते हुए, आवरण के एक-एक अवयव को चीरते हुए, उसे अपने प्रिय के पास पहुँचना है। षड्रिपुरूपी छ समुद्र पार करके अन्त मे रतनसेन भी सत के प्रशान्त मानसर मे पहुँच ही गया।

विघ्न तो आते ही रहते हैं, पर जो साहसी है, वे विघ्नो पर विजय प्राप्त कर ही लेते है। जो साधक हिम्मत छोड देगा, वह घुन की भाँति सूखा काठ ही खाता रहेगा, पर भ्रमर की भाँति जो लगन से चलता रहेगा, उसे कमल-रस रूप आनन्दमय प्रभु का रसास्वाद प्राप्त होगा ही। सत्वगुण रूपी मानसरोवर की प्रशान्त स्थिति तम तथा रज के अन्धकार, रात्रि की कालिमा और मोह, द्रोह आदि बटमारो की चोटो से बचाने वाली है। वहाँ निर्मल प्रकाश की किरणें हैं जिनके पडते ही साधक 'अस्ति अस्ति' का भान करने लगता है। इसी मानसर मे साधक को अपने से पूर्व सिद्धि प्राप्त करने वाले सिद्धो, हसो, मुक्तात्माओ के दर्शन होते है। यही आत्मज्ञान होता है और यही से परमात्म-प्राप्ति। यह वियोगानुभूति है जो साधक को क्लेश-कष्ट, दु ख-दाह सबसे पार करती हुई उसके प्रिय से मिला देती है—

जो अस आव साधि तप जोगू। पूजैं आस मान रस भोगू॥

---

१४. हो कविलास काह लै करऊँ।—वही दो० ४।



उमाशकर जोशी

कविकर्म

काव्य-रचना की प्रक्रिया का परिचय कवियो, काव्य-विवेचको एवम् मनोवैज्ञानिको ने देने का प्रयत्न अवश्य किया है। फिर भी एक वस्तु पर प्रकाश डालने मे ये समस्त प्रयत्न अधूरे ही रहे है। कवि-चित्त मे काव्यकृति का प्रारभ किस प्रकार होता है? इस प्रश्न का उत्तर किसी को प्राप्त नही होता। 'चलो,चले, आज तो काव्य की रचना करे—'इस सकल्प-शक्ति के बूते पर कोई कवि-समर्थ कवि भी काव्य की सृष्टि नही कर सकता। काव्य का आविर्भाव जब होना होता है, तभी होता है, यह बात कवि की इच्छा-शक्ति के बस की नही।[1] काव्य-सर्जन के प्रथम क्षण मे तो कविता और रहस्यदर्शिता (mystcısm) का सखी-सबध रहता है।

उस क्षण सर्जक-कवि अपने चित्त मे किसी सचार, स्पदन, सरसराहट का अनुभव करता है। नाटक का कोई पात्र जिस प्रकार अपटीक्षेप से रगभूमि पर आकर प्रकट होता है, उसी प्रकार कविचित्त मे अनायास ही कुछ प्रादुर्भूत हो जाता है। उस समय वह हमेशा सुस्पष्ट एव सुरेख भी नही होता, धुँधला-सा प्रतीत होता है। फिर भी वह तुरत ही कविचित्त को वश मे कर लेता है और कविचित्त भी सामने से उसे पकडने को प्रवृत्त होता है और दोनो के परस्पर-कार्य (ınter-actıon) का प्रारभ होता है।

इन क्षणो मे कवि को बहुधा कृति की बीज-रूप कल्पना, प्रतिरूप या प्रतीक अथवा कृति की सूक्ष्म रूपरेखा अथवा जैसा कि कइयो के उदाहरणो मे होना सभव है, एक या अधिक पक्तियाँ प्राप्त हो जाती है। वालेरी कहता है कि काव्य की एकाध पंक्ति तो प्रभु या प्रकृति प्रदान करती है (une ligne donnéé)। वह यही प्रारभ की देन ही है।

हम यह कहने की स्थिति मे नही हैं कि वह क्षण कब आयेगा, कैसे आयेगा। यह भी नही कहा जा सकता कि कोई प्राकृतिक दृश्य, कोई मानवीय सबध या एकाएक किसी के द्वारा जाग्रत स्मृति उस क्षण को निमत्रित कर देगी। किसी समय किसी पुस्तक को पढते-पढते या उसके अशो का स्मरण करते-करते चित्त निस्पद रुक जाये और वह उस क्षण के आगमन का अवसर हो। कभी-कभी तो शारीरिक थकान की अवस्था मे भी, हाथ मे लिया हुआ काम—व्यावहारिक काम—पूरा होने के पश्चात् वह क्षण इस प्रकार प्रकट होता है मानो देर से प्रतीक्षा कर रहा हो।

---

१. 'A man cannot say, "I wıll compose poetry." The greatest Poet even cannot say ıt;. . '—Shelley, *Defence of Poetry*.

यह भले ही न कहा जाय कि वह क्षण कब प्रकट होगा, पर इसमे तो जरा भी सदेह नही कि कवि उसे आँख के इशारे से ही पहचान लेता है।

यह तनिक गूढ-सी प्रक्रिया 'प्रेरणा' के नाम से पहचानी जाती है। कोई कविचित्त को प्रेरित करता है, उसे धक्का देता है। प्रेरणा के लिए अग्रेजी शब्द 'inspiration'—अत श्वसित—कविचित्त मे होनेवाली प्रक्रिया पर प्रकाश डालनेवाला है।

प्रेरणा के पश्चात् तत्काल ही होनेवाले रचना-कार्य मे कई बार वह इतनी सक्रिय बन जाती है कि कविचित्त पक्ति-खड या पूर्ण पक्तियाँ वेगपूर्वक नोट करने लगता है। कई उदाहरणो मे यह देखा गया है कि यह प्रक्रिया काफी देर तक सक्रिय रहती है और कवि धडल्ले के साथ अवतरित पक्तियो को अकित करता जाता है—कुछ पक्तियाँ पूर्ण नही होती, बीच मे शब्द बाकी रहते हैं। कवि उन रिक्त स्थानो को छोडकर आगे बढता है। कई पक्तियाँ तो अपने एक से अधिक रूप एक साथ प्रकट करती है। पसदगी के लिए बिना रुके उस समय कवि उन्हे लिखकर अग्रसर होता है।

कवियो और काव्यरसिको के द्वारा सर्जन-काल की इस प्रेरणा की प्रक्रिया की महिमा सामान्यतया गायी जाती है। कवि शेली[2] सर्जन मे प्रवृत्त चित्त की 'बुझते अगारे' की उपमा देता है और यह कहता है कि किसी अदृश्य 'प्रभाव' के वशीभूत होकर वह क्षण भर प्रकाशित हो उठता है। 'यह प्रभाव यदि अपने मूल शुद्धि एवम् शक्ति के साथ टिक जाय तो उसके परिणाम के रूप मे महत्त्व की आगाही करना असभव है, किन्तु जब रचना-कार्य प्रारंभ होता है, उसके पूर्व प्रेरणा कब की विलुप्त होने लगी होती है और ससार तक पहुँची हुई सबसे अधिक गौरवशाली कविता भी कदाचित् कवि की मूल विभावना की पाडुर छाया मात्र हो।'[3]

अनायास ही प्राप्त आरभ की वस्तु के विषय मे इस प्रकार के महिमा-वचनो के उद्गार तो समझे जा सकते है, परन्तु काव्य-रचना के बारे मे आज तक जो कुछ भी जाना जा सका है, उससे यह स्पष्ट है कि आरभ मे प्राप्त वस्तु को चाहे जितना गौरव प्रदान करे, फिर भी 'कवि की मूल विभावना' क्या थी—इसका अदाज़ तो काव्य का सर्जन पूर्ण होने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकता है, उससे पूर्व नही। और इस बीच मे कवि की कार्रवाई[4]—आप चाहे तो उसे

---

२. ' . for the mind in creation is as a fading coal, which some invisible influence .awakens to transitory brightness, .' *Ibid* ३. 'Could this influence be durable in its original purity and force, it is impossible to predict the greatness of the results, but when composition begins, inspiration is already on the decline, and the most glorious poetry that has ever been communicated to the world is probably a feable shadow of the original conceptions of the poet.'—*Ibid.* ४. **अंग्रेजी** Poem **शब्द ग्रीक** Poieo make **(निर्माण करना) से संबद्ध है। (एक भाषाविद् इस ग्रीक शब्द का संबंध संस्कृत 'पुंस्' से समझता है)।**

दस्तदाजी भी कह सकते है—शुरू हो चुकी होती है। जिस प्रकार प्रारभ की प्रेरणा के अभाव मे काव्य सभव नही है, उसी प्रकार कवि के इस कौशल के बिना भी काव्य का होना असभव है। स्वय शेली ने मेडविन को अपने एक पत्र मे यह लिखा है कि 'कविता का बीज नैसर्गिक एव अ-वैकल्पिक है, किन्तु उसके विकास के लिए अत्यन्त परिश्रम करना पडता है।'[५]

कविकर्म की पहली भूमिका वह है जब कि कवि प्रेरणा का वह क्षण या क्षणाश प्राप्त करता है – जिसकी योजना करना कवि के लिए सम्भव नही, जिसमे कवि के कार्य का आरभ हो चुका है और कतिपय उदाहरणो मे तो प्रेरणा सक्रिय भी दृष्टिगोचर होती है, वह है दूसरी भूमिका, तीसरी भूमिका काव्य के सर्जन की समाप्ति तक की है। प्रेरणा किस विषय की प्राप्त हुई थी—इसका पूर्णरूपेण वास्तविक परिचय तो तीसरी भूमिका की परिसमाप्ति के पश्चात्—काव्य के रचे जाने के बाद ही प्राप्त करना सभव है। सच बात तो यह है कि दूसरी और तीसरी भूमिका का भेद करना समुचित नही, क्योकि जब प्रेरणा सक्रिय प्रतीत होती है तब भी कवि की प्रवृत्ति का प्रारभ हो ही चुका होता है और तीसरी भूमिका मे भी एकाग्रता द्वारा—(एकाग्रता के लिए प्रत्येक कवि का भिन्न साधन होता है। शिलर के जैसे कवि टेबल मे सडी हुई सेव रखते है, कोई सिगरेट के कश लगाता रहता है, कोई चाय या काफी पीता रहता है इत्यादि।) प्रेरणा की सक्रियता की स्थिति तक पहुँचे बिना काम नही चलता। प्रेरणा-क्षण की पकड दूसरी भूमिका मे मजबूत होती है। पर यदि वह कभी भी शिथिल हो तो कृति सपूर्ण रची ही नही जा सकती। कॉलरिज कहता है कि महाकाव्यो की रचना मे बीस वर्ष लगते है। इसका यह अर्थ है कि प्रेरणा-क्षण के वश मे कविचित्त बीस वर्ष तक रहता है। महाकाव्य को गौरव प्रदान करने के लिए यह एक सत्य बात है—ऐसा मै मानता हूँ। जिसने कविचित्त को वर्षो तक विश्राम नही लेने दिया वह प्रेरणा वास्तव मे मानवजाति के लिए अति अमूल्य होनी चाहिए। दूसरी और तीसरी भूमिकाओ मे प्रेरणा-क्षण की पकड कभी भी छूटने नही पाती और दूसरी ओर कवि का कार्य भी दूसरी भूमिका के आरभ से ही शुरू हो गया होता है।

तो, पहली भूमिका प्रेरणा-क्षण की और दूसरी भूमिका प्रेरणा-क्षण की पकड के अतर्गत होनेवाले रचनाकार्य की—इस प्रकार दो ही भूमिकाओ की गणना करना कदाचित् अधिक उचित है। छोटे-छोटे भाव-गीतो की रचना मुख्य रूप से दूसरी भूमिका के आरभ मे ही समाप्त हो जाती है, महाकाव्यो और पद्य-नाटचो के सबध मे यह भूमिका सुदीर्घ काल तक रहती है। गीत हो या महाकाव्य, अत मे वह किस प्रकार की रचना होगी—इसका यथार्थ ज्ञान तो स्वय कवि को भी उसकी समाप्ति के पश्चात् ही होता है। काव्य-रचना की प्रक्रिया मे प्रेरणा की महत्ता को न समझने वाले का गीति-काव्य की रचना के प्रति, और कवि की प्रवृत्ति की महिमा न समझ सकने वाले का महाकाव्य के प्रति ध्यान आकर्षित करना चाहिए।

---

५. 'The source of poetry is native and involuntary, but requires severe labour in its development.'—Shelley in a letter to Medvin, *The World of Poetry*, edited by Clive Sansom, p. 112.

कहा जाता है कि दर्शन एव वर्णन के कारण कवि कवि है। परन्तु यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वर्णन के पूर्ण होने के पूर्व दर्शन का क्या रूप था। यदि कोई कवि यह कहे कि मुझे इस प्रकार की प्रेरणा प्राप्त हुई है, इस प्रकार का दर्शन हुआ है और मै अब उसका वर्णन करना चाहता हूँ, उसे शब्दबद्ध करना चाहता हूँ तो हम उससे कह सकते है कि जो आप कहते है, ठीक उसी प्रकार का आपको दर्शन प्राप्त हुआ हो तो आपके ये शब्द ही उसका वर्णन है, अर्थात् आपका काव्य तो इन शब्दो मे रचा जा चुका है, फिर अब अन्य प्रयत्न की आवश्यकता क्या है ? अथवा यह माना जाय कि आप यह जो कुछ कह रहे है, ठीक उसी प्रकार का हूबहू आपका दर्शन नही है। साक्षात् रचना मे सलग्न होकर भाषा द्वारा काम करते-करते ही अत मे दर्शन या प्रेरणा के सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। भले ही कवि अपने मनोभावो को किसी से कहे या मित्र को पत्र मे निर्दिष्ट करे अथवा अपने उपयोग के लिए तत्सबधी गद्य टिप्पणियाँ लिखे, किन्तु अत मे जो काव्य-कृति साकार होती है वह तो उसके उपर्युक्त प्रारभिक कथन से भिन्न प्रकार की ही होती है। थोडे ही समय मे रचित (रच जाते-से प्रतीत होते) गीति काव्य के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। ध्रुव पक्ति के सूझते ही यदि कवि अपने मन मे कहे कि सारी रचना इस प्रकार की होगी तो उसकी यह उक्ति असामयिक एव अयथार्थ ही है, भाषा द्वारा काम करते-करते अत के समीप पहुँचने के पहले या अत तक, उसे स्वय भी उस रची जानेवाली कृति के विषय मे सपूर्ण ज्ञान नही होता। कुछ सूझा है और मै उसे काव्य मे प्रकट कर रहा हूँ—बात ऐसी नही है। जो कुछ भी सूझा है, काव्य के ही रूप मे सूझा है और उस काव्य-रूप के पूर्णतया प्रस्फुटित होने के पूर्व यह कैसे कहा जा सकता है कि क्या सूझा है ?

'कुछ सूझा है—' यो कहना प्रेरणा या दर्शन या इसी प्रकार के अन्य शब्दो से मुझे अधिक उचित लगता है। वैयक्तिक जीवन मे अनुभूत कवि का भाव, काव्य मे अभिव्यक्त भाव और रसिक-भावक द्वारा अनुभूत भाव—इन तीनो मे भिन्नत्व है। कवि का मूल भाव कोई एक होता है और वह भाव अपना कार्य कर जाता है। परतु काव्यकृति मे कवि का वह मूल वैयक्तिक भाव कही ढूँढने पर भी प्राप्त नही होता। साधारणीकृत होकर उसने काव्यरूप धारण कर लिया है। आचार्य अभिनवगुप्त के कथनानुसार कवि-गत साधारणीभूत सवेदन काव्य के रूप मे प्रकट हुआ है और वही रस है जो भावक द्वारा अनुभूत होता है।[६]

किसी एक भाव के साधारणीकृत रूप मे प्रस्तुत हो सकने की सभावना है—यह अनुभव कर, फिर कवि यह जानने के लिए भाषा द्वारा प्रयत्नशील होता है कि उस वस्तु मे कितना क्या है। रचना की समाप्ति पर उसे यह अनुभव होता है कि उसका साधारणीभूत सवेदन साकार हुआ है और तत्पश्चात् वह भाषा द्वारा कार्य करना बद करता है। अत मे रचना के रूप मे कविगत साधारणीभूत सवेदन प्रकट हुआ है। यह 'कवि-सविद' है जो स्वयमेव रस है

६. 'कविगतसाधारणीभूत संविन्मूलश्च काव्यपुरः सरो नट व्यापार', सैव च संवित् परमार्थतः रसः।'—अभिनव भारती। इसके साथ ही अभिनवगुप्त के गुरु भट्ट तौत का वचन ध्यान में रखना उचित है : 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।'

अर्थात् जिसकी अनुभूति काव्यानुभव के समय भावक को होती है याने जो भावक-सविद के तुल्य है।

काव्य सूझा अथवा प्रेरणा प्राप्त हुई—इसका यह अर्थ है कि किसी भावानुभव के परिणाम स्वरूप मनुष्य को यह प्रतीत होता है कि मेरी मानवीय सविद मे, भावको की सविद के साथ समानता स्थापित करने की कवि-सविद की शक्यता है। एक उदाहरण ले एक व्यक्ति प्रेम मे है। यह प्रेमानुभव उसका अपना मानव के रूप मे व्यक्तिगत अनुभव है। किन्तु प्रियतमा सामने खडी है और प्रेमानुभव के उस क्षण के साथ ही कवि-सविद की सभावना उसके हृदय मे चमक उठती है। तत्काल ही प्रेमी के रूप मे उसकी जो मानवीय सविद थी उससे उसका रस हट गया और उसमे स्थित कवि-सविद की सभावना मे वह लवलीन हो गया। दूसरे शब्दो मे—विधि की वक्रता को उल्लिखित कर कहे तो—सामने खडी हुई प्रियतमा के साथ समान अनुभव मे निमग्न होने का त्यागकर, उसके ही साथ के अनुभव के फलस्वरूप, भिन्न-भिन्न देश और काल के अज्ञात तथा अभी तक बहुतेरे अज्ञात भावको की सविद के साथ समान अनुभव की उपलब्धि की सभावना के प्रति वह आकर्षित हुआ।

मानवीय सविद मे से कवि सविद प्रकट करने की सभावना का इगित ही प्रेरणा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह कवि-सविद, कविगत साधारणीभूत सवेदन ही भावक के द्वारा आस्वादित रस है और काव्य उसका माध्यम है, अत यदि हम प्रेरणा की प्राप्ति की घटना को 'काव्य सूझने' की शब्दावली द्वारा प्रकट करे तो अधिक युक्तियुक्त होगा।

काव्य सूझा है, मिला नही है। यही नही, वह क्या है, इसका भी पूरा पता नही। काव्य तक पहुँचने के लिए भाषा का आधार ग्रहण करना पडता है। भाषा के शब्द सार्थ होते है और प्रत्येक शब्द का अर्थ बाह्य जगत् से सबद्ध रहता है। काव्य-रचना मे, शब्द-योजना करते समय, कवि बाह्य जगत् के अपने अनुभवो का किस रीति से समावेश करता है, यही महत्त्व की बात है।

अनुभवात्मक बाह्य जगत् काव्य मे यथारूप नही रहने पाता, भाव से परावर्तित होकर परिवर्तित हो जाता है। कविता का जगत् भावजगत् है। रगभूमि पर अभिनीत नाटक मे आलबन विभाव के रूप मे दुष्यत और शकुतला प्रस्तुत होते है, वे लौकिक दुष्यत और शकुतला नही है। कालिदास की कृति की शकुतला और किसी अन्य की कृति की शकुतला मे समानता नही होती, इससे भी यही सूचित होता है कि कवि-कृति मे जगत् के मनुष्य का वही-का-वही रूप नही रहता। अभिनवगुप्त का विभावो को बार-बार अलौकिक के रूप मे अभिहित करना समुचित ही है।

काव्य-रचना के लिए भाषा का उपयोग करने के साथ अनुभवात्मक जगत् भावजगत् मे परिवर्तित होने लगता है। कवि भले ही यह माने कि वह अपनी प्रियतमा पर काव्य लिख रहा है, भीतर या शीर्षक मे प्रियतमा का नामोल्लेख भी भले ही वह करे, यदि वह कृति काव्य बन पायी हो तो उसके अनुभव की प्रियतमा के स्थान पर उसमे भावमय अलौकिक व्यक्ति ही प्रवेश कर गया होगा।

फिर भी भले ही भावमय रूप मे, अनुभावात्मक जगत् का बहुत सारा, कवि की रचना मे प्रवेश कर जाता है। कवि का अपना प्रत्यक्ष अनुभव ही नही, अपितु कल्पना द्वारा अनुभूत विषय, अनेक सत्य या कल्पित अनुभवाशो के आधार पर सयोजित सामग्री भी रचना मे प्रवेश पाये हुए रहती है। इस विषय मे कवि की स्मृति अनुभव या अनुभवाश लाकर कवि के समक्ष उपस्थित कर देती है। काव्य-रचना के लिए उपयुक्त अनुभव अथवा अनुभवाश, जागतिक व्यवहार मे जैसे माने जाते है, वैसे महत्वपूर्ण न भी हो, वे उनके समान हो, जो जगत् मे सामान्य, मूल्य-हीन और विस्मरणीय समझे जाते है, फिर भी काव्य-रचना के लिए वही उपयुक्त होते हे और स्मृति उसी सामग्री को कवि के समक्ष ला उपस्थित करती है। महान् कवि की यह एक विशेषता होती है कि जो कुछ भी उसके अनुभव मे आता है, उसमे से अधिकाश किसी न किसी प्रकार उसकी काव्य-सृष्टि मे औचित्यपूर्वक प्रवेश कर जाता है, अलबत्ता, कविता मे प्रवेशित जगत् के अनुभवो की इस सामग्री का भावमय रूपातर हो ही जाता है।

कवि यह कार्य भाषा के माध्यम से करता है। कुतक ने इस प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया है[७] — कवि के आन्तर-परिस्पद (प्रेरणा) के परिणामस्वरूप वास्तविक जगत् के पदार्थ उसके चित्त मे भावमय अलौकिक रूप मे प्रकट होते है और वह उस भावमय विषयवस्तु का वर्णन करने की क्षमतावाले शब्द-चयन करता है—अर्थात् कवि के अनुभव की जागतिक विषयवस्तु अपना जागतिक स्वरूप त्यागकर कविचित्तमे भावमय बन जाती है और शाब्दिक रूप मे परिवर्तित हो जाती है। अनुभव-वस्तु के भावमय रूप के साथ शाब्दिक रूप का पूर्ण सामजस्य होता है। इसी कारण हमे 'साहित्य' की कृति प्राप्त होती है। शाब्दिक रूप का जो साहित्य (सहितता) सिद्ध होता है वह कवि की मूल अनुभव-वस्तु के साथ नही, किन्तु उस मूल अनुभव-वस्तु के भावमय रूप के साथ होता है।

यह तथ्य एलियट की दृष्टि के बाहर रह गया सा प्रतीत होता है। हेम्लेट के कला-तत्त्व की आलोचना करते हुए एलियट ने अपना सुप्रसिद्ध 'विषयगत सहसबधक' (objective correlative) का सिद्धात प्रतिपादित किया है। 'कला के रूप मे भाव को व्यक्त करने का एक मात्र मार्ग, विषयगत सह-सबधक की खोज करने का ही है, दूसरे शब्दो मे वस्तुओ का एक सबद्ध समूह, एक घटना, प्रसगो की शृखला—जो उस 'विशेष' भाव का सूत्र बना रहे, इस प्रकार कि जब उन बाह्य घटनाओ को, जो इन्द्रियगम्य अनुभव मे परिणत होनी चाहिए, पेश किया जाय तब वह भाव तुरत ही उद्दीप्त हो।'[८]

---

७. **'कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणं, यस्मात् प्रतिभायां तत्कालोल्लिखितेन केनचित् परिस्पन्देन परिस्फुरन्तः पदार्थाः प्रकृतप्रस्तावसमुचितेन केनचिदुत्कर्षेण वा समाच्छादितस्वभावाः सन्तो विवक्षाविधेयत्वेनाभिधेयतापदवीम् अवतरन्तः तथाविधविशेष प्रतिपादनसमर्थेन अभिधानेन अभिधीयमानाः चेतनचमत्कारिताम् आपधन्ते।'—वक्रोक्तिजीवित।**

८. 'The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative', in other words, a set of objects, a situation,

यहाँ एलियट को आरभ मे तो कवि के नही, किन्तु पात्र के भाव अभिप्रेत हो, ऐसा प्रतीत होता है। वह कहता है—'अपने भावो के विषयगत तत् समान रूपो की अनुपस्थिति के कारण होनेवाली हेम्लेट की उलझन, उसके निर्माता की अपनी कला-विषयक समस्या से भेट करते समय अनुभूत उलझन का ही विस्तार रूप है।'[९] परन्तु विषयगत 'सहसबधक' के महत्त्व की इस सारी चर्चा मे, एलियट के मन मे, कवि के मूल भाव के विषयगत सहसबधक को ढूँढना है या पात्र के भाव को—ये दो प्रश्न परस्पर घुलमिल जाते-से प्रतीत होते है। आगे जाकर वह कवि के मूल भाव पर बल देता हुआ जान पडता है। 'हेम्लेट के पात्र मे, कार्य मे मार्ग न ढूँढ सकनेवाले भावो का परिहास है, नाटककार मे जिसे वह कला मे अभिव्यक्त कर नही सकता, ऐसी एक वृत्ति का परिहास है।'[१०]

यदि एलियट का यही कथन है कि कवि द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत भाव जब अपना विषयगत सहसबधक खोज ले तभी उसे कला-स्वरूप प्राप्त होता है, तो हमे यह स्वीकार्य है। परन्तु, ऐसी स्थिति मे, उस मूल भाव का, एलियट जैसा चाहता है वैसा, 'विशेष' रूप टिकने का नही बल्कि यहाँ यह स्पष्ट ध्यान मे रहना चाहिए कि काव्य मे मूल भाव को अपने 'विशेष' रूप मे हूबहू जगाना है ही नही।

अन्यत्र उसका यह कथन कि 'जो सक्रात करना है वह तो काव्य स्वयम् ही है'[११], यथार्थ परिस्थिति को निरूपित करता है। फ्रेन्च महान् कवि वालेरी ने काव्य-रचना की प्रक्रिया की समस्या को समझने की काफी कोशिश की है। कुल मिलाकर, कविकर्म के प्रारभ के विषय मे उसका प्रतिपादन लगभग कुतक का-सा ही है। वालेरी कहता है कि काव्य याने 'एक प्रकार का भाव, एक विशेष भावस्थिति, जो नितात भिन्न प्रकार की वस्तुओ एव परिस्थितियो से जाग्रत हो सकती है। नैसर्गिक दृश्य के काव्यमय होने की बात हम कहते है, जीवन के किसी प्रसग के विषय मे भी हम उसी प्रकार के उद्गार प्रकट करते है, कभी-कभी किसी व्यक्ति के बारे

---

a chain of events which shall be the formula of that *particular* emotion, such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked '—T. S. Eliot, *Selected Essays*, p. 145 ९ '. Hamlet's bafflement at the absence of objective equivalent to his feelings is a prolongation of the bafflement of his creator, in the face of his artistic problem '—*Ibid* p 145 १० 'In the character Hamlet it is the buffoonery of an emotion which can find no outlet in action; in the dramatist it is the buffoonery of an emotion which he cannot express in art.'—*Ibid* p. 146 ११. ' that which is to be communicated is the poem itself, and only incidentally the experience and the thought which has gone into it.'— T. S. Eliot, *The Use of Poetry & the Use of Criticism*, p. 30

मे भी हम उसी तरह कहते है।'[१२] और फिर वह यह बताता है कि 'काव्य' एक सकुचित अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। यह काव्य एक ऐसा विचित्र उद्योग है कि जिसका ध्येय प्रथम प्रकार के काव्यमय भाव (poetic emotion) को पुन सर्जित करना है।[१३] 'काव्यमय भाव को स्वेच्छानुसार पुन सयोजित करना—जिन प्राकृतिक सयोगो मे वह स्वयभू रीति से प्रकट होता है, उनसे स्वतत्र भिन्न रीति से, और भाषा के कृत्रिम साधनो द्वारा—यह है कवि का लक्ष्य ।'[१४]

कवि के अनुभव की जागतिक विषय-वस्तु, कवि का मूल अनुभूत भाव-शब्द द्वारा कवि पुन प्रकट करता है, ऐसा उपर्युक्त कथन से वालेरी को अभिप्रेत हो, ऐसा लगता है। परन्तु वालेरी आगे जाकर अपना अभिप्राय अधिक स्पष्ट करता है।

सर्वप्रथम 'सामान्य भाव और काव्यगत भाव (poetic emotion) का विरोध यथाशक्य स्पष्टतापूर्वक' समझ लेने का वह अनुरोध करता है।[१५] सामान्य-भाव याने कवि और भावक दोनो का भाव—वालेरी को शायद यह अभिप्रेत हो और फिर वह कहता है कि "यह भेद करना एक कोमल कर्म है, क्योकि वस्तुत वह कदापि सिद्ध नही होता। मनुष्य यह हमेशा देखता है कि तात्त्विक काव्यगत भाव के साथ वैयक्तिक कोमलता, शोक, रोष, भय अथवा आशा सम्मिलित हो जाती है और व्यक्ति के विशिष्ट रस एव अनुराग कविता—जिसमे एक विश्व होने के अनुभव (sense of a universe) की-सी लाक्षणिकता प्रकट होती है—के साथ जुडे बिना नही रहते।

मैंने कहा—'एक विश्व के होने के अनुभव की-सी लाक्षणिकता', इससे मै यह कहना चाहता हूँ कि मुझे काव्यगत स्थिति अथवा भाव एक खुलते जाते दर्शन (perception) मे—

---

१२. ' it indicates a certain kind of emotion, a special emotive state, that can be aroused by very differing objects and circumstances We say of a landscape that is poetic, we say the same of an event in life, we sometimes say it of a person.'—Paul Valery, *The Art of Poetry*, p 196. **१३. 'पोयटिक इमोशन' का अनुवाद प्रथम प्रकार (देखो पादटिप्पणी १२) के बारे में मैंने 'काव्यमय भाव' किया है, जहाँ काव्य कृति से उसका संबंध है वहाँ 'काव्यगत भाव' पर्याय रखा है।** १४. 'To reconstitute poetic emotion at will—independently of the natural conditions in which it is spontaneously produced—and by means of the artifices of language, this is the poet's aim,. '—Paul valery, *The Art of Poetry*, p. 157. **अन्यत्र वह** ' the essential principle of the mechanics of poetry, that is, of the production of the poetic state through speech' —**की बात करता है।** (*Ibid p* 200) 'poetic state **ही तो है 'कविसंविद'।** १५. 'We must contrast as clearly as possible, poetic emotion with ordinary emotion '—*Ibid* p. 197.

एक जगत् को, सबधो की पूर्ण योजना को देखने की वृत्ति मे समाये हुए प्रतीत होते है, उस योजना मे प्राणी, पदार्थ प्रसग और कार्य इस प्रकार के होते है कि उनमे से प्रत्येक, स्पर्शक्षम जगत् को—जिसमे से वे ऋण के रूप मे लिये गये है उस तात्कालिक जगत् को—भरे हुए और उसे आकार देने वाली उन्ही वस्तुओ मे से **प्रत्येक के साथ** समानता स्थापित करे, फिर भी वे सब वस्तुएँ हमारी साधारण सवेदनशीलता के प्रकारो और नियमो के साथ अव्याख्येय किन्तु चमत्कारिक ढग से सुनिश्चित सबध से जुडी हुई होती है। इससे इन सुपरिचित पदार्थों और प्राणियो का मूल्य किसी न किसी रीति से परिवर्तित हो जाता है। वे सामान्य स्थिति मे जिस प्रकार व्यवहार करते है उससे नितात भिन्न रीति से परस्पर व्यवहार करते है और सबद्ध होते है।"[१६]

कवि के अनुभव का वास्तविक जगत् कविता मे ठीक उसी रूप मे रहने नही पाता, किन्तु परिवर्तित हो जाता है और सभी मनुष्यो की साधारण सवेदनशीलता के साथ उसका सबध है। इस वस्तु का निर्देशकर वालेरी यह भी सूचित करता है कि कविगत साधारणीकृत सवेदन —जो काव्य के माध्यम द्वारा प्रकट होता है—की सभावना ने प्रेरणा के क्षण के साथ जन्म लिया है। एक 'विश्व' की झलक मिलने लगती है, पर वह 'विश्व' सुरेख प्रकट नही हुआ है। उसे प्रकट करने का कार्य भाषा द्वारा करना होता है। कवि को काव्य की शक्यता का पता लगता है और शक्यता का वह भान उसके चित्त को वश मे करता है और उस ओर से कविचित्त भी सर्जन-सभव काव्य को वश मे करने के लिए प्रवृत्त होता है। यह खीचातानी भाषा द्वारा चलती है।

सुरेख काव्य तक भाषा द्वारा पहुँचने का क्रम बडी कसौटी का है। भाषा जगत् के अनुभवो को व्यक्त करने के लिए निर्मित व्यावहारिक साधन है। उसे कविता मे नितात भिन्न ढग

---

१६. 'This is a delicate seperation to perform, for it is never accomplished in fact. One always finds tenderness, sadness, fury, fear, or hope intermingled with the essential poetic emotion, and the particular interests and affections of an individual never fail to combine with that *sense of a universe* which is characteristic of poetry I said · *sense of a universe* I meant that the poetic state or emotion seems to me to consist in a dawning perception, a tendency toward perceiving a *world*, or complete system of relations, in which beings, things, events, and acts, although they may resemble, *each to each*, those which fill and form the tangible world—the immediate world from which they are borrowed— stand, however, in an indefinable, but wonderfully accurate, relationship to the modes and laws of our general sensibility. So, the value of these well-known objects and beings is in some way altered They respond to each other and combine, quite otherwise than in ordinary conditions.' —*Ibid* p. 197-198.

से प्रयोजित करने का प्रसग आता है। शब्द अनुभवात्मक जगत् का निर्देश करने के अभ्यस्त है। अब उन्हे कविता के आत्मपर्याप्त, आत्मनिर्भर जगत् का ही निर्देश करना है, याने काव्य मे जब वे प्रयोजित हो तब उन्हे बहिर-निर्देशक न रहकर अतर-निर्देशक होना है। भाषा से इस प्रकार का काम लेते समय कवि को भाषा की रचना के साथ छूट लेनी पडती है और काव्य के इष्ट हेतु के लिए उसे जोतना होता है। भाषा मोडने पर मुडनेवाला एक लचीला साधन है, फिर भी वह काफी प्रतीकार भी करती है। भाषा की वर्ण-सघटना (ध्वनि-रचना) एव अर्थ-सघटना को अपने हेतु के लिए कार्यक्षम रीति से सुयोजित कर कवि उससे सारा काम लेता है, याने छद, अनुप्रास, उपमादि अलकारो, प्रतिरूपो, प्रतीको इत्यादि के द्वारा वह काम लेता है। अनेक शब्दो की ध्वनियो और अर्थो के द्वारा उन सबको एक सूत्र मे आबद्ध कर अपेक्षित कार्य सम्पन्न करवाना तो कवि की कसौटी है ही। पर साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना है कि भाषा के साधन को आवश्यकतानुसार मोडना चाहिए, लेकिन इस हद तक नही कि वह टूट जाय। शब्दो की अतर्-निर्देशक शक्ति काव्य-सृष्टि के लिए प्रयोजित की जाय, विकसित भी की जाय, पर शब्दों की बहिर्-निर्देशक शक्ति का सर्वथा ध्वस न होने पाये, अन्यथा वह निरा आत्मसभाषण ही बन जायगा।

भाषा के साधन से काम लेना बडा विकट कार्य है। वालेरी बताता है कि सगीतकार के साधनो की तुलना मे कवि के साधन अधिक अनिश्चित होते है। आगे चलकर वह यहाँ तक कहता है कि—'जिन प्रश्नो को हल करना होता है उनके विषय मे यदि तनिक भी समानता रहती तो कवि होते ही नही। (यदि चलने की क्रिया के लिए यह चाहे कि उसके छोटे से छोटे डग के हिस्सो के बारे मे स्पष्ट जानकारी समझ मे और पकड मे आनी ज़रूरी मानी जाय तो कोई चलने को सीखे ही नही)।'[१७] भाषा कवि की कसौटी करनेवाला, माध्यम है, अत काव्य-सर्जन के पश्चात् कलाकार-कवि को—उसे प्राप्त करने की शक्यता को उसने पूरी तरह आजमाया है—इस बात का सतोष कई बार नही होता। वालेरी कहता है—"कविता पर अधिक श्रम करने की आदत के कारण सारी भाषा और पूरी लिखावट को सदा ही इच्छानुसार फिर से साथ मे लिया जा सकता है। लगभग इस प्रकार मानने का स्वभाव पड गया है। और मै यह मानता हूँ कि स्वयम् कार्य का अपना मूल्य है, और वह सामान्यत समूह द्वारा अकित कृति के मूल्य से विशेष।"[१८]

---

१७ 'There would have been no poets if there had been any awareness of the problems to be solved (No one would learn how to walk if walking demanded that one realize and grasp as clear ideas all the elements of the smallest step)—*Ibid*, p 200. १८. 'The habit of long labour at poetry has accustomed me to consider all speech and all writing as work in progress that can nearly always be taken up again and altered, and I consider work *itself* as having its own value, generally. much superior to that which the crowd attaches only to the *product*.'—*Ibid*, p 177.

फिर आगे कहता है— 'एक कृति अवश्यमेव कदापि पूर्ण नही होती, क्योकि जो उसका निर्माण करता है वह पूरा नही ।'[१९]

कविकर्म के बारे मे वह कहता है कि 'उसमे मनुष्य को अनत यातनाओ, असमाधानकारी विवादो, कसौटियो, समस्याओ और निराशाओ से भी भेट होती है, जो कवि के शिल्प को सबसे अनिश्चित एवम् श्रमदायी बना देता है। माल्हेर्ब (Malherbe) कहा करता कि एक श्रेष्ठ सॉनेट को पूर्ण करने के पश्चात् कर्ता को दस वर्ष के विश्राम का अधिकार है। और उसने यह भी सूचित किया कि 'एक पूर्ण किया हुआ सॉनेट'—इन शब्दो का कुछ अर्थ होता है। यदि मै अपनी बात कहूँ तो मै शायद ही इन शब्दो को समझ सकता हूँ।'[२०]

एलियट वालेरी के 'The Art of Poetry' (दी आर्ट ऑव पोएट्री) के प्रवेशक मे[२१] लिखता है—'मेरी धारणा है कि वालेरी जब यह कहता है कि, काव्य कभी पूर्ण नही होता तब उसके मन मे क्या है। उसे मै समझता हूँ। मेरी दृष्टि मे उन शब्दो का यह अर्थ है कि काव्य 'पूर्ण हुआ' है, अथवा—मैंने अपनी साधन-सम्पन्नता पूरी तरह खर्च कर दी है और उस काव्य को मै जितना अच्छा बना सकता था उतना अच्छा वह बना है—इस प्रकार का मुझे विश्वास हो गया है, अत मै उसे फिर कभी छूऊँगा भी नही। वह बुरा काव्य भी हो सकता है। पर मुझसे जो कुछ भी हो सका, किया। इससे ज्यादा अच्छा नही बनेगा। फिर भी मै यह सोचे बिना नही रह सकता कि माना कि वह अच्छा काव्य है तथापि, यदि मै ज्यादा अच्छा कवि होता तो उमे मै विशेप सुन्दर बना सका होता—उसी काव्य को विशेष सुन्दर ।'

कविकर्म के ज्ञाता दो उत्कृष्ट कवियो के ये निवेदन अकित करने मे मेरा हेतु कविकर्म का विकट-प्रवृत्ति होने का मात्र निर्देश करना ही नही है, अपितु मैं इस वस्तु के प्रति भी ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि कवि जब काव्य-रचना मे इतनी एकाग्रता एवम् प्राणपण से सलग्न हो तब—(उस समय के लिए तो) उसका चित्त कदाचित् ही इस विचार मे रुकता है कि वह दूसरो को कुछ सप्रेषित (communicate) करना चाहता है। जब तक काव्य-रचना की प्रक्रिया चलती रहती है तब तक कवि के समक्ष किसी अन्य को कुछ सप्रेषित करने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। कवि के मूल भाव को वाचक के चित्त मे सप्रेषित करना

---

१९. 'A work is never necessarily *finished*, for he who made it is never complete, ' *Ibid* p 177 २० 'One meets endless torments there, disputes with no solution, tests, emigmas, cares and even despairs, which make the poet's craft one of the most uncertain and exhausting. Malherbe .used to say that after finishing a good sonnet, an author has the right to ten years' rest And he even implied that the words, *a finished sonnet,* meant something As for me, I hardly understand them I translate them by *abandoned sonnet*' —*Ibid*, p 212.
२१. introduction, the art *of Paetry*, p. xiii

है—इस अर्थ मे अवगमन (communication) का प्रश्न ही नही है, क्योकि मूल वैयक्तिक भाव तो काव्य मे टिकने ही नही पाता। किन्तु कविगत साधरणीकृत सवेदन, कवि-सविद काव्य के माध्यम द्वारा भावक-सविद के तुल्य बनती है। इस दृष्टि से अवगमन अवश्य होता है। अभिनवगुप्त रस-सवेदन के लिए 'अवगमन' शब्द प्रयुक्त करते है। कविगत सवेदन की भावक को प्रतीति हो, उसीका नाम है 'अवगमन करना' और वही है रस-सवेदन।

इस अर्थ मे अवगमन (communication) काव्य का चरम हेतु है। यो भी, यदि अवगमन का बिलकुल आशय ही न हो तो कवि सार्वजनिक व्यवहार के साधन भाषा का आधार ही क्यो ले? कोई कहेगा आत्माभिव्यक्ति के लिए। परन्तु अवगमन के न सधने की स्थिति मे आत्माभिव्यक्ति भी कदाचित् ही सिद्ध हो पाती है। मरे क्रीगर[२२] कहता है कि बीजरूप मे सब अस्पष्ट ही था। उसे विशद, सुरेख करने के लिए काव्य रचने की आवश्यकता हुई। विशदता भाषा के उपयोग द्वारा ही आयी। भाषा एक व्यवस्था है जो अन्य किसी भी व्यवस्था की भॉति कार्य करने के लिए अपने कुछ नियमो—अर्थ विषयक अन्वय के नियमो—पर आधार रखती है। तो फिर, प्रेरणारूप आकार-विहीन विचारो को इन नियमो के वश मे करना आवश्यक है, ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि वे विचार निश्चित रूप से क्या है? अराजकताप्रिय मस्तिष्कवाला कवि यदि इस कार्यपद्धति के सिद्धातो की उपेक्षा करे तो भाषा का उपयोग करने के बावजूद भी उसके विचार वैसे ही अव्यक्त (अव्याख्यात) रहेगे जैसे पहले थे। अभिव्यक्ति का कार्य है निश्चित विचार। अतएव आत्माभिव्यक्ति के लिए भी अवगमन की सिद्धि अनिवार्य है।

कविसविद जहॉ काव्य रूप मे प्रकट हुई कि कविकर्म समाप्त हुआ। 'कारयित्री' प्रतिभा का कार्य पूरा हुआ। अब भावक की, सहृदय की 'भावयित्री' प्रतिभा उस काव्य के अनुभव द्वारा कवि-सविद के तुल्य बनकर रस-सवेदन प्राप्त करती है।

कविसविद-कविगत साधरणीभूत सविद ने यथातथ्य ज्योही काव्य रूप मे शब्दावतार ग्रहण किया कि कवि ने अपनी कलम एक ओर रख दी। कवि के भीतर के काव्य-निर्माता ने जो क्षण काव्य-समाप्ति का माना वही क्षण उसमे निवासित भावक के लिए रससवेदन का है, बल्कि यो कह सकते है कि भावक के रूप मे प्राप्त उसके रससवेदन ने ही उसे काव्य-रचना की समाप्ति की भी प्रतीति करवायी। शब्द-सृष्टि की सहायता से कवि ने स्वयम् रसानुभव किया, याने आत्मस्थ साधारणीभूत सवेदन का यथार्थत अनुभव किया। इसलिए अब उसे यह विश्वास हो गया कि दूसरो के लिए भी रसानुभव की (अपनी कविसविद के साथ एक-रूप होने की) शक्यता अपनी इस नवनिर्मित काव्यकृति के द्वारा प्रकट हुई। काव्यरचना की पूर्णाहुति का क्षण ही कवि की कारयित्री–भावयित्री प्रतिभा के युगपत् आविर्भाव का क्षण है। कृति का सर्वप्रथम सहृदय भावक कवि स्वयम् ही है। अब अन्य भावको को काव्यरचना की परिसमिति के क्षण कवि मे

---

२२ Murray Krieger, *The New Apologists for Poetry*, p 72 लेखक ड्यूई-कृत 'discharge' और 'expression' के भेद *Art as Experience* pp. 60-64) के प्रति भी ध्यान आकृष्ट करता है। —(*Ibid*, p. 208.

प्रकटित भावयित्री प्रतिभा के साथ समानता सिद्ध करनी है अभिनवगुप्त ने योग रीति से ही निर्दिष्ट किया है कि कविसविद ही वस्तुत रस है, किन्तु कविसविद क्या वस्तु थी, इसका अदाज़ तो काव्यकृति के द्वारा ही हम भावक पा सकते है। उस काव्य मे कविसविद यथार्थ रूप मे अवतरित हुई या नही, इसका निर्णय तो अततोगत्वा कवि के भीतर के भावक ने ही कर लिया होता है। आचार्य अभिनवगुप्त 'ध्वन्यालोक' की अपनी टीका 'लोचन' के आरभिक श्लोक के 'सरस्वत्यास्तत्व कविसहृदयाख्य ' इन शब्दो मे सरस्वती के तत्त्व का 'कवि-सहृदय' से नामकरण करते है। कवि और सहृदय दोनो एक ही व्यक्ति हे—ऐसा अर्थघटन कर सके, इस प्रकार की उनकी शब्दयोजना है। काव्यनिर्माण के क्षण एक ही व्यक्ति के दोनो स्वरूप—कवि एव सहृदय—के समानरूप हुए होते है और अन्य सहृदयो के लिए कवि के साथ वैसी समान-रूपता प्राप्त करने की सभावना तत्पश्चात् प्रगटित करते है। इस अर्थ मे सरस्वती का सारतत्व काव्य निर्माता मे कवि सहृदय के रूप प्रादुर्भूत हुआ—यह देखा जा सकता है।[२३]

उत्तम काव्य के निर्माता कवि मे उत्तम विवेचन-शक्ति है, यह बात इस घटना मे ही अभिप्रेत है कि उसने काव्यकृति को सिद्ध किया है। वह फिर वास्तव मे विवेचन करे या न करे, उसकी विवेचनशक्ति का प्रमाण उसकी काव्य-रचना मे निहित ही है। कई कवि विवेचना भी करते रहे है और कविता-विवेक की गहरी सूझ का परिचय देनेवाले कई कवि विवेचको के नाम सर्वोपरि है कालरिज, ग्युईथे (Goethe), एज़रा पाउड आदि के कविता-विवेक सबधी उद्गार अभिप्रायगर्भित एवम् महत्त्वपूर्ण है।

यदि काव्य-रचना की प्रक्रिया उपर्युक्त प्रकार की हो—अनुभवात्मक जगत् काव्य मे परिवर्तित हो जाता है, काव्य पूर्वनिर्णीत किन्ही विषयो का पद्यानुवाद नही है, किन्तु उसके रचे जाने के पश्चात् ही यह स्पष्ट होने की सभावना रहती है कि वह किस विषय का था—तो इससे यह साफ ज़ाहिर होता है कि बहिर्-तत्वो को काव्यदेह कहनेवाला, भाट होने का धर्म, प्रेरणा या सदेश देने का धर्म तथा ऐतिहासिक पार्ट अदा करने का धर्म—ये सब कदापि कविधर्म नही हो सकते। रहस्यदर्शिता का वाहन होना कविधर्म है—ऐसा माननेवाले भी ठीक नही कर रहे है, क्योकि वे कवि से सिर्फ लिपिक होने से अधिक की अपेक्षा नही रखते। कला द्वारा सुख देना कविधर्म है—इस प्रकार की मान्यता भी समुचित नही। मानवजाति भारी असुख सहकर

---

२३. क्रोचे सर्जक कवि की मनोमयी अभिव्यक्ति को कला कहता है और शब्ददेह को सहायक भौतिक पदार्थ के रूप में परिचय देता है। परन्तु यह स्मृति-सहायक तो सर्जक की ही स्मृति के लिए मदद रूप हो सकता है और इसके द्वारा मूलतः अनुभव की हुई आन्तरिक अभिव्यक्तिरूप आध्यात्मिक कला का वह फिर से अवश्य आनन्द ले सकता है। परन्तु सर्जक कवि के अतिरिक्त अन्य भावको के लिए यह मूल अनुभव है ही नहीं। उनका क्या? इस प्रश्न का उत्तर क्रोचे के देने का है। कवि, काव्य और भावक इस त्रिपुटी का संबंध जोड़ने में इन आचार्यों की और बालेरी की विचारणा कुछ अधिक संतोषजनक है।

भी कलाओ को सँभालती है और कवि स्वय, जैसा कि हमने अभी देखा, काव्य-सर्जन के लिए अपार कष्ट झेलने की तैयारी बताता है। उक्त कविधर्म की मान्यता इन ठोस अनुभवो के विरुद्ध ठहरती है। यथासंभव उत्तम रीति से कविता-निर्माण करना—इसके अतिरिक्त कवि के लिए अन्य धर्म है नही।

काउन्ट द गॉबिनो ने चित्र, शिल्प, स्थापत्य और काव्य इन चार कलाओ के महान् प्रतिभाशाली कलाकार माइकेलेञ्जेलो के बारे मे एक नाटय-प्रसग अकित किया है जिसमे यह वस्तु मार्मिक ढग से सूचित की गयी है। माइकेलेञ्जेलो एक रात अपनी शिल्प कृति को पूर्ण करने के लिए छेनी चला रहे थे, इतने मे खबर आई कि प्रतिभाशाली नवयुवक चित्रकार रफायेलो की आखिरी घडी है। शिल्पकार्य अधूरा छोडकर उस आधीरात मे वह रफायेलो के घर की ओर जाने के लिए निकल पडे। रास्ते मे उन्हे यह सूचना मिली कि रफायेलो की आँख सदा के लिए मिच गयी। माइकेलेञ्जेलो ढाढस खो बैठते है, ज्यो-त्यो कर अपने कार्यकक्ष की ओर लौट पडते हैं। 'पिछले साल लियोनार्दो गये, आज रफायेलो । हम शक्ति का एक एक विन्दु सँभाले रहे और काम किये जायँ।'

सचमुच कविकर्म ही कविधर्म है।



विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

ग्वाल कवि

ग्वाल कवि वृन्दाबन के रहनेवाले थे और सेवाराम के पुत्र थे। इनका सबंध उत्तरप्रदेश के रामपुर दरबार से था। स० १९३० वि० में उर्दू के प्रसिद्ध कवि श्री अमीर अहमद मीनाई ने 'इतखावे यादगार' नामक पुस्तक मे हिंदी के जिन कई कवियो का वृत्त लिखा है उनमे एक ग्वाल कवि भी हैं। मीनाई साहब के समय मे ग्वाल कवि रामपुर दरबार मे थे, इसलिए उन्होने जो उल्लेख किया है वह प्रामाणिक है। उसके अनुसार स० १८५९ वि० मे इनका जन्म हुआ था। ये वृन्दावन के रहने वाले थे, पर अपने जीवन के अत में मथुरा मे रहे। विद्याध्ययन के लिए ये काशी आये और बरेली के श्रीखुशहाल राय के यहाँ अध्ययन किया। जिस समय ये विद्याध्ययन कर रहे थे उस समय एक मस्त फकीर आया और खुशहाल राय से पानी माँगा। पानी पीने के अनतर उसने खुशहाल राय से कुछ माँगने को कहा। उन्होंने अपने शिष्य ग्वाल के कवीश्वर हो जाने का वरदान माँगा। फकीर से तीन बार यही आकाक्षा व्यक्त की गयी। उसने पृथिवी पर से एक तिनका उठाकर इनकी जीभ पर कुछ लिख दिया और तीन बार सर पर हाथ फेरा, फिर कहा कि 'जा तू कवीश्वर हो गया।' कहते है कि उसके अनतर ग्वाल कवि बडे कुशाग्रबुद्धि हो गये। वहाँ से ये पजाब के महाराजा रणजीतसिह के यहाँ पहुँचे और बीस रुपये दैनिक वेतन पर काम करने लगे। रणजीतसिह के स्वर्गवास के अनतर उनके पुत्र शेरसिह के यहाँ भी रहे और उनसे जागीर पायी। उनके दरबार मे इनका बडा सम्मान था, यहाँ तक कि इनकी महाराज के बराबर कुर्सी लगती थी। शेरसिह के मारे जाने पर ग्वाल राय अपने घर लौट आये। वहाँ से लौटने पर रामपुर के नवाब साहब ने इनको अपने यहाँ बुलवाया और इनसे रामपुर मे रहने की बात कही, पर इन्होने सात महीने रहने के अनंतर रामपुर छोड दिया। उनकी नौकरी इन्होंने स्वीकार ही नही की। ६५ वर्ष की वय मे इनका शरीरपात हुआ। इस प्रकार सं० १९२४ वि० मे ये स्वर्गवासी हुए। उनके अनुसार इन्होंने चौदह पुस्तकें लिखी थी।

'शिवसिंहसरोज' मे इनके पाँच अतिरिक्त ग्रंथों का उल्लेख है—'साहित्यदूषण', 'साहित्य-दर्पण', 'भक्तिभाव', 'दोहा-शृगार' और 'शृगार-कवित्त।' 'मिश्रबधुविनोद' मे इनके दो ग्रंथ 'राधामाधवमिलन' और 'राधाष्टक' का उल्लेख हुआ है। 'खोज' मे इनके निम्नलिखित ग्यारह ग्रथो का उल्लेख है १ रसिकानन्द (१९००-८४), २ यमुनालहरी (१९०१–८८), ३ रसरंग, ४ अलकार-भ्रमभजन, ५ नखशिख, ६ हम्मीरहठ, ७ भक्तिभावन, ८ दूषण-दर्पण, ९ गोपी पच्चीसी, १० बसीबीसा, ११ कविहृदय-विनोद। इनके अतिरिक्त इन्होने अपने 'रसिकानन्द' ग्रथ मे 'नेहनिबाह' नामक ग्रथ का भी उल्लेख किया है। इनका एक ग्रथ 'कविदर्पण' नाम से श्री नवनीत जी चतुर्वेदी के पास था। इसी का दूसरा नाम 'दूषण-दर्पण' है। इन्होने 'यमुना लहरी' स० १८७९ वि० मे प्रस्तुत की—

'हम्मीरहठ' श्री चद्रशेखर वाजपेयी के 'हम्मीरहठ' की अनुकृति पर बना हुआ है। कथा और घटनाओ का रूप तक जो वहाँ है वही यहाँ भी। भेद केवल प्रणाली का है। यह रचना स० १८८३ वि० मे प्रस्तुत हुई थी—

सवत गुन सिधि सिधि ससी, कातिक कुहू बखान।
श्रीहमीरहठ प्रगट्यौ, अमृतसर सुभ थान॥

यद्यपि इन्होने रचना पर्याप्त परिमाण मे की है फिर भी इनके कार्य का गौरव कवि के रूप मे उतना नही है जितना रीतिग्रथकार के रूप मे। नखशिख, प्रकृतिवर्णन आदि रीतिबद्ध रचना के अतिरिक्त इन्होने रीति के कई लक्षणग्रथ प्रस्तुत किये है। अलकार पर 'अलकार भ्रमभजन', शृगार रस और नायिका-भेद पर 'रसरग', काव्यदूषणो पर 'दूषणदर्पण', पिगल पर 'प्रस्तार-प्रकाश' और साहित्यशास्त्र पर 'साहित्यानद' तथा 'रसिकानन्द' प्रस्तुत किये हैं। 'अलकार भ्रमभजन' की एक प्रति स्व० कन्हैयालाल जी पोद्दार के पुस्तकालय मे है। उसका कुछ अश उन्होने 'ब्रजभारती' मे मुद्रित भी कराया था और उनके ग्रथ के विषयविमर्श पर अपने विचार प्रकट भी किये थे। अलकार का लक्षण नये ढग का करने का इन्होने प्रयास किया है , उदाहरणतया—

रसआदिक ते व्यग्य ते, होय भिन्नता जाहि।
सब्दारथ ते भिन्न ह्वै, सब्दारथ के माहि॥
होइ विषम सबध करि, चमत्कार के कर्म।
ताही मो सब कहत है, अलकार इमि बर्न॥

ग्वाल कहना यह चाहते है कि रस जिस प्रकार शब्द से भिन्न होता है और व्यग्य जिस प्रकार शब्द से भिन्न होता है उसी प्रकार अलकार भी श ब्द से भिन्न होता है। पर ऐसा कहते हुए ये उसे शब्द और अर्थ दोनो से भिन्न कह रहे हे। तत्त्वत रस और व्यग्य पदार्थ रूप होते है। यह दूसरी बात है कि रस आस्वाद्य भी होता है, इसीलिए वह 'रस' कहलाता है। 'रसन' अर्थात् आस्वादन से 'रस' शब्द व्युत्पन्न है। रस व्यग्य होता है–अर्थात् उसकी व्यजना की जाती है, वह व्यग्यार्थ रूप मे काव्य मे आया करता है। अलकार का सबध वाच्यार्थ से होता है। अलकार एक प्रकार का अर्थ ही है। ग्वाल के कहने का तात्पर्य यह है कि अलकार रूप मे जो कुछ प्राप्त होता है वह कोश, व्याकरणादि से नियत मुख्यार्थ से कुछ भिन्न चमत्कार रूप होता है। इसी भिन्नता को लक्षित कर इन्होने अलकार को शब्दार्थ से भिन्न कहा है। इस प्रकार की भेदकता को बताने के लिए उसे विस्तार से समझाने की आवश्यकता है। यह लक्षण इन्होने 'कुवलयानद' की व्याख्या 'अलकार-चद्रिका' के आधार पर किया है जिसके व्याख्याता श्री वैद्यनाथ है—

अलङ्कारत्व च रसादिभिन्नव्यग्यभिन्नत्वे सति
शब्दार्थ्यान्यतरनिष्ठा या विषयिता सम्बन्धावच्छिन्ना
चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता तदवच्छेदकत्वम्॥

'अन्यतर' शब्द का अर्थ 'भिन्न' कर लेने से सारी गडबडी हो गयी है।

'रसरग' मे रसो का और नायकनायिका भेद का विस्तार से निरूपण है। जब ये वृन्दा-बन से मथुरा सुखवास करने लगे तब १९०४ वि० मे इसका निर्माण हुआ—

४ ० ९ १
सबत बेद रव निधि ससी माधव सित पख सग।
पचमि ससि कौ प्रगट हुअ ग्रथ जु यह रसरग॥

इसमे इन्होने अपने आधारग्रथ 'रसतरगिणी' का स्पष्ट उल्लेख किया है। छल सचारी के सबध मे ये लिखते है—

भानुदत्तजू नै लिख्यौ, रसतरगिनी माहि।
नूतन इक औरो बनत छल सचारी चाहि॥—रसरग, प्रथम उमग, १९।

इसके अत मे शातरस के अतर्गत 'गुरूपदेश' और 'भक्तपक्ष' शीर्षक से बहुत से उदाहरण सकलित किये गये है। केशवदास की भाँति इन्होने भी भाव के चार भेद माने है—विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और सचारी भाव—

भाव सु चारि प्रकार है, कहियत प्रथम विभाव।
पुनि कहि थाई भाव को, लिखिहौ फिर अनुभाव।
पुनि सचारी भाव सो, द्विविध होत कबि-ईस।
मन-सहाय सौ तनज बसु, मनज कहत तैतीस॥

विभाव और अनुभाव को 'भाव' का भेद कहना ठीक नही है। इसका यह तात्पर्य नही है कि विभावादि का स्वरूप इन्हे स्पष्ट नही था। विभाव का लक्षण लिखते हुए ये आलबन और उद्दीपन दोनो के स्वरूप को स्पष्ट करते है—

हेतु रूप औ वृद्धिकर, रस को सो जु बिभाव॥
दोइ भाव की सगता, सो बिभाव बरनाव॥

नायकनायिका-भेद के प्रसंग मे इन्होने नायक के भी जातिगत भेद लिखे है। कामतत्र की बातो का अधिक विस्तार साहित्य के गाभीर्य को क्षति पहुँचाता है। नायिकाओ के पद्मिनी आदि भेदो का उल्लेख तो किसी हद तक माना भी जा सकता है, क्योकि इनका उल्लेख साहित्य की परपरा में कभी-कभी हो जाया करता है, पर नायक के पाचालादि भेद यहाँ अनावश्यक प्रतीत होते है। ऋतुवर्णन आदि मे इन्होने राजसी ठाटबाट का भरपूर उल्लेख किया है। दरबार मे रहनेवाले कवि भी कभी-कभी साहित्यसीमा की व्याप्ति बहुत सकुचित कर लिया करते थे। ग्वाल मे इसके उदाहरण स्थान-स्थान पर मिलते है।

रसो के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ आदि भेद 'रसतरगिणी' के ही अनुगमन पर दिये गये हैं। स्वनिष्ठ भेद रौद्र और वीर रस मे नही होते। अन्य छ रसो मे दोनो भेद होते है। स्वनिष्ठ और परनिष्ठ का अर्थ यह है कि जब दूसरे को किसी रस मे लीन देखकर कोई उस रस मे लीन होता है तो वह 'परनिष्ठ' होता है, जैसे किसी को हँसते हुए देखकर कोई व्यक्ति विभाव का ग्रहण कर हँसने लगे तो वह परनिष्ठ हास्य होगा।

हसन्तमपर दृष्ट्वा विभाव चोपजायते।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञै परस्थ परिकीर्तित॥—रसतरगिणी।

'दूषणदर्पण' मे दोषो का विचार किया गया है। इसमे ग्वाल ने दोषो के उदाहरण हिंदी

कवियो से चुने है और उनकी विस्तृत व्याख्या की हे। उदाहरण एक से अधिक दिये है। बिहारी के बहुत से उदाहरण दिये गये है। ग्वाल कवि ने 'नाक', 'पेट' और 'गाल' शब्दो को हिंदी मे ग्रामीण माना है। बिहारी के 'जटिल नीलमनि जगमगति सीक सुहाई नाक' के 'नाक' मे ग्रामीण दोष कहा है। उन्होने 'आँख' और 'कटि' को भी ग्रामीण कहने के बाद यह कहा है कि इन्हे ग्रामीण दोष से मुक्त किया जा सकता है। यद्यपि इनके कथित दोषो के सबध मे मतभेद हो सकता है तथापि यह धारणा कि हिंदी मे अपने ही उदाहरण सर्वत्र दिये गये है, ठीक नही। ग्वाल कवि कविरूप मे चाहे उतने उत्कृष्ट न हो पर आचार्य के रूप मे इन्होने पर्याप्त सग्रह किया है और अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छी काव्य-चर्चा की है। जिन श्रीपति की प्रशस्ति इस बात को लेकर की जाती है कि उन्होने 'काव्यसरोज' के दोषप्रकरण मे केशवदास के बहुत से उदाहरण उद्धृत किये है उनसे कही अधिक विस्तृत दोष की चर्चा और हिंदी के कवियो के कही अधिक उदाहरण इस ग्रथ मे दिये गये है। 'कटि के तट हार लपेटि लियो कटि किकिनि लै उर सौ उरमाई' का विचार करते हुए इन्होने लिखा है कि 'कटि किंकिनि' मे 'कटि' शब्द अधिक है। 'उरमाई' शब्द बुदेलखड की बोली का है। हिन्दी के इन रीतिग्रथकार कवियो ने हिंदी की परपरा और उसके दोष का जितना विचार किया है उस सब का सग्रह किया जाय तो इस प्रकार की पर्याप्त सामग्री मिल सकती है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इनमे आलोचना की समयानुरूप दृष्टि थी। यह ग्रथ महाराज रणजीतसिंह के मुसाहिब लहना सिह के आश्रय मे लिखा गया है। ये लहनासिह मजीठा नगर के रहनेवाले थे। जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट है—

लहनासिह महाराज को, नगर मजीठा चारु।
जिन दीनो तिन सबन को, मीठा लगत अपारु॥

वे लिखते है—

चाहै तौ रचना करै, ग्रथ सँकरन आप।
पै फुरसत कमती बहुत, प्रजापाल की छाप॥
याते कृपा सनेह करि, बोले बचन नवीन।
कबिदर्पन अभिधान करि, रचौ ग्रथ एक बीन॥
रोग दोष सम ग्रसित कहुँ, सुखद काव्य की देह।
बिन बिचार कहुँ कहत है, अविचारित दुखगेह॥
जो कविदर्पन-सम सदा, निरखै याहि बनाय।
कबिता दर्पन माहि तिहि दोष न दरसै आय॥

इसमे सरदार साहब की भी रचना दी गयी है—आरभ मे एक उदाहरण लीजिए—

भई नाहिं भेट आज अली री सहेटहू मैं लागी चेत चेट स्व पठाई प्यारी आरसी।
जाकी दुति दीह देखि दामिनि दबत हीय ससि और सूर हू की भूमि जात कारसी।
ताकी कहै कौन कबि सुषमा बखानि सकै आरसी सी आरसी सो प्रानन पै आरसी।
जात सुखसार सी लगाई हिय आरसी पै प्यारी बिन आरसी लगी है हाय आरसी॥

'रसिकानन्द' ग्वाल कवि का सबसे प्रथम लक्षणग्रथ है। यह केवल अलकारग्रथ नही है, जैसा भ्रम से समझा जाता रहा है। इसमे 'काव्यनिर्णय' की भाँति नायिका-भेद सहित पूरे रस-

चक्र का वर्णन है। ग्वाल कवि की विशेषता इसी ग्रथ के द्वारा पूर्णरूप मे प्रकट होती है। नायिका-भेद के अष्ट और दस भेदो पर इन्होने विस्तृत विचार किया है। इनका कहना है कि कोई आठ, कोई नौ, कोई दस भेद मानते है। इनके अनुसार आठो मे अतिरिक्त दो का अतर्भाव नही हो सकता। यह स्मरण रखना चाहिए कि सस्कृत मे आठ ही भेद माने जाते है। 'रसमजरी' मे प्रोस्यत्पतिका नवाँ भेद प्राचीन परपरा के अनुसार सूचित किया गया है। हिंदी मे आगतपतिका नया भेद माना गया है। 'रसिकप्रिया' के अनुसार इन्होने अभिसारिका के तीन भेद माने है—कामाभिसारिका, प्रेमाभिसारिका और मत्ताभिसारिका। इन्होने पद्मिनी आदि को जातिभेद, दिव्यादिव्य को अशभेद, उत्तमादिक को गुणभेद, स्वकीयादि को कर्मभेद और मुग्धादिक को वय-भेद बताया है। दर्शन के इन्होने सोलह भेद किये है—श्रवण, चित्र, स्वप्न और प्रत्यक्ष तो प्रसिद्ध है ही। इन प्रत्येक के बोल, गुण, पत्र और नादध्वनि से चार-चार और सूक्ष्म भेद किये है। इन्होने नायक के भी जातिगत भेद 'रसरग' के अनुसार इसमे दिये हैं। कुलपति के काव्यलक्षणादि का खडन भी किया है।

रसविमर्श भी इन्होने विस्तृत किया है। भक्तिसप्रदाय के दास्य, सख्य, वात्सल्य की भी चर्चा की गयी है और कहा गया है कि ये तीन रस गौडेश्वरो के ग्रथ 'भक्तिरसामृतसिधु' मे वर्णित है, पर 'साहित्यदर्पण' मे केवल वात्सल्य ही गृहीत हुआ है। प्राचीन प्रथानुसार दास्यादि को इन्होने शात के साथ माना है। सक्षेप मे कह सकते है कि ग्वाल कवि ने रीतिग्रथो के लिए सस्कृत का पर्याप्त वाङ्मय आलोडित किया था। इन्होने यथास्थान दूसरे कवियो के उदाहरण बराबर दिये है। कविरूप मे ग्वाल कवि का महत्व चाहे उतना न हो पर रीतिग्रथकार के रूप मे इनका पूरा महत्व माना जाना चाहिए। हिंदी-रीतिशास्त्र की परपरा मे सस्कृत-आधारग्रथो का कदाचित् सबसे अधिक आलोडन करनेवाले ये ही हुए है। इनका एक 'साहित्यानन्द' ग्रथ भी है, वह इससे भी विस्तृत जान पडता है। इसमे नायिकाभेद और रस का ही विस्तृत विचार हैं। पर उसमे कदाचित् शब्दशक्ति आदि का परिपूर्ण विवेचन किया गया है। यही कारण है कि उसका नाम 'साहित्यानन्द' रखा गया है।

'रसिकानद' नाभा के जसवतसिह के आश्रय मे लिखा गया है, जिन्हे इन्होने शालिवाहन का वशज लिखा है और जिसकी परपरा यो दी है फूलसिह, त्रिलोक सिंह, गुरुदत्त सिंह—सूरतिसिह—हमीरसिह—जसवतसिह। इसमे इन्होने शास्त्र के आदि निर्माता नदीश्वर, गौणिका-पुत्र, भरत, बामन और वादरायण का नाम भी दिया है। ग्रथ का निर्माणकाल स १८७९वि० है—

९ ७ ८ १
समत निधि रिषि सिद्धि ससि स्यामपक्ष मधुमास।
आदितवार सु द्वादसी रसिकानद प्रकास॥

मागध, बदी और सूत शब्दो की व्याख्या विभिन्न व्याकरण और धार्मिक ग्रथो के आधार पर इन्होने दी है और 'बदी' शब्द को स्तुति करनेवाले अर्थ मे स्वीकार किया है। इसका धातु 'वद्' माना है। अपना वशवृक्ष इन्होने यो दिया है—माथुर—जगन्नाथ—मुकुन्द—मुरलीधर—सेवाराय—ग्वाल।

●

आनन्दप्रकाश दीक्षित

मधुमती भूमिका

केशव प्रसाद जी ने 'मेघदूत' के पद्यानुवाद की भूमिका मे पहली बार इस विषय की चर्चा की थी। उनके पश्चात् बाबू श्यामसुन्दरदास ने उसे 'साहित्यालोचन' मे स्थान दिया। केशव जी का कथन है कि "मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमे वितर्क की सत्ता नही रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनो की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दो मे वस्तु का सबध और वस्तु के सबधी इन तीनो के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, यह मेरा पुत्र है, इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक सबध और जनक होने के नाते सबधी पिता, इन तीनो की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर-प्रत्यक्ष कहते है। जिस अवस्था मे सबध और सबधी विलीन हो जाते है, केवल वस्तु-मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते है, जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप मे प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्विक-वृत्ति की प्राधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेद-बुद्धि और तत्फल दु ख का, तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूढता का कारण है। जिसके दु ख और मोह दोनो दबे रहते है, सहायको से शह पाकर उभरने नही पाते, उसे भेद मे भी अभेद और दु ख मे भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लायी जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्विकशील सज्जनो मे स्वभावत· भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुम्ब समझते है और इसके अभाव से क्षुद्र चित्त व्यक्ति अपने-पराये का बहुत भेद किया करते है और इसी लिए दु ख पाते है, क्योकि 'भूमा वै सुखम् नाल्पे सुखमस्ति'।

"जब तक सासारिक वस्तुओ का हमे अपर-प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन मे दु खात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओ का पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावो का आलम्बन बनकर उपस्थित होती है। उस समय दु खात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दु खात्मकता छोड-कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते है। अभिनवगुप्त का साधारणीकरण भी यही वस्तु है, और कुछ नही। योगी अपनी साधना से उस अवस्था को प्राप्त करता है। जब उसका चित्त इस अवस्था या इस मधुमती भूमिका का स्पर्श करता है, तव उसके वस्तुजात उसे दिव्य प्रतीत होने लगते है। एक प्रकार से उसके लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाता है।

"योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है उस भूमिका तक

प्रातिभ-ज्ञान-सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावत हुआ करती है। साधक और कवि मे अन्तर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका मे ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट राजस् या तामस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पडता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका मे रहता है, उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है, जो अपनी शब्द-शक्ति से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खडा कर देती है। यही रसास्वाद की अवस्था है। यही रस की ब्रह्मा-स्वाद-सहोदरता है।"

इस विवेचन के सबध मे विचार करने के लिए विशेष रूप से निम्नलिखित बाते ध्यान देने योग्य है १—मधुमती भूमिका मे वितर्क की सत्ता नही रहती, २—पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति सात्विक-वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है और उसमे दु ख तथा मोह दोनो दबे रहते है तथा ऐसे व्यक्ति को भेद मे भी अभेद तथा दु ख मे भी सुख की अनुभूति हुआ करती है, ३—सात्विकशील व्यक्तियो मे यह स्वभावत विद्यमान रहती है, ४—अभिनवगुप्त का साधारणीकरण और पर-प्रत्यक्ष एक ही है, ५—मधुमती मे समस्त वस्तुजात दिव्य प्रतीत होने लगते है, स्वर्ग का द्वार खुल जाता है, ६—साधक यथेष्ट काल तक मधुमती मे ठहर सकता है, और ७—यही रसास्वाद अथवा ब्रह्मानन्द-सहोदरता की स्थिति है।

कथित निष्कर्षों की उपयोगिता पर विचार करने के लिए योगशास्त्र का सहारा लेना होगा। पातजल योगसूत्र मे चार प्रकार के योगियो का वर्णन किया गया है, यथा, प्रथमकल्पित मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्तभावनीय। जिनका अतीन्द्रिय ज्ञान प्रवर्तित हो रहा है, उन्हे प्रथमकल्पित कहा जाता है। ऋतभर प्रज्ञ द्वितीय है, भूतेन्द्रियजयी तृतीय है जो भूतेन्द्रिय साधे हुए है और विशोका से असप्रज्ञात तथा साधनीय विषयो मे विहितसाधनयुक्त है। अतिक्रान्तभावनीय का केवल चित्तविलय ही अवशिष्ट रहता है। इनमे मधुमती भूमि के साक्षात्कारी ब्रह्मवित् की सत्वबुद्धि देखकर स्थानिगण या देवगण उस स्थान के योग्य मनोरम भोग दिखाते है और इस प्रकार से उपनिमत्रण करते है—"हे महात्मन्, यहाँ विराजिए, यहाँ रमिए, यह भोग कमनीय है, यह रसायन जरा-मृत्यु को हटाता है, यह यान आकाशगामी है, कल्पद्रुम, पुण्य-मन्दाकिनी और सिद्ध महर्षिगण ये है। आयुष्मन्, आपने अपने गुणो से इन सबको उपार्जित किया है, अत आप प्राप्त कीजिए। यह अक्षय, अजर, अमर तथा देवो के प्रिय पदार्थ है।" आगे इस मधुभूमिक की सावधानी के लिए स्पष्ट बताया गया है कि इस प्रकार से बुलाये जाने पर योगी को निम्नलिखित रूप से सग-दोष का चिन्तन करना चाहिए। "घोर ससार-[illegible]

कठिनाई से प्राप्त किया है, यह तृष्णा-सभव विषयपवन उस योग-प्रदीप का विरोधी हे। आलोक पाकर भी मै इस विषय-मरीचिका से वचित होकर फिर उस प्रदीप्त ससार-अग्नि का हवन कैसे बन सकता हूँ ? हे स्वप्नोपम, कृपणजन प्रार्थनीय विषयगण, तुम मजे मे रहो।" इस प्रकार निश्चित-मति हो समाधि की भावना करनी चाहिए। सग-त्याग के पश्चात् स्मय (आत्म-प्रशसा) नही करना चाहिए। स्मय से अपने को सुस्थित समझने के कारण कोई भी व्यक्ति यह चिन्तन नही करता "कि मृत्यु ने मेरे केश पकड रखे है, अत नियम-पूर्वक यत्न से

प्रतिकार के योग्य छिद्रान्वेषी प्रमाद उस पर अधिकार करके क्लेश-समूह को प्रबल करेगा। उनसे फिर अनिष्ट सभव होगा। उक्त प्रकार से सग तथा स्मय न करने मे योगी का भावित विषय दृढ होगा और भावनीय विषय अभिमुखी न होगा।

सर्वोत्कृष्ट योगी वही है जो अतिक्रान्तभावनीय कहा गया है। उस स्थिति तक क्रमश तीन कोटियो को पार करके जाना होता है। इन कोटियो मे मधुभूमिक केवल दूसरी कोटि से आता है, जिसका तात्पर्य यह है कि अभी पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसे कम-से-कम एक भूमि और लाँघनी होगी, तब कही सफल योगियो की श्रेणी मे उसे स्थान मिल सकेगा। दूसरी बात जो इस सम्बन्ध मे ध्यान देने की है, वह यह कि मधुभूमिक के सम्मुख देवता अनेक पदार्थ प्रस्तुत करते है। यदि योगी इनमे प्रभावित होकर इनकी ओर आकृष्ट हो जाता है तो उसे उलटे पैरो लौट जाना होगा। उसके लिए सिद्धि का सुमार्ग अवरुद्ध हो जाता है, उसे मोह घेर लेता है। अत स्पष्ट शब्दो मे उसे इस आकर्षण-भूमि से बचने की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि वह उन पदार्थो के सग तथा आत्म-श्लाघा से दूर ही रहे। इन दोनो को यत्न से प्रतिकार-योग्य बताया गया है। तात्पर्य यह है कि यदि यह स्थिति प्रतिकार-योग्य है तो वह योगी के लिए बहुत देर तक क्या, क्षण-भर के लिए भी काम्य नही, किन्तु उस स्थिति से उसे जाना अवश्य पडता है, क्योकि यही उसकी वास्तविक परीक्षा-भूमि है। यदि योगी की साधना कच्ची है, तो उसका यही पतन हो जायगा और यदि साधना दृढ है तो उसके मार्ग से बाधाएँ सदा के लिए दूर हो जाएँगी। निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि १—योगियो की चार कोटियो मे मधुभूमिक दूसरी कोटि मे बताया गया है, जिससे उसे पूर्ण सिद्ध नही कहा जा सकता, २—यह भूमि साधक की परीक्षा-भूमि है, सिद्धि-भूमि नही, ३—परीक्षा-भूमि मे अधिक देर तक स्थित रहने का प्रश्न ही नही उठता। इसके विपरीत उसके प्रतिकार का उपदेश दिया गया है, ४—यदि यह भूमि अन्तिम भूमि नही है तो ब्रह्मानन्द का सबध ही इससे नही माना जा सकता और तब ब्रह्मानन्द-सहोदरता को इस प्रसग के द्वारा नही समझाया जा सकेगा।

इस प्रकार विचार करने से मिश्र जी द्वारा प्रस्तुत किये गये निष्कर्षो मे से छठे तथा सातवे निष्कर्ष की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है। पाँचवे के सबध मे मिश्र जी का कथन है कि इस मधुमती मे समस्त वस्तुजात दिव्य प्रतीत होने लगते है, मानो स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। थोड़ा ध्यान-पूर्वक विचार करने से उनके इस विचार की असगति विदित हो जायगी। मधुमती के अन्तर्गत देवताओ के द्वारा दिखाये जाने वाले जिन प्रलोभनो का वर्णन किया गया है, वे देवताओ से सबध रखने के कारण स्वय दिव्य है, यह नही कि किसी मायाजाल के कारण वह थोडी देर के लिए ऐसे प्रतीत होते है। दिव्य का तात्पर्य यही है कि उनमे असाधारण आकर्षण-क्षमता है। यदि मधुमती मे पहुँचकर भी अदिव्य पर दिव्यता का आरोप किया गया तो फिर योग-ज्ञान कहाँ रहा? यदि योग-ज्ञान ही नही, तो मधुभूमिक को जो ऋतभर-प्रज्ञ कहा गया है, वह भी मिथ्या सिद्ध हो जायगा। उन्होने जो 'दिव्य प्रतीत होने लगते है' जैसा निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, उसी के कारण उन्हे यह भी कहना पड़ता है कि इस अवस्था से दु खद वस्तुएँ भी सुखद प्रतीत होने लगती है, शोकादि भाव भी सुखद हो जाते है। वस्तुत यह धारणा सगत नही है। मिश्र जी ने इसी मधुभूमि के अन्तर्गत

कथित इस बात पर विचार नही किया कि "नियम-पूर्वक प्रतिकार के योग्य, छिद्रान्वेषी प्रमाद उसपर अधिकार करके क्लेश-समूह को प्रबल करेगा", इस प्रकार की उक्ति की आवश्यकता क्यो हुई ? स्पष्ट है कि यहाँ परिणाम मे क्लेश की प्राप्ति मानी गयी है, न कि विभावादि के साधारणी-करण के कारण तन्मय हो जाने पर आनन्दमय रसानुभूति के सदृश स्थिति की दोनो स्थितियाँ परस्पर विरोधी हैं। एक का परिणाम निश्चित रूप से क्लेश है और दूसरे का परिणाम आनन्द। अत दोनो मे कोई सबध नही है।

यही इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि सग तथा स्मय त्याज्य है। इनके त्याग अथवा प्रतिकार की विधि भी बतायी गयी है। विधि है इनके प्रतिपक्ष मे सोचना, विरोध मे चिन्तन करना। यह प्रतिपक्ष से सोचना योगसूत्र के अनुसार वितर्क के वाद के लिये उपयोगी है। 'वितर्कबोधने प्रतिपक्षभावन' (२।३३) इस सूत्र को समझाते हुए स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मवित् को जब हिंसादि वितर्क होते है कि मै अपकारी का हनन करूँगा, असत्य वाक्य कहूँगा, इसकी चीज लूँगा, इन सब वस्तुओ का स्वामी होऊँगा—तब ऐसे अतिदीप्त, उन्मार्गप्रवण, वितर्कज्वर द्वारा बाध्य होने पर उसके प्रतिपक्ष की भावना करे, जैसे घोरससार-अगार मे जलते हुए मैने सर्वभूत मे अभय दान कर, योग-धर्म की शरण ली है। वही से वितर्क त्याग करके भी फिर उन्ही वितर्कों को ग्रहण करके मैं कुत्तो जैसा आचरण कर रहा हूँ। इस सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट है कि यदि सग तथा स्मय से बचने के लिए प्रतिपक्षभावना आवश्यक बतायी गयी है, तो निश्चय ही दूसरे रूप मे यह स्वीकार किया गया है कि इस स्थिति मे भी वितर्क की सत्ता विद्यमान रहती है। अत इस प्रकार विचार करने से मिश्र जी की प्रथम स्थापना भी निरर्थक हो जाती है। अब प्रश्न किया जा सकता है कि मधुभूमिक को जो ऋत-भरप्रज्ञ कहा गया है, उसका क्या तात्पर्य है ? समाधान यह है कि मधुभूमि वास्तव मे वह नही है जो भूल से सग तथा स्मय मान ली गयी है। सग तथा स्मय तो उसके विरोधक मात्र है। वहाँ ऋतभरा कहाँ ? ऋतभरा इन्ही दोनो के विरोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली स्थिति है। अतएव यो कहना ठीक होगा कि सग तथा स्मय का निरोध करके ब्रह्म को जाननेवाले योगी का नाम ऋतभरप्रज्ञ है और वही मधुभूमिक भी कहा जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सग के कारण जिस दिव्य वस्तुबोध को मधुभूमि समझ लिया गया है, वह वितर्क-संवलित है और मधुभूमि की प्राप्ति मे बाधक भी है।

अब मिश्र जी की दूसरी धारणा पर विचार करे तो जान पडेगा कि उनका यह विचार कि पर-प्रत्यक्ष की अवस्था मे दु ख भी सुख हो जाता है, भ्रमात्मक है। पर-प्रत्यक्ष का सीधा सबध मधुमती से है, क्योकि उसमें वितर्क की अवस्था नही रहती और पर-प्रत्यक्ष भी निर्वितर्क समा-पत्ति ही है। ठीक, किन्तु ऋतभरा प्रज्ञा का काम तो अन्वर्था होने के कारण केवल इतना है कि वह ऋत् अर्थात् सत्य का, वास्तव का ज्ञान करा देती है। कही दु ख का सुख बना देना तो पतजलि या उनके भाष्यकारो ने ऋतंभरा के साथ बताया नही है। प्रथम पाद के ४८वे सूत्र मे केवल इतना बताया गया है कि यह ऋतंभरा प्रज्ञा अध्यात्म-प्रसाद के कारण समाहित-चित्त व्यक्ति मे ही उत्पन्न होती है। अध्यात्म-प्रसाद का अर्थ है रजसूतमोमल से शून्य प्रकाश गुण

का उत्कर्ष। इस प्रज्ञा मे विपर्यास की महक भी नही होती। तात्पर्य यह कि दुख को सुख बना देने की बात ऋतभरा के लिए सभव नही है।

इसी प्रकार चौथी उपपत्ति अर्थात् यह विचार कि 'उस समय दुखात्मक क्रोध-शोकादि भाव भी अपनी लौकिक दुखात्मकता छोडकर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते है और अभिनवगुप्त का साधारणीकरण भी यही है', कम विचित्र नही है। अभिनवगुप्त ने 'अभिज्ञान-शाकुतल' से मृग-भय का उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि साधारणीकरण की अवस्था मे दुख के सुख मे परिवर्तित होने की स्थिति न आकर केवल इतना होता है कि देशकालावच्छिन्न भय मात्र की प्रतीति होती है। सार यह है कि ब्रह्मानन्द-सहोदर का योग की मधुमती भूमिका से सबध स्थापित करना उचित प्रतीत नही होता। मधुमती का मोहक वर्णन इस बात का प्रमाण है कि उसे ऐश्वर्य-भूमि तो कहा जा सकता है, आनन्द-भूमि नही।

स्व० चन्द्रवली पाण्डेय ने रस की ब्रह्मानन्द-सहोदरता का योग की 'विशोका' स्थिति से सबध बैठाते हुए कहा है—"रस को अतीन्द्रिय कहा जाता है और यह भूमि है भी अतीन्द्रिय। निदान मानना पडता है कि यदि योग की किसी भूमि को रस-भूमि, बिना किसी खटके के, कहा जा सकता है तो वह विशोका भूमि ही है।"—साहित्यसदीपनी, पृ० ४१।

इस सबध मे हमारा इतना ही निवेदन है कि रस का सबध इस भूमि से भी स्थापित नही करना चाहिए और न उसे अतीन्द्रिय ही कहना उपयोगी है। रस-ज्ञान सुख-स्वरूप-हीन अति-मानस-प्रत्यक्ष है, अतीन्द्रिय नही। इसीलिए हजारीप्रसाद जी ने इसे 'अतीन्द्रियग्राह्य' माना है (साहित्य का मर्म, पृ० २)। आचार्य शुक्ल ने तो रस को प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से भिन्न मानने का भी विरोध किया है (चिन्तामणि, भाग २, पृ० ५६)। विशोका का लक्षण यह है कि "भूतेन्द्रिय राज्य को अतिक्रमण करके योगी लोग 'अस्मिता' मे प्रतिष्ठित होते है, तब वे सर्वज्ञ हो जाते है और सब भावो मे अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते है, जिसे विशोका सिद्धि कहते है।" किन्तु रसास्वादकर्त्ता विभावादि पर निर्भर रहने के कारण यद्यपि भूतेन्द्रियराज्य का अतिक्रमण नही कर पाता है, तथापि वह ममत्व-परत्व से मुक्त होकर सत्वोद्रेक होने पर रसा-स्वाद करता हुआ आनन्दित अवश्य होता है। अत दोनो स्थितियो मे भेद स्पष्ट है। ऐसी दशा मे दोनो का सबध स्थापित करना सभव नही है।

'काव्यप्रकाश' कार ने ब्रह्मानन्द-सहोदर की विलक्षणता का ध्यान करके ही उसे न तो निर्विकल्पक समाधि से सम्बद्ध माना है और न सविकल्पक से। तथापि उभयाभाव के रहने पर भी उभयात्मक मानने मे उन्होने किसी विप्रतिपत्ति की शका नही उठायी। इसके विपरीत इससे रस की अलौकिकता की ही सिद्धि मानी है। विभावादि के कारण वे उसे निर्विकल्पक नही मान सकते और स्वसवेदन-सिद्धि के कारण उसे सविकल्पक नही कह सकते। दोनो होकर भी वह दोनो मे से कोई एक ही नही है, अतएव अलौकिक है (काव्यप्रकाश, पृ० ९४-९५)। अभिनवगुप्त द्वारा समर्थित आचार्य मम्मट के इस मत के रहते हुए रस को किसी भूमि से सम्बद्ध मानना उचित नही।

●

कामिल बुल्के

हनुमान् के चरित्रचित्रण का विकास

हनुमान् के चरित्रचित्रण के विकास की दृष्टि से रामकथा-साहित्य मे कालक्रमानुसार चार सोपान निर्धारित किये जा सकते है, अर्थात् राम विषयक आख्यान-काव्य, आदि वाल्मीकि-रामायण, प्रचलित वाल्मीकि-रामायण तथा मध्यकालीन रामसाहित्य। विकास की रूपरेखा स्पष्ट रूप से अकित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि प्रचलित वाल्मीकि-रामायण मे जो हनुमान् की जन्मकथा मिलती है वह आदि रामायण मे विद्यमान नही थी।

क—हनुमान् की जन्मकथा

प्रचलित वाल्मीकि-रामायण की हनुमान्-विषयक जन्मकथा की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता के विरुद्ध दो तर्क प्रस्तुत किये जा सकते है। एक तो वाल्मीकि-रामायण मे केसरी अथवा अजना के उल्लेखो की कमी, दूसरे, हनुमान् की उपाधि 'वायुपुत्र' का निरन्तर प्रयोग।

§१ हनुमान् की जन्मकथा प्रचलित वाल्मीकि-रामायण के तीनो पाठो मे तीन बार मिलती है प्रथम बार, किष्किन्धा काण्ड के अत मे (दे० सर्ग ६६-६७), दूसरी बार, युद्धकाण्ड के एक प्रक्षेप मे, जिसमे गुप्तचरो, शुक और शार्दूल को दुबारा राम-सेना का निरीक्षण करने भेजा जाता है (दे० सर्ग २८, १०, १५), तीसरी बार, अपेक्षाकृत अर्वाचीन उत्तरकाण्ड मे (दे० सर्ग ३५-३६)। हनुमान् की इस जन्मकथा के प्रसग के बाहर प्रचलित वाल्मीकि-रामायण मे केवल एक ही स्थल है जहाँ तीनो पाठो मे केसरी का हनुमान् के पिता के रूप मे उल्लेख हुआ है, और यह स्थल स्पष्टतया प्रक्षिप्त है। सीता-हनुमान्-सवाद मे हनुमान् सीता से कहते है—**अहं सुग्रीवसचिवो हनुमान् नाम वानरः** (५, ३४, ३८)। अगले सर्ग मे वह पुन अपना परिचय देते हुए कहते है कि मै केसरी की पत्नी से उत्पन्न हनुमान् हूँ—

माल्यवान्नाम वैदेहि गिरीणामुत्तमो गिरि ॥७९॥
ततो गच्छति गोकर्ण पर्वत केसरी हरि।
यस्याह हरिण क्षेत्रे जातो वातेन मैथिलि।
हनुमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ॥८१॥ (सर्ग ३५)

प्रचलित वाल्मीकि-रामायण मे केसरी का नाम मात्र भी बहुत कम मिलता है। हनुमान् की जन्मकथा तथा उपर्युक्त प्रक्षिप्त उद्धरण के अतिरिक्त उनका नाम किष्किधा अथवा सुन्दर-काण्ड मे कही भी नही आया है। इस अभाव की अर्थपूर्णता स्पष्ट है जब इसका ध्यान रखा जाता है कि उन काण्डो मे चार बार मुख्य वानरो की लम्बी सूचियाँ दी गयी है (दे० किष्किधा के सर्ग

४, ५० और ६५ ओर सुन्दरकाण्ड का सर्ग ३)। प्रामाणिक काण्डो में से युद्धकाण्ड मे सब से अधिक मात्रा मे प्रक्षिप्त सामग्री पायी जाती है। इस काण्ड के एक स्थल पर केसरी को वानर-मुख्य की उपाधि मिल गयी है—**मुख्योवानरमुख्याना केसरी नाम यूथप.** (दे० २७-३८)। फिर भी इस उद्धरण के अतिरिक्त केसरी का नाम केवल तीन बार आया है— दो बार अन्य नामो के साथ केसरी का उल्लेख मात्र मिलता है (दे० ४,३३ और ७३, ५९), और एक अन्य स्थल पर यह कहा गया है कि केसरी तथा सपाती ने घोर युद्ध किया था—**युद्ध केसरिणा सख्ये घोरं सम्पातिना कृतम्** (४९, २६)। ध्यान देने योग्य हैं कि किष्किधा और सुन्दरकाण्ड की भाँति युद्धकाण्ड मे भी मुख्य वानरो की बहुत-सी लम्बी सूचियाँ मिलती हैं जिनमे केसरी का नाम नही है, उदा० सर्ग ३, २६, ३०, ३१, ४२, ४३ ओर ४७। युद्धकाण्ड के अत मे भरत द्वारा अयोध्या मे वानरो का स्वागत वर्णित है, इस प्रसग मे हनुमान् के अतिरिक्त तेरह वानरो के नाम आये है, कितु केसरी का कही भी उल्लेख नही हुआ है (दे० १२७, ४२ आदि)। दाक्षिणात्य पाठ के बालकाण्ड मे भी वानरो की उत्पत्ति के वर्णन मे बारह नाम उल्लिखित है (दे० सर्ग १७), बालि और तारा को छोडकर सभी के नाम युद्धकाण्ड के अत मे भी आये है। ये ही प्रमुख माने जा सकते है, कितु केसरी उनमे से एक नही हे। उत्तरकाण्ड के निरीक्षण से भी वही निष्कर्ष निकलता है। हनुमान् की जन्मकथा को छोडकर (सर्ग ३५-३६), उत्तरकाण्ड का केवल एक ही स्थल है जहाँ तीनो पाठ केसरी का नाम लेते है, दान-वितरण के प्रसग मे केसरी का अन्य वानरो के साथ उल्लेख हुआ है (दे० सर्ग ३९, २०)। स्वर्गारोहण के वर्णन मे कही भी केसरी का नाम नही आया है (दे० सर्ग १०८)। इन सब बातो को ध्यान मे रखकर स्पष्ट हो जाता है कि प्रारभ मे केसरी का मुख्य वानर के रूप मे चित्रण नही हुआ था। अधिक सभव यही प्रतीत होता है कि आदि रामायण मे इसका उल्लेख तक नही किया गया था। 'महाभारत' के रामोपाख्यान[1] मे केसरी का कही भी उल्लेख नही मिलता, इससे भी हमारे निष्कर्ष की पुष्टि होती है।

अजना का नाम प्रचलित वाल्मीकि-रामायण मे हनुमान् की जन्मकथा के बाहर केवल एक ही बार आया है, कितु जिस सर्ग मे अजना का यह उल्लेख मिलता है वह निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हे (दे० ६, ७४, १८)। इस सर्ग की अप्रामाणिकता के तर्क डॉ० याकोबी ने पिछली शताब्दी के अत मे प्रस्तुत किये थे (दे० डस रामायण, पृ० ४५)। 'महाभारत' मे अजना का नाम एक बार भी नही पाया जाता है।

प्रस्तुत विश्लेषण के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि आदि रामायण मे केसरी अथवा अजना का कही भी उल्लेख नही हुआ था। हनुमान् की जन्मकथा की प्राचीनता के विरुद्ध जो दूसरा तर्क है वह कही और महत्वपूर्ण है। यह तर्क प्रचलित वाल्मीकि-रामायण मे प्रयुक्त हनुमान् की उपाधियो पर आधारित है।

---

१. 'महाभारत' के एक ही स्थल पर अर्थात् हनुमान्-भीम-संवाद के अंतर्गत केसरी का नाम मिलता है (दे० ३, १४७, २४)। इसमें हनुमान् के केसरी की पत्नी से उत्पन्न होने का उल्लेख है।

§२ वाल्मीकि-रामायण मे हनुमान् को प्राय **वायुपुत्र** अथवा इसके पर्यायवाची शब्द की उपाधि दी जाती है। इन मे से **मारुतात्मज, मारुति, पवनात्मज, वायुपुत्र, वायुसूनु, वायुसुत** और **अनिलात्मज** सर्वाधिक प्रयुक्त हुए है। **वातात्मज, मारुत, पवनसुत, अनिलसुत** भी कई बार आये है। कुछ अन्य पर्याय केवल एक ही बार प्रयुक्त हुए, अर्थात् **वायुनन्दन** (५, ५७, १०), **वायुसंभव** (५, ३५, ८८), **पवनसभव** (५, १५, ५४), **मारुतनन्दन** (५, १८, २०), **वासवद्रूतसूनु** (६, ७४, ५८), **गंधवहात्मज** (एक सर्ग मे दो बार, दे० ६, ७४, ६६ और ७३)। 'महाभारत' मे हनुमान् को पाँच बार **मारुतात्मज,** तीन वार **पवनात्मज,** दो बार **अनिलात्मज** तथा एक-एक बार **वायुपुत्र** तथा **वायुतनय** कहा गया है।

हनुमान् की जन्मकथा-विषयक उपाधियो का यह बाहुल्य दृष्टि मे रखकर तथा इसमे केसरी अथवा अजना के उल्लेख का अभाव देखकर उपर्युक्त अनुमान सुदृढ धारणा मे परिणत हो जाता है कि वाल्मीकि-रामायण के कुशीलव बहुत समय तक हनुमान् को वायुपुत्र ही मानते थे, और उस कथा से अनभिज्ञ थे जिसके अनुसार हनुमान् केसरी की पत्नी अजना की सन्तान है। बाद मे **आंजनेय** (दे० महानाटक, अक १४-९४), **अजनीसुत** आदि नाम भी प्रचलित होने लगे, उत्तरकाण्ड के दाक्षिणात्य पाठ मे **अंजनीसुत** पाया ही जाता है, किंतु अन्य पाठो के समानान्तर स्थलो पर इसका अभाव इस नाम को प्रक्षेप सिद्ध कर देता है।[२] 'वायुपुत्र' नाम के रहस्य पर प्रस्तुत निबध के द्वितीय भाग मे प्रकाश डाला जायगा।

ख—चरित्रचित्रण के चार सोपान

§१. **रामविषयक आख्यान-काव्य**—प्राय समस्त विद्वान् रामकथा के वानरो, रीछो आदि को आदिवासी वनजातियाँ समझते है, जिनके गोत्र वानर, रीछ, गीध आदि आजकल तक प्रचलित है। अत हनुमान् भी मध्य-भारत के कोई आदिवासी थे, जिनका गोत्र वानर ही था। 'हनुमान्' शब्द वास्तव मे एक द्राविड शब्द 'आण्-मदी' का सस्कृत रूपान्तर मात्र है जिसका अर्थ 'नर-कपि'[३] ही है। वह सुग्रीव के पराक्रमी तथा बुद्धिमान् मत्री के रूप मे चित्रित किये गये होगे,

---

२ उद्धरण इस प्रकार है—

तथा केसरिणा त्वेष वायुना सोऽञ्*जनीसुत* :॥३१॥
प्रतिषिद्धोऽपि मर्यादां लघयत्येव वानरः। (दाक्षिणात्य पाठ, सर्ग ३६)
यदा केसरिणा ह्येष वायुनाऽञ्*जनया* तथा।
प्रतिषिद्धोऽपि मर्यादां लध्यत्येष वानरः॥३१॥ (पश्चिमोत्तरीय पाठ, सर्ग ३९)
यदा केसरिणा त्वेष वायुना *स्वजनैः सह*।
प्रतिषिद्धोऽपि मर्यादा लध्यत्येष वानरः॥७॥ (गौडीय पाठ, सर्ग ४०)

३. बाद में हनुमान् का वृषाकपि से संबंध जोड़ा गया है (दे० ब्रह्मपुराण ८४, १९) किंतु ऋग्वेद का वृषाकपि वानर न होकर एक भृग वाराह था और हनुमान् अथवा किसी कपि से कोई भी संबंध नही रखता।

क्योकि बाद के राम-साहित्य मे उनके पराक्रम तथा बुद्धिमत्ता को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।[४] 'महाभारत' के आरण्यकपर्व मे भी भीम हनुमान् का इस प्रकार परिचय देते है—

भ्राता मम गुणश्लाघ्यो **बुद्धिसत्त्वबलान्वितः।**
रामायणेऽतिविख्यात शूरो वानरपुगव ॥११॥ (अध्याय १४७)

अत अधिक सभव प्रतीत होता है कि प्रारभिक आख्यान-काव्य मे हनुमान् को **एक वानर गोत्रीय आदिवासी, सुग्रीव के बुद्धिमान् तथा पराक्रमी मंत्री** के रूप मे प्रस्तुत किया गया था।

§२. **आदि रामायण**—वाल्मीकि के समय तक रामकथा-विषयक आख्यान-काव्य का प्रचुर मात्रा मे सृजन हुआ था। इतने मे आदिवासी गोत्रो का वास्तविक अर्थ आवृत्त होता जाता रहा और उसके फलस्वरूप उन आदिवासियो को वास्तव मे वानर ही माना गया, यद्यपि उनमे मानवीय विवेक तथा बोलने की क्षमता भी रह गयी थी। प्रचलित रामायण मे हनुमान् के वानरत्व-विषयक विशेषणो के बाहुल्य से प्रतीत होता है कि वाल्मीकि के समय यह धारणा मान्यता प्राप्त करने लगी थी कि हनुमान् वास्तव मे एक प्रकार का वानर था। इसके अतिरिक्त हनुमान् को 'वायुपुत्र' की उपाधि भी मिल गयी थी।

इस उपाधि की उत्पत्ति के विषय मे निम्नलिखित कल्पना निराधार नही कही जा सकती है। रामायण के रचना-काल मे 'वायुपुत्र' एक निश्चित अर्थ मे प्रचलित था। जातक '**सुमग**' मे एक 'वायुस्स पुत्त' अर्थात् विद्याधर की कथा मिलती है जिसमे न तो हनुमान् का उल्लेख है और न किसी अन्य वानर का। यह विद्याधर ऐन्द्रजालिक है, 'वायुस्स पुत्त' का अर्थ अन्यत्र भी विद्याधर अथवा जादूगर ही है, महाभारत मे 'वातिक' इससे मिलता-जुलता अर्थ रखता है (दे० ३, २४३, ३)। रामायण मे हनुमान् समुद्र लाँघते है, सीता का पता लगाते है और अन्य वानरो की अपेक्षा बुद्धिमान् और कार्यकुशल माने जाते है। अद्भुत् रस से परिपूर्ण उनके इस चरित्र-चित्रण का ध्यान रख कर उनको **वायुपुत्र** (अर्थात् विद्याधर, ऐन्द्रजालिक) की उपाधि मिली होगी।[५]

इस प्रकार हम देखते है कि आदि रामायण मे हनुमान् सुग्रीव के बुद्धिमान् तथा पराक्रमी मत्री के अतिरिक्त **कपिकुंजर** तथा **वायुपुत्र** भी माने जाते थे।

§३ **प्रचलित वाल्मीकि-रामायण**—काव्योपजीवी कुशीलवो ने आदि रामायण मे बहुत से प्रक्षेप जोड दिये है, यह प्रचलित रामायण के विभिन्न पाठो के विश्लेषण से सुस्पष्ट है। हनुमान् के विषय मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रक्षेप उनकी जन्मकथा तथा बाललीला का वर्णन है। **'वायुपुत्र'** उपाधि के आधार पर कुशीलवो ने मान लिया कि वायु ने शापभ्रष्टा अप्सरा पुजिकस्थला से, (जो अजना के रूप मे प्रकट हुई थी) हनुमान् को उत्पन्न किया है।[६]

---

४. दे० रामकथा (द्वितीय संस्करण), अनु० ६८२- ६९२। ५. जर्मन ओरियटल जर्नल, भाग ९३, पृष्ठ ८९। 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास भी हनुमान् को 'काव्य कौतुक कला कोटि सिंधो' कहते है (दे० २८,५)। ६. इस जन्मकथा मे हनुमान् देवताओ से विभिन्न वर प्राप्त कर लेते है; इसके आधार पर वह व्याकरण के विशेषज्ञ

प्रचलित रामायण के प्रक्षिप्त अशो की एक सामान्य विशेषता है अद्भुत रस तथा अलौकिकता की बढती हुई सामग्री। हनुमान् के चरित्रचित्रण मे भी वही बात पायी जाती है। आदि-रामायण मे उनके समुद्र-लघन का अतिशयोक्ति-पूर्ण शब्दो द्वारा वर्णन किया गया था, किंतु बाद के प्रक्षेपो मे वह अन्य वानरो की भाँति आकाशगामी बन गये है, जन्म के बाद ही सूर्य की ओर बढते है और हिमालय से अनायास ही एक सम्पूर्ण पर्वत लका ले आते है। नवीन विशेषताओ मे से उनका चिरजीवत्व सभवत सब से महत्वपूर्ण है।

'महाभारत' के रामोपाख्यान मे हनुमान् की किसी वरप्राप्ति का उल्लेख नही मिलता—न राम की ओर से और न देवताओ की ओर से। रावणवध के बाद सीता हनुमान् को आशीर्वाद देती हुई कहती है—रामकीर्त्या सम पुत्र जीवित ते भविष्यति (दे० ३,२७५,४३)। सीता के इस कथन का लाक्षणिक अर्थ है कि तुम्हारी कीर्त्ति राम की कीर्त्ति की तरह अमर ही होगी। बहुत सभव है कि इस उक्ति के आधार पर यह माना जाने लगा कि हनुमान वास्तव मे जीवित रह कर हिमालय पर निवास करते है। इस विश्वास की प्राचीनतम अभिव्यक्ति महाभारत के हनुमान्-भीम-सवाद मे सुरक्षित है। इसमे हनुमान् कहते है कि मैंने राम से यह वरदान माँग लिया है कि जब तक रामकथा पृथिवी पर प्रचलित होगी, तब तक मै जीवित रह सकूँ —

यावद्रामकथा वीर भवेल्लोकेषु शत्रुहन।
तावज्जीवेयमित्येव तथास्त्विति च सोऽब्रवीत ॥३७॥ (दे० ३, १४७)।

तदनन्तर हनुमान् भीम को बताते है कि इस स्थान पर अप्सराएँ तथा गधर्व रामचरित गाकर मुझे आनदित करते रहते है। रामायण के उत्तरकाण्ड मे राम द्वारा हनुमान् को वर-प्रदान का दो बार उल्लेख हुआ है। ध्यान देने योग्य है कि वहाँ पर भी रामकथा का प्रचलन ही हनुमान् की अमरता का आधार माना गया है। स्वर्गारोहण के पूर्व राम यह कहकर हनुमान् को चिर-जीवत्व प्रदान करते है—

मत्कथा प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर।
तावद्रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन् ॥३०॥ (सर्ग १०८)

प्रस्तुत प्रसग का सब से विस्तृत रूप उत्तरकाण्ड के ४०वे सर्ग मे मिलता है। 'महाभारत' मे हनुमान् ने कहा था कि हिमालय के जिस स्थान पर वह रहते थे, वहाँ गधर्वादि रामचरित गाया करते थे, अब रामचरित का यह गान वरदान का रूप धारण कर लेता है। अभिषेक के बाद अयोध्या से विदा लेते समय हनुमान् ने राम से तीन वर माँगे थे, अर्थात् अनन्य रामभक्ति चिरजीवत्व तथा रामकथा-श्रवण—

स्नेहो मे परमो राजस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा।
भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु ॥१६॥

भी बन जाते हैं। बाद मे उनको ज्योतिषी, सगीतज्ञ तथा कवि ('महानाटक' का रचयिता) भी माना गया है।

यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले।
तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न सगय ॥१७॥
यच्चैतच्चरित दिव्य कथा ते रघुनन्दन।
तन्मयाप्सरो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ ॥१८॥

इन उदाहरणो से पता चलता है कि किस प्रकार हनुमान् के वरो की सख्या बढती गयी,[७] साथ-साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हनुमान् को चिरजीवत्व का विचार उनकी अमर कीर्ति-विषयक उक्तियो मे उत्पन्न माना जा सकता है। सक्षेप मे हम कह सकते है कि प्रचलित वाल्मीकि-रामायण मे हमे हनुमान् की दो नयी विशेषनाएँ मिलती है, अव से लेकर हनुमान् को **चिरंजीव** तथा **आजनेय** माना जाएगा।

§४. **मध्यकालीन रामकथा-साहित्य**—अत्यन्त विस्तृत अर्वाचीन राम कथा-साहित्य मे हनुमान् का महत्व बढता हुआ प्रतीत होता है और उन्हे मुख्यतया चार नवीन विशेषताएँ मिल गयी है।

(अ) कम-से-कम दसवी शताब्दी से हनुमान् को **रुद्रावतार** माना गया है। तत्सबधी प्राचीनतम सामग्री मे इसका उल्लेख मात्र किया जाता है कि हनुमान् रुद्रीय अथवा रुद्रावतार हैं, उदा० स्कदपुराण (अवतीखड, चतुरशीतिलिंग माहात्म्य, अध्याय ७९, रेवाखड, अध्याय ८४), महाभागवतपुराण (अध्याय ३७), बृहद्धर्मपुराण (अध्याय १८), महानाटक (अक ६, २७)। परवर्ती रचनाओ मे बहुत-सी कथाएँ मिलती है, जिनमे दिखलाया जाता है कि किस प्रकार हनुमान् शिव के तेज तथा अजना के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, उदा० भविष्यपुराण (प्रतिसर्ग पर्व ४, १३), शिवमहापुराण (शतरुद्रसहिता, अध्याय २०), तत्वसग्रह रामायण (४, १२)। फलस्वरूप यह प्राय सर्वत्र माना जाने लगा कि हनुमान् वास्तव मे रुद्र के अवतार है, दे० आनन्दरामायण (१, ११), कृत्तिवास रामायण; सारलादास का उडिया महाभारत, तुलसीदास की विनयपत्रिका, श्याम का रामकियेन, आदि।

हनुमान् की जन्मकथा का यह विकास स्वाभाविक प्रतीत होता है। राम-कथा की बढती लोकप्रियता को देखकर शैव इसकी अवहेलना न कर सके। रामायण की आधिकारिक कथा-वस्तु मे शिव के लिए कोई स्थान नही था, अत उन्होंने सुन्दरकाण्ड के नायक को अपने इष्ट-देव का अवतार मान लिया है।

---

७. हनुमान् की जन्मकथा के प्रारंभिक रूप मे देवताओ द्वारा वर-प्रदान का उल्लेख नहीं था। गौडीय पाठ के किष्किधा-काण्ड की जन्म-कथा में किसी भी वर का संकेत नहीं मिलता। पश्चिमोत्तरीय पाठ में ब्रह्मा ही हनुमान् को 'अशस्त्रवध्यता' प्रदान करते हैं तथा दाक्षिणात्य पाठ में ब्रह्मा के इस वरदान के अतिरिक्त इंद्र का भी उल्लेख है जो हनुमान् को 'स्वच्छन्दतश्च मरणम्' (दे० ४, ६६, २९) का वर देते हैं। उत्तरकाण्ड की जन्मकथा में (तीनो पाठों के अनुसार) इंद्र, ब्रह्मा, वरुण, यम, कुबेर, शिव तथा विश्वकर्मा सभी हनुमान् को अपने अस्त्रों द्वारा अवध्यता प्रदान करते हैं और अन्य वरदानों के अतिरिक्त विश्वकर्मा के चिरंजीवत्व-प्रदान का भी उल्लेख है।

(आ) रामभक्ति की व्याकपता मध्यकालीन राम-साहित्य की प्रमुख विशेषता है। अत यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि आदि-रामायण के उत्साही एव विश्वस्त राम-सेवक हनुमान् को उस साहित्य मे **आदर्श रामभक्त** के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। 'शिवमहापुराण' हनुमान् के विषय मे कहता है—

स्थापयामास भूलोके रामभक्ति कपीश्वर ।
स्वय भक्तवरो भूत्वा सीतारामसुखप्रद ॥३६॥

—शतरुद्र सहिता, अध्याय २०।

इस उद्धरण मे हनुमान् को रामभक्ति के प्रवर्त्तक की उपाधि से विभूषित किया जाता है, वास्तव मे रामरहस्योपर्नि षद्, हनुमत्सहिता, शिवसहिता आदि रचनाएँ हनुमान् को रामभक्ति के आचार्य के रूप मे देखती है तथा रसिकसप्रदाय उनको अपना प्रवर्त्तक मानता है।

हनुमान् की रामभक्ति का प्राचीनतम उल्लेख वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड मे मिलता है (दे० ऊपर)। परवर्त्ती रचनाओ मे हनुमान् के एक अन्य वर की भी चर्चा की जाती है—जहाँ कही भी रामचरित का वर्णन होता है वहाँ हनुमान् उपस्थित रहते है—

यत्र यत्र कथा लोके प्रचरिष्यति ते शुभा।
तत्र तत्र गतिर्मेऽस्तु श्रवणार्थ सदैव हि ॥१४३॥

—आनन्दरामायण, सारकाण्ड, सर्ग १२।

वाल्मीकीय रामायण के अनुसार रामाभिषेक के अवसर पर सीता ने राम, से जो माला मिली थी, उसे हनुमान् को प्रदान किया था (दे० ६, १२८, ७८-७९)। हनुमान् की रामभक्ति सिद्ध करने के उद्देश्य से इस घटना को अर्वाचीन रामसाहित्य मे एक नवीन रूप दिया गया है। कृत्तिवासी रामायण के अनुसार हनुमान् ने माला ग्रहण कर उसे ध्यान से देखा लिया और तदनन्तर वे उसे तोडकर उसकी बहुमूल्य मणियाँ खाने लगे। अपने इस व्यवहार का कारण पूछे जाने पर उन्होने कहा कि इस माला मे राम नाम अकित नही है, इसीलिए इसका मेरी दृष्टि मे कोई भी मूल्य नही है। इस पर लक्ष्मण ने पूछा कि तुम अपना शरीर क्यो नही छोड देते हो। यह सुनकर हनुमान् ने अपने नखो से छाती फाड 'कर दिखलाया कि उनकी हड्डी-हड्डी पर राम का नाम अकित है। इस प्रकार की और कथाएँ मध्यकालीन साहित्य मे पायी जाती हैं, जिनमे हनुमान् को आदर्श रामभक्त के रूप मे चित्रित किया गया है (दे० रामकथा, द्वितीय सस्करण, अनु० ७०१-७०७)।

(इ) हनुमान् का **ब्रह्मचर्य** परवर्त्ती राम-साहित्य मे उनके चरित्रचित्रण की तीसरी विशेषता है। महीरावण-वध की कथा मे हनुमान् के एक पुत्र का भी प्राय उल्लेख होता है। लका-दहन के बाद समुद्र मे स्नान करते हुए हनुमान् का स्वेद अथवा श्लेष्मा निगल कर एक मत्स्या गर्भवती हुई और इस प्रकार हनुमान् के पुत्र की उत्पत्ति हुई थी। 'मैरावणचरितम्' के अनुसार उस पुत्र का नाम मत्स्यराज है, वह हनुमान् को अपना परिचय देते हुए कहता है—**तिमिंगला हि मन्माता पिता च हनुमान्।** इस पर हनुमान् यह कहकर आपत्ति करते है—**हनुमान् ब्रह्मचारीति विख्यातं भुवनेष्वपि** (दे० अध्याय ११)।

हनुमान् के उस ब्रह्मचर्य का प्राचीनतम उल्लेख स्कदपुराण (अवनीखड, रेवाखड, अध्याय ८३) मे मिलता है। परवर्ती साहित्य मे उनके वज्रकौपीन की भी चर्चा की जाती है, जिसे पहनकर हनुमान् ने जन्म लिया था (दे० सारलादास का 'उडिया महाभारत', अर्जुनदास का 'रामविभा', मराठी 'भावार्थ रामायण' का उत्तरकाण्ड)।

हनुमान् की इस विशेषता के विषय मे भारतीय तथा विदेशी रामकथाओ मे अतर पाया जाता है। हिन्देशिया तथा श्याम के वृत्तान्तो मे हनुमान् की सभोग-क्रीडाओ का कई अवसरो पर उल्लेख मिलना हे। श्याम के 'रामकियेन' मे हनुमान स्वयप्रभा, विभीषण की पुत्री बेजकाया, नागकन्या सुवर्णमच्छा तथा मदोदरी के साथ भी रमण करते है। इन कथाओ का मूल-स्रोत 'भारत' मे ही मानना चाहिए, क्योकि जैन 'पउमचरिय' मे हनुमान् तथा लकासुन्दरी की प्रेम-क्रीडा तथा विवाह का वर्णन किया गया है (दे० पर्व ५२) तथा हनुमान के विषय मे यह कहा गया है कि पद्मरागा (सुग्रीव की पुत्री), अनगकुसुमा (चद्रणखा की पुत्री) आदि उनकी एक सहस्र पत्नियाँ थी (पर्व १९, ४२)। वाल्मीकि-रामायण मे भी इसका उल्लेख मिलता है कि हनुमान् से विजयी राम के प्रत्यागमन का शुभ समाचार सुनकर भरत ने उनको १६ कन्याओ को पत्नी स्वरूप प्रदान किया था (दे० ६, १२५, ४४-४५)।

फिर भी हनुमान् के ब्रह्मचर्य का सूत्रपात वाल्मीकि-रामायण से ही माना जा सकता है। रावण के अत पुर मे प्रविष्ट होकर तथा वहाँ की सुप्त अर्धनग्न ललनाओ को निहार कर हनुमान् के सुव्यवस्थित मन मे कोई विकार नही हुआ था, इसका 'रामायण' मे स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख मिलता है—

काम दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रिय ।
न तु मे मनसा किंचिद्वैकृत्यमुपपद्यते ॥४१॥
मनो हि मे सुव्यवस्थितम् ॥४२॥ (सुन्दरकाण्ड, सर्ग ११)

इसके अतिरिक्त वाल्मीकि-रामायण मे हनुमान् के सयम तथा धार्मिकता की ओर बहुधा सकेत किया गया है तथा उनको महात्मा, सुवर्त्मना, कृतात्मा आदि विशेषणो से विभूषित किया गया है। अत सभव है कि वाल्मीकि-रामायण की सामग्री के आधार पर उनके ब्रह्मचर्य की कल्पना उत्पन्न हुई हो। मध्यकालीन भारतीय राम-साहित्य मे हनुमान् की यह विशेषता अत्यन्त व्यापक है, उन्हे प्राय **जितेंद्रिय** तथा **कुमार-ब्रह्मचारी** के रूप मे चित्रित किया गया है।

(ई) ऊपर इसका उल्लेख हो चुका है कि कम से कम दसवी शताब्दी ई० से लेकर हनुमान् शिव के अवतार माने जाने लगे। इसके फलस्वरूप उनके प्रति भक्तिभाव जाग्रत हुआ और धीरे-धीरे विकसित होने लगा। इस विकास का प्रथम लक्षण हमे शैव ग्रथो मे मिलता है, जो स्वाभाविक ही है। 'स्कदपुराण' मे शिव हनुमान् को आशीर्वाद देकर कहते है कि तुम्हारे नाम कल्याणकारी होते है—**उपकाराय लोकानां नामानि तव मारुते** (अवतीखड, रेवाखड ८३, २९)। उस स्थल पर हनुमान् के बारह नाम भी उद्धृत है, जिससे पता चलता है कि रेवाखड के रचनाकाल मे हनुमान् के नामो का जप प्रचलित होने लगा था।

परवर्त्ती साहित्य के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि दसवी तथा पद्रहवी शताब्दी के बीच

हनुमद्भक्ति का पूर्ण विकास हुआ था। उनकी पूजा का उद्देश्य प्रधानतया विघ्नशाति तथा भूत-प्रेतो का नाश माना गया है, पद्रहवी शताब्दी के बाद के साहित्य मे हनुमान् का यह **संकट-मोचन** रूप सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है।[८] इसके अतिरिक्त बाँझपन दूर करने के लिए भी हनुमान् की पूजा होने लगी और वह गॉवो के सरक्षक तथा मदिरो के द्वारपाल बन गये।[९]

हनुमान् की सकटमोचन के रूप मे जो पूजा आजकल तक व्यापक रूप से प्रचलित है, इसका आधार उनका रामायण मे चरित्रचित्रण मात्र नही प्रतीत होता है। इसका वास्तविक कारण यह है कि हनुमान् का सबध यक्षपूजा से स्थापित किया गया है। अत्यन्त प्राचीन काल से गॉव-गाँव मे यक्षो की पूजा चली आ रही थी।[१०] यक्ष और वीर पर्यायवाची ही है, इधर हनुमान् की ख्याति रामायण की लोकप्रियता के कारण शताब्दियो से बढती जा रही थी और उन्हे वाल्मीकि-रामायण के समय से ही महावीर की उपाधि मिल गयी थी। अत अन्य यक्षो अथवा वीरो के साथ महावीर हनुमान् की भी पूजा होने लगी। इस प्राचीन पूजापद्धति से सबध हो जाने पर हनुमान् की जो लोकप्रियता बढ गयी और उस समय तक जिस उद्देश्य से और जिस रूप मे यक्षो की पूजा होती रही, अब उसी उद्देश्य से और उसी रूप मे हनुमान् की भी पूजा होने लगी। प्राचीन यक्षपूजा तथा हनुमत्पूजा के उद्देश्यो का सादृश्य उपर्युक्त विकास की सच्चाई को प्रमाणित करता है। हाल मे डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसका एक और प्रमाण उपस्थित किया है। उन्होने दिखलाया है कि आजकल तक हनुमान् की पूजा के दो रूप प्रचलित हैं—एक वीरपूजा जिसमे कोई मूर्ति नही होती और जो प्राचीन यक्षपूजा से सबध रखती है तथा एक दूसरा रूप जिसमे वानर की मूर्ति रहती है और जो रामकथा पर निर्भर है।[११]

विकास के कारणो के विषय में मतभेद की संभावना है, किंतु अर्वाचीन साहित्य मे तथा जनसाधारण की धार्मिक चेतना मे हनुमान् का यह **संकटमोचन महाबीर** वाला रूप निर्विवाद रूप से सर्वाधिक महत्व रखता है।

---

८. तुलसीदास ने भी अपनी 'विनयपत्रिका' में हनुमान् के इस रूप को बहुत महत्व दिया है; दे० "संकट सोच दिमोचनि मूरनि" (३०,२)। ९. दे० आनन्दरामायण (सार काण्ड, सर्ग १२; मनोहर काण्ड, सर्ग १३ और १६); लांगूलोपनिषद्; श्री हनुमत्सहस्र-नामस्तोत्र; श्री मारुतिस्तवराज। १०. यक्ष गौवों के रक्षक देवता और मंदिरों के द्वारपाल थे; उनकी पूजा बाँझपन, रोग तथा भूतो का उत्पात दूर करने के उद्देश्य से की जाती थी—दे० आनन्द कुमारस्वामी. यक्षस्, १९२८। ११. दे० बीरबरह्म, जनपद, खंड १, अंक ३, पृ० ६४-७३।



त्रिलोकी नारायण दीक्षित

संतों की नैतिक दृष्टि

हिन्दी के सत कवियो की सदाचार विषयक धारणा का अध्ययन करने के पूर्व एक बात को ध्यान मे रखना आवश्यक और उपयोगी होगा। मनु महाराज के समान ये सत कवि सदाचार शास्त्र के रचयिता नही थे। इन्होने जिस दृष्टि से सदाचार के नियमो की रचना की, वह मनु की दृष्टि से कुछ भिन्न और पृथक् है। दोनो के कोण और लक्ष्य मे किंचित् विभेद है। फिर भी दोनो के दृष्टिकोण मे पारस्परिक वैषम्य नही है, हो भी नही सकता।

मनु की स्मृति की रचना केवल सात्विकी, सदाचारी व्यक्तियो के लिए हुई है। तामसी और राजसी चरित्र या प्रवृत्तिवाले व्यक्तियो की ओर उनकी विचारधारा प्रसार नही पा सकी, परन्तु सतो की सदाचार-पयस्विनी मे सभी वर्ग, वर्ण और व्यक्ति अवगाहन करके जीवन को समुन्नत और कल्याणकारी बना सकते है। मनु जी ने केवल सदाचार-नियमो की रचना के हेतु 'स्मृति' जैसा विशाल ग्रन्थ लिख डाला और सन्तो ने केवल व्यक्तिगत, धार्मिक एव सामाजिक प्रयोजनो की दृष्टि से सदाचार विषयक नियमो की रचना की। व्यक्तिगत जीवन अधिक सुष्ठु, सुन्दर और सम्पन्न बने कि विश्व के लिए वह उपयोगी और कल्याणकारी हो। सामाजिक जीवन मे सदाचार, सहानुभूति और सहकारिता का प्रसार हो, धार्मिक जीवन मे साधक दृढ होकर लक्ष्य-प्राप्ति के हेतु अग्रसर हो—यही इन सतो के सदाचार-नियमो की रचना का लक्ष्य था।

सतो के सदाचार-नियमो का प्रस्फुटन तीन क्षेत्रो मे हुआ है। ये क्षेत्र है १ व्यक्तिगत जीवन, २ सामाजिक क्षेत्र और ३ धार्मिक जगत्। इन तीनो क्षेत्रो मे कोई विभेद-रेखा नही है, वरन् ये सभी एक दूसरे का अवलम्बन लेकर आगे चलते है। ये सभी अन्योन्याश्रित है। मानव के व्यक्तिगत जीवन मे सतो ने निम्नलिखित सदाचारो पर विशेष ध्यान दिया है १ प्रेम, २ विश्वास, ३ विनय, ४ करनी-कथनी, ५ गृहस्थ की रहनी, ६ सत्य, ७ सत्सग, ८ क्षमा, ९ दया, १० परमार्थ, ११ उदारता, १२ धैर्य, १३ दीनता, १४ माया, तृष्णा, कपट, १५ शील, १६ इन्द्रिय-निग्रह। धार्मिक क्षेत्र मे उन सतो ने निम्नलिखित विषयो पर सदाचार-नियमो का निर्धारण किया है १ यम, २ नियम, ३ प्रत्याहार, ४ अहिसा, ५ साधुसेवा, ६ स्वच्छता, ७ दान और ८ धर्मप्रियता। सामाजिक जीवन मे सतो की दृष्टि प्रस्तुत विषयो पर गयी, इन्ही पर उन्होने अपने सदाचार प्रधान विचारो को व्यक्त किया है, १ विश्वबधुत्व, २ समदृष्टि, ३ समता या साम्य, ४ मधुर वाणी, ५ त्याग, ६ अहभावना का त्याग और, ७ व्यापक दृष्टि।

अब इनमें से प्रत्येक शीर्षक पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार-विमर्श वाछित है। सर्व-

प्रथम हम सतो द्वारा मानव के व्यक्तिगत जीवन के लिए निर्द्धारित नियमो पर विचार करेगे। इस शीर्षक मे सर्वप्रथम विषय है प्रेम। प्रेम मानव जीवन का तत्त्व है, मूल है। प्रेम का महत्व मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे है। इससे बन्धुत्व की भावना विकसित होती है। प्रेम औदार्य और विश्वास का जीवारोपण करता है। प्रेम के द्वारा साधानात्मक और भौतिक दोनो क्षेत्रो मे सहायता मिलती है। कबीर ने प्रेम को बडा महत्व प्रदान किया है। उनके मत से प्रेम जिस घट मे नही विद्यमान है वह श्मशानवत् शून्य है।[१] प्रेम मे स्थिरता प्रधान है।[२] प्रेम के अभाव मे धैर्य, लगन, वैराग्य सभी कुछ विलीन हो जाते है।[३] प्रेम दृष्टिकोण को व्यापक बना देता है।[४] सत दादू के अनुसार निश्चल सहज समाधि के लिए प्रेम-साधना अनिवार्य है।[५] प्रेम ही ब्रह्म है।[६] मलूक उस जीवन को बोधिकृत मानते है जहाँ प्रेम ने प्रवेश नही पाया है। चरनदास जी आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रेम को जप, तप, दान, ध्यान, योग, साधना आदि[७] से श्रेष्ठ मानते है।[८]

प्रेम के अनतर साधना के क्षेत्र मे मानव के लिए विश्वास आवश्यक तत्त्व है। कहा गया है कि 'विश्वासो फल दायक'। ब्रह्म मे पूर्ण विश्वास रखना ही आत्म-सतोष और धैर्य का श्रीगणेश है। सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक जीवन मे विश्वास निश्चितता प्रदान करता है। तभी कबीर ने निश्चित होकर विश्वास को दृढ करने का उपदेश दिया है।[९] सत दादू भी कबीर के सदृश मनसा,

---

१. जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, सांस लेत बिन प्रान।। —संतबानी-संग्रह १,१९,९।

२. खिनहि चढ़ै खिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघर प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहा, सोय।। —वही वै १,१९,५।

३. प्रेम बिना धीरज नहीं, गिरह बिना बैराग।
सतगुरु बिन जावै नहीं, मन मनसा का दाग।। १,१९,११।

४. जहां प्रेम तहं नेम नहि, तहां न बुधि ब्यौहार।
प्रेम मगन जन मन भया, तब कवन गिनै तिथि बार।। —वही, १,२०,१७।

५. प्रेम भगति जब ऊपजै, निहचल सहज समाध।
दादू पीवै प्रेम रस, सतगुरु के परसाद।। —वही, १,८२,१२।

६. इसक अलह की जाति, है इसक अलह का अंग।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग।। —१,८३,१२।

७. प्रेम नेम जिन ना कियो, जीतो नाही मैन।
अलख पुरुष जिन ना लख्यो, छार परो तेहि नैन।। —१,१०१,१।

८. प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।
प्रेम भक्ति बिन साधवो, सब ही थोथा ध्यान।।

९. कबीर क्या मै चितऊं, मम चिंते क्या होय।
मेरी चिंता हरि करै, चिंता मोहिं न कोय।। —वही, १,२१,१।

बाचा, कर्मणा विश्वास-स्थापना के पक्ष मे है। कारण कि चिन्ता मानव का शत्रु है। जो कुछ होना है वह होगा ही, फिर चिन्ता की क्या बात है।[१०]

दरिया साहब (बिहार वाले) जीवन मे विश्वास का बडा महत्व मानते हैं।[११] इन्ही सतो के समान गरीबदास भी शील, सतोष, विवेक, बुद्धि, दया, धर्म आदि का आधार इसी विश्वास को ही मानते है—

सील सतोष बिबेक बुद्धि, दया धर्म इक तार।
बिन निहचै पावै नही, साहिब का दीदार॥—स०बा०स० १,१९१,१।

विश्वास के अनन्तर विनय सदाचार के क्षेत्र मे सहायक है। सद्भावना और प्रेम की स्थापना मे विनय की समान रूप से उपयोगिता है। सामाजिक एव धार्मिक जीवन मे विनय ही सदैव वाछनीय है। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि की विनय-भावना ने मानवता के समक्ष जिन आदर्शों को उपस्थित किया, क्या वे सर्वथा स्पृहणीय नही है? सतो ने विनय को एक अलकार माना है।[१२]

व्यक्तिगत जीवन हो या धार्मिक तथा पारिवारिक अथवा सामाजिक—हर क्षेत्र मे करनी तथा कथनी का समन्वय आवश्यक है। कोरी कथनी मानव को व्यावहारिक क्षेत्र मे कभी सफलता नही प्रदान कर सकती है। जीवन मे कथनी-करनी का साम्य और सतुलन परमावश्यक है। जीवन सतुलन का ही प्रतीक है। जहाँ सतुलन नष्ट हुआ, वहाँ सभी दृष्टिकोण एकागी हो जाते है। इसीलिए कबीर, चरनदास आदि ने करनी-कथनी के सामंजस्य पर जोर दिया। कथनी मे प्रवृत्त और करनी से विहीन या शून्य मानव आलसी और गप्पी कहा जाता है। इसलिए कबीर ने कहा है —

मारग चलते जो गिरै, ताको नाही दोस।
कह कबीर बैठा रहै, ता सिरि काले कोस॥[१३]
कथनी मीठी खाड सी, करनी बिष की लोय।
कथनी तजि करनी करै, तौ बिष से अमृत होय॥[१४]
कबीर के सूरे घने, थोथे बाँधे तीर।
बिरह बान जिनके लगा, तिनके बिकल सरीर॥

दादू[१५], तथा चरनदास[१६] आदि सतो ने भी इसी प्रकार इस भाव का प्रतिपादन अपने ढग से किया

---

१०. च्यंता कीयां कुछ नहीं, च्यंता जीव कूं खाय।
हूणां था सो ह्वै रह्या, जाणा हो सो जाय॥—वही, १,८४,३॥

११. भजन भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।
प्रीत प्रतीति इन नाम पर, संत बिबेकी दास॥—वही, १२२,१॥

१२. संतबानी संग्रह; भाग १, पृ० २४,७२,८५,१०२,११४,१३७,१४५,१७२,॥

१३. संतबानी संग्रह; भाग १, पृ० ४७,५। १४. वही, पृ० ४७,१। १५. वही, पृ० ४७,२। १६. वही पृ० १३।

है। 'गृहस्थ की रहनी को अग' शीर्षक मे सदाचार के कुछ बडे महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इसमे गृहस्थ के लिए आवश्यक कर्मो का उपदेश किया गया है। कबीर के शब्दो मे गृहस्थ के सदाचार निम्नलिखित हैं—

जो मानुष गृह धर्म युत, राखै सील बिचार।
गुरुमुख बानी साधु सग, मन बच सेवा भार।।
सत्त सील दाया सहित, बरतै जग ब्यौहार।
गुरू साधु का आस्रित, दीन बचन उच्चार।।
गिरही सेवै साधु तो, साधू सुमिरै नाम।
या मे धोखा कछु नही, सरै दोऊ को काम।।

बैरागी की रहनी कबीर ने निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त की है—

घारा तो दोऊ भली, गिरही कै बैराग।
गिरही दासातन करै, बैरागी अनुराग।।
बैरागी बिरकत भला, ग्रेही चित्त उदार।
दोउ बातो खाली पडै, ताको वार न पार।।

धैर्य सदाचार का महत्वपूर्ण अग है। मनु ने इस धर्म मे सर्वप्रथम धृति या धैर्य को माना है। 'भर्तृहरि नीति-शतक' मे धैर्यवान् व्यक्तियो की बडी सराहना की गयी है। धैर्य प्रत्येक कार्य की साधना में सहायक होता है, तथा विशेष साधना के सोपानो को सम्यक् धैर्यपूर्वक ही क्रमश पार करना पड़ता है। धैर्यवान् को पाप का स्पर्श नही होता है। विपत्ति और सकटो मे धैर्य की नौका पर बैठ कर ही सासारिक मन-सागर का उल्लघन करते है। धैर्ययुक्त हुए बिना मन का वश मे होना किसी प्रकार से भी सभव नही है। सदाचार के लिए धैर्य अमोघ वरदान है। कबीर,[१७] दूलनदास[१८] आदि सतो ने धैर्य को सदाचार का अभेद्य अग माना है।

सत्य मानव का अनिवार्य गुण है। 'सांच बराबर तप नही झूठ बराबर पाप', 'सत्य जयते नानृतं'। 'महाभारत' मे कहा गया है कि सत्य के बराबर कोई धर्म नही और झूठ के बराबर कोई पाप नही है। धर्म सत्य के आश्रय से टिकता है। इसलिए सत्य का लोप नही करना चाहिए। सत्य से दान-दक्षिणा युक्त यज्ञो का, अग्नि-होम का, वेदाध्ययन का और अन्य धर्मों का फल मिलता है। हज़ार अश्वमेध यज्ञो का फल तराज़ू की एक ओर और सत्य दूसरी ओर रख कर तौला जाय तो हज़ार अश्वमेध की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा।[१९] शास्त्र का भी यही मत है। योगदर्शन के अनुसार मन सहित वाणी के यथार्थ कथन का नाम सत्य है।[२०] सत्य सदाचार का आधार है। सत्य ब्रह्म के अन्तर्गत निवास करता है। सत्यप्रिय स्वर्ग का और असत्यभाषी नरक का भागी होता है। सत्य श्रेष्ठ तप है। सत्य मे अनुरक्त

---

१७. संतबानी; भाग २, पृ०५१,१,२। १८. संतबानी; भाग २, पृ० १३७,१,२।
१९. महाभारत; शान्तिपर्व अ० १६२। २०. योगदर्शन; साधपाद ३।

व्यक्ति को श्राप व्यथित नही करते है। और यथार्थ तो यह है कि सत्य ही ब्रह्म के नाम का पर्याय है। जब सत्य ही ब्रह्म का पर्याय है तो सत्यवादी सर्वथा अभिनन्दनीय और पूजनीय है। हमारे सदाचार मे सत्य का व्यवहार अधिकाधिक होने से हम विश्वास, श्रद्धा और प्रेम के पात्र बनते है।[२१]

मानव धर्म अथवा सदाचार का एक आवश्यक अग है इन्द्रिय-निग्रह। व्यक्तिगत जीवन मे उसके द्वारा स्थिरता, सबलता और शक्तिसम्पन्नता तो प्राप्त होती है, परन्तु सामाजिक और धार्मिक जीवन मे भी इसकी अपनी महत्ता तथा आवश्यकता है। इन्द्रिय-निग्रह सदाचार की आत्मा या सर्वस्व है। मनु महाराज के शब्दो मे यह इस प्रकार है—

'इद्रियो के विषयो मे सलग्न करने से मनुष्य दोषो को प्राप्त होता है। पर इन्ही इद्रियो को भली प्रकार वश मे कर लेने से उसे परम सिद्धि प्राप्त होती है।' इद्रियो की लोलुपता मानव को बडे-बडे भयकर कृत्यो मे फँसा देती है। चरित्र ही मनुष्य की सब से बडी विशेषता होती है। यदि वही विशेषता नष्ट हो गयी तो वह समस्त गुणो से सुशोभित होता हुआ भी समादरित नही होगा। भारतवर्ष मे इद्रिय-सयम पर सदैव से बडा ज़ोर रहा। हिन्दी के सत कवियो ने सदाचार मे इद्रिय-निग्रह या और अन्य साधनो की ओर जगत मे सामान्य वर्ग का ध्यान आर्कार्षित किया है। कबीर, दादू, मलूक, चरनदास, आदि सतो ने इस विषय पर अपने विचारो को सविस्तर प्रकट करके सदाचार के इस अग को और व्यापक बना दिया है।[२२]

सन्तो ने सत्सग, क्षमा, दया, परमार्थ, दीनता, एवं शील को सदाचार का अनिवार्य अग माना है।[२३] सत्सग सद्‌बुद्धि का प्रचारक और प्रेरक है। मानसिक विकारो से बचने के लिए चेतना और विवेक सजग करने के लिए तथा आत्मिक विकास प्राप्त करने के लिए सत्सग आवश्यक है। यह सदाचार के लिए एक पोषक तत्व है। सत्संग जीवन के लिए पारस है। जीवन का विचार, सद्‌वृत्तियो का उदय और परिष्कार जितना सत्संग के द्वारा होता है उतना अन्य साधनो से नही। इसी प्रकार क्षमा, दया, परमार्थ, उदारता, दीनता एव शील के द्वारा सदाचार का विकास होता है और मानव सामाजिक जीवन मे अपने सत्कर्मो के प्रकाश से मानवता को आलोकित करता है।

धार्मिक क्षेत्र मे सतो ने यम, नियम, प्रत्याहार, साधुसेवा धर्मप्रियता एव शौच को सदाचार माना है। यम-नियम की सुदृढ भित्ति पर ही साधना का उच्च भवन निर्मित्त होता है। 'पातजल योग दर्शन' मे यम पाँच प्रकार के माने गये है। ये भेद निम्नलिखित है: १ अहिसा, २, अस्तेय, ३ सत्य, ४ ब्रह्मचर्य, तथा ५. अपरिग्रह। इसी प्रकार 'पातजल

---

२१. संतबानी संग्रह; भाग १; ९४,८; २०३, ८। वही: वही: १२४, १। वही: वही: २०३,४,७। वही: वही: ४९,१। वही: वही: ४९, ९। वही: वही: ९४,१। २०३, ९०; २०३,११।   २२. संतबानी संग्रह; १,६०,१ तथा ५५।   वही; १,९८। वही; १,१०३। वही; १,११५।   २३. वही; ३१,२०१,२१९,२२९,२३०। वही; ५०। ५२, ९५, १०४,१२४,१४८। ४९,५१,६५,१६०,२०६।

योग दर्शन' मे नियम के भी पाँच भेद माने गये है शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रतिपादन। 'हठयोगप्रदीपिका' मे नियम के दस भेदो का उल्लेख हुआ है। सतो ने साधना के क्षेत्र मे यम और नियम की आवश्यकता का बारबार अनुभव किया है। इनमे से प्रत्येक भेद मनुष्य मे दैवी भावनाओ और प्रवृत्तियो का सृजन कर सकता है। ये सभी सद्भावनाओ के प्रेरक है, अत समाज के लिए इन गुणो का प्रसार परमावश्यक है। केवल यम ही को ले लीजिए। इसमे अहिसा, विश्ववन्धुत्व और प्रेम का भाव उत्पन्न करती है। वह परोपकार की निषेधात्मक पृष्ठभूमि है। दान, साधुसेवा आदि उदारता के सूचक है। शौच, सन्तोष, तप, और स्वाध्याय जीवन मे दिव्य अनुभूति का सृजन करते तथा पूर्ण जीवन के लिए इनका विकास और प्रसार आवश्यक है। इन सभी के मूल मे समाजहित की भावना सन्निहित है। इन सब का आधार है आध्यात्मिक चेतना। इसकी चेतना के अभाव मे ये तत्त्व गभीरता के साथ जम नही सकते है। ये सभी सदाचार के अग बनकर जन-कल्याणकारी भावनाओ एव वातावरण का सृजन कर सकते हैं। कबीर ने बडे विचार के अनन्तर कहा कि "घट-घट मे वह साईं रमता, कटुक बचन मत बोल।"

यह स्थिति इन नियमो और यमो को कार्यान्वित करने पर और व्यावहारिक रूप से जीवन के सभी पक्षो मे लागू करने के उपरात उत्पन्न होती है। जब सभी घटो मे एक ही आत्मा विद्यमान है तो किससे बैर किया जाय और किससे प्रेम। यम, नियम, सदाचार के रूप में उदार प्रवृत्तियों को विकसित कर स्वस्थ वातावरण प्रस्तुत करने मे सहायक होते है।

सामाजिक जीवन मे उल्लेखनीय सदाचार है सम दृष्टिकोण से समता, विश्ववन्धुत्व मधुर वाणी, त्याग, व्यापक दृष्टिकोण तथा अहं-विसर्जन। इनमे से समता, समदृष्टि और व्यापक दृष्टिकोण शब्द-भेद के साथ एक ही भाव प्रेषित करते है। ब्रह्म के घट-घट मे व्याप्त रहने की विचारधारा दृष्टिकोण मे व्यापकता का समावेश कर देती है। जब सभी मे एक ही तत्त्व विद्यमान है तो फिर परस्पर भेद-भाव कहाँ है। बिना इस प्रकार की दृष्टि के मनुष्य का हृदय विशाल और बुद्धि निर्मल नही हो सकती है। साम्य या सम दृष्टि भ्रम और विचार की विनाशक है, समता की जन्मदात्री है।[२४] जो तत्त्व हमारी दृष्टि को व्यापक, हृदय को उदार और बुद्धि को निर्मल बना देता है वह समाज के लिए कल्याणकारी है।

संतो ने कर्त्ता की बुद्धि को समस्त सदाचारो की कसौटी माना है। "परिणाम ही साधना का मापदंड है" यह सिद्धात सतो ने बारबार दुहराया है—

बना बनाया मानवा, बिना बुद्धि बे तूल।
कहा लाल ले कीजिए, बिना बास का फूल।। (बीजक साखी; ३२४)

---

२४. समदृष्टी सतगुरु किया, मेटा भरम विकार।
जहं देखों तहं एक ही, साहिब का दीदार।।
सम दृष्टी तब जानिए, सीतल समता होय।
सब जीवन की आत्मा, लखै एक सी होय।।

सतो ने भाव को प्रधान माना है और भावनाहीन पठन को व्यर्थ—

पढे गुने कछु समुझ न परई, जौ लौ भाव न दरसै। (रैं० बा०, पृ० १३)

सतो ने अन्यथा वृत्ति आचार और परम्परागत अधिकरण को रूढि ही नही अकर्म भी माना है—

सुमृति बेद पुरान पढै सब अनुभाव भाव न दरसै।
लोह हिरण्य होय धौ कैसे जो नहि पारस परसै ॥ (कबीर-बीजक, १४)



रामखेलावन पाण्डेय

जायसी : तिथिक्रम और गुरु-परम्परा

जायसी के रचना-काल और कालक्रम के सबध मे जितनी गभीरता के साथ विवेचन होना चाहिए, वह सम्भव नही हो सका है। इस प्रश्न पर विचार करते समय जायसी के उल्लेखो, गुरु-परम्परा के आधार पर निर्मित और निर्धारित तिथि-क्रम और रचनाओ मे साकेतिक घटनाओ की तिथियो पर ध्यान रखना होगा, अन्यथा भ्रम हो जाने की सभावना बनी रहेगी। चिश्तिया संप्रदाय से संयोग घटित करने के प्रयास-स्वरूप कई भ्रान्तियाँ होती रही हैं, उनके निराकरण का भी समय आ गया है। इस निबध मे इसी प्रकार के विवेचन की चेष्टा की जा रही है।

'आखिरी कलाम' (जिसे कुछ लोगो ने अन्तिम रचना होने का भ्रम उत्पन्न किया है) प्रलय-काल के पश्चात् होने वाले अन्तिम निर्णय की चर्चा करता है। मुहम्मद साहब अन्तिम पैगम्बर हैं, उनके कथनो को भी अन्तिम कथन अर्थात् 'आखिरी कलाम' मानना तर्कसंगत है। उसमें जायसी के निम्नलिखित उल्लेख हैं—

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिख ऊपर कबि बदी। (आ० क० ४।१)
नौ सै बरस छतीस जो भए। तब एहि कथा के आखर कहे। (वही १३।१)

इन कथनो से स्पष्ट होता है कि जायसी का जन्म 'नौ सदी' मे हुआ था और 'आखिरी कलाम' की रचना ९३६ हिजरी मे हुई थी। 'नौ' शब्द को लेकर जो शकाएँ उठायी जाती है और इनकी परिक्रमा के लिए 'नौ' का जो अर्थ लिया जाता है, उनकी अपेक्षा इस कथन से नही रह जाती। 'नौ सदी' का स्पष्ट तात्पर्य निकलता है ९००। इसका अर्थ नवी सदी लेना उपयुक्त नही। उस समय बाबर दिल्लीश्वर था, शाहेवक्त के रूप मे जिसका वर्णन जायसी ने इस प्रकार किया है—

बाबर साह छत्रपति राजा। राज पाट उन कहँ बिधि साजा।।
मुलुक सुलेमाँ कर ओहि दीन्हा। अदल दुनी ऊमर जस कीन्हा।। (पदमावत ८।१-२)

डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ ने 'तीस बरिख ऊपर कबि बदी' को आधार मान ९३६-३० = ९०६ हि० को जायसी का जन्म-काल माना और शुक्ल ने 'नौ सदी' के आधार पर ९०० हि० को। इन धारणाओ का खण्डन किया पटना कॉलेज के इतिहास-विभाग के अध्यक्ष और मध्यकालीन इतिहास के तत्त्वज्ञ विद्वान् प्रो० हसन असकरी ने। फुलवारी शरीफ के खानकाह से 'अखरावट' की जो हस्तलिखित पोथी उन्हे उपलब्ध हुई उसकी पुष्पिका मे ९११हि० अकित है। यदि यह प्रति प्रामाणिक है अथवा किसी प्रामाणिक प्रति की प्रामाणिक प्रतिलिपि है, तो ९०० अथवा ९०६ हि० को अमान्य करना ही पडेगा। प्रोफेसर असकरी इसे प्रामाणिक

प्रति की प्रतिलिपि मानते है और इसकी असदिग्धता मे विश्वास करते है, यद्यपि अत्यन्त सकोच के साथ स्वीकार करते है कि प्रतिलिपिकार की शिक्षा-दीक्षा सामान्य थी, अत तिथि और दिनाक के उल्लेख मे भ्रम सभव है। गणनानुसार तिथि-क्रम ठीक नही उतरता। सन् ९११ को, किन्तु, वे असदिग्ध मानते हैं। इस प्रकार 'तीस बरिख ऊपर कबि बदी' के आधार पर ९११-३० = ८८१ हि० के आस पास जायसी का जन्म-काल होगा। इस प्रति की पुष्पिका का उल्लेख है—"तमाम सुदद पोथी अखरौती ब-जुबाने मलिक मुहम्मद जायसी किताबे हिन्दवी किताबुल मिल्क ब कातिबे हुरूफ फकीर हकीर मोहम्मद मोकीन साकिन टप्पा नन्दानू उर्फ बकानू खास अमला परगना निज़ामाबाद व सरकारे जौनपुर सूबे इलाहाबाद बवक्ते जोहर जुमा जकी शहरे गुलकाद सन् ९११। दर मौज़े खास दीया मुकाम कनौरा अमला परगना नेहू खसरा मस्तूर अस्त तहरीर याफ्त ज्यिद गुफ्तार नविस्तन इजहार नीस्त।"

इस कथन मे तिथि-क्रम की जो त्रुटि है, उस पर विचार करने का एक और भी आधार है। ऐतिहासिको के साक्ष्य से प्रयाग का नाम इलाहाबाद दिया गया था और अकबर ने ऐसा नामकरण किया था। निज़ामुद्दीन के अनुसार अकबर ने झूसी-प्रयाग के समीप गगा-यमुना के सगम पर इस नगर की स्थापना की[1]। मुसलमान इतिहासकारो ने प्राग (प्रयाग), झूसी प्राग, और अरील (अडैल) नामो का उल्लेख किया है , जायसी ने भी गगा-यमुना के सगम पर स्थित अरइल (अडैल) प्रयाग का उल्लेख किया है—"कै कालिदी बिरह सताई। चलि प्रयाग अरइल बिच आई।" बदाऊनी की सन् ९०० हि० तक की चर्चाओ मे इलाहाबाद का नाम नही आता। इलाहाबाद की प्रतिष्ठा सन् ९८१ हि० मे होती है।[2] सूबे इलाहाबाद की चर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रति सन् ९८१ के पूर्व की नही हो सकती। इस अनुबन्ध मे 'जायस' पर भी विचार करना चाहिए। जायसी का कथन है—"जायस नगर धरम अस्थानू। नगर क नाँव आदि उदयानू।" स्पष्ट है कि जायस का पूर्व नाम 'उदयनगर' अथवा 'उदितनगर' था, जिसे कमल कुल-श्रेष्ठ का अनुगमन करते हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'उद्यान' बनाने का उपक्रम किया है।[3] बदाऊनी के ही प्रमाण को देखा जाय तो कम-से-कम सन् ९१२ हि० तक इसका नाम 'जायस' नही

---

१. तबकात, पृष्ठ ४३६। २. (क) बदाऊनी ने सुलतान सिकन्दर इब्न-ए-सुलतान बहलोल के सैनिक अभियान के संबंध में लिखा है कि ८९७ हिजरी मे उसने अरील (=अड़ैल), में, जो इलाहाबाद के समीप है, पड़ाव दिया (द्रष्टव्य—भाग १, पृ० ४१५) अर्थात् ८९७ तक इसका नाम इलाहाबाद नहीं था। (ख) तबकात, भा० २, पृ० ४३८। (ग) वही, पृ० ५७७। (घ) बदा०; भाग २, पृ० १७९। (ङ) 'जहाँगीरनामा' में सर्वत्र इलाहाबास लिखा है, इलाहाबाद नहीं। सौभाग्य-विजय नामक जैन लेखक ने 'तीर्थमाला' में इलाहाबास ही लिखा है। संवत् १६५४ (=सन् १५९७ ई०) की घटनाओ की चर्चा करते हुए जैन कवि बनारसीदास ने 'अर्धकथानक' में लिखा है—'फिरि उठि चले प्रयागपुर, बसे त्रिबेनी पास' (पृ० १३।१३२), 'बसे प्रयाग त्रिबेनी पास। जाको नाउँ इलाहाबास" (पृ० १३।१३३)। ३. संजीवनी भाष्य, पृ० ३५।

था। इसके उदितनगर, उदवन्तनगर अथवा उन्तगढ आदि कई भिन्न-भिन्न नाम मिलते है। इसका पूर्वनाम देवगढ भी था[४] जिसकी ध्वनि 'धरमअस्थानू' मे मिलती है। फरिश्ता के अनुसार सुलतान सिकदर लोदी ने ग्वालियर-विजय के लिए इस पर अधिकार करना आवश्यक माना था। सिकंदर लोदी ने सन् ९१२ मे उन्तगढ पर आक्रमण किया था और जायस जैसा नाम सिकदर लोदी के सैनिक पडाव के पश्चात् ही पडा होगा, क्योकि 'जैस' शब्द का अर्थ है पडाव। फुलवारी शरीफ वाली प्रति का प्रतिलिपिकार 'ब-ज़ुबाने मलिक मुहम्मद जायसी' लिखता है और यह हमने देखा कि जायस नाम ९१२ के पश्चात् पडा एव इलाहाबास नाम भी ९८१ हि० के पूर्व का नही है। इनके द्वारा स्पष्ट हो जाना चाहिए कि फुलवारी शरीफ़ वाली प्रति का तिथिक्रमोल्लेख प्रामाणिक नही। यह प्रतिलिपि सन् ९८१ के पूर्व की नही हो सकती, एव ९११ की तो किसी प्रकार नही। प्रतिलिपिकार के भ्रम से ९८१ हि० ही ९११ मे परिवर्तित है। इस प्रकार प्रोफेसर असकरी की तिथि-कल्पना सुदृढ आधार पर आधारित नही है।

जन्म-काल की समीपवर्तिनी घटना का सविस्तर वर्णन जायसी ने किया है—

आवत उधत चार बिधि ठाना। भा भूकप जगत अकुलाना।२
धरती कीन्ह चक्र बिधि भाईं। फिरै अकास रहँट कै नाईं।३
गिरि पहार मेदिनी तस हाला। जस चाला चलनी भरि चाला।४
मिरित लोक ज्यो रचा हिंडोला। सरग पताल पवन खह डोला।५
गिरि पहार परबत ढहि गये। सात समुद्र कीचि मिलि भये।६
धरती फाटि छात भहरानी। पुनि भइ मया जो सिष्टि दिठानी।७

—आखिरी कलाम, चौपाई ४।

'मुतखाबुल तवारीख' के लेखक अल्-बदाऊनी ने ३री सफर सन्९११ (छठी जुलाई १५०५) को होने वाले एक भीषण भूकम्प का वर्णन किया है।[५] 'बाबरनामा'[६] भी, जिसे 'वाकियाते बाबरी' अथवा 'तुज़ुके बाबरी' की सज्ञा प्राप्त है, इसकी सविस्तर चर्चा करता है। बाबर के अनुसार ३री सफर को "तैंतीस धक्के लगे और प्राय एक मास तक प्रतिदिन दो-तीन धक्के लगते रहे।" डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की धारणा है कि 'आवत उधत चार' मे जिस भूकम्प का वर्णन हैं वह ९११ हि० वाला नही है। किसी दूसरे भूकम्प का उन्हे पता नही चला। प्रोफेसर असकरी की धारणा को मान्यता देने के कारण ही वे इसे ९११ वाला भूकम्प नही मानते। निजामुद्दीन ने सन् ८८७ हि० (१४२८ ई०) मे होने वाले एक भूकम्प का वर्णन 'तबकात' मे किया है और उसने माना था कि यह भूकम्प ग्रहो के सयोग के कारण हुआ[७]। किन्तु, यह उल्लेख बहुत बाद का है और किसी समकालीन इतिहासकार ने इसकी चर्चा नही की है, अत इस उल्लेख को

४. आईन (बे०) भाग १, पृ० ३८० की पादटिप्पणी १। ५. अंग्रेज़ी अनुवाद (रैंकिंग) भाग १, पृ० ४२१। ६. एलियट, भाग ४, पृ० २१८। ७. द्रष्टव्य—तक़कात (डे कृत अंग्रेज़ी अनुवाद) भाग, ३, पृ० ५५०—५१। फ़रिश्ता ने भी इसका वर्णन किया है, किन्तु उसने तबक़ात-ए-अकबरी के प्रमाण का उल्लेख कर दिया है।

प्रामाणिक मानना सभव नही। ऐसी स्थिति मे जायसी द्वारा वर्णित भूकम्प ९११ वाला ही है।

'पदमावत' के रचना-काल-सबधी विवाद को भी इस अनुबन्ध मे देखना चाहिए। "सन नौ सै सैतालिस अहै। कथा अरभ बैन कबि कहै" मे सैतालिस का उल्लेख स्पष्ट है। विभिन्न प्रतियो के आधार पर जिन पाठान्तरो का क्रम डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने दिया है उनमे 'सत्ताइस' और 'पैतालिस' भी है। तर्काभास उपस्थित करते हुए अग्रवाल ने निष्कर्ष दिया है कि "हस्त-लिखित प्रतियो के आधार पर ९२७ पाठ सबसे अधिक प्रमाणित जान पडता है।"[८] कुलश्रेष्ठ ने भी एक दूसरे तर्क से सगति बिठाकर रचना का प्रारभ ९२७ मे ही माना था।[९] कुलश्रेष्ठ का तर्क है कि 'आखिरी कलाम' की रचना ९३६ हि० मे हुई थी और नाम का तात्पर्य है कि वह कवि की अन्तिम रचना है, अत 'पदमावत' की रचना का प्रारभ ९२७ हि० मे ही होना चाहिए। 'आखिरी कलाम' का यह अर्थ नही है। धार्मिक विषयो के अन्तिम निर्वचन के रूप मे ही इसकी रचना हुई है, जिसकी चर्चा हम कर चुके है। अग्रवाल ने भारत-कला-भवन, काशी की जिस कैथी प्रति का हवाला दिया है उसकी सगति 'आखिरी कलाम के कथन से बैठती है अर्थात् दोनो मे विलक्षण साम्य है—

सन नौ सै छतीस जब रहा। कथा उरेहि बएन कवि कहा। पदमा०[१०]
सन नौ सै छतीस जो भए। तब एहि कथा के आखर कहे।आ० क०

'पदमावत' की कैथी प्रति का यह उल्लेख 'आखिरी कलाम' का अनुकरण है और लिपिकार जायसीकृत 'आखिरी कलाम' की रचना-तिथि से अवगत था, फलस्वरूप 'पदमावत' के रचना-काल का उसने सशोधन कर दिया।

'पदमावत' की कोई उपलब्ध प्रति जायसी की समकालीन नही। माताप्रसाद गुप्त वाली प्रति सख्या १ फारसी अक्षरो मे है और वह 'इबादुल्लाह अलहम्द खान मुहम्मद, साकिन मुअज्जमा-बाद उर्फ गोरखपुर' द्वारा किन्ही दीनानाथ के लिए शव्वाल, ११०७ हिजरी की लिखी हुई है। ९४७ को यदि रचना-काल माना जाय तो एक सौ साठ वर्षो के पश्चात् यह प्रति तैयार की गयी। इसकी आदर्श प्रति कब की थी, इसके जानने का कोई साधन नही है। ९४५ पाठ वाली प्रति सन् ११०९ हि० की है। जिस बँगला अनुवाद का उल्लेख किया जाता है, वह सन् १६४५ ई० के पूर्व का नही अर्थात् 'पदमावत' की रचना के प्राय एक सौ वर्ष बाद का है। बिहार शरीफ वाली प्रति मे पुष्पिका नही है अत उसके लेखन-काल के सबध मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। सन् ९११ (इसके भ्रम का विवेचन किया जा चुका है) लिखित अन्य पुस्तको की जिल्द मे 'पदमावत' है, अत वह भी ९११ का है, ऐसा कथन किसी प्रकार तर्कसगत नही हो सकता। ज़ियाउद्दीन ने जायसीकृत 'पदमावती और रतनसेन की कथा' का साराश उपस्थित किया है। उसने 'पदमावत' के तीन रूपान्तरो की चर्चा की है। उसके अनुसार सन् १०२८ हि० मे शेख मुनव्वर[११] के पुत्र

---

८. पद० (भाष्य), प्राक्क०, पृ० ३३। ९. म० मु० जायसी, पृ० २५। १०. अग्रवाल; पद० पृ० ३३ की पाद-टिप्पणी। ११ शेख मुनव्वर वही व्यक्ति हैं जिसका

बज़्मी ने सम्राट् जहाँगीर के लिए फारसी रूपान्तर किया था। ज़ियाउद्दीन इबरत देहलवी ने इसके हिन्दुस्तानी रूपान्तर का प्रारभ किया, किन्तु उसे पूरा किया गुलाम अली महमदी इशरत ने। इसका एक और रूप उपस्थित किया अब्दुल जलील बिलग्रामी ने, जिसमे एक अर्धाली उर्दू मे है और दूसरी अवधी मे, जिसे लेखक ने ब्रजभाषा मानने का भ्रम किया है। इसका लिपि-कार है किसी लखन कायस्थ का पुत्र मेवालाल। बज़्मी की रचना का काल है सन् १०२८ हि० और लिपि-काल है सन् १०५० हि० और लिपिक है कोई मेवादास नामक व्यक्ति। इसके अनु-सार ९४७ हि० मे ही 'पदमावत' की रचना का प्रारभ हुआ था। प्राय अस्सी वर्ष के पश्चात् ही रचित और प्राय एक सौ वर्षो के पश्चात् लिपिबद्ध रचना मे 'पदमावत' का ९४७ मे प्रारभ होना माना गया है। नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित प्रति का उल्लेख है—"सन् नौ सै सत्ताईस हिजरी मे बज़ुबान कादिम खाँ का लिखा।" कादीम खाँ सम्भवत वही कादिम खाँ है जिसकी चर्चा जायसी ने अपने मित्र के रूप मे की है —पुनि सलार कादिम मतिमाहाँ। किन्तु निश्चित है कि उस मूल प्रति की कोई प्रतिलिपि ही आदर्श है, मूल ग्रथ नही। इस प्रकार तिथि सबधी प्रामाणिकता असदिग्ध नही रहती। इस कथा का साराश ग्रहण कर मीर असकरी आकिल खाँ राजी ने 'शमा व परवाना' नामक ग्रथ लिखा था।

'पदमावत' के रचना-काल पर विचार करते समय कुछ अन्त साक्ष्यो का आधार लेना अपेक्षित है। वर्णन-क्रम मे जायसी ने सिंहल द्वीप और उससे सबद्ध विषयो का सविस्तर वर्णन किया है। सिहल द्वीप के फलो और पक्षियो का वर्णन बाबर के वर्णनो से विलक्षण साम्य रखता है। वर्णन-क्रमो मे थोडी विभिन्नता तो है, किन्तु उनका साम्य स्पष्ट है। 'बाबरनामा' मे पक्षियो की बोलियो के अर्थ दिये गये है। इसकी ध्वनि जायसीकृत 'आपनि आपनि भाखा लेहि दई कर नाउँ' वाली अर्धाली मे मिलती है। अब्दुर्रज़्ज़ाक के वर्णनो से भी महलादि के वर्णन की समता है। यहाँ तक कि "पँवरहि पँवरि सिह गढि काढे। डरपहि राय देखि तिन्ह ठाढे।", "बहु बनान वै नाहर गढे। जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढे। टारहिं पूँछ पसारहि जीहा। कुजर डरहि कि गुजरि लीहा।" आदि का गद्यात्मक वर्णन उपलब्ध है।[१२] सिहल द्वीप के गढ का वर्णन 'बाबर-नामा' के मानसिह के गढ-वर्णन से साम्य रखता है। 'पदमावत' के कवि का 'बाबरनामा' से परिचय है और उसके स्रोतो का ज्ञान भी। शेरशाह बाबर के पक्ष मे लडा था और सम्भव है कि जायसी शेरशाह के साथ रहे हो और उसी काल मे मानसिह के गढ पर विजय प्राप्त होने के पश्चात् वहाँ के गढ को देखा हो, जिसका वर्णन सिहल द्वीप के गढ-वर्णन मे सयुक्त हो गया। इन दोनो मे इतना साम्य है कि प्रभाव-ग्रहण की सीमा निर्दिष्ट हो जाती है।

अलाउद्दीन और रत्नसेन के जिस युद्ध का वर्णन 'पदमावत' मे है, वैसा ही एक और युद्ध शेरशाह और रतन सिह या सेन (फारसी इतिहासो के रामसेन) के मध्य हुआ था। रतनसिह

उल्लेख आईन-ए-अकबरी (ब्ला० भाग १, पृ० ५४७) मे हुआ है और जिसकी चर्चा बदाऊनी ने भी (अंग्रेजी अनुवाद, भाग ३, पृ० ८६) की है। १२ इलियट और डाउसन, भाग ४, पृ० ११२।

की ओर से युद्ध किया था पूरनमल राजा सालहडी (सिसोदिया) पूरबिया ने। सालहडी अथवा सिलहडी सिसोदिया के ही रूपान्तर है, जो गुहिलौतो की पूर्वी शाखा है। मनूची ने पूरबिया और बघेल शाखाओ को एक माना है।[13] रतनसेन के सेनापति पूरनमल ने चदेरी पर आक्रमण किया था। इस लेखक के अनुसार रायसेन की हरम मे दो हज़ार हिन्दू और मुस्लिम पत्नियाँ थी। सन् ९५० हि० मे यह युद्ध हुआ। शेरशाह और पूरनमल मे सन्धि हो गयी, किन्तु मीर सैयद रफी उद्दीन सफवी की प्रेरणा से शेरशाह ने सन्धि की अवमानना की। दोनो सेनाओ मे भयानक सग्राम हुआ। राजपूतो ने पराक्रम, शौर्य और वीरता का प्रदर्शन किया। बदाऊनी के अनुसार दस हजार स्त्री-पुरुषो ने मृत्यु का वरण किया। पुरुष युद्धक्षेत्र मे खेत रहे और स्त्रियो ने जौहर किया।[14] 'तारीख़-ए-शेरशाही' के अनुसार राजपूतो की सख्या पन्द्रह सौ थी (सोलह सौ चडोल मँवारे—जायसी)। 'तुजुके बाबरी' मे रतनसेन और विक्रमादित्य को राणा सग्राम सिह (राणा साँगा) का पुत्र कहा गया है। राणा साँगा की मृत्यु के पश्चात् रत्नसिंह राणा हुए। रत्नसिह निस्सतान मरे, अत उनकी मृत्यु के पश्चात् विक्रमादित्य राणा हुए। 'तुजुके बाबरी' मे राणा विक्रमादित्य की माता का नाम पद्मावती दिया गया है और रतनसी के राजत्व की भी चर्चा है।[15]

कुछ ग्रथो के अनुसार सन् १५४२ ई० मे राणा रत्नसेन की मृत्यु हुई, किन्तु, फारसी इतिहासो के साक्ष्यानुसार उनका ९५० हि० तक जीवित रहना सिद्ध होता है। पूर्णमल्ल के साथ शेरशाह का जो युद्ध हुआ, उसमे रत्नसिंह उपस्थित नही दीखते। राणा रत्नसिंह ने आमेर के नरेश पृथ्वीराज की पुत्री से गुप्त विवाह किया था और इसका परिज्ञान पृथ्वीराज को नही था। राजा पृथ्वीराज ने अपनी उस पुत्री का विवाह हाडावशीय सरदार सूरजमल के साथ करना चाहा अथवा कर दिया। राणा रत्नसिंह और सूरजमल ने अहेरिया के उत्सव के दिन द्वद्व-युद्ध किया। फलस्वरूप सूरजमल की मृत्यु तो तत्काल हो गयी, किंतु रत्नसिंह की मृत्यु चित्तौड मे कुछ समय के पश्चात् हुई। 'देवपाल-दूती-खण्ड' मे जायसी का कथन है—"कुभलनेरि राय देवपालू। राजा केर सतुरु हिय सालू।" शत्रुता के कारण का स्पष्ट कथन नही है, किन्तु पद्मावती को वश मे करने की आकाक्षा इसे स्पष्ट कर देती है। दूती का नाम कुमुदिनी है और जायसी का कथन है—"कुमुदिनि रही कँवल के पासा। बैरी सूरुज चाँद की आसा।" 'बैरी सूरुज' मे क्या सूरजमल की ध्वनि नही? 'रतनसेन-देवपाल-युद्ध खण्ड' मे द्वद्व-युद्ध का वर्णन भी आया है—"दुवौ लरैं होइ सनमुख लोहे भएउ असूझ। सतुरु जूझि तब निबरैं, एक दुहूँ महँ जूझ॥" युद्ध के परिणाम का वर्णन करते हुए जायसी लिखते है—"चढि देवपाल राउ रन गाजा। मोहि तोहि जूझि एकौझा राजा। मेलेसि साँगि आइ बिष भरी। मेटि न जाइ काल की घरी। आइ नाभितर साँगि बईठी। नाभि बेधि निकसी जहँ पीठी॥ चला मारि तब राजै मारा। कध टूट धर परा निनारा।" आघात के कारण रत्नसिंह की दशा यह हुई कि—"सुद्धि बुद्धि सब बिसरी बाट

---

१३. मनूची; भाग २, पृ० ४५९। १४. तब० अक०; भाग २ (अंग्रेज़ी अनुवाद); पृ० १७०-१। १५. तुजुके बाबरी (अं० अनु०) भाग ६, पृ० ६१२–६१३।

परी मँझ बाट। हस्ति घोर को काकर घर आना कै खाट।" इतिहास-ग्रथो का साक्ष्य है कि रत्न-सिह की अनेक पत्नियाँ सती हुई और जायसी भी इसका समर्थन करते है। जायसी वर्णित रत्न-सिंह और राणा साँगा के पुत्र रत्नसिह के उत्तरकालीन इतिवृत्त मे मनोरजक और विलक्षण साम्य है। जायसी के शेरशाह और अलाउद्दीन मे पराक्रममूलक साम्य दीख पडता है।

रत्नसेन के बन्धन-मोक्ष के साधनो का ऐतिहासिक आधार भी उपलब्ध है। पद्मिनी ने सोलह सौ पालकियो मे शस्त्र-सज्जित राजपूत वीर वैठा दिये थे। वाहक भी शस्त्रसज्जित सैनिक थे। यह कहा गया था कि पद्मिनी के साथ उसकी सोलह सौ सखियाँ भी अलाउद्दीन के हरम मे जा रही है—

सोरह सौ चडोल सँवारे। कुँवर सजोइल कै बैसारे।
सोरह सै सँग चली सहेली। कँवल न रहा औरु को बेली।

निजामुद्दीन ने 'तबकात-ए-अकबरी' मे शेरशाह के प्रसग मे एक ऐसी ही घटना का उल्लेख किया है।[१६] इसके साक्ष्यानुसार शेरशाह ने रोहतास गढ के दुर्गाधिपति से प्रार्थना की कि मुगलो से रक्षा प्राप्त करने के लिए उसके परिवार को आश्रय चाहिए। अनुनय-विनय के पश्चात् दुर्गा-धिपति ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। शेरशाह ने एक हजार डोलियो मे सैनिक बिठा दिये। अगली कतार वाली डोलियो मे कुछ स्त्रियाँ रख दी गयी थी जिससे सदेह न हो सके। दुर्गाधिपति ने डोलियो की जब जाँच करनी चाही, तब नारियो की सम्मान-रक्षा का प्रश्न उठा कर बाधा उपस्थित की गयी। डोलियो मे बैठकर सैनिक दुर्ग मे प्रवेश पा गये और इस प्रकार सामान्य युद्ध के पश्चात् गढ अधिकृत कर लिया गया। राजा-मुक्ति वाला अश इस घटना के घटित होने के पश्चात् ही लिखा गया है।[१७] अलाउद्दीन ने रणथभौर, नरवर, जूनागढ, चपानेर, माडौ, चदेरी, ग्वालियर, खधार, कालिंजर, अजयगिरि, बिजयगिरि, उदयगिरि, देवगिरि आदि गढो और उनके गढपतियो पर विजय पायी थी। फारसी इतिहासकारो का उदयगिरि ही उदय अथवा उदितगढ है। गिरि का गढ के अर्थ मे प्रयोग मिलता है। यह उदितगढ अथवा उदयगढ जायसी का 'उदयानू' है। रोहतास पर शेरशाह ने विजय प्राप्त की थी। कालिंजर-विजय ९५२ हि० (१५४५ ई०) मे हुई—"छेका गढ जोरा अस कीन्हा। खसिया मगर सुरँग तेइँ दीन्हा। हब्शी रूमी और फिरगी। बड बड गुनी औ तिन्ह के सगी।" इन पक्तियो मे 'फिरगी' शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है। फिरगियो ने मुगलो की सेना मे नौकरी की थी और उनकी ओर से युद्ध भी किये थे, किन्तु इस घटना का प्रामाणिक उल्लेख सन् १६०८ ई० के पूर्व का नही

---

१६. अंग्रेजी अनुवाद, भाग २, पृ० १६२–६३। १७. 'तारीख़-ए-शेरशाही' के अनुसार शेरशाह ने चूड़ामन ब्राह्मण के माध्यम से रोहतास गढ़ के राजा को दुर्ग छोड़ने पर राजी कर लिया था। 'चूड़ामन' और 'हीरामन' का संयोग आकस्मिक ही नहीं है। हीरामन के लिए जायसी का उल्लेख है "सुआ एक पदुमावति ठाऊँ। महा पडित हीरामन नाऊँ।" और उसने भी अपने क्रेता ब्राह्मण से कहा था,—"हम तुम्ह जाति बराभँन दोऊ। जातिहि जाति पुँछ सब कोऊ।"

प्राप्त होता। बदाऊनी ने फिरगियो के द्वारा सुलतान बहादुर के प्रति किये गये विश्वासघात का वर्णन किया है।[१८] यह घटना ३री रमजान ९४३ हि० की है। उत्तर भारत का फिरगियो से परिचय ९४३ हि० के पूर्व का नही जान पडता। सन् ९२७ हि० मे 'फिरगी' का प्रयोग सम्भव नही था। 'राजा-बादशाह-खण्ड' मे अलाउद्दीन की ओर से युद्ध करने वालो मे मलिक जहाँगीर का उल्लेख आया है—"मलिक जहाँगीर कनउज राजा। ओहिक बान पारित कहँ बाजा।" (५२९।५)। चौसा-युद्ध (९ सफर ९४६ हि० = २७ जून, १५३९ ई०) मे विजय प्राप्त करने के पश्चात् शेरशाह ने हुमायूँ के सेनाध्यक्ष जहाँगीर कुली बेग से युद्ध किया था।[१९] सम्भव है, इस प्रसग के लिखते समय जहाँगीर का नाम जायसी को स्मरण हो आया हो।

सुलतान सिकन्दर लोदी की मृत्यु १७वी (फरिश्ता के अनुसार ७वी) जुलकदा, ९२३ हि० (जनवरी १५१८ ई०) को हुई और उसके पश्चात् सुलतान इब्राहीम लोदी दिल्लीश्वर हुआ। बाबर की प्रथम विजय ९३० हि० ('फतह वा दौलत' तारीख है जिसके अक्षरो की नियत सख्या का योगफल ९३० होता है) मे हुई। पानीपत के युद्ध मे उसकी विजय जुमैदुल् अखीर ९३२ हि० (१२वी अप्रैल, १५२६ ई०) को हुई। बाबर के राजत्वकाल मे 'पदमावत' की रचना का प्रारभ मानने वाले इस ऐतिहासिक तथ्य का विस्मरण कर बैठते है कि ९२७ हि० मे बाबर का भारतीय अभियान प्रारभ भी नही हुआ था। जायसी ने ९३६ हि० मे रचित 'आखिरी कलाम' मे 'बाबर साह छत्रपति राजा' लिखा है। 'पदमावत' मे शेरशाह के प्रताप-वर्णन मे जायसी ने जैसा उत्साह प्रदर्शित किया है, वैसा बाबर के वर्णन मे नही। इससे जायसी की अन्तर्वृत्ति की सूचना मिलती है। जायसी पठान थे और पठान शेरशाह की विजय से उनके उल्लास की सीमा नही रहती। ऐसा प्रतीत होता है कि उस विजय मे जायसी का भी भाग है। 'मलिक' की उपाधि भी सैनिकाध्यक्ष होने की सभावना पर प्रकाश डालती है।

तिथि-क्रम पर विचार करते समय 'ना-नारद तब जाइ पुकारा एक जुलाहे से मैं हारा।'[२०] मे कबीर के सकेत देखे गये है। हम लोगो के प्रसिद्ध सत कबीर के अतिरिक्त कई कबीर हो गये है। शेख कबीर और कबीर अहमद दो व्यक्ति तो अधिक प्रसिद्ध हुए थे। इन दोनो की कुछ रचनाएँ भी उपलब्ध है। चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार 'अखरावट' मे जुलाहे से तात्पर्य कबीर से है। वे कबीर को साधारण जुलाहा नही मानते।"[२१] नारद भक्ति-सूत्र' के रचयिता और भक्ति मार्ग के सस्थापक माने जाते है, उन्हे जुलाहे से पराजित कराना जायसी के इस्लामी मत-समर्थन का द्योतक है न कि कबीर को असाधारण मानने का उपक्रम। यदि किसी व्यक्ति-विशेष से इसका

---

१८. बदा०; भाग १, पृ० ४५८ 'तारीख़-ए-खानजहाँ' में भी डोलीवाली कथा का समर्थन है। (द्र० अंगरेजी अनुवाद, भाग २, पृ० ११५)। १९. बादशाह (हुमायूँ) ने जहाँगीर बेग को पहले ही लिखा था कि एक मंजिल आगे चलो। जब वह गढ़ी पर पहुँचा तब युद्ध हुआ जिसमें जहाँगीर बेग घायल हुआ; हुमायूँनामा हिं० अ०; पृ० ७२)। २०. ना-नारद सँग रोइ पुकारा (फुलवारी शरीफ वाली प्रति)। २१. काशी-नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, सं०१९८०वि०।

सबध ही जोडना आवश्यक हो तो इस उल्लेख का सबध मीर सैयद मुहम्मद से सम्भव है जिसने 'फिक्री' उपनाम से रचनाएँ की थी और जिसका जुलाहा होना प्रसिद्ध है। महदी मीर सैयद मुहम्मद से इसका सयोग आकस्मिक नही कहा जा सकता। हजरत मुहम्मद साहब को भी काली कमलीवाला कहा जाता है और सूफी की व्युत्पत्ति तो 'सुफ' (ऊन) से सर्वमान्य है ही। सूफी लोग हजरत मुहम्मद साहब को प्रथम सूफी मानते है। जुलाहे मे इनकी ध्वनि आकस्मिक अथवा अप्रत्याशित नही।

'हिंदू तुरकन्ह महँ भई लडाई' मे मुगलो के प्रति परोक्ष भर्त्सना भी व्यञ्जित है। मुगलो को उस काल मे तुर्क ही माना जाता था और बाबर की मूल आत्मकथा तुर्की भाषा मे ही है। पठानो और अफगानो की विजय के उल्लास मे आत्म-गौरव का अनुभव जायसी के अफगान होने का सूचक है। जिस महदवी सिद्धान्त के जायसी अनुयायी थे, उसका प्रचार भी अफगानो मे विशेषतया था। तुर्कों के प्रति जिस भर्त्सना की अभिव्यक्ति जायसी मे है उसके सकेत बदाऊनी मे मिलते है।[२२]

जायसी ने अपने मित्रो मे शेख बडे का उल्लेख किया है। फारसी इतिहासो मे शेरशाह के समकालीन शेख बुध (बुढ) की जो चर्चा मिलती है, वह इन्ही शेख बडे की है। लिपि के कारण ऐसा भ्रम सम्भव हुआ है। शेख बुढ (न) ने सासाराम को अपना निवासस्थान बनाया था। इनकी समाधि का तो पता मुझे नही चल सका है, किन्तु सासाराम के निकट जिस पहाडी को इन्होने अपना निवासस्थान बनाया था, उसका नाम ही 'बुढ्ढन पहाडी' पड गया है। सासाराम शहर से प्राय दो मील की दूरी पर यह पहाडी स्थित है। शाह मदार की समाधि भी समीप मे है और इनके नाम पर 'मदार दरवाजा' नामक मुहल्ला भी बसा हुआ है। चदन पीर की पहाडी से हटकर थोडी दूरी पर यह पहाडी अवस्थित है।

'पदमावत' के लिए यह कथन उपयुक्त नही कि उसकी रचना का प्रारभ ९२७ हि० मे हुआ और समाप्ति हुई ९४७ हि० मे। डोलीवाली घटना, मलिक जहाँगीर और फिरगियो के उल्लेख से सूचना मिलती है कि ९४७ हि० मे ही इसका प्रारभ हुआ था। मझनकृत 'मधुमालती' की रचना ९५२ हि० मे हुई—'सबत नौ सै बावन भयऊ, सती पुरुख कलि परिहर गयऊ। तौ हम चित उपजा अभिलाखा, कथा एक बाँधउ रस भाखा।" उस काल मे सलीम शाह सूर (इस्लाम शाह) दिल्लीश्वर था। १५वी रवि-उल्-अव्वल ९५२ हि० (=सन् १५४५) को सलीम शाह ने राज्यारोहण किया। प्रारभिक काल दुश्चिंताओ का था। इस तिथि के पश्चात् ही 'मधुमालती' की रचना हुई होगी। मझन ने 'पदमावत' का उल्लेख नही किया है, अर्थात् उस समय तक उसकी ख्याति नही हुई थी। आश्चर्य का विषय है कि शेरशाह सूर की सभा मे सम्मान पानेवाले कवि की रचना का परिचय सलीमशाह के राजत्वकाल के प्रारभ मे लिखने वाले मझन को नही। 'सबत सोलह सै सतसठा' का उल्लेख करते हुए बनारसीदास ने 'मधुमालती' और 'मृगावती' की चर्चा की है—"तब घर मैं बैठे रहैं, जाइँ न हाट बजार। मधुमालति मिरगा-

---

२२ द्रष्टव्य—बदाऊ० (अंग्रेजी अनुवाद) भाग ३, पृ० १।

वती, पोथी दोइ उदार।" (अर्द्धकथानक, पृ० ३१।३३५)। किन्तु इस कथन से मझनकृत 'मधुमालती' का ही आशय लेना सर्वथा उपयुक्त नही। जैन कथाओ मे 'मृगावती' और 'मृणालवती' की गाथाएँ मिलती है। मझन का वास्तविक नाम शेख मगन था और वे शेख मुहम्मद गौस ग्वालियरी के शिष्य थे। ये शत्तारी परम्परा के सत एव शेरशाह के समकालीन थे। हुमायूँ के यहाँ इनकी प्रतिष्ठा थी।

तिथिक्रम पर विचार करते समय जायसी द्वारा उल्लिखित व्यक्तियो के तिथिक्रम पर ध्यान देना उपयुक्त होगा। सूफी सतो के क्रम पर विचार करते समय हमे ध्यान रखना होगा कि वशावली के दो क्रम है—सतान-क्रम और शिष्य-परम्परा। शिष्य-परम्परा मे एक कठिनाई हे कि एक ही व्यक्ति अन्य खानदानो मे अनुशासित अत परिगणित रहता है, एव सम्प्रदायो की भिन्नता आध्यात्मिक तत्त्ववाद पर आधारित नही। गुरु की प्रसिद्धि, प्रभाव और कभी-कभी अर्थ-गौरव आदि आकर्षण के आधार रहे है। गुरु से अधिक वयवाले शिष्यो का भी अभाव नही रहा है। प्रसिद्ध और प्रभावशाली सम्प्रदायो से मम्बद्ध होने और करने की चेष्टाएँ भी होती रही है।

सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती का उल्लेख जायसी ने 'पदमावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' तीनो ग्रथो मे किया है—

(१) कही तरीकत चिस्ती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू।—अख० (शुक्ल), २६।२।
कही सरीअत चिस्ती पीरू। सैयद असरफ हूँ जहँगीरू।—फुलवारी शरीफ की प्रति।

(२) मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद असरफ पीर पियारा।
जहाँगीर चिस्ती निरमरा। कुल जग महँ दीपक बिधि करा॥—आ० क० ९।१०२।

(३) सैयद असरफ पीर पियारा। तिन मोहि पथ दीन्ह उजियारा।
जहाँगीर ओइ चिस्ती निहकलक जस चाँद।
ओइ मखदूम जगत के हौ उनके घर बाँद॥—पद० १।१८

शिरेफ ने सैयद अशरफ जहाँगीर चिश्ती को शेख निज़ामुद्दीन औलिया की चौथी पीढी मे और शेख अलावल हक का शिष्य माना है।[२३] अग्रवाल ने केवल इतने से ही सतोष कर लिया कि सैयद अशरफ जहाँगीर "चिश्ती वश के सूफियो मे बहुत बडे सन्त थे। उन्ही के उत्तराधिकारी मुहीउद्दीन (सोलहवी शती का पूर्वार्द्ध) जायसी के गुरु थे।"[२४] अग्रवाल ने एक और भ्रम की सृष्टि की है कि "यह (सैयद अशरफ जहाँगीर) फैजाबाद जिले मे कछौछा के चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी सत थे, जो आठवी शती हिजरी के अत और नवमी शती के आरभ मे जायसी से काफी पहले हुए थे।"[२५] राजपूताना गज़ेटियर के अनुसार सैयद अशरफ की मृत्यु कछौछा नामक स्थान मे हुई थी, जहाँ उनकी समाधि है। किन्तु जायस नगर के बाहर उनकी दरगाह और समाधि आज तक

२३. द्रष्टव्य—शि० कृत पद० का अग्रेजी अनुवाद, पृ० १७। २४. संजीवनी, पृ० १८। २५. वही, प्राक्क०, पृ० ३८।

अवस्थित है; उन्होने जौनपुर को ही अपना स्थान बनाया था। चिश्तियो की कोई कछौछा शाखा नही है।[२६]

शेख अलाउद्दीन अलावल हक शेख आरवी सिराज (मखदूम आखी सिराजुद्दीन) के शिष्य थे। शेख अलावल हक की मृत्यु १ली रज्जब ८०० हि० (२०वी मार्च १३९८) को हुई और उनकी समाधि पडुआ नामक स्थान मे है।[२७] अलावल हक के उत्तराधिकारी और खलीफा उनके पुत्र शेख नूरुद्दीन हुए। नूरकुतुब आलम बगाल के राजा कस (जो ८०८ हि० मे बगाल का शासक हुआ) और जौनपुर के शासक सुलतान इब्राहीम शरकी के समकालीन थे। 'आईन-ए-अकबरी' (भाग ३, पृ० ४१२) के अनुसार इनका वास्तविक नाम शेख नूरुद्दीन अहमद बिन उमर असद था और जन्मस्थान था लाहौर। इनकी मृत्यु सन् ८०८ हि० (१४०५ ई०) मे हुई। राजा कस ८०८ से लेकर सभवतया ८१७ तक नरेश था, किन्तु अन्य प्रमाणो के आधार पर इनकी मृत्यु-तिथि ८५१ हि० (= १४४७ ई०) ज्ञात होती है।

सैयद अशरफ जहाँगीर का जन्म सिम्नान के सैयद कुल में हुआ था। इन्होने जौनपुर को अपना स्थान बनाया था। अखबार-उल्-अख्यार के अनुसार जायस मे इनकी ८४० हि० मे मृत्यु हुई। इस प्रकार इनकी समाधि जायस के बाहर है और दरगाह कछौछा मे, राजपूताना गज़ेटियर का कथन इस सबध मे भ्रामक है। जायसी ने सैयद अशरफ की चर्चा करते हुए 'मखदूम जगत के' और 'दस्तगीर गाढै कै साथी' लिखा है। सैयद जलालुउद्दीन बुखारी (मृ० ७८५ हि० = १३८४ ई०) की उपाधि 'मखदूम-ए-जहाँनियाँ' थी। शेख सदरुद्दीन राजू कत्तल, मखदूम-ए-जहाँनियाँ का भाई था जिसकी मृत्यु सन् ८२७ हि० मे हुई। गौस-उल्-आजम मोहिउद्दीन जिलानी के उत्तराधिकारी और खलीफा, शाह फिरोज (मृ० ९३४ हि० = १५२७ ई०) की उपाधि 'पीर दस्तगीर' थी। निश्चित रूप से जायसी का परिचय इन दोनो विरुदो से था। निज़ामुद्दीन यमनी (वह अपने को 'निज़ाम हाजी गरीब यमनी' कहता है) इनका शिष्य था जिसने अपने गुरु के उपदेशो का सग्रह 'लताएफ-ए-अशरफी' नाम से किया था।

सैयद अशरफ जहाँगीर का वर्णन करते हुए जायसी ने लिखा है—

उन्ह घर रतन एक निरमरा। हाजी सेख सभागइ भरा।
तिन्ह घर दुइ दीपक उजियारे। पथ देइ कहँ दइअ सँवारे।
सेख मुबारक पूनिउ करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥ (पद० १।१९।१-३)

शेख मुहम्मद अल् अहजी के गुरु थे मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी, जिन्होने मह-

---

२६. भाषा की असमर्थता के कारण अग्रवाल का वाक्य विपरीत अर्थ का सूचक हो गया है। गज़ेटियर की भाषा के स्वतंत्र अनुवाद का ही यह दोष है। २७. विस्तृत जीवनचरित के लिए द्रष्टव्य: जे० ए० एस० बी० (सन् १८७३) के २६२ वें पृष्ठ पर ब्लाकमैन का निबंध।

दवी सम्प्रदाय का सगठन किया था और स्वय महदी होने का दावा किया था।[28] अल् अहजी ने 'गुलशन-ए-राज' का भाष्य भी तैयार किया था। इनका उपाधि सहित पूरा नाम था अली अहजी ज़िलानी नूर बख़्शी। जायसी ने 'नूर' की विशेष चर्चा प्रत्येक ग्रथ के प्रारम्भ मे की है। महदवी सम्प्रदाय के प्रति उनका प्रेम सर्वत्र सकेतित है। इन्हे हाजी ख़लीफा का विरुद प्राप्त था और इनकी मृत्यु सम्भवतया ८७७ हि० मे हुई थी। सैयद अशरफ जहाँगीर के पत्रो का 'मकतूबात-ए-अशरफी' नाम से सकलन इनके शिष्य हाजी अब्दुल रज्जाक-उल्-हसनी-उल्-हुसैनी-अस्-सिम्मानी-उल्-उसमानी ने सन् ८६९ हिजरी मे किया था।[29] सैयद अशरफ के प्रधान शिष्य निजामुद्दीन का नाम 'निज़ाम हाजी' भी कहा गया है।

बदाऊनी ने शेख मुबारक अलवरी, शेख़ मुबारक नागोरी और गोपामऊ के काज़ी मुबारक का उल्लेख किया है। शेख मुबारक अलवरी अपने को सैयद बतलाते थे और अफगानो मे पूजित थे। शेख सलीम चिश्ती, जब अफगानो द्वारा बदी बनाये गये थे, तो शेख मुबारक अलवरी ने ही उन्हे मुक्ति दिलायी थी। शेख़ मुबारक पर सलीम चिश्ती का स्नेह था। इन्होने दो बार काबे की यात्रा की थी। बदाऊनी ने इनका दो बार साक्षात्कार किया था। सन् ९८७ हिजरी मे दूसरी बार दर्शन किये थे। सन् १००४ हिजरी की सूचना है कि इस तिथि के कुछ पूर्व उनकी मृत्यु ९० वर्षकी आयु मे हुई। इस प्रकार शेख़ मुबारक अलवरी की जन्म-तिथि ९१४ हि० के आसपास पडती है।[30] निज़ामुद्दीन ने शेख मुबारक को सैयद मुबारक अलवरी कहा है।[31] 'आईन-ए-अकबरी' मे इनकी चर्चा नही है, किन्तु शेख़ मुबारक नागौरी के प्रसग मे यह लिखा गया है कि शेख़ मुबारक अलवरी और शेख मुबारक ग्वालियरी का उल्लेख 'तबकात' मे उपलब्ध है।[31] किन्तु 'तबकात' के इस प्रसग मे इनका उल्लेख नही मिलता। 'तबकात' मे शेख़ मुबारक अलवरी और शेख़ कमाल अलवरी का समीप-समीप कथन है।[32] 'आईन-ए-अकबरी' मे शेख़ कमाल की चर्चा आयी है और बदाऊनी ने भी इनका उल्लेख किया है।[33] शेख़ सलीम चिश्ती के शिष्यो मे शेख़ कमाल अलवरी की चर्चा है जिसकी वृद्धावस्था, धार्मिक उत्साह और तन्मयता की प्रशसा बदाऊनी ने की है।[34] शेख़ मान पानीपती और शेख़ कमाल अलवरी को बदाऊनी ने शेख़ सलीम चिश्ती के प्रसग मे स्मरण किया है।

बदाऊनी गोपामऊ के काजी मुबारक—जिन्हे उनके गुरु शेख़ निज़ामुद्दीन मियाँ मुबारक कहते थे—और शेख़ निज़ामुद्दीन के उत्तराधिकारी और ख़लीफा शेख़ मुहम्मद का उल्लेख

---

२८. बदाऊनी भाग ३ के अनुवादक ने भ्रमवश मीर सैयद मुहम्मद-ए-नूर बख़्शी को बदख़्शाँ का मान लिया है। महदवी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी थे। नूर-बख़्शी उपाधि के कारण ऐसा भ्रम हुआ है। २९. रिऊ, भाग १, पृ० ४१२, बुहर लाइ० कट० भाग १, पृ० १३६, एवं ओरि० लाइ० कैट० भाग १६, पृ० ३१, ३०. द्रष्टव्य—बदा० (अं० अ०) भाग ३, पृ० १६२-१६३। ३१. तब० (डे कृत अनु०, भाग २), पृ० ७०६ की पाद टिप्पणी; ३ आ० अ०; भाग १, पृ० ५३७। ३२. वही, पृ० ७०६। ३३. आ०; भाग १, पृ० ५४६ ३४. बदा०; भाग ३, पृ० २१

किया है। शेख निजामुद्दीन शेख मआरुफ-ए-चिश्ती के शिष्य थे, जो उपाधि है और इस विरुद का धारण करनेवाला व्यक्ति नूरकुतुब आलम की परम्परा मे हुआ था। इस प्रसग मे स्मरण करना चाहिए कि निजामुद्दीन यमनी ने अपने गुरु सैयद अशरफ जहाँगीर के उपदेशो का सकलन प्रस्तुत किया था, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। शेख अल अहजी जायसी के 'सेख हाजी' के अतिरिक्त और कोई अन्य व्यक्ति नही और मआरुफ-ए-चिश्ती सैयद अशरफ जहाँगीर का ही विरुद है। शेख मुबारक अलवरी और गोपामऊ के काजी मुबारक मे अभिन्नता है। शेख मुहम्मद, शेख हातिम की मृत्यु के पश्चात्, अपने गुरु के जीवन-काल मे ही प्रधान शिष्य और खलीफा हुए। इनका नाम मियाँ शेख मुहम्मद था। शेख निजामुद्दीन ने लम्बी आयु पायी थी और अस्सी वर्ष से अधिक की अवस्था मे सन् ९७९ हि० (१५७१-७२) मे उनकी मृत्यु हुई। सन् ९०० हि० के कुछ पूर्व उनका जन्म हुआ होगा। सैयद अशरफ जहाँगीर की मृत्यु ८४० हि० मे नही हो सकती, जैसा साधारणतया माना जाता है। कई प्रतियो मे शेख मुबारक के स्थान मे शेख मुहम्मद पाठ मिलता है। इससे भी सिद्ध होता है कि निजामुद्दीन के साथ इन दोनो व्यक्तियो का सम्पर्क है और काजी मुबारक ही शेख मुबारक अलवरी है।

कमल कुलश्रेष्ठ[1] ने मलिक मुहम्मद जायसी को शेख मुबारक का शिष्य माना है और प्रमाण-स्वरूप अन्त साक्ष्य की चर्चा की है, जो 'हौ उन्हके घर बाँद' से अधिक नही है। शेख मुबारक के पश्चात् शेख कमाल का उल्लेख है, अत यदि इसका यही अर्थ लिया जाय तो जायसी का गुरु होना चाहिए शेख कमाल को, न कि शेख मुबारक को, जैसा कुलश्रेष्ठ ने माना है। जायसी के अनुसार शेख मुबारक और शेख कमाल शेख हाजी के पुत्र है। और उनके सबध मे इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

दुऔ अचल धुब डोलहिं नाही। मेरु खिखिंद तिनहुँ उपराही।
दीन्ह जोति औ रूप गोसाईं। कीन्ह खाँभ दुहुँ जगत की नाईं।
दुहूँ खंभ टेकी सब मही। दुहूँ के भार सिस्टि थिर रही।
जिन्ह दरसे औ परसे पाया। पाप हरा निरमल भौ काया। (१।१९।४-७)

इस अनुबध मे जायसी के कुछ अन्य कथनो पर विचार किया जाय। सैयद अशरफ जहाँगीर का स्मरण पीर रूप मे किया गया है। गुरु को खेवक और पीर को पतवरिया अथवा करिया (कडिहार) कहा गया है। इस परम्परा मे सतान-क्रम का उल्लेख है। शेख मुबारक और शेख कमाल के साथ जायसी का सबध स्पष्ट नही होता। इस अनुबन्ध मे जायसी का साक्ष्य उपस्थित किया जाय—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाँव आदि उदयानू।
तहाँ दिवस दस पहुँने आएउँ। भा बैराग बहुत सुख पाएउँ।
—आ० क० १०।१-२।

और 'पदमावत' मे उल्लेख है—

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू॥

माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित ग्रथावली मे इसका पाठ है "तहवाँ यह कबि कीन्ह बखानू।"

(२३।१), किन्तु विभिन्न पाठान्तरो पर ध्यान दिया जाय तो 'तहाँ आइ' की उपयुक्तता सिद्ध होती है। 'तहाँ आइ करि', 'तहाँ अवर कबि', 'तहाँ जाइ कवि' एव 'तहाँ अवनि कबि' जैसे पाठो से निष्कर्ष निकलता है कि केवल आदर्श प्रतियो मे ही ऐसे पाठ नही रहे होगे बल्कि लिपिकारो के ध्यान मे भी यह तथ्य रहा, जो परम्परा और जनश्रुति से समर्थित था। 'पदमावत' के प्रक्षिप्त छदो मे एक गुप्त द्वारा परिशिष्ट मे सकलित है—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नॉव अवध अस गाऊँ।
तहवाँ देवम दस पठाएँ आएउँ। भा बैराग बहुत दुख पाएउँ॥

'आखिरी कलाम' की उक्ति से इसमे विलक्षण साम्य है। 'आदि उदयानू' इसमे 'अवध अस गाऊँ' हो गया है, 'पहुँने' इसमे 'पठाएँ' हो गया है, जिसे अधिक मे अधिक 'पठएँ' होना चाहिए एव 'आखिरी कलाम' का 'सुख' इसमे 'दुख' हो गया है। इस प्रति का लेखक अयोध्यावासी रहा होगा, क्योकि मध्यकाल मे अयोध्या को अवध कहते थे। इन सभी कथनो मे सकेत निहित है कि जायस जायसी का मूल निवासस्थान नही, वहाँ किसी कारणवश उन्हे आना पडा था और सत्सग के फलस्वरूप वैराग्य उत्पन्न हुआ।

गुरु-परम्परा के क्रम पर विचार करना हमारे लिए अपेक्षित है—

पा-पाएउँ महदी गुरु मीठा। मिला पथ महँ दरसन दीठा।
नॉव पियार सेख बुरहानू। कलपी नगर कीन गुरु थानू।
तै उन्ह दरस गोसाईंक पावा। अलहदाद गुरु पथ लखावा।
अलहदाद जग सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद कै वै चेला।
सैयद मुहमद महदी साँचा। दानियाल दीन्ह चिन्हाई बाचा।
जुग जुग अमर सो हजरत ख्वाजे। हजरत नबी रसूल नेवाजे।
दानियाल तौ परगट कीन्हा। हजरत ख्वाज खिजिर किन चीन्हा।[३५]

'पदमावत' मे तत्सबधी उल्लेख है—

गुरु मोहिदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्हकर खेवा।
अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पथ लाइ जेहिं दीन्ह गियानू।
अलहदाद भल तिन्ह कर गुरू। दीन दुनिअ रोसन सुरखरू।
सैयद मुहमद के ओइ चेला। सिद्ध पुरुष संगम जेहि खेला।
दानियाल गुरु पथ लखाए। हजरति ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए।
भए परसन ओहि हजरति ख्वाजे। लइ मेरइ जहँ सैयद राजे।
उन्ह सौं मै पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कवि बरनी।१।२०

'गुरु मोहदी' को सामान्यतया मुहीउद्दीन मानकर जायसी को उनका चेला कहा जाता रहा है। प्रोफेसर असकरी ने 'मोहदी' को मीर सैयद मुहम्मद का विरुद माना है और इस प्रकार जायसी के गुरु होगे मीर सैयद मुहम्मद न कि मुहीउद्दीन। फुलवारी शरीफ मे प्राप्त 'अखरावट'

---

३५. अखरावट (फुलवारी शरीफ की हस्तलिखित प्रति) पद-संख्या २७।

(=अखरौती) की पुष्पिका को प्रामाणिक मानने से जायसी की जन्मतिथि ९११-३०=८८१ हि० के आसपास होगी और मीर सैयद मुहम्मद की मृत्यु ९१० हि० मे हुई, इस प्रकार प्रो० असकरी की धारणा को बल मिलता है। किन्तु, यह स्पष्ट किया जा चुका है कि फुलवारी शरीफ वाली प्रति ९८१ हि० के पूर्व की नही हो सकती। शेख मुबारक के शिष्यो मे शेख मुहम्मद और मुहिया का उल्लेख है, किन्तु शेख मुहिया जायसी के गुरु नही हो सकते, क्योकि शेख बुराहनवाली परम्परा से सम्बद्ध नही।

"पा-पाएउँ गुरु महदी मीठा। मिला पथ महँ दरसन दीठा। नॉव पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरुथानू।" की तुलना "गुरु मोहदी खेवक मै सेवा। चलै उताइल जिन्ह कर खेवा। अगुआ भएउ सेख बुरहानू। पथ लाइ जेइ दीन्ह गियानू।" के साथ यदि की जाय तो प्रचलित भ्रम का निराकरण हो जाता है। इन पक्तियो के स्पष्ट अर्थ की अवमानना के परिणाम-स्वरूप महत्त्वपूर्ण भ्रम की सृष्टि हो गयी है। सूफी-सतो के जीवनवृत्त-सबधी ग्रथ सर्वांशत प्रामाणिक नही है और इनकी शिष्य-परम्परा का इतिहास भी सरल मार्ग पर नही चलता। एक सम्प्रदाय मे दीक्षित होनेवाला न केवल अपनी अलग परम्परा ही चलाता है, बल्कि दूसरे सम्प्रदायो मे दीक्षित भी होता रहा है। गुरु के जीवन-काल मे ही शिष्य बनाने का अधिकार इन्हे मिलता रहा है। सूफियो मे से अनेक शासन-व्यवस्था से सम्बद्ध थे।

'अखरावट' वाले पाठ का सीधा अर्थ है कि गुरु महदी अर्थात् ईश्वर का सदेश वाहक है और उस खेवक, जीवन-नैया के खेनेवाले, का मैं सेवक हूँ। उस खेवक का नाम शेख बुरहान है और मैने कालपी को गुरु-स्थान बनाया है अर्थात् कालपी नगर मे मेरा गुरु-स्थान है। 'पदमावत, के पाठ का अर्थ है कि गुरु जैसे खेवक के मिलने से मेरी जीवन-नौका ससार-सागर मे उतरा कर चलती है। 'आखिरी कलाम' जिसकी रचना ९३६ हि० मे हुई थी, शेख बुरहान की परम्परा का उल्लेख नही करता। इसमे "मानिक एक पाएउँ उजियारा। सैयद अशरफ पीर पियारा। जहाँगीर चिस्ती निरमरा। कुल जग माँ दीपक बिधि धरा।" एव "तिन घर हौ मुरीद सो पीरू। सँवरत बिन गुन लावै तीरू।" तो है किन्तु शेख बुरहान आदि का कथन नही। इस प्रकार शेख मुबारक अथवा शेख कमाल का शेख बुरहान के साथ सबध जोडना असमीचीन है। सन् ९३६ हि० के पश्चात् मलिक मुहम्मद जायसी शेख बुरहान के सम्पर्क मे आये होगे। यहाँ गुरु को महदी कहा गया है और इसमे न तो मोहिउद्दीन चिश्ती के सकेत है और न मीर सैयद मुहम्मद से तात्पर्य। जायसी के अगुआ अर्थात् पथ-प्रदर्शक है शेख बुरहान। 'अखरावट' का कथन इस सबध मे स्पष्ट है कि जिस गुरु से पथ के दर्शन हुए उसका "नाव पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू।" इसका ही समर्थन मिलता है, जब वे कहते है कि 'अगुआ भए सेख बुरहानू। पंथ लाइ जिहिं दीन्ह गियानू।'

शेख बुरहान का सविस्तर वर्णन बदाऊनी ने किया है।[३६] उसने सूफियो के क्रम मे इन्हें चौथा स्थान दिया है और शेख सलीम चिश्ती (जिनकी दुआ से सम्राट् अकबर को पुत्र की प्राप्ति

---

३६. द्रष्टव्य; बदा० (अं० अ०) भाग ३, पृ० १०–१२।

हुई थी अत उसने स्मृति-रक्षार्थ पुत्र का नामकरण सलीम किया था और जो बाद मे जहाँगीर नाम से समाट् हुआ) से भी पूर्व स्थान दिया है। बदाऊनी को महदवी सम्प्रदाय के प्रति अनुराग है, अत उदारतापूर्वक इसके अनुयायियो का उल्लेख किया गया है। बदाऊनी के अनुसार बुरहान बारी के मियाँ अलहदाद के सम्पर्क मे रहे, जो मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी थे। इनका विश्वास महदवी साधना-पद्धति पर था और इन्होने प्राणायामादि यौगिक क्रियाओ का अभ्यास किया था। बदाऊनी का साक्ष्य है कि इन्होने हिन्दी मे भी रचनाएँ की थी। प्रोफेसर असकरी को 'अरिल्ल' नामक छद मे इनकी कुछ रचनाएँ फुलवारी शरीफ के खानकाह मे मिली जिन्हे उन्होने और उनके अनुकरण पर अग्रवाल ने भ्रमवश 'अरील' कहा है। बदाऊनी को इनकी रचनाओ मे ईश्वर-प्रेम, उपदेशादेश, वैराग्य, सूफी-मत-प्रतिपादन और ईश्वर-प्राप्ति के लिए आत्मा की व्याकुलता का वर्णन मिला था।[३७] सन् ९६७ हि० मे बदाऊनी ने इनका साक्षात्कार किया था और उसके साक्ष्यानुसार उनकी मृत्यु सन् ९७० (१५६२-६३ ई०) मे प्राय सौ वर्षो की आयु मे हुई।[३८] इस प्रकार उनका जन्म ८७० हि० के आसपास ठहरता है। उन्होने कालपी को अपना निवासस्थान बनाया था, जहाँ निवास के लिए छोटी सी गुफा बनवा ली थी। मृत्यु के पश्चात् शिष्यो ने उनकी इच्छा का पालन करते हुए उसी गुफा मे उन्हे समाधि दे दी। 'आईन-ए-अकबरी'[३९] मे इनकी सख्या २९वी है और उसमे भी इन्हे कालपी-निवासी कहा गया है। 'तबकात-ए-अकबरी'[४०] मे इन्हे कालीवाल कहा गया है, जो स्पष्टतया लिपिकार का भ्रम है। 'कालीवाल' का शुद्ध पाठ है 'कालपीवाल'। इनका नाम इब्राहीम था और पूरा विरुद था शेख इब्राहिम दरवेश बुरहान और पिता का नाम था अली।

जायसी के साक्ष्यानुसार अलहदाद शेख बुरहान के गुरु है—"तैं उन्ह दरस गोसाइँक पावा। अलहदाद गुरु पथ लखावा। अहलदाद जग सिद्ध नेवला।" एव "अलहदाद भल तिन्ह कर गुरू। दीन दुनिअ रोसन सुरखरू।' बदाऊनी के अनुसार बारी के मियाँ इलहदाद और शेख बुरहान की कुल तीन दिनो तक सगति रही।[४१] उसने दोनो के गुरु-शिष्य-सबध का उल्लेख नही किया है। किन्तु, इस सम्बन्ध मे जायसी का प्रमाण सर्वाधिक प्रामाणिक होना चाहिए। बदाऊनी ने मियाँ इलहदाद लखनवी, मौलाना इलहदाद अमरोही, मौलाना इलहदाद सुलतानपुरी, एवं मौलाना इलहदाद-ए-लगरखानी का विवरण दिया है। किन्तु इनमे से किसी एक के साथ जायसी के अलहदाद की सगति नही बैठती। 'मआसिर-उल्-उमरा' के अनुसार सैयद अलहदाद महदवी मत के प्रवर्त्तक सैयद मुहम्मद जौनपुरी के वशज थे। वे अपने पुत्र सैयद अबुल फतह के साथ दक्षिण गये। सैयद अलहदाद अपनी तपस्या और आचरण की पवित्रता के लिए प्रसिद्ध थे और इनका बडा सम्मान था।

---

३७. द्रष्टव्य : बदा०, भाग ३, पृ० १२। ३८ बदा० (अ०), भाग ३, पृ० १२१। ३९. ब्लाक, भाग १, पृ० ५४९। ४० तब० (डे० कृत अनु०), भाग २, पृ० ७०९। ४१. बदा०, भाग ३, पृ० १२।

बदाऊनी ने जिसे शैख्-उल्-हिंदिया कहा है[४२], वे ही जायसी के अलहदाद है। शेख निज़ामुद्दीन अमेटीवाल, जिन्हे जायसी का शेख हाजी समझना चाहिए, और शेख इलहदिया दोनो घनिष्ठ मित्र थे। बदाऊनी[४३] ने शैख़ुल् हिंदया के उल्लेख मे इनका सविस्तर वर्णन किया है और इन्हे ख़ैराबादी कहा है, उसके अनुसार ये शेख़ सफी के शिष्य थे और शेख सईद (सैयद) की परम्परा मे थे। बदाऊनी के अनुसार शेख़ अबुल फतह गुजराती, जिसे मआसिर-उल्-उमरा ने दकनी लिखा है, मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी के जामाता थे।[४४] हमने देखा है कि अबुल फतह अलहदाद के पुत्र थे और अलहदाद मीर सैयद मुहम्मद के शिष्य। शेख अलहदाद की मृत्यु सन् ९९३ हि० (१५८५ ई०) मे हुई।[४५] शेख़ अबुल फतह के प्रसग मे यह भी बदाऊनी का उल्लेख है कि मीर सैयद मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् यह विवाह हुआ था और इन्होने मीर के दर्शन नही किये थे।

अहलदाद (मृ० ९९३ हि०) के दीक्षा-गुरु है मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी और इन्होने लम्बी आयु पायी थी। इनके शिष्य बुरहान की मृत्यु ९७० हि० मे हुई थी। बदाऊनी के अनुसार मीर सैयद मुहम्मद वलियो मे श्रेष्ठ थे और इन्होने महदी होने का दावा किया था। मक्के से लौटते समय बलूचिस्तान के फरह्-नामक स्थान मे इनकी सन् ९१० हि० मे मृत्यु हुई थी।[४६] 'मआसिर् उल्-उमरा' के अनुसार महदवी मत का प्रवर्त्तन सन् ९०६ हि० मे हुआ था।[४७] सैयद मुहम्मद जौनपुरी के पिता का नाम था मीर सैयद ख़ॉ। कुरान शरीफ़ मे महदी की चर्चा है और मीर सैयद मुहम्मद ने महदी होने का दावा किया। शिष्यो की मण्डली जुटती गयी और फिर उनका अभाव नही रहा। उनके शिष्यो मे सुलतान महमूद भी था जिसकी अनुरोध-रक्षा के लिए इन्होने मक्के की यात्रा की थी और उस यात्रा से लौटते समय इनकी मृत्यु हुई थी।[४८] बदाऊनी ने सैयद की जीवन-चर्या का इस प्रकार वर्णन किया है—वे बैरागियो का-सा जीवन व्यतीत करते हैं दिन मे सतो की समाधियो की परिक्रमा करते है और अपनी छोटी-सी कुटिया मे रात्रि-यापन करते है। वे कुलीन और पवित्रात्मा है और सामरिक कला मे निपुण और दक्ष।[४९] मीर सैयद मुहम्मद की उपाधि नूर-बख़्शी है।[५०] शेख़ मुहम्मद-अल्-अहजी (जो अपने को मीर सैयद का शिष्य कहता है) ने शेख़ मुहम्मद तबरीजी कृत 'गुलशन-ए-राज' की टीका लिखी थी जिसमे महदवी सिद्धान्तो की व्याख्या थी। अल्-अहजी की मृत्यु सन् ९८३ हिजरी मे हुई थी। मियाँ अब्दुल्ला, जो नियाजी अफगान था, मीर सैयद मुहम्मद के साथ मक्के की यात्रा मे गया था। वहाँ से लौटकर उसने बियाने को अपना निवासस्थान बनाया। पहले वह शेख़ सलीम चिश्ती

---

४२. बदा० भाग १, पृ० ५४६—इसमे भी अबुल फतह को शैख़ुल् हिंदिया का पुत्र कहा गया है। ४३. भाग ३, पृ० ४५–४६। ४४. बदा०; भाग ३, पृ० ७७–७८ ४५. बदा०; भाग ३ पृ० ४७। ४६. बदा०; भाग १, पृ० ४२०। ४७. म० उ०, (अं० अ०), पृ० ११६। ४८. आईन, भाग १, जीवन-वृत्त। ४९. बदा०, भाग ३, पृ० ५८–५९। ५०. अं० अनुवादक ने 'नूर-बख़्शी' को उपाधि नहीं माना है और इसे भिन्न व्यक्ति मानने का भ्रम किया है।

का शिष्य था। पीछे चलकर सैयद के प्रभाव मे आया।[51] प्रार्थना के समय जो भी मार्ग मे मिलना चाहे, वह मजदूर, नौकर अथवा साधारण-से-साधारण व्यापारी ही क्यो न हो, उसे नमाज पढने के लिए विवश करता था।[52] शेख अलाई, जो स्वय प्रसिद्ध परम्परावादी था, महदवी मत मे दीक्षित हुआ और कुछ समय के पश्चात उसने अपने आप को 'महदी' घोषित किया। अपने शिष्यो के दल को इसने सैन्य-सगठन का रूप दिया, जो सदा अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित रहता था। यदि किसी को उसके अनुयायी अधार्मिक कृत्यो मे सलग्न देखते तो अनुनय-विनय द्वारा पहले सुधारने की चेष्टा करते, किन्तु अनुनय-विनय द्वारा असफल होने पर अस्त्र-शस्त्र प्रयोग से भी नही चूकते थे।[53] इस्लाम शाह शूर (शेरशाह के पुत्र सलीम शाह) के समक्ष यह आक्षेप किया गया था कि शेख अलाई क्रान्तिकारी है और महदी होने का दावा करता है एव महदी ही सारे ससार का सम्राट् होगा।[54] इस्लाम शाह की सभा मे जो विवाद हुआ उससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय महदी के आगमन की चर्चा सर्वाधिक प्रबल थी। मीर मियाँ सैयद मुहम्मद नूर-बख्शी की मृत्यु सन् ९१० हि० मे हुई। काजी हसन और शेख मुबारक दोनो ने तारीखे कही है। शेख मुबारक द्वारा कथित तारीख थी 'मजा महदी'।[55]

जायसी ने सैयद मुहम्मद के गुरु-रूप मे शेख दानियाल का उल्लेख किया है—"दानियाल गुरु पथ लखाए। हजरति ख्वाज खिजिर तिन्ह पाए। भए परसन ओहि हजरति ख्वाजे। लइ मेरइ जहँ सैयद राजे।"[56] 'अखरावट' का कथन सीधा और इससे अधिक स्पष्ट है—"अलहदाद जग सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद कै वै चेला। सैयद मुहमद महँदी साँचा। दानियाल सिख दीन्ह सुबाचा।" इससे स्पष्ट तात्पर्य प्रकट होता है कि सैयद मुहम्मद के गुरु का नाम दानियाल था। 'मआसिर-उल्-उमरा' का कथन है कि "बहुत से लोग यह भी समझते है कि वह (सैयद मुहम्मद जौनपुरी) शेख दानियाल का शिष्य तथा उत्तराधिकारी था, जो राजी हामिद शाह मानिकपुरी का शिष्य था।"[57] इस कथन मे स्पष्ट सकेत है कि 'मआसिर-उल्-उमरा' के लेखक को इस जनश्रुति मे विश्वास नही। 'अखरावट' और 'पदमावत' दोनो मे दानियाल तक की परम्परा समान है। ख्वाजा खिज्र और उनकी पौराणिकता के कारण दानियाल और 'सैयद राजे' की सम्बद्धता सिद्ध करने के लिए राजी हामिद शाह मानिकपुरी को जायसी का 'सैयद राजे' मानना पडता है।

'अखरावट' मे ख्वाजा खिज्र के पौराणिक व्यक्तित्व के सकेत है—"जुग जुग अमर सो हजरत ख्वाजे। हजरत नबी रसूल नेवाजे। दानियाल तौ परगट कीन्हा। हजरत ख्वाजा खिजिर किन चीन्हा।" जायसी को दानियाल तक की गुरुपरम्परा का ज्ञान 'अखरावट' की रचना-काल तक है और ख्वाजा खिज्र केवल पौराणिक व्यक्ति तक रहते है। 'पदमावत' की रचना के समय दानियाल के गुरु ख्वाजा खिज्र और उनके मार्ग-प्रदर्शक सैयद राज, राजू, रजा, अथवा राजी की परम्परा

---

५१ बदा०, भाग ३, पृ० ८४। ५२. बदा०, भाग १, पृ० ५०९। ५३ बदा०, भाग १, पृ० ५११। ५४ बदा०, भाग १, पृ० ५१३। ५५. बदा०; भाग १, पृ० ४२१। ५६. पदमावत; १।२०।५–६। ५७. हिंदी अनुवाद; भाग २, पृ० ६४; अं० अनुवाद; पृ० ११६।

तक का परिचय हो जाता है। 'अखरावट' 'आख़िरी कलाम' और 'पदमावत' के बीच की रचना, ज्ञात होती है।

ख्वाजा ख़िज्र एक प्रसिद्ध सूफी सत हो गये हैं, जिनकी दरगाह सोनपथ नामक स्थान में है। उसके उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार उस दरगाह के निर्माण का प्रारभ १५वी सव्वाल ९२८ को हुआ था और समाप्ति हुई १५वी रज्जब ९३० हि० को।[५८] ख्वाजा ख़िज्र के पिता का नाम दरिया ख़ाँ शिरवानी था। दरिया खॉ शेख़ अहमद का पुत्र और शेख़ मडूकी दरवेश का पौत्र था। ख्वाजा खिज्र का पूरा नाम था मियॉ ख्वाजा ख़िज्र। निजामुद्दीन ने 'तबकात-ए-अकबरी' मे जिस ख़्वाजा ख़िज्र बख्तियार का उल्लेख किया है, वह जायसी के ख्वाजा खिज्र से अभिन्न है।[५९] दिल्ली मे यमुना के दूसरे तट पर ख़्वाजा ख़िज्र की समाधि थी जिसके समीप सन् ९८६ हि० मे अकबर की सेना उतरी थी।[६०] 'अकबरनामा' मे जिन ख्वाजा ख़िज्रियान का उल्लेख है उनका सबंध इन्ही ख्वाजा ख़िज्र से होना चाहिए।

शेख़ सदरुद्दीन राजू कत्ताल, सैयद जलालुद्दीन बुख़ारी मखदूम-ए-जहाँनियाँ (मृत्यु ७८५ हि०) के लघु भ्राता थे, जिनकी मृत्यु ८२७ हि० (१४२४ ई०) मे हुई थी। सैयद अशरफ जहॉगीर की मृत्यु सम्भवत ८४० हि० मे हुई थी, इस प्रकार दोनो समकालीन है। जायसी के 'सैयद राजे' ये नही है। जायसी ने जिस सैयद राजे की चर्चा की है वे है सैयद राज बोख़ारी जिनकी समाधि और दरगाह बारी मे है। किम्वदन्ती के अनुसार इन्होने ही बारी की स्थापना की थी। पन्द्रहवी शताब्दि के मध्य मे इनका वर्तमान रहना कहा जाता है।[६१] इनकी दरगाह ९४४ हि० मे बनवायी गयी थी। ग्रैड कार्ड लाइन पर सैयद राजे नामक जो स्टेशन है उसके समीपवर्ती ग्राम मे भी इनकी छोटी-सी दरगाह है। किम्वदन्ती के अनुसार इनका नाम सैयद रजा था, जो सैयद राजू हो गया है। इनसे जायसी सम्बद्ध थे, ऐसी जनश्रुति उस ग्राम मे है। सैयद राजू ने हुसैनशाह जौनपुरी के राजत्व-काल मे कन्नौज मे मसजिद बनवायी थी। उस पर जो अभिलेख उत्कीर्ण है, उसके अनुसार उनके पिता का नाम जलाल था। उसका सयोजक फतह ख़ॉ का पुत्र हरि खॉ था एव उस अभिलेख के लेखक की दृष्टि मे सैयद राजू की योग्यता से सारा ससार प्रकाशित हुआ था।[६२] 'मआसिर-उल्-उमरा' मे उल्लेख है कि कुछ लोग मीर सैयद मुहम्मद को दानियाल का शिष्य और उत्तराधिकारी मानते है और दानियाल को राजी हामिदशाह मानिकपुरी का।[६३] इसके ग्रथकार ने किसी प्रमाण का उल्लेख नही किया है, जिससे इसके सत्य की परीक्षा की जा सके एव स्वय उसे भी इस कथन की वास्तविकता मे सदेह ज्ञात होता है। शिरेफ ने इस उल्लेख को प्रामाणिक मान लिया है। शेख़ मुहम्मद गौस के गुरु का नाम था हाजी हामिद। मीर मियॉ

---

५८. जे० ए० एस० बी० (प्रोसिडिंग्स, जन—दिस०, १८७३, पृ० ९४–९५) मे उद्धृत सोनपुर मसजिद का अभिलेख। ५९. तब०, अं० अ०, भाग २, पृ० ७०७। ६० तब० अ०; भाग २; पृ० ५१३। ६१. राजपूताना गज़ेटियर, भाग १, पृ० २७६। ६२. जे० ए० एस० बी०; प्रोसिडिंग्स १८७३; पृ० २०४। ६३. द्रष्टव्य—अं० अनु०; पृ० ११६।

मुहम्मद महदी के नाम के साथ भ्रम उत्पन्न होने के कारण हाजी हामिद मानिकपुरी ही राजी या राजू हामिदशाह बन गये है। 'मआसिर-उल्-उमरा' के हिन्दी अनुवादक श्री ब्रजरत्नदास ने काजी हामिद शाह मानिकपुरी लिखा है।[६४]

'अखरावट' और 'पदमावत' की परम्पराओ मे दानियाल तक समानता है। ख्वाजा खिज्र का दोनो मे उल्लेख है, किन्तु उनके रूपो मे भिन्नता है। 'पदमावत' मे सैयद राजे तक की चर्चा आयी है और सभवत जायसी के पश्चात् जोडी गयी है। चिश्तिया सम्प्रदाय के साथ सबध जोडने के प्रयास से कुछ भ्रमो की सृष्टि होती रही है।

इस अपेक्षाकृत सविस्तर चर्चा से हमे कई निष्कर्षो पर पहुँचने मे सहायता मिलती है।

(१) जायसी का जन्म सन् ९०० हिजरी मे हुआ और वे शेख़ बुरहान के शिष्य थे। वे नियाजी अफगान एव महदवी मत के अनुयायी थे।

(२) जायसी ने शेरशाह के पक्ष से युद्ध किया और अपनी वीरता के कारण 'मलिक' की उपाधि प्राप्त की। शेरशाह ने ऐसा नियम बनाया था कि प्रत्येक सशक्त अफगान को सैनिक का कार्य करना पडता था। आदेशोल्लघन का दण्ड था प्राणवध। शेर खॉ (बाद मे शेरशाह) जिस समय बाबर के पक्ष मे युद्ध कर रहा था, उस समय जायसी उसके साथ थे। 'तुजुके बाबरी' मे सकलित सूचनाओ के मूल स्रोत से उनका परिचय था।

(३) 'पदमावत' की प्रतीकात्मकता एव ऐतिहासिकता के अन्तराल मे तत्कालीन घटनाओ का समावेश है। 'चूडामणि' ब्राह्मण हीरामन है। रतनसेन केवल अलाउद्दीनकालीन नही है, सिसोदिया वश के राणा सॉगा के पुत्र रायसेन अर्थात् रत्नसेन के साथ इनका साम्य है। पदमावती राजा विक्रमादित्य की कन्या भी है। सूरजमल ही कुभलनेर नरेश देवपाल है। डोली वाली कथा के भी ऐतिहासिक आधार उपलब्ध है।

(४) जायसी समकालीन घटनाओ के प्रत्यक्षदर्शी है। 'पदमावत' की रचना शेरशाह के राज्यारोहण की स्मृति के रक्षार्थ हुई। इसका प्रारभ १०वी मुहर्रम—हुमायूँ और शेर खॉ के कनौज-युद्ध की तिथि, जिसमे शेर खॉ ने विजय पायी और फलस्वरूप दिल्लीश्वर हुआ—के पश्चात् ही हुआ। 'पदमावत' की प्रतीकात्मकता का आयोजन शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् हुआ, जिस समय वे सासारिकता का पूर्ण त्याग कर धार्मिकता का आवेश ग्रहण करते है। सलीम शाह की सभा मे इनका वह सम्मान नही रहा होगा जो शेरशाह के काल मे उपलब्ध था। सलीमशाह का राजकवि शेख मगन है, जो मझन बन गया है।

(५) जायस इनका जन्मस्थान नही। मेरी धारणा है कि इनका जन्म सासाराम मे हुआ था और वे शेरशाह के बाल्य सहचर थे। इनका वास्तविक नाम मियाँ मुहम्मद था और पीछे चलकर शेख की उपाधि से विभूषित हुए। हाजी शेख़ के एक शिष्य का नाम था शेख़ मियाँ मुहम्मद।[६५] वह हुसैन शाह जौनपुरी का प्रिय-पात्र था, शेख़ हाजी की इस व्यक्ति पर पुत्रवत् ममता थी। हाजी शेख़ की मृत्यु ९७९ हि० मे हुई। बदाऊनी (जो प्रारभ मे सासाराम का

६४. हिन्दी अनु०; भाग २, पृ० ६४। ६५. बदा० (अ० अ०); भाग ३, पृ० ३४

निवासी था) और शेख़ मियाँ मुहम्मद का साक्षात्कार बारी मे सन् ९७४ हि० मे हुआ था। शेख़ अलहदाद और शेख़ बुरहान दोनो का सबध बारी और कालपी से रहा था। बदाऊनी ने शेख मुहम्मद की कवित्व-शक्ति, प्रतिभा और धार्मिक प्रवृत्ति का सविस्तार उल्लेख किया है। शेख़ हाजी के परिवार मे इनके विवाह होने की सभावना है और 'तहाँ दिवस दस पहुने आएउँ' मे इसके सकेत देखे जा सकते है। शेख़ मुबारक के पाठान्तर रूप मे शेख़ मुहम्मद भी मिला है, इस प्रकार शेख़ मुहम्मद और मलिक मुहम्मद जायसी मे अभिन्नता मिलती है। जायसी की मृत्यु ९४९ हि० मे नही हुई। सन् ९७४ हि० तक उनका जीवित रहना सभव है। जायसी ने दीर्घायु प्राप्त की थी और अत्यत वृद्धावस्था मे उनकी मृत्यु हुई।

(६) जायसी महदवी मत के अनुयायी थे, जिसका प्रवर्त्तन मीर मियाँ मुहम्मद जौनपुरी ने किया था। उनके गुरु का नाम था शेख़ बुरहान, जिनसे यौगिक क्रियाओ का सामान्य ज्ञान उन्होने प्राप्त किया था। महदवी मत के उत्थान मे राजनीतिक सकट की गन्ध मानी गयी थी। इसके प्रवर्त्तक मे हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य एव सास्कृतिक संगम की प्रेरणा एव भावना नही थी। इस्लाम की परम्परागत मान्यताओ से च्युति का विरोध करने के लिए इस मत का प्रवर्त्तन हुआ था। जायसी मे इस परम्परा के निर्वाह की आकाक्षा थी। सास्कृतिक सगम के उदार पक्षपाती की अपेक्षा वे इस्लाम की गौरववृद्धि के आकाक्षी थे। इस्लाम के गौरव की ही उन्होने गाथा गायी है।

(७) सैयद अशरफ जहाँगीर पीर अथवा कुल-पूज्य हैं और शेख़ बुरहान कालपीवाल दीक्षा-गुरु। हाजी शेख़ के पुत्र और सैयद अशरफ के पौत्र शेख़ मुबारक के माध्यम से इन्होने शेख़ बुरहान का शिष्यत्व ग्रहण किया। इनकी गुरु-परम्परा शेख़ दानियाल तक ही प्रामाणिक हैं। ख्वाजा ख़िज्र वास्तविक से अधिक पौराणिक व्यक्ति हो गये है। सैयद राजू का उल्लेख बाद मे जोडा गया है। इस अश का आधार वही है, जिसने 'मआसिर-उल्-उमरा' के लेखक को भ्रम मे डाल दिया।

(८) मनेर शरीफ वाली प्रति मे अकित तिथि (९११हि०) भ्रामक है, वह प्रति ९८१ हि० के पूर्व की नही हो सकती, अत उसके आधार पर निर्णय देना युक्ति-सगत नही।

●

बच्चन सिंह

अभिनय, नाट्य और नृत्य

अभिनय नाटक का वह तत्त्व है जो इसे साहित्य की अन्य विधाओ से अलग कर देता है। आगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य—अभिनय के ये चार भेद माने गये है और नाटक के प्रयोगात्मक पक्ष की कोई ऐसी वस्तु नही है जो इन भेदो मे समाहित नही हो जाती। सवाद, वेश-भूषा, रग-सज्जा, गीत, नृत्य, वाद्य आदि सभी कुछ अभिनय के अग है। 'अग्निपुराण' मे इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

आभिमुख्य नयन्नर्थान्विज्ञेयोऽभिनयो बुधै ।
चतुर्धा सत्ववागङ्गाहरणाश्रय ॥

अर्थात् नाटक के वर्ण्य विषय को अभिनय के माध्यम से ही दर्शको के समक्ष लाया जाता है। भरत के 'नाटचशास्त्र' मे इसकी व्याख्या निम्नलिखित ढग से की गयी है—

"अभित्युपसर्ग । णीञित्यय धातु प्रापणार्थ । अस्याभिनीत्येव व्यवस्थितस्य एरजित्य-च्प्रत्ययान्तस्याभिनय इति रूप सिद्धम्। एतच्च धात्वर्थवचनेनावधार्यम्। अत्र श्लोके—

अभिपूर्वस्तु णीञ्धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात्प्रयोग नयति तस्मादभिनय स्मृत ॥'[1]

अभि उपसर्ग है, णीञ् धातु। इसमे अच् प्रत्यय के लगने से अभिनय बना। अर्थात् नाटच प्रयोग को सामाजिको तक ले जाने को अभिनय कहते हैं।

मल्लिनाथ ने किरात की टीका मे एक स्थान पर कहा है—'अभिनयो रसभावादि व्यञ्जक चेष्टाविशेष ।'[2] डा० मनमोहन घोष ने 'अभिनयदर्पण' की भूमिका मे लिखा है कि 'अभिनय नाटक के सौन्दर्य तथा उसके अनेक रसात्मक पक्ष के उद्घाटन का साधन है, नाटचग्रथो को पढकर उनका पूर्ण रसास्वादन नही किया जा सकता। इन तथ्यो पर विचार करते हुए अभि-नय को पात्रो की अनेकानेक मनोदशाओं और सवेगो का व्यजनात्मक अनुकरण कहा जा सकता है।'[3] इन व्याख्याओ से स्पष्ट है कि 'अभिनय' का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ मे किया गया है।

---

१. नाटचशास्त्र, गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज, भाग २, पृ० ८।६–७।
२. मल्लिनाथ, किरात, १०–४२। ३ The word Abhinaya may be said to be the means for disclosing to the spectator the beauty for manifold pleasurable aspects of play which cannot be adequately appreciated by simply reading its texts In consideration of all these facts, Abhinaya may be termed the 'suggestive immitation of the varying moods and

अंग्रेजी के 'ऐक्ट' शब्द को कुछ लोग अभिनय का समानार्थी समझते है। प्राय अभिनेताओ का नाटच देखकर लोग कहते है कि अमुक की ऐक्टिग काफी सुन्दर थी। 'ऐक्ट' के सबध मे विचार प्रकट करते हुए सुसेन के० लैंगर का कहना है कि कोई मानवीय शारीरिक या मानसिक प्रतिक्रिया 'ऐक्ट' कही जाती है। यह दृश्य भी हो सकती है और अदृश्य भी। नाटक मे इन्ही प्रतिक्रियाओ का भ्रम-स्थापन 'ऐक्ट' कहा जाता है। कहना न होगा कि 'अभिनय' की अपेक्षा 'ऐक्ट' बहुत सीमित अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

नाटच और अभिनय का अन्तर भी यहाँ सक्षेप मे स्पष्ट कर लेना चाहिए। 'नाटच' नट धातु से बना है जिसका अर्थ होता है नटन करना। सस्कृत नाटको मे प्राय 'नाटयति' शब्द का प्रयोग मिलता है। इस शब्द का प्रयोग जिन सदर्भो मे मिलता है उनके विश्लेषण से इसका अर्थ स्पष्ट हो जायगा। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' से ही कुछ उदाहरण लीजिए—'इति शर-सधान नाटयति', 'इति वृक्षसेचन रूपयति', 'इति भ्रमरबाधा रूपयति', 'शकुतला श्रृङ्गारलज्जा रूपयति', 'परिक्रम्य सस्पर्शं रूपयित्वा', 'सख्यौ विषाद नाटयित्वा परस्परमवलोकयत'—इन उदाहरणो मे 'नाटयति' या 'रूपयति' शब्द का व्यवहार किया गया है, 'अभिनयति' का नही। और इनसे यह भी प्रकट होता है कि 'नाटयति' या 'रूपयति' शब्द से अवस्था-विशेष की अनुकृति का ही सकेत किया गया है। इन अवस्थाओ की अनुकृति आगिक अभिनय पर मुख्य रूप से और सात्विक अभिनय पर गौण रूप से निर्भर करती है। इस तरह के अन्य सस्कृत नाटको का अध्ययन हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि सामान्यत उनमे अभिनयो की प्रधानता रही है।

नाटचशास्त्रो मे विशेष प्रकार के नाटच के लिए अनेकानेक मुद्राओ का विधान है। नाटचशास्त्रो मे उल्लिखित निर्देश अभिनय कहे जायेगे पर रगमच पर उनके प्रयोग को नाटच सज्ञा दी जायगी। 'वृक्षसेचन' का नाटच करने के लिए शिर को अवधूत मुद्रा मे रखकर चेहरे को अधोमुख रखा जायगा। शरीर को थोडा झुकाते हुए कधे के पास हाथो को नलिनी और पद्मकोश के ढग पर रखना चाहिए। 'श्रृङ्गारलज्जा' के लिए परावृत्त शिर और लज्जापूर्ण आँखो से काम लेना होगा। 'विषाद' के लिए धूत शिर और विषण्ण आँखो का प्रयोग अपेक्षित है। इसी प्रकार और भी समझना चाहिए।

प्राचीन काल का रगमच आज के रगमच की तरह यथार्थवादी नही था। आज वृक्षसेचन क्रिया के लिए शकुतला की भूमिका मे काम करने वाली स्त्री झारी लेकर उक्त क्रिया के सपन्न करने का नाटच करेगी, पर सस्कृत-रगमच पर इसका नाटच करने के लिए उसे कुछ विशिष्ट भगिमाओ और मुद्राओ का सहारा लेना पडता था। यद्यपि उन भगिमाओ और मुद्राओ से बहुत कुछ यथार्थता का बोध हो जाता था, पर कुछ क्रियाओ मे वैसा नही हो पाता था। फिर भी उनके नाटच के लिए नाटच-शास्त्रो मे निर्दिष्ट रूढियो का पालन करना पडता था। कभी-कभी ऐसा भी होता कि एक विशेष प्रकार के नाटच के लिए नाटच-रूढियाँ प्राय व्यर्थ सिद्ध होती थी। ऐसी स्थिति मे आचार्यो को अपनी कल्पना शक्ति से काम लेना पडता था।

---

emotional states of characters,—मनमोहन घोष, अभिनय दर्पण, भूमिका, पृ० ९।

नाटयशास्त्रो के अध्ययन से यह पता लगता है कि आगिक अभिनय को प्राचीन काल से ही विशेष महत्त्व मिलता रहा है। 'नाटयशास्त्र' (भरत) मे इसके सबध मे काफी विस्तार से विचार किया गया है। नन्दिकेश्वर ने तो अलग से 'अभिनय-दर्पण' ही लिख डाला। इस ग्रथ मे यद्यपि उल्लेख तो चार प्रकार के अभिनयो का किया गया है फिर भी विवेचन-विश्लेषण आगिक अभिनय का ही हुआ हे। विद्वानो का विचार है कि नन्दिकेश्वर भरत की परपरा मे न पडकर कृश्वाश्व और शिलालिन की परपरा मे पडते है, जो सभवत आगिक अभिनय पर विशेष जोर देते थे।

पर क्या नृत्य आगिक अभिनय से भिन्न है? नाटय से तो नृत्य भिन्न है ही—अन्य-द्भावाश्रय नृत्यम् (भावाश्रय नृत्य बिलकुल पृथक् वस्तु है)—धनजय के इस सूत्र पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए धनिक ने स्पष्ट कहा है कि नाटय या रूप रसाश्रित होता है तो नृत्य भावाश्रित। वह 'गात्रविक्षेपार्थत्वेन' आगिक अभिनय ही है। नृत्य मे पदार्थाभिनय है तो नाटय मे वाक्यार्थ रूप अभिनय। किन्तु आगिक अभिनय और नृत्य को समानार्थी नही कहा जा सकता, फिर भी दोनो का अत्यधिक घनिष्ठ सबध है। अभिनय नृत्य का अनिवार्य अग है, शास्त्रानुमोदित अनेकानेक अगोपाग विक्षेप ही तो नृत्य हैं। शारगदेव ने अपने 'संगीत-रत्नाकर' (७।२८) मे नृत्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि नृत्य मे आगिक अभिनय द्वारा भावाभिव्यक्ति की जाती हैं। 'अभिनय-दर्पण' मे नटन के तीन भेद माने गये है—नाटय, नृत्त और नृत्य। इससे भी स्पष्ट है कि कुछ अर्थो मे तीनो मे समानता है पर कुछ अर्थो मे ये भिन्न है। दशरूपककार ने इनकी विशेषताओ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

'अभिनय-दर्पण' मे नृत्य-अभिनय का ही वर्णन किया गया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार यह नर्तकियो का ही कार्य हैं। पात्र-लक्षण का उल्लेख करते हुए उन्होने लिखा है—

तन्वी रूपवती श्यामा पीनोन्नतपयोधरा ॥
प्रगल्भा सरसा कान्ता कुशला ग्रहमोक्षयो ।
विशाललोचना गीतवाद्यतालानुवर्तिनी ॥
परार्घ्य भूषा सम्पन्ना प्रसन्नमुखपङ्कजा।
एवविधि गुणोपेता नर्तकी समुदीरिता ॥—अभि० दर्पण, २३, २४, २५।

नृत्य, अभिनय और मुद्राओ के सबध मे 'अभिनय-दर्पण' मे जो वर्गीकरण किया गया है वह किन्ही अशो मे 'नाटयशास्त्र' और 'अग्निपुराण' के वर्गीकरणो से मिलता-जुलता है।

'नाटयशास्त्र' मे शिर, हस्त, उर, पार्श्व, कटि और पाद छ अग माने गये है तथा नेत्र, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल, चिबुक उपाग। 'अभिनय-दर्पण' मे अग, उपाग के अतिरिक्त प्रत्यग की भी एक कोटि है। अग के अन्तर्गत जिन अवयवो का उल्लेख भरत ने किया है नन्दिकेश्वर ने भी उन्ही के नाम गिनाये है। प्रत्यागो मे उसने स्कन्ध, बाहु, पीठ, उदर और जघो की गणना की है। उसके अनुसार दृष्टि, भ्रूपुट, तारा, कपोल, नासिका, अधर, दशन, जिह्वा, चिबुक और वदन उपागो मे परिगणित होते है। 'अग्निपुराण' मे भी अग और प्रत्यग के ही उल्लेख है।

'नाटचशास्त्र' के अनुसार शिर की १३ गतियाँ होती है—आकपित, कंपित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अचित, निहचित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत, लोलित (८/१२-१९)। 'अग्निपुराण' मे भी इन्ही तेरह गतियो का उल्लेख है। 'अग्निपुराण' मे अचित के स्थान पर प्रचित, निहचित के स्थान पर निकुचित और लोलित के स्थान ललित छपा दिखायी देता है। पर शायद यह छापे या अनुवादक का भ्रम हो। नन्दिकेश्वर के अनुसार ये गतियाँ नौ है। इन नौ गतियो मे पाँच तो वे ही है जो 'नाटचशास्त्र' मे उल्लिखित है, दो आशिक रूप मे मिलती है। शेष का अपना स्वतत्र अस्तित्व है। इस तरह शेष गतियो का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। समयानुसार इनकी सख्या मे जो न्यूनता अथवा अधिकता दिखाई पडती है उसके कारणो का विश्लेषण अध्ययन का रोचक विषय हो सकता है।

अभिनय सबधी इन निर्देशो के आधार पर नृत्य-नाटच (डास-ड्रामा) का प्रचार भी इस देश मे खूब रहा है। 'कर्पूरमंजरी' मे इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। भरत के 'नाटच-शास्त्र' मे भी इसका इगित मिल जाता है। उसमे वस्तु को पहले गीत मे तथा बाद मे नृत्य-नाटच (डास-ड्रामा) मे उतारने का उल्लेख है (४।२९७-९८)। बौद्ध और जैन ग्रथो मे भी इस तरह के निर्देशो की कमी नही है। जैन-साहित्य के 'राजप्रश्नीय' आगम ग्रथ मे एक प्रकरण ऐसा है जिसमे महावीर की जीवनचर्या को नृत्य-नाटच (डांस-ड्रामा) मे निबद्ध किया गया है। उसमे अनेक मागलिक चिह्नो, कलात्मक अभिप्रायो (मो टिफ) को विभिन्न मुद्राओ और भगिमाओ मे उतारा गया है। जावा और बाली में आज भी 'महाभारत' तथा पुराणो की कथा-कहानियो को नृत्य-नाटच (डांस-ड्रामा) मे उतारते है। बहुत से विद्वानो का विचार है कि जापान का 'नो' नाटच भारतीय नृत्य-नाटच का ही विकास है।

सच पूछिए तो हमारे देश मे नाटच-सिद्धान्तो का जितना सागोपाग और गहन विवेचन हुआ है उतना साहित्य के किसी अन्य अंगोपाग का नही। पर उनके आधार पर नयी व्याख्या प्रस्तुत करनी है, बहुत से पुराने शब्दो का (जो आज बहुत कुछ अस्पष्ट हो गये है) अर्थ ढूँढना है। नाटच, अभिनय और नृत्य का नाटचशास्त्र मे बहुत महत्व है, पर इनके सबधो का सम्यक् विवेचन तथा इनके अन्तर्गत विवेचित तथा उल्लिखित मुद्राओ का ठीक-ठीक आकलन नही हो पाया है।



सत्यदेव चौधरी

कामशास्त्र और काव्यशास्त्र

सस्कृत के नाटचशास्त्रो अथवा काव्यशास्त्रो मे निरूपित नायक-नायिका-भेद-प्रसग मूलत इन शास्त्रो का विषय प्रतीत नही होता। यदि इस प्रसग की काव्य के अन्य अगो—शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, रीति और अलकार के निरूपण के साथ तुलना की जाय, तो यह आपातत लक्षित हो जाता है कि इन काव्यागो की विषय-सामग्री को जितने सूक्ष्म, गम्भीर और तर्कपूर्ण खण्डन-मण्डनात्मक विमर्श के साथ परिपक्व और सुगठित शैली मे प्रतिपादित किया गया है, उसका एक अश भी नायक-नायिका-भेद-प्रसग को प्रस्तुत करने मे व्यवहृत नही हुआ। विषय-वस्तु और शैली दोनो की दृष्टि से ये प्रकरण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे पृथक् से दीखते है। इस धारणा की पुष्टि भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भरत-प्रणीत 'नाटचशास्त्र' के नायक-नायिका-भेद-प्रसग के अन्तर्गत उन स्थलो मे हो जाती है, जिनमे कामशास्त्र का आधार स्पष्ट शब्दो मे स्वीकृत किया गया है—

(क) तत्र राजोपभोग तु व्याख्यास्याम्यनुपूर्वश ।
उपचारविधि सम्यक् **कामसूत्रसमुत्थितम्** ॥—ना० शा० २२।१५१।

(ख) आस्ववस्थासु विज्ञेया नायिका नाटकाश्रय ।
एतासा चैव वक्ष्यामि **कामतन्त्रमनेकधा** ॥—वही २२।२२१।

(ग) कुलाङ्गनानामेवाय प्रोक्त **कामाश्रयो** विधि ।—वही २२।२२४।

(घ) भावाभावौ विदित्वा च ततस्तैस्तैरुपक्रमै ।
पुमानुपचरेन्नारी **कामतन्त्रं** समीक्ष्य तु ॥—वही २३।५८।

इस आधार-स्वीकृति के अतिरिक्त इसी प्रकरण मे ही 'नाटचशास्त्र' के प्रणेता ने काम-शास्त्र-सम्बन्धी विषयो पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। उदाहरणार्थ प्रेमसूचक इगित, राजाओ तथा सामान्य पुरुषो द्वारा नारियो को वश मे करने के उपाय, वासक (सम्भोग) के कारण, सम्भोग का समय, सम्भोग से पूर्व के आयोजन, सम्भोग के समय स्त्री-पुरुष का पारस्परिक व्यवहार, नायक का स्वागत, अपराधी नायक का व्यग्यमिश्रित तिरस्कारपूर्ण स्वागत, मान-प्रकार, कुपित नारियो को प्रसन्न करने के उपाय आदि।[1] 'नाटचशास्त्र' का प्रथम लक्ष्य केवल

---

१. ना० शा० २४।१५२, १५८, १९५–१९९; २५।६५–७२, २२२–२२३, ३०१, २४।२००, २२९, २३१, २२८, २४९, २५०, २६५, २८१, ३३–५५।

अभिनेय क्रियाकलापो का प्रतिपादन करना है, अत रगमच के लिए त्याज्य कामशास्त्रीय दृश्यो के विषय मे भी आचार्य भरत स्थान-स्थान पर चेतावनी देते गये है —

यदा स्वपेदर्थवशादेकाकी सहितोऽपि वा।
चुम्बनालिङ्गन चैव तथा गुह्य च यद् भवेत॥
दन्त नखक्षत छेय नीवी स्रस्नमेव च।
स्तनाधरविमर्द च **रंगमध्ये न कारयेत्**॥
—ना० शा० २४।२८६, २८७।

इन सब उल्लेखो से स्पष्ट हो जाता है कि नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी प्रसग के निर्माण के समय भरत के समक्ष कामशास्त्रीय सिद्धान्तो का पुष्टाधार विद्यमान होगा।

इसी प्रकार रुद्रट भी, जिनका नायक-नायिका-भेद-प्रसग सर्वप्रथम व्यवस्थित और शताब्दियो पर्यन्त अनुकृत रहा है, अपने ग्रन्थ के इसी प्रसग मे कामशास्त्रीय धारणाओ को उल्लिखित करने के लोभ को सवरण नही कर सके। उनके शब्दो मे—

(क) सुकुमारा पुरुषाणामाराध्या योषित सदा तल्पे।
तदनिच्छया प्रवृत्त शृगार नाशयेन्मूर्ख॥
वाग्मी समप्रवणश्चाटुभिराराधयेन्नारीम्।
तत्कामिना महीयो यस्माच्छृङ्गारसर्वस्वम्॥
—का० आ० १४।१५, १६।

(ख) सामप्रदानभेदौ प्रणतिरुपेक्षा प्रसगविभ्रश।
अत्रैते षडुपाया दण्डस्त्विह हन्ति शृगारम्॥—वही १४।२७।

कामशास्त्र और काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका-भेद निरूपण

केवल इतना ही नही, एक ओर काव्यशास्त्रो तथा नाटचशास्त्रो और दूसरी ओर कामशास्त्रो की नायक-नायिका सम्बन्धी सामग्री की पारस्परिक तुलना की जाय तो इस कथन की पुष्टि हो जाती है कि काव्यशास्त्री इस प्रसंग के लिए कामशास्त्र का अधिकाधिक ऋणी है। यह अलग प्रश्न है कि पारिभाषिक शब्दावली मे कही-कही अन्तर हो, पर दोनो शास्त्रो के विषय-सामग्री विषयक दृष्टिकोण और स्वरूपाख्यान मे विशेष अन्तर नही है। उदाहरणार्थ—काव्यशास्त्रीय नायक-नायिका के गुण लगभग वही है, जो कामसूत्र मे उल्लिखित है,[2] तथा नाटचशास्त्र का वैशिक (रसिक) कामसूत्र के ही रसिक का सक्षिप्त सस्करण-मात्र है।[3] वात्स्यायन-सम्मत नायक के तीन प्रकार पति, प्रच्छन्न और वैशिक काव्यशास्त्रीय नायक-भेदो—पति, उपपति और वैशिक का स्रोत उपस्थित करते है। सस्कृताचार्यों मे अकबरशाह और हिन्दी आचार्यो मे केशवदास ने प्रच्छन्न और प्रकाश नायको का उल्लेख किया है। उनका मूल रूप कामसूत्र मे वर्णित अन्त पुरगामी प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न भोगो के प्रयोक्ता नायको मे मिल जाता

२. का० सू० ६।१।१२, १३, १४।
३. ना० शा० २५।१–८; का० सू० १।४ (सम्पूर्ण)।

है।[४] इसी प्रकार काव्यशास्त्रीय अनुकूल, दक्षिण, शठ और धूर्त नायको का स्रोत भी कामशास्त्र मे उल्लिखित पुरुष-व्यवहार मे उपलब्ध हो जाता है, तथा उत्तम, मध्यम और अधम नायको का भी।[५]

काव्यशास्त्रीय नायिका भेदो मे स्वकीया नायिका कामशास्त्रीय 'कन्या' नायिका का पर्याय सी है।[६] परकीया और वेश्या नायिकाएँ भी 'कामशास्त्र' मे उल्लिखित है।[७] भोज-सम्मत पुनर्भू का स्रोत भी 'कामसूत्र' मे मिल जाता है।[८] इसी प्रकार स्वकीया के नवोढा और विस्रब्धनवोढा तथा ज्येष्ठा और कनिष्ठा नामक उपभेदो को भी 'कामसूत्र' के स्वतन्त्र अध्यायो अथवा प्रकरणो मे स्थान मिला है।[९] परकीया के उद्‌बुद्धा और उद्‌बोधिता नायिकाओ और इन्ही के अन्तर्गत सुखसाध्या और असाध्या नायिकाओ का मूल स्रोत कामसूत्र के अयत्नसाध्य योषित्, परिचयसम्पादन-(बाह्य तथा आभ्यन्तर-) विधि और भाव-परीक्षा नामक प्रकरणो मे सरलतापूर्वक मिल जाता है।[१०]

उधर रुद्रट और इधर केशव ने अगम्या नारियो की जो सूची प्रस्तुत की है, उसका स्रोत भी 'कामसूत्र' मे उपलब्ध है। काव्यशास्त्रीय नायक-सहायो मे से पीठमर्द, विट और विदूषक का स्वरूप-निरूपण कामसूत्र के 'नागरिक वृत्त' नामक अध्याय मे हुआ है।[११] 'कामसूत्र' मे निस्सृष्टार्था, परिमितार्था, पत्रहारी, स्वयदूती, मूढदूती, भार्यादूती, मूकदूती और वातदूती—इन आठ दूतियो का उल्लेख हुआ है। इधर काव्यशास्त्रीय तीन दूतियो मे से 'निस्सृष्टार्था' तथा 'परिमितार्था' तो वही है और 'सन्देशहारिका' मे वात्स्यायन-सम्मत शेष सभी दूतियो का समावेश हो जाता है।[१२]

कामशास्त्रीय ग्रन्थो—'कामसूत्र', 'रतिरहस्य', 'अनगरग' और 'पचसायक' मे कामशास्त्र के निजी नायक-नायिका-भेदो का उल्लेख भी हुआ है। प्रमाण, भाव और काल के आधार पर नायक-नायिका के प्रमुख तीन-तीन भेद माने गये हैं,[१३] पर ये भेद सभवत विशुद्ध रूप मे रतिक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे उल्लिखित नही हुए। नारी के शारीरिक गठन, अगविन्यास तथा गति, रुचिभिन्नता, प्रकृतिभिन्नता और यौन-वासना को लक्ष्य मे रखकर इसे चार भेदो मे विभक्त किया गया है—पद्मिनी, चित्रिणी, शखिनी और हस्तिनी।[१४] सस्कृत-काव्यशास्त्रियो मे श्रीकृष्ण कवि और अकबरशाह को छोडकर किसी भी अन्य आचार्य ने इन भेदो का उल्लेख नही किया। हिन्दी आचार्यो मे भी केशव देव, सोमनाथ, दास, तोष आदि इने-गिने आचार्यो ने इन भेदो की चर्चामात्र की है।

---

४. शृ० मं०; पृष्ठ ५०; र० प्रि० २।८, ९, १२, १३, १५, १७। का० सू० १।५।२८, २९, ३१; ५।१।५०। ५. वही; ४।५।८५; ७।२, ५८, ५९; १।५।३०। ६. वही; १।५।१, ४। ७. वही; १।५।५, ४। ८. अ० पु० ३३९।४१; स० क० भ० ५।११२; का० सू० १।५।४। ९. वही; ३।२ सम्पूर्ण; ४।२ (पृ० २०९–२१३)। १०. वही; ५।१।५१, ५२; ५।२।४–१७; ५।३।१–३०। ११. वही; १।४।४४, ४५। १२. वही; ४।४।४४; सा० द० ३।४७। १३. का० सू० २।१।१–४, ९, १३–१५, १७, १८; रतिरहस्य; पृष्ठ ३६–३८; अनंगरंग १।१–१५। १४. रतिरहस्यजात्यधिकार १०–१९।

रामकुमार वर्मा

हिन्दी साहित्य में प्रतीक-योजना

साहित्य मानव-जीवन की सवेद-जन्य अनुभूतियो की अभिव्यक्ति का सबसे अधिक सम्पन्न माध्यम है। कभी-कभी उसकी अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि अश्रुधारा भी उसकी अभिव्यक्ति मे सफल नही हो सकती। यह साहित्यकार की कुशलता पर ही निर्भर है कि वह किस प्रकार अपनी अनुभूतियो को भाषा के परिधान मे सजा दे। किन्तु प्राय भाषा सवेगजन्य अनुभूतियो को अभिव्यक्त करने मे असमर्थ रहती है। जब लेखक अपनी भावना और भाषा को समानान्तर नही पाता है, तो वह ऐसी कलात्मक युक्ति की खोज करता है, जो उसकी अनुभूति को सफलतापूर्वक व्यक्त कर चिरस्थायी बना सके। प्रतीको की भाषा एक ऐसी ही युक्ति है, जिसे कुशल लेखक अपनी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति को व्यापक एव पूर्ण बनाने के लिए प्रयुक्त करता है।

प्रतीक-योजना का इतिहास बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद मे कवि जब प्रकृति की महानता और विकरालता से आक्रात हुआ, तब उसने ऐसे मत्र उच्चरित किये, जो पहेली से थे। उन मत्रो की कूट भाषा मे ही प्रतीको का आदि स्वरूप सुरक्षित है। आज भी वे मत्र उलझे हुए लगते है और विज्ञ टीकाकार उनका अर्थ स्पष्ट करने मे असमर्थ है। यह मत्र तत्वज्ञान के मूल सिद्धान्तो का भी निरूपण करते है। बहुत सी ऐसी वस्तुएँ है जिन्हे नेत्रो से नही देखा जा सकता, सूर्य और चन्द्र, मेघ और झझावात अपने अन्तराल मे मानव के भविष्य का सदेश छिपाये हुए है। प्रकृति के अद्भुत रहस्य साधारण भाषा मे व्यक्त नही किये जा सकते। 'ऋग्वेद' के प्रथम मण्डल मे एक कूटश्लोक है—'अन्धकारमय रजनी ने सुन्दर शिशु को जन्म दिया, जो आकाश मे विचरण कर रहा है।' स्पष्ट है कि यहाँ रवि के उदय होने का सकेत है।

उपनिषद् मे प्रतीको का उपयोग दार्शनिक सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण के लिए हुआ है। 'वृहदारण्यक' उपनिषद् मे अश्वत्थ वृक्ष के प्रतीक का प्रयोग हुआ है, जो चिरन्तन है, जिसकी शाखाएँ अधोमुखी है और मूल ऊर्ध्वोन्मुखी। इस प्रतीक का अभिप्राय ब्रह्म से है, जो इस सृष्टि मे विभिन्न रूपो मे विद्यमान है।

महाकाव्य-युग (Epic Age) मे 'महाभारत' की प्रतीक-योजना सर्वश्रेष्ठ है। 'महाभारत' मे प्रतीको की सख्या ८८०० बतायी जाती है। ये प्रतीक अलकारो के रूप मे प्रयुक्त हुए है। इन प्रतीको का सौन्दर्य उपमाओ और रूपको के माध्यम से निखर उठा है। यह परम्परा 'श्रीमद्भागवत' मे भी अक्षुण्ण रही है, जिसमे अनेकानेक दार्शनिक सिद्धान्त प्रतीको के माध्यम से प्रस्तुत किये गये है। अपभ्रश तथा हिन्दी की प्रारम्भिक बोलियो मे प्रतीको की भाषा को 'सधा-

भाषा' की सज्ञा से अभिहित किया गया। सिद्धो ने, जिनकी सख्या ८४ है, वज्रयान सम्प्रदाय की विचित्र साधना-पद्धति की अभिव्यक्ति मे अनेक प्रतीको का प्रयोग किया है।

भुसुकिपा ने जीवन को एक अँधेरी रात माना है और मृत्यु को एक चूहा, जो निरन्तर हमारे जीवन को नष्ट करता रहता है। धीरे-धीरे इन प्रतीको ने उलटबाँसियो का रूप ले लिया, जिनमे परस्पर विरोधी लगने वाले प्रतीको द्वारा गभीर और दार्शनिक भाव-भूमि को स्पष्ट किया गया। वैसे देखने मे यह उलटबाँसियाँ निरर्थक सी लगती है, किन्तु व्याख्या करने पर इनका अद्भुत अर्थ-सौदर्य साकार हो उठता है। कुक्कुरिपा ने लिखा है—'बलद बिआअल गविया बाँझ।' अर्थात् बैल ने बछडा जना और गाय बन्ध्या रही। इसका अर्थ हे कि बैलरूपी सदर्भ मे ज्ञान का प्रसार होता है, किन्तु मायारूपी गौ असत् और निरर्थक है। नाथ-योगियो और सत कवियो ने इस प्रकार के प्रतीको का प्रयोग अपनी रचनाओ मे किया। हिन्दी के सगुणोपासक कवियो ने भी प्रतीको की यह भाषा प्रयुक्त की है।

रीति-युग मे प्रतीक-योजना ने दो रूप ग्रहण किये एक तो 'कवि-परिपाटी' का और दूसरी 'रूपक-योजना' का। इन दोनो रूपो मे कलात्मकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है। कवि-परिपाटी से उन मान्यताओ का बोध होता है, जिन्हे परम्परा से कवि-गण सत्य मानते आये है। कवियो ने ऐसे प्रतीको का प्रयोग भावानुभूति को अधिक स्पष्ट करने के लिए किया है, जो अपनी विशेषता के कारण किसी भावना के मूर्त-स्वरूप की भाँति स्वीकृत हो गये है। चातक प्रेम की अनन्यता का, हस नीर-क्षीर विवेक का, जल-रहित मीन प्रेम की दृढता का प्रतीक बनकर उन भावनाओ के प्रतिनिधि से बन गये है। अपने गुणो के कारण प्रकृति की अनेक वस्तुएँ सौन्दर्य का उपमान बनकर कवियो की लेखनी का आभूषण बनी—मीन, मृग और कमल नयनो के उपमान बने, भ्रमर और व्याल काले केशो की शोभा के लिए प्रयुक्त हुए, केहरि के कटि की समानता प्रेयसि के क्षीण कटि से की गयी और गभीर चाल के कारण प्रेयसि को गजगामिनी कहा गया। इन उपमानो का प्रयोग प्राचीन समय से आज तक के कवियो ने अनेक बार किया है और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को स्थायी रूप प्रदान करने की चेष्टा की गयी है।

आधुनिक काल मे प्रतीक-योजना ने छायावाद और रहस्यवाद की दार्शनिक भावधारा की अभिव्यक्ति मे सहायता दी है। छायावादी तथा रहस्यवादी कवियो ने फूलो की कान्ति मे असीम और चिरन्तन शक्ति की मुस्कान का व्यक्त रूप देखा और लहरो के आवर्तन-प्रत्यावर्तन मे प्रकृति के फैले हुए हाथो के दर्शन किये, जो शाश्वत सत्य के दोनो कूलो का स्पर्श करते हैं। प्रयोग-वाद और अभिव्यजनावाद मे झोपडी निर्जन का प्रतीक बनी और महल पूँजीपतियो के के प्रतीक हुए। परम्परागत शास्त्रीय प्रतीको का स्थान नवीन प्रतीको ने ले लिया, जो अपने व्यजना-क्षेत्र मे अधिक व्यापक बने। कभी-कभी उनकी व्यजना केवल भावात्मक होती है। अकेले रहना घृणा का सूचक समझा जाता है और मोटा होना तुष्टि का। इस प्रकार आज हिन्दी साहित्य मे प्रतीक-योजना मूर्त से अमूर्त की ओर उन्मुख हो रही है।

प्रतीक-योजना के प्रमुख तत्वो के विवेचन से यह स्पष्ट हो जावेगा कि प्रतीको का उपयोग किन-किन अवस्थाओ मे किया जाता है। हमे यह भी ज्ञात हो जावेगा कि प्रतीक-योजना का

विकास किस प्रकार हुआ। यह देखा जा चुका है कि प्रतीक-योजना का उद्भव अनुभूति की सबल और अधिक व्यजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ। विस्मय की भावना और आनन्द की कामना का योग प्रतीको के प्रयोग मे अन्तर्निहित है। प्रतीकात्मक शैली की अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ है, यह शैली भी रस और अलकार की सहायता से आनन्द और चमत्कार की सृष्टि करती है। प्रतीकात्मक शैली को निम्नलिखित छ वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है, इन्ही अवसरो पर प्रतीकात्मक शैली का उपयोग किया जाता है—

१—सौन्दर्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए,

२—किसी भाव को छिपाकर चमत्कार उत्पन्न करने के लिए,

३—दार्शनिक भावधारा की अभिव्यक्ति के निमित्त,

४—रहस्यात्मक अनुभूति की परस्पर विरोधी (उलटबाँसियो के रूप मे) अभिव्यक्ति के अवसर पर,

५—कवि-सत्य को आदर्श रूप देने के लिए, तथा

६—मनोवैज्ञानिक भावना के क्षेत्र-विस्तार के लिए।

संक्षेप मे इन विभिन्न वर्गो की व्याख्या की जा सकती है। सौन्दर्यात्मक अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति के लिए ऐसे दो शब्दो का आश्रय लेती है जो उपमेय या वस्तु से पूर्ण समानता रखते हो। इस प्रकार एक शब्द-चित्र का निर्माण होता है। यह शब्द-चित्र कुछ शब्दो और अलकारो की सहायता से ऐसे भाव की व्यजना कर सकता है, जो ऊपर से दिखाई नही देता, किन्तु व्याख्या करने पर सहज चमत्कार और आनन्द की सृष्टि करता है। जब दर्शन साहित्य-क्षेत्र मे प्रविष्ट होता है, तो किसी दूसरे प्रकार के शब्द-भण्डार की आवश्यकता होती है। इसके लिए अन्य प्रकार के रूपको का प्रयोग किया जाता है, जो प्रकृति के सजीव और जड तत्वो से किसी दार्शनिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के हेतु लिये जाते है। व्यक्तिगत दार्शनिक अनुभूति से जिस अद्भुत आनन्द की सृष्टि होती है, उसे 'रहस्यवाद' की सज्ञा दी जाती है। यह रहस्यात्मक अनुभूति इन्द्रिय-जन्य मात्र नही होती, वह तो सहज अनुभूति है, जिसमे कार्य-कारण-सम्बन्ध का प्रश्न नही रहता। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति मे जिन रूपको का प्रयोग किया जाता है वे कार्य-कारण-सम्बन्ध से मुक्त होने के कारण परस्पर विरोधी हो जाते है, इसीलिए रहस्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति-शैली 'उलटबाँसी' कहलाती है। योग की पचम अवस्था 'प्रत्याहार' मे योगी अथवा रहस्यवादी कवि इन्द्रियो के प्रभाव से पूर्णत मुक्त हो जाता है और वह अपने शरीर की पार्थिव सीमा से दूर होकर अपनी इन्द्रियो की गति उलटी कर देता है, वे बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी हो जाती है। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही उसकी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति सामान्य अनुभूतियों की विरोधी जान पड़ती है, इसलिए उसे उलटबाँसी कहते है।

जब प्रतीकों का प्रयोग आदर्श की सिद्धि के लिए होता है तो उन सब विषयो का वर्गीकरण किया जाता है जो किसी गुण के लिए प्रयुक्त हो सकें। वस्तु और गुण इतने अधिक समान होते हैं कि दोनो एक दूसरे के लिए प्रयुक्त हो जाते हैं। इससे साहित्यिक अभिव्यक्ति मे सौंदर्य और सक्षिप्तीकरण दोनो की एक साथ सृष्टि होती है।

वर्तमान युग मे मनोविज्ञान भी विज्ञान की एक शाखा का रूप ग्रहण करता है, जब काव्यात्मक शैली के द्वारा बाह्य जगत् का चित्र प्रस्तुत किया जाता है। चित्रित वस्तुएँ अपनी पार्थिवता त्याग कर आत्मा के रूप मे ही हमारे सम्मुख आती है। इस भाँति प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मनोभावो की गहराई को बाह्यतत्वो के मापदण्ड से मापती है।

प्रतीकात्मक शैली को साहित्यिक अभिव्यक्ति के सबल माध्यम के रूप मे ग्रहण किया जाता है। सस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह शैली और अधिक परिपुष्ट होकर सौन्दर्यात्मक अनुभूति को साहित्यिक सौदर्य देती रहेगी।



मनोहरलाल गौड़

शेख़ आलम

शुक्ल जी के हिन्दी साहित्य के इतिहास मे दो आलम कवि दिये हुए हैं। एक भक्तिकाल की फुटकल रचनाओ का कर्ता जिसका समय उन्ही के अनुसार सवत् १६३९–४० वि० है। इसका प्रमाण है कवि के द्वारा 'माधवानल कामकदला' मे दिया गया रचनाकाल हिजरी सन् ९९१। उसने इस रचना के प्रारम्भ मे सूफी कवियो की परम्परा से अपने समकालीन शासक अकबर की प्रशसा की है, साथ ही टोडरमल का भी स्मरण किया है—

जगपति राज कोटि जुग कीजे, साह जलाल छत्रपति जीजे।
दिल्ली पति अकबर सुल्ताना, सप्त दीप मँह जाकी आना॥
आगे रहे महामति मत्री, नृपराजा टोडरमल खत्री।
सन नव से इकानवे आहि, करौं कथा अब बोलौ ताहि॥

इससे स्पष्ट रूप से आलम का काव्यकाल ईसा की सोलहवी शताब्दी का अतिम पाद निश्चित होता है। इसका जीवनचरित्र अज्ञात है।

दूसरा आलम रीतिकाल के फुटकल कवियो मे माना गया है। इसका समय बहादुरशाह के समकालीन स० १६८३ के आसपास स्थिर हुआ है। बहादुरशाह का शासनकाल सन् १७०७–१२ है। आलम को इनका समसामयिक मानने का आधार शिवसिह सरोज मे दिया हुआ एक सवैया है जिसमे बहादुरशाह (मुअज्जम) की यह कह कर प्रशसा की गयी है कि वह आलम कवि का पालन करते है—

जानत औलि किताबन कौ जे निसाफ के माने कहे है ते चीन्हे।
पालत हैं इत आलम को उत नीके रहीम के नाम को लीन्हे॥
मौजमशाह तुम्हे करता करिबे को दिलीपति है वर दीन्हे।
काबिल हैं ते रहै कितहूँ कहूँ काबिल होत है काबिल कीन्हे॥

पद्य की दूसरी पक्ति मे स्पष्ट कहा गया है कि, हे 'मुअज्ज़मशाह, तुम इधर आलम कवि को आश्रय देकर उसकी पालना करते हो और दूसरी ओर रहीम का नाम-स्मरण करते हो'। इसमे 'आलम' और 'रहीम' श्लेष द्वारा ससार और आलम कवि एव परमेश्वर और रहीम कवि के दुहरे अर्थ देते है। इससे भी आलम का मुअज्ज़मशाह का समकालीन होना निर्बाध सिद्ध है।

पहले इस सवैया के प्रमाण पर सत्रहवी शताब्दी ईसवी के अतिम पाद मे एक ही आलम माना जाता था। 'मिश्रबन्धु विनोद' और 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका मे एक ही आलम स्वीकार किया गया है। पर उत्तरकाल मे 'माधवानलकामकदला' के प्रकाश मे आने पर

अकबरकालीन एक और पृथक् आलम माना गया। शुक्ल जी के एतद्विषयक इतिहास का यह इतिहास है। रीतिकाल के आलम के विषय मे दो किंवदन्तियाँ भी थी। एक थी उनके शेख़ नाम की रगरेजिन के साथ प्रेम-विवाह की और दूसरी थी मुअज्ज़म के साथ हास-परिहास की। इन्हे भी सहायक प्रमाण के रूप मे स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार हिन्दी ससार मे दो आलम माने जाने की परम्परा बन गयी। पर बाद मे सन् १९५० और ५२ मे विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने आलम के विषय मे दो लेख प्रकाशित किये और उनमे तर्क देकर यह प्रमाणित किया कि आलम एक ही कवि है। विद्वानो ने इस स्थापना को स्वीकार कर लिया। परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'नव निबध' के आलम विषयक लेख मे यही बात मानी है।

मेरा निवेदन यह है कि आलम की विभिन्न रचनाओ के आधार पर यह सिद्ध नही होता। उनसे तो दो ही आलम सिद्ध होते है। अपनी बात कहने से पहले मै मिश्र जी की उक्तियो को प्रस्तुत करूँ। ये चार भागो मे बाँटी जा सकती है—(१) 'जानत औलि किताबन कौ' आदि सवैया आलमकृत भूल से समझ लिया गया है। यह मुअज्ज़म के आश्रित कवि जैतसिह महापात्र का है। उन्ही के 'आजमप्रकाश' मे यह मिला हे। (२) अनेक सग्रहात्मक हस्तलेखो मे प्रबन्धकार और मुक्तककार आलम के पद्य साथ-साथ सगृहीत मिलते है। (३) आलम के पद्यो का सग्रह सवत् १७१२ से होने लगा था। यह हस्तलेखो के लिपिकाल से प्रमाणित होता हे। कवि का काव्यकाल इससे पूर्व का अवश्य होना चाहिए। (४) मुक्तककार आलम के एक पद्य मे कामकदला का नाम आया है। इससे सकेत मिलता है कि कवि कामकदला की कथा से परिचित है। इससे यह अनुमान करना सम्भव हो जाता है कि मुक्तककार आलम ही प्रबधकार है। ये युक्तियाँ पर्याप्त बलवती है। पर प्रबधकार आलम की भाषा-शैली मुक्तककार की भाषा-शैली से इतनी भिन्न है कि उन्हे एक मानना अत्यन्त असगत लगता है। तुलसीदास जी के निदर्शन पर यह तो कह सकते है कि मुक्तक और प्रबधो के लिए क्रमश ब्रजभाषा और अवधी के प्रयोग की परम्परा थी, पर भाषा-भेद हो जाने पर भी एक कवि की अभिव्यजना-शैली एक ही रहती है। अवधी और ब्रजभाषा दोनो मे गोस्वामी जी के भाव, अलकार और अभिव्यजना की प्रणाली एक सी है। आलम की रचनाओ मे समानता कम और असमानताएँ बहुत है।

'सुदामा चरित्र' की भाषा तो कथमपि सोलहवी शताब्दी की नही हो सकती। वह बहुत अर्वाचीन है। मुक्तककार आलम अलकृत एव कल्पनाप्रवण शैली के भावविभोर पर चमत्कार-प्रेमी कवि है। प्रबधकार आलम इतिवृत्तात्मक ढग से सरल कथाकार है। एक सरल सत्यान्वेषी है तो दूसरा सजावट का शौकीन। एक की प्रेमानुभूति गभीर है तो बेगवती नही। दूसरे की अनुभूति सान्द्र, वेगवती और कुतूहलयुक्त है। इसलिए यही तथ्य प्रामाणिक लगता है कि आलम दो है—एक ईसा की सोलहवी शताब्दी के अत मे था और दूसरा सत्रहवी शताब्दी के अत मे। 'सुदामाचरित्र' दूसरे आलम की प्रारम्भिक कृति लगती है।

मिश्र जी की युक्तियो को भी इस बदली दृष्टि से परखा जा सकता है। 'जानत औलि' आदि सवैया के जैतसिह कृत माने जाने पर प्रस्तुत मान्यता मे कोई अतर नही पड़ता। आलम का

मुअज्जम की कृपा का पात्र होने का तथ्य तो हर दशा मे प्रमाणित हो जाता है। पद्य मे 'आलम' अन्य पुरुष के रूप मे गृहीत हैं। यह आलम द्वारा भी तथा अन्य किसी के द्वारा भी हो सकता है। पद्यो का संग्रह रसिकता के आधार पर हुआ करता है। भिन्नकालीन दो आलमो के पद्यो का एक साथ सगृहीत होना सभव है। प्रसगवश या प्रसिद्धि के कारण जीवन-काल से ही आलम की रचनाओ का सग्रह प्रारम्भ हो गया होगा, अत सवत् १७१२ वि० मे उनके पद्यो का दूसरे के पद्यो के साथ सग्रह कोई आपत्ति की बात नही। वास्तव मे आलम मुअज्जम के समकालीन होकर भी समवयस्क नही थे, उनसे आयु मे बडे होगे। दूसरे सवैया की रचना के समय 'मुअज्जम' राज्याधिरूढ नही लगते। 'मौजमशाह तुम्हे करता करिबे को दिलीपति है बर दीन्हे' से यही प्रतीत होता है। औरगजेब ने उन्हे 'दिल्लीपति करिबे को' वरदान दिया था, राज्याधिकार नही। 'माधवानल कामकदला' की कथा इतनी प्रचलित थी कि उसका परिचय आलम जैसे प्रेम-शृगार के कवि को होना सभव है। इसलिए उपर्युक्त तर्क दोनो मान्यताओ मे समाहित हो सकते है।

सबसे महत्वपूर्ण और विशेष विचारणीय बात 'सुदामाचरित्र' की रेख़ता भाषा की है। ऐसी भाषा सत्रहवी शताब्दी मे ही साहित्य मे प्रयुक्त हुई थी, अकबर के काल मे नही। इधर रेख़ता का प्रयोग 'आलमकेलि' के कुछ पद्यो मे भी मिलता है। 'सुदामाचरित्र' मे 'आलम' नाम दो बार प्रयुक्त हुआ है और दोनो जगह ससार के श्लिष्टार्थ के साथ है जैसा कि 'जानत औलि' वाले सवैया मे है। फलत यही अनुमान निर्दोष लगता है कि आलम दो है और 'आलम-केलि' तथा 'सुदामाचरित्र' रीतिकालीन आलम की रचनाएँ है, भक्तिकालीन आलम की नही।

माधवानल कामकदला—भक्तिकालीन आलम की दो रचनाएँ प्राप्त है—'माधवानल कामकदला, और 'स्याम सनेही'। पहली मे उत्तरभारत की प्रसिद्ध माधवानल तथा कामकदला की प्रेम-कथा है जो आलम के अतिरिक्त अनेक कवियो द्वारा हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, सस्कृत, फारसी आदि भाषाओ के काव्यो का विषय बनी है। इसकी एक बडी शुद्ध हस्तलिखित प्रति नागरी-प्रचारिणी-सभा के सग्रहालय मे है। ऐसा ही शुद्ध एक दूसरा हस्तलेख लखनऊ के डॉ० भवानी-शकर याजनीक के पास है। अतर इतना है कि लखनऊ वाली प्रति का पाठ अपेक्षाकृत बडा है। इसमे माधवानल के पिता का पूरा विवरण, माधवानल-कामकदला के पूर्व जन्म की कथा आदि के अश बढे हुए है। प्रत्येक दोहे के साथ उसीके अर्थ का एक सोरठा भी साथ मे रहता है। उसकी अनावश्यकता स्पष्ट सिद्ध करती है कि वह बाद मे बढाया गया है।

लेकिन प्राचीन रचनाओ मे छोटी और बडी दोनो प्रकार की कथाओ की परम्परा मिलती है। गणपति ने 'माधवानल कामकदला प्रबध' मे बडा ही रूप अपनाया है। इसी रूप को बोधा ने 'विरहवारीश' मे प्रयुक्त किया है। छोटे रूप को लेकर लिखे गये ग्रंथ है—माधव शर्मा का ब्रजभाषा मे लिखा हुआ 'माधवानलकामकदलारसविलास' (सवत् १६०० वि०), कुशललाभ की राजस्थानी मे लिखी 'माधवानलकामकदलाचउपई' (सवत् १६१६ वि०), दामोदर की 'माधवानल कथा' एव आनन्दधर का अनुमानत १० वी शताब्दी का सस्कृत 'माधवानल नाटक'।

अधिक सख्या मे कथा का छोटा रूप ही अपनाया गया है। आलम की रचना मे बढा हुआ अश बाद का परिवर्तन लगता है।

यह रचना है तो सूफियो के अनुकरण पर मसनवी शैली मे दोहे-चौपाइयो मे लिखी हुई, कथा का विभाजन भी खण्डो मे हुआ है, पर सूफियो का सा साम्प्रदायिक रहस्य इसमे नही निहित हुआ है। सीधे सरल ढग से प्रेमकथा का आख्यान कवि ने दिया है। इस शैली की दृष्टि से इसका बडा महत्त्व है। इससे अनुमान होता है कि पहले लोक प्रसिद्ध प्रेमकथाओ का सूफी मार्ग तथा सरल इतिवृत्तमार्ग दोनो प्रकार से साहित्य मे प्रयोग होता था।

स्यामसनेही—'स्यामसनेही' की रचना भी 'माधवानलकामकदला' की भाँति मसनवी शैली मे दोहे चौपाइयो मे हुई है। इसकी एक शुद्ध हस्तलिखित प्रति लखनऊ के डॉ० भवानीशकर याजनीक के पास है। श्रीकृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की प्रसिद्ध कथा इसका विषय है। 'स्याम-सनेही' शब्द का प्रयोग रुक्मिणी के लिए हुआ है—

हरित पीत भई स्यामसनेही, तामँह रही मीन हुइ देही।

कथा के स्रोत की चर्चा करते हुए कवि ने स्वय प्रारम्भ मे बताया है कि यह 'भागवत' के दशम स्कध मे उसने सुनी थी। सुनकर चित्त मे इस प्रकार शान्ति हुई जैसे हवा चलने पर तालाब की काई फट जाती है। पर व्यास की वाणी ठीक-ठीक समझ मे नही आयी, इसलिए यह कथा दोहे-चौपाई मे लिखी। इन सरस दोहे-चौपाइयो से लोहे का हृदय भी पिघल जाता है।

'भागवत' मे यह कथा दशम स्कध उत्तरार्ध के ५२-५४ अध्यायो मे आयी है। आलम ने उसमे थोडा अन्तर भी कर लिया है। 'भागवत'कार ने कर्ण परम्परा से श्रीकृष्ण और रुक्मिणी दोनो के हृदयो मे प्रेमाकुर उत्पन्न कराया है। आलम ने सखी के द्वारा रुक्मिणी के हृदय मे ही प्रेमभाव दिखाया है। श्रीकृष्ण के मन मे रुक्मिणी का पत्र पढकर स्नेह जगा। 'स्यामसनेही' मे प्रजाजनो की प्रार्थना पर माता के द्वारा रुक्मिणी के लिए राजमदिर मे गौरी-मदिर बनवाने की बात है। 'भागवत' मे यह नही है। 'भागवत' का रुक्मिणी-सदेश व्यवहारिक है। उसमें गौरी-पूजन के समय मिलने का संकेत है। आलम का प्रेम-सदेश भावात्मक है।

गहसन लाओ तिया जन को सताप जानि, संकट हरन जानुकी ते जानि पाये हो।
आलम सरूप स्याम करुणा के सिधु स्वामी, तेरे गुन तारा हूँ अहल्या नीके गाये हो।
मेरी जो बिपति सुनि धारे नाथ पाव पीड, ऐसे पाँव धारो जैसे हाथी काज धाये हो।
पाती दीजौ पडित सदेसो मुख ऐसो कहि, आवन की आस बढी मेरे जान आये हो ॥

'भागवत'कार ने राजा भीष्म को पुत्रस्नेह के कारण शिशुपाल के लिए कन्या दे देने को उद्यत दिखाया है। यह बात 'स्यामसनेही' मे नही है। यहाँ तो वह प्रारम्भ से अत तक श्रीकृष्ण के सस्नेह और शिशुपाल के प्रति द्वेषपूर्ण है। 'भागवत'कार ने कथा के अत मे भाग्य की बलवत्ता बतायी है पर आलम ने घटनाओ का मूलकारण प्रेम भाव माना है। रुक्मिणी का प्रेम-पत्र पढते समय श्रीकृष्ण की मनोदशा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

जो यह प्रलय पयोधि न भीजै, सो पल माँह प्रेम रस भीजै।
रोम रोम भरि पुलक पसीजा, कोटि सूर के तपनि तपीसा ।।
पूरन ब्रह्म प्रेम मे जानहु, सब ऊपर प्रेमहिं पहिचानहु ।।

यह रचना भी सूफियो के रहस्य और भक्तो के भक्ति-सम्प्रदाय की छाया से मुक्त है। इसमे रस कथा का है वर्णनो या कवित्व-नैपुण्य का नही। चारुता की दृष्टि से ये वर्णन विशेष रोचक है। रुक्मिणी का प्रेम-पत्र इस रचना का प्राण है। श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन, द्वारका के राज-महल और प्रभात का वर्णन, लडाई मे हाथियो के युद्ध का वर्णन, रुक्मिणी को लेकर श्रीकृष्ण का द्वारका मे प्रविष्ट होने का वर्णन, विवाह और स्त्रियो का द्व्यर्थक भाषा मे श्रीकृष्ण को गालियाँ सुनाना आदि इसके रोचक प्रसग है।

ये दोनो रचनाएँ भक्तिकालीन आलम की है। रीतिकालीन आलम की दो रचनाएँ है—फुटकल पद्यो का सग्रह 'आलमकेलि' और 'सुदामाचरित्र'। पहले मे ४०० से ऊपर पद्यो मे प्रेम-श्रृगार, विरह-व्यथा, ऋतु आदि का वर्णन है। नायिका-भेद के भी कुछ पद्य है। कुछ पद्य रेख़ता भाषा मे लिखे मिलते है। रचना-शैली दोनो प्रकार की है—रीतिमुक्त और रीतिबद्ध। कही पर भावविभोर हृदय के प्रेमोद्गार परिमार्जित भाषा मे व्यक्त हुए है, तो कही अलकारिक सजावट और चमत्कार-लोभ प्रकट हुआ है।

'सुदामाचरित्र' ६० पद्यो की छोटी रचना है और रेख़ता भाषा मे लिखी गयी है। दो बार आलम का नाम आता है। हस्तलेख पर भी 'आलम कृत सुदामाचरित्र' लिखा है। इसका हस्त-लेख नागरी-प्रचारिणी-सभा के सग्रहालय मे विद्यमान है। भाषा और भावो से रचना किसी मुसलमान की ही लगती है। श्रीकृष्ण और सुदामा के विषय मे जो भावनाएँ व्यक्त हुई है वे साम्प्रदायिक नही है। भाषा की दृष्टि से दो पद्य देखे जा सकते है—

बहुत गरीब सुदामा ब्राह्मन निपट खिलाफत मे जब अटका,
सद पैबद लगे चादर मे सिर जबू सा बाँध्या पटका।
जूती गई टूटि करि टुकड़े धोती लई घाटि कर कटका,
रे पैं अपनी किस्मत पर वह राजी किसी तरफ सो दिल नही लटका ।।

× × × ×

तेरी समा बहुत है दिल मे तिस खातर इस बात बतावै,
अपने सुख की ख्वाहिश तुझ कूँ मुझकूँ नाहक भेजि लजावै।
राजी होइ रहना है नादर जो कादर नित भीख मँगावै,
ऐसे हाल मीत सो मिलना इह हरगिज मन मे नहिं आवै।

इनमे 'अटका', 'बॉध्या', 'किसी तरफ', 'लटका', 'तिस खातिर', 'तुझ कूँ', 'मुझ कूँ', 'रहना है', 'मिलना' आदि शब्द स्पष्टतया भक्तिकाल के नही हो सकते। इस प्रकार की उर्दू सत्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे साहित्य मे प्रयुक्त हुई थी। ऐसी ही भाषा 'आलमकेलि' के कुछ पद्यो मे है। अत यही अनुमान होता है कि ये दोनो रचनाएँ रीतिकाल के मुक्तककार आलम की है।

आलम के विषय मे एक समस्या और है। वे 'शेख़' के प्रेमी पति बताये जाते है। शेख़ रगरेज़िन थी। इसके साथ विवाह होने की रोमानी घटना का उल्लेख शुक्ल जी ने अपने इतिहास मे किया है। मुअज़्ज़म के साथ उसके परिहास-विनोद की भी एक घटना बतायी जाती है। इनका आधार किंवदन्तियाँ ही है।

अन्त साक्ष्य के आधार पर इसकी परख की जाय तो सदेह अधिक उत्पन्न होता है, निश्चय कम। मुक्तक पद्यो मे कुछ पद 'सेख' छाप के है और कुछ 'आलम' छाप के। 'आलमकेलि' के ३९७ पद्यो मे से ५२ पद्यो पर 'सेख' की छाप है। लाला भगवानदीन ने 'आलमकेलि' के समस्त पद्यो को विषय के आधार पर भिन्न-भिन्न शीर्षको मे बाँटा है। इनमे 'सेख' छाप के पद्य प्राय सभी शीर्षको मे प्राप्त होते है। रचनाओ से यह पता लगाना कठिन है कि 'सेख' का मनोऽभिनिवेश किन-किन विषयो पर विशेष था। वह आलम के साथ एकमना होकर आयी है।

बहि साक्ष्य के दो प्रमाण ऐसे मिलते है जिनसे 'सेख' को पृथक् व्यक्ति समझ सकते है, (१) सग्रह की पुस्तको मे 'सेख' और 'आलम' के पद्य पृथक्-पृथक् सग्रहीत मिलते है। 'शिवसिंह-सरोज' तथा नवीनकृत 'सुधासार' मे यही व्यवस्था है, (२) किवदन्ती। पर इसके विपरीत ऐसे प्रमाण भी मिलते है जिनसे यह सिद्ध होता है कि 'सेख' आलम का ही दूसरा नाम है, वह कोई अन्यतर नही है। वे प्रमाण निम्नलिखित है—

१—'सेख' नाम मुसलमानो मे स्त्रियो का नही होता। शेख़, सैयद, मुगल, पठान ये जातियाँ है और पुरुष इन्हे अपने नामो के साथ जोडते है। २—'शेख' और 'आलम' नाम से मिलने वाले छदो मे भाव, भाषा और शैली आदि का कोई तात्विक अतर नही दिखाई पडता। ३—आलम ने एक छप्पय मे सच्चे 'सेख' का लक्षण बताया है जो योगी के लक्षणो के समान है। उसमे किसी स्त्री का सकेत लेशमात्र भी नही है। छप्पय 'आलमकेलि' के अनुसार इस प्रकार है —

जपन नाम सोइ जपिय नहिंन बावन अक्षर महँ,
तब सुदरस दरसिये चित्र अपने प्रतच्छ तहँ।
सुन्न पवन बिन उठै सबद तहँ उठै श्रवन बिन,
तहँ मँह चित सचरै न तहँ जुग सधि रैन दिन।
जल पर जु बरन आलम सुमति, लिखि मेटत पढि लिखत पुनि,
सोइ सिद्ध सेख जापर सुमति यह बिबेक बूझे सु मुनि॥

४—आलम ने 'सेख' नाम देकर किसी स्त्री का रूप-सौन्दर्य और उसके प्रति अपना प्रेमभाव नही व्यक्त किया। घनानद ने अपनी कविता मे प्रेयसी 'सुजान' के रूप, नाच, सोना, उठना, बैठना, हँसना, रूसना आदि सभी चित्रित कर अमर बना दिये। आलम जैसा प्रेमोन्मत्त कवि यह न करे, इस पर विचार करना चाहिए। ५—पुरानी प्रतियो मे 'शेख आलम' एक नाम मिलता है जो एक ही व्यक्ति का प्रतीत होता है, जैसे—(अ)—काँकरौली की प्रति ७५।५, अक्षरानुक्रम से सगृहीत, आदि भाग—'अथ कवि शेख आलमकृत कवित्त'। अत भाग—'इति श्री कवि शेखआलम के समाप्त।' (आ)—काँकरौली की प्रति ७३।२८, लिपिकाल सवत् १७१२, चार

सौ छदो का सग्रह, पुष्पिका—'इति शेखआलम के छद सपूर्णम्' । (इ)—भवानीशकर याजनीक, लखनऊ की प्रति १४० । २२ रस कवित्त आलम को सग्रह, आदि—'शेख आलमकृत रसकवित्त लिख्यते' अत—'इति श्री शेख आलमकृत रसकवित्त समाप्त सपूर्णम्'।

६—'आलमकेलि' मे 'शेख' छाप का एक कवित्त है जिसमे देवी की स्तुति की गयी है। स्तुति करने वाला पुरुष है—

सेख मति सेख ही सुसेख की सी दीन तुम, रावरे सिखाये सिख ढिग आनि लयौ हौ।
दुर्गा देवी तेरी ई दाया ते दुर्ग नाँघि आयौ, पारबती तुम्हे सुमिरत पार भयौ हौ।'

यहाँ पर 'आनि लयौ हौ' तथा 'पार भयौ हौ' क्रिया पद पुरुष के साथ ही जुड सकते हैं। स्तुति करने वाला स्वय 'सेख' है, अत यह आलम के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। अत यही प्रतीत होता है कि 'शेख' और 'आलम' दोनो नाम एक ही व्यक्ति के है। 'आलम' नाम है और 'शेख' उसका जातिनाम। दोनो को वह निर्विशेष भाव से प्रयुक्त करता है। हो सकता है कि आलम ब्राह्मण से मुसलमान बनने पर 'शेख' जाति मे ले लिये गये हो। विद्वान् तो वे थे ही। रगरेज़िन की घटना सही हो सकती है, पर उसका नाम 'शेख़' था—यह बाद मे लोगो ने भूल से समझ लिया।



बदरीनारायण श्रीवास्तव

उत्तर भारत का मध्यकालीन रामकाव्य (१४००-१८०० ई०)

आदि कवि द्वारा 'रामायण' की रचना हो जाने के पश्चात् रामचरित भारतीय साहित्य का न केवल एक प्रमुख विषय ही बन गया, वरन् इसने साहित्य की अनेक विधाओ को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से प्रभावित भी किया। डॉ० बुल्के ने (रामकथा, पृ० १७९) यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि सस्कृत ललित साहित्य मे अनेक महाकाव्य, नाटक, श्लेष, विलोम, चित्र एव खड काव्यो की रचना रामचरित को लेकर की गयी है। वस्तुत रामचरित इतना रोचक, आदर्शमय एव पारिवारिक है कि भारतवर्ष का कोई भी महान् कवि उसे अपनी रचना का विषय बनाने के लोभ का सवरण नही कर सका। आगे चलकर रामभक्ति का विकास हो जाने पर तो रामकथा के विविध भावुक प्रसग अनेक भक्तो एव कवियो के कठोद्गार ही बन गये। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे रामकथा के ये दोनो ही पक्ष—वर्णनात्मक तथा आध्यात्मिक—रामकथा द्वारा अपनाये गये है। यह अवश्य है कि विभिन्न प्रदेशो एव अचलो मे जाकर रामकथा ने अनेक स्थानीय विश्वास एव मान्यताओ को अपने मे समेट लिया है, फिर भी उसकी मौलिकता कही भी नष्ट नही हुई है। प्रस्तुत निबध मे उत्तर भारत की प्रमुख भाषाओ के मध्यकालीन रामकाव्य[1] का विवरण प्रस्तुत करते हुए उसकी कतिपय सामान्य विशेषताओ का उल्लेख प्रयास किया जायगा।

महाराष्ट्र मे १५वी शताब्दी से ही रामकाव्य की उपलब्धि होनी प्रारभ हो जाती है। इस शताब्दी के प्रमुख मराठी कवि है एकनाथ (भावार्थरामायण, रामगीता, कौशल्या-स्वयवर, सीतामदोदरीसवाद), केशवराज (रामायण), और जनार्दन पत (रामस्तुति)। इसी काल के गुजराती कवियो मे है (रामलीला ना पदो), मत्री कर्मण (सीताहरण), भीम-कवि ('हरिलीलाषोडशकला' मे दसवी कला मे रामलीला), लावण्यसमय (रावणमदोदरी-सवाद), श्रीधर (रावणमदोदरीसवाद), मीठा (रामप्रबध), स्वयभूदेव (रामायणपुराण),

---

१. **संदर्भ ग्रन्थ**—Third All India Writers Conference at Chidambaram, Ramayana Influence on regional languages, पृ० ५०-१२९।

आसामी—प्रो० यू० सी० लेखरू, बँगला—श्री नरेन्द्र देव; उड़िया—श्री लक्ष्मीनारायण महंती; गुजराती—श्री पी० सी० दीवान जी; मराठी—प्रो० के० पी० कुलकर्णी; पंजाबी—म० मोहन सिंह; मैथिली—डॉ उमेश मिश्र।

भालण (रामबालचरित, रामविवाह या सीतास्वयवर) आदि प्रमुख है। बगाल मे इसी समय कृत्तिवास (रामायण, जटायुपिंडदान, शिवरामेर युद्ध, अगदेर रायबार, बीरबाहुर युद्धपाला, इन्द्रजितेर पाला, लक्ष्मणेर शक्तिशेल, महिरावणेर पाला, देशागमन, लक्ष्मणेर चतुर्दश बर्ष अनिद्रा वो अनाहार, ययातिर नरमेधयज्ञ, अगूरीसवाद) और द्विज अनत (अनतरामायण) ने अपने रामकाव्यो की रचना की।

१६वी शताब्दी मे मराठी मे अच्युताश्रम (रामनोविया), अच्युताश्रम शिष्य (रामस्तुति), जयराम स्वामी (सीतास्वयवर), नामा पाठक (भरतभेट), मल्हारी (भरतभेट), मुक्तेश्वर (रामायण, हनुमन्नाटक), रगनाथ (रामजन्म), रामदास (रामगीत, सुन्दर व युद्धकाड लघुरामायण) विट्ठल (शबरी आख्यान, सीतास्वयवर), विष्णुदास नामा (अगदशिष्टाई, लवकुशाख्यान, सीतास्वयवर) तथा वेणी स्वामी (सीतास्वयवर) ने रामकाव्य की रचना की। इसी शताब्दी के गुजराती रामकवियो मे नाकर (रामायण, लवकुशाख्यान), कहान कवि (रामायण के ६ काड), उद्धव व विष्णुदास (रामायण ६ काड), विष्णुदास (सातवाँ काड, अगदविष्टि, लवकुशाख्यान), तुलसीसुत वैकुठ (रामविवाह), काशीसुत (हनुमतचरित), तुलसी (सीताजी नो सोहलो), शिवदास (परशुरामाख्यान), हरिराम (सीतास्वयवर, सीता ना सदेशा, रणजग, सीतावेल, सीयरामडप), मंडण (सीतानो सदेश), प्रभाशकर (रावणमदोदरीसवाद), देवविजयमणि (रामचरित्र), चद्रमणि (रामरास), गुणशील (अजनासुन्दरीप्रबोध), बाल कवि (सीतारामरास), कनक सुन्दर (अगदविष्टि), समय सुन्दर (रामसीताप्रबध), देशराज (रामयशोरसायनरास) आदि प्रमुख है। बँगला के १६ वी शताब्दी के प्रमुख कवि है रामदास, द्विज दुर्लभ (रामनिर्वासन, लक्ष्मणशक्ति), द्विज दुर्गाचरण (रामलीलापद), द्विज मधुकठ (सीतार अग्निपरीक्षा, रामचन्द्रेर बनयात्रार उपलक्ष्ये सीता के प्रबोधदान), षष्ठीवर और गगादास (सक्षिप्त रामायण, रामायण-आदि व उत्तर काड)। डॉ० सुकुमार सेन इस काल के आसामी रामकवि माधवकदली (श्रीरामपाचाली) तथा शंकरदेव (उत्तरकाड, श्रीरामविजय नाटक) को बँगला कवि ही मानते है।[२]

१७वी शताब्दी के महाराष्ट्री रामकवियो में अमृतराय (रामचद्रवर्णन, रामजन्म, लकावर्णन), आनदतनय (रामायण, सीतास्वयंबर), आनन्दमूर्ति (रामचरित्र), उद्धव चिद्घन (जानकीवर्णन), कान्हा हरिदास (अनुभवरामायण), गिरिधर (सप्तरामायणे), गोसावीनदन (सीतास्वयंवर), जगजीवन प्रभु (कुभकर्णवध, जटायुआख्यान, रामकथा, बाल व उत्तरकाड, अनेक संवाद), जगन्नाथ (रामायण), नयनात्मज सुत (रामजन्म), नरहरि मोरेश्वर (रामजन्म), नागेश (सीतास्वयवर), माधव (ओवी तथा श्लोकरामायण), माधव सुत (रामनामतरग, रामपचरत्न, रामामृततरंग), मुकुद (सुन्दरकाड), मुद्गल (युद्धकाड), मेरु स्वामी (रामसोहला, श्रीरामपचरत्न), वामन पडित (अहल्योद्धार, रामगीता, सकलित रामायण, लोपामुद्रासंवाद, सीतास्वयवर), शिवराम (अध्यात्मरामायण), श्रीधर (रामविजय, रामसगुण-

२. **बाँगला साहित्येर इतिहास—प्रथमखंड, पृ० ३३८-४३।**

ध्यान) आदि प्रमुख है। इस शताब्दी के गुजराती रामभक्त कवि है प्रेमानन्द (रणयज्ञ, रामायण, लवकुशाख्यान, ऋष्यश्रृगाख्यान), रत्नेश्वर (लकाकाड), वल्लभ (सीताहरण, सीताविलाप, सीताविलास), वैकुठ (रामविवाह), तुलसी (रामचन्द्रजी ना धोला), हरिदास (सीताविरहिणी चतुरिओ), भावना भक्त (रावणमदोदरीसवाद), सामलभट (रावणमदोदरीसवाद, अगदविष्टि), विराजी (अगदविष्टि), गोविन्दराम (रावण अने विभीषण), मेघा जी काशी (हनुमान्चरित)। बगाल मे इस काल मे अद्भुताचार्य (अरण्य, किष्किधा, सुन्दर, लका, उत्तरकाड, मायामुड निर्माण, मकराक्षेर युद्ध, बीरबाहुर युद्ध, रामायणशतस्कध रावणेर पाला, लक्ष्मणइन्द्रजितेर युद्ध), वैद्य रामशकर दत्त (श्रीरामपचाली), द्विज भवानीनाथ (रामाभिषेक, लक्ष्मणदिग्विजय, रामायणेर वदना, श्री रामेर दुर्गापूजा, रामेर स्वर्गारोहण, राम दिग्विजय, रामचन्द्रेर स्वर्गारोहण), द्विज दुर्गाराम (रामायण, कालिकापुराण का अनुवाद), द्विज लक्ष्मण (रामायण आदि व अरण्य काड, रामेर नागपाश, शिवरामेर युद्ध, सीतार उद्देश, अगदेर रायबार, महिरावणेर पाला) चन्द्रावली (सीतार बारमासि, रामायण, चन्द्रावतीर पाला, मनसामगल) और घनश्याम दास (सीतार बनबास) आदि ने रामकाव्य की रचना की।

१८वी शती तथा १९वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे मराठी मे गणेश आत्माराम (रामगीता), चिंतामणि (सीतास्वयवर), देवनाथ (श्रवणाख्यान, रामायण), पाडुरग (रामगौरव), प्रह्लाद बुवा (अहल्योद्धार, सीतास्वयबर) और मोरोपत (अष्टोत्तरशतरामायण तथा कुशलवाख्यान) ने रामकाव्य की रचना की। गुजराती रामभक्त कवियो मे दिवाली बाई (रामबाललीला, रामविवाह, रामजन्म, राम-राज्याभिषेक), रघुनाथ दास (रामायण), रणचोद जी (रामायण, रावणमदोदरीसवाद), भानो (रामचरित्र), राजाराम रणछोड (रामकथा), पुरीबाई (सीतामगल), धीरोभक्त (रणयज्ञ), कालिदास (सीतास्वयवर), गोविन्द राम (रामजी ना पदो), वल्लभ भट्ट (रामविवाह), वजिओ (रणयज्ञ, सीतानो सदेशो, सीतामडप), थोभन (रामजीना विवाह, हनुमाननी गरबी), प्रीतमदास (अध्यात्मरामायण), छोटम (जानकीविवाह), हरिराम (सीतास्वयवर), बापू साहब गायकवाड (रामराजिओ), मुकुन्द (रामलीला), मीठो (रामप्रबध), कृष्णाबाई (सीताजीनी काचली), मनहर स्वामी (रामगीता), गिरिधर (रामायण, हनुमन्नाटक) और दयाराम (हनुमानगरुडसवाद) आदि प्रमुख है। इस शती मे बँगला मे शकर चक्रवर्ती कविचन्द्र (रामायणपाचाली, अगदेर रायबार, हरिश्चन्द्रेर पाला, लक्ष्मणेर शक्तिशेल, शिवरामेर युद्ध, नरमेधयज्ञ, कुभकर्णेर रायबार, शक्तिशेलेर पाला, अगूरी सवाद, ययातिर नरमेर यज्ञ, हरिश्चन्द्र उपाख्यान, ययातिर उपाख्यान, सीताहरण, अतिकायेर पाला, बालिर पिंडदान, रावणकुभकर्णसवाद, भरतेर पितृश्राद्ध), रायबार ग्रन्थो मे 'अगदेर रायबार' के लेखक फकीरराम कविभूषण, द्विज तुलसी, खोशालशर्मा, मतिराम, जगन्नाथदास, द्विज दुलाल, 'बिभीषणेर रायबार' के लेखक रामचन्द्र; 'विभीषणेर खोट्टा रायबार' के लेखक रामनारायण, 'कालनेमिर रायबार' के लेखक कालीराम आदि प्रमुख कवि हुए। अन्य छोटे-छोटे पाला ग्रन्थो मे 'शिवरामयुद्ध' (कृत्तिवास, लक्ष्मण, कविचन्द्र), लक्ष्मणभोजन (कृत्तिवास), 'तरणी सेनेर युद्ध' (कृत्तिवास, द्विज दयाराम, रामशकर), 'महिरावणवध'

(रामशंकर, द्विज सर्वाणीनन्दन), 'नरमेधयज्ञ' (कृत्तिवास, लक्ष्मण), 'ययातिर पाला' (कृत्तिवास) और 'वज्रपातवध' (कृत्तिवास) आदि प्रमुख है। इस काल के अन्य बँगला कवियो मे राम हाजरा (रामायण पाचाली), द्विज सीतासुत (वाल्मीकिपुराण), कृष्णदास (सक्षिप्त श्रीरामपाचाली), गुणराजखान (सक्षिप्त रामकहानी), राम गोविन्ददास, भवानी शकर (किष्किन्धाकाड), रामशकर (अरण्यकाड), शिवचन्द्रसेन (सक्षिप्त श्रीरामपाचाली, शारदामगल), गगाराम दत्त (वृहत्तर रामायण), द्विज साफल्य तथा द्विज धनजय (श्रीराम-पाचाली), गगासेन तथा द्विज राजीव (उत्तरकाड), कुमुदानद दत्त (रामेर अश्वमेध), द्विज पचानन्द (उत्तरकाड), द्विज माणिकचन्द (लकाकाड), रामचन्द्र (सुन्दरकाड), द्विज शिवराम (लक्ष्मणशक्तिशेल, रामायण लकाकाड), द्विज शभुसुत (रामायण आदिकाड), उत्सवानद (सीतार वनबास, लवकुशेर युद्ध), रसिक कवि (ताडकाबध), रामनारायण (खड रामारायण), जयदेवदास (पद्मलोचनबध), द्विज मधुकठ, द्विज रामचद्र, द्विज दर्पनारायण, कृपाराम, भिखन शुक्लदास, कठमणिदास (रामस्वर्गारोहण), द्विज कानूराम, द्विज निधिराम, खुदुराम, हट्टशर्मा, द्विज गगादास, द्विज पचानन, द्विज दुर्गाराम आदि आते है। कूचबिहार के रामकवियो मे लक्ष्मीराम (अयोध्याकाड), रघुराम (अयो०, उ० काड), द्विज रुद्रदेव (अरण्यकाड), देवीनदन (किष्किधाकाड), द्विज ब्रजसुन्दर (ल० का०), द्विज जगन्नाथ, लोकनाथ शर्मा (सु० व कि० काड,) शारदानद (उ० का०), वशीमोहन, महाराज हरेन्द्र नारायण आदि प्रमुख है। इनके अतिरिक्त रामानद यति, रामानद घोष, जगद्राम व रामप्रसाद, रघुनदन गोस्वामी तथा राम-मोहन वन्द्योपाध्याय ने सपूर्ण 'रामायण' की रचना की है।

उपर्युक्त शताब्दियो (१४वी-१८वी) मे हिन्दी मे भी पर्याप्त रामकाव्य की रचना हुई है, किन्तु यहाँ तुलसी के प्रखर प्रताप के समक्ष कोई भी अन्य कवि टिक नही सका, सब की प्रतिभा बौनी पड गयी। 'हिन्दी साहित्य कोष' मे दी हुई डॉ० बुल्के जी की सूची तथा 'रामानद-सप्रदाय' मे दी हुई अपनी सूचियो के अनुसार मैं हिन्दी रामकाव्य का एक परिचय यहाँ उपस्थित कर रहा हूँ। यह परिचय तुलनात्मक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होगा। यो तो हिन्दी रामकाव्य का प्रारभ तुलसी से ही होता है, किन्तु उनके पूर्व 'पृथ्वीराजरासो' के द्वितीय समय मे दशावतार का वर्णन करते हुए १०० छन्द राम के विषय मे लिखे गये है। सूर ने भी दशमस्कन्ध मे लगभग डेढ सौ छद राम के विषय मे लिखा है। अन्य कवियो मे ईश्वरदास (रामजन्म, भरतमिलाप, अगदपैज) तथा अग्रदास (ध्यानमजरी, अष्टयाम, कुडलिया) आदि प्रमुख है।

१७वी शताब्दी मे नाभादास (अष्टयाम), सुरतिलाल (रामप्रकाश), तुलसीदास (मानस, नहछू, जानकीमगल, रामाज्ञाप्रश्न, बरवै, दोहावली, विनय गीतावली, कवितावली आदि), केशव (रामचद्रिका), सोढी मेहरबान (आदिरामायण), हृदयराम (हनुमन्नाटक) रामानन्द (लक्ष्मणायन), माधौदास (रामरासो), ब्रह्मरायमल (हनुमतमोष्यगामीकथा), लालदास (अवधविलास) आदि प्रमुख कवि हुए।

१८वी शताब्दी मे सेनापति (रामरसायन), नरहरिदास (रामचरित), भूपति (राम-चरितरामायण), गोविन्द सिंह (गोविन्दरामायण), सुखदेव मिश्र (दशरथराय), केशव (बालि-

चरित), झामदास (श्रीरामायण), सेनापति (रामरसायन), पद्माकर (रामरसायन), रुद्रप्रताप सिंह (सुप्रसिद्ध स्तोत्र), शिवदत्त (सीताहरण) आदि प्रमुख है। राजस्थानी कवियो मे मुरली, नागरीदास, सुन्दर कुँवरि, उम्मेददास, सोमनाथ, मछाराम, किशन जी आदि ने रामकाव्य की सृष्टि की है।

रामानदी हिन्दी कवियो मे अवधभूषणदास, कृपानिवास, कामदेन्द्रमणि, गोमतीदास, चित्रनिधि, जनकराज किशोरीशरण, जनकलाडिली शरण, जानकीचरण, जानकीप्रसाद महथ जानकी रसिकशरण, जीवाराम, दाशरथीदास, धर्मदास, बनादास, प्रेमसखी, बालअली, बालकृष्ण मधुरअली, युगलानन्दशरण, युगलप्रिया, रत्नहरि, रघुवरशरण, रघुराजसिह, रमणबिहारी, रसिकगोविन्द, रसरगमणि, रसिकवल्लभशरण, रसमालिका जी, रामकाताशरण, रामगुलाम शरण, रामचरणदास, रामनाथ ज्योतिषी, रामनाथ प्रधान, रामानुजदास, रामप्रियाशरण, रामरत्न, रामसखे, लक्ष्मणशरण, लछिराम कवि, ललनपिया, लालदास, लाल विजयसिंह, विदेहजाशरण, श्रीकात शरण, श्रीनिवास, शृगारलता, सुधामुखी, सूरकिशोर आदि प्रमुख है। इन पर माधुर्य भाव का प्रभाव पडा है। इनकी रचनाओ के लिए 'रामानद-सप्रदाय' ग्रन्थ देखें।

अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ का राम-साहित्य इस प्रकार है—

आसामी—माधव कदली (वाल्मीकि का अनुवाद), दुर्गावर (गीतिरामायण), अनंतकदली (अनतरामायण) शकरदेव (उत्तरकाड), रघुनाथ दास (शत्रुजय), चन्द्रभारती (महिरावणवध), गणक चरित।

मैथिली मे मध्यकाल मे कोई रामकाव्य नही लिखा गया। नेपाल के नाटक-साहित्य मे 'रामायण नाटक' नाम की मैथिली रचना मिलती है। शिवदत्त का 'सीताहरण' भी ऐसी ही रचना है। आधुनिक काल मे चन्दा झा ने रागरागिनियो मे रामायण की रचना की, लालदास (रामेश्वरचरित, रामायण), अनत झा (सीतास्वयवर नाटक) ने भी रामकाव्य लिखे।
उड़िया—आदि जुग—सरलदास (विलकारामायण), अर्जुन दास (रामविभा), पचसखा जुग (१६-१८वी शती)—बलरामदास (रामायण), शकरदास (बारामासी कोइलीया-कौशल्या का विरह-वर्णन), हलधर दास (आध्यात्मरामायण), भज जुग (१८-१९वी शती)—धनजय भज (रघुनाथविलास), उपेन्द्र भंज (वैदेहीविलास), पीताम्बर राजेन्द्र (रामलीला), विश्वनाथ खुन्तिया (विचित्ररामायण), सर्व मणि पटनायक तथा कृष्ण चरण पटनायक (रामायण अनुवाद)।

पजाबी—गुरु नानक (अनेक पदो मे राम का वर्णन किया), हिरदयराम (रामायण, हनुमन्नाटक), कपूरचन्द्र (लहेन्द्रनाटक) गुरुगोविन्द सिंह (रामकथा या रामचरित्र), गुलाब सिंह (अध्यात्मरामायण), मानसिंह (रामायण), भाई गुरदास (फुटकल पद), सौन्धतपा दास (रामायण)। १९वी शताब्दी मे पजाबी मे सन्तोखसिंह (वाल्मीकि-अनुवाद), ज्ञानी संत सिंह (तुलसी का अनुवाद), अमर सिंह (अमररामायण) आदि ने अपनी रचनाएँ की।

मराठी, गुजराती, पजाबी, हिन्दी, मैथिली, उडिया, बँगला तथा असमिया के मध्यकालीन रामकाव्य के उपर्युक्त विवरण से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) उपर्युक्त भाषाओ के रामकाव्य पर वाल्मीकि, अध्यात्म, अद्भुत, योगवशिष्ठ, पउमचरिय (गुजरात मे) का विशेष प्रभाव पडा है। कथावस्तु का ढाँचा वाल्मीकि पर ही आधारित है।

(२) सत्तरहवी शताब्दी के पश्चात् और विशेषकर आधुनिक काल के रामकाव्य पर तुलसीदास का भी पर्याप्त प्रभाव मिलता है। बगाल मे रघुनन्दन गोस्वामी कृत 'रामरसायन' तथा जगद्राम राय कृत 'रामायण' पर कथावस्तु के विवेचन-क्रम तथा दर्शन दोनो ही दृष्टियो से यह प्रभाव विशेषरूपेण परिलक्षित होता है। राममोहन वन्द्योपाध्याय ने तो 'तुलसीदासेरपद करियावन्दन' कहकर ही अपने ग्रन्थ का प्रारभ किया है। राममोहन का वर्षा-वर्णन और रघुनन्दन का शरत्-वर्णन तुलसी की ही भाँति है। तुलसी से ही हनुमतोपासना, एकनिष्ठ रामोपासना, पतिभक्ता के रूप मे नारी सौन्दर्य आदि की परपराएँ चली। जगद्राम ने तो वाल्मीकि द्वारा राम-निवास कथन या राम द्वारा शबरी को नवधा-भक्ति कथन आदि तुलसी के ही आधार पर किया है। इसी-प्रकार उन्होने राम का जन्म के समय चतुर्भुज रूप धारणा करना, कामोपाख्यान, धनुर्भंग के समय लक्ष्मण का कोल, कमठ, दिग्गजो आदि को सहेजना, कैकेयी की जिह्वा पर सरस्वती का आकर बैठना, राम के प्रति शिव की अनन्य भक्ति आदि को तुलसी से ही पाया। यही नही उनके रामायण मे दो श्लोक—'मूल धर्मतरोर्विवेक' इत्यादि और 'सान्द्रानदपयोद सौभगतनु' इत्यादि भी तुलसी के है। गुजराती मे भी तुलसी के पाँच अनुवाद हुए, गिरिधर ने तुलसी से पर्याप्त प्रेरणा पायी है। मराठी मे हमुमानभक्ति तुलसी के ही माध्यम से गयी। उडिया मे जगमोहन महापात्र (पद्य), काप्ति पदाधीश (गद्य) तथा हरे कृष्णदास (पद्य) ने तुलसी का अनुवाद किया है। पजाबी मे गुरुमुखी लिपि मे मानस की सैकडो प्रतियाँ मिलती है। अमरसिह पर तुलसी का पर्याप्त प्रभाव पडा है। पुराने पजाबी पदसग्रहो मे तुलसी के पद मिलते है। गद्य मे भी उनका अनुवाद किया गया है।

(३) उपर्युक्त प्रभावो के अतिरिक्त स्थानीय प्रभाव भी इन रामकाव्यो पर मिलते हैं। आसाम मे राम को कृष्ण के ही रूप मे देखा गया है और रामकाव्य के माध्यम से कृष्णभक्ति का ही प्रचार किया गया। बगाल मे विष्णु को कृष्ण कहा गया है और राम को उनका अवतार माना गया है। गरुड की प्रार्थना पर राम द्विभुज मुरलीधर का भी रूप धारण करते है। रघुनन्दन ने राधाकृष्ण के प्रेम की ही भाँति राम-सीता प्रेम का वर्णन किया है, दुर्गा को सीता का रूप धारण कर लज्जित होने का प्रसग लाकर वैष्णव धर्म का शाक्तो पर प्रभुत्व स्थापित करना उनका अभीष्ट था। फिर भी बँगला रामकाव्य शाक्त प्रभावो से पूर्णतया प्रभावित है। राम द्वारा चडी की उपासना, चडी की सहायता से महिरावण व रावण का वध, शतस्कध रावण को मारने के लिए सीता का चडी रूप धारण करना आदि ऐसे ही प्रभाव है। इसी प्रकार रामकथा पर शैव, ब्राह्मण एव बौद्ध प्रभाव भी पडा। उडीसा मे शाक्त प्रभाव के साथ ही राम को (अर्जुनदास) पुरुषोत्तम पुरी के जगन्नाथ की प्रतिमूर्ति बना दिया गया है। मध्यदेश तथा पजाब मे तुलसी के बाद ही कृष्णभक्ति का प्रभाव रामकाव्य पर पडने लगा। फलत १८-वी-१९वी शती का सारा रामकाव्य श्रृगाररस-पूर्ण हो गया। गुजरात मे जैनधर्म ने रामकाव्य को प्रभावित किया है।

महाराष्ट्र मे रामकथा ही विशेष अपनायी गयी, फिर भी एकनाथ, मुक्तेश्वर, मोरोपन्त पर वेदान्त का भी प्रभाव मिलता है। १८वी शती तथा उसके बाद अधिकाश अचलो मे रामकथा मे माधुर्यप्रभाव प्रधान हो गया। जगद्रामी रामायण मे 'रामरास' पर एक अध्याय भी जुड गया।

(४) मध्यकालीन रामकाव्य पर स्थानीय प्रचलनो एव परपराओ का भी प्रभाव पडा है। कथावस्तु और पात्र दोनो ही इस प्रभाव से प्रभावित है। बँगला मे रघुनदन ने सीतास्वयबर के समय आये राजाओ का परिवेश (बनाए दाँत पहनना, दाढी मे काला रग लगाना) आदि युगानुरूप ही रखा है। उनके गहने तथा भोजन (मोतीचूर, पीठा, खाजा, कचुरा) आदि भी बगाली हे। कृत्तिवास की अनेक उपमाएँ स्थानीय है केतकी के फूल की भाँति दाँत, केला के पेड की भाँति गिरना, हाँडिया मेघ आदि ऐसी ही उपमाएँ है। डा० दिनेशचन्द्र सेन के अनुसार कुछ बगाली प्रथाएँ भी रामायण मे प्रवेश कर गयी है—रात मे दहीभात न खाना, नाक पकड कर आश्चर्य प्रकट करना, बगाली धोती का पहना जाना, राक्षसो के हाथ सीता का चावल खाने से इनकार करना, भृगुराम द्वारा राम को पुन धनुष देकर उसे तोडने के लिए कहने पर सीता का राम के पुर्नविवाह की आशका करना आदि।

(५) रामकथा ने भी बहुविध प्रभाव ग्रहण करने के साथ ही विभिन्न साधना-प्रणालियो एव काव्य-पद्धतियो को प्रभावित किया है। श्री नरेन्द्र देव ने बँगला पर इस प्रकार के प्रभाव का विस्तृत विवेचन किया है। उनके मत से रामायण ने बँगला-काव्य की तीनो शैलियो—पदावली, पाचाली तथा सदर्भ को प्रभावित किया है। कृष्णकाव्य मे कृष्ण के मथुरागमन पर गोपियो की विरह-व्यथा रामवनगमन से प्रभावित है। काशीरामी महाभारत का वनपर्व अरण्यकाड से प्रभावित है, मगलकाव्यो मे 'रायमगल' के दक्षिणाराय तथा पीरगाजी खाँ के युद्ध पर लकाकाड का प्रभाव है, 'चडी मगल' मे फुल्लौरा की अग्निपरीक्षा सीता की अग्निपरीक्षा से प्रभावित हे और कालकेतु के चरित्र पर राम का प्रभाव है। पाचाली काव्यो मे द्विज रघुनाथ की 'अश्वमेध पाचाली' पर रामाश्वमेध (अर्जुन का अपने पुत्र बभ्रुवाहन से युद्ध राम और लवकुश-युद्ध के समान है) का प्रभाव है। लोकगीत एव लोकगाथाओ पर भी रामायण का प्रभाव मिलता है। श्वेतवसत का राक्षसो के हाथ से एक सुन्दरी राजकुमारी की रक्षा करना राम का रावण से सीता की रक्षा करने से प्रभावित है। गाँवो मे रामलीला और पुतुल नाच रामायण से ही प्रभावित है। आधुनिक काल पर भी रामायण का प्रचुर प्रभाव मिलता है। यही स्थिति अन्य भाषाओ की भी है। कवि गुरु रवीन्द्र के शब्दो मे भारतवर्ष और रामायण एक ही है।

(६) रामकथा काव्य के सभी रूपो—प्रबध (महाकाव्य, खडकाव्य), मुक्तक और नाटक—की विषय-वस्तु बनी है। अनेक मधुर स्थल विभिन्न राग-रागिनियो के विषय बन गये है। कृत्तिवासी रामायण, मानस, भावार्थ रामायण के साथ ही छोटी-छोटी घटनाओ को लेकर भी कवियो ने अपने को गौरव-मडित किया है।

(७) रामकथा के जिन सुन्दर स्थलो का कवियों ने गुणगान किया है, उनमे कुछ प्रमुख ये है. मराठी मे पुत्रेष्टियज्ञ, कौशल्या की पुत्रेच्छा, ताडकावध, धनुर्भंग, सीता-स्वयवर, सीता-परित्याग, लवकुश-युद्ध, गुजराती मे इनके अतिरिक्त लक्ष्मण, इन्द्रजित युद्ध, इन्द्रजीत की पत्नी

का गुणगान, अगद, मदोदरी, विभीषण, हनुमान का चरित्राकन, उडिया मे इन विषयो के अतिरिक्त कौशल्या विरह, बँगला मे सीता का बारहमासा, शिव-राम युद्ध, राम-नागपाश, अंगद-विभीषण, कुभकर्ण के रायबार, महिरावण, मकराक्ष, वीरबाहु आदि के पाला, अंगूरी-सवाद आदि अनेक छोटे-छोटे विषयो को लेकर कवियो ने अनेक स्वतत्र रचनाएँ की है, जिनमे कथात्मकता का पूरा विकास मिलता है। हिन्दी मे इस प्रकार की रचनाओ का पर्याप्त अभाव है। तुलसी की दार्शनिक प्रतिभा से हमारे कवि प्रकाश-अध हो गये है, उन्हे नही ज्ञात है कि राम कथा स्वयं अपने मे इतनी रोचक है कि उसकी एक-एक छोटी घटना काव्य-विषय बन सकती है।[३]

---

३. अन्य संदर्भ ग्रन्थ : १ दि बंगाली रामायण ; डी० सी० सेन : माइल स्तोरीज ऑफ गुजराती लिटरेचर; झावेरी, मराठी वाङमया चा इतिहास; पांगारकर : हिन्दी साहित्य कोश; रामकथा।

प्रभुदयाल मीतल

चैतन्य मत के ब्रजभाषा साहित्य के शोध

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रथो मे चैतन्य मत के केवल १०–१२ कवियो का नामोल्लेख हुआ है, किन्तु हमारे पास इस मत से सबधित जो सामग्री और सूचनाएँ सगृहीत है, उनमे प्राय १२५ कवियो के नाम, उनमे से अधिकाश के जीवन-वृत्तात और रचना-काल तथा उनकी सैंकडो रचनाओ की जानकारी मिलती है। इन रचनाओ मे वृन्दावन निवासी श्री यमुनावल्लभ गोस्वामी की सामग्री विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यमुनावल्लभ चैतन्य मतानुयायी सारस्वत ब्राह्मण हे और अपने को महाकवि जयदेव का वशज मानते है।

चैतन्य मत के ब्रजभाषा साहित्य का सिहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसमे रूप, सनातन, रघुनाथदास, कृष्णदास, कविराज, नरोत्तमदास ठाकुर प्रभृति चेतन्य मत के आरभिक भक्तो की रचनाओ के आधार पर कथित अनेक सरस काव्य-कृतियाँ है, 'गीतगोविद' और 'भागवत' के कई अनुवाद है, श्री चैतन्य महाप्रभु की वन्दना, जन्म बधाई एव उनकी लीलाओ से सबधित बहुसख्यक पद और छद है, 'भागवत' दशम स्कध मे वर्णित श्रीकृष्ण की विविध लीलाओ का कथन करने वाली अनेक छोटी-बडी रचनाएँ है, ब्रज-वृन्दावन के माहात्म्यसूचक अनेक मुक्तक पद और छद है, तथा चैतन्य मतानुयायी सतो की अनेक नामावलियाँ और भक्त-गाथाएँ है। इनमे कवि-छाप और रचनाकाल का उल्लेख होने से उनके रचयिताओ के नाम और समय का बोध तो हो जाता है, किन्तु उनके जीवन-वृत्तात की प्रामाणिक सूचनाएँ उनसे कम प्राप्त होती है। ऐसे कवियो की जीवन-घटनाएँ कुछ बाह्य साक्ष्य और कुछ अनुमान से निश्चित की जा सकती है, किन्तु इस प्रकार के निश्चय सर्वथा निर्भ्रांत नही कहे जा सकते। बहुत सी रचनाएँ ऐसी उपलब्ध हुई है, जिनमे कवि-छाप के साथ ही साथ चैतन्यदेव और उनके आरभिक भक्तो का गुणगान है, किन्तु उनमे रचना-काल का उल्लेख नही है। इनसे रचयिताओ के नाम और उनके चैतन्य मतानुयायी होने का तो निश्चय हो जाता है, किन्तु वे किस काल मे हुए, इसे जानने का कोई साधन प्राप्त नही होता।

इस मत के ब्रजभाषा साहित्य की सबसे अधिक रचनाएँ गोपाल भट्ट गोस्वामी और नित्यानंद के तथाकथित शिष्य रामराय के परिकर द्वारा वृन्दावन में हुई है। इनके बाद गगाधर पडित गोस्वामी और वृन्दावन के रूप, सनातन, रघुनाथ भट्ट गोस्वामी गण के शिष्यो द्वारा तद्विषयक साहित्य का निर्माण हुआ है। चैतन्य मत के ब्रजभाषा साहित्य के अंतर्गत कुछ ऐसे भक्त कवियो की रचनाएँ भी मानी जाती है, जो विभिन्न भक्त-परिकरो से स्वतत्र ज्ञात होते है और जिनके चैतन्य मतानुयायी होने के निश्चित प्रमाण भी उपलब्ध नही है। हम पहले इन भक्त-

कवियो के सबध मे विचार कर फिर परिकरो के क्रमानुसार इस मत के ब्रजभाषा-साहित्य का सिहावलोकन करेगे।

माधवदास जगन्नाथी ब्रजभाषा के पुराने भक्त-कवियो मे एक उल्लेखनीय कवि हुए है। उन्होने चैतन्य महाप्रभु के दादा गुरु श्री माधवेन्द्रपुरी से माध्व सप्रदाय की दीक्षा प्राप्त की थी। उन्होने स्वय भी सुप्रसिद्ध भक्त कवि श्री हरिराम व्यास के पिता श्री सुमोखन शुक्ल को माध्व सप्रदाय मे दीक्षित किया था। इस प्रकार माधवदास को माध्व सप्रदायी भक्त कवि समझना चाहिए।

परन्तु वे चैतन्य महाप्रभु के गुरु ईश्वरपुरी के गुरुभाई होने के नाते चैतन्य के गुरु तुल्य थे। जिस प्रकार ईश्वरपुरी के अन्य गुरुभाई नित्यानद और अद्वैताचार्य बाद मे चैतन्य के मतानुयायी हो गये थे, उसी प्रकार सभवत माधवदास भी हुए होगे। हिन्दी साहित्यकारो ने उनके जन्म और रचनाकाल के सवत् क्रमश १५८० और १६०२ वि० के लगभग माने है, किन्तु उनका कथन ठीक नही मालूम होता है। माधवेन्द्रपुरी के शिष्य और सुमोखन शुक्ल के गुरु होने से माधवदास का अस्तित्व-काल काफी पहले का होना चाहिए। कदाचित् उनका जन्म सवत् १५४० वि० के लगभग मानना उचित होगा।

माधवदास के सबध मे प्रसिद्ध है कि वे पूर्वी क्षेत्र के निवासी विरक्त ब्राह्मण थे और माधवेन्द्रपुरी के शिष्य होकर प्राय जगन्नाथपुरी मे रहा करते थे। श्री जगन्नाथ जी के परम भक्त होने के कारण वे 'माधवदास जगन्नाथी' के नाम से विख्यात है। उनकी रचनाओ मे भी जगन्नाथ जी की स्तुति विषयक पद अधिक मिले है। उनसे संबधित अनेक चमत्कारपूर्ण दतकथाएँ प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख प्रियादास ने 'भक्तमाल' की टीका मे किया है। वे सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्, भक्ति शास्त्रो के ज्ञाता और अनेक ग्रथो के रचयिता थे। नाभादास के कथन से ज्ञात होता है कि भाषा-साहित्य मे उनका वही स्थान है, जो सस्कृत साहित्य मे वेदव्यास का। जिस प्रकार वेदव्यास ने वेद-विभाग कर 'महाभारत' और भगवतादि अठारह पुराणो की रचना की थी, उसी प्रकार माधवदास ने अनेक ग्रंथों को शोध कर उनके भाषानुवाद प्रस्तुत किये थे।[1] कहते है, उन्होने 'महाभारत' और 'इतिहास कथासार समुच्चय' जैसे विशाल सस्कृत ग्रथो का ब्रजभाषा मे काव्यानुवाद किया था। इस समय ये ग्रथ और नाभादास के कथन को प्रमाणित करने वाली उनकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध नही है। केवल निम्नलिखित छोटी रचनाएँ प्राप्त हुई है—'इतिहास कथासार समुच्चय' का खडित अश, 'नारायणलीला,' 'प्रतीतिपरीक्षा,' 'जगन्नाथ-माहात्म्य', 'ग्वालिन भगरौ' और 'मदालसा आख्यान'। इनके अतिरिक्त 'बाललीला', 'जानराय-लीला', 'जनमकरमलीला', 'ध्यानलीला', 'रथलीला', 'स्वयवरलीला', 'रघुनाथलीला' की एक हस्तप्रति वृन्दाबन के श्री जी कुज मे है, जो स० १७७६ मे लिपिबद्ध हुई थी। इनके साथ ही उनके पद, जगन्नाथ जी की स्तुति के गीत और लोककाव्य की विविध रचनाएँ भी उपलब्ध हुई है। उनकी वाणी का प्रचार उडीसा मे बहुत अधिक है।

---

१ भक्तमाल, छप्पय सं० ७०।

इसके अतिरिक्त वल्लभमत की कीर्त्तन-पोथियो मे रामराय के अनेक पद सकलित हैं, जो वल्लभ-सप्रदायो मे सदा से बडे आदरपूर्वक गाये जाते रहे है। इससे उनका सबध चैतन्य मत की अपेक्षा वल्लभ मत से अधिक सिद्ध होता है। हमारा अनुमान है कि रामराय पहले वल्लभ-मतानुयायी थे और बाद मे चैतन्य मत की ओर आकर्षित अवश्य हुए। लेकिन उनका सबध वल्लभ मत से बराबर बना रहा। इसीलिए सभवत चैतन्य मतानुयायी भक्तो मे उन्हे उचित स्थान नही मिल सका। रामराय के अनुज चद्रगोपाल निश्चित रूप से चैतन्य मतानुयायी थे। वे रामराय की प्रेरणा से ही गौर चरणाश्रित हुए थे, जैसा उन्होने स्वय स्वीकार किया है—

गौर-चरन की रति दई, दई दास-गति मोय।
बलिहारी ता बधु की, जा सम कोऊ न होय।।

इस प्रकार रामराय का स्वय श्री नित्यानद जी से दीक्षा लेना सिद्ध नही होता है। यह सभव है कि अपने उत्तर जीवन मे उन्होने अथवा उनकी प्रेरणा से चद्रगोपाल ने नित्यानद की शिष्य-परपरा के किसी महानुभाव से चैतन्य-मत की दीक्षा ली हो। रामराय को नित्यानद का साक्षात् शिष्य सिद्ध करने के लिए ही सभवत उनका जन्म सवत् १५४० मे बतलाया जाता है। वस्तुत वे उसके बाद उत्पन्न हुए ज्ञात होते है। उनका रचा हुआ 'गीतगोविद' का ब्रजभाषा पदानुवाद है जिसके अन्त मे उसके रचना-काल के रूप मे स० १६२२ वि० का उल्लेख हुआ है।

रामराय का जन्म सवत् १५४० वि० मानने से 'गीतगोविद भाषा' की रचना के समय उनकी आयु ८२ वर्ष की होती है, जो साधारणतया स्वीकार योग्य नही है। अनुमानत उनका जन्म स० १५४० से प्राय ५० वर्ष बाद का होना चाहिए। वे नाभादासकृत 'भक्तमाल' और ध्रुवदासकृत 'भक्तनामावली' के अनुमानित रचना-काल स० १६५० से १६६० तक इतने प्रसिद्ध हुए ज्ञात नही होते कि उक्त ग्रथो मे उनके नामोल्लेख की आवश्यकता प्रतीत होती। रामराय का मत और उनका जन्म-काल विवादग्रस्त होने पर भी यह निश्चित है कि उनका घराना नित्यानन्द के परिकर मे सदा से चैतन्य मतावलम्बी रहा है।

रामराय और चन्द्रगोपाल दोनो सस्कृत के विद्वान् और ब्रजभाषा के उत्कृष्ट वाणीकार थे। उनकी काव्य-रचना प्रौढ और भाषा परिमार्जित है। उन्होने अत्यन्त मनोहर शैली मे राधा-माधव की सरस निकुज लीलाओ का वर्णन किया है। रामरायकृत 'गीतगोविंद' का पदानुवाद और 'आदिवाणी' नामक उनके पदो का सकलन दोनो प्रकाशित हो चुके है। चन्द्रगोपाल के पदो का हस्तलिखित सग्रह 'चन्द्रचौरासी' के नाम से उपलब्ध है।

रामराय के १२ शिष्य थे। वे सब के सब भक्त और कवि कहे जाते है। उनमे **भगवानदास** और **चन्द्रगोपाल** के पुत्र **राधिकानाथ** प्रमुख थे। चन्द्रगोपाल के ४ शिष्यो मे रसिकमोहन मुख्य थे। उन सबकी ब्रजभाषा-काव्य-रचनाएँ लिखित रूप मे उपलब्ध है। रामराय के प्रमुख शिष्य भगवानदास कौन थे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है। 'वार्ता' मे उनको आगरा के सूबेदार का दीवान बतलाया गया है। यमुनावल्लभ जी के घराने की सामग्री के अनुसार वे आमेर के राजा भगवानदास थे जिन्होने गोवर्धन मे श्री हरिदेव जी का मदिर बनवाया था। 'भक्तमाल' छप्पय सख्या १८८ मे मथुरा निवासी एक भगवानदास का उल्लेख हुआ है। वे भागवत-

ज्ञाता एक भक्त जन थे। प्रियादास ने 'भक्तमाल-टीका' मे उन्हे तिलक-माला के प्रति निष्ठावान और मथुरा का स्थायी निवासी बतलाया है। उनके आमेर नरेश होने का उल्लेख न तो नाभादास ने किया हे और न प्रियादास ने। प्रियादास ने उनके द्वारा हरिदेव का मन्दिर बनवाया था, किन्तु वे स्थायी रूप से मथुरा, वृन्दावन अथवा गोवर्धन मे कभी नही रहे। वे अकबर के शासन-काल मे लाहौर के सूबेदार थे। उनका अधिकाश जीवन काश्मीर, गुजरात और पजाब मे रहकर युद्ध करते हुए बीता था। रामरायकृत 'आदिवाणी' मे उसका माहात्म्य सूचक भगवानदास-कृत एक छद है, जिसमे बताया गया है कि उक्त वाणी स्वय रामराय ने भगवानदास के लिए कही है—

कहे सेवक भगवानदास, सुन्दर सुखदानी।
अनुपम श्री गुरुदेव, दयाकर बोली बानी।।

आमेर के राजा भगवानदास को राजनीतिक झझटो से इतना अवकाश कहाँ था कि वे रामराय के पास रहकर उनकी वाणी लिखते और स्वय भी रचना करते? अनुमानत रामराय के शिष्य भगवानदास आमेर नरेश नही, बल्कि इसी नाम के कोई अन्य भक्त-कवि थे। वल्लभ-मत की कीर्तन-पोथियो मे 'भगवान हित रामराय' की छाप के अनेक पद मिलते है। रामराय कृत 'आदिवाणी' और 'गीतगोविद' के अनुवाद मे भी इस छाप के कई पद है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार इस छाप के समस्त पद भगवानदासकृत है, रामरायकृत नही। केवल भगवानदास की छाप के भी उनके अनेक पद मिलते है। उनकी रचना उच्चकोटि की है। वे रामराय और चन्द्रगोपाल के समान ही उत्तम वाणीकार थे।

चन्द्रगोपाल के वशजो मे **राधिकानाथ** और **ब्रह्मगोपाल** नामक दो-दो भक्त कवि विभिन्न कालो मे विद्यमान कहे जाते है, जो बडे और छोटे के नाम से स्पष्ट किये गये है। बडे राधिकानाथ चन्द्रगोपाल के पुत्र और रामराय के शिष्य थे। वे ब्रजभाषा के उत्तम वाणीकार थे। उनकी 'महावाणी' नाम की रचना लिखित रूप मे प्राप्त है। छोटे राधिकानाथ की 'भावसिंधु' नामक रचना बतलायी जाती है। बडे ब्रह्मगोपालकृत 'हरिलीला' नामक काव्य बाबा कृष्णदास द्वारा प्रकाशित हो चुका है। छोटे ब्रह्मगोपाल चद्रगोपाल के वश मे बडे प्रतापी महानुभाव हुए हैं। उन्होने १९ वी शती मे वृन्दावन मे ब्रह्मपुरी नामक बस्ती स्थापित कर उसमे अपने पारिवारिक और सजातीय जनो को बसाया था। उन्होने 'बारह वैष्णवन की वार्त्ता' नामक ग्रन्थ मे रामराय के १२ शिष्यो का वृत्तान्त लिखकर अपने पूर्वजों की गौरव-वृद्धि का प्रथम प्रयास किया था। उन्होने 'ब्रह्म' उपनाम से ब्रजभाषा मे काव्य-रचना भी की है। ऐसा जान पडता है कि रामराय और चन्द्रगोपाल के अस्तित्व-काल को प्राय ५० वर्ष पूर्व का बतलाने से जो बाद के वशजो के समय मे व्यवधान पडा है, उसे दूर करने के लिए ही एक नाम के दो व्यक्तियो की कल्पना की गयी है। तथ्य यह मालूम होता है कि राधिकानाथ और ब्रह्मगोपाल एक-एक व्यक्ति ही थे, दो-दो नही। राधिकानाथ चन्द्रगोपाल के पुत्र थे और ब्रह्मगोपाल ब्रह्मपुरी के निर्माता एव 'हरिलीला' के रचयिता। ब्रह्मगोपाल के पौत्र श्री **नंदकिशोर गोस्वामी** थे, जो सस्कृत के विद्वान् और 'भागवत' के अद्वितीय वक्ता हुए है। उनके सबध मे श्री राधाचरण गोस्वामी ने कहा है—

भयो न कोई होयगो, वक्ता त्रिभुवन रध्र मा,
श्री नदकिशोर पूरन कला, भए भागवत-चन्द्रमा।

नदकिशोर गोस्वामी ने सस्कृत मे कई बडे काव्य-ग्रथो की रचना की है, किन्तु ब्रजभाषा-काव्य की उनकी छोटी और साधारण रचनाएँ ही उपलब्ध होती है। उन्होने 'भागवत' की कथा को ब्रजभाषा गद्य मे भी लिखा है। नदकिशोर गोस्वामी के अनुज **ब्रजकिशोर गोस्वामी** थे। उन्होने 'उद्धवसदेश' की टीका और श्री राधामाधव की सेवा सबधी एक छोटी काव्य-रचना की है। ब्रजकिशोर के पुत्र **वासुदेव गोस्वामी** और उनके पौत्र **प्रियतमलाल गोस्वामी** थे। वे श्री यमुनावल्लभ गोस्वामी के क्रमश पितामह और पिता थे। वासुदेव गोस्वामी ने अपनी 'प्रणालिका' नामक रचना मे जयदेव से अपने समय तक के पूर्वजो के नाम और जन्म-सवत् खोज कर लिखे है। वे कहते है —

विक्रम सवत जन्म को, जाकौ जा विधि सोय।
वासुदेव देखी लिखी, खोज करी सब होय।।

प्रियतमलाल गोस्वामी ने 'श्री रसिकाचार्य चरितावली' की रचना कर जयदेव का विशेष रूप से और उनके बाद होने वाले अपने पूर्वजो का सक्षिप्त रूप से ब्रज-भाषा काव्य मे वृत्तान्त लिखा है। उसके बाद श्री यमुनावल्लभ गोस्वामी ने इसे और भी व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है। इससे ज्ञात होता है कि श्री यमुनावल्लभ की यह मान्यता कि जयदेव और रामराय उसके पूर्वज थे, अधिकतर वासुदेव गोस्वामी और प्रियतमलाल गोस्वामी की रचनाओ पर आधारित है। उन दोनो ने अपने पूर्वजो के सबध मे जो कुछ लिखा है, वह परम्परागत प्रचलित अनुश्रुतियो पर आधारित जान पडता है। उन्होने उन सबके जो जन्म-सवत् निश्चित किये है, वे अधिकतर अनुमानिक ही है। इस प्रकार जयदेव और रामराय से कई सौ वर्ष बाद इस २० वी शती मे लिखित उनके तथाकथित वशो के जन्म-काल और जीवन-वृत्तात कहाँ तक प्रमाणिक हो सकते है, यह विचारणीय है। फिर भी चैतन्य-मत के ब्रजभाषा साहित्य मे इस सामग्री का विशेष महत्व है, क्योकि इससे अनेक नये कवियो की अज्ञात रचनाएँ प्रकाश मे आयी है।

नित्यानन्द के परिकर मे प्रसिद्ध भक्त कवि **श्यामानन्द** हुए है? उन्होने बगाल और उडीसा के सीमावर्ती क्षेत्र मे चैतन्य मत का प्रचार किया था। उन्होने कुछ पद बँगला मिश्रित ब्रजभाषा मे लिखे है। इनकी शिष्य-परम्परा मे एक **साधुचरण** नामक भक्त कवि की 'रसिक-विलास' नाम से ब्रजभाषा काव्य-रचना प्राप्त हुई है। इसमे श्यामनद तथा उनके शिष्य रसिकानद और रसिकमुरारी ने किस प्रकार भक्ति-तत्व का प्रचार किया, इसका वर्णन है। इसका रचना-काल सवत् १७९८ वि० है।

अद्वैताचार्य के परिकर मे एक **वृन्दावनदास** नामक भक्त कवि की ब्रजभाषा रचनाएँ उपलब्ध हुई है। ये रचनाएँ श्री देवकीनदनदास कृत बँगला 'वैष्णववदना' और श्री नरोत्तमदास ठाकुर कृत बँगला 'प्रेमभक्तिचद्रिका' के ब्रजभाषा के पद्यानुवाद है। उन्होने रघुनाथदास गोस्वामी कृत सस्कृत-रचना 'विलापकुसुमाजलि' का भी ब्रजभाषा पद्यानुवाद किया है। पिछले दो अनुवादो के रचना-काल क्रमश स० १८१३ और १८१४ वि० हैं।

चैतन्य मत मे चैतन्यदेव, नित्यानद और अद्वैताचार्य के पश्चात् गदाधर पडित गोस्वामी का महत्व माना जाता है। वे चैतन्यदेव के अतरग पार्षद थे और उनके साथ जगन्नाथपुरी मे रहकर उन्हे 'भागवत' सुनाया करते थे। उनके शिष्यो मे अनताचार्य और श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी मुख्य है। उन दोनो की शिष्य-परपरा मे ब्रजभाषा के अनेक भक्त कवि हुए है। अनताचार्य के शिष्य **हरिदास** थे, जो गोविन्ददेव के सेवाधिकारी और सुप्रसिद्ध भक्त थे। उनके आग्रह से कृष्णदास कविराज ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रथ 'श्री चैतन्यचरितामृत' की रचना की थी। वे गौडीय महात्मा ज्ञात होते है, किन्तु उनकी एक ब्रजभाषा काव्य-रचना 'युगल प्रेमरसबोधिका' कही जाती है। इसे उन्होंने रूप गोस्वामी की रचना के आधार पर उन्हीकी आज्ञा से लिखा था। उनके शिष्य **माधवमुदित** और उनके पुत्र **भगवतमुदित** थे। माधवमुदित आगरा निवासी भावुक भक्तजन थे। उनकी कुछ थोडी सी ब्रजभाषा रचनाएँ उपलब्ध होती है। उनके पुत्र भगवतमुदित उच्चकोटि के भक्त और विख्यात कवि थे। हिन्दी ग्रथो की खोज-रिपोर्टो मे उनके चार ग्रथो का नामोल्लेख हुआ है। ये ग्रथ है—१—'हितचरित्र', २—'सेवकचरित्र', ३—'रसिकअनन्यमाला,' और ४—'वृदाबनशतक'। वास्तव मे उनके रचे हुए चार नही, बल्कि दो ही ग्रथ है—'रसिकअनन्य-माला' और 'वृदाबनशतक'। 'हितचरित्र' राधावल्लभीय कवि उत्तमदास कवि की कृति है। यह रचना प्राय 'रसिकअनन्यमाला' के आरम्भ मे लिखी हुई मिलती है। इसी से हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानो ने इसे भ्रमवश भगवतमुदित की कृति समझ लिया है। 'सेवकचरित्र' स्वतत्र रचना नही है। 'यह 'रसिकअनन्यमाला' का ही एक अश है। इस प्रकार भगवतमुदित की रचनाओ के रूप मे 'रसिकअनन्यमाला' और 'वृदाबनशतक' इन दो ग्रथो के अतिरिक्त २०७ स्फुट पद भी उपलब्ध हुए है। चैतन्य मतानुयायी होते हुए भी उन्होने राधावल्लभीय भक्तो का सर्वप्रथम चरित्र-ग्रथ 'रसिकअनन्यमाला' की रचना की है। इसलिए मिश्रबधु आदि हिन्दी साहित्य के विद्वानो ने उन्हे भ्रमवश हितहरिवश का अनुयायी समझ लिया है। उनका दूसरा ग्रथ 'श्री वृदाबनशतक' प्रबोधानद सरस्वतीकृत इसी नाम के विख्यात सस्कृत काव्य का ब्रजभाषा पद्यानुवाद है। इसकी रचना स० १७०७ वि० मे हुई थी। गदाधर पडित गोस्वामी की शिष्य-परम्परा के **दामोदरदास** की 'स्मरणमगल' नामक एक रचना उपलब्ध है। इसे उन्होंने रूप गोस्वामीकृत इसी नाम की सस्कृत रचना के अनुवाद रूप मे लिखा है। दामोदरदास का निश्चित समय और जीवनवृत्तान्त ज्ञात नही हो सका है।

गदाधर पडित गोस्वामी के परिकर मे श्री कृष्णदास ब्रह्मचारी के शिष्य **नारायण भट्ट** हुए है। उन्होने सस्कृत के अनेक ग्रथो की रचना द्वारा ब्रज की गौरव वृद्धि का महान् प्रयास किया था। नारायण भट्ट की शिष्य-परंपरा मे ब्रजभाषा के कई कवि हुए है। उनके शिष्य **नारायण-दास श्रोत्रिय** का रचा हुआ गुरु-वदना का एक पद प्राप्त हुआ है। इसीसे उनके कवि होने की बात ज्ञात होती है। नारायण भट्ट की चौथी अथवा पाँचवी पीढी मे **गोपाल भट्ट** नामक एक भक्त कवि हुए है। उनके कुछ पद उपलब्ध हैं। इन्हे भ्रमवश वृदावन के सुप्रसिद्ध गोस्वामी **श्री गोपाल भट्ट** की रचना समझ लिया जाता है। बँगला ग्रथ 'पदकल्पद्रुम' में गोपाल भट्ट के नाम से ब्रजभाषा

के जो तीन पद सकलित है, वे इन्ही के रचे हुए ज्ञात होते है। गोपाल भट्ट १८ वी शती के पूर्वार्द्ध मे विद्यमान थे।

नारायण भट्ट के वशज यदुपति भट्ट के शिष्य **सुबलश्याम** कृत ब्रजभाषा रचना 'चैतन्य-चरितामृत' उपलब्ध हुई है। यह इसी नाम के विख्यात बँगला ग्रथ का ब्रजभाषा पद्यानुवाद है। मूल ग्रंथ मे तीन खड है, किन्तु सुबल श्याम कृत केवल आरभिक दो खड ही उपलब्ध हुए है। इन्हे बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। नारायण भट्ट की शिष्य-परपरा मे दो भक्त कवि **ललित सखी** और **लाड़िलीदास** की भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हुई है। ललित सखी कृत 'कहानी-रहसि' और 'कुँवरकेलि' नामक दो छोटे ग्रथ है। इनमे से दूसरे की रचनातिथि स० १८३६ वि० की श्रावण कृष्णा ६ है। लाडिलीदास बरसाने के गोस्वामी नारायणदास श्रोत्रिय के वशज थे। उनके रचे हुए कुछ पद बरसाने के मन्दिरो मे गाये जाते है। वे १९ वी शताब्दी मे विद्यमान थे।

चैतन्य मत के सर्वमान्य आचार्यों मे वृदावन मे निवास करने वाले गौडीय गोस्वामियो का अन्यतम महत्व है। उन्होने स्वय तो ब्रजभाषा मे रचना नही की, किन्तु उनके द्वारा ब्रज-सस्कृति और ब्रज-साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इन गोस्वामियो मे सनातन सबसे अधिक वयोवृद्ध और आदरणीय थे। उनके परिकर के ब्रजभाषा कवियो मे सर्वप्रथम नाम **सूरदास मदनमोहन** का आता है। अपनी सरस और भावपूर्ण पदावली के कारण वे ब्रजभाषा के प्रमुख भक्त कवियो मे गिने जाते है। पदावली के अतिरिक्त उनका रचा हुआ 'भागवत दशमस्कध' का ब्रजभाषा पद्यानुवाद भी प्राप्त हुआ है। इसकी एक अपूर्ण प्रति कॉकरौली विद्या विभाग मे है। सनातन गोस्वामी के परिकर मे **किशोरीदास** और **गौरगणदास** नामक दो भक्त कवियो की ब्रजभाषा रचनाएँ भी मिली है। गोस्वामी किशोरीदास सनातन गोस्वामी की पाँचवी पीढी मे वृदावन के ठाकुर श्री मदनमोहन की गद्दी के आचार्य थे। वे बगाली ब्राह्मण और गोस्वामी वशी-दास के शिष्य थे। उनका अस्तित्व काल १८ वी शती का पूर्वार्द्ध है। वे काव्य और सगीत के प्रेमी थे। उनका रचा हुआ बसत का एक पद 'श्री गौडेश्वर सप्रदाय का सचित्र इतिहास' नामक पुस्तक मे प्रकाशित हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होने कीर्तन सबधी स्फुट पदो की रचना की थी। हमारी खोज मे 'किशोरीदास की बानी' नामक एक हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त हुई है। इसमे कवि का परिचय नही दिया गया है, किन्तु इसके आरभ मे दिए हुए वदना के पदों से वह चैतन्य मता-नुयायी सिद्ध होता है। किशोरीदास नाम के कई कवि हुए है। इससे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है कि यह रचना किस किशोरीदास की है। यदि यह गोस्वामी किशोरीदास की ही रचना है, तो वे उत्तम वाणीकार सिद्ध होते है। किशोरीदास नामक एक राधावल्लभीय भक्त कवि ने रूप गोस्वामी कृत ग्रथ के आधार पर 'राधाकृष्ण गणोद्देश दीपिका' की रचना की थी। गौरगणदास कृत 'गौराग भूषण मञ्जावली' नामक एक छोटी सी रचना प्राप्त हुई है। इसे बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। इसके सक्षिप्त प्राक्कथन मे बाबा जी ने गौरगणदास को 'श्री सनातन गोस्वामी चरणों के आश्रित प्रिय शिष्य' बतलाया है, किन्तु रचना के अध्ययन से गौर-गणदास का अस्तित्व-काल सनातन गोस्वामी के बहुत बाद का जान पडता है।

हिन्दी काव्य मे मज या माँझ काव्यरूप की एक परंपरा है। इसमे हिन्दी शब्दो के साथ फारसी शब्दो का प्रचुरता से मिश्रण किया जाता है। कभी-कभी पूरी शब्दावली ही फारसी भाषा की होती है। क्रिया का रूप खडी बोली जैसा होना है। १८ वी शती के **वल्लभ रसिक** और १९ वी शती के **सीतलदास** और **सहचरिशरण** इस शैली के प्रसिद्ध कवि हुए है। मिश्रबधुओ ने सीतल के काव्य की प्रशसा करते हुए उन्हे खडी बोली का प्रथम कवि माना है। गौरगणदास ने भी माँझो की रचना की है।

गौरगणदास निश्चित रूप से सीतलदास से बहुत पहले हुए। अनुमानत वे वल्लभ रसिक के समकालीन और १८ वी शती के आरभ मे विद्यमान थे। 'गौरागभूषण मझावली' मे माँझो के अतिरिक्त अन्य प्रकार की रचनाएँ भी है।

रूप गोस्वामी के परिकर मे **माधुरी** नामक एक उत्कृष्ट कवि हुए है। बाबा कृष्णदास ने उनकी रचनाओ को सकलित कर उन्हे 'श्री माधुरीवाणी' नाम से प्रकाशित किया है। इसमे उनकी निम्नलिखित रचनाएँ सगृहीत है १—उत्कठा माधुरी, २—वशीबट माधुरी, ३—केलि-माधुरी, ४—वृदाबन माधुरी, ५—दान माधुरी, ६—मान माधुरी, ७—होरी माधुरी, ८—प्रिया जू की बधाई ।

माधुरी ने अपनी रचनाओ मे अधिकतर सयोग शृगार का भावपूर्ण वर्णन किया है, किन्तु उनकी 'उत्कठा माधुरी' मे असह्य विरह वेदना और मिलन की उत्कट चाह भी दिखलायी देती है। 'माधुरी' उनका उपनाम है। काँकरौली विद्या विभाग मे उनकी रचनाओ की कुछ हस्त-प्रतियाँ है जिनकी पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उनका नाम माधवदास कपूर था।

रघुनाथ भट्ट गोस्वामी के परिकर मे **गदाधर भट्ट** और **बल्लभ रसिक** नामक दो विख्यात भक्त कवि हुए है। उनसे हिन्दी जगत् भली-भाँति परिचित है।

गोपाल भट्ट गोस्वामी की शिष्य-परपरा मे सदा अनेक विद्वान् साहित्यकार और कवि होते रहे है। उनके उपास्य ठाकुर श्री राधारमण की गद्दी वृदावन मे है। उनके परिकर मे ब्रजभाषा के सबसे अधिक भक्त कवि हुए है। इनमे सर्वप्रथम नाम **मनोहर राय** का आता है। वे श्री गोपाल भट्ट की शिष्य-परपरा मे रामशरण चट्टराज के शिष्य थे। उनके रचे हुए ग्रथ 'श्री राधारमण रससागर' की पूर्ति स० १७५७ वि० मे वृन्दावन मे हुई थी। इसे बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त 'रसिकजीवनी' और 'सप्रदायबोधिनी' नामक दो अन्य रचनाएँ भी उनकी कही जाती है। बाबा कृष्णदास के मतानुसार ब्रजभाषा ग्रथ 'क्षणदा गीति चितामणि' भी उनके द्वारा सपादित है। हमने 'सप्रदायबोधिनी' की एक हस्तलिखित प्रति देखी है। हमारा अनुमान है कि यह किसी अन्य मनोहर कवि की रचना है। मनोहरदास के शिष्य **प्रियादास** थे। नाभादास कृत 'भक्तमाल' के टीकाकार होने के कारण उनका नाम भक्तजनो मे विख्यात है। उसकी मुख्य रचना 'भक्तमाल' की 'भक्त रस बोधिनी' टीका है, जो नाभादास कृत 'भक्तमाल' के साथ कई स्थानो से प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त उनकी छोटी-छोटी चार रचनाएँ और प्राप्त हुई है। उनके नाम हैं 'रसिकमोहिनी' 'अनन्यमोहिनी', 'चाह बेली' और 'भक्त सुमरिणी'। इन्हे बाबा कृष्णदास ने एक जिल्द मे प्रकाशित किया है। प्रियादास के पौत्र **वैष्णवदास रसजानि**

थे। उन्होने प्रियादास कृत 'भक्तमाल' टीका का माहात्म्य लिखा है। इसका प्रकाशन रूपकला की 'भक्तमाल टीका' के अत मे हुआ है। इन्होने 'गीतगोविद' और 'भागवत' के ब्रजभाषा अनुवाद भी किये थे। इनका प्रकाशन बाबा कृष्णदास द्वारा हो चुका है। 'भागवत' जैसे विशाल भक्ति-ग्रथ का सरल ब्रजभाषा मे श्लोको के क्रमानुसार करने का उनका प्रयास अत्यत सराहनीय है। इसकी रचना चौपाई छद मे हुई है। बाबा कृष्णदास के ग्रथ-सग्रह मे एक वृहत् सग्रह की अपूर्ण प्रति मिली है। बाबा जी ने इसको किसी पुरानी फटी हुई पुस्तक से नकल किया था। पुस्तक मे आरभिक और अतिम अश नही है तथा उसमे सकलित ८९३ छदो मे से किसी मे कवि-छाप नही है। इससे पुस्तक और रचयिता के नामो के साथ उसके रचना-काल का भी बोध नही होता। फिर भी उसकी अतरग परीक्षा करने पर कुछ ऐसी सूचनाएँ मिलती है, जिनसे इस वृहत् ग्रथ का रचयिता भी वैष्णवदास अनुमानित होता है। इस पुस्तक मे भगवान् श्री कृष्ण की दैनदिनी लीलाओ का रसपूर्ण शैली मे गायन किया गया है। ऐसा ज्ञात होता है, इसकी रचना कृष्णदास कविराज के 'गोविदलीलामृत' ग्रथ के आधार पर हुई है।

गोपाल भट्ट गोस्वामी के परिकर मे वैष्णवदास के बाद से अब तक अनेक साहित्य-मनीषी हुए है। उन्होने अपनी साहित्य-साधना से ब्रजभाषा के भडार को भरा है। उनकी बहुसख्यक रचनाएँ खोज मे उपलब्ध हुई है। **गुणमंजरी, दक्षसखी, रामहरि, गोपाल, दयानिधि, हरिदेव, कृष्ण चैतन्य, लल्लू जी, बलवंतराय** आदि बीसो भक्त कवियो की सैकडो रचनाओ से हिन्दी जगत् प्राय अपरिचित है। इस परिकर के जिन साहित्यकारो से हिन्दी जगत् सुपरिचित है, उनमे **ललित किशोरी**, **ललितमाधुरी** और **गोस्वामी राधाचरण** प्रमुख है।

इनके अतिरिक्त हमारे सग्रह मे चैतन्य मत के लगभग ५० ऐसे कवियो की रचनाएँ है जिनके रचयिताओ के नामो के अतिरिक्त उनके निश्चित वृत्तात अभी तक ज्ञात नही हो सके है। उनमे से कुछ प्रमुख नाम अकारादि क्रम से इस प्रकार है—

कृष्ण, कृष्ण जीवन, कृष्णचरण, कृष्णदास, किशोरीशरण, गोरचरण, चद, दयालदास दीनदास, देवकीनदनदास, नवचैतन्य, नवद्वीप प्रसाद, नवल बिहारिणी, नायशरण, प्रियालाल, प्रियाशरण, बनबिहारी, बिहारिणिदास, वल्लभ, भक्तराज, मदन, मुकुददास, रसिक, रसिकदास, ललित लडैती, लाल मणि, वीर वल्लभदास, शरण किशोरी, शिवपददास, सदानद, सरस माधुरी, सूरज और हरिवल्लभ।

●

दीनदयालु गुप्त

परमानन्ददास की भक्तिभावना एवं काव्य-प्रतिभा

कृष्णभक्त कवियो मे अष्टछाप की प्रतिभा अद्वितीय है। इनमे सूरदास और परमानन्ददास अग्रगण्य है। ये परमभक्त, परम दार्शनिक, परम सगीतज्ञ तथा परम प्रतिभासम्पन्न कवि है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे भाव स्पष्ट करते हुए श्री हरिराय जी उक्त दोनो भक्तो के विषय मे कहते है—"वैष्णव तो अनेक श्री आचार्य जी के कृपापात्र है परन्तु सूरदास और परमानन्ददास ये दोऊ सागर भये। इन दोउन के कीर्तन की सख्या नाही सो दोऊ सागर कहवाये।" वार्ताकार ने उक्त 'चौरासी वैष्णन की वार्ता' मे एक स्थान पर और कहा है कि 'ताते बाणी नो सब अष्टकाव्य की समान है और ये दोऊ परमानन्द स्वामी और सूरदास जी सागर भये।' इस प्रकार परमानन्ददास जी का कवि और भक्त रूप सूरदास जी के समान ही वताया गया है और दोनो को सागर के समान भक्ति-काव्य-गुणाकर कहा गया है।

अष्टछाप के भक्त कवि परमानन्ददास जी की ख्याति उस स्थिति मे भी थी जब उनका काव्य प्रकाश मे भी नही आया था। किसी कवि अथवा लेखक की ख्याति तभी मिलती है जब उसके काव्य मे लोकरजन और लोक-कल्याण के गुण होते है। अष्टछाप भक्तो के काव्य मे लोक-रजन का तो गुण अपनी चरम सीमा पर है ही, उसमे लोक-कल्याण की भावना भी निहित है। परमानन्ददास के काव्य मे भगवत प्रेम के विविध भावो से उद्भूत भक्ति रस के साथ उच्च कोटि का काव्यानन्द भी है जो जनमन को रसमग्न कर देता है। उस काव्य मे वात्सल्य, हास्य और माधुर्य की अविरल प्रसन्नकारिणी धारा प्रवाहित है। उसमे प्रेम की बहुरूपिणी अवस्थाओ के मनोरम चित्र अकित हुए है। भावविभोरता के साथ उसमे विचारात्मकता भी है जो आचार्य वल्लभ की चिन्तन प्रणाली के अनुकूल है। भक्ति रस, काव्यानन्द और दार्शनिक ज्ञान-गरिमा इन तीनो गुणो का समावेश सूरकाव्य की तरह परमानन्ददास के काव्य मे भी है।

भक्ति रस के अनेक भाव परमानन्ददास जी के पदो मे व्यक्त है। आनन्द स्वरूप कृष्ण के चरण-कमलो का मकरन्द पान करते हुए परमानन्ददास जी कहते है—

आनन्द की निधि नद कुमार।
परब्रह्म नट भेष नराकृत जगमोहन लीला अवतार॥
स्रवननि आनद, मन महि आनद, लोचन आनद आनद पूरति।
गोकुल आनंद गोपी आनद, नद जसोदा आनद मूरति॥
सुर मुनि आनद सतनि आनन्द, निज गुण आनद रास विलास।
चरण कमल मकरद पान को अलि आनद परमानद दास॥

इस प्रकार के पदो मे परमानन्ददास की प्रेम-भक्ति के साथ यह मान्यता भी प्रकट है कि वे ब्रह्म के आनन्द अथवा रसरूप के उपासक थे। एक पद मे वे कहते है—

रसिक सिरोमनि नदनदन।

× × ×

जिहि रस मत्त फिरत मुनि मधुकर सो रस सचित ब्रज वृन्दाबन।
स्याम धाम रस रसिक उपासत प्रेम प्रवाह सु परमानन्द मन।।

परमानन्ददास ने ससार के लोकव्यवहार से विरक्त होकर अपनी समस्त लौकिक भावनाओ को कृष्णार्पण कर दिया था और वे जीवनमुक्त भजनानन्दी भक्त रूप मे गोवर्द्धन-नाथ जी के चरणो मे रहते थे। प्रेम और सौदर्य के स्वरूप आनन्दकद कृष्ण की भक्ति के आनन्द के सामने भक्तो ने सायुज्यादि मुक्तियो की भी अवहेलना कर दी है। भजनानन्द ही उनके लिए मुक्ति की अवस्था है। "सेवा मदन गोपाल की मुक्ति हू ते मीठी।"

एक पद मे परमानन्ददास जी गोपी रूप मे कहते है "मै न तो योगाभ्यास के आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि अष्टागयोग जानती हूँ, न ज्ञानियो का सन्यास मार्ग, और न कर्ममार्गियो का धर्मसचय। भगवान् सन्यासियो को मुक्ति दे, लोक-कामना करने वाले साधको को लौकिक कामराशि दे, मर्यादा-मार्गियो को धार्मिक सुख दे, परन्तु मुझे तो सदैव कृष्ण के पद-पकजो के रस-पान मे ही परमानन्द है। लोग कहते है कि योगाभ्यास से ज्योतिर्ब्रह्म की लयात्मक मुक्ति मिलती है तो मुझे वह मुक्ति नही चाहिए। मैं तो केवल श्याम रग मे रँग कर एकरस हो गयी हूँ, और उसी अवस्था मे मै रहूँगी।"

भगवान् के प्रेम और सौन्दर्य स्वरूप के ध्यान मे भक्त अनेक मानसिक अवस्थाओ का अनुभव करता है। स्वरूप-सेवा से भक्त जब ऊपर उठ जाता है तो फिर उसे अपने मानसी जगत् मे ही भगवान् के बहु भावमय रूप दीखते है और उन्ही के साथ सानुभव अवस्था मे वह सयोग-वियोग की अनुभूतियाँ करने लगता है। श्री गोवर्द्धननाथ की स्वरूप-सेवा करते-करते परमानन्द-दास मानसी सेवा मे पहुँच गये थे। गोपी रूप परमानन्ददास सयोग-वियोग की ध्यानावस्था मे गाते है—

हरि तेरी लीला की सुधि आवति।
कमल नैन की मोहिनी मूरति, मन मन चित्र बनावति।।
एक बार जेहि मिलत मया करि, सो कैसे बिसरावति।
मृदु मुसिकानि बक अवलोकनि, चालि मनोहर भावति।।
कबहुँक निविड तिमिर आलिगति, कबहुँक पिक स्वर गावति।
कबहुँक नैन मूँदि अन्तरगति, बनमाला पहिरावति।
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि, ऐसे बिरह गँवावति।।

उक्त पद मे अत्यधिक भाव-विभोरता और भक्ति की रसात्मकता है। वार्ताकार ने कहा है कि परमानन्ददास जी से इस पद को सुनकर आचार्य वल्लभ तीन दिन मूर्छित हो भगवान् के सानुभव में रहे थे। परमानन्ददास की वाणी अनुभूति से सिक्त थी, इसीलिए उसमें इतनी प्रभावा-

त्मकता और भावसक्रमणता है। बाल, सख्य, दास्य और मधुर—इन चार भावो मे से परमान्द-दास की भक्ति बाल और मधुर भाव की थी। वैसे साधन रूप मे नवधा भक्ति के साथ उक्त सभी भावो का उन्होने अनुकरण किया था।

परमानन्ददास की भक्ति-भावना के अतिरिक्त उनकी काव्य-प्रतिभा के भी अनेक ऐसे मनमोहक भाव-चित्र है जिनमे रसात्मकता है और मुग्धकारी काव्य की सहज कला प्रस्फुटित है। परमानन्ददास का भाव-क्षेत्र सूर की तरह प्रेम-भाव तक ही सीमित है जिसमे ये दोनो कवि गहरे उतरे है। बाल-चित्रण मे सूर की भाँति परमानन्द स्वामी ने भी बाल-स्वभाव, बाल-चेष्टा और बाल-क्रीडाओ का मनोवैज्ञानिक ढग से चित्रण किया है। इन चित्रो मे सहज स्वाभाविकता के साथ सार्वजनीनता है। बाल-चेष्टाओ के साथ मातृहृदय की विविध मनोरम भावनाओ का भी सुन्दर चित्रण है।

"एक ग्वालिनि ने बालक कृष्ण को उठाकर अपनी स्नेह भरी छाती से लगा लिया। यशोदा डरी, कही उसके प्यारे बालक पर ग्वालिनि कोई जादू टोना न कर जाय। इस शका के आते ही यशोदा ने ग्वालिनि को हटक दिया। बिचारी ग्वालिनि मन मार कर उठी और बेमन से चल दी। कृष्ण उस ग्वालिनि की गोद के लिए मचलने लगा। यशोदा ने देखा कि ग्वालिनि कोई टोटका कर गयी है। बच्चे को ग्वालिनि की गोद के लिए रोते देख यशोदा गयी और बडे निहोरे और खुशामद से उस ग्वालिनि को लौटा लायी। ग्वालिनि का मलिन मन खिल उठा और अपने अचल की ओट मे मुसकराती हुई बालक कृष्ण के पास आयी। उसे देख कर बालक चुप हो गया।" वात्सल्य भाव के इस प्रकार के अनेक चित्र परमानन्ददास के काव्य मे द्रष्टव्य है। बालक और माता के भावो का यह शब्द-चित्र अपने स्वाभाविक और सजीव रूप मे नीचे के पद मे अकित है—

रहि री ग्वालि जोबन मदमाती।
मेरे छगन मगन से लालहिं, कत लै उछग लगावति छाती।।
खीजत तें अब ही राख्यो है, नान्ही उठत दूध की दाँती।
खेलन दे, घरु जाय आपने, डोलति कहा इतो मदमाती।।
उठि चली ग्वालि, लाल लगे रोवन, तब जसुमति ल्याई बहु भाँती।
परमानन्द ओट दै आँचर, फिरि आई नैननि मुसकाती।।

इस प्रकार देहात के अकृत्रिम और भोले-भाले जीवन, वहाँ की बोलचाल, वहाँ के पशुपक्षी तथा वहाँ के वातावरण के अनेक आकर्षक तथा स्वाभाविक चित्र परमानन्ददास ने अपनी लेखनी से खीचे है।

काछिन की आवाज सुनते ही आँगन मे सूखते हुए धानो को अपनी छोटी-छोटी उँगलियो की अजुलि मे भर कर बालक कृष्ण को उत्सुकता के साथ ठुमुक-ठुमुक दौडने का दृश्य और उस समय उँगलियो की अंजुलि मे धान देखकर माता के तुरन्त गोद मे उठा कर चूमने तथा बेर पाकर बालक कृष्ण के अत्यन्त प्रसन्न होने का भाव-चित्र निम्नलिखित पद मे द्रष्टव्य है—

कोउ मैया बेर बेचन आई।
सुनत ही टेरि नद रावरि मे, भीतर लई बुलाई॥
सूखत धान परे आँगन मे, कर अजुली बनाई।
ठुमुक ही ठुमुक चलत अपने रँग, गोपी जन बलि जाई॥
लिए उठाय उछग रीति करि, मुख चुबत न अघाई।
परमानन्द स्वामी आनन्दे, बहुत बेर जब पाई॥

बाल-स्वभाव और बाल-विनोदो के क्रीड़ास्थल मातृ हृदय के चित्र उतारने मे सूरदास तो सिद्धहस्त है ही, परन्तु परमानन्ददास के काव्य मे भी इस प्रकार के सजीव चित्र प्रचुर है।

बाल और सख्य भावो के चित्रण के अतिरिक्त शृगार-भाव की भी, जिसे भक्तिशास्त्र की भाषा मे 'मधुर भाव' कहा गया है, मनोरम अभिव्यजना परमानन्ददास ने अपने पदो मे की है। कृष्ण के अपार सौन्दर्य और अपार शक्ति के गुणो पर गोपी-जन मुग्ध है। इस आकर्षण से जन्य पूर्वराग की विभिन्न अवस्थाओ का चित्रण परमानन्ददास जी ने किया है। मिलन की कामना, प्रिय का ध्यान, ध्यान मे सयोग का सुख और वियोग की विकलता तथा फिर तन्मयता आदि भाव अनेक प्रकार से उन्होने व्यक्त किये है। उनके इन वर्णनो मे भक्त के हृदय की वेदना से मिश्रित प्रेम पुलकावलि है। इनमे प्रलाप, व्याधि, जड़ता और उद्वेग आदि प्रेम-दशाओ का चित्रण है, परन्तु इनका काव्य शास्त्रीय ढग का कृत्रिम रूप नही है। इनमे भाव की अनुभूति है, भाव की कल्पना नही है। प्रेम-पीर से प्रताडित परमानन्ददास की एक गोपी कहती है—

जब तै प्रीति श्याम सौ कीनी।
ता दिन तै मेरे इन नैननि, नैकहुँ नीद न लीनी॥
सदा रहत चित चाक चढयौ सौ, और कछू न सुहाय।
मन मे रहे उपाय मिलन कौ, इहै बिचारत जाय॥
परमानद पीर प्रेम की, काहू सौ न कहिए।
जैसे बिथा मूक बालक की, अपने तनमन सहिए॥

पूर्वराग प्रेम की विभोरता और विकलता के चित्रो के बाद परमानन्ददास के सयोगावस्था के भावचित्र कुछ अधिक रगीन है। यहाँ सयोग-प्रेम की बहुरूपा मनोदशाओ का वर्णन काव्यशास्त्र मे कथित प्रेम-दशाओ से मिलता-जुलता है। गोपियाँ वासकसज्जा, अभिसारिका, खण्डिता, स्वाधीनपतिका, सम्भोगसुखहर्षिता, मानवती आदि रूपो मे चित्रित की गयी है। इन अवस्थाओ के द्योतक अनेक पद 'परमानन्दसागर' मे है।

उक्त सयोग-सुख भावो के उत्कर्षवर्द्धक, उद्दीपक विभाव और अनुभावो के वर्णन भी परमानन्द के काव्य मे प्रचुर है। अनेक आमोद-प्रमोद परम्परागत होते हुए भी अपनी भावगहनता और प्रभावात्मकता मे नूतन है। तीनो ऋतुओ के उल्लास और उमग से भरे आनन्दोत्सवो के वर्णन मे भी सूर और परमानन्ददास की प्रतिभा और कला अद्वितीय है। तीनो ऋतुओ के आनन्दोत्सवो को 'रास' (रससमूह) की सज्ञा दी गयी है। सूर की तरह परमानन्ददास ने भी तीनो रासो का वर्णन किया है। इन रासो में रसिक मन की सहगामिनी रँगीली तीनो ऋतुओ का वर्णन

भी रससिक्त है। वर्षा मे हिंडोला और वर्षा-विहार का रास, शरद मे विमल चाँदनी और पुष्पो से सुसज्जित छबीली रात्रि की शोभा के बीच नर्तन, वादन और गायन का उल्लासपूर्ण शारदी रास तथा प्रकृति की विविध मनोरम प्रफुल्लताओ के बीच होली का रग भरा वासन्ती रास, इन तीनो रासो का सुखद चित्रण सूर की भाँति 'परमानन्दसागर' मे भी है।

अष्टछाप-काव्य के सभी कवियो ने गोपी-कृष्ण के सयोग सुख की विविध लीलाओ का चित्रण किया है, परन्तु विरह का आत्मविषयात्मक प्रभावपूर्ण चित्रण तीन ही कवियो ने किया है सूरदास, परमानन्ददास तथा कुम्भनदास ने। करुण वियोग का भक्ति के क्षेत्र मे कोई स्थान नही है। पूर्वराग और मान-वियोग की दशाएँ वस्तुत सयोग अवस्था की ही अगस्वरूपा है। परमानन्ददास के काव्य की इन दो भाव-अवस्थाओ का सकेत पीछे हमने किया है। प्रवास-वियोग की अनुभूति बहुधा भक्त लोगो ने बडे गहन रूप मे की है, और उसमे विरह की चरम वेदनापूर्ण आत्मविस्मृति की अवस्था का परमानन्द ने अनुभव किया है।

परमानन्ददास ने 'परमानन्दसागर' मे कृष्ण-चरित्र के कथात्मक अशो को बहुधा छोड दिया है, प्रसगो को पकड कर भावचित्रो के सहारे कथा को केवल इगित किया है। 'गोपी-परस्परवार्तालाप' रूप मे गोपी-विरह तथा 'गोपीउद्धवसवाद' रूप मे 'भँवरगीत' के प्रसग मुक्तक ढग से 'परमानन्दसागर' मे विद्यमान है। इन पदो मे गोपी और ब्रजजनो की विकल वेदना का प्रभावशाली वर्णन हुआ है। इन वर्णनो मे काव्यशास्त्र मे गिनायी हुई अनेक दशाओ के भाव-चित्र है। परन्तु वियोग की जिन अवस्थाओ का चित्रण परमानन्ददास ने किया है वे कृत्रिम अथवा शास्त्रीय ढग के चित्रण नही है, उनमे भी कवि की स्वानुभूति है। वैसे परमानन्ददास जी काव्य-शास्त्रोक्त विरह-दशाओ से भली प्रकार परिचित थे। एक पद मे उन्हो ने कहा है—"परमानन्द स्वामी के बिछुरे दशमी अवस्था आई"। दशवी अवस्था 'मरण' की होती है।

मथुरा-गमन के समय एक गोपी विवशता मे हाथ मीड कर बिसूरती है और अपनी आँखो को कोसती है कि ये दुष्ट लोचन कृष्ण के जाते समय जलमग्न हो गये, भली प्रकार से प्रिय को देख भी नही पाये—

चलत न देखन पाये लाल।
नीके करि न बिलोक्यो हरिमुख, इतनो रह्यो जिय साल॥
लोचन मूँदि रहे जल पूरित, दुष्ट भये तिहि काल।
दूर भएँ रथ ऊपर देखे, मोहन मदन गोपाल।
मीडति हाथ बिसूरति सुदरि, आतुर बिरह बिहाल।
परमानन्द स्वामी फिरि चितयो, अबुज नैन बिसाल॥

अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप आदि अनेक मानसिक विरह-दशाओ के सवेदनशील वर्णन 'परमानन्दसागर' मे है। इनके अतिरिक्त मलिनता, कृशता, अरुचि आदि शारीरिक अवस्थाओं के भी सजीव चित्र है। उसी प्रकार गोपी-उद्धव-सवाद के प्रसंग मे भी गोपियो की विरह-दशा के मार्मिक भावो की व्यजना हुई है। नीचे के पद मे कवि सदेशवाहक उद्धव के ब्रज आने पर गोपियो की विरह-दशा का वर्णन करता है—

का माध्यम ज्ञानेन्द्रिय रसना हो या सूक्ष्मेन्द्रिय मन हो, मस्तिष्क हो या आत्मा, द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्व का भाव भी प्राय किसी-न-किसी रूप मे सर्वत्र मिलता है। रस शब्द का पहला अर्थ—अर्थात् पदार्थो का सारभूत द्रव—वेदो मे स्पष्ट रूप से मिलता है। वनस्पतियो के रसो का वैदिक युग मे प्रचुर प्रयोग होता था। मानव-सभ्यता के उस प्रभात-युग मे यह स्वाभाविक ही था ; उदाहरणतया—

'महे यत्पित्र ईं रस दिवे करवत्सरत्' (ऋ० १। ७१,५)

(अर्थात् जिस समय यजमान महान् और पालक देवता को हव्य रूप मे रस देता है)।

इसके अतिरिक्त दूध और जल के अर्थ मे भी रस का प्रयोग है 'यो नो रस दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वाना यो गवा यस्तनूनाम्।, (ऋ० ७, १०४, १०)

(हे अग्नि ! जो हमारे अन्न का सार विनष्ट करने की इच्छा करता है और जो अश्वो, गायो और सतानो का सार नष्ट करने की इच्छा करता है)।

किन्तु इन सबकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, सोमरस के अर्थ मे रस का प्रयोग। 'ऋग्वेद' मे सोमरस का अत्यत उच्छ्वसित वाणी मे स्तवन किया गया है—

'त गोभिर्वृषणं रसं मदाय देववीतये। सुत भराय स सृज।' (ऋ० ९, ६, ६)

(देवो को मत्त करने के लिए उस अभियुक्त और अभीष्ट वर्षक सोमरस मे गव्य मिलाओ)।

'सोमो अर्षति धर्णसिर्दधान इन्द्रिय रसम्। सुवीरो अभिशस्तिपा।' (ऋ० ९, २३, ५)

(ससार को धारण करनेवाले सोम इन्द्रिय-पोषक रस को धारण करते हुए उत्तम वीर और हिंसा से रक्षा करने वाले है)।

इन प्रयोगो से स्पष्ट है कि रस का मूल अर्थ कदाचित् द्रवरूप वनस्पति-सार ही था। यह द्रव निश्चय ही आस्वाद-विशिष्ट होता था—अतएव 'आस्वाद' रूप मे भी रस का अर्थ-विकास स्वत ही हो गया, यह निष्कर्ष सहज निकाला जा सकता है। सोम नामक औषधि का रस अपने आस्वाद और गुण के कारण आर्यो को विशेष प्रिय था, अत सोमरस के अर्थ मे रस का प्रयोग और भी विशिष्ट हो गया। सोमरस का आस्वाद अपूर्व था, उसमे ऐसे गुण थे जिनसे शरीर और मन मे स्फूर्ति, शक्ति तथा मद का सचार होता था और उसके पान से एक विचित्र आह्लाद की प्राप्ति होती थी। अत सोमरस के संसर्ग से रस की अर्थ-परिधि मे क्रमश' शक्ति, मद और अत मे आह्लाद का समावेश हो गया। आह्लाद का अर्थ भी सूक्ष्मतर होता गया। वह जीवन के आह्लाद से आत्मा के आह्लाद मे परिणत हो गया और वैदिक युग मे ही आत्मानन्द का वाचक बन गया, 'अथर्ववेद' मे उपर्युक्त अर्थ-विकास के स्पष्ट प्रमाण मिल जाते है—

अकामो धीरो अमृत स्वयभू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोन।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मान धीरमजर युवानम्॥
(अथर्ववेद १०, ५, ४४)

(अकाम, धीर, अमृत स्वयम्भू ब्रह्म अपने रस से आप तृप्त रहता है। वह किसी विषय मे भी न्यून नही है, उस धीर अजर सदा-तरुण आत्मा को जाननेवाला मृत्यु से नही डरता।)

इसके उपरान्त उपनिषद्-काल का आरम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषद् काल को वेदान्त-काल अथवा वैदिक काल का अतिम चरण भी कहा जाता है। वेद मे जहाँ अतर्जगत और बहिर्जगत, आत्म-तत्व और ब्रह्म-तत्व तथा अनुभूति और तर्क दोनो का महत्व है, वहाँ उपनिषद् की प्रवृत्ति एकात अतर्मुखी है। अत यह स्वाभाविक ही है कि रस के अर्थ मे भी इस युग मे आकर सूक्ष्म-तत्वो का समावेश हो गया। उपनिषद् मे रस का प्रयोग द्रव्य के अर्थ मे तो इतना नही है ; हॉ द्रव्य की पोषक शक्ति और आस्वाद—द्रव्य से प्राप्त ऊर्जा और आह्लाद के अर्थ मे अनेक सदर्भो मे मिलता है—

'ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेत । रेतस पुरुष । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय ।'

(तैत्तिरीय उपनिषद् २, १ क)

(ओषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न हुआ। यह शरीर अन्न-रसमय है अर्थात् अन्न के रस से बना है)।

यहाँ रस का अर्थ केवल द्रव्य नही है वरन् द्रव्य-जन्य देह-धातु और शक्ति आदि का है। अर्थात् यहाँ सौहित्य के रस की अपेक्षा आयुर्वेद के रस (देह-धातु) की विवक्षा अधिक है। द्रव्य और द्रव्य-जन्य ऊर्जा आदि से सूक्ष्मतर प्रयोग है, तन्मात्रा के अर्थ मे यह प्रयोग भी वैदिक ही है। उपनिषद् मे इसका स्पष्ट व्यवहार है—

येन रूप रस गन्ध शब्दान्स्पर्शाश्च मैथुनान्
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वैतत्। (कठ, २, १, ३)

(रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन का ज्ञान (या अनुभव), उसी आत्मा के कारण होता है। यदि वह न रहे, तो (फिर) क्या कुछ बच रहता है ?)।

बाह्य दृष्टि से रसनेन्द्रिय के विषय का नाम रस है, और तत्व दृष्टि से यह रस तन्मात्रा है। यही से यह शब्द, गुण, द्रव्य आदि का नाम धारण कर साख्य, वैशेषिक आदि दर्शनो मे गया, जहाँ इसका सूक्ष्म, गहन विश्लेषण किया गया। आत्मा की भौतिक अभिव्यक्ति मे ही तन्मात्राओ की स्थिति रहती है शात आत्मा इन सबसे मुक्त हो जाता है—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथाऽरस नित्यमगन्धवच्च यत्।' (कठ० १, ३,१५)।

किन्तु भौतिक अर्थ मे ही वह परम तत्त्व अरस है, पारमार्थिक अर्थ मे वह सर्वरस है—'मनोमय प्राणशरीरो भारूप सत्यसकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस . . ।' (छान्दोग्य ३, १४, २)

(वह ब्रह्मज्योति मनोमय है, प्राणशरीर है, प्रकाशरूप है, सत्यसकल्प है, आकाश उसका आत्मा है। वह सर्व-कर्म-समर्थ है, पूर्णकाम है, सर्वगन्ध और सर्वरस है .)।

रस के अर्थ-विकास के प्रसंग मे उपर्युक्त दोनो (अथवा इस प्रकार के अन्य भी) उद्धरणो का विशिष्ट महत्व है—यहाँ रस के भौतिक और आध्यात्मिक अर्थों की सीमाएँ परस्पर मिल जाती है अथवा यह कहा जा सकता है कि रस भौतिक अर्थ की सीमा पार कर आध्यात्मिक अर्थ की सीमा मे प्रवेश करता है। वह परम तत्व अरस भी है और सर्वरस भी है—'अरस' मे रस का भौतिक अर्थ अभीष्ट है और 'सर्वरस' मे आध्यात्मिक, क्योकि भौतिक अर्थ मे ही वह रस से विहीन और

आध्यत्मिक अर्थ मे ही रसमय हो सकता है। लक्षणा की शक्ति से इस प्रकार का अर्थान्तिर-सक्रमण सहज ही सिद्ध हो जाता है। रस का यह आध्यात्मिक अर्थ उपनिषद् के निम्नलिखित प्रसिद्ध वाक्य मे और भी स्पष्ट हो जाता है 'रसो वै स । रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति।' (तैत्तिरीय उपनिषद् २, ७) (वह रस-रूप है, इसीलिए रस को पा कर, जहाँ कही रस मिलता है उसे प्राप्त कर, मनुष्य आनन्दमग्न हो जाता है।)

रस शब्द के अर्थ-विकास का क्रम यहाँ आकर एक मजिल पूरी कर लेता है। उपर्युक्त उद्धरणो के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस के किसी सर्वथा नवीन अर्थ की उद्भावना नही हुई, एक ही अर्थ क्रमश सूक्ष्मतर होता चला गया है। रस का मूल अर्थ था अन्न का रस—वनस्पतियो का रस, अर्थात् 'द्रव्य' रूप रस। 'द्रव्य' से फिर वह द्रव्य के 'आस्वाद' का वाचक बना और फिर विशिष्ट आस्वादयुक्त सोम रस का। सोम रस मे आस्वाद के अतिरिक्त अन्य गुणो का भी वैशिष्टच था—ऊर्जा, स्फूर्त्ति, मस्ती आदि। अत रस की परिधि मे विकास-क्रम से आस्वाद के अतिरिक्त ऊर्जा और तन्मयता आदि गुणो का भी समावेश हो गया। सामान्य अन्न-रस जहाँ आस्वाद-विशिष्ट ही होते थे, वहाँ सोमरस मे आस्वाद के साथ एक विशेष प्रकार की तन्मयता और आह्लाद भी था—अर्थात् सोमरस के आस्वाद मे प्रकारान्तर से मानसिक तत्त्व का भी विशेष रूप मे समावेश हो गया था। विचार के क्षेत्र मे आस्वाद ही रस-तन्मात्रा और अध्यात्म के क्षेत्र मे आत्मरस या ब्रह्मरस के रूप मे परिणत हो जाता है। इस प्रकार का अर्थ अन्न-रस या पदार्थरस से ब्रह्मरस तक की यात्रा वैदिक साहित्य की परिधि मे ही पूरी कर लेता है।

रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयो.
शृगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ॥ (इति विश्व)

रस के उपर्युक्त अर्थों मे से शृङ्गारादौ' अर्थात् 'काव्य-रस' को छोड प्राय अन्य सभी प्रमुख अर्थों की उद्भावना इस युग मे हो चुकी थी ('प्राय' मे पारद आदि परवर्ती अर्थ-विवृत्तियो का अन्तर्भाव हो सकता है—वैसे 'पारद' के रूप मे भी रस का प्रयोग 'देहधातु' आदि का ही अर्थ-विकास है)। काव्यरस के शास्त्रीय अर्थ मे रस का स्पष्ट प्रयोग वैदिक वाड्मय मे नही मिलता। डा० शकरन् का यही मत है (देखिए—दी थ्योरीज ऑफ रस एड ध्वनि, सम एस्पेक्ट्स ऑफ स० अल०, पृ० ५) और हम भी छानबीन के बाद अन्तत इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है। परन्तु 'ऋग्वेद' की ही अनेक ऋचाओ से यह सकेत मिलता है कि अलक्ष्य रूप से लक्षणा ऋषियो की चिरवन्दिता शक्ति 'वाक्' के लिए भी रस का अर्थ-प्रसार करने लगी थी वाणी के लिए 'पीना' क्रिया और 'स्वादु', 'मधु' आदि विशेषणो का प्रयोग इसका असदिग्ध प्रमाण है। स्वय डा० शकरन् द्वारा उद्धृत 'ऋग्वेद' के कतिपय वाक्य हमारे मन्तव्य को पुष्ट करते है—

'पिबा त्व १ स्य गिर्वण.' (ऋ० ८, १, २६)।
(हे गीत-रसिक देव ! तू इस (गीत के रस) का पान कर)।

'वच स्वादो स्वादीयो रुद्राय वर्धनम्.... ..,' (ऋ० १, ११४, ६)।
(रुद्र को प्रसन्न करने के लिए स्वादु से भी स्वादु वचन (गीत) .....।)

'मध्व ऊ षु मधूयुवा रुद्रा सिषक्ति पिप्युषी' .. (ऋ० ५, ७३, ८)।
(मधु-प्रेमी रुद्रगण! मधुवर्षिणी वह (वाक्) तुम्हारे लिए प्रस्तुत है ...)।

'वाचो मधुपृथिवि! देहि मह्यम्।' (ऋ० १२, १, १६)
(हे पृथिवी! मुझे वाणी का मधु प्रदान कर)।

'वाचा वदामि मधुमद् भूयास मधुसन्दृश' (पूर्वार्द्ध—ऋ० १०, २४, ६)।

(यहाँ वाणी के लिए न केवल 'मधुमती' वरन् 'मधु के समान दीखने वाली' विशेषणो का प्रयोग किया गया है)।

वाणी के चमत्कार से वैदिक ऋषि पूर्णत परिचित था—उसकी विभूतियो का उसने अनेक स्थलो पर भाव-विभोर होकर उद्गीथ किया है। 'ऋग्वेद' के उपर्युक्त उद्धरणो मे प्रयुक्त 'पीना' क्रिया और स्वादु तथा मधुर विशेषणो से यह स्पष्ट है कि इस चमत्कार की 'मधुर पेय रस' के रूप मे भी वैदिक ऋषि कल्पना करते थे और सोमरस के प्रति अबाध आकर्षण होने के नाते यह बिम्ब कदाचित् उन्हे प्रिय भी था। मेरी अपनी धारणा है कि वाणी के चमत्कार के लिए पहले 'आस्वादे' शब्द और फिर आस्वाद्य 'रस' शब्द के लाक्षणिक प्रयोग के बीज कदाचित् यही मिल जाते है—ऋषि वाणी का पान करते थे और वे वाणी की मधुर एव स्वादु रूप मे भी कल्पना करते थे अर्थात् वाणी उनके लिए मधुर पेय अथवा 'रस' रूप मे काव्य थी।

डा० शकरन् के ही ग्रथ मे उद्धृत 'ऋग्वेद' का वाक्य हमारे अनुमान की पुष्ट कर देता है

य पावमानीरध्येत्यृषिभि सभृत रसम्।
सर्व स पूतमश्नाति स्वदित मातरिश्वना।।
. . . तस्यै सरस्वती दुहे क्षीर।(ऋ० ९, ६७, ३१-३२)

(जो पवमान ऋचाओ के रूप मे ऋषियो द्वारा सम्भृत रस का अध्ययन करता है, वह पवित्र और स्वादिष्ट अन्न का आनन्द लेता है उसके लिए सरस्वती क्षीर आदि का दोहन करती है)।

यहाँ रस का प्रयोग निश्चय ही ऋचाओ के अर्थात् वाणी के रस के लिए किया गया है। इस प्रकार वैदिक युग मे ही रस शब्द का प्रयोग वाणी के शब्दार्थ के लिए होने लगा था किन्तु यह भी व्यावहारिक प्रयोग मात्र था, शास्त्रीय नही।

इसके बाद रामायण-महाभारत काल आता है। यो तो 'वाल्मीकि-रामायण' के प्रचलित सस्करणो मे बालकाण्ड के चतुर्थ सर्ग मे नवरस का अत्यंत स्पष्ट उल्लेख है,

पाठ्ये गेये च मधुर प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभि सप्तभिर्बद्धम्, तन्त्रीलयसमन्वितम्।।८।
रसै श्रृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकै।
वीरादिभिश्चसंयुक्त काव्यमेतदगायताम्।।९।।

परन्तु बालकाण्ड का यह अश निश्चय ही प्रक्षिप्त है, किसी भी प्रामाणिक सस्करण मे ये श्लोक नही मिलते। ब्लूमफील्ड और मोनियर विलियम्स के साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'रामायण' और 'महाभारत' मे रस शब्द के अर्थ मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही हुआ। 'रामा-

यण' मे रस का प्रयोग जीवन-रस (अमृत), पेय आदि साधारण अर्थो मे ही हुआ है। 'महाभारत' मे भी वह जल, सुरा, पेय, गध आदि का ही पर्याय है केवल दो-एक प्रयोग थोडे नवीन है जैसे, काम और स्नेह के अर्थ मे। महाभारत-काल के पश्चात् (भरत के 'नाट्यशास्त्र' की रचना तक) सूत्रकाल आता है यह मूल दर्शन-सूत्रो की रचना तथा बौद्ध एव जैन दर्शनो के प्रथम आविर्भाव का युग है। इसी युग मे वैयाकरण पाणिनि और उनके प्राचीन भाष्यकार हुए, कौटिल्य का 'अर्थ-शास्त्र' तथा वात्सायन का 'कामसूत्र' लिखा गया। इनमे से अधिकाश ग्रथो मे रस शब्द का विशेष अर्थ-विकास नही हुआ। दर्शन-सूत्रो मे तन्मात्रा के अर्थ मे और अर्थशास्त्र आदि मे द्रव्यादि के रूप मे ही उसका प्रयोग होता रहा।

शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव—हमारे अनुसधान मे सहायक इस युग का एक ग्रथ है 'कामसूत्र'। वात्सायन के नाम से प्रचलित 'कामसूत्र' का जो प्रसिद्ध सस्करण 'जयमगला टीका' के साथ इस समय मिलता है उसमे 'रस' शब्द का प्रयोग रति, काम-शक्ति आदि के अर्थ मे प्राय हुआ है—

'रसो रति प्रीतिर्भावो रागो वेग समाप्तिरिति रतिपर्याय ।' (कामसूत्र, २,१, ६५)

'शास्त्राणा विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नरा ।' (का० २, २, ३२)

एक स्थान पर शास्त्रीय अर्थ मे भी रस का स्पष्ट प्रयोग है—

'तदिष्टभावलीलानुवर्तनम् ।' (६, २, ३५)।

इस पर 'जयमगला' टीका है नायकस्य श्रृङ्गारिदिषु य इष्टो रसो भाव स्थायिसचारि-सात्विकेषु, लीलाचेष्टितानि तेषामनुवर्तनम्।' (अर्थात् यहाँ रस और भाव से अभिप्राय श्रृङ्गारादि रस और स्थायी-सचारी आदि भावो का है)।

उपर्युक्त सूत्र विशेष की रचना कितनी प्राचीन है—वह वात्सायन-कृत मूलसूत्रो मे से है या नही, यह कहना कठिन है। किन्तु वात्सायन के ही युग मे, या उसके आसपास, 'रस' शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव हो गया होगा, ऐसा अनुमान कर लेने के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हे। अधिकाश विद्वानो का आज यही मत है कि वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की रचना कदाचित् ईसा पूर्व चौथी शती के लगभग हुई थी यह युग सूत्रकाल कहलाता है और इसका विस्तार ५-६ शती ई० पू० से ५-६ शती ई० तक माना जाता है—इस कालावधि मे ही सूत्र-शैली का पूर्ण प्रसार हुआ। 'कामसूत्र' की रचना इसके पूर्वार्द्ध मे और 'भरत-सूत्र' की कदाचित् उत्तरार्ध मे हुई। एक तो भरत-सूत्रो मे ही प्रतिपादित रस-सिद्धान्त इतना सागोपाग और परिपूर्ण है और दूसरे स्वय भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख तथा अनुवश्य श्लोको मे उनके मन्तव्य का प्रयोग इतने प्रचुर रूप मे किया है कि रस की शास्त्रीय परम्परा को भरत से लगभग दो शताब्दी पहले ले जाना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार 'रस' शब्द के शास्त्रीय अर्थ के आविर्भाव का समय 'कामसूत्र' की रचना के आसपास ही पहुँच जाता है। इन दो शताब्दियो मे शास्त्रीय अर्थ का इतना विकास हो चुका था कि भरत को या भरत नाम से रचना करनेवाले सूत्रकार को उसका पूर्ण विस्तार करने मे कोई कठिनाई नही हुई।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के फलस्वरूप हमारे निष्कर्ष इस प्रकार है—

(१) 'रस' का मूल प्रयोग निश्चय ही वनस्पतियो के द्रव के लिए होता था, जिनके अपने-अपने आस्वाद और गुण थे।

(२) 'द्रव्य के लिए गुण और गुण के लिए द्रव्य वाचक शब्द के लाक्षणिक प्रयोग' के नियमानुसार लक्षणा के द्वारा 'आस्वाद और ऊर्जा' आदि के अर्थ मे उसका विकास हो गया।

(३) सोमरस के वर्धमान प्रचार ने 'रस' शब्द के अर्थ मे आनन्द, मस्ती और तन्मयता—'चमत्कार' आदि का समावेश कर दिया। प्रत्येक 'रस' या उसका 'आस्वाद' आनन्दप्रद नही होता, किन्तु सोमरस के प्रभाव से 'रस' आनन्द और तन्मयता—चमत्कार आदि का वाचक बन गया।

(४) लक्षणा का व्यापार इसके बाद भी चलता रहा और रस का प्रयोग एक ओर वाणी के चमत्कार (ऋचाओ के रस आदि) के लिए होने लगा, और दूसरी ओर,

(५) सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द के लिए होने लगा।

(६) 'वाणी का रस' काव्य-रस का ही समानार्थक है। यो तो वेद मे कवि और काव्य शब्दो का भी प्रयोग है, पर वह वर्तमान पारिभाषिक प्रयोग से थोडा दूर है, काव्य की अपेक्षा वाक् वर्तमान अर्थ के अधिक निकट है। अत वाक्-रस को काव्य-रस का वाचक मानना सर्वथा युक्ति-सगत है।

(७) किन्तु उपर्युक्त प्रयोग सर्वथा व्यावहारिक ही है, रस का पारिभाषिक या शास्त्रीय प्रयोग वैदिक साहित्य मे नही है।

(८) अत रस के शास्त्रीय अर्थ का विकास रामायण-महाभारत-काल के पश्चात् भरत के नाटच-सूत्रो से बहुत पहले—'कामसूत्र' के प्रभाव के फलस्वरूप, अनुमानत चौथी-पाँचवी शताब्दी ईसा-पूर्व से लेकर दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व तक हुआ होगा।

●

जगवंश किशोर बलबीर

संस्कृत नाटचशास्त्र में सम्बोधन-निर्देश

काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य ने काव्य के अनेक प्रयोजन बताये है। उन्होने कहा है कि काव्य के उत्पादन व आस्वादन मे सहृदय इसलिए प्रयत्नशील होते है कि अन्य लाभ होने के साथ-साथ काव्य से लोक-व्यवहार का ज्ञान भी होता है। लोक-व्यवहार से अभिप्राय न केवल वैयक्तिक आचार से है बल्कि अन्य व्यक्तियो के प्रति मानव का आचरण किस प्रकार का हो यह भी अभीष्ट है।[1] भारत मे यह विषय धर्मशास्त्रो व नीतिशास्त्रो का रहा है, पर काव्य इनसे विलक्षण है। विदेशो मे शिष्ट समाज मे वैयक्तिक आचरण के पथप्रदर्शनार्थ विशेष पुस्तको की रचना होती है, जैसे इगलैण्ड मे उपचार सम्बन्धी नियमो के सग्रह विषयक ग्रथो की और फ्रास मे **सुबुआर-बीव्र** अर्थात् जीवन ज्ञान विषयक ग्रथो की।[2] समान्यतया जीवन मे व्यक्तिविशेष की बात-चीत इत्यादि से उसके समाजिक व सास्कृतिक स्तर का बोध होता है। उसी प्रकार काव्य के अन्तर्गत नाटक के 'अवस्थानुकृतिर्नाटचम्'[3] होने के कारण रूपको मे भी पात्रविशेष का आचरण अपनी अवस्था के अनुरूप ही होना चाहिए।

सभी नाटचशास्त्रकारो ने रूपको की कल्पना दृश्यकाव्य के रूप मे की और रूपको, विशेषकर नाटको, प्रकरणो व नाटिकाओ, की गठन के निमित्त प्राय पूर्वकालीन ग्रथो के आधार पर धनजय ने भी 'दृश्यम्' को 'नृत्यम्' व 'नृत्तम्' से विलक्षण बताने के लिए कहा—"रूप दृश्य-तयोच्यते"[4] अर्थात् नाटच केवल श्रव्य काव्य न होकर रगशाला मे अभिनेय भी है। देखे जाने के कारण ही इसे दृश्य कहते हैं। नाटच नृत्य से भी भिन्न है, क्योकि नृत्य तो 'भावाश्रय' होने के कारण आगिकाभिनय की बहुलता होने से भावो का अभिव्यजक है जब कि नाटच मे पात्रो के सर्वांगीण प्रदर्शन के द्वारा रस को परिपुष्ट किया जाता है। नाटच नृत्त से भी विलक्षण है। स्पष्ट

---

१. तुलनीय—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे॥ काव्यप्रकाश १, २
तथा 'व्यवहारविदे' सम्बन्धी उनकी वृत्ति—"राजा दिगतोचितलाचारपरिज्ञानम्।"

२. इन ग्रंथो में प्रायः दैनिक जीवन मे शिष्ट सामाजिक व्यवहार कैसा हो यह बताया जाता है। सामान्यतया इन ग्रंथों के कुछ विषय निम्नवत् होते हैं—परिचय कराने की विधि, अभिवादन तथा हाथ मिलाने का ढंग, मेज पर खाने व अतिथियो को बैठाने का ढंग, सम्बोधन निर्देश इत्यादि। ३. धनंजयकृत-दशरूपक (द० रू०) १, ७—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९२७। ४. वही, १, ७, व ९।

है कि पात्र रगमच पर प्रस्तुत हो और सात्विक, आहार्य, वाचिक तथा आगिक चारो प्रकार के अभिनय द्वारा तथा वस्तु के निर्वाह के लिए अग्रसर हो। परन्तु भरत ने कहा है कि इनमे से वाचिक अभिनय का अधिक महत्व है—

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाटचस्येय तनु स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थ व्यजयन्ति हि॥ (ना० शा० का०,[5] १५, २)

अर्थात् (नाटच की रचना के समय कवि द्वारा और अभिनय के समय पात्रो द्वारा—अभिनव गुप्त) वचनो का ध्यान रखना चाहिए। शब्द ही नाटच का शरीर है, आगिक, आहार्य व सात्विक अभिनय इसके अर्थ के अभिव्यञ्जक ही है।

इससे स्पष्ट है कि कथोपकथन की पद्धति का विशेष अध्ययन होना चाहिए। अत रूपको मे प्रस्तुत विभिन्न पात्रो के परस्पर सम्बोधन-निर्देश भी अध्ययन के कम महत्वपूर्ण विषय नही है। नाटचशास्त्र के प्रमुख ग्रथो मे नाटको इत्यादि मे प्रयुक्त आमत्रणा-विधि की विवेचना की गयी है और कदाचित् इसीलिए कोश ग्रथो मे, विशेषकर अमरकोश[6] मे, भी नाटचवर्ग के अन्तर्गत, यद्यपि सक्षेप मे ही सही, भरत के 'नाटचशास्त्र' अथवा अन्य ग्रथो के आधार पर नाटचोक्ति का विवरण दिया गया है। पर रूपगोस्वामी[7] ने तो नाटचोक्ति के अन्तर्गत 'प्रकाशम्', 'आत्मगतम्' इत्यादि का विवरण दिया है। उपलब्ध कई रूपको मे आमत्रणार्थ प्रयुक्त शब्दो को व्याख्याकारों[8] ने समझाया है और यत्र-तत्र तत्सम्बन्धी लक्षणग्रथो के उद्धरण दिये है। सम्बोधन-निर्देश के

---

५. भरत कृत नाट्यशास्त्र (ना० शा० गा०—नाट्य-गायकवाड़ ओरियेंटल सीरिज, बड़ौदा, संख्या ६८, जिल्द २; ना० शा० का०—नाट्यशास्त्र, शास्त्र, काशी संस्कृत सीरिज, संख्या ६०। ६. नामलिङ्गानुशासनम् (अमरकोश), भानुजी दीक्षित की व्याख्या सुधा—शिवदत्त तथा नारायण राम आचार्य द्वारा सम्पादित—निर्णय सागर प्रेस, १९४४, दे०—१, ७, ११-१५। ७. रूप गोस्वामी कृत नाटकचन्द्रिका, पृ० १९३- १९५, कासिम बाजार, कलकत्ता संस्करण।

८. वर्णानुक्रमतः व्याख्याकरो के नाम नीचे दिये जाते हैं—

क—काटयवेम—मालविकाग्निमित्रम् पर (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९३५)
ख—जगद्धर—मालतीमाधवम् पर (वही, १९२६)
—वेणीसंहारम् पर (वही, १९३५)
ग—ढुण्ढिराज—मुद्राराक्षसम् पर (मो० रा० काले सम्पादित, १९१६)
घ—त्रिपुरारि—मालतीमाधवम् पर (उपर्युक्त संस्करण)
ङ—पृथ्वीधर—मृच्छकटिकम् पर (नि० सा० प्रेस, बम्बई १९२२)
च—रंगनाथ—विक्रमोर्वशीयम् पर (वही, १९२५)
छ—राघवभट्ट—अभिज्ञानशाकुन्तलम् पर (वही, १९५८)
ज—रुचिपति—अनर्घराघवम् पर (वही, १९३७)
झ—वासुदेव—कर्पूरमंजरी पर (वही, १९२७)

अतिरिक्त 'मुद्राराक्षस' के व्याख्याकार ढुण्ढिराज ने कुछ सम्बोधनो को 'गालनम्' बताया है जिससे ज्ञात होता है कि भावावेश मे किये सम्बोधननिर्देशो मे गाली का अर्थ भी निहित था, जैसे रोषावेश मे चाणक्य ने राक्षस को 'दुरात्मन्' कहा (मुद्रा०, अक १, पृ० ३७ व अक ३, पृ० ७९) या राक्षस ने दु खावेश मे लक्ष्मी के लिए 'अनभिजाता' शब्द का प्रयोग किया (मुद्रा०, अक २, पृ० ५१)।

भरत का 'नाट्यशास्त्र' ऐसा प्रथम ग्रथ है जिसमे नाटको मे प्रयुक्त लौकिक वाक्यविधान[९] का उल्लेख हुआ है। इसका उद्देश्य यह ज्ञात करना है कि नाटको मे उत्तम मध्यम व नीच पात्रो के द्वारा समान तथा उनसे उत्कृष्ट व हीन पात्रो के परस्पर सम्बोधन की विधि क्या है (ना०शा० गा० १७, ६६)। परन्तु यह नही समझना चाहिए कि भरत का विवरण व्यापक अथवा सम्पूर्ण है, क्योकि 'नाट्यशास्त्र' मे उन सभी पात्रो की सम्बोधनविधि नही बतायी गयी जिनका रूपको मे काम पडे। 'नाट्यशास्त्र' मे पहले तो विविध पुरुषपात्रो की सम्बोधन विधि दी गयी है (ना० शा० गा० १७, ६७-८५) और फिर स्त्रीपात्रो की (वही १७, ८६-९४)। धनञ्जय ने भी 'नाट्यशास्त्र' के विभाजन का अनुकरण कर 'दशरूपक' (२, ६७-७१) मे पहले तो पुरुषपात्रो के और फिर स्त्रीपात्रो के परस्पर आमत्रणप्रकार की विवेचना की है। पर उन्होंने या उनके व्याख्याकार धनिक ने इस विधि को भरत के समान सीमित नही किया। लेखक ने यह स्वीकार किया है कि यह विवेचन 'दिङ्मात्र' ही है। 'नाट्यदर्पण'[१०] के लेखको ने अपनी दस कारिकाओ पर सूक्ष्म विवृति दी है। सरस्वती भवन सग्रहालय, वाराणसी मे सुरक्षित पुण्डरीककृत 'नाटकलक्षणम्' की एक हस्तलिपि[११] मे सबोधना-निर्देश के सक्षिप्त विवरण का प्रत्यक्ष आधार भरत का 'नाट्यशास्त्र' अधिक व 'दशरूपक' कम है। शारदातनय[१२] ने अह्वानार्थो का सकेतमात्र ही किया है और वह भी नाट्य

अ—वीरराघव—महावीरचरितम् पर (वही, १९२६)
—उत्तररामचरितम् पर (मो० रा० काले सम्पादित, १९३४)
तथा दे० रत्नावली—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९३८ का, और
कुन्दमाला—आत्माराम एण्ड संस, लाहौर, १९३७ का संस्करण।

९. ना० शा० गा० १७, ६५ पर अभिनव गुप्त—"एकेनापि पदेन सकलो वाक्यार्थः स्फुटीक्रियते।" अर्थात् केवल एक पद से भी वाक्य का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, इसी अभिप्राय से वाक्यविधान अन्ततोगत्वा पदविधान ही है। १०. रामचन्द्र व गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण (ना० द०)—गायकवाड़ ओरियेंटल सीरिज, बड़ौदा। ११. हस्तलिपि क्रमसंख्या ३९१, पन्द्रह पत्रो में है। इसकी पुष्पिका मे कहा गया है—"इति श्री कर्णाटकजातीयपुण्डरीकविट्ठल-विरचिते नर्तननिर्णये नाटकादिप्रकरणे दशनाटकलक्षणं समाप्तम्।" इससे व अन्य आंतरिक प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट है कि 'नाटकलक्षण' नामक यह हस्तलिपि लेखक के वृहद् ग्रंथ का अंश मात्र है। इसका लेखक अवश्य ही दशरूपककार का परवर्ती है। १२. शारदातनय कृत भावप्रकाशनम् (भा० प्र०)—गायकवाड़ ओरियेंटल सीरिज, बड़ौदा—संख्या ४५; दे० ९, पृ० २७१ व २७७।

मे प्रयुक्त विस्मयादिबोधक शब्दो[13] के साथ मिश्रित कर दिया है। अन्य शास्त्रकारो की अपेक्षा शारदातनय की विशेषता यह है कि भरत के अनुरूप उन्होने भी प्रेम अथवा क्रोध इत्यादि भावावस्था के अनुसार दक्षिण, शठ व धृष्ट नायको के लिए प्रयुक्त विशिष्ट सम्बोधनो का विन्यास किया है।[14] सर्वेश्वर ने यह विषय तृतीय तथा चतुर्थ प्रकाश मे दिया है।[15] तृतीय प्रकाश मे अपने सामान्याधार भावप्रकाशन के समान सम्बोधन-निर्देश तथा विस्मयादिबोधक पदो के विषय को सम्मिलित किया है। शिङ्गभूपाल ने विशद विवेचन देते हुए कहा है कि जब पात्र परस्पर सम्मुख हो और नाम के अतिरिक्त किन्ही अन्य शब्दो का प्रयोग करके उन्हे सम्बोधित किया जाय तो 'नाटयशास्त्र' से अभिज्ञ व्यक्ति उन पदो को 'निर्देश' की सज्ञा देते है।[16] भरत के 'नाटयशास्त्र' के समान इनके ग्रथ मे भी अपने से पूज्य समान व दीन पात्रो के लिए क्रमश पूज्य निर्देश, सदृशनिर्देश तथा कनिष्ठ निर्देश निर्धारित किया गया है। सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षण-रत्नकोश'[17] मे इस विषय का प्रतिपादन नाटको के दृष्टिकोण से अपेक्षाकृत विधिवत् तथा विस्तारपूर्वक किया है। विश्वनाथ के ग्रन्थ मे[18] भरत के 'नाटयशास्त्र' तथा 'दशरूपक' का प्रभाव स्पष्ट है।

रूपको के पात्रो से सम्बन्धित सम्बोधन-निर्देशो को, अध्ययन की दृष्टि से, हमने निम्न अनुच्छेदो मे विभाजित किया है—

§क. विषयप्रवेश

पात्रो की प्रकृति के अनुसार उनको उत्तम, मध्यम व अधम, तीन प्रकार का बताया गया है (ना० द० ४, १५६, पृ० १९५)। भरत ने इन विविध स्तरीय पात्रो के परस्पर सम्बोधन-निर्देश का विधान इस प्रकार किया है—मान्य पात्रो को 'भाव' और उनसे कुछ कम स्तर वालो को 'मारिष',[19]

---

१३. दे० भाण्डारकर प्राच्यविद्या शोध सस्थान पूना की एनल्स, जिल्द ३९, भाग ३-४ मे प्रस्तुत लेखक का निबध "टर्म्स ऑफ ऐक्स्क्लेमेशन्स इन वर्क्स ऑन सस्कृत ड्रामाटर्जी" (सस्कृत नाट्यशास्त्र मे विस्मयादि-बोधक पद)। १४. दे० ना० शा० का० २४, २९२ इत्यादि तथा ना० प्र० ५, पृ० १०७-१०९। १५. सर्वेश्वर कृत साहित्यसार (सा० सा०)—त्रिवेंद्रम संस्कृत सीरिज, त्रिवेंद्रम १९४८; दे० ३, २५-७६; ४, ८०-८३। १६. शिङ्ग-भूपाल कृत रसार्णवसुधाकर (र० सु०)—त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज, त्रिवेंद्रम, १९१६; दे० ३, ३०६-३२२। १७. सागरनन्दीकृत नाटकलक्षणरत्नकोश (ना० र०)—माईल्स डिलौ द्वारा सम्पादित—ऑक्स्फोर्ड सस्करण, दे० पक्तियाँ (प०) २१८९ से २२६० तक। १८. विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण (सा० द०)—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३६; दे० ६, १४४-१५८।

१९. इस विषय पर नाटयशास्त्र के मूल को उद्धृत करना अनावश्यक नही—

"मार्षो भावेति वक्तव्यः किंचिदूनस्तु मार्षकः।" ना० शा० गा० १७, ७४।

"मान्यो भावेति वक्तव्यः किंचिदूनस्तु मारिषः।" ना० शा० का० १९-१०।

अभिनव गुप्त की विवृति (पृ० ३८०) से मूल को निर्धारित करने मे कोई सहायता

समानस्तर वाले को 'वयस्य' तथा अपने से हीन पात्र को 'ह हो' कह कर सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० का० १९, १०)। 'मुद्राराक्षस' (अक ६, पृ० १३९) मे समानस्तरीय सिद्धार्थक व समिद्धार्थक परस्पर 'वयस्य' और (अक १, पृ० २७) चाणक्य का गुप्तचर शिष्य को 'ह हो बह्मण' से सम्बोधित करता है। भरत ने कहा है (ना० शा० गा० १७, ७२) कि समान पात्र एक दूसरे का नाम भी ले सकते है, जैसे 'मुद्राराक्षस' (अंक ७, पृ० १६२) मे चाणक्य और राक्षस का परस्पर सम्बोधन। अपने से श्रेष्ठ पात्र को अपेक्षाकृत हीन पात्र अधिकार प्राप्त होने पर उसके नाम से सम्बोधित कर सकला है (ना० शा० गा०, वही), जैसे 'उत्तररामचरित' (अक १, पृ० १०) मे कचुकी राम को रामचन्द्र कहता है। अपने से हीन पात्रो को 'सौम्य' तथा 'भद्रमुख' तथा ऐसे ही अन्य निर्देशो से पूर्व 'हे' का प्रयोग कर के सम्बोधित किया जा सकता है (ना० शा० गा० १७, ७६)। नाटचदर्पण' मे भी यही नियम मिलता है और शिङ्ग भूपाल ने इसी नियम का पालन करते हुए कहा है (र० सु० ३, ३२०) कि छोटे पात्र को या तो उसके अधिकार अर्थात् कार्य की दृष्टि से या 'भद्र' अथवा 'भद्रमुख' कह कर सम्बोधित किया जाय। नाटको मे 'सौम्य' का प्रयोग अप्राप्य है पर 'भद्र' का प्रयोग होता है, जैसे 'शाकुन्तल' (अंक २ पृ० ६६) मे दुष्यन्त ने सेनापति को 'भद्र' कह कर सम्बोधित किया है। 'मुद्राराक्षस' (अक ४) मे करभक दौवारिक को 'भद्रमुख' कहता है और राक्षस करभक को 'भद्र'। इसी प्रकार 'मृच्छकटिक' मे विदूषक चाण्डालो को (अक १०, पृ० २३४) और चारुदत्त के पुत्र को (वही पृ० २३२) 'भद्र-मुख' कह कर सम्बोधित करता है। पर इन निर्देशो के पूर्व 'हे' का प्रयोग अप्राप्य है।

ऊपर कहा गया है कि भरत ने समान पात्रो को 'वयस्य' से सम्बोधित करने का विधान किया है। नाटचदर्पणकारो ने यह स्पष्ट किया कि 'समानता' अवस्था, आयु और गुणो की हो सकती है और एक समान पात्र 'सखा' या अन्य ऐसे ही निर्देशो का प्रयोग कर सकते है, तथा मध्यम पात्र परस्पर एक दूसरे का नाम भी लेकर सम्बोधित कर सकते है (ना० द०, पृ० २१२)। शिङ्ग भूपाल (र० सु० ३, ३१८) भरत के विधान से सर्वथा सहमत है। पर शारदातनय (भा० प्र० ९, पृ० २७७, प० १४) ने तीन निर्देशो अर्थात् 'वयस्य', 'सखे' व 'हण्डे' का प्रयोग निर्धारित किया है। कदाचित् इसीलिए विश्वनाथ ने (सा० द० ६, १४८) यह विलक्षणता ला दी कि केवल उत्तम पात्र ही परस्पर 'वयस्य' निर्देश का प्रयोग करे। इसके अतिरिक्त 'नाटचशास्त्र' (ना० शा० गा० १७, ७४) तथा 'नाटकलक्षण' (पत्रा १०) मे भी निर्देश है कि अधम पात्र अपने समान पात्र को 'हहो' या 'हण्डा' कह कर सम्बोधित करता है। 'नाटचदर्पण,' 'नाटकलक्षण रत्नकोश' (प० २२३३), 'रसार्णवसुधाकर' व विश्वनाथ ने इन निर्देशो का भी उल्लेख किया है। सर्वेश्वर ने (सा० सा० ३, ६९) यह तो कहा ही है कि केवल नीच पात्रो के आह्वान मे ही 'हण्डे' निर्देश का

नहीं मिलती। पर भरत-परवर्ती नाटचशास्त्रकारों के आधार पर काशी के (द्वितोद्धृत) संस्करण को ही मान्यता देनी होगी। 'नाटक लक्षण' की हस्तलिपि से भी इसी पाठ की पुष्टि होती है और तभी मूल सार्थक होता है। राघवभट्ट ने भी इसी पाठ को उद्धृत किया है; दे० 'ख—आमुखा-न्तर्गत पात्रों से सम्बन्धित निर्देश'।

प्रयोग किया जाय और साथ मे एक नये निर्देश 'वड्ढे' का विधान भी किया है जो ऐसे नीच पात्रो के विषय मे है जो शिष्टाचार-विहीन हो (वही ७१)। सर्वेश्वर ने यह भी कहा है कि शबर, आभीर, शूद्र इत्यादि सम्बोधनार्थ 'हीमाणु ह' (हीमाण हे ?) का प्रयोग करते है (सा० सा० ३, ३४-३५)। हम आगे चल कर देखेगे कि स्त्रीपात्रो मे चेटी के लिए 'हञ्जे' का निर्देश है और ये प्रयोग 'अमरकोश' द्वारा सम्मत भी है।

६ख आमुखान्तर्गत पात्रो से सम्बन्धित निर्देश

यह सर्वविदित है कि सस्कृत रूपको के अभिनय से पूर्व पूर्वरग का विधान है। पूर्वरग को सम्पन्न करने के पश्चात् सूत्रधार या अन्य कोई नट, नाटकादि के प्रणेता, अभिनय-सम्बन्धी अवसर व उनकी कथावस्तु इत्यादि की सूचना देता है। यह नट कथावस्तु की प्रस्थापना के कारण स्थापक भी कहला सकता है। धनजय के अनुसार नाटक के आमुख अथवा प्रस्थापना की यह सूचना चार प्रकार की हो सकती है अर्थात् वस्तु-सूचना जो श्लेष की सहायता से भी हो सकती है, बीज-सूचना तथा पात्र-सूचना। इस प्रकार सूत्रधार, नटी, पारिपार्श्विक या विदूषक (इसके उदाहरण नही मिलते) के साथ बात करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत वस्तु का सकेत अथवा उल्लेख करता है (दे० द० रू० ३, २ तथा ७)। अतएव इन पात्रो के रगमच पर सर्वप्रथम उपस्थित होने के कारण इनकी परस्पर सम्बोधन-विधि का हम अब अध्ययन करेगे।

भरत के 'नाटचशास्त्र' मे इस बात का कोई विशेष उल्लेख नही कि नट व नटी परस्पर किस सम्बोधन-निर्देश का प्रयोग करे, इसीलिए कि वे 'आर्य' शब्द से सम्पन्न 'आर्ये' व 'आर्यपुत्र' का ठीक वैसे ही प्रयोग करते है जैसे कोई पति-पत्नी (ना० शा० गा० १८, ८३ व ९४)। अभिनव-गुप्त ने कहा है कि पत्नी तो सहधर्मचारिणी है और नाट्यवेद के रहस्य से अभिज्ञ सूत्रधार नटी को 'आर्ये' कह कर ही सम्बोधित करेगा (वही, पृ० ३८२-३८३)। भरत-परवर्ती नाटचशास्त्रकारो मे से सभी ने भरत के इस नियम का पालन किया है। 'शाकुन्तल' मे नटी द्वारा सूत्रधार के लिए प्रयुक्त 'आर्यपुत्र' की व्याख्या करते हुए राघव भट्ट ने (शाकुन्तल, पृ० ८) इस प्रसग मे भरत द्वारा विहित पति-पत्नी के निर्देश को उद्धृत किया है।

हम ऊपर देख आये है कि 'नाटचशास्त्र' मे मान्य पात्रो के लिए 'भाव' और उनसे कुछ न्यून पात्रो को 'मारिष' कह कर सम्बोधित करने का नियम दिया गया है, पर 'भाव' सम्बोधन का प्रयोग नाटको के आमुख के अतिरिक्त अन्यत्र भी उपलब्ध है, जैसे 'शाकुन्तल' (अक ६, पृ० १८९) मे मछेरा दोनो सिपाहियो को 'भावमिस्शे' (भावमिश्रा) और 'मृच्छकटिक' (अक ५, पृ० १२४ इत्यादि) मे वसतसेना विट को तथा (अक ८, पृ० १८४-१८५ मे) शकार विट का 'भाव' से सम्बोधित करते है, पर 'मारिष' का प्रयोग केवल आमुख मे ही होता है। इसका कारण यह हो सकता है कि भरत के पश्चात् रचे नाटको मे 'मारिष' का प्रयोग पारिपार्श्विक के लिए ही सीमित कर दिया गया हो। तभी तो भरत-परवर्ती नाटचकारो ने कम से कम 'मारिष' के प्रयोग को केवल सूत्रधार 'अनुग' के लिए निर्धारित किया। इसे कदाचित् 'प्रयोगसकोच' का उदाहरण माना जा सकता हे। इन परवर्ती सभी लेखको मे मतैक्य है कि सूत्रधार (अथवा 'सूत्री' द०रू०,

'काव्य प्रस्थापक नट' ना० र०) को 'भाव' से सम्बोधित किया जाय और यह अपने साथी को 'मार्ष' अथवा 'मारिष' कहकर बुलाये।[२०] 'मालविकाग्निमित्र' (अक १, पृ० २) और 'उत्तररामचरित' (अक १, पृ० ५ व ६) मे ये प्रयोग उपलब्ध है। 'मालतीमाधव' (अक १, पृ० ५) मे भी इसी नियम का अनुकरण किया गया है और व्याख्याकार त्रिपुरारि ने इसकी पुष्टि मे एक उद्धरण भी दिया है, उल्लेखनीय बात यह है कि यही उद्धरण काटयवेम ने 'मालविकाग्निमित्र' के उपरिलिखित प्रयोग की व्याख्या मे भी दिया है। एतदर्थ 'अनर्घराघव' व व्याख्याकार रुचिपति (पृ० १७) ने जो नियम भरत के नाम से उद्धृत किया है वह 'नाटचशास्त्र' मे उपलब्ध नही, यद्यपि उसका अभिप्राय धनजय इत्यादि नाटचशास्त्रकारो के नियम से भिन्न नही है।

§ग. प्रमुख तथा तत्सम्बन्धी पात्रो के निर्देश

सस्कृत नाटको मे, विशेषकर प्रकरणो व नाटिकाओ मे, कई नाटकीय परिस्थितियों की कल्पना नायक व नायिका के परस्पर व्यवहार पर भी आश्रित रही है। भरत ने इसीलिए कहा कि नाटचधर्म पर आश्रित कामोपचार दो प्रकार का है—बाह्य तथा आभ्यन्तर। आभ्यन्तर कामोपचार नाटको मे तथा वेश्या से सम्बन्धित बाह्य कामोपचार को प्रकरण मे प्रस्तुत करना चाहिए। (ना० शा० का० २४, १३९-१४१)। नायक-नायिकाओ के 'समागम' के दृश्यो को रगमच पर प्रस्तुत करने का निषेध है और कदाचित् इसीलिए उस समयोपयोगी सम्बोधनो का उल्लेख भरत ने सम्बोधनविषयक अध्याय मे न कर सामान्याभिनय विषयक अध्याय मे किया। भरत का अनुकरण करते हुए शारदातनय ने भी इस प्रकार के सम्बोधित निर्देश दिये है जिनसे नायक-नायिका के परस्पर व्यवहार का ज्ञान हो सकता है कि नायक दक्षिण है या शठ अथवा धृष्ट। इन सम्बोधन-निर्देशो का यहाँ उल्लेख करना इसलिए भी प्रासगिक है कि इन विविध पदो का यत्र-तत्र नाटको मे प्रयोग हुआ है, तो व्याख्याकारो ने तत्सम्बन्धी लक्षण अथवा नियम बताये है। दक्षिण नायक के सम्बोधन के लिए भरत ने अनेक पदो का जैसे 'प्रिय', 'कान्त', 'विनीत', 'नाथ', 'स्वामिन्', 'जीवित', तथा 'नन्दन' का विधान किया है (ना० शा० का० २४, २९२)। शारदातनय ने इसी सूची मे 'प्रणयिन्', 'दयित', 'सुहृत्', 'सुभग' तथा 'रुचिर' को सम्मिलित किया है, 'जीवित' के स्थान पर 'जीवितेय' का प्रयोग बताया है और 'विनीत' का परित्याग कर दिया है (भा० प्र० ५, पृ० १०७ प० ७-८ इत्यादि)। भरत के अनुसार मानिनी नायिका शठ अथवा धृष्ट नायक को 'दु शील', 'दुराचार', 'शठ', 'वाम', 'विरूपक', 'निर्लज्ज' तथा 'निष्ठुर' कह कर सम्बोधित करेगी। शारदातनय ने इस सूची मे 'धृष्ट' को भी सम्मिलित किया और 'विरूपक' के स्थान पर 'विरूप' पढा है। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि 'भावप्रकाशन' मे लेखक ने कही कही इन पदो की व्याख्या की है और कही कही भरत की ही व्याख्या मे संशोधन भी किये है।

'मालतीमाधव' (अक २, पृ० ६४) मे त्रिपुरारि ने कामन्दकी द्वारा प्रयुक्त 'प्रिय' तथा 'सुहृत्' शब्दो की व्याख्या देने के लिए 'भावप्रकाशन' के नियम को उद्धृत किया है। पर यह

२०. दे० द० रू० २, ६९; ना० द० ४, २०४; सा० सा० ३, ४९ व ४, ८३; सा० द० ६, १४७; भा० प्र० ९, पृ० २७७ पं० १३; ना० र०, पं० २१६५।

उद्धरण सर्वथा अस्थानिक है। शायद त्रिपुरारि ने सोचा हो कि 'प्रिय' तथा 'सुहृत्' सम्बोधनो को कामोपचार के प्रसग से हटाया जा सकता है, और इन सम्बोधनो के लक्षण के आधार पर इनका व्यापक प्रयोग किया जा सकता है।

'नाटचशास्त्र' (गा० १७, ८७) मे 'गम्या' अर्थात् सम्बन्ध योग्य कन्या के लिए 'भद्रा' सम्बोधन निर्धारित है। इसी का अनुकरण 'नाटचदर्पण' (पृ० २११) मे मिलता है, यहाँ कहा गया है कि 'भोक्तव्या' अर्थात् उपभोग योग्य कन्या के लिए सर्वप्रथम दर्शन पर 'भद्रा' निर्देश उचित है, यद्यपि प्रिया पत्नी का सम्बोधन 'प्रिया' है, जैसा कि 'नाटचशास्त्र' (गा० १७, ९३) मे कहा गया है कि राजा के अतिरिक्त अन्य नायक श्रृगारमय अवसरो पर अपनी पत्नी को 'प्रिया' कह कर सम्बोधित करे। इसका, यद्यपि यथार्थत नही, उदाहरण 'शाकुन्तल' (अक ७ पृ० २५९) मे प्राप्त होता है, जहाँ दुष्यन्त शकुन्तला को 'प्रिये' कह कर सम्बोधित करता है। 'भावप्रकाशन' (पृ० २७१) के आधार पर 'साहित्यसार' (३, ६०) मे दक्षिण नायक, अपनी प्रियतमा के लिए 'कान्ता' का प्रयोग करता है, पर शठ नायक 'प्रिया' का प्रयोग उस नारी के लिए भी करेगा जो उसे वस्तुत प्रिय न हो। सागरनन्दी (ना० र० प० २२५६-२२५७) ने बताया कि नवयुवक नायक अपरिचित नायिका को 'महाभागे' अथवा 'वरोरु' कह कर सम्बोधित करे और यह उसे 'सुभग' अथवा 'महाभाग' कहे। यह प्रयोग 'मालतीमाधव' (अक २, पृ० ५४) मे उपलब्ध है, यद्यपि यहाँ त्रिपुरारि ने इस सम्बोधन की व्याख्या मे कोई उद्धरण नही दिया।

१—राजा, राजकुल तथा सहायक पुरुषपात्रो के निर्देश

राजा—राजा के सम्बोधन-निर्देश अप्रत्यक्षतया विविध पात्रो के स्तर के अनुसार दिये गये है। 'नाटचशास्त्र' मे कहा गया है कि पार्थिव को 'महाराज' कहकर सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० गा० १७, ६९)। यद्यपि पत्नियो द्वारा पति के लिए निर्देश पृथक् है पर वे पति के राजा होने पर उसे 'महाराज' शब्द से सम्बोधित करती है (ना० शा० गा० १७, ८३)। इसका उदाहरण 'विक्रमोर्वशी' मे (अक ३, पृ० ८०) मिलता है जहाँ उर्वशी राजा को 'महाराज' कहती है। विश्वनाथ (सा० द० ६,१५३) तथा रामचन्द्र व गुणचन्द्र इस नियम से सहमत है, पर इस लेखकयुग्म ने कहा है कि रानी उसे 'महाराज' तो कहे पर यौवनावस्था मे 'आर्यपुत्र' के निर्देश से सम्बोधित करना चाहिए। (ना० द० ४, १९८)। ब्राह्मणपात्र तथा ऋषि राजा को या तो नाम से या 'राजन्' कहकर या अपत्यार्थ प्रत्यय का प्रयोग कर सम्बोधित करे और राजाओ को इसका बुरा नही मानना चाहिए, क्योकि द्विजो को पूज्य कहा गया है (ना० शा० गा० १७, ७०, ८१)। शिङ्गभूपाल ने (र० सु० इ० ३०९-३१०) इस नियम का पालन किया है, पर सागर-नन्दी के अनुसार ब्राह्मण राजा को 'आयुष्मान्' कहकर सम्बोधित करें (ना० इ० प० २२५८)। अपने नियम को विस्तार देते हुए भरत ने यह भी कहा है कि राजा के समान पात्र, बल्कि कुछ नीच पात्र भी उत्तम राजा का नाम लेकर उसे सम्बोधित कर सकते है (ना० शा० गा० १७,७२)। इसकी व्याख्या मे अभिनवगुप्त ने कहा है कि ये पात्र राजा को नामानुसार 'वत्सराज', अथवा 'सोमवशमौक्तिकमणे' कह सकते हैं। मूल के पाठान्तर के आधार पर इन कारमीरी व्याख्याकार

ने कहा है कि परितुष्ट होने पर चाटुकारिता के कारण भी यही निर्देश लागू हो सकता है, जैसे "उदयने मही शासति को विपदामवकाश" मे (वही, पृ० ३८०)। नाटचदर्पणकारो ने अपनी व्याख्या मे (पृ० २१०) 'नाटचशास्त्र' द्वारा विहित राजा के निर्देश पर अभिनवगुप्त की विवृति का अनुकरण करके उसे अति व्यापक बना दिया और कहा कि सभी मान्य व्यक्तियो की प्रशसा मे उनके नाम के अतिरिक्त अन्य सम्बोधनो का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे विभिन्न पात्रो को 'अमात्य', 'श्रेष्ठि', 'वत्सराज', तथा 'सोमवशमौक्तिकमणे' कहकर सम्बोधित किया जा सकता है। सर्वेश्वर ने (सा० सा० ३ ६६) ज्येष्ठ व्यक्तियो, उपाध्याय, पिता इत्यादि अथवा तत्तुल्य पात्रो द्वारा राजा के लिए 'विभु' सम्बोधन का विधान किया है और (वही ३ ४८-४९ मे) कहा है कि नाटक मे उच्च जाति के लोग, विख्यात ब्राह्मण तथा तपस्वी इत्यादि राजा को 'राजन्' कहकर सम्बोधित करे। सागरनन्दी के अनुसार तपस्वी (ना० र०, प० २२५९), शिङ्गभूपाल के अनुसार मुनि (र० सु० ३,३११) अथवा विश्वनाथ के अनुसार ऋषि (सा० द० ६,१४५) राजा को 'राजन्' अथवा अपत्यार्थ प्रत्यय के प्रयोग से सम्बोधित करते है। 'शाकुन्तल' मे (अक १, पृ० २१) वैखानस दुष्यन्त को 'राजन्' कहकर सम्बोधित करते है। सागरनन्दी के अनुसार क्षपणक व भिक्षु उसे 'धर्मोपासक' कहते है (ना० र०, प० २२६०। विदूषक द्वारा राजा के 'राजन्' अथवा 'वयस्य' तथा इसके पर्याय 'सखे' (र० सु० ३,३१२) सम्बोधन-निर्देश के भरत द्वारा विहित नियम का पालन प्राय सभी परवर्ती लेखको ने किया है।[२१] 'मालविकाग्निमित्र' (अक ५, पृ० ९१) तथा 'शाकुन्तल' (अक २, पृ० ६१) मे 'वयस्य' का प्रयोग उपलब्ध है। 'रत्नावली' (अक १, पृ० ३३) मे 'वयस्य', 'महाराज', तथा 'भट्टा' का प्रयोग हुआ है। रथ को चलाने वाला सूत राजा को 'आयुष्मन्' तथा सागरनन्दी के अनुसार 'आर्य' कहेगा। प्राय अन्य नाटचशास्त्र-कारो ने 'आयुष्मन्' का पक्ष लिया है।[२२] इस नियम का प्रधानतया प्रयोग 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे उपलब्ध है (दे० अ० १ व ७) और इस नियम का प्राय सभी लेखको द्वारा उल्लेख इस बात का निश्चित प्रमाण है कि कालिदास का यह नाटक सर्वमान्य था।

भरत के अनुसार राजा के लिए 'देव' का प्रयोग प्रजा तथा भृत्यो द्वारा होता है (ना० शा० गा० १७-८०)। शिङ्गभूपाल इससे सहमत है (र० सु० ३,३१०)। अन्य भरत-परवर्ती लेखको ने इस नियम के परिवर्तित रूप का विधान किया है। धनजय के अनुसार भृत्य राजा को न केवल 'देव' अपितु 'स्वामिन्' भी कहते है (द० रू० २,६९)[२३]। विश्वनाथ ने धनजय

---

२१. दे० ना० शा० गा० १७, ८१; ना० द०; पृ० २११; सा० सा० ४, ८२; र० सु० ३, ३१२; सा० द० ६, १४५। २२. दे० ना० शा० गा० १७, ७५; द० रू० २, ६८; सा० सा० ३, ७६; र० सु० ३, ३१३; सा० द० ६, १५०। २३. दे० "ऑन सम टर्म्स एम्प्लौयेड इन दि इन्स्क्रिप्शंस ऑफ दि क्षत्रप्स"—ई० ऐं० ३३, पृ० १६३ इत्यादि (जूर्नाल आजियातिक (१९०२, पृ० ९५-१२५) में प्रकाशित सिल्वें लेवि के फ्रांसीसी निबंध का अंग्रेजी अनुवाद)। इस निबंध मे फ्रांसीसी विद्वान् ने 'स्वामी', 'भद्रमुख' व 'सुगृहीतनाम' का ऐतिहासिक अभिलेखों व नाटचशास्त्र की दृष्टि से आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

का अनुकरण किया है (सा० द० ६ १४४)। पुण्डरीक ने 'देव' सम्बोधन केवल नौकरो द्वारा (ना० ल०, पत्रा १० क) और नाटयदर्पणकारो ने उत्तम, मध्यम व अधम सभी प्रकार की केवल प्रजा द्वारा (ना० द०, पृ० २११) प्रयोजनीय माना है। सर्वेश्वर के अनुसार राजा के प्रधान अधिकारी उसे 'देव' कहकर सम्बोधित करते है (सा० सा० ३,६५) और यदि राजा चक्रवर्ती है तो सेनापति, अमात्य तथा जनता के नेता उसे 'स्वामी' कहते है (वही ३ ४५)। 'शाकुन्तल' (अक २, पृ० ६४) मे सेनापति राजा दुष्यत के लिए 'देव' का प्रयोग करता है। राघव भट्ट ने इसकी व्याख्या मे 'दशरूपक' के नियम को उद्धृत किया है। 'अनर्घराघव' (अक ७, पृ० ३६५) मे सुग्रीव ने राम के लिए 'देव' का प्रयोग किया है और व्याख्याकार रुचिपति ने इसकी पुष्टि मे 'अमरकोश' (१,७,१३)—"राजा भट्टारको देव"—को उद्धृत किया है। कचुकी राजा को 'महाराज' अथवा 'देव' कहकर सम्बोधित करता है, जैसे 'मालविकाग्निमित्र' (अक १, पृ० १४) मे तथा 'मुद्राराक्षस' (अक ३, पृ० ७६ इत्यादि) मे। 'उत्तररामचरित' मे भी (अक १, पृ० १०) कञ्चुकी अपने अभ्यासानुसार राम को 'रामचन्द्र' कहता है, और शीघ्र ही जब उसे ध्यान आता है कि वे राजा है तो उन्हे पहले 'महाराज' और फिर 'देव' से सम्बोधित करता है। इसी प्रकार 'कुन्द-माला' मे (अक १, पृ० ५) जब लक्ष्मण सीता के साथ अरण्य के समीप आते है तो मन ही मन सोचते है कि सीता को छोड जाने का यह अप्रिय आदेश बडे भाई ने दिया है, पर शीघ्र ही वे अपना विचार बदल कर कहते हैं कि बडे भाई का नही, यह तो 'स्वामी' का आदेश है।

राजा के लिए 'देव' तथा 'स्वामिन्' के अतिरिक्त, भरत ने 'भट्ट' का सम्बोधन भी विहित किया है—सार्वभौम राजा को उसके परिजन 'भट्ट' कहते है (ना० शा० गा० १७, ८०)। धनजय तथा तदनुसार विश्वनाथ ने इस निर्देश का अधम पात्रो द्वारा विधान किया है (द० स० २, ६९, सा० द० ६-१४४)। 'नाटयदर्पण' (पृष्ठ २११) के अनुसार नीच प्रकृति के पात्र राजा को 'भट्टिन्' कहकर सम्बोधित करते है। शिङ्गभूपाल (र० सु० ३,३११) ने भट्ट के साथ-साथ 'भट्टारक' का भी विधान किया है। सागरनन्दी (ना० र० पं० २१८९-९०) ने भी राजा के लिए 'महाराज' तथा 'देव' के साथ-साथ 'भट्टारक' का प्रयोग दिया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' (अक २ पृ० ६३) मे दौवारिक राजा को 'भट्टा' कहकर सम्बोधित करता है और इसकी व्याख्या मे राघवभट्ट ने 'दशरूपक' का नियम उद्धृत किया है।

रानियाँ—भरत ने नाटको मे रानियो के लिए 'स्वामिनी', 'देवी' व 'भट्टिनी' सम्बोधनो का निर्देशन किया है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि राजा तथा नौकर प्रमुख रानी (महिषी) को 'देवी' कहे, तथा अन्य रानियो या उनको जो 'भोगिनी' हो अर्थात् सहधर्मचारिणी न हो 'स्वा-मिनी' कहकर सम्बोधित किया जाय (ना० शा० गा० १७,८७—८९)। 'दशरूपक' तथा तदनु-सार 'साहित्यदर्पण' (द० रु० २,७०, सा० द० ६,१५५) मे ये विशिष्ट सम्बोधन न देकर यही कहा गया है कि सभी स्त्रियॉं उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रो द्वारा वैसे ही सम्बोधित की जाती है जैसे उनके पति। इस नियम का कदाचित् प्रस्तुत प्रसग मे यह अभिप्राय हो सकता है कि जिस प्रकार राजा के लिए विभिन्न पात्रो द्वारा स्वामी, देव तथा भट्टा अथवा भट्टारक का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार रानियो के लिए भी इनके स्त्रीरूप प्रयोजनीय है। परिणामस्वरूप इन दोनो

लेखको ने भरत का ही अनुकरण किया। 'नाट्यदर्पण' (४,२००) मे भी भरत द्वारा विहित तीनो सम्बोधनो को स्वीकार किया गया है, पर 'महिषी' के स्थान पर 'मुख्या' शब्द का प्रयोग करके उसकी व्याख्या मे "मुख्या कृताभिषेका" से ज्ञात होता है कि भरत की तरह इस ग्रथ मे भी राजा के लिए अभिषिक्ता प्रिया रानी के लिए 'देवी' सम्बोधन का ही विधान है। सर्वेश्वर (सा० सा० ३,६८) ने सभी राजपुरुषो द्वारा सभी रानियो के लिए 'राजदारिका' ओर सिहासनारूढा के लिए 'स्वामिनी' का तथा पुण्डरीक ने राजपत्नी के लिए 'स्वामिनी' तथा 'नन्दिनी' का प्रयोग निर्धारित किया है (ना० ल०, पत्रा १०)। शिङ्गभूपाल ने भरत के सम्बोधनो मे थोडा सा विकास यह किया कि राजा महिषी को तो 'देवी' ही कहे पर अन्य रानियो को 'प्रिया' कह कर सम्बोधित करे और परिचारकगण भरत के तीनो निर्देशो के अतिरिक्त रानियो को 'भट्टारिका' भी कह सकते है (र० सु० ३, ३१५-३१६)। सागरनन्दी ने कहा है कि 'नायकपत्नियो' के लिए 'महादेवी', 'देवी' तथा 'महिषी' सम्बोधन को प्रयुक्त किया जाता है (ना० र०, प० २१९१)।

'नाटचशास्त्र' के अनुसार विदूषक रानी को 'भवती' कहेगा (ना० शा० गा० १७,८२)। इसका अनुकरण प्राय सभी परवर्ती लेखको ने किया है।[२४] पर सर्वेश्वर ने इस विधान को अधिक व्यापक बना दिया और कहा कि विदूषक सभी नायिकाओ को (चाहे वे रानियाँ हो या नही) तथा राजमाता को भी 'भवती' से सम्बोधित करेगा (सा० सा० ४,८१)।

इस प्रकार हम देखते है कि पात्रो के स्तर तथा राजा व रानियो के परस्पर सम्बन्ध के अनुसार इनके लिए 'देवी', 'स्वामिनी', 'नन्दिनी', 'भट्टिनी', (अमरकोश १,७,१३), 'भट्टारिका' तथा 'भवती' सम्बोधनो का निर्देश है। 'विक्रमोर्वशीयम्' (अक २ पृ० ५३) मे निपुणिका, तथा 'रत्नावली' (अक १, पृ० ३६) मे काचनमाला रानी को 'भट्टिनी' कहकर सम्बोधित करती है। 'मालतीमाधव' की व्याख्या (अक ४, पृ० ५४) मे भी जगद्धर ने ऐसा प्रतीत होता है कि स्मृति के आधार पर 'नाटचशास्त्र' की कारिका को उद्धृत किया है। उपलब्ध नाटको मे 'स्वामिनी' का प्रयोग प्राप्त नही।

युवराज तथा राजकुमार—भरत के अनुसार युवराज को 'स्वामी' और राजकुमार को 'भर्तृदारक' कहना चाहिए (ना० शा० गा० १७,७६)। पर युवराज के लिए 'स्वामी' का प्रयोग नाटको मे उपलब्ध नही। धनजय ने केवल राजा व रानी के लिए सम्बोधन-निर्देश दिये पर राजकुमार के लिए नही। पुण्डरीक तथा शिङ्गभूपाल (र० सु० ३ ३१४) ने भरत का अनुकरण किया, पर 'नाटचदर्पण' के अनुरूप (पृ० २१२) बालपन मे युवराज तथा अन्य कुमारो के लिए 'भर्तृदारक' तथा 'कुमार' सम्बोधनो का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसी प्रकार सागरनन्दी ने भी कहा कि युवराज को 'कुमार' या 'भर्तृदारक' दोनो ही प्रकार से सम्बोधित किया जा सकता है (ना० र०, प० २१९२)। पर विश्वनाथ ने 'नाट्यशास्त्र' की कारिका को अन्यथा पढकर नये ही अर्थ का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार युवराज के लिए 'स्वामी' और राजकुमार के लिए 'भर्तृदारक' का सम्बोधन तो ठीक 'नाटच शास्त्र' के अनुरूप ही होगा पर छोटे कुमार (कुमारक)

---

२४. दे० द० रू० २, ७१; ना० द० ४, १९९; सा० ल०; ता० द० ६, १४९।

को अधम पात्र 'भद्र', 'सौम्य' अथवा 'भद्रमुख' इत्यादि कहकर सम्बोधित करेगे (सा० द०, छं० १५४)। 'अमरकोश' (१-७-१२) मे 'नाटचदर्पण' के अनुसार नियम दिया है।

राजकुमारी—भरत (ना० शा०, गा० १७, ८९), रामचन्द्र व गुणचन्द्र (ना० द० ४, पृ० २१२) तथा सागरनन्दी (ना० र०, प० २१९३) के अनुसार परिचारको द्वारा, तथा विश्वनाथ (सा० द० ६,१५४) के अनुसार जनता द्वारा अविवाहिता राजकुमारी 'भर्तृदारिका' से सम्बोन्धित की जानी चाहिए। सर्वेश्वर के अनुसार 'भर्तृदारिका' सम्बोधन की अधिकारी वह अविवाहिता राजकुमारी है जो राज्यश्री-सयुक्त हो, व सभी व्यक्तियो द्वारा पूज्य हो (सा०-सा० ३,५९)। 'मालतीमाधव' (अक १) मे परिचारिकाएँ मालती को 'भर्तृदारिका' से सम्बोधित करती है—जगद्धर इसका अपनी व्याख्या मे (पृ० २२) अनुमोदन करते है और कहते है कि यद्यपि यह विधान तो राजकुमारी के लिए है पर नियम मे 'राज' पद ऐश्वर्य का द्योतक है और इस सम्बोधन का प्रयोग मत्री की पुत्री के लिए भी किया जा सकता है।

सचिव—सचिव (अर्थात् राजमत्री—अभिनवगुप्त) के लिए भरत तथा अधिकतर भरत-परवर्ती लेखको ने ब्राह्मणो द्वारा 'अमात्य' तथा 'सचिव' का और अन्य पात्रो तथा हीनपात्रो द्वारा 'आर्य' का निर्देश किया है।[25] पर शारदातनय ने (भा० प्र०, पृ० २७७, प० १२) 'भाव' तथा सागर-नन्दी (ना० र०, प० २१९८) ने 'अमात्य' का निर्देश किया है। सर्वेश्वर ने इस अत्यधिक प्रयुक्त 'आर्य' निर्देश के सम्बन्ध मे कहा है कि वणिक, पुरोहित, अमात्य, विट, विप्र, तथा विदूषक को सम्बोधित करने के लिए मध्यम पात्र इस पद 'आर्य' का प्रयोग करते है (सा० सा० ३, ६४-६५)।

राष्ट्रिय तथा सेनापति—'शाकुन्तल' मे 'श्याल' पात्र को प्रस्तुत किया गया है (अक ६)। उसके साथी उसे 'आवुत्त' कहकर सम्बोधित करते है। जैसा कि हम देखेगे, शिङ्गभूपाल (र० सु० ३,३१४) तथा सागरनन्दी (ना० र०, प० २१९५) के अनुसार बहनोई के लिए इस सम्बोधन का प्रयोग किया जाता है। इसके साथ ही 'मृच्छकटिक' मे भी शूद्रक ने 'राजश्याल' शकार का अद्वितीय चित्र खीचा है और वहाँ (अक १ व ८) विट उसे 'काणेलीमात' (काणेली कन्य-कामाता इति देशी प्रकाश। असती काणेली इत्येके—पृथ्वीधर, पृ० २३), चेट उसे 'भट्टके' तथा 'भट्टालके' और चारुदत्त (अक १०) उसे 'राष्ट्रियश्याल' कहकर सम्बोधित करते है। विचित्रता यह है कि इतने सर्वप्रिय नाटको मे इन प्रसिद्ध पात्रो की सत्ता के बावजूद किसी नाटच-शास्त्रकार ने 'राजश्याल' के लिए सम्बोधन-निर्देश निर्धारित नही किये। बल्कि शिङ्गभूपाल (र० सु० ३,३१४) तथा शारदातनय (भा० प्र०, पृ० २७७, प० १२) ने सेनापति के लिए 'स्याल' सम्बोधन का निर्देश दिया है। पर 'शाकुन्तल' मे (अक २, पृ० ६६) हम देखते है कि राजा सेनापति को 'भद्र सेनापते' कहकर सम्बोधित करता है।

विदूषक—विदूषक को सम्बोधित करने के लिए राजा या तो उसका नाम ले सकता है या 'वयस्य' (ना० शा० गा० १७,८२, सा० द० ६, १४६) तथा अन्य ऐसे ही मैत्रीपूर्ण पदो

---

२५. दे० ना० शा० गा० १७, ७१; द० रू० २, ६७; ना० द०, पृ० २१०; र० सु० ३, ३१२; सा० द० ६, १५१।

का (ना० द०, पृ० २१२) प्रयोग करेगा या उसके नाम के पूर्व 'वयस्य' भी जोड सकता है (सा० सा० ४,८२), या केवल 'वयस्क' तथा 'सहचर' कहकर पुकार सकता है (ना० र०, प० २१९९)। 'शाकुन्तल' मे सेनापति उसे 'सखे' से (अक २, पृ० ६५), 'मृच्छकटिक' मे विट (अक १, पृ० २९,३०) व 'मालविकाग्निमित्र' (अक २, पृ० ३०) मे गणदास उसे 'महाब्राह्मण' कहकर और 'विक्रमोर्वशीयम्' (अक २, पृ० २७) मे चेटी उसे 'ब्रह्मबन्धु' कहकर पुकारती है। इस अतिम नाटक के व्याख्याकार रङ्गनाथ ने 'विश्वलोचन' का आधार लेकर 'ब्रह्म बन्धु' को 'दुष्टविप्र' का पर्याय बताया है। और यद्यपि 'शाकुन्तल' तथा 'मालविकाग्निमित्र' मे विदूषक का फिर भी कुछ आदर प्रतीत होता है पर 'मृच्छकटिक' के 'महाब्राह्मण' प्रयोग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पद आक्षेप का द्योतक होने लगा था जैसा कि आजकल हिन्दी भाषा मे इसका व्यगार्थ ही प्रयुक्त होता है।

सूत—राजा रथ चलाने वाले सूत को 'सारथि' अथवा 'सूत' शब्द से ही सम्बोधित करता है (सा० सा० ३,६७-६८), अथवा उसके प्रसग मे 'असौ' सर्वनाम का प्रयोग करेगा (ना० र०, प० २२२९)।

२—वेश्या तथा गणिकामाता इत्यादि के निर्देश

वेश्या—भरत ने कहा है कि वेश्या को (उसके—अभिनवगुप्त) सेवक 'अज्जुका' कहकर सम्बोधित करे (ना० शा० गा० १७,९२)। यद्यपि धनजय ने इसका अनुकरण किया (द० रू० २,७०) तथापि कदाचित् सक्षेप की दृष्टि से यह स्पष्टतया नही कहा कि केवल परिजन ही उसे इस प्रकार सम्बोधित करेगे अथवा सभी पात्र। नाटयदर्पणकार भरत का अनुकरण करते है और 'वेश्या' शब्द की व्याख्या देते हुए कहते है—"वेश्या पण्यस्त्री यौवनवती द्रष्टव्या, वृद्धाया नामान्तर विधानात् परिजनेनाज्जुकेति सेति वेश्या" (ना० द०, पृ० २११) अर्थात् यौवनवती वेश्या को ही उसके सेवक 'अज्जुका' कहते है, क्योकि वृद्धा वेश्या के लिए सम्बोधन-निर्देश पृथक् है। 'अज्जुका' शब्द को प्रस्तावित 'आर्यका' के स्थान पर 'अर्जुका' का प्राकृत रूप मानना अधिक सगत प्रतीत होता है।[२६] इस निर्देश के विषय मे शारदातनय (भा०, प्र०, पृ० २७१, प० १९-२०) तथा सर्वेश्वर (सा० सा० ३,७५-७६) का विधान समान शब्दो मे है—

भर्तृमाताङ्गनाभिर्वा चेटीभिर्गणिकाथवा।
वार्तासु सर्वदा कायमज्जुकेति निगद्यते॥

इसमे प्रथम पाद का अर्थ अस्पष्ट है। यहाँ यदि यह अर्थ लगाया जाय कि भरण करने वाले पुरुष की माता (?) अन्य स्त्रियो तथा चेटी इत्यादि के द्वारा प्रत्यक्ष तथा तद्विषयक बातचीत मे वेश्या को 'अज्जुका' कहकर सम्बोधित किया जाता है तो 'अज्जुका' शब्द के प्रयोग मे कुछ विकास हुआ प्रतीत होता है। शिङ्गभूपाल ने इस सम्बोधन को पूज्यनिर्देश के अन्तर्गत लिया है जिससे यह ज्ञात

---

२६. दे० घोषकृत 'नाटयशास्त्र' का अनुवाद, कलकत्ता १९५१, अध्याय १९, २८ पर पादटिप्पणी २, पृ० ३४४। तुलना करो, भानुजी दीक्षित—अमरकोश की व्याख्या-सुधा में—"अर्ज अर्जने भ्वादिगण 'प' से बाहुलकादुकण"।

होता है कि निश्चय ही नीचपात्र अथवा परिचायक इत्यादि (अपनी पूज्या) वेश्या को 'अज्जुका' कहकर सम्बोधित करे (र० सु० ३, ३०९)। भरत के इस सर्वमान्य विधान के साथ-साथ सागरनन्दी ने कहा है कि नागर वेश्या को 'वासू' कहकर सम्बोन्धित करेगा (ना० र०, प० २२२७-२२२८)। इस सम्बोधन का एकमात्र उदाहरण हमे 'मृच्छकटिक' (अक १ पृ० २७) मे मिलता है जहाँ शकार अन्धकार मे वसन्तसेना समझकर रदनिका को पकड लेता है और उसे 'एशाशि वाशू' (स० एषासि वासू) बताता है।

गणिका माता—केवल भरत (ना० शा० गा० १७, ९३), रामचन्द्र व गुणचन्द्र (ना० द०, पृ० २११) तथा सर्वेश्वर (सा० सा० ३, ७३) ने वृद्धा वेश्या अथवा गणिका माता के लिए सेवको द्वारा प्रयुक्त 'अत्ता' सम्बोधन का निर्देश दिया है। दूसरी ओर धनजय (द० रु० २, ७१) ने कुटनी के लिए जो 'अम्बा' का निर्देश दिया है उसे जैसा का तैसा विश्वनाथ (सा० द० ६, १५६) ने भी दिया है। 'मृच्छकटिक' (अक ४ श्लोक ३०) मे गणिका माता का उल्लेख 'अत्तिआ' द्वारा हुआ है। तत्पश्चात् (अक ९) वसतसेना की माता की स्वय उपस्थित हुई है। प्रकाशित सस्करण के अनुसार वह शोधनक (पृ० २०७), व श्रेष्ठी तथा कायस्थ द्वारा (पृ० २२२) 'अज्जा' (आर्या), अधिकरणिक द्वारा 'भद्रे' (वही, पृ० २०७), शकार द्वारा 'बुड्ढ-कुट्टणि' (वृद्धकुट्टनि—वही, पृ० २०८ व २२२) और चारुदत्त द्वारा 'आर्ये' (पृ० २१२) और 'अत्रभवती' (पृ० २२३) से सम्बोधित की गयी है। 'देशीनाममाला' (१, ५१) मे अत्ता के चार अर्थो मे से 'माता' भी है।

विविध—यह स्पष्ट नही कि सर्वेश्वर (सा० सा० ३, ७३) ने गणिका के प्रिय व्यक्ति के लिए 'आवुत्त' सम्बोधन किस आधार पर निर्दिष्ट किया। यह सम्बोधन तो 'बहनोई' के लिए निर्धारित और 'शाकुन्तल' मे राजश्याल के लिए प्रयुक्त हुआ है।

३—स्त्रियो के परस्पर निर्देश

भरत के अनुसार समान वय की सखियाँ आपस मे 'हला' सम्बोधन का प्रयोग करती है (ना० शा० गा० १७, ९१)। धनजय ने इसको अधिक व्यापक बना दिया और कहा कि सभी समान स्त्रियाँ आपस मे 'हला' कह सकती है (द० रू० २, ७०)। पुण्डरीक ने यहाँ पर 'नाट्यशास्त्र' का अनुकरण किया, 'दशरूपक' का नही। रामचन्द्र व गुणचन्द्र ने 'समानता' की व्याख्या करते हुए कहा कि वह कुलीनता शील, वय तथा अवस्था पर निर्भर है (ना० द०, पृ० २११)। शिङ्ग-भूपाल ने सखियो के लिए 'हला' तथा 'सखि' दोनो ही सम्बोधनो को स्वीकार किया (र० सु० ३, ३१८)। सर्वेश्वर के अनुसार नाटक मे नायिकाएँ चेटी को और कही-कही गणिका भी राजकुमारी को 'हला' कहकर सम्बोधित करती है (सा० सा० ३, ३३), पर रूप, सम्पत्ति, शील इत्यादि गुणो मे समान नारी अन्य नारी को 'सखि' कहती है (वही, ३,३५)। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भरत द्वारा निर्धारित पात्रो के लिए इन्होने 'हला' नही बल्कि 'सखि' का निर्देश किया है। सागरनन्दी के अनुसार महादेवी अपनी सहेली को 'हला' कहकर सम्बोधित करती है (ना० र०, प० २२३२)। जहाँ तक नाटको का सम्बन्ध है, 'शाकुन्तल' (अक १, पृ० २६) मे अनसूया

ने शकुन्तला को 'हला' कहकर सम्बोधित किया है और व्याख्याकार राघवभट्ट ने भरत के नियम को उद्धृत किया है। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीयम्' (अक १, पृ० १३) मे सहजन्या ने मेनका को 'हला' और इसने उसे 'सखि' कहकर सम्बोधित किया है। पर रगनाथ द्वारा सागरनन्दी के नियम का उद्धरण अस्थानिक और अशुद्ध है—अस्थानिक इसलिए कि यह महादेवी द्वारा चेटी को 'हञ्जे' सम्बोधित करने के विषय मे है और अशुद्ध इसलिए कि वह 'नाटकलक्षण रत्नकोश' मे उपलब्ध नही।[२७] व्यवहार की दृष्टि से नाटको मे प्रयुक्त 'हला' तथा 'सखि' सम्बोधनो मे कोई भेद नही, क्योकि प्रकाशित सस्करणो मे 'हला' तथा 'सखि' साथ-साथ प्रयुक्त हुए है और कही-कही प्राकृत मूल मे 'हला' और छाया मे 'सखि' का अन्त परिवर्तन मिलता है। 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' (अध्याय ८, पूना १९५८) मे 'हला' का प्रयोग सखि के आमत्रण मे दिया है (२, १९५)।

सम्बोधन-निर्देश 'हञ्जे' के प्रयोग मे कुछ विकास प्रतीत होता है, भरत के अनुसार यह सम्बोधन-निर्देश 'उत्तमा प्रेष्या' अर्थात् दूती के लिए प्रयुक्त होता है (ना० शा०, गा० १७-९२)। धनजय ने केवल 'प्रेष्या' के लिए इसका प्रयोग बताया (द० रू० २,७०) और विश्वनाथ ने इनका शब्दश अनुकरण किया है (सा० द० ६, १५५)। पर रामचन्द्र व गुणचन्द्र के अनुसार 'अनुत्तमा' अर्थात् उत्तमा से भिन्न नारी तथा प्रेष्या के लिए 'हञ्जे' का प्रयोग होना चाहिए (ना० द० ४, २०१)। सागरनन्दी ने कहा है कि महादेवी अपनी चेटी को 'हञ्जे' कहकर सम्बोधित करती है (प० २२३२)। शिङ्गभूपाल ने 'हञ्जे' को अतिनीच पात्रो के लिए सीमित कर दिया (र० सु० ३, ३२१)। पर सर्वेश्वर के अनुसार 'हञ्जे' का प्रयोग गणिका तथा अन्य स्त्रियो द्वारा परिचारिका के लिए होता है। 'विक्रमोर्वशीयम्' (अक २, पृ० ५३) मे जब औशीनरी चेटी को 'हञ्जे निपुणिके' कहती है तो रगनाथ ने बताया है कि 'हञ्जे' चेटी के लिए प्रयुक्त होता है। 'मृच्छकटिक' (अक २ पृ० ४२) मे वसतसेना के चेटी को इस निर्देश से सम्बोधित करने पर पृथ्वीधर कहते है 'हञ्जे नीचे' अर्थात् नीचपात्र के सम्बोधन करने मे 'हञ्जे' का प्रयोग होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि नाटचशास्त्रो के मतानुसार भरत के मौलिक विधान मे क्रमश 'प्रयोग-सकोच' होता गया। यह इस बात से भी स्पष्ट हे कि 'नाटचशास्त्र' के अनुसार तो विदूषक चेटी को भी 'भवती' निर्देश से सम्बोधित करता था। (ना० शा० गा० १७,८२)। 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' (वही ४,२८१) मे भी इस 'हञ्जे' का प्रयोग चेटी के आह्वान के लिए दिया है और इसे शौरसेनी का शब्द बताया है।

§घ अन्य पात्रों से सम्बन्धित निर्देश

१—कुटुम्ब के सदस्यों के निर्देश—रूपको की दृष्टि से पति-पत्नी-सम्बन्ध प्रमुख है और नाटचशास्त्रकारो ने यही स्वीकार किया है कि पत्नी पति को 'आर्यपुत्र' और पति उसे 'आर्या' कहकर सम्बोधित करे। 'नाटचशास्त्र' (गा० १७,८३) मे बताया गया है कि पति के लिए

---

२७. तुलना कीजिए—विक्रमोर्वशीयम्, पृ० १४ तथा नाटकलक्षणरत्नकोश, पं० २२३१-२२३३।

'आर्यपुत्र' का सम्बोधन यौवनावस्था मे ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए अन्यथा केवल 'आर्य' ही उसका सम्बोधन है। अभिनवगुप्त ने न जाने किस आधार पर इसका अपवाद बताया है कि यौवन के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओ मे केवल श्वशुर ही 'आर्यपुत्र' कहकर अपने जामाता को सम्बोधित करता है (ना० शा० गा० १७, ८३ पर नाटचवेदविवृति, पृ० ३८१)। पति के लिए 'आर्यपुत्र' का प्रयोग सभी नाटको मे विद्यमान है। इसकी पुष्टि रगनाथ (मालविकाग्निमित्रम्, अक २, पृ० ५५) ने भी सागरनन्दी के उद्धरण से की है, जिसके अनुसार नारी अपने पति को 'आर्यपुत्र', 'जीवितेश' अथवा 'नाथ' कहकर सम्बोधित करती है—अतिम दोनो निर्देशो के प्रयोग उपलब्ध नही के बराबर ही है। 'अनर्घराघव' (अक ७, पृ० ३१९) मे रुचिपति ने और 'उत्तर-रामचरित' मे वीरराघव ने भी 'आर्यपुत्र' के प्रयोग का उल्लेख किया है, यद्यपि एक स्थान पर (अक १, पृ० ३५) 'उत्तररामचरित' मे सीता ने राम को 'प्रियवद' कहकर भी सम्बोधित किया है।

'नाटचशास्त्र' के अनुसार ही (ना० शा० गा० १७,९१) पत्नी को 'आर्या' अथवा पितृनाम या पुत्रनाम लेकर बुलाया जा सकता है। श्रृगार की परिस्थिति मे उसके लिए 'प्रिये' प्रयुक्त होना चाहिए (वही १७, ९३)। प्रथम विधान के उदाहरण अभिनवगुप्त ने क्रमश माठरपुत्री, व सोमशर्मजननी दिये है (वही, पृ० ३८३)। 'नाटचदर्पण' (पृ० २१०, २११) मे भरत के नियम तथा अभिनवगुप्त के उदाहरण प्रस्तुत किये गये है। शिङ्गभूपाल ने भी भरत का अनुसरण किया है। (र० सु० ३, ३१६) सर्वेश्वर के अनुसार 'विद्याधरी' का प्रेमी उसे 'सौदामिनी' कहकर सम्बोधित करेगा (सा० सा० ३, ७१)। सागरनन्दी के अनुसार पति अपनी पत्नी को 'देवि' या 'दयिते' कहकर सम्बोधित करता है (ना० र०, प० २२५४-२२५५)।

केवल सागरनन्दी व शिङ्गभूपाल ने पिता के लिए सम्बोधन-निर्देश दिये है। इस सम्बन्ध मे 'आवुक' तथा 'तात' का प्रयोग किया जा सकता है (ना० र०, प० २१९५)। कदाचित् इस-लिए अन्य लेखको ने इनका उल्लेख नही किया कि पूज्य निर्देश के अन्तर्गत तो 'तात' का विधान किया ही गया है। 'मृच्छकटिक' मे हम देखते है कि रोहसेन बराबर 'आवुक' का प्रयोग करता है और इसकी सस्कृत छाया 'पितृ' (पिता) शब्द के रूपो से की गयी है। सम्भव है कि 'हला' तथा 'हञ्जे' शब्दो के समान 'आवुक' का प्रयोग भी स्वीकार्य हो गया और 'अमरकोश' तथा उपर्युक्त ग्रथो मे इसको मान्यता प्रदान की गयी। शिङ्गभूपाल के अनुसार पिता को 'तातपाद' भी कहकर सम्बोधित किया जाता है (र० सु० ३,३१७)। यह केवल आदरसूचक प्रयोग है जैसे 'मुद्राराक्षस' (अ० ६ पृ० १५२) मे राक्षस की बात करते हुए चाणक्य 'अमात्यपाद' कहता है और हिन्दी मे 'पूज्यपाद' का प्रयोग किया जाता है।

भरत ने माँ के लिए सम्बोधन-निर्देश नही किया, और धनजय तथा उनका अनुकरण करते हुए विश्वनाथ ने पूज्या नारियो के लिए 'अम्बा' शब्द का विधान किया है (द० रू० २२, ७१ तथा सा० द० ६,१५६)। सागरनन्दी ने कहा है कि माता के लिए 'अम्बा' का प्रयोग किया जाना चाहिए (ना० र० प० २१९६)। शिङ्गभूपाल भी इसी मत के है (र० सु० ३,३१७)। 'नाटचदर्पण' मे 'अम्बा' के साथ 'आर्या' सम्बोधन का भी विधान है (ना० द०, पृ० २१०)। देशी-कोश के आधार पर राघवभट्ट ने (शाकुन्तल, पृ० २५५) माता के लिए 'अज्ज', 'अज्जू' का

प्रयोग बताया है। सागरनन्दी ने 'अज्जुका' का प्रयोग 'सास' के लिए दिया है (ना० र०, प०-२१९६), यद्यपि इसका प्रयोग प्राय वेश्या के लिए स्वीकृत है, और स्वय इन्होने भी माना है (वही, प० २२२७-२२२८)।

पुत्र का सम्बोधन 'वत्स', 'तात', 'पुत्रक' या उसका नाम लेकर अथवा गोत्रनाम से हो सकता है (ना० शा० गा० १७,७८), पर धनजय ने उसके लिए 'वत्स', 'तात' व 'आयुष्मान्' का विधान किया है (द० रू० २,६८)। 'नाटचदर्पण' मे 'पुत्रक' का लोप है (ना० द० ४,२०४) यद्यपि 'शाकुन्तल' मे दुष्यन्त भरत को 'पुत्रक' कहकर सम्बोधित करते है (अक ७, पृ० २५७)। सर्वेश्वर ने (सा० सा० ३,६६–६७) केवल 'वत्स' का प्रयोग बताया है, यद्यपि माता उसे 'जात' निर्देश से भी सम्बोधित करती है (वही ३,७४)। यही विधान 'भावप्रकाशन' (पृ० २७१, प० १५) मे भी है। शिङ्गभूपाल ने सामान्य नियम ही दे दिया कि पुत्र तथा सब छोटे व्यक्तियो को 'वत्स', 'पुत्रक', 'दीर्घायु', 'तात', 'जात' इत्यादि कहकर सम्बोधित किया जाता है (र० सु० ३, ३१९)। विश्वनाथ ने भरत का अनुकरण किया है (सा० द० ६,१५०-१५१)।

छोटे भाई बडे भाई को 'आर्य' कहकर सम्बोधित करते है[३२] और उसकी पत्नी को 'आर्या' कहकर बुलाते है (ना० र०, प० २१९७)। बडे भाई छोटे भाई को उसी प्रकार बुलायेंगे जैसे बेटे को।

बडी बहन को 'स्वसा' और छोटी को 'वत्सा' कहकर सम्बोधित करते है (ना० शा० गा० १७, ९०)। सागरनन्दी तथा शिङ्गभूपाल के अनुसार भगिनीपति के लिए 'आवुत्त' निर्दिष्ट है (ना० र०, पं० २१९५, र० सु० ३, ३१४)। पर इन दोनो लेखको ने बहिन के लिए कोई निर्देश नही दिया। बहिन की लडकी के लिए सागरनन्दी ने 'अन्तिका' (ना० र०, प० २१९६ और गोद ली लडकी के लिए 'कृत्रिमा' सम्बोधन-निर्देश दिये है (वही, प० २१९४)। अन्य सभी सम्बन्धियो के लिए शिङ्गभूपाल ने 'आर्य' का विधान किया है (र० सु० ३, ३१७)।

२—भगवन् व भगवती निर्देश का अधिकारी पात्र—भरत ने कहा है कि जो देवताओ के भी 'देवता' (अर्थात् 'स्तुत्य'—अभिनवगुप्त) है, महात्मा व महर्षि है, देवता व सम्प्रदायिक मतावलम्बी, अथवा अनेक श्रुतियो के ज्ञाता है उनको नर वा नारी सभी 'भगवान्' कहकर सम्बोधित करे (ना० रा० गा० १७-६७-६८)। पुण्डरीक ने भरत की वाणियो का केवल साराश दे दिया है (ना० ल०, पत्रा १०)। धनजय ने विद्वान्, देवर्षि और तपस्वी पात्रो के लिए इस निर्देष को केवल उत्तमपात्रो द्वारा प्रयोजनीय कहा है (द० रू० २,६७)। शारदातनय व शिङ्गभूपाल ने 'भगवन्' निर्देश को देवताओ तथा मुनियो तक ही सीमित रखा और इनमे से पहले लेखक ने विद्वानो के लिए 'आर्य' निर्देश का और दूसरे ने 'भाव' का प्रयोग निर्धारित किया (भा० प्र०, पृ० २७७, प० ९, र० सु० ३, ३०९)। 'अमरकोश' (१, ७,१२) मे भी इस प्रसंग मे 'भाव' का प्रयोग किया गया है। सर्वेश्वर ने, कदाचित् ज्ञात नाटको के आधार पर, धनजय के नियम का ही विकास किया और कहा कि रगमच पर उपस्थित पात्रो द्वारा किसी ऐसे वर्ग विशेष के पात्र को, जो सारे 'आश्रमो' मे से होकर आया हो, अथवा इनके वेष मे हो तो उसे भी 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करना चाहिए (सा० सा० ३,५०)। भरत के

'नाटचशास्त्र' के निर्देशो का विश्वनाथ ने भी अनुकरण किया (सा० द० ६,१४९), पर इन सब के प्रतिकूल, सागरनन्दी का कथन यह है कि राजा ब्राह्मणो को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करे (ना० र०, प० २२५९)।

साथ ही भरत ने स्वय तपस्विनियो व देवियो के लिए 'भगवती' निर्देश का विधान किया है (ना० शा० गा० १७, ८६), और इससे पहले जिन पात्रो के लिए 'भगवन्' का विधान किया था (वही, १७,६७) वहाँ उनकी पत्नियो के लिए भी 'भगवती' का ही प्रयोग होता है (अभिनवगुप्त)। इस नियम का अनुकरण धनजय ने किया (द० रू० २,७०)। 'नाटचदर्पण' मे बताया है कि सरस्वती जैसी देवियाँ या किसी विशेष व्रत को पालन करने वाली व सुपूज्य और अत्यधिक विदुषी नारियाँ 'भगवती' निर्देश की अधिकारिणी है (पृ० २११)। पर भरत ने तो साम्प्रदायिक मतावलम्बी नारी और व्रतिनी के लिए 'आर्या' का प्रयोग निर्धारित किया है (ना० शा० गा० १७,९०)। जिस प्रकार वर्ण विशेष के आश्रमागत पुरुषमात्र के लिए 'भगवन्' उसी प्रकार तदनुरूप स्त्रीपात्र के लिए सर्वेश्वर ने 'भगवती' का प्रयोग निर्धारित किया है (सा० सा० ३,७०)। पर नाटको मे 'भगवती' का प्रयोग उपलब्ध नही। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे काश्यपमुनि को उनके शिष्य (अक ४, पृ० १३८) और मारीच को दुष्यत (अक ७, पृ० २६७) 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करते है। इसकी पुष्टि मे व्याख्याकार ने 'नाटचशास्त्र' के नियम का उल्लेख किया है। 'मालतीमाधव' मे माधव मेघ को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करता है (अक ९, पृ० २१४) और इस अनियमितता का आभास होने पर जगद्धर ने अपनी व्याख्या (पृ० १०९) मे कहा है कि ऐसा विशेष दु ख के कारण है, क्योकि माधव ने मेघ को देवता तुल्य माना है। 'महावीरचरित' मे विश्वामित्र का सम्बोधन प्राय 'भगवन्' से हुआ है और दो स्थानो पर (पृ० २८ व १४१) वीरराघव ने एक ही कारिका के द्वारा स्पष्ट किया है कि इस सम्बोधन के अधिकारी पात्र वे ही है जो प्राणियो की उत्पत्ति या नाश को, उनके उत्थान व पतन को तथा विद्या व अविद्या को जानते है। वस्तुत विश्वामित्र की गणना 'नाटचशास्त्र' के महर्षियो मे है। यद्यपि 'अनर्घराघव' के प्रारम्भिक दृश्य (पृ० ३५) मे भी वामदेव ने विश्वामित्र को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित किया है, किन्तु व्याख्याकार रुचिपति ने एक ऐसे नियम का उद्धरण किया है जो अप्रासगिक है और इसे भरत द्वारा प्रतिपादित बताया है। वस्तुत पाठभेद के साथ यह नियम 'नाटकलक्षणरत्नकोश' मे प्राप्त है जिसके अनुसार राजा ब्राह्मणो को 'भगवन्' कहकर सम्बोधित करता है।

३—(क) **ब्राह्मणनिर्देश**—प्राय सभी लेखको[२८] ने यह विधान किया है कि ब्राह्मण को 'आर्य' कहकर सम्बोधित करना चाहिए। सर्वेश्वर ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ब्राह्मण के नाम के साथ 'हे शर्मन्' भी लगाया जा सकता है, पर तब ही जब कि वह व्यक्ति विद्या व विनय से युक्त हो। सर्वेश्वर के अनुसार केवल मध्यमपात्र ही उसे 'आर्य' कहते हैं

---

२८. दे० ना० शा० गा० १७, ६९; द० रू० २, ६७; ना० द० पृ० २१०; ना० ल० पत्रा १०—"आर्या विप्राप्रजामात्याः"; भा० प्र० पृ० २७७ पं० ९; र० सु० ३, ३०८; सा० स० ३, ५४-५५।

(सा० सा० ३,५४-५५ व ६४-६५)। सागरनन्दी के अनुसार केवल राजा ही ब्राह्मण को इस प्रकार सम्बोधित करता है (ना० र०, प० २२५८)। विश्वनाथ का मत है कि ब्राह्मणपात्र अन्य ब्राह्मण को या तो उसके नाम से या अपत्यार्थक प्रत्यय का प्रयोग करके, पर अन्य सभी पात्र उसे 'आर्य' से ही सम्बोन्धित करे (सा० द० ६,१४६)। सर्वेश्वर ने साथ मे पुरोहित के लिए भी 'आर्य' निर्देश का विधान किया है (वही)। पर शार्ङ्गरव ने 'शाकुन्तल' (अक ५, पृ० १६७) मे पुरोहित को 'महाब्राह्मण' कहकर सम्बोधित किया है और इसको राघवभट्ट अनुचित नही बताते। पर जैसा हम ऊपर देख चुके है, 'मृच्छकटिक' मे यह निर्देश विदूषक के लिए प्रयुक्त हुआ है। इससे यह प्रतीत होता है कि कालिदास ने इस निर्देश का आदरार्थ प्रयोग किया है, व्यग्य मे नही। रगनाथ ने उन सामान्य गुणो का उल्लेख किया है जिससे कोई व्यक्ति 'आर्य' निर्देश का अधिकारी हो, पर एतदर्थ जो कारिका उन्होने भरत सम्मत बतायी है वह 'नाटयशास्त्र' मे उपलब्ध नही। उनका कथन है कि केवल उन्ही व्यक्तियो को 'आर्य' कहा जा सकता है जो 'कुल', 'शील', 'दया', 'दान', 'धर्म', 'सत्य', 'कृतज्ञता' तथा 'अद्रोह' से युक्त हो (विक्रमोर्वशीयम्, पृ० ८)।

'नाटयशास्त्र' (ना० शा० गा० १७,९०) तथा 'नाटयदर्पण' (पृ० २१०) मे बताया गया है कि 'ब्राह्मणी' को 'आर्या' कह करके सम्बोधित करना चाहिए और पुरोहित तथा सार्थवाहो की पत्नियाँ भी सदा ही 'आर्या' से सम्बोधित होती है (ना० शा० गा० १७,९४)। पर नाटयदर्पणकारो ने इसका अभिप्राय अभिनवगुप्त के कथनानुसार एक तो यह निकाला कि पुरोहित अपनी पत्नी को सदा (यौवनेऽपि) 'आर्या' कहकर बुलायेगा और अन्य पात्र भी उसे 'आर्या' ही कहेगे (ना० द०, पृ० २१०)।

३—(ख) गुरु-शिष्य निर्देश—भरत के अनुसार 'आचार्य' को 'उपाध्याय' कहकर सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० गा० १७,६९)। धनजय वा नाट्यदर्पणकारो ने गुरु के लिए पृथक् निर्देश नही दिये है, कदाचित् उनके अनुसार गुरु के लिए भी वे ही निर्देश प्रयुक्त किये जा सकते है जो 'पूज्य' या 'वृद्ध' अथवा 'विद्वान्' के लिये है। शारदातनय भी इस विषय मे मौन है, उन्होने सामान्यतया यही कहा है कि 'विद्वानो, ब्राह्मणो तथा 'गुरुजनो' को 'आर्य' कहकर सम्बोधित करना चाहिए (भा० प्र०, पृ० २७७ पं० ९)। शिङ्गभूपाल तथा विश्वनाथ ने भरत का अनुकरण किया है (र० सु० ३,३०९, सा० द० ६,१५३)। 'मुद्राराक्षस' (अक १, पृ० २०) मे शिष्य चाणक्य को 'उपाध्याय' कहकर ही सम्बोधित करता है। वैसे तो 'नाटयशास्त्र' (गा० १७,८६) मे 'गुरु-भार्या' के लिए 'भवती' शब्द का प्रयोग विहित है पर यदि अभिनवगुप्त की व्याख्या को माना जाय तो यहाँ पर गुरुपत्नी नही, कोई भी मान्य नारी अभिप्रेत हो सकती है। गुरु की पत्नी के आदरणीय स्थान को देखते हुए यहाँ पर वह भी 'भवती' निर्देश की अधिकारिणी है, ऐसी कल्पना की जा सकती है।

'नाटयशास्त्र' (१७,७८) के अनुसार पिता पुत्र को और गुरु शिष्य को 'वत्स', 'तात', 'पुत्रक' अथवा उसका नाम लेकर या गोत्रनाम का प्रयोग करके सम्बोधित करता है। धनजय के अनुसार पूज्यजन अर्थात् गुरु इत्यादि शिष्य को 'आयुष्मान्', 'वत्स' व 'तात' कहकर सम्बोधित

करते है और पुण्डरीक के अनुसार केवल 'वत्स' व 'तात' ही कहकर (द० रु० २६८, ना० ल० पन्ना १०)। यद्यपि 'नाट्यदर्पण' मे 'दीक्षित' तथा 'अध्यापित' शिष्यो का उल्लेख तो किया है, पर सम्बोधन की दृष्टि से उन दोनो के लिए 'पुत्र', 'वत्स' अथवा 'तात' निर्देश का प्रयोग होता है (ना०, द०, पृ० २१२)। सर्वेश्वर के अनुसार उपाध्याय तीनो वर्णो के शिष्यो को केवल 'वत्स' से सम्बोधित करता है (सा० सा० ३,६६–६७), पर शिङ्गभूपाल ने 'नाटचशास्त्र' व 'दशरूपक' के विधान के आधार पर शिष्य के लिए पुत्र के समान, 'वत्स', 'पुत्रक', 'दीर्घायु', 'तात', तथा 'जात' का प्रयोग दिया है (र० सु० ३,३१९)। शारदातनय (भा० प्र०, पृ० २७७, प० १५–१६) तथा विश्वनाथ (सा० द० ६,१५०-१५१) ने भरत का अनुकरण किया है। इसके परिणामस्वरूप हमे ज्ञात होता है कि सभी लेखको का मतव्य यही है कि उपाध्याय व शिष्य का सम्बन्ध पिता व पुत्र का सा है।

३–(ग) पूज्य-पुरुष—भरत ने कहा है कि प्रशात अर्थात् वीतराग व्यक्ति अथवा तपस्वी को 'साधो' कह कर सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० गा० १७, ७५)। यद्यपि परवर्ती लेखको मे से शिङ्गभूपाल (र० सु० ३, ३१३) व विश्वनाथ (सा० द० ६, १५२) ने इस नियम का पालन किया है, पर किसी भी नाटक मे 'साधो' सम्बोधन रूप मे प्राप्त नही होता। 'नाटचशास्त्र' (गा० १७, ६९) के अनुसार वृद्ध पुरुष को 'तात' कहना चाहिए और प्राय सभी लेखक इससे सहमत हे।[२९] पर धनजय ने 'तात' के साथ-साथ 'सुगृहीताभिध' का विधान भी किया है (द० रू० २, ६८)। इस नियम की व्याख्या विश्वनाथ ने की है—जो व्यक्ति अर्थात् शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाई गुरुजनो द्वारा उपरि निर्दिष्ट सम्बोधनो के अधिकारी हे वे ही पूज्यजनो को इन दोनो निर्देशो से सम्बोधित करते है। 'मुद्राराक्षस' (अक १, पृ० २७) मे चाणक्य का शिष्य अपने गुरु के नाम के पूर्व 'सुगृहीतनाम 'शब्द का प्रयोग करता है जिसकी व्याख्या मे ढुण्ढिराज ने कहा है—"स सुगृहीतनामा स्यात्प्रातर्य स्मर्यते जनै", अर्थात् वह व्यक्ति जिसका लोग प्रात काल ही स्मरण करे 'सुगृहीतनामा' होगा। इसी आशय की व्याख्या वीरराघव ने (महावीरचरितम्, पृ० ८) दी है—"स सुगृहीतनामा स्याद्य प्रात सुखद स्मृत", अर्थात् जिस व्यक्ति का प्रात स्मरण सुखकर हो वही सुगृहीतनाम होगा। सेटपीटर्सबर्ग-कोश मे त्रिकाण्डशेष के आधार पर वीरराघव द्वारा दिया अर्थ ही पुष्ट होता है, पर सिल्वे लेवि का यह प्रस्ताव कि यहाँ पर 'प्रात' के स्थान पर 'प्रेत' (अर्थात् 'दिवगत व्यक्ति') पाठ अधिक ठीक रहेगा, माननीय नही[३०] क्योकि जैसा कि हमने देखा, नाटक के कथोपकथन मे 'सुगृहीताभिध' का विधान प्रेतात्मा के लिए नही हुआ है।

सर्वेश्वर के अनुसार नाटक मे उस मुनि को सभी अन्य पात्र 'कुलपति' कह कर सम्बोधित करेंगे जो सब विद्याओ मे प्रवीण हो और आश्रम मे सर्वोच्च पद पर आरूढ हो (सा० सा० ३, ७०)। पर कापालिक के लिए ही 'गुरु' पद का प्रयोग होता है, आचार्य के लिए नही (वही ३७३)।

३–(घ) पूज्यनारी—'नाटचशास्त्र' के अनुसार 'स्थानीया' (अर्थात् ईषद् वृद्धा पूज्या, कुछ

---

२९. दे० ना० द०, पृ० २१२; ना० ल०, पं० १०; र० सु० ३, ३०८; सा० द० ६, १५०

३०. दे० इं० ऐं० ३३, पृ० १६३। (उपर्युक्त पादटिप्पणी २३)।

कम वृद्ध पूज्य नारी—अभिनव गुप्त) का सम्बोधन 'भवती' है (ना० शा० गा० १७, ८६) पर वृद्धा को 'अम्बा' कह कर बुलाते है (वही, १७, ८७)। धनजय ने 'नाटचशास्त्र' के इस विधान को स्वीकार किया है (द० रू० २, ७१)। पर 'नाटचदर्पण' (पृ० २१०) मे थोडी वृद्ध पूज्या नारी के लिए 'भवती' तथा 'आर्या' दोनो का निर्देश किया है और वृद्धा के लिए 'अम्बा' तथा 'आर्या' का (वही)। 'नाटकलक्षण' तथा 'साहित्यदर्पण' (६, १५६) ने भरत का अनुकरण किया है।

ब्राह्मणी के समान व्रत धारण करने वाली तथा साम्प्रदायिक मतावलाम्बिनी नारी का भी सम्बोधन 'आर्या' है। भरत के इस निर्देश (ना० शा० ग० १७,९०) का अनुकरण 'नाटचदर्पण' मे भी हुआ है (ना० द०, पृ० २१०)।

§ ङ—विविध पात्रो के सम्बोधन-निर्देश

नाटचशास्त्रकारो ने बौद्ध तथा जैन भिक्षुओ मे क्षपणको के लिए 'भदन्त' सम्बोधन का निर्देश किया है।[३१] उल्लेखनीय बात यह है कि धनजय, जिन्होने भरत के 'नाटचशास्त्र' का सक्षेप करने का दावा किया, और विश्वनाथ, जिन्होने नाटच सम्बन्धी परिच्छेद मे प्राय भरत की कारिकाओ को उद्धृत किया है, इन दोनो ने ही इस विषय मे कुछ नही कहा। हम देखते है कि 'मुद्राराक्षस' (अक ४, पृ० १११) मे राक्षस और (अक ५, पृ० ११६) सिद्धार्थक क्षपणक को 'भदन्त' कह कर ही सम्बोधित करते है, पर 'मृच्छकटिक' (अक ८, पृ० १६४, १६५) मे जब चारुदत्त का 'सवाहक' भिक्षु बन जाता है तो शकार उसे 'दुट्टशपणका' (स० दुष्टक्षपणक) अथवा केवल 'शपणका' (स० क्षपणक) कह कर सम्बोधित करता है। यह स्पष्ट है कि वह बौद्ध भिक्षु है, क्योकि 'मृच्छकटिक' मे वह 'नमो बुद्धश्श' (स० नमो बुद्धाय) कहता है।

अन्य धर्मावलम्बियो को उनके विशिष्ट धर्मानुसार सम्बोधित करना चाहिए (ना० शा० गा० १७, ७९)। पुण्डरीक (ना० ल०, पत्रा १०) व विश्वनाथ (सा० द० ६, १५६) ने भरत की इस कारिका को अपने शब्दो मे प्रस्तुत किया है। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या मे बताया है कि भरत के 'शेषा पाषण्डा' का अभिप्राय पाशुपतादि से है और इनके परम्परागत सम्बोधन-निर्देश निश्चित ही है जैसे पाशुपतो का सम्बोधन 'भायूणन्' अथवा 'भासर्वज्ञ' इत्यादि से होता है। नाटचदर्पणकारो ने अभिनवगुप्त की व्याख्या का ही अनुकरण किया है (ना० द०, पृ० २१२) और समझाया है कि इन लोगो को सम्बोधित करते समय 'भा' का प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त विभिन्न पात्रो के सम्बोधन-निर्देशो का उल्लेख कर देने के बाद भी विषय समाप्त नही हुआ। यदि कोई अन्य पात्र किसी रूपक मे सहयोग दे तो उसके लिए भी भरत ने निर्देश दिये है। 'कारुक' अर्थात् शिल्पकार (जैसे स्तूपकार—अभिनवगुप्त), शिल्पी (जैसे चित्रकार—वही) इत्यादि के लिए उनके कार्य के अनुरूप सम्बोधन होने चाहिए। महाभाष्य (पा० १, १, ४८ पर १, १, ७, पृ० ११८ पूना सस्करण) मे भी 'कारुक' पॉच प्रकार से बताये है। 'उद्योत' मे 'कुलालकर्मार-वर्धाकि-नापित-रजका' की परिगणना की गयी है। इसके अतिरिक्त, भरत ने एक व्यापक

---

३१. दे० ना० शा० गा० १७, ७९; ना० द०, पृ० २१२; भा० प्र०, पृ० २७७ पं० ११; ना० र०, पं० २२६०।

नियम भी दे दिया है कि नाटक इत्यादि मे प्रत्येक व्यक्ति का सम्बोधन उसके कर्म, शिल्प, विद्या व जाति के अनुरूप होना चाहिए (ना० शा० गा० १७, ७७)। इसकी व्याख्या 'नाटयदर्पण' मे विस्तार से दी गयी है और कर्म के अन्तर्गत वाणिज्य, कृषि, पशुपालन, सगीत, नृत्य, वाद्यवादन, चित्र, राजसेवा, शस्त्र-व्यापार इत्यादि दिये गये है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य के अनुसार जैसे 'गान्धिक', 'ताम्बूलिक', 'कृषीवल', 'गोपाल', 'गान्धर्व', 'चित्रकार', 'सेवक' अथवा 'वैद्य' आदि शब्दो से सम्बोधित करना चाहिए (ना० द०, पृ० २१२-२१३)।

सामान्यतया उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्र स्त्रियो को उसी प्रकार सम्बोधित करे जैसे उनके पतियो को करते है (द० रू० २, ७०, सा० द० ६, १५५)।

उपर्युक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भरत ने नाटक व प्रकरण के जो लक्षण बताये और उनके अनुसार विविध पात्रो के सम्बोधन-निर्देशो का जो विवरण दिया, अधिक परवर्ती लेखको ने उसीका अनुकरण किया है। नाटक 'दिव्याश्रयोपेत' था, उसमे राजर्षि के चरित का प्रदर्शन होता था (ना० शा० गा० १८, १०), और उसके अको मे नायक की रानियो, उसके गुरुजन, पुरोहित, अमात्य, सेनापति इत्यादि के वचनो तथा कर्मो के परिणामस्वरूप कथावस्तु का प्रवाह होता था (वही १२, १८), अर्थोपेक्षपको मे विभिन्न पात्रो को प्रस्तुत कर के अप्रदर्शनीय कथावस्तु की सूचना देनी थी, अतएव इन पात्रो की उपस्थिति के कारण आवश्यक था कि उनके सम्बोधन-निर्देश दिये जाते। प्रकरण मे भी इन विविध पात्रो के चरित का प्रदर्शन करना अभीष्ट था (वही, १८, ४८), उसमे वेश्या पर केन्द्रित कथावस्तु की कल्पना की गयी है। इसीलिए भरत ने इन सब पात्रो के कथोपकथन की विधि को स्पष्ट किया। दूसरी ओर, सस्कृत रूपको मे पात्रो के लिए विभिन्न भाषा व विभाषाओ का भी विधान है, इसलिए यह भी आवश्यक था कि उनकी भाषा के अनुसार भी सम्बोधन-निर्देश दिये जाते। उल्लेखनीय यह है कि भरत के 'नाटयशास्त्र' तथा प्रसिद्ध नाटको व रूपको की प्रामाणिकता होने पर भी सागरनन्दी व सर्वेश्वर ने कई ऐसे नवीन सम्बोधन-निर्देश दिये है जिनका आधार या तो अज्ञात नाटयशास्त्र ग्रंथ हैं या वे नाटक आदि जो अभी उपलब्ध नही हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य परवर्ती लेखको ने किन्ही लक्ष्य-ग्रथो का अध्ययन न कर के केवल लक्षण-ग्रन्थो का ही अनुकरण किया है। बल्कि विश्वनाथ ने तो इस विषय मे कोई विशेष परिश्रम ही नही किया, केवल भरत तथा धनजय की कारिकाओ को एकत्र कर दिया, और भरत द्वारा प्रतिपादित कई ऐसे प्रयोग जो प्रचलित नही रहे होगे उनको भी अनुकरण की चिंता से 'साहित्यदर्पण' मे दे दिया। यदि सस्कृत नाटयशास्त्रकारो ने इस विषय का दिङ्मात्र निर्देश किया है तो कदाचित् इसलिए कि प्रमुख प्रयोगो के देने के पश्चात् यह ऐसा विषय है जो नाटककार को विशेषतया बताने की आवश्यकता नही, अधिकतर निर्दिष्ट सम्बोधन स्वाभाविक है। पर यह विषय महत्वपूर्ण अवश्य है क्योकि रूपको मे विविध पात्रो के परस्पर सम्मुख होने पर सम्बोधन-विधि समस्याजनक हो सकती है। उपचार विधि के इस अंग को ओर आकृष्ट हो कर नाटयशास्त्रकारो ने नाटककार का ही नही अपितु 'सामाजिको' अर्थात् प्रेक्षको का भी पथप्रदर्शन किया और सामाजिक सुव्यवस्था तथा सुव्यवहार को रेखाकित किया है।

●

भगीरथ मिश्र

तुलसी का काव्य-दर्शन

काव्यशास्त्र के तीन अग होते है---१ काव्यदर्शन, २ कविशिक्षा और ३ काव्य-शिल्पविधि। गोस्वामी तुलसीदास जी काव्याचार्य के रूप मे हमारे सामने नही आते, अतएव काव्य-शिल्पविधि और कविशिक्षा से सबधित उनके विचार उनके ग्रथो मे नही मिलते। कवि का रूप उनका प्रमुख नही था, अत कवि-शिक्षा सबधी बातो की आशा करना उनसे व्यर्थ है, परन्तु वे जीवन और जगत् के अनुभवो मे काफी गहरे उतरे थे इस कारण से काव्य-दर्शन (poetic philosophy) अथवा काव्यादर्श (concept of poetry) से सबधित उनकी उक्तियाँ, उनका दृष्टिकोण भलीभाँति स्पष्ट करती है। यहाँ विभिन्न कृतियो मे प्राप्त एव उक्तियो मे परिव्याप्त गोस्वामी जी के काव्य-दर्शन सबधी विचारो का अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य के स्वरूप पर प्राप्त उनके विचारो मे उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था। काव्य एक सीमित एव कुछ विद्वानो द्वारा ग्राह्य वस्तु ही नही है वरन् वह सर्वोपयोगी वस्तु है। उनका कथन है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।

कीर्ति अर्थात् यश या सत्कार्यो की ख्याति, भनिति अर्थात् उक्ति या काव्य और ऐश्वर्य अर्थात् सपत्ति वही भली है जिससे लोककल्याण हो, जैसे कि गगा जी जो अनेक प्रकार से सभी का हित करती हैं। यहाँ पर निश्चयत तुलसीदास का मन्तव्य यही है कि किसी कुएँ, झील या ताल के पानी का सीमित उपयोग हे, एकक्षेत्रीय हित ही उससे होता है, परन्तु गगा नदी का जल अनेक प्रकार से सर्वोपयोगी है। यही सत्काव्य की भी विशेषता है। सस्कृत या केवल विद्वद्वर्ग की भाषा मे लिखे काव्य का भी सीमित उपयोग है, अत काव्य को बहुजनोपयोगी बनाने के हेतु उसे लोकभाषा मे लिखना चाहिए। तुलसी ने काव्य को सुरसरि माना है। साधारण नदी नही, जो ग्रीष्म मे सूख जाय, वरन् गगा जी के समान काव्य को होना चाहिए जिसमे प्रवाहित भाव-विचार की धारा युग-युग तक जीवन को सरस बनाती हुई बहती रहे। काव्य किसी क्षुद्र, सामयिक या सीमित भाव या विचार को लेकर महान् नही हो सकता, उसमे चाहे कितना उक्ति-वैचित्र्य हो और चाहे वह किसी भी उत्तम से उत्तम और सुन्दर भाषा मे लिखा गया हो।

असन्दिग्ध रूप से तुलसी वस्तु या वर्ण्य विषय को महत्व देते है, भाषा या शैली आदि को नही। यद्यपि कबीर के समान उन्होने सस्कृत की अपेक्षा भाषा को अधिक या विशिष्ट महत्व

देने की चेष्टा नही की, क्योकि वे उसे देववाणी मानते थे और उसके प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी, परन्तु उन्होने काव्य की किसी विशिष्ट भाषा को कोई महत्व प्रदान नही किया। उन्होने स्पष्ट लिखा है —

का भाषा का सस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच॥

और— हरिहर जस सुर नर गिरहुँ, बरनहि सुकवि समाज।
हाँडी, हाटक घटित चरु, राँधे स्वाद सुनाज॥
स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहि सुजान॥

यहाँ पर तुलसी का दृष्टिकोण स्पष्ट है। भाषा साधन मात्र है और साधन जितना ही सुलभ और सुगम हो उतना ही अच्छा है। उससे साध्य के प्रति अधिक से अधिक ध्यान रहता है। काव्य मे भाषारूप साधन यदि दुरूह या बोझिल हो गया, तो फिर 'हरिभजन के उद्देश्य मे कपास ओटना' ही रह जाता है। ध्यान भाषा की दुरूहता और जटिलता मे उलझ जाता है और वास्तविक उद्देश्य पीछे पड जाता है। यदि कहे कि काव्य के लिए गँवारू भाषा उपयुक्त नही, तो उसका भी उत्तर तुलसीदास जी यह देते है, कि यह वर्ण्य विषय और भाषा के प्रयोग पर निर्भर है। भाषा का कोई दोष नही, जैसा कि ऊपर के दूसरे दोहे से स्पष्ट है।

अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण को तुलसी ने सिद्धान्त रूप मे इस प्रकार रखा है —

सरल कबित कीरति विमल, सुनि आदरहि सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करै बखान॥

यहाँ वर्ण्य विषय या चरित्र की उच्चता का प्रतिपादन है। विषय की उच्चता का वर्णन, सच्चे निर्मल चरित्र वाले व्यक्तियो का चित्रण, सामाजिक हित के लिए महत्व रखता है। यह लोक को उच्च विचार रखने और उच्च जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है। इसे कोई भी स्वीकार नही करेगा कि समाज मे नीच कोटि का जीवन बिताया जाय और दूषित चरित्र का आदर्श ग्रहण किया जाय। इस भावना को लेकर तुलसीदास को एकागी और आदर्शवादी मात्र कहना उचित नही, वरन् इसका निष्कर्ष यही है कि उनका दृष्टिकोण सामाजिक था। सभी कार्यों को वे सामाजिक पृष्ठभूमि मे देखते थे। अत काव्य का वर्ण्य विषय भी उच्च और निर्मल होना चाहिए। ऐसे काव्य का सुजान आदर करेगे और विरोधी भी उसकी प्रशंसा करेगे। परन्तु, निर्मल चरित्र का सरल शैली मे वर्णन करना तो सरल नही। गोस्वामी जी ने लिखा है—"सो न होय बिनु बिमल मति।" अर्थात् इस प्रकार का काव्य बिना निर्मल या स्वच्छ प्रतिभा के नही हो सकता।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि तुलसी तो स्वान्त सुखाय काव्य लिखने वाले व्यक्ति है। अत. उनको सुजानो के आदर की क्या चिन्ता थी? और स्वान्त सुखाय लिखने वाले का सामाजिक दृष्टिकोण से क्या सबध? वास्तव मे तुलसी का 'स्वान्त सुखाय' शब्द व्यगपूर्ण है जिसका तात्पर्य यह है कि बडे-बडे लेखक और कवि उच्च रचना और समाज का नवनिर्माण एवं परिष्कार करने तथा सर्वश्रेष्ठ काव्य लिखने का सकल्प करके लेखनी उठाते है और परिणाम

कुछ नही होता। यदि उसमे कुछ तत्त्व है, तो इस प्रकार के सकल्प द्वारा आत्मप्रचार की कोई आवश्यकता नही, वह रचना अपने आप अपना प्रभाव डालेगी। अत उन्होने इस प्रकार का कोई महान् सकल्प प्रस्तावित नही किया। हॉ, उच्च और निर्मल चरित्र का चित्रण उनका ध्येय अवश्य है जिसे वह पूरा करना चाहते है और जिसका पूरा करना वे सरल नही समझते। परन्तु स्वान्त सुखाय लिखते हुए भी वे सज्जनो और विद्वानो द्वारा अपने कृतित्व के सम्मान की आकाक्षा रखते है। उनकी सभी कवियो से याचना है—

होउ प्रसन्न देउ बरदानू। साधु समाज भनिति सम्मानू॥

इसके अतिरिक्त भी काव्य को वे वैयक्तिक अर्थात् केवल एक व्यक्ति या कवि तक सीमित वस्तु नही मानते वरन् उसके सामाजिक महत्व और प्रचार पर विश्वास रखते है। उनका सिद्धान्त है—

मणि माणिक मुक्ता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तन पाई। लहहि सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेइ सुकबि कबित बुध कहई। उपजहि अनत अनत छबि लहई॥
जो प्रबध बुध नहि आदरही। सो श्रम बादि बाल कबि करही॥

इस प्रकार तुलसी का काव्य-प्रयोजन और उसकी कसौटी दोनो ही स्पष्ट हो जाते है। काव्य का प्रयोजन तो सामाजिक हित है, पर वह केवल कवि के द्वारा कह देने मात्र से सपन्न नही हो जाता, उसका यह पक्ष तो समाज मे उसके प्रचार और विद्वानो द्वारा उसके आदर के साथ सिद्ध होता है। मणि कैसी भी अच्छी क्यो न हो, उसका मूल्य और महत्व खान मे नही, पारखियो के पास जाकर ही उसका महत्व ज्ञात होता है और विशेषज्ञो द्वारा प्रतिष्ठित होने पर फिर सर्वसाधारण भी उसे मूल्यवान वस्तु समझते है। और यदि विद्वानो और सर्वसाधारण दोनो की ही दृष्टि मे उसकी विशेषताएँ अलग-अलग प्रतिभासित और गृहीत हुईं, तो फिर उसका कहना ही क्या? वह तो सर्वश्रेष्ठ है। तुलसी का अपना काव्य इसी कोटि का है, यह वे नही कहते। विद्वान् तथा साधारण सभी जन स्वय उसे श्रेष्ठ कहते है।

काव्य की उत्पत्ति—यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के काव्य की उत्पत्ति कैसे होती है? तुलसीदास का काव्य की उत्पत्ति के सबध मे बडा ही स्पष्ट मत इस प्रकार का है—

हृदय सिधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहैं सुजाना॥
जो बरषइ बर बारि बिचारु। होहिं कबित मुक्तामनि चारू॥

हृदय समुद्र है। जिस प्रकार समुद्र विशाल और अगाध होता है, अनेक प्रकार की छोटी बडी सरिताओ का जल उसमे गिरता रहता है और छोटी-बडी अनेक बीचियॉ, ऊर्मियाँ और लहरे उसमे उठती रहती है उसी प्रकार हृदय मे जीवन के अनेक अनुभव और भाव भरे रहते है। उन भावनाओ के बीच बुद्धि इधर-उधर घूमती रहती है जैसे समुद्र मे सीपी। यह मति या बुद्धि प्रतिभा-स्वरूपिणी है। इस प्रतिभा-रूपी बुद्धि मे जो अनेक अनुभव और भावनाओ से ओतप्रोत है—जब कोई नवीन सद्विचार आ जाता है, तो कवित्व

रूपी मोतियो का जन्म होता है। यहाँ पर कविता के कोई अलौकिक कृत्य होने का विश्वास प्रकट नही है। अलौकिकता का समावेश केवल स्वाति-सारदा के रूपक से होता है जो वर-वारि रूपी विचार की प्रेरक है। विचार जाग्रत होने की क्रिया को हम चाहे अलौकिक या अदृश्य प्रेरणा माने या भौतिक परिस्थितिगत क्रिया, परन्तु भावनाओ के समुद्र के बीच प्रतिभा-रूपी बुद्धि के अतर्गत जब वह विचार पडेगा, तभी कवित्व का जन्म होगा, यह तुलसी का काव्योत्पत्ति का सिद्धान्त है। सौन्दर्यशास्त्र का प्रसिद्ध मनीषी वेनेदेतो क्रोचे भी काव्य या कलाओ को कल्पना और भावना द्वारा प्राप्त ज्ञान मानता है, केवल बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान नही। कल्पना का तुलसी की सुमति के अन्तर्गत समावेश माना जा सकता है। तुलसी ने काव्यागो का प्रत्यक्षत विवेचन नही किया है, परन्तु उनकी धारणा मे सस्कृत काव्याचार्यो के काव्याग-विवेचन से एक अधिक विशिष्ट बात देखने को मिलती है। तुलसी ने यद्यपि काव्यशास्त्रीय ढग से काव्य की आत्मा खोजने और स्पष्ट प्रतिपादित करने का प्रयत्न नही किया, पर अपने ढग से उन्होने स्पष्ट किया है कि सत्य काव्य की आत्मा है, परब्रह्म परमात्मा सत्य स्वरूप है, अतः उसका वर्णन उनकी दृष्टि से आवश्यक है। कविता को यदि कामिनी माना जाय और शब्द-अर्थ को शरीर, गुणो को लज्जादि गुण और अलकारो को आभूषण, तो उसके लिए भक्तिभावना वस्त्र या साडी के समान है जिसके बिना उसका सब श्रृंगार-प्रदर्शन व्यर्थ है। उनकी उक्ति है—

कबि न होउँ नहि बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
आखर अरथ अलकृति नाना। छन्द प्रबध अनेक बिधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥
भनिति मोरि सब गुन रहित, बिश्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिनके बिमल बिबेक॥

उपर्युक्त पंक्तियो मे तुलसीदास ने 'कबित बिबेक' से काव्यशास्त्र (या काव्यशिल्प विधि) के विविध अगो का सकेत किया है। शब्द, अर्थ, अलकार, छन्द, प्रबध-मुक्तकादि, भेद, भाव, रस, गुण और दोष आदि जो अग है उनके ज्ञान को अपने मे तुलसीदास जी अस्वीकार करते है। वे इनके फेर मे पडे बिना ही कोरे कागज पर स्वानुभूत सत्य लिख कर प्रकट कर रहे हैं। सभी जानते है कि उनका अनलकृत सत्य को प्रकट करने वाला ग्रथ 'रामचरितमानस' समस्त काव्य-विवेक को अपने कलेवर मे छिपाये है। अत उन्होने उस सत्य को पकडा जिसका सहज स्वाभाविक कथन मात्र काव्य बन जाता है।

तुलसी का सत्य राम नाम के रूप मे प्रकट हुआ। यह सत्यरूप रामनाम अथवा भक्ति-भावना काव्य का सार है। यह राम या रामनाम की भक्ति है जो अलौकिक आलबन को लेकर चलने वाली किन्तु रसस्वरूपा है। मधुसूदन सरस्वती का मत है कि जिस प्रकार लौकिक आलबन से सुख का आधार सामाजिक का हृदय हो जाता है, वैसे ही अलौकिक आलंबन से भी रस के सुखद स्वरूप की जाग्रति होती है। इस अलौकिक आलबन स्वरूप भक्तिरस का प्रतिपादन काफी हुआ है। अत भक्ति रसस्वरूपा है और यदि इस रसस्वरूपा रामनाम-भक्ति को तुलसी पुराण,

श्रुति और साथ ही काव्य का भी सार मानते है, तो वे आचार्य-परपरा से प्रमाणित ही है, भक्ति-रसाचार्यो से तो वे पूर्णतया सम्मत है। इसी क्रम मे ही उन्होने कुछ अधिक व्यापक एव व्यावहारिक काव्यदृष्टि से लिखा है —

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुराण श्रुति सारा ।।
मगल भवन अमगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ।।

इसके आगे तुलसी प्रतिपादित करते है कि वास्तव मे इस राम नाम की भक्तिभावना के बिना अर्थात् सत्यरूप ईश्वर के प्रति प्रेमभाव के बिना चमत्कारपूर्ण काव्य भी सार्थक नही है—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ ।।
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी ।।
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अकित जानी ।।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस सत गुनग्राही ।।

यहाँ पर उन्होने भक्ति के लिए परपरा से आये काव्य-रूपक मे एक विशिष्ट और अविच्छिन्न या अनिवार्य स्थान खोज निकाला है। कविता-कामिनी के शरीर, अलकार, गुणो-दोषो और यहाँ तक कि आत्मा की चर्चा तो अनेक आचार्यों ने की, पर वस्त्र पहिनाना सभी भूल गये। उन्होने कविता रूपी स्त्री के लिए रामनाम को वसन रूप माना। वसन से युक्त नारी जिस प्रकार अन्य अलकरणो के अभाव मे भी स्वाभाविक एव सहज शोभा को प्राप्त होती है, वैसे ही काव्य-विवेक से हीन तुलसी का काव्य भी भक्तिभावना से युक्त होने के कारण सहज ही प्रिय हो गया। इसी भाव को स्पष्ट करने वाली उनकी पक्तियाँ है—

जदपि कबित रस एकौ नाही। राम प्रताप प्रगट एहि माही ।।
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मगल करनी ।।
प्रिय लागिहि अति सबहिं मम, भनिति राम जस सग।
दारु बिचार कि करइ कोउ, बदिअ मलय प्रसग ।।

इस प्रकार भक्तिभावना को तुलसी ने कविता मे सार वस्तु माना है। एक और युक्ति से इस सिद्धान्त को सिद्ध करते हुए और क्षुद्र प्राकृत चरित्रो का गुणगान करने के विरोध मे अपने भाव प्रकट करते हुए तुलसी ने लिखा है —

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमरत सारद आवति धाई ।।
राम चरित सर बिनु अन्हवाये। सो स्रम जाय न कोटि उपाये ।।
कवि कोविद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमल हारी ।।
कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ।।

इस कथन से काव्य के सबंध मे तुलसी की उच्च और पवित्र धारणा व्यक्त होती है। यह सत्य है कि यह दृष्टिकोण आज के यथार्थवादी युग मे विचित्र जान पडता है, परन्तु सामाजिक मनोविज्ञान की दृष्टि से यह दृष्टिकोण समाज का हित करने वाला है। तुलसी ने यह नही लिखा कि प्राकृत या लौकिक व्यक्ति का चित्रण या वर्णन ही न होना चाहिए। उन्होने स्वय ही अपने 'रामचरितमानस' मे मन्थरा, कैकेयी, केवट, सुग्रीव आदि के चरित्र यथार्थ लोकभूमि पर

चित्रित किये है, अत उनका तात्पर्य यह नही है कि काव्य मे स्वर्ग लोक के अलौकिक व्यक्तियो का वर्णन ही करना चाहिए, लोक के व्यक्तियो का नही। वास्तव मे उनका अभिप्राय उस समय की चारण वृत्ति से है जिसमे कवि अपने आश्रयदाता से धन और वैभव की प्राप्ति की अभिलाषा मे उनकी झूठी-सच्ची प्रशसा करता था। निश्चय है कि लोक-हृदय इन अनेक अत्याचारी और दुराचारी व्यक्तियो की प्रशसा मे तन्मय न हो सकता था। अत उन्होने यह सिद्धान्त बनाया कि गुणगान करना है तो अलौकिक चरित्र वाले परमात्मा का ही गुणगान करना चाहिए। उनके समकालीन और पूर्ववर्ती अनेक कवि लौकिक व्यक्तियो की झूठी-सच्ची प्रशसा कर ही गये थे। चन्द, गग, केशव आदि इनमे अग्रगण्य है। केशव ने तो इन्द्रजीत को इन्द्र ही बना दिया था और प्रवीण-राय को रमा और शारदा, उदाहरणार्थ—

रतनाकर लालित सदा, परमानदहि लीन।
अमल कमल कमनीय कर, रमा कि रायप्रबीन॥
राय प्रवीण कि शारदा, शुचि रुचि रजित अग।
वीणा पुस्तक धारिणी, राजहस सुत सग॥

निश्चय है कि इन अनेक व्यक्तियो के सबध मे लोक की धारणा ऐसी न थी। अत उन्होने प्राकृत जनो के गुणगान का निषेध किया है, उनके वर्णन का नही।

इस निषेध का एक और भी कारण है। भरत और राम जैसे कितने व्यक्ति है जो राज्य त्याग सकते है और अपनी प्रशसा पर सकुचाते है। प्राकृत जनो का तो अपनी प्रशसा से ऐसा अह-भाव जाग्रत होता है कि वे उसके आवेश मे न्याय-अन्याय सब कुछ कर सकते है। इसलिए कवित्व जैसे प्रभावशाली माध्यम का उपयोग सोच-समझ कर करना चाहिए। इसी खतरे से बचाने के लिए उन्होने कवि के लिए यह नियम ही स्वीकार कर लिया कि प्राकृत जनो का गुणगान ही न किया जाय। इसके साथ ही साथ, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तुलसी भक्ति को ही काव्य की आत्मा या सार मानते थे। निश्चय है कि लौकिक आलबन को स्वीकार करने पर भक्ति प्रगस्ति हो जायगी और उसका उच्च, उदात्त रूप प्रस्फुटित नही हो सकता जिसकी सरस माधुरी मे एक साथ लाखो मनुष्यो के हृदयो मे स्निग्धता और आनद का सचार हो सके। इसलिए कविता मे गुणगान का विषय उनके विचार से ईश्वर या ईश्वरीय अथवा अलौकिक गुणो से सपन्न व्यक्ति ही होना चाहिए, जिसे दूसरे शब्दो मे हम ईश्वर का अवतार कह सकते है, सामान्य प्राकृत जन नही।

तुलसीदास भक्ति को जीवन का मूल तत्त्व या सार मानते है। इस भक्ति की दो अव-स्थाएँ होती है—साधना की और सिद्धि की। सिद्धि की अवस्था की पहचान ईश्वर का अनुग्रह है। इस अवस्था की भक्ति ही भक्त का साध्य है। जिस प्रकार उन्होने लौकिक जीवन मे यह कहकर भक्ति को सार बतलाया कि —

बहु मत मुनि बहु पथ पुराननि, जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको, मोहि लगत राज डगरो सो॥

उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र मे भी वे भक्ति से प्राप्त ईश्वर की कृपा को ही सर्वस्व मानते

है। यद्यपि उनका विचार है कि सरस्वती जब कृपा करती है तभी स्वाती के बूँदो के रूप मे सुविचार मति रूपी सीप मे बरसते है और कविता रूपी मोती की उत्पत्ति होती है, फिर भी वाणी कृपा किसी की प्रेरणा से ही करती है, यह बात तुलसीदास स्पष्ट रीति से प्रतिपादित करते है। उनका कथन है —

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अन्तरजामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहि बानी॥

इस प्रकार वाणी की कृपा, जैसी तुलसी कवि के लिए आवश्यक मानते है, भक्ति से ही प्राप्त होती है। हिन्दी काव्य के प्रसग मे इस कथन द्वारा एक बहुत बडा रहस्य स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत बहुत से ऐसे सन्तकवि है जो बिलकुल निरक्षर थे और उनको कोई कविता की शिक्षा भी नही मिली और न सस्कार या प्रवृत्ति ही थी। इनमे कबीर का नाम अग्रगण्य है जिन्होने स्वय ही कहा है—'मसि कागद छूयो नही, कलम गही नहि हाथ'। साथ ही कवि उनकी दृष्टि मे बडा ही हेय व्यक्ति है—(यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह कवि सामान्य धारणा का कवि है, तुलसी की धारणा का कवि नही)। इसके सबध मे उन्होने स्वय ही कहा है—"कबी कबीने कबिता मूये कापडी केदारौ जाई।" अत महात्मा कबीर की वृत्ति भी कवि बनने की नही थी। यदि हम आचार्य दडी का यह सिद्धान्त भी स्वीकार करे कि —

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धिप्रतिभानमुत्तमम्।
श्रुतेन यत्नेन वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव किमप्यनुग्रहम्॥

जिसके अनुसार अभ्यास और प्रयत्न से वाणी की कृपा होती है, फिर भी इसके लिए सस्कार की आवश्यकता है। ये सस्कार भक्ति के द्वारा स्वत बन जाते है। इसीसे जितने भी पहुँचे हुए भक्त है, वे हमारे सामने प्राय कविरूप मे आते है। आधुनिक युग मे भी महर्षि श्री अरविन्द के लिए यह सत्य है और अन्य भाषाओ के रहस्यवादियो के लिए भी जिनकी रहस्योक्तियाँ स्वय काव्य के रूप मे हमारे सामने प्रकट हुई है। वैदिक ऋषि-मुनियो के भी ऐसे अनुभव काव्यात्मक ही है। इस प्रकार तुलसी के काव्य-दर्शन मे भक्ति का तत्व प्रधान है। तुलसी के अन्तर्गत स्वय भी कवि-प्रतिभा का स्फुरण भक्ति का ही परिणाम है—

शभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी॥

इनकी उक्तियो मे कवि और काव्य के वास्तविक रूप का भी सकेत मिलता है। कवि की उक्ति को वे सत्य-गर्भित मानते है। स्वय वे याचना करते है —

सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥

अत कवि को सत्य का चित्रण करना ही अभीष्ट है। काव्य मे वर्णित वस्तु सत्य हो, असत्य न लगे यह आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि कवि का सत्य दार्शनिक या वैज्ञानिक के सत्य से भिन्न होता है। कवि तो सत्य को सजीव और साकार रूप मे चित्रित करता है। सत्य-चित्रण की इसी सिद्धि के लिए उसे शब्द और अर्थ की साधना करनी पडती है। शब्द और अर्थ का ही तो कवि के पास बल है और उसके पास कोई शक्ति नही, परन्तु यह शब्द और अर्थ की

शक्ति जो प्रभाव डालती है, वह प्रभाव और कोई शक्ति डाल भी नही सकती। इसी शक्ति के सबध मे प्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन ने लिखा है—'Poet's speech is thunder, his thought is law, his words are universally intelligible as the plants and animals', कवि की इस शक्ति को तुलसी बडी नम्रता से स्वीकार करते है—"कबिहि अरथ आखर बल साँचा" कह कर। अर्थ और अक्षर दोनो का ही बल होना पूर्ण कवित्व के लिए आवश्यक है। एक की ही सिद्धि होने पर उसका स्वरूप अधूरा लगता है।

अर्थ और अक्षर दोनो की सिद्धि होने पर जो रचना प्राप्त होती है, वही काव्य है। तुलसी ने वैसी वाणी को चित्रकूट के प्रसग मे भरत के मुँह से कहला कर, स्वय उसकी टीका करते हुए कहा है—

सुगम अगम मृदु मजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥
ज्यो मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अदभुत बानी॥

यह विशेषता भरत की वाणी के लिए सत्य है और तुलसी की वाणी के लिए भी सत्य है। थोडे अक्षरो मे अमित अर्थ। अक्षर सीधे-साधे, पर अर्थ कितना गहरा है, यह सभी जानते है। काव्य का यह पूर्ण रूप है। थोडे शब्दो मे अर्थ एव भाव की गहरी अभिव्यजना करने वाली रचना ही काव्य है। काव्य के शब्द सामने होते है, पर उन शब्दो मे परिव्याप्त अर्थ, प्रतिबिम्बित सौन्दर्य और निगूढ भाव-सपत्ति को कोई ही पूर्णतया पकड सकता है, जितना ही गहरे उतरिए उतना ही और अद्भुत् चमत्कार दिखलायी देता है। काव्य के समग्र वैभव का उद्घाटन सभव नही—उसमे नित्य नव्यता है, अगाध रमणीयता है, अथाह रस है। उसके लिए यह सत्य है कि "जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ"।

सक्षेप मे यह तुलसी की काव्य-सबधी धारणा है। उनके काव्य-दर्शन मे प्रतिपादित काव्य का यही स्वरूप उनकी अपनी रचनाओ मे सर्वत्र देखने को मिलता है। हम कह सकते है कि उनका काव्य-दर्शन सामाजिक एव व्यावहारिक होते हुए भी अत्यत उदात्त एव उत्कृष्ट है और सन्तोष की बात तो यह है कि अपनी रचनाओ मे उन्होने उसे उतारा है, उसका सिद्धान्त-प्रतिपादन मात्र नही किया।



उदय शंकर शास्त्री

'माधवानल कामकंदला' का रचयिता आलम सूफ़ी था?

हिंदी साहित्य मे आलम नाम के कवि की रचनाएँ सदा से बडे आदर के साथ पढी जाती रही है, इसका कारण उसकी रचनाओ का लालित्य एव माधुर्य है, परन्तु जहाँ उसकी रचनाएँ इतनी परिचित है वही उसका जीवनवृत्त उतना ही अपरिचित और अज्ञात है। 'शिवसिंह सरोज' मे सेंगर जी ने लिखा है[1] "कि आलम पहिले सनाढय ब्राह्मण थे, फिर एक मुसलमान रगरेजिन के चक्कर मे पडे और मुसलमान हो गये और एक अरसे तक औरगज़ेब के पुत्र (सू० १६२२-१७०७) शाहज़ादा मुअज़्ज़म शाह की ख़िदमत मे रहे, जो बाद मे बहादुर शाह (१७०७-१२ ई०) हुआ।" रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे लिखा है[2] "कि ये अकबर के समय के एक मुसलमान कवि थे जिन्होने सन् ९९१ हिजरी अर्थात् सवत् १६३९-४० वि० मे 'माधवानल कामकदला' नाम की प्रेम-कहानी दोहा-चौपाइयो मे लिखी। पाॅच पाँच चौपाइयो (अर्द्धालियो) पर एक एक दोहा या सोरठा है। यह शृगार-रस की दृष्टि से ही लिखी जान पडती है, आध्यात्मिक दृष्टि से नही। इसमे जो कुछ रुचिरता है वह कहानी की है, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना आदि की नही। कहानी भी प्राकृत या अपभ्रश काल से चली आती हुई कहानी है।"

'सरोज' कार ने आलम की कविता के जो नमूने दिये है वे इस प्रकार है[3]—

आलम ऐसी प्रीति पर, सरबस दीजै बारि।
गुप्त प्रकट केसी रहै, दीजे कपट पिटारि।।१।।
जानत औलि किताबनि को जे निसाफ के माने कहे है ते चीन्हे।
पालत हौ इत आलम को उत नीके रहीम के नाम को लीन्हे।
मौजम शाह तुम्हे करता करिबे को दिलीपति है बर दीन्हे।
काबिल है ते रहै कितहूँ कहाॅ काबिल होत है काबिल कीन्हे।

इस उदाहरण मे जो दोहा दिया गया है वह तो 'माधवानल कामकदला' मे है, पर यह सवैया आलम की प्राप्त रचनाओ मे तलाश करने से भी नही मिलता। इस सवैये के अतिम चरण मे 'काबिल' शब्द तीन बार आने से मेरा तो यह अनुमान है कि यह सवैया किसी 'काबिल' कवि का ही है। पर पडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने किसी हस्तलेख के आधार पर इसे जैतसिंह का बताया है।

---

१. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ८। २. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८५। ३. सरोज, पृष्ठ ८।

'ख' प्रति का अंतिम पत्र

'क' प्रति का अंतिम पृष्ठ

'क' प्रति का प्रथम पृष्ठ

'माधवानल कामकदला' मे कवि ने शाहेवक्त की चर्चा करते समय जलालुद्दीन अकबर और टोडरमल के नाम लिये है—

अदली कहै बखान, सुजस प्रगट चोह् खड मे।
बिद्या अरथ बिधान, साही अकबर जगत गुरु।
सिवनपति जगनाथ सुहेला। आपन गुरू जगत सब चेला॥

अकबर को दो बार जगत्गुरु कहा गया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कवि अकबर के 'दीन-इलाही' की बात जानता था। दीनइलाही के अनुयायियो को चेला कहा जाता था और गुरु तो एकमात्र अकबर था ही। अकबर के साथ ही टोडरमल का भी नाम लिया गया है। इतना ही नही उसकी जाति तक का उल्लेख किया गया है, जिसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि कवि टोडरमल से विशेष परिचित था—

आगे नौबि महाबल मत्री। राजदीप टोडरमल खत्री॥

यह तो स्पष्ट ही है कि टोडरमल टडन खत्री थे।[४] टोडरमल की जाति और वैभव के वर्णन से विदित होता है कि आलम अकबर का नही, अपितु टोडरमल का आश्रित था। टोडरमल सीतापुर ज़िले के लहरपुर नामक कसबे मे उत्पन्न हुए थे, और अपनी योग्यता से बढते-बढते सम्राट् अकबर के प्रमुख मन्त्रियो मे पहुँचे थे। आलम के इस ग्रन्थ की रचना के ठीक एक साल पहिले अर्थात् सन् १५८२ ई० मे उन्हे 'दीवान कुल' का पद मिला था।[५] अतएव सारे राज्य के वित्तमत्री (दीवान कुल) ही नही, वरन प्रमुख सेनापति के आश्रय मे रहकर आलम ने इस ग्रथ की रचना की हो तो कोई आश्चर्य नही, और यह भी कि आलम सीतापुर के आसपास कही अवध प्रदेश का ही निवासी रहा हो ?[६]

आलम ने अपने ग्रथ को पूरी मसनवी पद्धति से लिखा है, पहिले उसने परब्रह्म या करतार की वदना की है, उसके बाद मुहम्मद साहब, और उनके चारो खलीफाओ की प्रशसा करके फिर अपने गुरु की चर्चा की है। ये आलम के गुरु सैयद मुहम्मद गौस, सैयद फतह मुहम्मद के पुत्र थे, जो सैयद अब्दुल कादिर सानी लाहौरी के पौत्र थे। ये लोग लाहोर के बडे ही प्रतिष्ठित घराने के सूफी थे। सैयद मुहम्मद अपने बाप की मृत्यु के बाद उनकी गद्दी पर बैठे थे। ये अपने पिता के समान ही प्रख्यात थे, बहुत से लोग इनके शिष्य थे। सन् १००४ हिजरी मे इनका देहान्त हुआ और लाहौर मे ही अपने पिता की समाधि के पास ही दफन किये गये। बाद मे अकबर के एक प्रसिद्ध दरबारी नवाब मुहम्मद जमाँ खाँ ने इनकी समाधि पर एक बडा गुम्बद बनवा दिया जो अभी तक विद्यमान है। गुरु की चर्चा के उपरान्त ही उसने अपने आश्रयदाताओ (अकबर,

---

४. दे० हरिश्चन्द्र कला, भाग २ में 'पुरावृत्त संग्रह' शीर्षक लेख, पृष्ठ ४३ पर यह टिप्पणी—
क्षोणीशेकबरेप्रशाशतिमहीं तस्मिन्नृपालावलिस्फूर्जन्मौलिमरीचिवीचिरुचिरोदंचत्पदाम्भोरुहे। तद्राज्यैकधुरन्धरस्यवसुधासाम्राज्यदीक्षागुरोः श्रीमट्टंडनवंश मंडनमणेः श्री टोडरक्ष्मापतेः।

५. अकबर, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १३१।

६. खज़ीनतुल् असफ़िया, सं० गुलाम सरवर लाहौरी, जिल्द, २, पृष्ठ ३४०।

टोडरमल) का उल्लेख किया है। फिर कथा का आरभ करने के पहिले कुछ पक्तियाँ रचना के विषय और पद्धति पर भी लिखी है। ग्रन्थ का आरभ आलम ने इस प्रकार किया है —

प्रथमहि पारब्रह्म कहँ परनौ। पुनि कछु जगत रीति सब बरनौ॥
पारब्रह्म परसोतम स्वामी। घट घट रहै सो अतरजामी॥
जल थल रहै सरब मे सोई। घट घट रहै लखै नहि कोई॥
ताकी आदि अत नही जानै। पडित कहै ग्यान कर मानै॥
ग्यानी होय सो गुरमुख धावै। खोजी होय सो खोजत पावै॥

दोहा——मन बच क्रम सोवत चलत, जागत चितवत चीत॥
मग लागा डोलै सदा, सो करता घर चीत॥
आलम महमद पीर, जो नर धावै हेत करि।
जीवत सूख सरीर, जग समुद्र परि पाइ है।

चौपई—होति न गगन भौमि कर चहना। दूजा पुरिस महमद कहना॥
ताकी प्रीति लगी ससारा। चाँद सूर लौ कीन्ह पसारा॥
धरम रूप अवतार लीये आपु। अपने जन्म न कीन्हे पापु॥
उनको नाम लेत जो रहिये। ततछन ताप जुरा नहिं गहिये॥
चारि मीत बैठे इक साथा। बोले बचन जोर के गाथा॥

दोहा—अबाबकर उसमा उमर, चौथा अली सुभान।
जो इनकी सेवा करै, ताहि होय अति ग्यान॥

सोरठा—बरनौ चार्यौ पीर, आलम प्रघट ससार तस।
ग्यान मूल मति धीर, बंस रसूलहि चीत घर॥

चौपई—गौस कुतुब्ब कादरी कहिया। जगमनि सैयद मुहदी (मुहमद) सहिया॥
बैंस रसूल कीया परगासा। पुरवै नाम लेत मन आसा॥
जो कोई चित उनसौ लावै। निरभै रहै सदा सुख पावै॥
अपने जन को दिस्टि जब करै। रिधि सिधि बहु सपति भरै॥
जन आलम निश्चै कर जाना। ताके चरन ध्यान मनमाना॥

दोहा—सैयद मुहमद पीर सौ, जो मन लावै कोइ।
तीन लोक की सपदा, मन बाछत फल होइ॥

सोरठा—अदली कहै बखान, सुजस प्रगट चोह खड मे।
बिद्या अरथ बिधान, साही अकबर जगत गुर॥

चौपई—जगपति राज कोट जुग कीजे। साहि जलाल छत्र पति जीजे।।
दिल्लीपति अकबर सुलताना। सप्त दीप मे जाकी आना।।
सिंघन पति जगनाथ सुहेला। आपन गुरू जगत सब चेला।।

× × ×

आगे नौबि महा बल मत्री। राज दीप टोडरमल खत्री।।

दोहा—जो मति बिक्रम भोज के, मतो करत अरथाय।
सुनत बेद सुमरत सदा, पुन्य करत दिन जाय।।

सोरठा—उत्तम बिरह बियोग, कहो कथा आलम सुमति।
सुनि सिंगार सजोग, नल कदल कारन कहति।।

चौपाई—सन नौसे इक्यावन[7] जबही। कथा आरभ कीन्ह यह तबही।।
काब करो सिगार बियोगा। कहो बात सुनियो सब लोगा।।
कछु आपकी (नि) कछु परकी चोरी। जथा सकति यह है मति मोरी।।
आदि सोरठा एक बनाई। मध्य चौपई पाच लगाई।।
तबही एक दोहरा लेखा। इहि बिधि पूरन ग्रथ बिसेखा।।

दोहा—माधो परम पवित्र अति, सुदर सजल बिचित्र।
काम कदला कामनी, बरनो प्रेम चरित्र।।

जिस प्रति से यह उद्धरण लिया गया है उसका रचनाकाल तो सन् ९९१ हि० (१५८३ ई०) है और लिपिकाल स० १८६७ (१८१० ई०) है। इस उद्धरण से ऊपर लिखी सारी सूचनाएँ प्राप्त है। पडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने एक लेख मे लिखा है,[8] "कि माधवानल कामकदला की जो प्रतियाँ मिली हैं इनमे शाहेवक्त की प्रशस्ति कही-कही मिलती है जो मनसवी शैली के सूफी प्रेमाख्यानो की नकल पर ही रखी गयी है।" परन्तु उसी प्रति का खोज-विवरण बताता है कि उसमे पृष्ठ १ से १० तक मे गणेश-वदना, ईश्वर-वंदना और रसूल का वर्णन, अकबर का वर्णन निर्माणकाल, प्रेम की महिमा का वर्णन, इन्द्र-सभा का वर्णन व जयती अप्सरा को शाप देना भी वर्णित है।[9] इस प्रति मे रसूल और शाहेवक्त अकबर की चर्चा तो है ही, पर गणेश आदि की जो वदना है वह बाद का प्रक्षिप्त अश है। यह जयती अप्सरा के शाप वाला पूरा का पूरा प्रसग 'माधवानल कामकदला चउपई' से लेकर इसमे जोड दिया गया है, और यह भी सभावना है कि खोज के एजेट ने इस बात पर ध्यान न दिया हो कि रसूल की वंदना के बाद मुहम्मद साहब

---

७. यह 'नौसै इक्यावन' सन् गणना करने पर ठीक नहीं बैठता, अतएव अधिक प्रतियों में पाया जाने वाला पाठ 'नौ सौ ईक्यावनवै' ही ग्रहण करना ठीक होगा। ८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५, अंक १-२, पृष्ठ ५२। ९. खोज-रिपोर्ट, भाग १२, पृष्ठ १७५।

के चार खलीफाओ और आलम के गुरु की चर्चा आयी है। दूसरी मुख्य विचारणीय बात यह है कि प्रति मे कोई लिपिकाल नही दिया गया है, किन्तु जिस प्रति से इसकी प्रतिलिपि की गयी है उसका लिपिकाल सवत् १९३५ वि० है। अतएव जो प्रतियाँ 'माधवानल कामकदला चउपई' की रचना के बाद के लिपिकाल की है उनमे यह प्रक्षिप्ताश है और जो प्रतियाँ इससे पूर्व की है उनमे यह प्रक्षिप्ताश नही है। कुशललाभ एक हिन्दू रचनाकार था, उसने अपनी रुचि एव पद्धति से माधवानल की कथा की रचना की। बाद को हिन्दू लिपिको एव उसी प्रकार की रुचिवाले लोगो ने 'प्रथमहि पारब्रह्म को परनौ, पुनि कछु जगत रीति बहु बरनौ।'' के ऊपर गणेश-सरस्वती आदि की वदना इसमे भी जड दी।

आगे चलकर एक दूसरे लेख मे पडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने यह भी स्वीकार किया है कि "इस प्रबध-काव्य की दो प्रकार की प्रतियाँ मिलती है। एक वे जिनमे पाँच अर्द्धालियो के बाद नियम से एक दोहा या सोरठा है। दूसरे वे जिनमे पाँच अर्द्धालियो के बाद एक सोरठा और एक दोहा भी है। दूसरे प्रकार की प्रतियो मे कुछ वर्णनात्मक अश बढे हुए है। यही नही, कथा भाग भी कुछ अधिक है।"

खोज (१९२३-२९ ई०) मे जो बडी पोथी उपलब्ध हुई है उसमे मूल कथा के आगे-पीछे और भी कुछ अवान्तर या प्रासगिक कथाओ का सविधान किया गया है। मगलाचरण के अनन्तर उसमे इन्द्र की सभा का वर्णन है। इसमे जयती नाम की अप्सरा उर्वशी की भाँति अभिशप्त होती है, वह शिला होकर वन मे पडी रहती है। माधव अपने गुरु के लिए सामग्री लेने जाता है और शिला देखता है। उसके द्वारा शिला का उद्धार होता है। माधव उसके साथ इन्द्र की सभा देखने की इच्छा करता है। जयती उसके गुण पर रीझती है, वह पृथ्वी पर कामकदला के रूप मे अवतरित होती है। पुष्पावती नगरी से निर्वासित होकर माधव कामावती नगरी मे आता है, वहाँ कामकदला से उससे परिचय होता है, और विक्रम की सहायता से वह अत मे कामकदला को प्राप्त करता है।

यहाँ मेरा प्रयोजन 'माधवानल कामकदला' की कथा का पर्यालोचन करना नही है, इस लेख का उद्देश्य यही विचार करने का है कि क्या आलम सूफी था? और उसकी यह रचना मसनवी पद्धति की है? प्रतियो की चर्चा तो आनुषगिक होने के कारण हुई है। मेरे सामने 'माधवानल कामकदला' की ५ प्रतियाँ है। दो मेरे अपने सग्रह की, दो नागरी प्रचारिणी सभा की प्रतियो के विवरण, एक भारत कला भवन की प्रति की प्रतिलिपि। इन प्रतियो मे दोनो प्रकार के पाठो वाली प्रतियाँ है। पर अधिकाश प्रतियो मे केवल एक दोहा या सोरठा ही है। परन्तु उनकी मुख्य कथावस्तु मूल के इर्द-गिर्द ही रहती है, कही-कही थोडा भटकाव भी दिखाई पडता है। वैसे सोरठे और दोहे के क्रम की भी चर्चा प्रतियो मे मिलती है, जो इस प्रकार है—

आदि सोरठा एक बनाई। मध्य चौपई पाँच लगाई।
तबही एक दोहरा लेखा। इहि बिधि पूरन ग्रथ बिसेखा। (क प्रति)

और

करे सोरठा दोहरा, और चौपई ठाँनि।
बिरही जन के कारने, अमृत रस स्यो साँनि ॥७॥ (ख प्रति, पत्र ३)

दूसरी प्रति मे भी उसी प्रकार मसनवी-पद्धति दिखाई पडती है जैसी कि 'क' प्रति मे मिल चुकी है। यह 'ख' प्रति स० १७४४ की प्रतिलिपि है जो ग्रथ-रचना के १०४ वर्ष पीछे लिखी गयी है। इसमे किसी प्रकार का क्षेपक नही दिखाई पडता। इस प्रति के प्रथम पत्र का पूर्वाश खडित है, दूसरे पत्र से आलम का परिचय मिलता है, जो पिछली प्रति के समान ही है। पर क्रम और पाठ का अन्तर पर्याप्त है जो इस उद्धृत अश मे देखा जा सकता है—

धरमराज सब देस चलावा। हीदू तुरक दोउ पथ लावा।
आगे नेबी महाबल मत्री। राजदीप टोडरमल खत्री।
तेहि घर कृष्णदास कुल मगल। सुख अनेक को काटै दुख सकल।

दोहा——जो मति विक्रम भोज कै, मतो करत अरथाइ।
सुनत बेद सुम्रित सदा, पुनि करत दिन जाइ ॥६॥

चौपई—सन नौ सै इक्यावन जबही। कथा आरभ कीन्ह यह तबही।
काबि करौ सिगार बिवोग। कहौ बात सुनियौ सब लोग।
कछु अपनी कछू परकी चोरी। जथा सक्ति कछु अछिर जोरी।
सब सिगार बिरह की रीति। माधो काम कदला प्रीति।
सहसक्रत जोगि मति नही मोरी। भाखा बाँधि चौपई जोरी।

दोहा—करे सोरठा दोहरा, और चौपई ठाँनि।
बीरही जन कै कारने, अमृत रस सौ साँनि ॥७॥

इस 'ख' प्रति मे भी रसूल की बदना, जिसमे मुहम्मद साहब का नाम, उसके बाद उनके चार यारो (खलीफाओ) का वर्णन, गुरु की चर्चा, शाहेवक्त का वर्णन, फिर अपने आश्रयदाता की प्रशसा आदि मसनवी-पद्धति से ही वर्णित है। यह सही है कि इस प्रति के पहले पत्र का आधा अश नही है जिसमे दो दोहे अर्थात् एक दोहा और पाँच अर्द्धालियाँ तथा एक दोहा और रहा होगा। अब प्रश्न है कि उस छूटे हुए अश मे क्या रहा होगा ? उत्तर है कि 'क' प्रति का प्रारभिक अश जिसमे इस प्रति के छूटे हुए अश दिखाई पडते है।

इन दोनो प्रतियो के लिपिकर्ता हिंदू है अत उनसे यह आशा तो करनी ही नही चाहिए कि उन्होने अपनी ओर से मुहम्मद साहब, चारो खलीफाओ, तथा सैयद मुहदी या मुहीउद्दीन तथा गौस कुतुब के नाम इसमे सम्मिलित कर दिये होगे। और यह भी सभव नही लगता कि दोनो लिपिकारो ने एक ही प्रति से प्रतिलिपि की हो, क्योकि दोनो के आदर्शो (मूल) मे बहुत अतर है। इसमे 'क' प्रति उस शाखा की है जिसमे सोरठा के बाद एक दोहा फिर पाँच अर्द्धालियाँ है और

'ख' प्रति उस शाखा की है जिसमे हर पॉच अर्द्धालियो के बाद दोहा दिया गया है। दोनो के समय मे भी पर्याप्त अतर है। प्राचीनता की दृष्टि से 'ख' प्रति अधिक महत्वपूर्ण है। उसका लिपिकाल सवत् १७४४ वि० है जो ग्रथ-रचना के १०४ वर्ष बाद का है और 'क' प्रति का लिपिकाल सवत् १८६७ है जो ग्रथ-रचना से २२६ वर्ष बाद है। अतएव इन दोनो प्रतियो के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि मूल प्रति ऐसी अवश्य रही होगी जो पूरी मसनवी-पद्धति से लिखी गयी होगी—आगे चलकर जिस प्रकार उसमे कई बढोतरियाँ हुईं, उसी प्रकार शायद कुछ अश छूट भी गये हो।

एक महत्त्वपूर्ण बात इस सबध मे और है कि पडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि "माधवानल कामकदला से यह भी प्रमाणित होता है कि 'आलम' नाम के जिस कवि ने इस ग्रथ का निर्माण किया वह जन्मजात मुसलमान नही था तथा भरतपुर की जिस प्रति का उल्लेख है उसमे पहले गणेश की वदना की गयी है, फिर ईश्वर की वदना है। इससे यही जान पडता है कि यह किसी ऐसे व्यक्ति की रचना है जिसके सस्कार भारतीय थे पर जो किसी कारणवश मुसलमान हो गया था। यदि यह माने कि दूसरे प्रकार की प्रतियाँ ही मूल प्रतियाँ हैं तो परब्रह्म-वदना से यह निश्चित है कि यह किसी जन्मजात मुसल्मान की रचना नही है। यह किसी ऐसे व्यक्ति की रचना है जिसके सस्कार हिंदू के थे। वह बाद मे 'आलम' हो गया।"

पर प्रस्तुत प्रतियो की साखी इस कथन के सर्वथा विपरीत है। एक तो यह कि "प्रथमहि पारब्रह्म कहँ प्रनवौं' इस अर्धाली से पूर्व गणेश की वदना है, जो निश्चय ही प्रक्षिप्त है। कारण कि जो सभावना मुसलमान द्वारा परिवर्द्धन की हो सकती है वही सभावना हिन्दू के द्वारा भी तो हो सकती है। परन्तु जीवाराम वैष्णव लिखित प्रति मे गणेश की वदना नही है और रसूल का नाम है। 'माधवानल कामकदला' की पूरी पोथी भर मे कही भी कोई शब्द ऐसा नही मिलता जिससे विदित हो सके कि इसका रचयिता हिन्दू भावापन्न था। टोडरमल के प्रसग मे एक स्थान पर कृष्ण का नाम अवश्य आया है, किन्तु उससे कवि का कोई सरोकार नही है। टोडरमल के विषय मे यह प्रसिद्धि है कि वह बडा भगवद्भक्त था। इतना ही नही, यात्राओ तक मे अपने ठाकुर जी को साथ ले जाता था। कहा जाता है टोडरमल बडा पूजा-पाठ करते थे। एक बार वह बादशाह अकबर के साथ सफर मे थे। किसी दिन कूच के समय जल्दी-जल्दी मे उनके ठाकुर जी का सिंहासन छूट गया, या किसी ने वज़ीर का बहुमूल्य बटुवा समझकर चुरा लिया। टोडरमल बिना पूजा किये न कोई काम करते थे, न अन्न मुँह मे डाल सकते थे। उन्होने खाना छोड दिया। बादशाह को मालूम हुआ तो बुलाकर समझाया—'ठाकुर जी चोरी गये, तो अन्नदाता ईश्वर तो मौजूद है, वह तो चोरी नही गया? स्नान करके उसका ध्यान करके खाना खाओ, आत्महत्या किसी धर्म मे पुण्य नही है।' टोडरमल ने अकबर की बात मान ली।[१०] वस्तुत जो आश्रय-दाता इतना धर्मज्ञ हो उसके आश्रित कवि का यह वर्णन उचित ही कहा जायगा। इसके अतिरिक्त वदना उसने जिस ढग की की है प्राय सभी सूफी कवियो ने इसी प्रकार की वदनाएँ की है। यो

---

१०. अकबर, राहुल, पृष्ठ १२७।

उसने पूरे ग्रथ मे कही भी सूफियाना कलाम नही कहा है और न लोक मे परलोक की चर्चा की है। पर प्रेम ही सब कुछ है, इसे वह हर प्रसग मे दुहराता रहा है—कभी सीधे-सीधे तो कभी लक्षणा के द्वारा। आलम की इस कृति मे स्थान-स्थान पर आयी हुई इस प्रकार की पक्तियाँ उसे प्रेम की पीर वाला सूफी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त मानी जानी चाहिए—

आलम उत्तम सोइ, अपजस तै सका करै।
रहे ते हियरा खोइ, आप महाई स्रवन सुन ।।

*   *   *

प्रेम कथा कछु मोहि सिखावो।

*   *   *

जानै नेह पतग, मिलत नैन नहिं रहि सकै।
देखत ही मै अग, छूटै बिरह बियोग तै ।।

*   *   *

मैं अजान रस नेह न जानु। अन जाने मै कहा बखानु।

*   *   *

इस जुग मिलै न कोय, पूरबलौ सनबध है।
बुध भी वैसी होय, आजु न बिछरो माधवा ।।
आलम बिरह वियोग, बिछुरन सूल जु मन बसी।
बिरह बियोग सयोग, बैन बियोगी . . ।।
खड खड तीरथ करौ, कासी करवत लेउँ।
मन ईछा कर मरि जिऊँ, ढूढि मीत तोहि लेउँ ।।
चद न जाने पीर, ता बिन मरे चकोर दुख।
व्याकुल रहै सरीर, निस अधियारा सीस धुन ।।

*   *   *

बिरह डसत न जीवे कोई। जो रे जिवै सो बउरो होई।
हिये हूक भर नैन जल, बिरह अगन तन होम।
अतर जर पिजर करै, स्वाँस प्रघट नहि धोम ।।
रहै तास के ध्यान, स्रवन सुनै नहि बकत मुख।
जिम जोगी गुर ग्यान, मन माला हित मत्र पढ ।।
हियरे अतर दाह, पीर न कोऊ बूझई।
बिरहा अगिन उमाहु, जिह ब्यापै सोई सहै ।।
अध कूप ग्रह देह है, गुपत प्रगट कोऊ लखै।

जारै दीपग देह, तब सो निरखै रूप गुन ।।
प्रेम नेम गहि रैन दिन, अग लगावै राख।
सुनै धुनै सो सीस कूँ, दुद बिरह अस भाख ।।
कालकूट ते कठिन है, जिह ब्यापै वह साल।
जम आवै नेरे जरे, बिरह काल को काल ।।

ग्रथ पूरी मसनवी पद्धति का है। इसकी अभी तीन प्रतियाँ उपलब्ध है, सभव है आगे कोई और प्रति उपलब्ध हो जिसमे इन समस्याओ का समाधान हो जाय।

इस समय प्राप्त सामग्री की सहायता से इतना तो सिद्ध है कि गौस कुतुब (काहिरी) की शाखा के सैयदी मुहदी या मोहिउद्दीन का शिष्य कोई नव मुस्लिम नही था। यदि यह कहा जाय कि जब इसने पोथी भर मे कही भी सूफियाना बात नही कही, तो यह सूफी कैसा ? इसके उत्तर मे मीर हसन की वह मसनवी रखी जा सकती है जिसमे प्रारभिक वदना के अतिरिक्त एक भी पक्ति लोक मे परलोक के लिए नही है, किन्तु सर्वत्र प्रेम की चर्चा है। उसी भाँति प्रेम की अटूट चर्चा इसमे भी सर्वत्र है, चाहे वह माधव के पक्ष की हो चाहे कामकदला के—'दोनो तरफ हैं आग बराबर लगी हुई।' यह भी तो सूफियो की पद्धति है।



पुत्तूलाल शुक्ल

कुमाउँनी में मुक्तक वर्णिक छन्द-योजना

कुमाउँनी लोकगीतो और लिखित साहित्य मे चार प्रकार के छन्दो का प्रयोग हुआ है (१) मुक्तक वर्णिक छन्द (२) वृत्तात्मक वर्णिक छन्द (३) मात्रिक छन्द (४) अक्षर मात्रिक छन्द।

वृत्तो और मात्रिक छन्दो से हिन्दी ससार परिचित है, अत इस लेख मे उन छन्दो को स्थान नही दिया जा रहा है। वृत्तो और मात्रिको के जितने भेद प्रस्तुत लेखक सगृहीत कर सका है, वे हिन्दी छन्द शास्त्र के पूर्व परिचित छन्द है, और ऐसे छन्दो का प्रयोग यहाँ की शिक्षित जनता के कवियो ने ही किया है। मुक्तक वर्णिक छन्द यहाँ की सामान्य जनता के छन्द है, जिनके दो छन्दो को लिखित साहित्य मे भी स्थान मिला है। हिन्दी की बोलियो मे मुक्तक वर्णिक छन्दो की दृष्टि से कुमाउँनी बोली सर्वाधिक समृद्ध है, अन्य बोलियो के लोकगीतो मे तो मात्रिक छन्दो का प्रयोग होता है। ब्रज और अवधी के एक मात्र मुक्तक वर्णिक छन्द घनाक्षरी को लोकगीतो मे कोई स्थान नही मिला है। जहाँ समस्त आर्यावर्त की लोकवृत्ति मात्रिक छन्दो मे रमी है, वहाँ हिन्दी के पर्वतीय भूभाग--गढवाल और कुमाऊँ मे लोकवृत्ति मुक्तक वर्णिक छन्दो मे रमी है, यह बडी महत्वपूर्ण बात है।

कुमाउँनी के लोकगीतो (भग्नौल, बैर, चाँचर, ऋतुरैण, जागर, बैसी) मे मुक्तक वर्णिक छन्दो के गाने का ढग बिल्कुल अपना है और ऐसी पद्धति हिन्दी-प्रदेश मे कही प्रचलित नही है। क्या यह मुक्तक वर्णिक छन्द वैदिक छन्दो की परम्परा मे आते है? इन छन्दो के गाने मे भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित एव ह्रस्व, गुरु के अतिरिक्त लुप्त स्वर का प्रयोग स्पष्ट रूप से होता है। इन गीतो मे भी वैदिक छन्दो की भाँति व्यजनो मे स्वरो का योग देकर व्यजनसख्या मे विस्तार होता है और कभी व्यजन का स्वर निकालकर वर्णसख्या न्यून कर दी जाती है। मूलत इन छन्दो मे लिपि-वर्ण-मुक्त वाचिक लयात्मकता प्रमुख है और प्रस्तुत लेखक द्वारा कुमाउँनी के मुक्तक वर्णिक छन्दो का जो यह पहली बार शास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है, उसमे लक्षणो और उदाहरण का पूर्ण साम्य रखा गया है। इन छन्दो मे कही-कही एक वर्ण का अपवाद भी मिलता है, जिसे विस्तार की आशका से यहाँ नही दिया जायेगा।

छान्दसिक दृष्टि से इन छन्दो की गीत-पद्धति वैदिक छन्दो से भले ही मिलती हो, पर निर्भ्रान्त रूप से उन छन्दों की परम्परा मे इन्हे रखना कठिन है। तथाकथित वेदपाठियो के पाठ के आधार पर वेदो की गीत-पद्धति के विषय मे ही अन्तिम निर्णय पर पहुँचना सन्देह से खाली नही है, और उस परम्परा की कडियो को मिलाना और भी कठिन है। फिर, अलमोडे और तिब्बत

की सीमा पर भी तो यही गीत-पद्धति है। तो क्या यह ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य हो सकता है कि हूणो, खसो, मगोलो और भोटो की सन्तानो को वैदिक छन्दो का उत्तराधिकार मिला हो और जहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से आर्यजाति की परम्परा है, वहाँ से वैदिक छन्द लोक-कण्ठ से विलीन हो गये हो। प्रस्तुत प्रश्न छन्द शास्त्र की दृष्टि से बहुत ठीक है और बडा महत्वपूर्ण है, पर इसका अन्तिम उत्तर केवल छन्द शास्त्र नही दे सकता।

कुमाऊँ-गढवाल के अतिरिक्त काँगडा-कुलू घाटी और पूर्व मे असम, बगाल और उडीसा मे लोकगीतो और लिखित साहित्य मे प्रचुरता से मुक्त वर्णिक छन्दो का प्रयोग होता है। हिमालय की इस पट्टी मे विशेष तर्क से वैदिक प्रभाव सिद्ध करने मे इस बात का उत्तर देना कठिन होगा कि गुजराती, मराठी और मलयालम भाषा मे मुक्त वर्णिक छन्दो का प्रचुर प्रयोग क्यो होता है। छान्दसिक दृष्टि से भारत को विभिन्न भागो मे बाँटना कठिन है, क्योकि विभिन्न प्रान्तो मे भिन्नता की अपेक्षा एकता एव साम्य के तत्त्व अधिक विद्यमान है। विभिन्न प्रान्तो मे शब्दो के प्रयोग की एकता का विशेष महत्त्व है, और उससे अधिक महत्ता छान्दसिक साम्य की है, क्योकि अर्थ की अपेक्षा सगीत का मानव-मर्म से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतवर्ष मे छन्दो की एकता ग़ज़ब की है। हिमालय की चोटी पर जो छन्द गाया जाता है, वही छन्द हिन्द महासागर के तट पर भी गाया जाता है। कुमायूँ का एक पचवर्णिक छन्द मलयालम और बँगला मे समानत प्रयुक्त होता है। कुमायूँ का चतुर्दशवर्णिक 'भग्नौल' छन्द असम, बगाल और उडीसा के साहित्य मे 'पयार' रूप मे प्रचलित है, और गुजराती मराठी मे भी इसका प्रचुर प्रयोग होता है। कुमायूँ के ६वर्णों के चरण के छन्द का प्रयोग बगाली मे होता है और अष्टवर्णिक छन्द का प्रयोग बंगाली और मराठी एव गुजराती मे। कुमाउँनी के ११ (६+५) वर्णों का छन्द समान रूप से बगाली और गुजराती मे प्रयुक्त होता है। ऐसे अनेक साम्यो का निर्देश किया जा सकता है।

'हिन्दी भाषा मात्रिक छन्दो मे भारत की सर्वाधिक समृद्ध भाषा है,' पूर्ण विश्वास के साथ मैं ऐसी घोषणा करता रहा हूँ। पर, मै मुक्तक वर्णिक छन्दो मे घनाक्षरी-परिवार के १० (३ प्राचीन+७नवीन) और सवैया-परिवार के २० छन्दो का निर्देश करके भी हिन्दी के मुक्तक वर्णिक छन्दो को अन्य भाषाओ से न्यून ही मानता रहा। कुमायूँ के इन छन्दो के अध्ययन के बाद मुझे विश्वास हो गया है कि हिन्दी मुक्तवर्णिक छन्दो मे किसी से कम नही है और यदि कुमाउँनी लोक-साहित्य का विशेष अध्ययन किया जाय और मूल लयो के आधार पर लिखित साहित्य मे नवीन प्रयोग किये जायँ, तो मुक्त वर्णिक छन्दो मे भी हिन्दी सर्वाधिक समृद्ध हो सकती है। पर, क्या खड़ी बोली कविता इन छन्दो को आत्मसात् कर सकेगी ? इसका सकारात्मक उत्तर शायद समय ही दे सकेगा। वर्णसख्या-क्रम से ये छन्द प्रस्तुत किये जाते है —

§ १. **पञ्चवर्णिक : मालू छन्द**—पारी का भीडा। को छै घस्यारी॥
मालू वै मालू। नी काटो मालू॥

(उस पार टीले पर कौन घसियारिन है ? मालू के पत्तो को मत काटो।) (मालू के पत्ते जानवरो के खाने के अतिरिक्त पुरइन-पत्तो की तरह भोजन-पात्र के रूप मे प्रयुक्त होते है।)

(२) कालो छ जूतो। पिङली छ धोती।
नीली छ हस्ती। जर्द अम्बारी॥ (वी होलो दूल्हा, का बाबरे)।

(काला जूता है। पीली धोती है। नीली हाथी है। पीली अम्बारी है। वह दूल्हा का पिता है।)

पॉच वर्णों के चरण मे, तृतीय वर्ण मे लघु उच्चरित होने की प्रवृत्ति है। इस स्थिति मे इन्द्रवज्रा की सी लय का आभास होता है। तृतीय वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्ण लघु होने पर भी दीर्घ से उच्चरित किये जाते है, जैसे 'कतुक जन्म। कतुक जून॥ कतू बखत। डोक भरीण॥ (श्यामाचरण पन्त)॥ इस छन्द का प्रयोग हीरावल्लभ शर्मा ने 'हिस्सेदार खायकर' (पृ० ७), 'सास-ब्वारी' (पृ० ४), 'पहाडी-गीत' (पृ० २२) मे किया है।

§२. **षष्ठवर्णिक : राजुली छन्द**— नैखा सुवा नैखा। नारिङै की दाणी॥
मैले धरी राखी। मालूसाही हुणी॥

(मालूशाही मौखिक प्रबन्धकाव्य की नायिका राजुली सुए से कहती है—ऐ सुए! तू नारगी की फॉके मत खा, मत खा। मैंने मालूसाही (नायक) के लिए रख छोडी है।)

यद्यपि इस छन्द के ६ वर्ण एक साथ गाये जाते है, पर ४ वर्ण पर लघु यति और ६ वर्णा के बाद पूर्ण विराम आता है। इस लय से अपरिचित व्यक्ति दो-दो वर्णो पर रुककर इस छन्द को पढे, तो लय के समीप पहुँच जायेंगे। इसे खडी बोली छन्दो की तरह सरपट नही पढना चाहिए, नही तो १२ मात्राओ का सारक छन्द लगने लगेगा। इसी से मिलता छन्द रवि बाबू ने 'नैवेद्य' मे प्रयुक्त किया है—'यदि कोनो दिन। एबीनार तारे॥तव प्रिय नाम। नाहि झकारे॥'

मशाल छन्द—इस छन्द मे ३ वर्णो पर यति आती है। इसके प्रथम वर्ण मे लघु और तृतीय वर्ण मे दीर्घ उच्चरित होने की प्रवृत्ति है। इस छन्द मे एक प्राचीन लोकगीत है—"बचुली रफौला, त्वील धरो बोल॥ देशै कै, आजादी। बुलानि, किलै नै॥ स्वतन्त्र, भारत। बडौनि, किलै नै॥ (जलती मशाल, बच्ची राम आर्य)

§३ **सप्तवर्णिक : उद्धव छन्द**—इस छन्द मे ३ वर्णों पर यति आती है और अन्त मे लघु गुरु का प्रयोग होता है।

बाबा जी भी नी पढयॉ। डिप्टी नीन की वण्यॉ॥
क्या कमौण नी लग्यॉ। मै पढौ त क्यू पढौ॥

मनमौजी, गढवाली-कवितावली, पृ० ८४।

(पितामह जी ने नही पढा, तो क्या डिप्टी नही बने क्या कमाने नही लगे? मैं पढूँ तो क्यो पढूँ?)

§४. **अष्टवर्णिक : ज्ञान छन्द**—

न को जन मानिये वे। मैले तोकें देछ गाली॥
मैं के माफी कर देवे। तू छै मेरी प्यारी साली॥

(तू बुरा मत मान। मैंने तुझे गाली दी है। मुझे माफ कर दे। तू मेरी प्यारी साली है।)

इस छन्द मे चार वर्णों पर यति आती है। लय के निकट पहुँचने के लिए दो-दो वर्णों के बाद रुककर पढना चाहिए और दो वर्णों का उच्चारण ४ मात्राओ के बराबर करना चाहिए।

जतीन्द्रनाथ सेन गुप्त की कविता 'भोर हये एल' (जीवन रजनी शेषे। दाडाये शियर देशे॥) और बा० सी० मर्ढेकर की 'आला आषाढ श्रावण' कविता (आला पावसाच्या सरी। किती चातक चोची ने। प्यावा वर्षा ऋतु बडी॥) इसी छन्द मे है। इस छन्द मे ३,३,२ वर्णो के बाद यति आती है।

पूनो छन्द—पूस की पालङ्ग जैसी। चैतकी कैरुवा जैसी।
पून्यौ की चन्दा जैसी। भादौ की भगवा जैसी॥

यह मालूशाही काव्य मे राजुली के रूप का वर्णन है। (शुनपति शौक की लडकी पूस की पालक जैसी है। चैत के कैरुवा (एक कली का साग) सी है। पूर्णिमा के चन्द्र जैसी है। भाद्रपद के भगवा जैसी है।) छन्द मे 'चन्दा' को 'चाॅनदा' सा पढना चाहिए।

अनुष्टुप् छन्द—यह सस्कृत का प्रसिद्ध मुक्तक वर्णिक छन्द है। कुमाऊँनी लिखित साहित्य मे प० चिन्तामणि ज्योत्सी ने 'दुर्गापाठसार' मे (सन् १८९७) और सबजज प० लीलाधर जोशी ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' (सन् १९०८) मे और गुमानी पत (सवत् १८४७-१९०३) ने स्फुट कविताओ मे इसका प्रयोग किया है। खडी बोली मे केवल सियाराम शरण गुप्त ने गीता के समश्लोकी अनुवाद मे इस छन्द का प्रयोग किया है।

जो बुद्धी जो क्षुधा निद्रा, जो छाया शक्ति और जो।
तृष्णा स्वरूप ले व्याप्त, नमस्तैसूँ पुन पुन।।८। (अ०५, दुर्गापाठसार)

(छन्दलक्षण के लिए देखिए—'आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्दयोजना,' पृ० १७०-७२)

§५. ***नववर्णिक : मालूशाही छन्द***—नाजन मे को नाज बडो। वृक्षन मे को वृक्ष बडो।
राजन मे को राज बडो। देशन मे को देश बडो॥ (हुनेलो)

(मालूशाही काव्य मे राजुली नायिका अपनी माॅ से पूछती है, अन्नो मे कौन अन्न बडा है? वृक्षो मे कौन वृक्ष बडा है? राजाओ मे कौन राजा बडा है? देशो मे कौन देश बडा है?)

इस छन्द मे ५ वर्णों के बाद यति आती है। द्वितीय और सप्तम वर्ण के लघु होने पर भी दीर्घ उच्चरित होने की प्रवृत्ति है। इस छन्द मे इन्द्रवज्रा के पूर्वार्द्ध की सी लय निकलती है—SSISS/SSIS के समान पढने पर इस लय के समीप पहुँचा जा सकता है।

झोड़ा छन्द—इस छन्द का प्रसिद्ध नाम 'झोडा' है। इस छन्द के दो रूप प्राप्त है। एक मे ३, ३, ३ वर्णों पर यति होती है, दूसरे मे ४,५ वर्णो पर।

(१) शारदा खमरै की पाई। शारदा खमरै की पाई।
शारदा कलम उठौनूँ। शारदा गणेश मनाई॥ (जमाना क हाल, पृ० १७)

(२) क्या छ तेरी दीदी को नाम। क्या छ तेरे मीना को नाम॥
(तेरी दीदी का क्या नाम है? तेरे जीजा का क्या नाम है?)

लोकगीतो मे झोडा मे नव वर्णो के चरण के अन्त मे एक टेक जोड देते है—

वणिये की, चेलि जमाना। भलि कै तोल।
ढीकुली का, ढाया जमाना। भलि कै तोल॥

(बनिये की लडकी जमुना ! तू अच्छी तरह तोल। ढिकुली की तरह समय परिवर्त्तन शील है, तू अच्छी तरह तोल।)

§ ६ *दशवर्णिक* : **बुरूँश छन्द**—इस छन्द मे ४,६ वर्णो पर यति होती है। प्रसिद्ध भग्नौल छन्द मे ८,६ वर्ण होते है और अष्टक मे दो चतुष्क होते है और षष्ठक मे दो त्रिक वर्ण होते है। सम्पूर्ण छन्द मे प्रथम चतुष्क न्यून करने से बुरूँश छन्द बनता है। इसमे एक चतुष्क और दो त्रिको का योग होता है—

पारा भीडा, बुरूँशी फूली छ। मै जै कुन्यू, मेरी हीरू ऐछ।
गाडा पार, बाँसुरी बजै छ। मेरो हिया, टोक्याल छोउ छ।।

(माँ कहती है—भीडा (ढूह) के उस पार बुरूँश फूल का पेड लाल लाल फूला है। मै समझी मेरी हीरू (पुत्री का नाम) आई है। नदी पार बाँसुरी बज रही है। मेरा हृदय सहम कर चीख उठा है।)

काफल पाको छन्द—इस छन्द मे ५,५ वर्णो पर यति आती है। ५ वर्णों मे ३, २ या २, ३ का योग होता है। पचक के तृतीय वर्ण मे लघु होने की प्रवृत्ति है।

धन छै भाग, गीता पढनी। तै का तन ह्वै, पाप छोडनी।।
जैल करछ, गीता क ध्यान। निश्चय मिला, विष्णु भगवान्।।
(हीरावल्लभ शर्मा, सास-ब्वारी, पृ० ५,)

(जो गीता पढते है, उनका धन्य भाग्य है। उनके शरीर से पाप छूट जाता है। जो गीता का ध्यान करता है, उसे निश्चय विष्णु भगवान् मिलते है।)

रविबाबू ने खेया (दु खमूर्त्ति) मे इस छन्द से मिलते-जुलते छन्द का प्रयोग किया है—

दु खेर वेशे, एसे छ बोले। तोमार नाहि, तरिब हे।।

§ ७ *एकादश वर्णिक* : **छाना-विलौरी छन्द**—इस छन्द मे ६,५ वर्णों पर यति आती है, कही-कही ५,६ वर्णों पर आती है इसका द्वितीय खण्ड मालू छन्द के बराबर है और प्रथम खण्ड भग्नौल के द्वितीय खण्ड के बराबर है। इससे स्पष्ट है इन मुक्त वर्णिक छन्दो मे भी मूल लयो के आधार पर सयोग-विनियोग से नवीन छन्द निर्मित होते है।

लागला विलौरी, का घामऽ बौज्यू।
छाना विलौरी, झन दिया बौज्यू।।

(कन्या अपने पिता से कहती है— हे पिता जी ! छाना-विलौरी मे मुझे मत देना (मत विवाह करना), वहाँ विलौरी की धूप लगेगी।)

इस छन्द का प्रयोग हीरावल्लभ शर्मा ने 'हिस्सेदार खायकर' (पृ० ८) और 'सासु ब्वारी' मे किया है, जिसमे बीच-बीच में १० वर्ण के चरण भी आते है। चिन्तामणि पालीवाल ने 'मछली मार मेला' (वलिदान खण्डन, पृ० १४, १५) में इस छन्द का प्रयोग किया है। गुजराती कवि बालमुकुन्द दवे ने 'सहज सगम' मे (तोय जोने पेलु, घण रे ध्यानी), रवीन्द्रनाथ ने नैवेद्य मे (१२ वर्णों के चरण के बीच-बीच मे) इस छन्द से मिलते-जुलते छन्द का प्रयोग किया है।

§८. *द्वादश वर्णिक* : **नैवेद्य छन्द**—इस छन्द मे ६, ६ वर्णो पर यति आती है। इन दोनो षष्ठको का निर्माण दो त्रिको या तीन युग्मो से होता है—

दै भलो नी जामो, अब करौ छाँको। ६+६ वर्ण
डोकिलो फूटिया, छ मैं औछ झाँको॥
घिनाली छ मस्त, पै वीकणि खाँको।
रै टुटी गेछ ऊ, थुमो लै छ बाँको॥ (रामदत्त पन्त, गीतमाला, पृ० ५७,)

(दही ठीक जमा नही, अब मठा कौन बनायेगा। मथने का पात्र फूटा है, मुझे मृगी आती है। घी-दूध तो बहुत है, पर उसको खाता कौन है। मथनी टूट गयी है, डडा टेढा हो गया है।) रवीन्द्रनाथ ने 'नैवेद्य' पुस्तक मे इस छन्द का प्रचुर प्रयोग किया है (कापाये आमार, हृदयेर सीमा। वाजिबे तोमार, असीम महिमा।)

§९. *त्रयोदश वर्णिक* : **भखौली**—भग्नौल का अन्तिम वर्ण न्यून करने से यह छन्द बनता है। इस छन्द मे ८, ५ वर्णो पर यति होती है। इसका अन्तिम वर्ण दीर्घ ही होता है, भग्नौल का अन्तिम वर्ण लघु भी होता है। मराठी मे इसे चन्द्रकान्त छन्द कहते है (अखडित असावेसे, वाटते पायी—तुकाराम)

घन घोर बादल मे, जाणी को लुकी। ८+५ वर्ण
नीला आकाशन रूप,ऽ चमकै दी॥ ८+(१)+४ वर्ण
मोर मुकुट पैहरी, क्ये भले देखी। ८+५ वर्ण
खुली लट लटकिया, खुटन लोटी॥' ८+५ (गीतमाला, पृ० ४३)

(घनघोर बादल मे जाने कौन छिपा है! नीले आकाश मे रूप चमक रहा है। मोर मुकुट पहिन कर क्या शोभा देता है। लटकती खुली लटे पैरो मे लोट रही है।)

§१०. *चतुर्दश वर्णिक* : **भग्नौल छन्द**—यह कुमायूँ-गढवाल का सर्वाधिक प्रिय, सर्वाधिक प्रयुक्त और श्रेष्ठ छन्द है। इसमे ८,६ वर्णो पर यति आती है। अष्टक खण्ड दो चतुष्को, चार युग्मो अथवा दो त्रिको और एक युग्म से निर्मित होता है। पयार की भाँति २+३+३ वर्णों का योग कम दिखाई पडता है। दूसरे खण्ड मे दो त्रिको या तीन युग्मो का योग होता है। चरणान्त मे आठो गणो का प्रयोग मिलता है। इस छन्द की यह प्रवृत्ति इसे मुक्त वर्णिक छन्द का समस्त गौरव प्रदान करती है। पयार के चरणान्त मे भी सभी गण प्रयुक्त होते हैं।

कुमाऊँ के लोकगीतो और प्रबन्धकाव्यो मे इस छन्द का प्रचुर प्रयोग होता है। कुमाऊँ के मौखिक महाकाव्य 'मालूशाही' मे इसी छन्द का प्रयोग है। खिमानन्द शर्मा ने मालूशाही के कथानक को ४८ पृ० की पुस्तिका 'वीर बालक हरू सिंह हीत' मे इसी छन्द मे निबद्ध किया हैं। चिन्तामणि पालीवाल ने 'वलिदान खण्डन' (४२½ छन्द) 'दिल्ली की झलक' (१४८½ छन्द) में, हीरावल्लभ शर्मा ने 'जमानाक हाल' (७८ छन्द), 'मित्र उपदेश' (८४ छन्द) मे, बच्चीराम आर्य ने 'जलती मशाल' (३९½ छन्द) मे और रामदत्त पन्त ने 'गान्धी गीत' (२० छन्द) मे तथा श्यामाचरण पन्त ने 'मुफ्ती बाजार' (अप्रकाशित) में भग्नौल छन्द का प्रयोग

किया है। असमी, बगाली, उडिया मे इसका समकक्ष छन्द पयार बहुत प्रचलित है। तुकाराम और ज्ञानेश्वर ने अभगो मे इस छन्द का प्रयोग किया है। पटवर्द्धन ने मराठी मे इसका नाम 'लवगलता' रखा है।

उदा०—नायक सर्ग रिट मुसी चील, भिमै पडी- छाया।
नायिका जैसी तेरी पाणि तीस, तैसी मेरी माया॥
नायक बडा हानि भेलि सुवा, बडा हानि भैल।
नायिका तुम जाला तलि हुणि, मै कसि कै रौल॥ (लोकगीत)

(नायक—प्रिये! आकाश मे चील घूमती है, पर छाया धरती पर ही रहती है (मै कही जाऊँ, मन तुम्हारे पास रहेगा)। नायिका—मेरी ममता तुम्हारे प्रति इतनी तीव्र है, जैसे तुम्हारी पानी की तृषा। नायक—प्रिये! (तुम मुझे रोकती हो), अत बहुत बडी हानि होगी। नायिका—तुम नीचे (देश) चले जाओगे, तो मै कैसे रहूँगी।)

§ ११ पञ्चदशवर्णिक : **मैथिली छन्द**—इस छन्द मे ८, ७ वर्णो पर यति होती है। खडी बोली मे 'मेघनादवध', 'सिद्धराज,' 'नहुष' और 'विष्णुप्रिया' खण्डकाव्य (गुप्त जी) तथा 'गान्धी-चरित' महाकाव्य (अनूप शर्मा) मे इस छन्द का प्रयोग हुआ है। भगनौल छन्द के अत मे एक गुरु वर्ण जोडने से यह छन्द बनता है। इसके चरणान्त मे मगण, रगण, सगण आते है, पर पहाडी गीतो मे यगण भी आता है, क्योकि उच्चारण मे यगण का प्रथम अक्षर दीर्घ कर दिया जाता है—

तू च बूबा एकूँ तो लाडुलू अहा! जीतू जी।
तू च बूबा सबूते स्वरूप कनू जीतू जी।
लोक-बोली कनी माली मै इक हे जिया बै।
मेरि वैणूलि बाटुली, न्यालल् मेरी जिया बै।
जीतू, 'रसिक'—'गढवाली-कवितावली' पृ० १४१।

(माँ कहती है—अरे जीतू! तू ही तो एक मेरा लाडला बेटा है। जीतू! तू सब मे कैसा स्वरूपवान् बेटा है। जीतू कहता है, हे माँ मुझे लोग कैसी बोली मारेगे। हे माँ! मेरी बहिन मेरा रास्ता देखती रहेगी।)

§ १२. षोडशवर्णिक : **विनय छन्द**—इस छन्द मे ८,८ वर्णों पर यति होती है। यह ज्ञान छन्द का दुगुना है। मराठी मे इसे वनहरिणी छन्द कहते है। प्रो० विष्णुभिकाजी कोलते और नारायण काले ने इस छन्द का प्रयोग किया है (छन्दोरचना)। गुजराती कवि मनसुखलाल झवेरी ने 'विपर्यय' मे इस छन्द का प्रयोग किया है 'मटकुय नथी मार्युं, हजजी एक तही ज आ'। रवीन्द्रनाथ ने 'नैवेद्य' (१५) मे इस छन्द का प्रयोग किया है—'प्रतिदिन तव गाथा, गाबो आमि सुमधुर।' हिन्दी मे रूप घनाक्षरी की अर्द्धाली अर्चना छन्द को इसका एक भेद माना जा सकता है—'हे प्रजापते! त्रिलोक, मे है एक तू अनन्य।' (चन्द्राकर)।

पापी छ कै जै हो अहो, दुक्यो दीनो भलो हुँछ।
पै हो केलै पापी ए तू, आश करी बैठ रूँछ॥

खेल खेलै बीती गई, उमर लै क्यनी रई।

तुमरा भजन बिना, अब गाला-गाला ऊँछ।। (रामदत्त पत गीतामाला, पृ० १८)

(पापी समझकर किसी को वहिष्कृत कर देना क्या अच्छा है। फिर, इतने पापी आशा करके क्यो बैठे रहते है! उमर कुछ नही रही, खेल-खेल मे ही बीत गयी। तुम्हारे भजन बिना अब गले-गले तक आ गयी है।)

§ १३. *अर्द्धसम मुक्तवर्णिक :* **बीणई छन्द**—इसके प्रथम और तृतीय चरण मे १२ वर्ण (६, ६ वर्णों पर यति) और द्वितीय-चतुर्थ चरण मे ६ वर्ण होते है। प्रथम-तृतीय एव द्वितीय-चतुर्थ चरणो मे प्राय अन्त्यानुप्रास होता है। इस छन्द को ६ वर्णों की षट्पदी के रूप मे भी ग्रहण किया जा सकता है—

पारा भिडा को छू, भागी सूर-सूर,
मुरली बाजिगे।
पारा भीडा को छू, सुवा! रूड-भूड,
बीणई वाजिगे।। (लोकगीत)

(उस पार के भीडे (ढूह) पर कौन भाग्यशालिनी है? अभी स्वर-साधना के साथ मुरली बजी है। उस पार के भीडे पर कौन है? हे प्रिये! अभी वीणई (एक तार का बहुत छोटा बाजा, जिसे मुँह मे दाबकर एक उँगली से बजाया जाता है इससे बडी सुन्दर लये निकलती हैं, स्थानीय मेलो मे एक दो आने का मिलता है) बजी है, मैं व्याकुल हो उठा हूँ।

§ १४. *विषम विकर्षाधार :* **बैर छन्द**—यह छन्द नायक-नायिका के वार्त्तालाप के रूप मे लोकगीतो मे प्रचलित है। एक शिखर पर एक घास काटने वाला, दूसरे शिखर पर एक घास काटनेवाली परस्पर दो-दो पक्तियो के छन्द मे प्रश्नोत्तर करते है। प्रेमपूर्ण भावुकता की अभिव्यक्ति, तार्किकता एव विवेक जागरित करने की यह सुन्दर लोक-शैली है। यह विवादमय शृङ्गार बडा निर्मल निश्छल और उदात्त होता है। स्थानीय मेलो या पर्वो के अवसर पर स्थानीय आशु कवि लोग इस छन्द मे बडे सुन्दर प्रश्नोत्तर करते है। सैकडो स्त्री-पुरुष जय-पराजय का निर्णय देखने के लिए बैठते है (मैदान के विरहा-गीत गानेवालो से इसकी तुलना की जा सकती है)।

इस छन्द की प्रथम पक्ति या ध्रुवक मे ६ वर्ण होते है (अर्थात् भग्नौल छन्द का द्वितीयार्द्ध) और दूसरी पक्ति मे १४ वर्णों के भग्नौल छन्द का चरण होता है, जिसमे ८, ६ वर्णों पर यति होती है। चरणान्त मे प्राय तुक भी होता है। कभी-कभी पद शैली की भाँति एक ध्रुवक के बाद एकाधिक चरण समान अन्त्यानुप्रास मे आते है और कभी युग्मक अन्त्यानुप्रास के रूप मे। लोकगीतो मे 'दातुलै की धार' (हसिए की धार) इस छन्द मे प्रसिद्ध कविता है। इसी आधार पर पं० श्यामाचरण पन्त ने इसी छन्द में 'दातुलै की धार' शीर्षक पुस्तक मे ४४ पद्य सन् १९४० मे सटीक प्रकाशित किये थे। यह कविता कुमाउँनी की श्रेष्ठ कविताओ मे एक है। भग्नौल छन्द के बाद बैर छन्द का सर्वाधिक महत्व है। लोकगीतो में 'जोड़' (तुक) मिलाने के लिए कभी-कभी ध्रुवक निरर्थक भी रखा जाता है।

(१) तिमुली की पात। ६ (३ + ३) वर्ण

क्याल जैसी पाकि रईं, भूलि गैछ बात। ८ + ६ वर्ण

(तिमुली के पत्ते जैसी हरी प्रिये! तुम यह भूल गयी हो कि तुम केले जैसी पकी हो)।

(२) गढवाली उदाहरण—गगा जू को पौणो। ६ वर्ण

धूला माठी जखी कखी, जोग्यो को विछौणो। ८ + ६ वर्ण

(दयानन्द बहुगुना, गढवाली-कवितावली, पृ० १३७)

(गगा जी के अतिथि है। जहाँ-तहाँ धूल-मिट्टी योगियो का बिछौना है।)

(३) नवीन विकर्षाधार

दातुलै की धार। दारमा-जोहार। ६ वर्ण + ६ वर्ण

बाकरोक पुठ पर, वादि दियो भार। ८ + ६ वर्ण

कतू हाथ पार।

'स्यू स्यू' कूनै उनी जानी, बूडा थोकदार। ८ + ६ वर्ण

श्यामाचरण पन्त, दातुलै की धार, पृ० २१।

इस विकर्ष मे ६, ६, १४, ६, १४ वर्णो मे क, क, क, क, क अन्त्यानुप्रास है।

(दारमा-जोहार के, हसिये की धार के समान शिखर के सँकरे मार्ग मे बकरियो की पीठ पर बोझ बाँधकर वृद्ध थोकदार (महाजन) 'स्यु स्यु' (शिव शिव, तया बकरी भगाने का शब्द) कहते हुए हाथ मे तकुली घुमाते हुए आते-जाते है।)

गोविन्दवल्लभ पन्त ने 'मदारी' उपन्यास मे इस छन्द का खडी बोली मे प्रयोग किया है। लक्षण और लय जानने पर यह पहाडी छन्द हिन्दी पाठको को विशेष मनोरम लगेगा। नायक नवाब' नायिका 'तितली' से कहता है—

उग गये धान। ६ वर्ण

आँखो मे गडी है तेरी, मृदु मुसकान। ८ + ६ वर्ण

कानो मे बसा है तेरा, विमोहक गान। ,, ,,

तूने बदी किया मेरा, तन-धन-ध्यान। ,, ,,

तुझे तज अब कहाँ, जा सकूँगा प्राण॥ ,, ,,

(मदारी, पृ० ३०४)

डा० सत्येन्द्र

लोकतत्व : दर्शन तथा अध्ययन

§१ लोकतत्व की एक चर्चा यो की जाती है (अ) "अत हमे यह मानना ही चाहिए कि इन रूमानी वैदिक सवादो (उर्वशी-पुरुरवा तथा यम-यमी सवादो) मे उस साहित्यिक शैली का अवशेष हमे मिलता है जो अनिवार्यत लोक-कविता (folk-poetry) के स्वाभाव की थी, और जो सहिताओ की कट्टर धर्मानुष्ठानिक कविता से भिन्न थी, किन्तु जो परवर्ती वैदिक युग मे मर गयी थी।"[1] (आ) "जायसी सच्चे पृथिवी पुत्र थे। वे भारतीय जनमानस के कितने सन्निकट थे, इसकी पूरी कल्पना करना कठिन है। गाँव मे रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी सीमा के भीतर हर्षित स्वर से कवि ने अपने गान का स्वर ऊँचा किया है। जनता की उक्तियाँ, भावनाएँ और मान्यताएँ मानो स्वय छद मे बँध कर उनके काव्य मे गुँथ गयी है।"[2]

§२ इस प्रकार हम देखते है कि लोकतत्व के विविध पर्त प्रतीत होते है। ऐसा होना स्वाभाविक है क्योकि लोकतत्व जीवनव्यापी है, और प्रत्येक मानव मे उसके जन्म से ही बद्धमूल हैं। ये उसकी प्रकृति के ही अग हो गये है। हमने लोक-मानस पर प्रकाश डालते हुए यह स्थापना की थी कि मानवी मानस पहले तो दो विभागो मे बॉटा जा सकता है जिन्हे आज का मनोविज्ञान चेतन तथा अवचेतन मानस कहता है। चेतन मानस की क्रिया-प्रक्रिया का विचार शुद्ध मनोविज्ञान का विषय रहा है। अवचेतन की क्रिया-प्रक्रियाओ का अनुसधान करने वाला नया विज्ञान मनोविश्लेषण-विज्ञान कहलाता है। फ्रायड-जुग-एडलर के त्रिगुट ने इस अवचेतन के विविध पहलुओ को स्पष्ट किया है, किन्तु वास्तविक बात यह है कि यह अवचेतन मानस भी दो स्तर वाला है (क) इसका चेतना-सपर्कित अवचेतन मानस ऊपरी पर्त है। इसे ऐतिहासिक या उपार्जित अवचेतन कह सकते है। मनोविश्लेषण का अब तक का पक्ष वस्तुत इसी स्तर से सबधित था। यह दमित और कुण्ठित भावना का वह कोश है जो चेतना के अत्याचार से क्षुब्ध हो पीछे छिप गया है, और घायल सर्प की भाँति बदला लेने के लिए परिकर अवसर की ताक मे फुकारता रहता है।

(ख) इस अवचेतन का निचला स्तर उत्तराधिकारावतरित सहज मानस का है। मानव ने जिस दिन पहले-पहल आँख खोली उस दिन उसे जो दिव्यादिव्य अनुभूति हुई वह

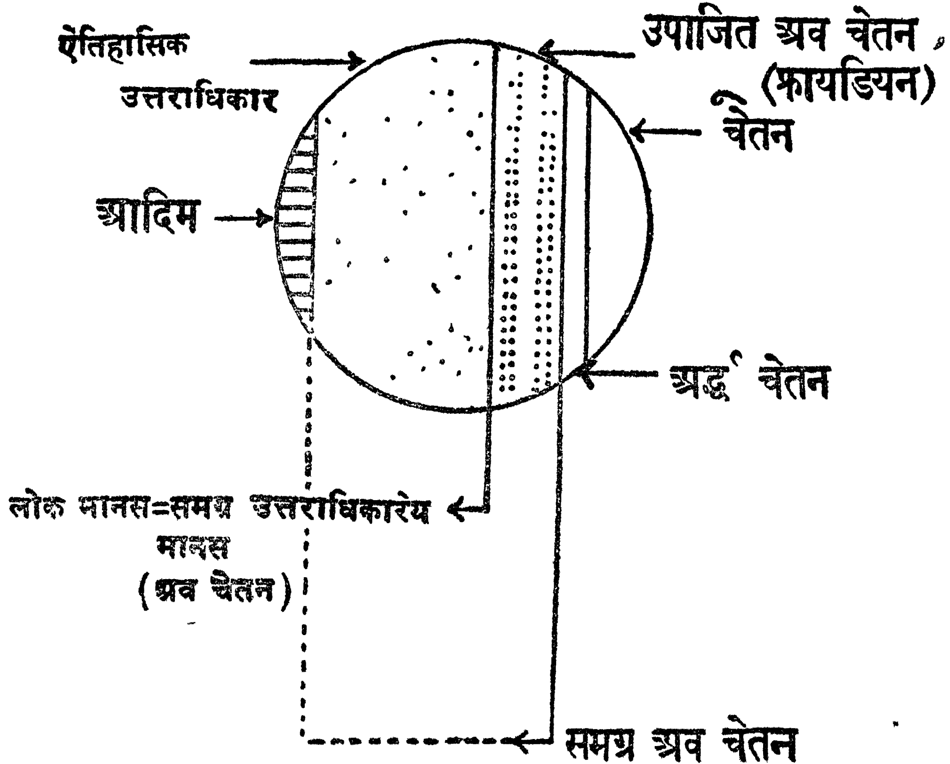
---

१. डॉ० एस० के० डे०; एन्शेन्ट एराटिक्स एण्ड एराटिक लिटरेचर; पृ० ६, १०।

२. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल; पद्मावत-संजीवनी टीका; पृ० ७।

उसके समस्त अस्तित्व मे समा गयी। उसके शरीर का रोम-रोम और अणु-अणु उस प्रकृति से अभिभूत हो गया। इसे कोई चाहे तो आदिम मानस (primitive mind) कह सकता है। यह आदिम मानस प्रत्येक मानव को आज भी उत्तराधिकार मे प्राप्त हुआ है। इस पर हम अन्यत्र भली प्रकार विचार कर चुके है।[3] यही लोक-मानस है।

(1) यहाँ हम इस बात की ओर सकेत करना चाहते है कि यह मानस दमित या कुठित चेतन का रूप नही बल्कि यह हमारे सहज मानस की तरह या हमारे समस्त मानवीय मानस के लिए बीज



की तरह सहजात है। यह विश्व के समस्त मानव मात्र मे विद्यमान है और वस्तुत इसी की मौलिक अवस्थिति के कारण विश्व भर के मानव सामान्य प्रक्रियाओ मे समान प्रतीत होते है। यह मानस देशव्यापी भी है और कालव्यापी भी है।

(ii) इसकी देश-व्यापी स्थिति भौगोलिक सीमाओ मे इसे विश्व भर मे व्याप्त सिद्ध करती है। यह लोक-मानस का भौगोलिक पक्ष है। इस मूल या आदिम लोक-मानस मे वे तत्त्व भी विद्यमान है जो भौगोलिक पृष्ठभूमि से सामग्री ग्रहण कर सकते है, और अपने प्रवृत्ति-मूल को अक्षुण्ण रखते

---

३. देखिए—मध्ययुगीन साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन।

हुए भी क्षेत्रीय मानव के स्वरूप को भौगोलिक वातावरण मे पनपने योग्य बना सकती है। इसी के कारण स्थानीय सस्कृतियो का निर्माण होता है। (iii) इसकी कालव्यापी स्थिति ऐतिहासिक पक्ष को प्रकट करती है। मूल उद्भव के काल से लेकर आज पर्यन्त यह मानस मानव-मानव मे अवतरित होता चला आया है। इसके सहज आदिम मूल मे वे तत्व भी विद्यमान है जो काल की गति से होने वाले सघातो से प्राप्त विषयो और सामग्रियो को ग्रहण कर सके, और उन्हे अपने अनुकूल रखते हुए भी, मानव के स्वरूप को विविध ऐतिहासिक युगो के अनुकूल ढालते रहे। (iv) यह मानस ही मूलत लोकतत्व का निर्धारक है। यह मनुष्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति मे किसी न किसी प्रकार से विद्यमान अवश्य रहता है। यह न तो सग्रहीत मानस (collective mind) है, और न उपार्जित ही। उपार्जित की चर्चा तो ऊपर की जा चुकी है। सग्रहीत मानस से भी इसका भेद समझ लेना आवश्यक है।

वैसे तो सी० जी० जुग ने लिखा है कि "आधुनिक मनोविज्ञान अवचेतन कल्पना की उद्भावनाओ को अवचेतन मे घटित होते रहने वाले व्यापारो को आत्म-छबियो के रूप मे, अथवा अवचेतन मानस मूल (unconscious psyche) के निज विषयक कथन के रूप मे मानते है। ये दो कोटियो मे रखे जाते हैं। प्रथमत, ऊहाएँ (स्वप्नो को मिलाकर), जो निजत्व गुणो से युक्त होने के कारण निर्विवादेन विगत निजी अनुभवो से विस्मृत या दमित बातो से सबधित होती है, और इनको व्यक्तिगत विस्मृति(amnasis) से पूरी तरह समझाया जा सकता है। दूसरे, वे ऊहाएँ (स्वप्नो को मिलाकर) जो निर्वैयक्तिक प्रकृति की होती है, जिन्हे व्यक्ति के अपने विगत कालीन अनुभवो के रूप मे नही परिणत किया जा सकता, और ऐसे ही जिन्हे व्यक्तिश उपार्जित किसी वस्तु के रूप मे नही समझाया जा सकता। ये ऊहा-चित्र निर्विवादेन धर्मगाथिक मानको (type) से अपना निकटतम साम्य रखते है। अत हमे यह मानना पडेगा कि ये सामान्य मानव मूल मानसिकता के किसी सग्रहीत (और निजी नही) निर्माण-तत्वो के समवायी है, और, मानव शरीर के निर्मायक तत्वो की भाँति उत्तराधिकारावगत (inherited)। इसी को जुग महोदय ने 'सग्रहीत अवचेतन' का नाम दिया है।[४] जुग महोदय ने जिस रूप मे 'सग्रहीत मानस' की परिभाषा दी है, वह एक प्रकार से प्राय वही है जो हमारे लोक-मानस की है। केवल एक महत्वपूर्ण अन्तर प्रतीत होता है, वे उसे निर्माण-तत्वो के समवायी मानते है। हमने उसे आरभिक आदिम मूल मानसिकता के रूप मे ग्रहण किया है, यद्यपि हमने भी उनकी प्रवृत्ति मे निरन्तर निर्मायक तत्वो का शील परिलक्षित किया है। ऐसा लगता है जैसे जुग उस मानस को पूर्णत अवचेतनानुरूपी समझते हो, और चेतन प्रक्रियाओं के क्षीण होने पर ही इनका दमित भावनाओ की तरह उद्धरण होता हो। हमने यह माना है कि यह मानव मे अवचेतनस्थ होते हुए भी मानव की प्रत्येक अभिव्यक्ति को किसी-न-किसी रूप मे वेधित रखते है। चेतन मे भी एक विशिष्ट व्यापार रहता है जिसे मनोविज्ञान की व्याख्या से नही समझाया जा सकता।

वस्तुत यह अन्तर मार्गों का ही अन्तर प्रतीत होता है। हम मानवीय अभिव्यक्तियो की

४ इन्ट्रोडक्शन टू दि साइंस ऑफ मैथालॉजी; पृ० १०२, १०३।

प्रकृति मे लोक-मानसिकता की परपरागत व्याप्ति देख कर लोक-मानस की सत्ता का साक्षात्कार कर चुके थे। जुग महोदय ने अपने मनोविश्लेषण के अनुसधान मे इस सग्रहीत तत्वो के आक्षेप को भी अवचेतन मे स्फुरित होते पाया है। हमे यही यह सदेह होता है कि क्या निर्माण-मूलक अनुभव अवचेतन को उत्तराधिकार मे मिल सकते है ? इसीलिए हमारा लोक-मानस आदिमतम मानव की प्रथम मानसिकता का परिणाम ही सिद्ध होता है। अस्तु, जुग का यह सग्रहीत मानस तो प्राय हमारे लोक-मानस का ही प्रतिरूप है, किन्तु 'सग्रहीत मानस' की एक और परिभाषा भी हो सकती है। मानव की समष्टि मे मानवता विशेषित जो सामान्य चेतन-प्रक्रिया मिलती है, वह भी 'सग्रहीत मानस' (collective mind) कहा जा सकता है। यह सग्रहीत मानस तो निष्कर्ष-प्राप्त मानस है, अथवा व्यष्टि-व्याप्त चेतना प्रक्रियाओ का समष्टिरूपेण ग्रहीत मानस का अमूर्त (abstract)) प्रतिपादन-माना।

§३ किन्तु, यह समस्त ऊहापोह हमने यहाँ इसीलिए की है कि हम लोक-मानस की सत्ता को वैज्ञानिक धरातल पर और भी अच्छी तरह समझ सके। इसी लोक-मानस की अभिव्यक्ति जहाँ जिस परिभाषा मे मिलती है, वहाँ उसी मात्रा मे लोकतत्व विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से लोकतात्विक अध्ययन का मूल लक्ष्य भौगोलिक और ऐतिहासिक दोनो पक्षो मे लोकतत्वो का अनुसधान करना होगा।

§४ लोकतत्व की तात्विकता को लेकर आज हमने जिस लोक-मानस का प्रत्यक्षीकरण किया है, उससे लोकतत्व के क्षेत्र मे एकदम क्रान्ति प्रस्तुत प्रतीत होती है। इसे क्रान्ति न भी कहे तो विकास कह सकते है और इस विकास की ये सीढियाँ हो सकती है। लोकतत्व क्रमश (अ) सभ्यता विरहित प्रगतिरुद्ध आदिम प्राणियो मे अर्थात् प्रिमिटिव या जगली जातियो मे, (आ) सभ्यता विरहित अनपढ ग्रामीण समाज मे, (इ) सभ्यता विरहित निरक्षर नगर-समाज मे, (ई) अर्द्धसभ्य अर्द्ध-शिक्षित नगर-समाज मे, (उ) सभ्य समाज मे। इससे यह स्पष्ट है कि धीरे-धीरे लोकतत्व की सत्ता का विस्तार होता गया है, और आज सपूर्ण मानव-समाज मे उच्च से उच्च स्तर पर भी स्वीकार किया जाने लगा है। इसी का यह परिणाम है कि अब जगली लोगो के लोक-साहित्य को ही अध्ययन का विषय नही बनाया जाता, नगरो के नागरिको से भी लोक-साहित्य के सकलन की प्रथा आरभ हो गयी है। इसी को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने के लिए अब साहित्य मे भी लोकतत्व के अनुसधान के प्रयत्न होने लगे है।

§ ५ किन्तु लोकतत्व और लोक-मानस के क्षेत्र को आज और भी विस्तृत रूप दे दिया गया है। उसमे इतने पारिभाषिक लोक-मानस की प्रत्यक्ष व्याप्ति की आवश्यकता नही। सामान्य अर्थ मे सामान्य लोक सबधित बाते भी लोकतत्व-युक्त मानी जाती है। उदाहरण के लिए किसी साहित्यिक अभिव्यक्ति को ले तो उसमे ये तन्तु मिलेगे—(क) भाषा वर्ग—(अ) लोक-प्रचलित सामान्य लोकभाषा या जनपदीय भाषा, (आ) इसमे लोक-प्रचलित मुहावरे, (इ) इसमे ठेठ ग्राम्य या जनपदीय शब्द, (ई) इसमे प्रयुक्त लोकोक्तियाँ, (उ) लोक ज्ञान-विज्ञान विषयक ठेठ किन्तु पारिभाषिक शब्दावली; (ऊ) विविध ज्ञान-विज्ञान से लिये गये

पारिभाषिक शब्दो की लोकतात्विक परिणति।[५] (ख) छन्द वर्ग मे—(अ) वे छन्द जिनको शास्त्रो ने स्वीकार नही किया, (आ) वे गीत जो किसी लोकाचार का आवश्यक अग रहे है, (इ) वे गीत और छन्द जो अत्यधिक लोक-प्रचलित होने के कारण उच्च साहित्य द्वारा परित्यक्त हो गये है, (ई) वे छन्द जिनके निर्माण का आधार अशास्त्रीय पद्धति हो, (उ) तुके या टेके। (ग) प्रतिपादक वर्ग मे—(अ) ऐसे उपमान या अवर्ण्य जो लोक-क्षेत्रीय हो, (आ) सदर्भित कथाश या नाम जो लोक-प्रचलित हो या लोकवार्त्ता परक हो, (इ) विविध रीति-रिवाज, लोक-विश्वास, लोक ज्ञान-विज्ञान, देवी-देवता, पूजा-अनुष्ठानादि, (ई) धर्म गाथा विषयक प्रसग। (घ) प्रतिपाद्य वर्ग मे—I (अ) कथावस्तु मे लोक-कथा या पुराण-कथा का कथानक, (आ) उस कथानक के कथा मानक रूप (tale type), (इ) कथा मानक रूपो मे अभिप्राय (motive), (ई) अभिप्रायो मे मूल मानक। II (अ) प्रतिपाद्य दर्शन और सिद्धान्त, (आ) चेतन पक्ष तथा अवचेतन पक्ष, (इ) मूल मानक की दार्शनिक और सैद्धान्तिक प्रणालियाँ। ऊपर जो विश्लेषित विस्तृति साहित्यिक अभिव्यक्ति के ततुओ की दी गयी है, उसमे उन तन्तुओ के लोकतात्विक पक्ष की ओर सकेत साथ ही दिया गया है, इससे यह प्रकट हो सकता है कि लोकतत्व का क्षेत्र अब समग्र अभिव्यक्तिपरक हो गया है।

§ ६ इस समग्र लोकतत्व के अध्ययन के लिए अब तक जो प्रयत्न किये गये है उनके प्रकारो का सक्षेप मे यहाँ अवलोकन करना समीचीन होगा। इस दिशा मे सब से प्रथम प्रयत्न 'लोक-क्षेत्रीय वर्तमान लोकवार्त्ता का सकलन' का दृष्टिगत होता है। यह सकलन आदिम या जगली जातियो से पूरी-पूरी तरह किया जाना चाहिए। विश्व भर के प्रिमिटिव कहे जाने वाले लोगो की वार्त्ता का सकलन हो कर उसका कोश प्रस्तुत होना चाहिए। (क) दूसरा प्रयत्न इसी प्रकार ऐतिहासिक लोकवार्त्ता का सकलन—अर्थात् विश्व-साहित्य मे उपलब्ध उस सामग्री का सकलन जिनमे लोक-क्षेत्रीय लोकवार्त्ता के तत्व विद्यमान हो। उदाहरणार्थ, लोक-क्षेत्र के सकलन मे एक 'चोर शिरोमणि' की कथा मिलती है। यह चोर राजा और राज्य के समस्त अधिकारियो को मूर्ख बनाता है और उन्हे छलता है। यह तो वर्तमानकालिक वार्त्ता है। यही वार्त्ता ऐतिहासिक अस्तित्व भी रखती है। (१) कई हजार वर्ष पूर्व मिस्र मे चौथे राजकुल का आरभकर्ता खूफू महान् था। उसका युग पिरेमिडो का युग है। यूनान के प्रसिद्ध इतिहासकार हेरोडोटस को एक पुजारी ने खूफू महान् से पूर्व के एक सम्राट् रहम्प्सिनिटस विषयक एक लोक-कहानी सुनायी। इस सम्राट् ने अपने खजाने का पक्का भवन बनवाया। कारीगर ने उसकी दिवाल मे एक ऐसा पत्थर लगाया जो बाहर से निकाल लिया जा सकता था और उससे खजाने मे घुसा जा सकता था। इस कारीगर ने यह रहस्य अपने दो लडको को बताया। कारीगर की मृत्यु के बाद दोनो भाई पत्थर हटा कर खजाने से खजाना चुराने लगे। इसमे ये अभिप्राय आये है—राजा ने इस चोर को पकडने के उपाय किये। खजाने की

---

५. जैसे सिद्धो के 'ख-सम' (=शून्य) को परमतत्व के अर्थ में संतो ने भी ग्रहण किया पर उसमे लोक-क्षेत्र मे प्रचलित अर्थ (खसम=पति) भी स्वीकार कर लिया। इस प्रकार विशिष्ट पारिभाषिक शब्द को लोक-भूमि पर ला कर उसे अपने लिए पुनः पारिभाषिक बना लिया।

चोरी करते समय एक भाई जाल में फँस गया। उसके कहने से दूसरा भाई उसका सिर काट ले गया। वह भाई अपने भाई के धड को उस घड के रक्षको को धोखा देकर चुरा ले गया। राजा ने अपनी लडकी को चोर को पकडने भेजा। चोर उससे मिला और भाई का सिर काटने और उसका धड चुरा ले जाने की बात उससे बतायी। लडकी जब उसे पकडने लगी तो वह उसके हाथ मे एक कटा हाथ देकर चम्पत हो गया। राजा ने मुनादी करा के उसे क्षमा किया और अपनी लडकी से उसकी शादी कर दी। आज भारत मे लोक क्षेत्र से सकलित 'चोर-शिरोमणि' की कथा का और इस मिस्र के चोर-शिरोमणि के कथा-विधान का साम्य अत्यन्त स्पष्ट है। अत ऐसी सामग्री को साहित्य और वार्ता से एकत्र कर के उन्हे इतिहास-क्रम मे प्रस्तुत करना तथा इनका भी कोश बनाना चाहिए। (ख) तब ऐसी सामग्री मे से तुलनाएँ प्रस्तुत करना। इन तुलनाओ से साम्य-वैषम्य के युगो और क्षेत्रो का निर्वाचन करना। (ग) कथा-सामग्री की इस तुलना के द्वारा—(१) 'मूल-कहानियो' का रूप निर्धारण करना। (२) मूल कहानियो मे से 'कथामानको' (tale type) का निरूपण करना, (३) कथा मानको से अभिप्रायो का सकलन, (४) अभिप्रायो मे से आदि मूलक अभिप्रायो की स्थापना, (५) अभिप्रायो के धर्मगाथा और लोककथा मे प्रयोग। (घ) इस रूप मे प्रस्तुत मूल कहानियो, कथा मानको और अभिप्रायो का जातिगतक्षेत्र, भौगोलिक क्षेत्र, ऐतिहासिक परिवर्तन-सवर्द्धन, इनकी यात्राएँ तथा आदान-प्रदान आदि पर विचार। (ङ) अन्य लोक-साहित्यिक रूपो का भी इस प्रकार सकलन-विश्लेषण-अध्ययन। (च) इसी के साथ अभिप्रायो के आदिमूल मानक (arch type) पर विचार, उदाहरणार्थ—'बालक-अभिप्राय' (child motif) लिया जा सकता है।

पहले 'बालक-अभिप्राय' के विविध रूपों को विश्व सकलित वार्त्ता-कोशो से तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया जा सकता है, यथा—मिस्र की पुराण-कथा मे 'होरस' की ऐसी ही अवस्था है। होरस का पिता ओसिरिस उसके भाई सेत द्वारा एक कफन मे जिन्दा बद कर समुद्र मे बहा दिया जाता है। सेत राजा हो जाता है। ओसिरिस की स्त्री आइसिस मारी-मारी फिरती है। तभी होरस का जन्म होता है। सेत को पता लग जाता है। वह माँ-बेटे को एक मकान मे बदी बना लेता है। सेत होरस को मार डालना चाहता है कि कही वह अपने पिता के राज्य का दावेदार न बने। किन्तु थोक आइसिस को इस सकट की सूचना दे देता है। आइसिस होरस को लेकर भाग कर बूटो (Buto) पहुँचती है। वहाँ होरस को नगर की कुमारी देवी उआज़ीत (Uazit) को सौप वह ओसिरिस की खोज मे निकल जाती है।[६] यह देवी सर्पिणी थी। इस कथा मे होरस के पिता नही, या मारी-मारी फिरती है, बदी हो जाती है, फिर वह होरस से बिछुड भी जाती है, उसका पालन-पोषण सर्पिणी (देवी) करती है। यूनान मे जियस का पिता क्रोनस तो स्वय ही अपने पुत्र का शत्रु है, क्योकि भविष्यवक्ता ने बताया है कि उसका पुत्र ही उसे मारेगा। अत जियस को जन्म लेते ही या तो क्रीट की एक गुफा मे ले जाकर छिपाया गया, या वह गुफा मे ही पैदा हुआ, और वहाँ गुप्त रूप से उसका पालन-पोषण डिक्टीअन देवियो ने और क्यूरेटीज़ ने किया। डायोनीसियस

---

६. ईजिप्शियन मिथ एण्ड लीजेण्ड : डानाल्ड ए० मेकेंज़ी, पृ० १८-१९।

को सास-ससुर ने चरित्र-दोष के सन्देह में निकाल दिया था। ऐसी असहायावस्था मे ही हनुमान जी का जन्म हुआ था। जैन क्षेत्र के 'प्रद्युम्न चरित्र' मे प्रद्युम्न जन्म के समय ही माँ-बाप से पृथक् कर दिया गया। उसे एक दैत्य पूर्व जन्म की शत्रुता के कारण उडा ले गया और एक पत्थर के नीचे दबा दिया। वहाँ से उसे विद्याधर कालभँवर और उसकी पत्नी ले गये, और उसका पालन-पोषण किया। उसने बाल्यावस्था मे ही अनेक अद्भुत पराक्रम दिखाये।

धर्मगाथा के क्षेत्र मे ऐसे कितने ही बालको का उल्लेख है जिन्हे असहायावस्था मे दिखाया गया है। प्रह्लाद को भी धर्मगाथा मे ऐसी असहायावस्था मे दिखाया गया है जैसे उसके माता-पिता या अभिभावक है ही नही। स्वय उसका पिता ही उसका शत्रु बन गया है। प्रह्लाद बालक को अनेक घातक कष्टो मे से होकर निकलना पडा है। प्रह्लाद को पहाड से नदी मे गिराया गया, जेल मे भूखो मारा गया, आग मे जलाया गया, उत्तप्त स्तम्भ से बाँधा गया, किंतु सब सकटो से वह बच गया।[८]

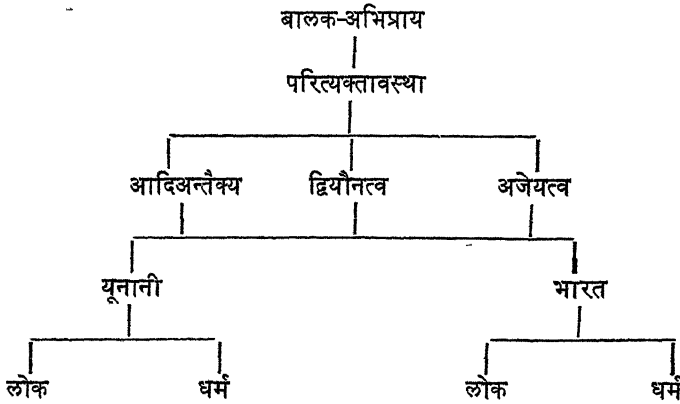
इसी प्रकार भारत मे अनेक लोक-कथाएँ है जिनमे बालवीर का जन्म असहायावस्था मे होता है, या जन्म के उपरान्त ही वह असहायावस्था या अनाथावस्था मे पड जाता है। यह असहायावस्था या अनाथावस्था वाला बालक या तो बाल्यकाल मे ही चमत्कार दिखाता है, या बाद मे आकर अत्यन्त प्रबल दिखायी पडता है। (१) उदयन-कथा मे मृगावती को गरुड उडा ले गया। पिता-रहित स्थिति मे उसका जन्म हुआ। साधुओ के आश्रम मे पालन-पोषण हुआ। (२) शकुन्तला को अप्सरा उडा ले गयी। पति से वियुक्तावस्था मे भरत का जन्म हुआ। यह भरत सिहो से खेलता था। (३) राजा नल के जन्म के समय उसकी माँ मझा को राजा प्रमथ ने महल से निष्कासित कर दिया था। उसे चाडालो को सौप दिया कि इसे मार डालो। पर चाडालो ने दया कर उसे छोड दिया। वह जगलों मे भटकती फिरी, ऐसे ही बियावान मे हीस के लता-गुल्म मे नल उत्पन्न हुआ। नाल काटने के लिए और जन्म के गीत गाने के लिए देवी आयी थी। तब

---

८. प्रह्लाद की इस बाल-कथा को 'कुल्लेर्वो' की कथा से मिलाइए। फिनिश (फिनलैंड की) पुराकालीन 'कुल्लेर्वो' नामक वीर की गाथा 'कलेवल' में दी गयी है। उस्टेमो नामक एक वीर ने अपने भाई कलेर्वो के समस्त वर्ग को नेस्तनाबूद कर दिया, केवल उसकी जवान पत्नी ही बच रही, वह गर्भवती थी। उसके पुत्र हुआ, जिसका नाम कुल्लेर्वो रखा गया। यह बालक तीसरे दिन ही पालने से उतर पड़ा और जब केवल तीन महीने ही का था और केवल घुटने तक ऊँचा था, तभी अपने पिता के शत्रु से बदला लेने का विचार करने लगा। अण्टेमो को पता चला तो उसने उसे मरवा डालने के कई यत्न किये—पहले एक बोतल में बंद कर लहरों मे फेंक दिया गया। दो रातें बीत जाने पर देखा तो वह बोतल से बाहर निकल आया था। और लहरो पर बैठा ताँबे के दंड को लिये, उसके रेशमी डोरे को पानी में डाल कर मछली का शिकार कर रहा था। तब बहुत सी सूखी लकड़ी की भारी आग मे डाल दिया गया, तीन दिन तक यह आग धधकती रही, तीसरे दिन भी वह उसमें जीवित था, बाल तक बाँका नहीं हुआ था। अब उसे पेड़ से बाँध दिया गया। यहाँ भी वह जीवित रहा—पेड़ पर बैठा चित्र बना रहा था।

मझा और नल को एक सेठ साथ ले गया। उसके यहाँ दोनो का पालन-पोषण हुआ। बाल्यावस्था मे ही नल ने दानव को मार कर मोतिनी से विवाह किया था।

अब इन समस्त रूपो की तुलना से यह स्पष्ट विदित होता है कि इसमे चार तत्व है—(१) परित्यक्तावस्था, (२) अजेयत्व, (३) द्वियौनत्व, (४) आदिअन्तैक्य। इनसे कथा के चार रूप प्रस्तुत होते है—(१) बाल-कथा, (२) वीर-कथा, (३) काम-कथा, (४) धर्म-कथा या मोक्ष-कथा। इन चारो तत्वो के योगायोग से भारत, यूनान तथा अन्य देशो की धर्म-गाथाएँ तथा लोकगाथाएँ पल्लवित हुई है—धर्मगाथाओ मे यह बालक 'देवता' बन गया है, बाल-कथाओ मे विलक्षण बालक। यह बाल-रूप वैयक्तिक मनोमूल का भी उतना ही परिणाम है जितना कि सग्रहीत मनोमूल का। सग्रहीत मनोमूल सृष्टि आदि मूल बालक का वाहन बना है। वैयक्तिक मनोमूल का आधार 'प्रथम मानव' है। इस समस्त सारणी को यो समझा जा सकता है—



इस प्रकार इन लोकतत्वो के सूत्रो का विवरण और इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता हे।

(ज) तब इन तत्वो का साहित्य उसकी ऊँची से ऊँची अभिव्यक्ति मे खोजना अपेक्षित होगा, क्योकि जिस प्रकार साहित्यकार जानबूझ कर अलकार, रीति, वृत्ति, छन्द, रस आदि का उपयोग करता है और अपनी अनुभूति उसके द्वारा प्रकट करता है वैसे ही अनजान और जान मे वह इन लोकतत्वो का भी उपयोग अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए करता है। इन अनुभूतियो के इस माध्यम का किस कवि ने साहित्यिक सौन्दर्याभिवृद्धि के लिए किस प्रकार उपयोग किया है, यह जानना आज आवश्यक हो गया है, क्योकि साहित्य-शास्त्र मे जिन जड तत्वो के उपयोग से काव्य-सृष्टि के अध्ययन का उल्लेख हुआ है, उनका जीवन की गहराइयो से उतना सबध नही। ऐसा ही अध्ययन धर्म और अस्थाओ का भी करना होगा। उनके लोक-विकास से साहित्य को और मानवीय सम्यता को क्या मिला है, यह अनुसधान भी अपेक्षित होगा।

§७ वस्तुत मानव का समस्त प्रयत्न अपने स्वरूप की समग्र उपलब्धि के लिए है। इस उपलब्धि की सफलता के लिए लोकतात्विक अध्ययन आज अनिवार्य सा प्रतीत होता है।

●

हजारी प्रसाद द्विवेदी

संत साधना में सीमा और असीम

सन्तो और योगियो की दृष्टि मे यह सारा व्यक्त जगत् सीमा और असीम की क्रीडा-भूमि है, शिव और शक्ति का लीला-निकेतन है और अगुण और सगुण का मिलन-क्षेत्र है। एक तत्व है जो अनन्त की ओर गतिशील है। दूसरा तत्व है जो उसे सीमा की ओर खीच रहा है, इसीलिए यह सारी सृष्टि रूपायित हो रही है। रूप क्या है? अरूप गतिमय असीम को सीमा मे उपलब्ध करने का परिणाम । गति असीम है, तालो मे बँधने पर वह सीमित हो जाती है और एक रूप ग्रहण करती है। सीमा और असीम के इस द्वद्व को ही हम नृत्य के रूप मे उपलब्ध करते है। स्वर अनन्त है, छन्द उसको सीमा मे बॉधने का प्रयत्न है। छन्द, लय, ताल इत्यादि के बधनो मे बंधा हुआ स्वर ही काव्य और गान के रूप मे उपलब्ध होता है। इसी प्रकार शब्द असीम है, अपार है। अर्थ के द्वारा उसे हम भाषा मे बाँधने का प्रयत्न करते है। जहॉ देखो, इस सीमा और असीम की केलि-लीला दिखाई दे रही है। मध्य-युग के सतो और भक्तो ने नाना भाव से इस तत्व को हृदयगम किया है। किसी ने शिव-शक्ति के रूप मे, किसी ने प्राण-अपान के रूप मे, किसी ने चित्-अचित् के रूप मे इस द्वद्व को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। जीव, सीमा से बँधा हुआ है, वह प्रत्येक वस्तु को नाम और रूप की सीमा मे बाँध कर देखना चाहता है, यही उसके लिए सहज है और अरूप तत्व को या अध्यात्म-तत्व को इसी सहज भाषा मे कहने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य के इस शरीर मे यह ब्रह्माण्डव्यापी लीला चला करती है। इस ब्रह्माण्ड की इस विश्व-व्यापी लीला को ब्रह्म और माया, शिव और शक्ति, अलेख और लेख, राम और जानकी, कृष्ण और राधा की लीलाओ के रूप मे ग्रहण किया गया है। जीव इन नाम-रूपो के माध्यम से अनाम और अरूप को स्मरण करता है और प्राप्त करता है। दूसरा रास्ता नही, यही सहज मार्ग है। इसी मार्ग से चलता हुआ साधक नाम और रूप के बंधन से छूट कर 'स्वयं-रूप' हो रहता है।

यह क्या कभी सभव है कि जिसे वह शिव, ब्रह्म या राम कहता है, जिसे वह अरूप और अनाम तत्व मानता है उसे नाम और रूप के माध्यमो को छोड कर अन्य किसी माध्यमो से ग्रहण कर सके? शायद नही। परन्तु अरूप तत्व किसी-न-किसी दिन उसे दिख अवश्य जाता है। माता प्यार से जब अपने पुत्र को चूमती है तो विशुद्ध आनन्द की एक झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनो मे जब प्रिय को निश्शेष भाव से आत्म-समर्पण करने की लालसा दिख जाती है तो इस रूप को आश्रय कर के अगाध और अपार प्रेम-समुद्र की एक झॉकी मिल जाती है। विपत्ति मे फँसे हुए असहाय प्राणी की सहायता के लिए जब कोई अपने को धधकती हुई अग्नि में, विस्फूर्जित

तरग-वारि-धारा मे या ऐसे ही किसी सकटापन्न स्थान मे अनायास फेक देने के उल्लास से चचल हो उठता है तो भगवान् के निर्मल प्रेम रूप का परिचय प्राप्त होता है। प्रेम और स्नेह मे दया, माया और त्याग-तप मे, उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार हमे नित्य मिलता है। परन्तु रूप को आश्रय करके यह जो अरूप का प्रत्यक्षीकरण है वह बडा ही क्षणिक होता है। हर उडान को धरती नीचे खीच लेती है, हर गति को सीमा अपने मे समेट लेती है। यदि हम कमल के ठोस आधार के बिना भी उसकी प्रफुल्लता को हृदयगम कर लेते तो उस अनन्त, अपार, रूप-हीन, सीमा-हीन, अनवच्छिन्न (एक्स्ट्रेक्ट) प्रफुल्लता के माध्यम से अरूप तत्व को अनायास पा जाते——

हदै छाँडि बेहद गया, हुवा निरतर बास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरखै निज दास ।।

इस दोहे मे कबीरदास ने उसी अनाम, अरूप की ओर इगित किया है। फूल के बिना क्या प्रफुल्लता की कल्पना की जा सकती है ? सोचने से दिमाग मे चक्कर आने लगता है। सूर्य के ठोस बिब मे जो ज्योति है उसे क्या उस ठोस की कल्पना किये बिना ध्यान मे लाया जा सकता है ? बडी कठिन साधना है। जगत् मे हम इस अनन्त ज्योति को, अनन्त प्रेम को, अनन्त प्रफुल्लता को देख अवश्य लेते है, परन्तु क्षण-भर मे वह विलीन हो जाती है। किस रूप मे वह अरूप परम तत्व नही झलक जाता। प्रत्येक पिड मे वह मनुष्य को किसी-न-किसी रूप मे दिख अवश्य जाता है। जिस क्षण दिखाई देता है वह क्षण मनुष्य-जीवन का सब से सार्थक, सब से महत्वपूर्ण और सब से उत्तम क्षण होता है। खोजने वाला यदि कुछ अभ्यास करे तो उसे निराश नही होना पडेगा। सपूर्ण रूप तो उसी ज्योति से परिपूर्ण है। उस असीम को नित्य सीमा मे देखा जा सकता है, देखने की दृष्टि होनी चाहिए——

दादू अलख अलाह का, कुछ कैसा है नूर।
बेहद वाको हद नही, रूप-रूप सब पूर।।

सपूर्ण रूपो को परिपूर्ण कर के वह वर्तमान है और सब से ऊपर है। वेदो की भाषा मे कहे तो वह सब को व्याप्त कर के भी सब से दश अगुल ऊपर रहता है। "स सर्वतस्पृत्वाऽत्यतितिष्ठद्दशागुलम्"——सब को व्याप्त कर के सब से ऊपर। यह कहने की एक पद्धति-मात्र है। इसका भाव वही है जो कबीर ने कहना चाहा था। यह रूप के छोटे से अश मे झलक जाने वाली अनन्त सत्ता को अभिव्यक्त करने की एक शैली है।

प्रतिक्षण, प्रतिवस्तु मे, प्रति क्रिया मे उसे देखा जा सकता है। अभागे-से-अभागे मनुष्य के जीवन मे कोई-न-कोई क्षण ऐसा आता है जिसमे वह उस दिव्य ज्योति की झलक पा जाता है, प्रेम-स्निग्ध आचरण मे उस महिमा की झलक मिल जाती है, कृतज्ञता के आँसू मे वह अपार पारावार उमड आता है और प्रफुल्ल प्राणो मे वह आनन्द का महासमुद्र हिलोरे लेते हुए देख लिया जा सकता है। परन्तु मनुष्य उसे हमेशा के लिए बाँध नही पाता। सब बधनो मे विराजते रहने पर भी वह निर्बन्ध है, विराट है, अरूप है। क्यो नही उसे चिरकाल तक बाँधा जा सकता है ? कबीरदास ने बडे दुख से कहा था कि हाय, हाय, सीमा से अभिलक्षिता प्रिया जिस प्रेमिक के लिए नित्य व्याकुल हो कर खोजती फिरती थी, वही सौंदर्य और प्रेम का आश्रयस्थल आनन्द-

मनोहर प्रिय उसे दिख गया। हाय री अभागिन, तू उसके चरणो मे कैसे लिपट जाएगी, तेरे कपडे तो गदे है और उस प्रिय का रूप निर्मल और पवित्र है। एक क्षण की हिचक और अनन्त काल का वियोग !—

जा कारणि मै ढूंढता, सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौ पाइ॥

यह जो ऊपरी आवरण की गदगी है, भीतर चित्त मे जमी हुई मैल की किट्ट है, वही इस मिलन मे बाधक है। साधना के द्वारा इसी मैल को दूर किया जा सकता है। अभ्यास के द्वारा चित्त की इसी गदगी को साफ किया जाता है, क्योकि जिस समय वह दिखाई दे जाय और उसके चरणो की पगध्वनि सुनाई दे जाय उस समय हिचक न हो। हिचक मानसिक और शारीरिक गंदगी के कारण होती है। उसीको दूर करने के लिए नाना भाव के साधनो का अभ्यास किया जाता है। साधना का मतलब यह नही है कि जो परम प्रेयान् तत्व है उसे कही बाहर से ढूँढ लाया जाय। परम प्रेयान् तत्व तो भीतर भी है और बाहर भी। बाहर कल्पना करो तो वह निरन्तर भीतर आने का प्रयास करता दिखेगा और भीतर कल्पना करो तो वह निरन्तर बाहर प्रकाशित होता दिखाई देगा। कबीरदास ने कहा है—

मोको कहाँ ढूँढ़ै बन्दे, मै तो तेरे पास मे।
ना मै देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास मे।
ना तौ कौनो क्रिया-कर्म मे, नही जोग बेराग मे।
खोजी होइ तौ तुरतै मिलिहौ, पल भर की तालास मे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसो की स्वाँस मे॥—कबीर, पृ० २३०।

नाथ साधको ने अपनी विशिष्ट भाषा मे इसी तत्व को इस प्रकार व्यक्त किया है कि यह जो सीमा और असीम का द्वद्व है वही सृष्टि के रूप मे अभिव्यक्त हो रहा है। जिस दिन इस अरूप और रूप का परिचय हो जाएगा, जिस दिन इनका द्वद्व मिट जाएगा, दोनो समरस हो जाएँगे, वही परम चरितार्थता का दिन है। सच तो यह है कि भाषा-गत विभिन्नता और जटिल रूपको की कल्पना के अन्तराल मे वह एक तत्व मध्ययुग के सभी भक्तो मे दिखाई दे रहा है। इसी तत्व को उपलब्ध करने का साधन है समरसीकरण। नाथ-साधको ने और शाक्त-साधको ने जो बात कही है उसकी भाषा और साधना-प्रणाली मे भेद है, फिर भी मूल तत्व वही है। अरूप और रूप, अर्थात् शक्ति और शिव, जिस दिन समरस होकर एकमेक हो जाएँगे उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टि-चक्र अपने आप निश्शेष हो जाएगा। शक्ति कुडलिनी रूप से देह मे स्थित है और शिव भी सहस्रार रूप मे इसी पिंड मे स्थित है। नाथ साधको ने कहा है कि कुण्डली जन्म-जन्मान्तरो के मल के भार से दबी हुई है। यह वही भाव है जिसे कबीरदास ने 'धण मैली' कह कर प्रकट करना चाहा है। नाथ और शाक्त साधको का विश्वास है कि यदि मनुष्य गुरूपदिष्ट मार्ग मे स्थित रह कर उसकी बताई विधियो से निष्ठापूर्वक आचरित ध्यान और धारणा के बल से वायु को सयमित करे और नाडियो को शोध कर पवित्र करे, तो फिर परम पवित्र सुषुम्ना मार्ग खुल जाय जिसके ब्रह्म-रध्र को ढँक कर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोयी हुई है। वस्तुत यह सृष्टि ही कुण्डली है। वह दो

प्रकार की है स्थूल और सूक्ष्म। कहा गया है कि साधारणत स्थूलरूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते है। अज्ञान के बोझ से दबे रहने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नही जान पाते। सिद्धियाँ स्थूल कुडलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं, परन्तु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी परासवित्, जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है, उसको पहचाने बिना परम-पद नही मिलता। शक्ति जब उद्‌बुद्ध हो कर शिव के साथ समरस हो जाती है—इसी को 'पिड-ब्रह्माण्डैक्य' भी कहते है—तो योगियो की परम-काम्य कैवल्य अवस्था वाली 'सहज समाधि' प्राप्त होती है जिससे बढकर आनन्द और नही है। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेद-पाठ से नही, ज्ञान से भी नही, वराग्य से भी नही।

जो इस सहज समाधि रूप परम विश्राम को पाना चाहे वह अच्छे गुरु के चरणकमलो की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा और न शिव-शक्ति-सामरस्य ही—

अनुबुभूषति यो निजविश्रम स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुससरणात् परम पद समरसीकरण च न दूरत ॥—सि० सि० स० ५५८।

यही सहज समाधि है। कबीरदास ने इसी को प्रकट करने के लिए कहा है कि—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन तै उपजी दिन दिन अधिक चली॥
जँह जँह डोलौ सोइ परिकरमा जो कुछ करौ सो सेवा।
जब सोवौ तब करौ दण्डवत पूजौ और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खाँवपियौ सो पूजा।
गिरह उजाड एक सम लेखौ भाव न राखौ दूजा॥
आँख न मूदौ कान न रूँधौ तनिक कष्ट नही धारौ।
खुले नैन पहिचानौ हँसि हँसि सुदर रूप निहारौ॥
सबद निरतर से मन लागा मलिन बासना त्यागी।
ऊठतबैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमनि रहनी सो परगट करि गाई।
दुखसुख से कोई परे परमपद तेहि पद रहा समाई॥

योगमार्गी साधको ने विवेक और वैराग्य पर अधिक बल दिया है। विवेक से सत् और असत् का ठीक-ठीक स्वरूप समझ मे आता है, वैराग्य से असत् का त्याग होता है। किन्तु केवल वैराग्य मात्र पर्याप्त नही है। अन्तरतर मे बैठे हुए परम देवता के साथ जब तक प्रीति-सम्बन्ध का भाव उदित नही होता, तब तक सिहद्वार बन्द ही रहेगा और उस महाप्रेमिक का भक्त के हृदय के अन्त पुर मे प्रवेश करना कठिन ही रह जाएगा। इसीलिए सिहद्वार का खुलना आवश्यक है—

सुरति समाणी निरति मे, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुलि गया स्यभ दुवार॥

संतो के साहित्य मे इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत मिलेगी जिन्हे मूल तत्व के समझे बिना अटपटी, बेतुकी और निरर्थक मान लिया जा सकता है। अस्तु।

योग-प्रथित साधनाओ का जो रूप है वह नाना भाव से एक ही विषय की ओर सकेत

करता है। मनुष्य के प्राण (अर्थात् वायु), वाक्, मन और बुद्धि बहिर्मुख है, उन्हे अन्तर्मुख करके साम्यावस्था मे ले आना ही योग है। ससार भर के जीव इस बहिर्मुखी प्रवृत्ति मे उलझे हुए है। उस बहिर्मुखी प्रवृत्ति से उन्हे बचना है तो धारा को उलटना होगा। जो बहिर्मुख है वह अन्तर्मुख होने पर ही धन्य हो जाता है। सारा भ्रमजाल और कर्म-कोलाहल इस बहिर्मुखी वृत्ति का परिणाम है। यही समस्त दु ख और क्लेश का हेतु है। इससे निरत हो कर अन्तर्मुख होने को प्रकृति का नाम ही निरति है। अन्तर्मुखी वृत्ति निरति है और भीतर बैठने का और मन और पवन को समरस करने का नाम समाधि है। योगी यही आकर रुक जाता है। शुद्ध चैतन्य अपने को 'केवल' चैतन्य के रूप मे उपलब्ध कर ले तो उसे 'केवल' प्राप्त हो जाता है। परन्तु क्या सारी साधना का आडबर इतने के लिए ही है? क्या चित् का यह अहेतुक ओत्सुक्य जो मनुष्य को इतना कुछ करने के लिए यत्नशील बनाता है सिर्फ इसीलिए है कि समझ लिया जाय कि वह कुछ नही था? यह अकारण, अहेतुक उल्लास किसी और गहरी बात की ओर इगित नही करता? कब तक टिकेगी यह निराधार निरर्थक समाधि? जन्म-मरण का यह चक्र, कर्म और भ्रम का यह जजाल क्या इतना ही कमजोर है कि सिर्फ केवल चिन्मात्र की उपलब्धि के बाद निरस्त-तेज हो जाएगा? सन्त साधक कहता है कि यही रुकना खतरे से खाली नही। और गहराई मे कोई प्रेमी है, उसे पहचानना आवश्यक है, उसे जब तक नही पहचाना जाता तब तक योग अधूरा है। 'उनमनि' को तारी टूटते ही फिर ससार का बन्धन नीचे की ओर खीचता है। 'सुरति' मूल रूप मे स्मरण या स्मृति ही है, पर स्मृति किसकी? अन्तरतर मे बैठे हुए किसी परम प्रियतम को? बिरले ही योगी उसे पहचान पाते है। अगर निर्भय-निश्शक भाव से उस आयासलभ्य और साधनागम्य परम प्राप्तव्य को पाता है तो सुरति को प्रेमरूपा बनाना होगा। अगर उस प्रिय को सुरति (स्मृति) से सुरति (सु-रति—परमाप्रीति) नही प्राप्त होती तो जन्म और मरण का भय बना रहेगा। निरति निराधार है, सुरति साधार है। निरति और सुरति का, या प्राण-मन को अन्तर्मुख करने का एक विशिष्ट लक्ष्य है। यह लक्ष्य है प्रिय-समागम। योग-साधना केवल पाँच इन्द्रियो, मन और प्राण के बहिर्मुख की रोक है। सही लक्ष्य है प्रिय-समागम। उस प्रिय को पुकार का हो फल है कि मनुष्य साधना-मार्ग की ओर अग्रसर होता है—

कर्म औ मर्म ससार सब बस्तु है, पीव की परख कोइ सत जानै।
सुरत और निरत मन पवन को पकरि के, गग औ जमुन के घाट आनै।
पाच को नाथ करि साथ सोऽह लिया, अधर दरियाव का सुक्ख मानै।
कहै कबीर सोइ सत निर्भय धरा, जन्म औ मर्न का भर्म भानै।

सुरति-साधना स्थायी सिद्धि—प्रीति—प्रदान करती है।

लेकिन बात यही समाप्त नही हो जाती। योग-साधना हमे शब्द और अर्थ की गहराई मे ले जाती है। यह समूचा चराचर जगत् अर्थ है, पदार्थ है। उसके मूल मे शब्द है। ठीक है, पर अर्थ क्या केवल अर्थ है? वह अपने आप मे क्या कोई भाषा नही है? यह जो प्रात काल सूर्य की रश्मियाँ सोना बरसा देती हैं, चद्रकिरणे शाम तक रजतधारा मे धरित्री को स्नान करा देती है, ये क्या केवल अर्थ है? ये क्या कुछ कह नही जाती? किसके लिए यह आयोजन है? इतना रंग, इतना

राग, इतना छन्द, इतनी व्याकुलता जो जगत् मे प्रतिक्षण उद्भासित हो रही है वह क्या निरर्थक अर्थ मात्र है ? बीज जब अकुर-रूप मे फटता है तो क्या चराचर मे व्याप्त उल्लास की वेदना के साथ ताल नही मिलाता रहता ? रात को आसमान मे जो इतनी लालटेने निकल पडती है, वे क्या निरर्थक है ? किसी को खोजने को व्याकुल वेदना क्या उनमे नही सुनाई पडती ? कवि जो भाषा सुना करता है वह क्या केवल पागल मन का विकल्पमात्र है ? जो लोग अपने को विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान के अधिकारी घोषित करते है वे क्या सब का ठीक ठीक मतलब समझा सकते है ? कौन बताएगा कि रम्य वस्तुओ के वीक्षण से, मधुर शब्दो के श्रवण से चित्त मे पर्युत्सुकी भाव क्यो आ जाता है ? मनुष्य का हृदय साक्षी है कि ये पदार्थ भी भाषा है, इनका भी कुछ अर्थ है। जगत जो इतना रागमय है, छन्दोमय, वर्णमय है, ध्वनिमय है वह व्यर्थ है ? नही। 'व्यर्थ' अर्थात् अर्थ-शून्य, निरर्थक। इस दृश्यमान चराचर का भी अर्थ है, इस भासमान तरग-साम्य का भी मतलब है। योगी नही बताता कि अन्तरतर से जो छन्द के प्रति, राग के प्रति, रग के प्रति, इतना व्याकुल कपन उठा करता है वह पराशक्ति की किस विलास-लीला की अभिव्यक्ति है। गहराई मे कही कुछ छूट गया है, हठयोग और नादयोग उसे नही बता पाते। कही-न-कही अनुराग-योग का भी व्याकुल कपन और आत्मनिवेदन मानव हृदय के अन्तरतर मे विलसित हो रहा है।

सन्त-साधक मानता है कि ऊपर जिसकी चर्चा की गयी है उस सहज समाधि को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग हो सकते है। कुछ मार्गों की जानकारी हमे प्राप्त है, परन्तु और भी सहस्रो मार्ग है। यदि इस मूल-तत्व को ध्यान मे रखा जाय, तो किसी मार्ग के समझने मे बहुत कठिनाई नही होगी। जब किसी मार्ग का अनुयायी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य विषयो की सीमा मे बँधी हुई किसी भी प्रक्रिया, मत्र, नाम, मूर्ति, ध्यान आदि को अपने आप मे ही चरम लक्ष्य मान ले तो समझना चाहिए कि वह गलत रास्ते जा रहा है। मूल वस्तु है हृदयस्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप मे निरतर व्यक्त होते रहने वाले परम प्रेयान् के वास्तविक, असीम, अनन्त रूप को जगत् मे अभिव्यक्त होने वाली अनन्त वासनाओ, विद्याओ और कर्मो के साथ एक रूप कर के देखने की योग्यता प्राप्त करना। बाकी सब साधन हैं। साध्य यही है। जिस कारण से भी यह स्थिति प्राप्त हो सके वही स्वागत योग्य है। गुरु की कृपा से चित्त मे उस परम प्रेयान् को पाने की व्याकुलता जग सकती है परन्तु अनाडी गुरु साधन को ही साध्य बता कर मार्ग रुद्ध कर सकता है। इसलिए सहज मार्ग तो यह है कि जब कभी सयोग से या भाग्य से किसी रूप मे वह अरूप सौंदर्य झलक जाय, उसी क्षण उसे ही अपना गुरु मान लिया जाय। मानव-गुरु इस वास्तविक गुरु को प्राप्त कराने मे सहायक हो सकता है। गुरु रूप मे वह जब आता है तो क्षणिक दर्शन के बाद भी चित्त मे अद्भुत व्याकुलता उत्पन्न कर देता है। जिस दिन यह व्याकुलता आ जाय, जिस दिन एक क्षण का वियोग भी असह्य हो जाय उसी दिन को सच्चा प्रेमोदय का काल समझना चाहिए। साधारण व्यक्तियो के सच्चे प्रेम मे भी यह क्षण-दर्शन-जन्य व्याकुलता और उसकी तड़प दिखाई दे जाती है। फिर वह व्यक्ति तो धन्य है जो इस तत्व मे रमा हुआ है कि उसे साहचर्य ही अधिक और वियोग ही कम मिलता है। कालिदास ने अपने प्रसिद्ध 'विक्रमोर्वशीय' नाटक मे उर्वशी को देख कर पुरुरवा के चित्त मे उत्पन्न हुई व्याकुलता से इस तत्व की ओर इगित किया है।

पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि 'हे सुन्दरि, दैवयोग से एक क्षण के लिए भी तुम जिस मनुष्य के अबन्ध्य नयनो के सामने उपस्थित हो जाती हो वही तुम्हारे लिए व्याकुल हो जाता है। फिर जो सखियाँ निरन्तर साथ रहने के कारण ही स्नेहार्द्र है उनकी तो बात ही क्या है'—

यदृच्छया त्व सकृदप्यबन्ध्ययो, पथि स्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयो।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्, सखीजनस्ते किमुनार्द्रसौहृद ॥

इसी प्रकार की व्याकुलता जिस दिन पिड-स्थित शोभा या प्रीति को देख कर ब्रह्माण्डस्थित शोभा और प्रीति के लिए उत्पन्न हो जाय वही दिन धन्य होता है। इस विरह के बिना मनुष्य का जीवन निष्फल है। उसका होना भी क्या, न होना भी क्या ? जिस हृदय मे यह प्रेम की व्याकुलता नही है वह है भी तो क्या, नही भी है तो क्या ? वह श्मशान है। कबीर ने कहा है कि—

बिरहा बुरहा जिन कहौ, बिरहा है सुलतान।
जिस घटि बिरह न सचरै, सो घट सदा मसान॥

सच्चा गुरु इसी व्याकुलता को जगा देता है। इस प्रकार सासारिक दृष्टि से जो व्यक्ति सुखी था, वह देखते-देखते असुखी और व्याकुल हो जाता है। यह सत्गुरु की कृपा है, या कसकर मारा हुआ बाण। इस शब्द की चोट से गुरु जब मारता है तो उसका बाण हृदय को आरपार कर के बेध देता है। यही व्याकुलता साधना का वास्तविक आरभ है। जिसे गुरु का बाण लग जाता है वह व्यवहार की दुनिया से समाप्त ही हो जाता है। बडी जबरदस्त चोट होती है यह—

सतगुरु मारया बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि,
अगि उघाडै लागिया, गई दुआ सूँ फूटि।
मारया है जे मरैगा, बिन सर थोथी भालि,
पडया पुकारै बृक्ष तरि, आजि मेरै कै काल्हि॥

इसी व्याकुलत. से मनुष्य का जीवन चरितार्थ होता है। सहज साधना इसी व्याकुलता को जगा देने से स्वय अग्रसर होने लगती है। नाम के साथ नामी जुडा हुआ हे, व्याकुल भाव से उच्चरित नाम नामी को खीच लाता है। 'मत्र' क्या है ? शब्द द्वारा अभिव्यक्त अर्थ के साथ मानस योग। मत्रशास्त्र मे बताया गया है कि जब तक अभीष्ट अर्थ के साथ मानस सयोग नही होता तब तक मत्र से सिद्धि नही मिलती। इसे ही 'मत्र-चैतन्य' कहते है। मत्र के साथ चेतन-सबध ही मत्र-चैतन्य है। सन्त 'नाम' और 'सुमिरन' के द्वारा इसी चैतन्य को उद्‌बुद्ध करता है।

'मन्त्र-चैतन्य' के इस सिद्धान्त को यदि हम ठीक पकड लें तो बहुत-सी और बाते आसान हो जाएँगी। मन्त्र-साधना करने वाले अनेक प्रकार के यन्त्रो की भी साधना करते है। अनेक प्रकार की टेढी-सीधी लकीरो के यन्त्र को देखकर आधुनिक शिक्षित व्यक्ति हैरान हो कर सोचता है कि यह कैसा ऊलजलूल प्रयास है। क्या कही इन ज्यामितिक आकृतियो की कोई आध्यात्मिक व्याख्या हो सकती है ? क्या इन जतरो का ताबीज़ पहनने से कोई सिद्धि मिलती है ? मगर जैसे 'छू मन्तर' वाले अधकचरे ओझो ने मन्त्रतत्व को समझने मे बाधा खडी की है उसी प्रकार यत्रों को भी अविश्वसनीय बना देने मे सहायता की है। 'यत्र' शब्द का अर्थ है सयमित या केन्द्रित करना। यह भी मत्र के समान समझ मे आने योग्य बात है।

यन्त्र-मन्त्र की साधना करने वालो के मूल विश्वास को स्मरण कीजिए। किसी शब्द के अर्थ का यदि ध्यान किया जाय, उसके साथ 'चैतन्य' का सपूर्ण योग साध लिया जाय तो वह अर्थ प्रकट हो जाता है। शरीर के भिन्न-भिन्न स्थान शक्ति के केन्द्र है। अभिलषित सिद्धि के लिए अभिलषित शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। ध्यान के द्वारा अभीष्ट देवता को उत्पादित देवता के रूप मे कार्य-सिद्धि के लिए उत्पन्न किया जा सकता है। अब, शरीर के जिस केन्द्र मे स्थित शक्ति को उद्बुद्ध करना है उसका ठीक-ठीक परिज्ञान हो तो ध्यान केन्द्रित करने मे सहायता मिलती है। 'यत्र' मूल रूप मे विभिन्न शक्ति-केन्द्रो के मान-चित्र के समान है जो साधक को अभीष्ट शक्ति के उद्बुद्ध करने की साधना मे सहायक है। 'यत्र' कहने का मतलब ही है मन को सयत कर के केन्द्रित करने का प्रयास। इस प्रकार की केन्द्रित चेतना मत्र-सिद्धि मे सहायक हो, यह बिलकुल समझ मे आने वाली बात है। परन्तु जो लोग इस तत्ववाद को समझे बिना केवल भोजपत्र पर बनी लकीरो को ही सब-कुछ मान लेते है, वे बिस्मिल्ला ही गलत बोल देते है। उनकी ओर ध्यान देगे तो मूल तत्ववाद छूट जाएगा। वस्तुत यत्र भी मन्त्र-चैतन्य का सहायक हो कर ही कृतकार्य हो सकता है। यत्र और मत्र एक ही चैतन्य जागरण के साधक है। 'तत्र' का अर्थ है विस्तार। जब शक्ति एक स्थान पर उद्बुद्ध हो जाय तो उसे सपूर्ण देह के विभिन्न केन्द्रो मे प्रसारित करने की प्रक्रिया ही तत्र है।

स्पष्ट है कि यह चैतन्य-सयोग, उसका केन्द्रीकरण और फिर उसे सपूर्ण देह मे व्याप्त करना ही मूल बात है। सन्त-साधको ने इस मूल तत्व को पकड लिया है। यही वह 'हरि-सागर' है जिसे न भूलने का उपदेश कबीरदास नाना भाव से दे गये है। छोटी-छोटी सिद्धियाँ 'छीलर' है—क्षुद्र जलाशय। जिसे समुद्र मिल गया है उसके लिए छिछले ताल-तलैयो का क्या मूल्य है?

मन्त्र-चैतन्य को सन्त-साधको ने 'सुमिरन कहा है। यह नही समझना चाहिए कि वे छोटी-मोटी सिद्धियो को भगवान् की अशगत महिमा मानते ही नही। कैसे अस्वीकार किया जा सकता है कि भगवान् की ये विभूतियाँ है ही नही। पर उन्ही को सब कुछ मान लेना वैसा ही है जैसा प्यास बुझाने के लिए ओस पर निर्भर करना। ओस भी जल का ही रूप है, ठीक है, पर प्यास उससे नही बुझती—

जिहि हरि जैसा जाणियाँ, तिनकूँ तैसा लाभ।
ओसाँ प्यास न भाजई, जब लगि धसै न आभ।।

सच्चे प्रेम से सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होती है। जिसे सच्ची व्याकुलता प्राप्त है वह विधि-निषेधो के बधन मे नही बँधा रहता। लोक-लाज और शास्त्र के प्रति निष्ठा भी उसे अपने मार्ग से विचलित नही कर सकती। सहज साधक के लिए यह प्रेम ही बडी चीज है। किसी प्रकार का ऊपरी दिखावा, मानसिक सकोच, प्रयत्न मे झिझक और उपलब्धि मे हिचक, इस सच्चे प्रेमिक की परिपूर्ण आत्मसमर्पण के मार्ग से विचलित नही कर सकता। वह सती ही क्या जो लाज से चिता पर न चढ सके—

बिरहिणि थी तो क्यो रही, जली न पिव के नालि।
रहु रहु मुगुध गहेलडी, प्रेम न लाजूँ मारि।।

जिसके चित्त मे प्रेमोदय-जन्य व्याकुलता आ जाती है उसका होना सार्थक हो जाता है। मनुष्य का होना, उसकी सत्ता, यही तो भाव है—भाव, अर्थात् होना। भावो के आधार पर ही मनुष्य जीता है। भाव की चरितार्थता, जैसा पहले ही बताया गया है—किसी के लिए होने मे है। जो होना केवल होने के लिए है, केवल सत्ता मात्र है, जो दलित द्राक्षा की तरह से निचोड कर अपने आपको किसी के चरणो मे पूर्ण रूप से समर्पित कर देने के लिए व्याकुल नही है उसका होना व्यर्थ ही है। उससे तो न होना अच्छा—

कै बिरहिनि कूँ मीच दे, कै आपा दिखराइ।
आठ पहर का दाझणाँ, मोपै सह्या न जाइ॥

सगुण मार्गी वैष्णव साधको ने इस प्रेम-साधना को एक दूसरा ही रूप दिया है। मूल-तत्व यहाँ भी वही है—भगवान् की लीला। भगवान् केवल सत्तामय या केवल चिन्मय नही है, चिन्मय रूप उसका एक अग है, इसी चिन्मय रूप को ब्रह्म कहते है। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक और रूप है जो उसका ऐश्वर्यमय रूप है। इस ऐश्वर्यमय रूप को तत्ववेत्ता लोग परमात्मा कहते है, परन्तु भगवान् का जो पूर्ण रूप है वह प्रेममय है। अवतार का सिद्धान्त असीम को सीमा मे उपलब्ध करने का एक सुलभ मार्ग है। सन्तो के साहित्य मे अनेक रूप मे यह लीला व्यक्त हुई है।

इस प्रकार सन्तो ने सीमा और असीम के मिलन-व्यापार को अत्यन्त मार्मिक प्रेम-साधना का रूप दिया है।



विजयेन्द्र स्नातक

माधुर्य भक्ति की पृष्ठभूमि

मध्ययुग को सास्कृतिक दृष्टि से ह्रास का युग स्वीकार करने पर भी भक्तिसाधना और साहित्य की दृष्टि से वह उत्कर्ष और अभ्युदय का युग माना जाता है। इस युग मे देश के प्राय सभी भागो मे बडे-बडे तत्वज्ञानी, दार्शनिक, मननशील गभीर विचारक, उच्च कोटि के साधक और वीतराग भगवद्भक्त पैदा हुए। विद्वान् पंडितो और शास्त्रवेत्ताओ से लेकर निरक्षर साधु-सन्तो तक ने भगवद्भक्ति के सम्बन्ध मे अपने शास्त्रसम्मत अथवा स्वानुभूति-निर्भर स्वतन्त्र विचार व्यक्त किये। योग, तन्त्र, साधना, कर्मकाड आदि के साथ सगुणोपासना के लिए पूजन, अर्चन, प्रपत्ति और दैन्य, कार्पण्य आदि का मार्ग ग्रहण किया गया। सगुणोपासना से पूर्व वैदिक, तान्त्रिक, श्रौत और मिश्र चार प्रकार की उपासना-पद्धतियाँ प्रचलित थी, इसके अनेक प्रमाण मिलते है। वृद्धहारीत स्मृति मे श्रौत, स्मार्त और आगम तीन प्रकार की उपासना-पद्धतियो का उल्लेख है। इन विविध उपासनाओ के भीतर से ही सगुणोपासना का प्रादुर्भाव हुआ। किसी बाह्य प्रभाव से सगुण या समूर्त को स्वीकार नही किया गया। आराधना की प्रक्रिया या प्रकार पर सहिताओ मे विस्तार से विचार किया गया है। अत्रिसहिता के अनुसार आराधना की दो प्रक्रियाएँ है अमूर्त और समूर्त। अग्नि मे आहुति के माध्यम से उपासना अमूर्त आराधना है। यह ब्राह्मण-काल के यज्ञ-हवन का ही रूप है। प्रतिमा-पूजन समूर्त आराधना कही जाती है जो यज्ञकाल के बाद प्रचलित हुई। कदाचित् अमूर्त आराधना को याज्ञिक रूप मे स्वीकार करने के कारण ही यज्ञो से मूर्तिपूजा का सम्बन्ध जोडा जाता है। प्रतिमा-पूजन का प्रारम्भ कब से हुआ, यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा है। कुछ विद्वानो ने इसे द्राविडी पद्धति सिद्ध किया है और कुछ विद्वान् इसे भागवत सम्प्रदायो की ही देन ठहराते है। जैन और बौद्धो मे भी प्रतिमा-पूजन बहुत प्रारम्भ से चला आ रहा है। अत यह निर्णय करना कठिन है कि समूर्त आराधना का आलम्बन प्रतिमा-पूजन किस युग मे प्रारम्भ हुआ।

वैष्णव भक्ति मे स्वीकृत माधुर्य भाव के मूल बीज वैदिक भक्ति या ब्राह्मणकालीन यज्ञ-यागादि मे खोजना कदाचित् द्राविड प्राणायाम समझा जायगा अत हम उन्ही मूल स्रोतो का अवगाहन करना समीचीन समझते हैं जिनमे माधुर्य भक्ति के तत्व स्पष्ट रूप से लक्षित होते है। भागवत सम्प्रदाय के नाम से पाचरात्र मत के उपासको का ग्रहण होता रहा है। 'पाचरात्र' ग्रथ के लेखक चित्रशिखडी आदि सात ऋषियो को माना जाता है। यह निर्णय करना तो कठिन है कि पाचरात्र-सहिताओ की रचना किसने की, किस काल मे की, और कितनी सहिताएँ पाचरात्र के अन्तर्गत है किन्तु सामान्यत इनका रचनाकाल 'महाभारत' से पहले का माना जाता है। कुछ

सहिताएँ बाद मे भी रची गयी और पाचरात्र के भीतर ही उनका परिगणन होता रहा। इन सहिताओ मे भक्ति का वर्णन-विवेचन जिस रूप मे हुआ है, यदि उसको माधुर्य भक्ति की पृष्ठभूमि मे रख कर अनुशीलन किया जाय तो बडे विस्मयकारी तथ्य सामने आते है। पाचरात्र-सहिताओ मे चार विषयो का वर्णन माना जाता है जिसे ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद के नाम से व्यवहृत करते है। ज्ञानपाद मे ब्रह्म, जीव और जगत् सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण आता है, योगपाद मे यौगिक क्रियाओ का वर्णन है, क्रियापाद मे मदिरो और मूर्तियो के निर्माण की विधि, मूर्ति-स्थापन, पूजन आदि का समावेश रहता है, और चर्यापाद मे नित्य नैमित्तिक कर्म, पूजन-विधान, वर्णाश्रम धर्म, पर्व आदि का वर्णन रहता है। किन्तु क्रियापाद और चर्यापाद ही सहिताओ का मुख्य विषय बन गया था जो परवर्ती सगुणोपासना मे बडे समारोह के साथ गृहीत हुआ। वल्लभ-सम्प्रदाय और राधावल्लभ-सम्प्रदाय की सेवा-पूजा-पद्धति मे 'चर्या' का बाहुल्य देख कर कुछ विद्वानो को उसके ऊपर मुगलकालीन विलास-वैभव के प्रभाव का भ्रम हुआ था, यथार्थ मे पाचरात्र-सहिताओ के चर्या भाग मे इन विधियो का प्रचुरता के साथ वर्णन हुआ था, वही परवर्ती काल मे विस्तार को प्राप्त हुआ।

'जयाख्य सहिता' मे समूर्तार्चन का विस्तार करते हुए उसके दो भेद किये गये है एक समाधि-उपाय और दूसरा मत्र-उपाय। मत्रोपाय को समाधि-उपाय से श्रेष्ठतर कहा गया है। मत्र को विष्णु की साक्षात् शक्ति माना गया है। मन्त्र-शक्ति का सर्वप्रथम प्रकाश नाद रूप होता है जिसे केवल महायोगी ही अनुभव करता है। नाद के बाद बिन्दु आता है। नाद और बिन्दु, नाम और रूप की अभिव्यजना करने वाले है। इनको निर्गुणोपासना मे बहुत उच्च स्थान मिला, किन्तु नाद को मन्त्र रूप मे सगुणोपासक भी मानते रहे। 'अहिर्बुध्न्य सहिता' मे शरणागति के छ प्रकारो का वर्णन किया गया है—

आनुकूल्यस्य सकल्प प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्,
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरण तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागति-॥

यह षड्विध शरणागति माधुर्यभक्ति के पूर्व की स्थितियो मे प्रपत्ति या पुष्टि का परिचय देने वाली है। इस सहिता मे प्रभु की शक्ति को उससे अभिन्न स्वीकार किया गया है। इस शक्ति को लक्ष्मी, श्री, कमला, रति, शिवा, नारायणी, विष्णु-शक्ति आदि अनेक नामो से पुकारा जाता है।

पाचरात्र-सहिता के अन्तर्गत 'ज्ञानामृतसार' नामक सहिता है। इसका रचनाकाल सदिग्ध है। विषयवस्तु को देख कर इसे मध्ययुग के पूर्वभाग का स्वीकार नही किया जा सकता। इसमे प्रभु-सेवा की छ विधियाँ वर्णित है जिनमे स्मरण, कीर्तन, प्रणति, पादवन्दन, अर्चन और समर्पण है। इसमे कृष्ण की प्रिय गोपिका राधा का भी वर्णन हुआ है।

पाचरात्र-सहिताओ का अनुसरण करने वाली उपनिषदो का भी मध्ययुग के उत्तर भाग मे निर्माण किया गया जिनमे 'नृसिंहतापिनी', 'रामतापिनी', 'गोपालतापिनी' आदि उपनिषदो का वैष्णव भक्ति के माधुर्य भाव मे बडा योगदान रहा। पाचरात्र सहिताओ के विवेचन मे भक्ति के जिस स्वरूप का प्रतिपादन हुआ वह परवर्ती काल मे अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

शकराचार्य और अप्पय दीक्षित ने पाचरात्र सहिताओ को उनके वर्ण्य विषय के आधार पर अवैदिक बता कर उनकी पद्धति का तिरस्कार किया है। फलत शकर के विरोध मे विशिष्टाद्वैतवाद का प्रचार करने वाले रामानुजाचार्य ने पाचरात्र मत को वेदो के समान स्वत प्रमाण माना और उसका समर्थन किया। इस तथ्य से एक बात स्पष्ट होती है कि पाचरात्र मत भक्ति पर आश्रित था, ज्ञान मार्ग का ग्रहण होने पर भी एकान्त रूप से ज्ञान मे उसकी आस्था नही थी। क्रिया और चर्या द्वारा उसने ज्ञान, क्रिया और इच्छा के समन्वय की चेष्टा भक्ति मार्ग द्वारा की थी। इस भक्ति मार्ग के उन्मेष मे ही माधुर्य भाव के बीज का भी सधान किया जा सकता है। पाचरात्र मत मे क्रिया और चर्या के अतिरिक्त प्रेम और माधुर्य को भी अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया गया था।

बैखानस आगम भी वैष्णव साधना के प्रेरक रहे है किन्तु उनका माधुर्य भक्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध दृष्टिगत नही होता। बैखानस आगम वैदिक परम्परा के समीप बने रहे और मर्यादा मार्ग पर चल कर आराधना का विधान करते रहे। मरीचि के अनुसार आराधना के चार प्रकार है—जप, अग्निहोत्र, अर्चना, ध्यान। याज्ञिक कर्मकाण्ड बैखानस मत मे विशेष रूप से मान्य रहा। अत माधुर्य भक्ति की पृष्ठभूमि मे इनका योगदान स्वीकार नही किया जा सकता।

मध्ययुग मे शैव और शाक्त मत का प्रभाव अपने चरम उत्कर्ष पर था। शासक वर्ग मे शैव धर्मानुयायी वैष्णवो की अपेक्षा अधिक थे। किन्तु बढते हुए वैष्णव धर्म के प्रभाव के कारण उत्तर मध्ययुग मे शैव धर्म राजकीय स्तर पर तो सम्मानित रहा, फिर भी जन सामान्य ने वैष्णव धर्म के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया था। शैवागम और शाक्त तत्रो की साधना-पद्धति का आशिक प्रभाव माधुर्य भक्ति के राधा-तत्व पर अनेक विद्वानो ने दिखाया है। शैवो मे शिव-शक्ति की जैसी कल्पना है और शाक्तो मे त्रिपुरसुन्दरी का जो रूप वर्णित हुआ है उसे राधाभाव, गोपीभाव आदि के साथ मिला कर देखने का आग्रह अनेक ग्रन्थो मे देखा जा सकता है। युगल तत्व या युगनद्ध भाव के मूल बीज भी शैव और शाक्तो की साधना-पद्धति मे उपलब्ध होते है। तन्त्र मे कृष्ण को कामबीजात्मक और राधा को रतिबीजात्मिका कहा गया है। "युगनद्ध वह स्थिति है, जहाँ सक्लेश और व्यवधान की अभिज्ञा के द्वारा ससार का सर्वथा निरसन हो जाता है, परम निवृत्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है। यह ग्राहक और ग्राह्य का, सान्त और अनन्त का, प्रज्ञा और उपाय का, शून्यता और करुणा का, पुरुष और नारी का पूर्णत सम्मिलन-सामरस्य है।" बौद्ध तान्त्रिक साधना, सहजिया साधना, वैष्णव सहजिया साधना—सब मे युगल रूप का वर्णन है जिसे माधुर्य भक्ति मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। तान्त्रिक साधना मे शिव-शक्ति के मिलन द्वारा उत्पन्न केवलानन्द ही परमसाध्य माना गया है। गोपीनाथ कविराज ने अपने एक लेख मे सिद्ध किया है कि—"प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे जो पैंतीस और छत्तीस तत्व अथवा शिव और शक्ति है, त्रिपुरा सिद्धान्त मे वही कामेश्वर और कामेश्वरी है और गौडीय दर्शन मे वही श्रीकृष्ण और राधा है। शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न है।" तन्त्र मे परकीया-साधना का जैसा कामलिप्त वर्णन मिलता है उसे यान्त्रिक रूप से हटाकर माधुर्य भाव मे प्रेम का साधन बनाया गया।

बौद्ध तान्त्रिक साधना का भी माधुर्य भक्ति के विकास मे अप्रत्यक्ष हाथ रहा है। बौद्ध

सहजिया सम्प्रदाय वास्तव मे मधुर भाव का पोषक था। बौद्धो की महायान शाखा के अन्तर्गत मन्त्रयान और वज्रयान भेदो का उदय हुआ। वज्रयान का ही नाम सहजयान हुआ। योगी साधना द्वारा सहज स्थिति को प्राप्त करना चाहता है। इस सहज स्थिति की प्राप्ति गुरु कृपा से मानी गयी है। वज्रयान के प्रमुख ग्रन्थ 'गुह्यसमाजतन्त्र' मे कठोर कर्मकाण्ड, नियम-पालन और मर्यादाओ की सर्वथा अवहेलना करके कामनाओ के उपभोग का उपदेश दिया गया है। यही उपदेश परवर्ती वाममार्ग के लिए पथप्रदर्शक हुआ होगा।

दक्षिण भारत के आलवार भक्तो के मनमोहक गीतो मे माधुर्य भक्ति का सुन्दर रूप देखने मे आता है। आलवारो के चार सहस्र गीत बताये जाते है जिन्हे 'नालायर प्रबधम्' मे नाथमुनि ने सकलित किया है। इस प्रबन्ध का आदर दक्षिण भारत के वैष्णव समाज मे वेदो के समान है। छठी शताब्दी से नौवी शताब्दी तक इनका रचना-काल माना जाता है। बारह आलवार भक्तो ने इन गीतो की अपने उल्लास के क्षणो मे रचना की है। आलवार भक्तो के गीतो की मर्मस्पर्शिता उनकी मधुर भाव-व्यजना मे है। मधुर भाव की व्यजना के लिए आलवार भक्तो ने जीवात्मा को नायिका और परमात्मा को नायक रूप मे स्वीकार किया है। आलवार भक्त अपने प्रियतम (कृष्ण) के सदृश श्याम वर्ण वाले मेघो को देख कर आनन्द का अनुभव करता है और हस से प्रिय के पास सदेशा ले जाने के लिए निवेदन करता है। इन भक्तो मे नम्मालवार, शठकोप, अजल, गोदा और तिरूमगई के गीत मधुर भाव की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे आलवार भक्तो के सम्बन्ध मे विचार करते हुए माधुर्य भाव की छाया का सकेत किया है। आलवारो मे तिरुमगई ने सब से अधिक गीतो की रचना की है और मधुर भाव का स्वरूप भी स्पष्ट रूप से इनके गीतो मे दृष्टिगत होता है। एक गीत मे वे कहते है—'हे कमनीयकान्त, मै इस बात की शपथ कर रही हूँ, जिससे सब लोग इसे सुन ले कि जब तक वह विराट रूप धारी जिसने विश्व को दीर्घकाय बनकर नाप लिया था, मेरे सुन्दर और पूर्ण यौवन का रसास्वादन नही करता, मै अचिरात ही उस कदम्ब वृक्ष के समीप जाऊँगी, उसकी लताओ मे अपने को बॉध कर आत्मघात कर लूँगी।' यह विरह भाव से उत्पन्न एक ऐसी मनोविकृति का चित्र है जिसमे नायिका (जीवात्मा) परमात्मा का वियोग सहने मे अपने को असमर्थ पा रही है।

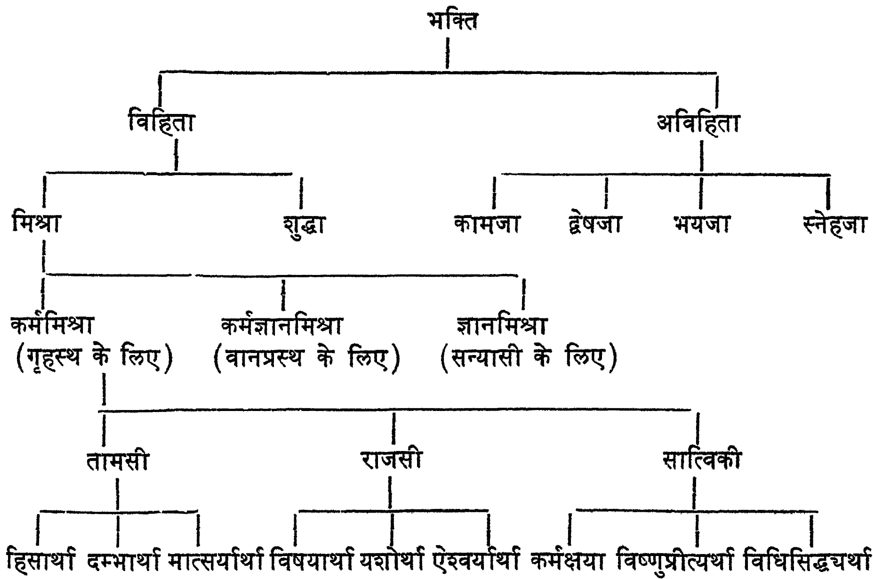
सूफी साधको मे भी माधुर्य भाव की झॉकी देखी जा सकती है। सूफी अपने प्रेम को 'ईश्वरीय प्रेम' की सज्ञा देते थे। सूफियो ने अपने ईश्वर को प्रियतमा का रूप दिया और उसकी प्राप्ति के लिए स्वय साधक प्रिय बनकर भटकने का बीडा उठाया। सूफियो मे राबिया का उल्लेख मिलता है जो अपने प्रियतम से मिलने को निशीथ मे अपने घर की छत पर जा कर परमात्मा को सम्बोधन कर, विरह कातर हो ऊँचे स्वर से पुकार कर कहती है—'हे ईश्वर! ससार का कोलाहल शान्त हो गया है, प्रेमी अपनी प्रिया के साथ है, मेरा तो तू ही एकमात्र प्रेमी है, फिर तू क्यो मुझसे मिलने को नही आता ?' जायसी ने अपने 'इश्क हकीकी' के वर्णन मे जिन परिस्थितियो को उद्भावना की है वे प्रेम की सासारिक स्थितियो के उन्नयन द्वारा ही की गयी है। यथार्थ मे सूफियो का प्रेम ईश्वरीय था, किन्तु उसमे लौकिक प्रेम की झलक इसलिए बनी हुई थी कि वह लोक-कथाओ

के माध्यम से व्यक्त हुआ था। स्मरण रहे कि माधुर्य भाव का आधार लोक-जीवन से सर्वथा असम्पृक्त नही होता।

मध्ययुगीन निर्गुण सन्तो की अभिव्यक्तियो मे माधुर्य भाव का पुट देखा जा सकता है। दाम्पत्य-सम्बन्ध के रूपको की भरमार तो कबीर, दादू, नानक आदि सभी मे मिलती है। दाम्पत्य भाव को पृष्ठभूमि मे रख कर आलकारिक शैली से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन निर्गुण धारा मे क्यो प्रवर्तित हुआ, यह प्रश्न विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग मे प्रेम की अभिव्यजना के लिए लौकिक रूपको के आश्रय की परिपाटी पड गयी थी। कबीर ने तो 'भरतार और पिया', 'राम की बहुरिया' और 'प्रियतमा' आदि सभी का वर्णन किया है। निर्गुणोपासक सन्तो ने स्वकीया रूप से माधुर्य भाव की भक्ति व्यजित की है, परकीया को स्वीकार नही किया। माधुर्य भाव की व्यंजना रससिक्त होने तथा प्रेम के स्वरूप को हृदयगम कराने मे अधिक समर्थ है, इसी कारण निर्गुणोपासक भी इसकी अवहेलना न कर सके। किन्तु माधुर्य भाव के मर्यादारूप मे इनका अटूट विश्वास था। उच्छृखल प्रेम और अनैतिक आचरण का वर्णन इन सन्त कवियो के लिए सर्वथा असम्भव था। नाथ और सिद्ध सम्प्रदाय मे भी नैतिकता का आग्रह प्रबल होने के कारण नारी को उच्च स्थान नही मिला था। कौल, पाशुपत, कापालिक आदि मतो मे सहज साधना का वर्णन करते हुए पुरुष और नारी के माध्यम से मधुर भाव की अभिव्यक्ति हुई है। परवर्ती वैष्णव सहजिया-सम्प्रदाय मे तो मधुर भाव परकीया भाव के माध्यम से अपने चरम विकास को प्राप्त हुआ। कहना न होगा यह विकास माधुर्य भक्ति के उज्ज्वल पक्ष को विवृत न करके उसके विकृत रूप को ही सामने लाया।

माधुर्य भक्ति के उपकरणो का चयन पाचरात्र ग्रन्थो से लेकर सहजिया सम्प्रदाय की साधना-पद्धतियो से होता रहा। इसमे भागवत पुराण तथा नारद और शाडिल्य के भक्ति सूत्रो का बहुत अधिक योगदान रहा। जब माधुर्य भक्ति चैतन्य मत के पडितो के हाथ आयी तब उसकी पूरी रूपरेखा ही तैयार नही हुई, वरन् उसका बाह्याभ्यतर सभी सर्वाग-पूर्ण बना दिया गया। एक ओर उसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया तो दूसरी ओर उसकी सिद्धि के लिए साहित्य और दर्शन से प्रमाण-तर्क भी चयन किये गये। इस सदर्भ मे माधुर्य भक्ति के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

भक्ति के विभाग या भक्ति के रूपो का निर्णय करना कठिन है। भक्ति अनेक प्रकार की होती है और उसके आधार भी विभिन्न हो सकते है। विभिन्न स्रोतो के आधार पर, उपास्य देवो के आधार पर और प्रपत्तियो के आधार पर भक्ति के विभाग सम्भव है। देवता-भेद से भी भक्ति-सम्प्रदायो का वर्णन देखने मे आता है। शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति के रूपो का विवरण अनेक ग्रन्थो मे मिलता है। प्राचीन विभाजनो मे बोपदेवकृत विभाजन यहाँ दिखाना आवश्यक है। माधुर्य भक्ति के प्रसग मे इस विभाजन की उपादेयता असदिग्ध है। बोपदेव का विभाजन वैज्ञानिक होने के साथ सर्वांगपूर्ण भी कहा जा सकता है—



वेद-प्रतिपादित मर्यादा पालन करते हुए भगवान् मे मनोभिनिवेश विहिता भक्ति कही जाती है। मर्यादा का ध्यान न रखते हुए भगवान् मे मनोभिनिवेश अविहिता भक्ति समझना चाहिए। विहित भक्ति के समस्त प्रकार सगुण भक्ति के नाम से अभिहित होते है। इसमे ज्ञानमिश्रा भक्ति को भिक्षु और परमहसो के लिए कहा गया है। वह निर्गुण कही गयी है। विहिता के भीतर शुद्धा भी एक भेद है जिसके लिए निष्काम और अविच्छिन्न होना आवश्यक है। रजोगुण तथा तमोगुण से रहित शुद्ध सत्व से उद्वेलित अन्त करण वाला कोई भी भक्त इसका अनुगमन कर सकता है। अविहिता भक्ति के चार भेदो के क्रमश चार प्रकार के अधिकारी बताये गये है—गोपियाँ, कस, चौद्यादिक नृप तथा वृष्णि वशी सम्बन्धी। यह सब विवरण 'मुक्ताफल' मे विस्तार से द्रष्टव्य है। माधुर्य भक्ति के प्रवर्तन मे इस विवरण की उपादेयता को ध्यान मे रखना आवश्यक है, अत इसका उल्लेख किया गया।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्तिरसायन' ग्रन्थ मे भक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—'द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकता गता। सर्वेशे मनसो वृत्ति भक्तिरित्यभिधीयते।' अथवा—'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकाररूपा सविकल्पवृत्तिभक्तिरिति।' 'नारदभक्तिसूत्र' मे, 'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' तथा 'शाडिल्यभक्तिसूत्र' मे 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' द्वारा भक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इन परिभाषाओ मे प्रेम और अनुराग के द्वारा चित्त के द्रवीभाव को प्रमुख स्थान दिया गया है। मधुरा भक्ति के क्षेत्र मे इस भाव का प्राधान्य इन परिभाषाओ के मार्ग से ही कदाचित् पहुँचा होगा।

माधुर्य भक्ति के स्वरूप-बोध के लिए भक्ति के विषय मे गौडीय आचार्यों के विवेचन पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। साम्प्रदायिक भक्ति मे माधुर्य भाव का समावेश गौडीय ग्रन्थो

के द्वारा सर्वाधिक हुआ और शास्त्रीय दृष्टि से इस सम्प्रदाय के सस्कृत ग्रन्थो का प्रभाव वल्लभ, राधावल्लभ तथा हरिदासी सम्प्रदायो पर भी पडा। रूप गोस्वामी ने अपने सुप्रसिद्ध भक्ति-ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' मे भक्ति के दो प्रमुख भेद किये है गौणी और परा। साधन दशा की भक्ति को गौणी और सिद्ध दशा की भक्ति को परा भक्ति कहा गया है। गौणी के पुन दो भेद किये है—वैधी और रागानुगा। शास्त्रानुमोदित भक्ति वैधी है। इस भक्ति के आलम्बन ऐश्वर्यमय विभु ईश्वर है। इसीका नाम मर्यादामयिनी है। वैधी भक्ति अपने दोनो कूलो मे आबद्ध रहती है, किन्तु रागानुगा भक्ति मे राग या स्नेह प्रधान है। वह कूल किनारो के बन्धन स्वीकार नही करती और यदृच्छया प्रवाहित होनेवाली नदी के समान चलती है। यथार्थ मे रागानुगा भक्ति ही मधुर भाव का मूलाधार है। 'राग' शब्द की व्याख्या करते हुए रूप गोस्वामी ने लिखा है कि जैसे विषयी पुरुषो का स्वभावत विषयो के प्रति, विषय ससर्ग के प्रति इच्छा से युक्त आकर्षण होता है, उसी प्रकार भक्त का जब भगवान् के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, तब उसे राग कहते है। यह राग जहाँ प्रबल या प्रधान रहे उसे रागात्मिका भक्ति कहा जायगा। यह रागात्मिका भक्ति उत्तम कोटि की भक्ति मानी जाती है—

अनन्याभिलाषिता शून्य ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन भक्तिरुत्तमा॥

इस उत्तमा भक्ति के पुन तीन भेद किये गये है, साधन भक्ति, भाव भक्ति, प्रेमा भक्ति। इसमे साधन भक्ति के दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा। रागानुगा के पुन दो भेद है कामानुगा और सम्बन्धानुगा। इन भेद-प्रभेदो के प्रपच मे न पडकर हमारा तात्पर्य यहाँ केवल इतना ही प्रकाशित करना है कि गौडीय सम्प्रदाय मे माधुर्य भाव का इतना व्यापक विस्तार हुआ कि परवर्ती साम्प्रदायिक भक्तो ने भी किसी न किसी रूप मे उसे ग्रहण किया।

माधुर्य भाव की भक्ति को शास्त्रीय रूप देने के लिए 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'हरिभक्ति रसामृतसिन्धु' मे इसका रसानुवर्ती विवेचन हुआ। जिस प्रकार काव्य मे रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और सचारी से पुष्ट होकर होती है, तथैव इसको भी रस रूप मे प्रस्तुत किया गया। कृष्ण भक्ति के आलम्बन-विभाग मे कृष्ण को विषय माना गया। कृष्ण-भक्ति आधार हुई। साधक और सिद्ध आदि का निरूपण हुआ। साधना तथा कृपा से यह भक्तिरस निष्पन्न माना गया। उद्दीपन विभावो के वर्णन मे कृष्ण के गुण, चेष्टा, प्रसाधन तथा अन्याय रूपो का वर्णन किया गया। गुणो के अन्तर्गत कायिक, बौद्धिक, मानसिक को स्थान मिला। तदनन्तर वय-भेद, रूप-भेद आदि का विस्तार किया गया। इसमे कैशोर अवस्था को महत्व देकर उसका आद्य, मध्य, शेष आदि स्थितियो मे वर्णन किया गया। गौडीय आचार्यों ने भक्ति रस मे मुख्यरूप से शान्त, प्रीत, प्रेयस, वात्सल्य और मधुर को स्थान दिया। इनके भाव शान्त, विश्वस्त, मित्रता, स्नेह, श्याम माने गये। इसी प्रकार वर्णो तथा देवताओ की भी कल्पना की गयी। इस रस के परिपाक के लिए लीलाओ का वर्णन किया गया और प्रकट लीला और अप्रकट लीला के रूप मे दो भेद किये गये। 'वन वृन्दावन' मे प्रकट लीला और 'मन वृन्दावन' मे अप्रकट लीला और 'नित्य वृन्दावन' मे नित्य लीला मानी गयी।

माधुर्य भाव का विशद विवेचन करने वाले ग्रन्थो का उद्धरण या विवरण प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य नही है। उपर्युक्त विवरण केवल प्रासगिक रूप से इसलिए दिया है ताकि मध्य-युगीन माधुर्य भाव की रूपरेखा पाठक के अन्तर्मन मे उभर सके। मूल प्रश्न तो यह है कि यह माधुर्योपासना मर्यादा का उल्लघन करने वाली होने पर भी इस प्रकार ग्राह्य क्यो बनती रही और साधको की विशाल परम्परा इसे क्यो स्वीकार करती रही। यथार्थ मे इसका मूल कारण यह है कि भक्ति का यह मार्ग लौकिक जीवन का तिरस्कार नही करता। लोक को उसके यथार्थ रूप मे पाकर उसका शोधन करता है। वासनाओ को स्वीकार करते हुए वासनाओ के परिमार्जन, उन्नयन या शोधन की यह प्रक्रिया ससार के प्रत्येक देश के धर्मो मे किसी न किसी रूप मे पायी जाती है। इस पद्धति का लक्ष्य है ससार को ग्रहण करते हुए मानव मन मे लीन आनन्द को उद्बुद्ध करना। इन्द्रिय-दमन से भी साधक को भगवत् प्रेम ही उपलब्ध करना होता है। उसका लक्ष्य भी यही है। माधुर्य भाव से चलने वाला भी उसी लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। मनुष्य अपने समस्त प्रयत्नो के बावजूद अपने भीतर पैठे हुए काम भाव को सर्वथा उच्छिन्न या निरस्त नही कर पाता। अत यदि उसे साधन बना कर उसका उन्नयन किया जाय तो उसका मार्ग प्रशस्त बन सकता है। उन्नयन की भावना ही इसका लक्ष्य माना जा सकता है। सम्भवत इसीलिए बौद्धो, तान्त्रिको, शैवो, शाक्तो तथा सूफियो आदि ने काम का तिरस्कार नही किया, उसे दिव्य प्रेम की उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित किया और उसका पूरे समारोह के साथ उन्नयन करने का प्रयत्न किया। माधुर्य भक्ति मे जिस प्रेम की स्वीकृति है वह न तो यौन सम्बन्ध से उद्भूत कामेच्छापरक प्रेम माना गया है और न इस प्रेम को साधारण सामाजिक बन्धन का आधार ही कहा जा सकता है। इस प्रेम के सम्बन्ध मे स्पष्ट कहा गया है कि वासनाजन्य प्रेम मे स्वसुख की कामना का प्राधान्य रहता है, उसमे प्रियतम के सुख से सुखी होना नही है। इस प्रेम को स्वसुख-विवर्जित स्वीकार किया गया है। माधुर्यभाव-प्रधान भक्ति मे परम्परा-प्राप्त मान्यताओ मे पूरा परिवर्तन किया गया। लोक मे शृगारभाव, जो दाम्पत्य भाव से पूर्णतया सश्लिष्ट है, निम्नकोटि का माना जाता है। उसके ऊपर वात्सल्य भाव है, वात्सल्य से ऊपर सख्य भाव का स्थान है, सख्य से ऊपर दास्य भाव है और दास्य से ऊपर निर्वेद का परिपोषक शान्त भाव है। यह क्रम उत्तरोत्तर उत्कर्ष की दृष्टि से स्वीकार किया जाता है, किन्तु माधुर्य भाव मे इस क्रम का पूर्णतया विपर्यय दृष्टिगत होता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य यह क्रम उत्कर्ष-विधान की दृष्टि से ग्राह्य है। कान्ता भाव दाम्पत्य भाव या शृगार भाव सब एक ही अर्थ के द्योतक है। मधुर या उज्ज्वल रस भी इसी भाव के द्योतक शब्द है। दाम्पत्य भाव के वर्णन मे स्वकीया-परकीया का विवेचन भी हुआ। चैतन्य मत मे परकीया-भाव से कान्ता की स्वीकृति हुई। निम्बार्क-सम्प्रदाय और वल्लभ-सम्प्रदाय मे स्वकीया भाव गृहीत हुआ। राधावल्लभ सम्प्रदाय ने स्वकीया-परकीया-भेद-विवर्जित राधा का स्वरूप माना, किन्तु लौकिक दृष्टि से स्वकीया-भाव ही इस सम्प्रदाय मे दृष्टिगत होता है।

प्रेमलक्षणा भक्ति या माधुर्यभाव-प्रधान भक्ति की एक विशेषता यह है कि इसमे विधि-निषेध के बाह्य प्रपचो से मुक्ति मिल जाती है। विधि-निषेध का प्रपंच सदैव बाह्याडबर मे पर्यवसित होता है, अत इससे बचकर यदि भक्ति का पथ प्रशस्त किया जाय तो निश्चय ही वह सर्वजन-

सुलभ और आकर्षक होगा। गृहस्थाश्रम मे रहने वालो के लिए तो इस मार्ग मे और भी सुविधाएँ प्राप्त है। अपने दैनन्दिन जीवन की अनुभूतियो को भक्ति पथ पर आरूढ करने की दिशा मे भी इससे सहायता मिलना सम्भव है। राधा-कृष्ण का दाम्पत्य भाव अपने लौकिक जीवन के दाम्पत्य भाव के मेल मे देखा जा सकता है और शनै शनै कामवासनाओ का उन्नयन करते हुए भगवत्प्राप्ति के मार्ग पर बढा जा सकता है। किन्तु यह उन्नयन-प्रक्रिया जितनी कहने मे सरल है उतनी ही क्रियान्वित करने मे कठिन भी है। इस मार्ग का रहस्य भलीभाँति हृदयगम न करके यदि इसे सामान्य लौकिक कामवासना के रूप मे ही ग्रहण किया जाय तो इसका समस्त माधुर्य और उदात्ततत्व कामकेलि के कर्दम मे पकिल होकर यौन भावनाओ की तृप्ति तक ही सीमित रह जायगा। उस दशा मे न तो शृगार का उन्नयन ही सम्भव होगा और न साधक की आत्मा का अभ्युदय ही हो सकेगा।

भक्ति के विकास के साथ परमात्मा के प्रति अनुराग और प्रेम की जैसी अभिव्यक्तियाँ हुईं यदि उनके क्रमिक विकास का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि महाभारत-काल मे परमात्मा के प्रति भय और सभ्रम का ही भाव नही था, वरन् सम्मान, प्रेम और अनुराग का भी भाव भक्त के मन मे पूरी तरह आ चुका था। पाचरात्र-सम्प्रदाय के भक्तो ने ईश्वर की भक्ति के जो रूप स्वीकार किये थे उनमे प्रेम और अनुराग का विशेष स्थान था। भागवत सम्प्रदाय के नाम से अन्य जो सम्प्रदाय महाभारत-काल मे विद्यमान थे वे भी इस भाव से अपरिचित नही थे। पुराणकाल मे तो इस भाव का प्राधान्य ही हो गया था। भागवतपुराण की नवधा भक्ति के मूल मे इस भाव का अश सबसे अधिक मात्रा मे है। आलवारो, सिद्धो, सहजियो, सूफियो और निर्गुणियो तक मे इस भाव की रेखाएँ मिलती है। इस निबन्ध मे हमारा तात्पर्य केवल उन धूमिल रेखाओ को स्पष्ट करना ही है। उन रेखाओ के द्वारा पूरा चित्र उभारना यहाँ सम्भव नही है। अत मोटी-मोटी बातो की ओर ही पाठक का ध्यान आकृष्ट किया गया है।



रघुवंश

लोक-काव्य की भावभूमि और रसनिष्पत्ति

लोक की अभिव्यक्ति को साहित्य कहने के साथ ही यह मान लिया गया है कि लोकगीत तथा गाथाएँ आदि लोक-काव्य के रूप है। सामान्य अर्थबोध की दृष्टि से इस प्रकार का अभिधान स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु साहित्य के सजग अध्येता को उनके मौलिक अन्तर को दृष्टि मे रखना चाहिए।[1] इस अन्तर के प्रति सजग न रहने से काव्य तथा लोक-काव्य दोनो के मूल्यो अथवा प्रतिमानो के प्रति भ्रामक प्रतिपत्तियाँ ग्रहण की जाती है और जिनसे हम भ्रामक निष्पत्तियो तक पहुँचते है। इसी प्रकार की एक स्थिति लोक-काव्य की भावभूमि के सम्बन्ध मे है। लोक-साहित्य के विवेचको ने प्राय लोक-काव्य की भावभूमि को काव्य की भावभूमि के समकक्ष स्वीकार कर लिया है। इस समकक्षता को स्वयसिद्ध मान लेने के कारण ही उन्होने लोक-काव्य की भावभूमि को रसभूमि ही माना है। लोक-साहित्य के सम्बन्ध मे सामान्यत और लोकगीतो के सदर्भ मे विशेषत विभिन्न रसो की स्वतत्र चर्चा इस बात का साक्ष्य है।

निर्दिष्ट निबन्ध मे कहा गया है लोक की अभिव्यक्ति लोक जीवन की प्रक्रिया का अग है, पर साहित्यिक अभिव्यक्ति सर्जनात्मक होती है, वह जीवन से उद्‌भूत, प्रेरित या सम्बद्ध हो कर भी अपनी तटस्थता अथवा असम्पृक्ति मे उसका अग नही हो सकती। साहित्य जीवन का सर्जन है, पुन जीने की प्रक्रिया है। लोकाभिव्यक्ति के क्षणो मे भी समाज के बीच व्यक्ति अपनी सजगता मे प्रमुखत जीवन का अनुभव करता है, जब कि साहित्यिक यथार्थ जीवन के सर्जन मे भी सामाजिक जीवन का अनुभव न कर के सर्जन के असम्पृक्त सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार यह लोक-साहित्य तथा साहित्य की आधारभूमि का अन्तर है जिससे लोक-काव्य और काव्य की भावभूमि का स्तर-भेद भी स्पष्ट होता है। इस मौलिक अन्तर के कारण दोनो के रस-बोध मे भारी अन्तर है।

काव्याभिव्यक्ति मे कवि की स्थिति स्पष्ट और निश्चित है। पाठक या रसज्ञ साधारणीकरण के स्तर पर आनन्द (रसबोध) प्राप्त करता है या आधुनिक दृष्टि से सक्रिय सहभोग (active participation) की स्थिति मे कवि की सर्जनप्रक्रिया का अनुभव करता है। परन्तु दोनो ही स्थितियो मे कवि (स्रष्टा के रूप मे) और पाठक (रसज्ञ के रूप मे) की दो भिन्न स्थितियाँ मानी जायँगी। पर जहाँ तक लोकाभिव्यक्ति का प्रश्न है इसमे ये दो स्थितियाँ सम्भव नही है, यहाँ स्रष्टा

---

१. द्रष्टव्य—लेखक का 'साहित्य और लोक-साहित्य' नामक शोध-निबन्ध (राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ)।

और उपभोक्ता की समस्थिति है, दोनो का एक ही व्यक्तित्व मे समाहार हो जाता है। काव्य की भावभूमि के इस अन्तर के कारण लोक-काव्य मे रसनिष्पत्ति की स्थिति प्रतिपादित होना सभव नही है।

वस्तुत 'रसनिष्पत्ति' शब्द अपनी काव्यशास्त्रीय विवेचनाओ मे 'काव्यानुभूति', 'सौन्दर्यानुभूति' तथा 'काव्यानन्द' आदि शब्दो का समानार्थी है, अर्थात् इसके द्वारा काव्य की भावभूमि के सौन्दर्यबोध को व्यक्त करने के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है। भरत ने इसके विषय मे कहा है—'विभावानुभावसचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति'[2] और इसके आधार पर काव्य की रस-परक व्याख्या का गम्भीर और तत्वपूर्ण सिद्धान्त विकसित हुआ है। वस्तुत भरत ने अपने सूत्र-वाक्य के माध्यम से एक ऐसे काव्य-सिद्धान्त का आधार प्रस्तुत किया है जिसमे काव्यानुभूति की व्याख्या के लिए मानस की सवेगात्मक प्रवृत्तियो और प्रक्रियाओ का आधार स्वीकृत है।[3] भरत ने विभाव, अनुभाव तथा सचारियो के सयोग से रस-निष्पत्ति को स्वीकार किया है। यद्यपि भरत के इस सूत्र-वाक्य के आधार पर रस-सिद्धान्त सम्बन्धी सूक्ष्म और गहन चिन्तन काव्य की मौलिक प्रकृति की दृष्टि से हुआ है, पर उन्होने रस के अगो के निरूपण और रस-भेद-विवेचन की ऐसी परम्परा भी डाली है जिसके भ्रमजाल से रसनिष्पत्ति का सूक्ष्म से सूक्ष्म चिन्तक अन्तत निकल नही सका है।

यह अवश्य है कि भट्ट लोल्लट की ही नही भरत की दृष्टि मे भी रस के निरूपण मे रगमच की व्यावहारिकता विशेष थी, प्रेक्षक का दृष्टिकोण नही।[4] यही कारण है कि उन्होने रस के अगो का जितना स्पष्ट उल्लेख किया है, उतनी ही स्पष्टता से रस का रसो मे विभाजन किया है। उनके द्वारा व्यवहृत शब्द 'सयोग', 'आस्वाद्य' तथा 'उपचित' (विभाव, अनुभाव, सचारी आदि भावो की स्थायी भाव की अनुकूलता ग्रहण करना) प्राय इसी व्यावहारिक दृष्टि का परिचय देते है। आगे के आचार्यों के द्वारा रस की सूक्ष्म और गहन विवेचना प्रस्तुत किये जाने पर भी रस की यह व्यावहारिक दृष्टि एक स्तर पर सदा स्वीकार्य रही है, जिसके अनुसार रसनिष्पत्ति अर्थात् रसास्वादन को सामान्य भावात्मक प्रक्रिया के रूप पर ग्रहण किया गया है और एक ओर विभाव, अनुभाव तथा सचारी आदि को उसके सहयोगी अग के रूप मे निर्धारित किया गया तथा दूसरी ओर स्थायी भावो के आधार पर विभिन्न रसो का नामकरण किया जाता रहा। इसी व्यावहारिक दृष्टि के कारण लोक-काव्य मे भी रस की अवतारण तथा विवेचना की गयी है।

लोक-काव्य मे रस की स्थिति मानने वालो की मान्यता रसनिष्पत्ति के प्रथम विवेचक आचार्य भट्ट लोल्लट से अधिक भिन्न नही है। उन्होने विभाव को रस का कारण माना, और स्थायी भाव की 'उपचित' अवस्था का नाम रस माना है। परन्तु प्रमुख बात है कि इन्होने रस को अनुकार्य मे माना है, यद्यपि रूपादिक अनुसन्धान से अनुकर्त्ता (नट) मे भी विद्यमान स्वीकार किया है।[5] भट्ट लोल्लट के मत को प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने 'प्रतीयमान' शब्द का प्रयोग किया

---

२. नाट्य०; ६; ३२। ३. लेखक; रस-सिद्धान्त और मनोविज्ञान (हिं० अनुशीलन; वर्ष ३, अंक २)। ४. कान्तिचन्द्र पाण्डेय; कम्परेटिव एस्थेटिक्स, भाग १; पृ० २९, ३०। ५. अभिनव भारती; पृ० २६४।

जिसकी व्याख्या करने मे गोविन्द ठक्कुर ने इस मत को आरोपवाद का नया रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है।[६] परन्तु इसके बावजूद इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस को जीवन की सामान्य भावात्मक प्रक्रिया से भिन्न नही माना गया है। इसका समाधान 'सयोग' के भट्ट लोल्लट द्वारा ग्रहीत अर्थो से हो जाता है। 'सयोग' को चाहे स्थायी भाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्ध माना जाय, चाहे अनुभाव को अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध से उनकी अनुमिति कराने वाला माना जाय, अथवा यह माना जाय कि सचारी भाव पोषक-पोष्य-भाव-सम्बन्ध से उनकी रस रूप मे पुष्टि कराते है, इन सभी स्थितियो मे यह मान कर चला गया है कि जीवन के समान काव्य मे (नाटक मे) भाव-सवेगो का सागोपोग सयोग ही रस है अर्थात् रस की स्थिति जीवन और काव्य मे समान आधार पर स्वीकृत है। यदि यहाँ यह भी मान लिया जाय कि प्रस्तुत सदर्भ मे वृत्त का अर्थ 'काव्यवृत्त' है जिसकी कल्पना कवि करता है,[७] तब भी कवि की इस कल्पना का आधार जगत् है, और यह कवि के प्रत्यक्ष-बोध, स्मृतियो तथा विचारो के स्वतत्र सयोग-रूप कल्पना पर आधारित है। इस रूप मे जब आचार्य कहते है कि रस की स्थिति अनुकार्य (चरित्र) मे है, तो वे कवि-कल्पित चरित्रो की भावात्मक प्रक्रिया के मनोवैज्ञानिक आधार को स्वीकार करते है। परन्तु इससे उनकी काव्यात्मक रसानुभूति सम्बन्धी सौन्दर्य दृष्टि का स्पष्टीकरण नही हो पाता।[८] अभिनेताओ के कौशलपूर्ण अभिनय अथवा सामाजिको के आरोपमूलक चमत्कार हेतु से भी इससे भिन्न कुछ सिद्ध नही हो पाता।

इस दृष्टि से लोक-साहित्य अथवा काव्य मे रस की स्थिति सहज स्वाभाविक है। लोक-काव्य मे अनुकार्य तथा अनुकर्ता का विभेद होता ही नही। लोक-काव्य लोक-प्रवाह का स्पन्दित अग है, यह लोक-मानस की अभिव्यक्ति है और इस लोकाभिव्यक्ति की अधिकाश भावना और प्राणवत्ता उस गतिशील परम्परा पर आधारित है जिसके माध्यम से वह लोकमानस पर सक्रिय होती आयी है और उस वातावरण से स्फुरित है जो लोकजीवन की नानाविधि स्थिति-परिस्थितियो से अभिन्न है। इसी कारण लोक-काव्य मे साहित्यिक अभिव्यक्ति की दो कोटियाँ स्वीकार्य नही है, यहाँ रचयिता और उपयभोक्ता की एक ही स्थिति है, दोनो का समाहार एक ही व्यक्तित्व मे हो जाता है। लोक-काव्य जीवन की प्रवाहित धारा की उल्लासमयी भावोद्वेलित तरग है जो जीवन के सहज यथार्थ से अपनी अभिव्यक्ति के क्षणो मे भी अविच्छिन्न रूप से बँधी रहती है।[९] अत भट्ट लोल्लट की व्याख्या के अनुसार लोक-काव्य मे रस की स्थिति सहज मान्य होगी। लोकाभिव्यक्ति जीवन से अभिन्न है, अत स्थायी भावों के उत्पन्न करने के लिए आलम्बन तथा उद्दीपन विभावो के समुचित विस्तार की आवश्यकता नही होती, बहुत कुछ उनकी स्थिति जीवन मे निहित

---

६. 'नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः' (का० प्र०; ४; २८ के अन्तर्गत)। ७. आनन्दप्रकाश दीक्षित; काव्य में रस (अप्रकाशित प्रबन्ध); पृ० २००। ८. लेखक; रस-सिद्धान्त और आधुनिक मनोविज्ञान; हिन्दी-अनुशीलन; वर्ष ३, अंक २। ९. लेखक; साहित्य और लोक-साहित्य (राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ)।

रहती है। स्थायी भाव के पुन प्रतीति योग्य होने के लिए अनुभाव-कार्यो की योजना भी इसी कारण हो जाती है और उसके रस रूप मे उपचित होने के लिए सहकारी रूप व्यभिचारी भावो की सागोपाग स्थिति भी आवश्यक नही रह जाती। यह हृदय-तत्व से मवेदित ऐसा भावात्मक प्रवाह है जो अपनी रस दशा मे सहज माना जायगा, क्योकि यहाँ अनुसन्धानवश प्रतीयमान होने की अपेक्षा नही रह जाती है।

रससूत्र के दूसरे व्याख्याकार आचार्य शकुक की दृष्टि भी दृश्यकाव्य पर प्रधानत रही है। उन्होने रसनिष्पत्ति का आधार आरोप के स्थान पर अनुमान माना है। अपनी स्थापना मे वह रस-सिद्धान्त को जीवन की स्थिति से काव्य-सौदर्य के स्तर पर प्रतिष्ठित करने मे एक कदम आगे बढे है। भट्ट लोल्लट ने स्थायी भाव की उपचित अवस्था 'रस' को सीधे वास्तविक चरित्रो (जीवन अथवा काल्पनिक काव्यवृत्त के) से सम्बद्ध मान लिया है। परन्तु शकुक ने वास्तविक पात्रो के स्थायी भाव को विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी आदि सचारियो के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने पर अनुमान के बल से अनुकरण रूप मे अनुकर्ता मे कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए प्रतीयमान हुआ माना है।[१०] यहाँ स्पष्टत शकुक ने स्थायी भाव की स्थिति मात्र को वास्तविक जीवन मे माना है, जो अनुक्रियमाण स्थायी भाव (रति) अभिनय से रस (शृगार) होता है। इस प्रकार यह रस जीवन से सम्बद्ध न हो कर काव्याभिव्यक्ति से सम्बद्ध है, ऐसा माना जा सकता है। अपने अनुमान की विशिष्ट (काव्य तथा कलागत) स्थिति समझाने के लिए उन्होने 'चित्र-तुरग-न्याय' का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, जिससे भी यही सिद्ध होता है कि इस आचार्य ने रस को जीवन से अलग काव्य के सदर्भ मे रख कर देखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि काव्य मे कल्पना तत्व की स्पष्ट व्याख्या के अभाव मे शकुक का अनुमान जीवन के प्रत्यक्ष-बोध की स्मृति और अनुभव तक सीमित रह जाता है।[११] इस स्थिति मे वास्तविक पात्र (आश्रय) के स्थायी भाव के अनुमान मात्र से सामाजिक मे रस-दशा मानी जायगी। यह ठीक है कि 'चित्र-तुरग' के उल्लेख द्वारा शकुक समस्त काव्याभिव्यक्ति को सामान्य प्रत्यक्ष-बोध तथा स्मृति-सयोग के क्षेत्र से उठा कर कल्पना के व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित करते है, फिर भी वह जीवन मे भावो और सवेगो की स्थिति तथा काव्य की रस-दशा का सम्बन्ध निरूपित नही कर सके हैं।

लोक-काव्याभिव्यक्ति प्रत्यक्ष जीवन की प्रक्रिया का अग है। सारा लोक-समाज इस अभिव्यवित के माध्यम से उस लोक-परम्परा के प्रवाह के साथ अनुभव करता है जिसका वह युगीन रूप है, साथ ही अपने युग-समाज की सामूहिक भावना का इसके द्वारा अनुभावन भी करता है। अत इस अभिव्यक्ति मे वास्तविक जीवन के स्थायी भावो की स्थिति और काव्य (अभिनय) के स्तर पर रस-दशा की स्थिति का अन्तर इस रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता है। एक दूसरी दृष्टि से लोक-काव्य की अभिव्यवित मे इस सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित रसनिष्पत्ति को

---

१०. अभिनव भारती, पृ० २७४।

११. हिन्दी साहित्य कोश; रसनिष्पत्ति (लेखक द्वारा)।

स्वीकार किया जा सकता है। शकुक ने माना है कि वास्तविक जीवन के स्थायी भाव कारण-कार्य-सहकारियो से अर्जित (सक्रिया भावावस्था मे) हो कर काव्यात्मक (अभिनयात्मक) अनुकरण रूप मे 'अनुमान के बल से' रस-दशा को प्राप्त होते है। वस्तुत लोक कवि या गायक अपने ही स्थायी भाव को अर्जित करता है और अपनी आत्माभिव्यक्ति की अनुकृति मे 'अनुमान के बल से' (स्मृति-सयोग, अनुभव-ज्ञान के साथ कल्पना की व्यापक सीमाओ मे) ऐसी भावावेश की स्थिति प्राप्त करता है जो शकुक की रस-दशा से अधिक भिन्न नही है। अपने जीवन से सम्पृक्त अभिव्यक्ति मे लोक-जीवन अपनी यथार्थ भावाभिव्यक्तियो को अधिक मार्मिकता से अनुभव करता है, और इसका कारण अपने ही जीवन का कल्पना की मुक्ति के साथ अनुभावन करना है।

वस्तुत रसनिष्पत्ति के सिद्धान्त को काव्य की भावभूमि पर पूर्णत प्रतिष्ठित करने का श्रेय भट्ट नायक को है। एक प्रकार से अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद तथा भट्टनायक के भोगवाद मे तात्विक अन्तर नही है, एक की दृष्टि मे प्रधानत काव्य है और दूसरे की दृष्टि मे नाटच। इन्होने रस की स्थिति को व्यक्ति-निरपेक्ष माना है। चाहे भावकत्व तथा भोजकत्व शक्तियो के द्वारा अथवा लक्षणा तथा व्यजना के द्वारा दर्शक या पाठक प्रत्यक्ष जीवन के 'निजत्व के मोह से' असम्पृक्त होता है। नाटकीय कलात्मक प्रदर्शन अथवा काव्यात्मक सुन्दर अभिव्यक्ति के कारण उसका मन 'विशिष्टता के बोध' को भूलता जाता है और जितना वह 'व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के बोध' को विस्मृत कर पाता है उतना ही वर्णित व्यक्ति या स्थिति को वह साधारणीकृत निरपेक्ष रूप मे ग्रहण करने मे समर्थ होता है। इस स्थिति के बाद कलात्मक सौन्दर्य के स्तर पर वह (सामाजिक) स्थायी भाव का रस रूप मे भोग करता है जो अपनी 'विलक्षणता मे लौकिक अनुभव से भिन्न' है, 'आनन्द रूप' कहा जा सकता है। इस प्रकार भट्ट नायक के अनुसार 'भावकत्व शक्ति' और 'साधारणीकरण-व्यापार' से 'ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व सम्बन्धी दोष' दूर हो जाता है, और तदनन्तर भोजकत्व शक्ति द्वारा सामाजिक भावित स्थायी भावादि का रस रूप मे भोग करता है जो अपनी विलक्षणता मे ब्रह्मानन्द के समान 'लौकिक अनुभव से भिन्न' होता है, अत यह रस सवित् विश्रान्ति है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद काव्य के शुद्ध स्तर पर रस-सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या माना जा सकता है। भोगवाद से समता रखते हुए भी अभिनव का मत कई दृष्टियो से भिन्न है। उन्होने अनुमान के अर्थ से प्रतीति को अस्वीकार करके भी प्रतीति के अतिरिक्त भोग का अर्थ स्वीकार नही किया। स्थायी भाव का ही भोग हो सकता है, उसकी प्रतीति चित्त मे बनी रहती है। अतीत अथवा अनुपस्थित वस्तु का भोग कैसे किया जा सकता है? भोग भी व्यवहार है, अत उसके साथ प्रतीति आपसे आप स्वीकृत हो जाती है।[१२] अभिनव ने भोग-व्यापार को अन्तत व्यजना अथवा ध्वनन व्यापार माना है। साथ ही उन्होने सर्वप्रथम सामाजिको के अन्त करण मे 'वासना रूप स्थायी भावो' को स्वीकार किया है। इस 'वासना-सवाद' को रस-हेतु मानने से रस का सामाजिक के भावो से सीधा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। अभिनव ने साधारणी-

१२. अभिनव भारती; भाग १; पृ० २७९।

करण के दो स्तर माने हैं—एक स्तर पर विभावादि का व्यक्ति-विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाता है (भट्टनायक) और दूसरे स्तर पर सामाजिक का 'व्यक्तित्व-बन्धन' नष्ट हो जाता है अर्थात् विभावादि के साथ स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है और साथ ही सामाजिक की अनुभूति का साधारणीकरण होता है।[१३] अभिनव ने, इसके अतिरिक्त रस के काव्यात्मक आयाम की व्याख्या करने के लिए सामाजिक को 'सहृदय' रूप में स्वीकार किया है, 'विघ्नविनिर्मुक्ति' की चर्चा की है और रस को सवित् विश्रान्ति कहा है।

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि मे रखकर यदि लोकाभिव्यक्ति पर विचार किया जाय तो दोनो की स्थितियो का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। रस-निष्पत्ति की व्याख्या मे आचार्यों ने जिस 'निजत्व के मोह' के दूर होने की 'ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व सम्बन्धी दोष' दूर होने की और व्यक्ति-वैशिष्टय के बोध के विस्मृत होने की चर्चा की है, लोकाभिव्यक्ति के सदर्भ मे इसको स्वीकार नही किया जा सकता है। लोक-गायक इस अभिव्यक्ति (लोक-काव्य) के प्रति न तटस्थ है और न निजत्व की भावना से असम्पृक ही है। वह इसके दु ख-सुख, राग-द्वेष, प्रेम-करुणा, तथा उत्साह-निराशा आदि का सक्रिय अनुभव करता है। अत काव्य-रस के विषय मे जो विलक्षणता, विघ्नविनिर्मुक्ति तथा सवित् विश्रान्ति आदि का प्रतिपादन किया गया है, वह लोकाभिव्यक्ति के स्तर पर स्वीकार नही किया जा सकता। साधारणीकरण की स्थिति को भी यहाँ इस रूप मे ग्रहण नही किया जा सकता, क्योकि लोक-गायक अभिव्यक्ति के सम्पूर्ण भावावेग को सामाजिक स्तर पर भी व्यक्तिगत रूप मे ग्रहण करता है।

परन्तु फिर भी लोकाभिव्यक्ति (काव्य) का सवेदन मात्र जीवन की साधारण स्थितियो-परिस्थितियो के सवेदन से भिन्न है। इसके दो कारण है। पहले तो यह अभिव्यक्ति सक्रिय रूप से सर्जनात्मक है, दूसरे इसका सहभोग सामाजिक स्तर पर ग्रहण किया जाता है। काव्य पाठक का सर्जन नही है, वह उसका पुन सर्जन कर सकता है, और इसी प्रकार पाठक काव्यानुभूति का सहभोगी होता है। परन्तु लोक-गायक लोक-मानस के स्तर पर लोक-प्रवाह मे अपनी अभिव्यक्ति का स्वय स्रष्टा भी है और भोक्ता भी। सहभोगी तो वह अपने सम्पूर्ण सामाजिक स्तर पर है, क्योकि उसके सर्जन मे और उसके भोग मे सारे समाज का योग है।[१४]

---

१३. हि० सा० को०; साधारणीकरण; (लेखक)। १४. प्रस्तुत विषय की यहाँ स्थापना मात्र हो सकी है, अन्यत्र समुचित विवेचना और प्रतिपादन किया जा सकेगा।

●

व्रजेश्वर वर्मा

'ब्रह्मवैवर्त' की कृष्णकथा के तीन प्रसंग

[हिंदी कृष्णकाव्य की पृष्ठभूमि में]

हिंदी कृष्णकाव्य के स्रोत और उपकरणो के सबध मे प्राय 'ब्रह्मवैवर्त' के श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड का भी उल्लेख हुआ है। इसमे सदेह नही कि इस पुराण मे कृष्णकथा जितने विस्तार से कही गयी है उसकी तुलना केवल 'श्रीमद्भागवत' से की जा सकती है। परन्तु हिंदी कृष्ण-काव्य पर 'ब्रह्मवैवर्त' का ऋण किस सीमा तक स्वीकार किया जाना चाहिए इसका यत्किंचित् अनुमान निम्नलिखित तीन प्रसगो से लगाया जा सकता है।

§१ 'ब्रह्मवैवर्त'[1] मे श्रीकृष्ण-जन्म का प्रधान हेतु श्रीदामा द्वारा राधा का शापित होना बताया गया है, पृथ्वी का भार उतारना कदाचित् गौण हेतु है। दूसरे और तीसरे अध्याय के १८५ श्लोको मे उस प्रसग का विस्तार से वर्णन है जिसके फलस्वरूप श्रीदामा और राधा मे कलह हुआ, दोनो ने एक दूसरे को मर्त्यलोक मे जन्म लेने का शाप दिया तथा श्रीकृष्ण ने राधा का प्रिय करने के लिए स्वय देवताओ सहित अवतार धारण करने का वचन दिया। सक्षेप मे कथा इस प्रकार है एक बार गोलोक की रासक्रीडा के मध्य से श्रीकृष्ण राधा को छोड कर उन्हीके समान एक अन्य परम सुन्दरी गोपी, विरजा के साथ उसके रसेन्द्रसार-विरचित मदिर मे विहार करने चले गये। राधा ने जब यह सुना तो वे रथारूढ होकर 'त्रिषष्टि शतकोटि' गोपियो के साथ वहाँ पहुँची। मदिर के द्वार पर लाख गोपो सहित श्रीदामा द्वारपाल के रूप मे नियुक्त थे। उन्हे देखकर राधा ने कहा, 'दूर हट, रति-लपट-किकर, दूर हट!' परन्तु श्रीदामा ने राधा को मार्ग नही दिया। राधा की सखियो और गोपो सहित श्रीदामा के बीच बल-प्रयोग होने लगा। ऐसा कोलाहल हुआ कि मदिर के भीतर से ही श्रीकृष्ण ने स्थिति का अनुमान कर लिया। कुपित राधा का सामना करने का उन्हे साहस नही हुआ और वे तुरत अतर्धान हो गये। विरजा भी अत्यन्त भयातुर हो गयी, और प्राणात करके उसने अपना शरीर सरिता के रूप मे परिणत कर लिया। कोटि योजनो मे विस्तृत होकर वह सरिता गोलोक मे वर्तुलाकार फैल गयी।[2]

राधा ने रति-गृह मे जाकर जब श्रीकृष्ण को नही पाया तथा विरजा को सरिता रूप मे देखा तो वे घर लौट गयी। इधर श्रीकृष्ण को विरजा का विरह दुखी करने लगा। उनका

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्मखंड, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, संवत् १९६६ वि०।
२. वही, अध्याय २, श्लोक २३-२३; ५९-६८।

विलाप सुन कर वह पुन स्त्री बन गयी और दोनो रति-सुख मे लीन हो गये। विरजा ने सात पुत्रो को जन्म दिया जो उसके रति-सुख मे बाधक होने के कारण अभिशप्त होकर सात द्वीपो के सात सागर बन गये। इस बाधा से खिन्न हो कर श्रीकृष्ण पहले ही विरजा को छोडकर राधा के यहाँ चले गये। परन्तु जब उन्हे पुत्र तथा पति से वियुक्त विरजा का ध्यान आया तो वे पुन उसके यहाँ लौट आये और निर्बाध रूप से सयोग-सुख मे निमग्न हो गये। इधर राधा ने जब यह सुना तो वे रुदन करते हुए कोप-भवन मे चली गयी। इतने मे श्रीकृष्ण उन्हे मनाने के लिए उनके यहाँ पहुँचे। श्रीदामा राधा के ही द्वार पर स्थित थे। श्रीकृष्ण को देखकर राधा ने उन्हे खूब बुरा-भला कहा।[3] विरजाकात, रति-चौर, रति-लपट, नदीकात आदि विशेषणों से सबोधित करते हुए राधा ने मनुष्यो का व्यवहार करने वाले कृष्ण को गोलोक से भारत मे मनुष्य-योनि प्राप्त करने का शाप दिया और धूर्त्त कृष्ण को सामने से हटाने के लिए अपनी सखियो को आदेश दिया। सखियो द्वारा कृष्ण के वारण किये जाने पर श्रीदामा को क्रोध आ गया और उन्होने सक्रोध राधिका से कहा—माता, तुम मदीश्वर से कटु वाक्य क्यो कहती हो? देवी, बिना बिचारे व्यर्थ ही भर्त्सना करती हो।[4] यहाँ पर पुराणकार ने श्रीदामा के माध्यम से परब्रह्म निर्गुण श्रीकृष्ण का सविस्तर माहात्म्य वर्णन किया है।[5] परन्तु राधा पर उसका कोई प्रभाव नही पडा। उन्होने अपनी निदा करने वाले मूढ श्रीदामा को गोलोक से बहिर्भूत होकर आसुरी योनि मे जाने का शाप दिया और चुनौती दी कि इस शाप से उनकी रक्षा उनका ईश्वर (श्रीकृष्ण) भी नही कर सकता।[6] प्रत्युत्तर मे श्रीदामा ने भी कहा—अम्बिके, तुम मनुष्यो की भाँति कोप करती हो, अत तुम मानुषी योनि पाओगी, इसमे कोई सदेह न होगा।[7] श्रीदामा ने राधा को वृन्दावनवासी हरि के अश रायाण नामक वैश्य की पत्नी होने, राधा के शाप से रायाण के महायोगी बनने, गोकुल मे कृष्ण को प्राप्त करके राधा के बिहार करने, फिर सौ वर्ष तक हरि से उनके वियुक्त होने, तदुपरात कृष्ण को पुन प्राप्त करके गोलोक लौटने की भविष्यवाणी की।[8] इन्ही शापो के फलस्वरूप श्रीदामा शखचूड हुए, राधा का वृषभानु के यहाँ जन्म हुआ तथा हरि का राधा के साथ पृथ्वी पर अवतार हुआ।

कहना न होगा कि हिंदी कृष्णकाव्य मे इस प्रसग की कही छाया भी नही मिलती।

§२ मध्ययुग के कृष्णभक्ति-सप्रदायो मे राधा की महत्ता उत्तरोत्तर बढती गयी और यद्यपि कृष्णकाव्य का मूल उपजीव्य 'श्रीमद्भागवत' रहा, राधाकृष्ण के लोक-विश्रुत आख्यान के लोक कवि की कल्पना द्वारा निरतर वर्द्धमान प्रसग उसमे सम्मिलित होते गये। 'ब्रह्मवैवर्त' मे भी मध्ययुग की उसी प्रवृत्ति के, किचित् भिन्न रूप मे, दर्शन होते है जिसके परिणामस्वरूप कृष्णकथा राधाकृष्णकथा बन गयी, कृष्णभक्ति राधाकृष्ण-भक्ति तथा कृष्णकाव्य राधाकृष्ण काव्य। 'ब्रह्मवैवर्त' मे तो राधा की महत्ता इतनी अधिक है कि यदि हम उसे राधा-पुराण कहे

---

३. वही, अध्याय ३, श्लोक १–४८, ४. वही, श्लोक ५९–७७, ५. वही श्लोक ७८–९४, ६. वही, श्लोक ९९–१००, ७. वही, श्लोक १०२–१०३, ८. वही, श्लोक १०४–१०६।

तो अत्युक्ति न होगी। राधा के सबध मे इतने अधिक विवरण अन्यत्र कही नही मिलते। कुछ रोचक बाते यहाँ दी जा रही है।

राधा के रायाण-पत्नी होने का तो शाप श्रीदामा ने ही दिया था, कृष्ण ने उन्हे समझा-बुझाकर वृषभानु के घर मे जन्म लेने भेजा। परन्तु वे वृषभानु की पत्नी, जिसका नाम इस पुराण मे कलावती दिया गया है, के गर्भ मे नही रही। उसका गर्भ तो नव मास तक वायु से भरा रहा, दसवे मास मे वायु का नि सरण हुआ और उसी समय अयोनिसभवा राधा स्वात्मरूप त्याग कर शिशु रूप मे कलावती के समीप रोती हुई आ गिरी।[९]

राधा की माता कलावती तीन अयोनिसभवा मानसी कन्याओ मे से एक है। शेष दो रत्नमाला और मेनका है, जो क्रमश अयोनिसभवा सीता और पार्वती की माताएँ है[१०]। कलावती कान्यकुब्ज के श्रेष्ठ नृप भनदन की कन्या है, जो उन्हे यज्ञ के अत मे यज्ञ-कुड से प्राप्त हुई थी।[११] वृष-भानु पद्मावती के जठर से गोकुल मे उत्पन्न हुए। उनके पिता सुरभान थे।[१२] कलावती के जन्मोत्सव, नामकरण आदि का विस्तृत वर्णन करते हुए पुराणकार उसके रूप का वर्णन करता है जिसे देख कर एक बार राजमार्ग पर जाते हुए जितेन्द्रिय, ज्ञानी नद भी मूर्च्छित हो गये।[१३] नद ने भनदन से प्रस्ताव किया कि वे अपनी कन्या का विवाह सुरभान-सुत 'श्रीमान्वृषभानु व्रजाधिप' से कर दे। भनदन ने उत्तर दिया कि सबध विधिवश है। अत मे नद की इच्छा पूरी हुई, विवाह मे खूब यौतुक-दान मिला। इन्ही कलावती और वृषभानु की कन्या राधा हुई—परन्तु दैवात, सुदामा (श्रीदामा) के शाप से, श्रीकृष्ण की आज्ञा से।[१४]

'ब्रह्मवैवर्त' पुराण के अतिरिक्त राधा के जन्म और माता-पिता की कथा अन्यत्र कही नही मिलती। हिंदी कृष्णकाव्य इस विषय मे भी 'ब्रह्मवैवर्त' से सर्वथा अप्रभावित है। यहाँ राधा की माता का नाम कीर्ति है, परन्तु उनके और उनके पति वृषभानु से सबधित कोई विवरण नही मिलता। राधा-कृष्ण के काल्पनिक प्रेम-प्रसगो की उद्भावना मे अवश्य कुछ असबद्ध प्रसग कल्पित होते रहे है, परन्तु उनमे भी 'ब्रह्मवैवर्त' की उपर्युक्त कथा का आभास तक नही मिलता।

§३ तीसरा प्रसग राधाकृष्ण के प्रथम मिलन, विवाह और रति-विहार का है। पद्रहवे अध्याय मे वर्णन है कि एक बार नद शिशु कृष्ण को लेकर वृन्दावन गये। इतने मे कृष्ण ने अपनी माया द्वारा नभ को मेघाच्छन्न कर दिया। काननातर श्यामल हो गया, झझावात छा गया, दारुण वज्र का गर्जन होने लगा, अति स्थूल वृष्टि धारा टूट पडी, वृक्षकपित होकर गिरने लगे, नद भयभीत हो गये और गो-वत्स छोडकर घर लौटने का विचार करने लगे। बालक हरि रोने लगे। इतने मे परम सुन्दरी राधा कृष्ण के सन्निकट आ गयी।[१५] उस परम रूपवती को देखकर नन्द विस्मित हो गये। उन्होने साश्रु नेत्र होकर राधा को नमन किया और बताया कि मैं गर्ग के मुख

---

९. वही, अध्याय ६, श्लोक २२४–२२७। १० वही, अध्याय १७, श्लोक ३३–३८। ११. वही, श्लोक ११०। १२. वही, श्लोक १०६–१०७। १३. वही, श्लोक १२०। ६. वही, श्लोक ११२–१४३। १४. वही, अध्याय १५, श्लोक ९१–२२१। १५. वही,

से सुन चुका हूँ कि तुम हरि की प्रिया हो। मैं यह भी जानता हूँ कि कृष्ण महाविष्णु, परम निर्गुण और अच्युत है, तथापि मैं विष्णु माया से मोहित हूँ। प्राणनाथ को लो और सुखपूर्वक जाओ, फिर मनोरथ पूर्ण करके मेरे पुत्र को ले आना। इस प्रकार नद ने रोते हुए बालक को दे दिया और राधा उसे लेकर चली।[16] नद ने राधा-कृष्ण की अनन्य दास्य भक्ति की जगदबिका परमेश्वरी से याचना की। राधा ने अपने और कृष्ण के चरणो मे अहर्निशि भक्ति का नद को वरदान दिया तथा आनदपूर्वक कृष्ण को वक्ष से लगाकर चुबन करती हुई दूर रास मडल मे ले गयी।[17] पुराणकार ने यहाँ रासमडल का अत्यत राजसी वैभवयुक्त वर्णन किया है। राधा देवी रास-गृह के भीतर गयी, जहाँ कर्पूर समन्वित ताम्बूल, रत्नकुम्भस्थ स्वच्छ शीतल जल तथा सुधामधु के कलश सजे हुए थे। राधा ने देखा, वहाँ कमनीय किशोर श्याम-सुन्दर पुरुष है, जो चंदन से विभूषित, पीतवस्त्र धारण किये हुए, प्रसन्नवदन, मुस्कुराते हुए पुष्प-शैया पर लेटे है। मजीर, केयूर, वलय, मणि-कुडल, कौस्तुभ मणि, शिखि-पच्छ आदि से सुशोभित नव-यौवन कृष्ण को सम्मुख देखकर तथा अपने क्रोड को शून्य पाकर रासेश्वरी राधा विस्मय-विमुग्ध हो गयी। निर्निमेष दृष्टि से देखती हुई पुलकाकित, सस्मिता, मदनातुरा राधा को देखकर श्रीकृष्ण ने कहा—राधा, सुरससद के गोलोक-वृत्तात का स्मरण करो। आज वह पुरास्वीकृत पूर्ण करूँगा। तुम मेरी प्राणाधिका प्रेयसी हो।[18] राधा-कृष्ण के अभेद, राधा की महिमा तथा कृष्ण और श्रीकृष्ण का अतर समझाने, भेद-बुद्धि वालो को अभिशाप देने, 'राधा' नाम की व्युत्पत्ति बताने तथा राधा की कृपा का वर्णन करने के उपरात पुराणकार ने ब्रह्मा के प्रकट होने और माता राधा का स्तवन करने का वर्णन किया है। राधा की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मा भी राधाकृष्ण की अभिन्नता का कथन करते है तथा बताते है कि वेद मे इसका निरूपण नही है। वे कहते है—जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड श्री-कृष्ण का अश है, उसी प्रकार शक्ति-स्वरूपा आप उस सभी मे स्थित है। सभी पुरुष हरि के अश है, तथा निखिल स्त्रियाँ आपकी अश हैं।[19]

इसके उपरात ब्रह्मा ने हुताशन प्रज्वलित की, हवन का उपक्रम किया, कृष्ण को शयन से उठाकर अग्नि के समीप बिठाया। विधिपूर्वक हवन करके उन्होने अग्नि की प्रदक्षिणा करायी, तथा वेदोक्त सप्त मत्रो के पाठ के साथ राधिका का हाथ हरि के वक्ष पर तथा श्रीकृष्ण का हाथ राधा की पीठपर स्थापित करते हुए राधा और कृष्ण द्वारा परस्पर पुष्प-मालाओ का आदान-प्रदान कराया। विवाह की अन्य 'वेदोक्त' विधियाँ सम्पन्न करते हुए ब्रह्मा ने कृष्ण को प्रणाम किया और राधा का कन्यादान किया। विवाह-कार्य सम्पन्न होने पर देवताओ ने पुष्पवर्षा की, मुरज, दुदभि आदि का वादन किया। अत मे भक्ति की याचना करके तथा पूर्ण आश्वासन पाकर ब्रह्मा चले गये।[20]

अब पुराणकार को राधा-कृष्ण के रति-विलास के वर्णन का अवसर मिलता है, जिसमे

---

१ श्लोक २५–२८। १६. वही, श्लोक ३२–६। १७. वही, श्लोक ४६–५३। १८. वही, लोक ५४–५७। १९. वही, श्लोक १०३–१०४। २०. वही, श्लोक ११६–१३५।

वह उच्छिष्ट ताम्बूल-चर्वण, मधुपान तथा चदन, अगरु, कस्तूरी, कुकुम से अग-लेपन का वर्णन करते हुए उनकी सुरति का अत्यत खुला चित्रण करता है।[२१]

राधा का शृंगार करने के बाद कृष्ण कैशोर छोड़कर पुन शिशु रूप हो जाते है और क्षुधित होकर रोने लगते है—ठीक उसी प्रकार भयभीत जैसा नद ने उन्हे राधा को दिया था। शोकार्त, विरहातुर राधा इधर-उधर देखती हुई रोने लगती है। कृष्ण उन्हे नित्य रति का आश्वासन देते है।[२२] राधा बालक को गोद मे लेकर नद-मदिर जाती है—और उसे यशोदा को सौपते हुए कहती है, तुम्हारे स्वामी ने इसे गोष्ठ मे मुझे दिया था, मेघाच्छन्न दुर्दिन मे इसके वस्त्र गीले हो गये है, यह भूख के कारण रो रहा है। यशोदा कृष्ण को लेकर उन्हे दूध पिलाने लगती है।[२३]

राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन के इस वर्णन मे जयदेव के 'गीत-गोविद' से कुछ समता अवश्य पायी जाती है। कही-कही तो कुछ शब्दावली की भी विशेष रूप से आकाश के मेघाच्छन्न होने के वर्णन मे समानता है। 'सूरसागर' मे भी वृन्दावन के सुख-विलास सबधी वर्णन मे एक पद आया है, जिसमे गगन के फहराने, काली घटा के एकत्र होने, आँधी, बिजली आदि का लगभग ऐसा ही उल्लेख है तथा कहा गया है कि नद भयभीत होकर राधा से कहते है कि तुम कृष्ण को घर ले जाओ, दोनो साथ-साथ जाओ। यह सुनकर राधा कृष्ण का हाथ पकड लेती है और दोनो घने वन की ओर विहार के हेतु चल देते है।[२४]

इस अतर के साथ कि 'सूरसागर' के वर्णन मे मानवीय स्वाभाविकता है, जबकि पुराण और 'गीतगोविद' कृष्ण को शिशु रूप मे वर्णित करते हुए अलौकिक चमत्कार की व्यजना की ओर अधिक उन्मुख है, तीनो मे जो साम्य है वह आकस्मिक अथवा किसी समान स्रोत पर आधारित, एक दूसरे से असबद्ध नही कहा जा सकता। 'सूरसागर' का वर्णन तो 'गीतगोविंद' से प्रभावित माना ही जायगा, क्योकि दोनो के पूर्वापर रचनाकाल के विषय मे कोई सन्देह नही है, परन्तु यही बात 'ब्रह्मवैवर्त' के विषय मे नि सकोच नही कही जा सकती। 'ब्रह्मवैवर्त' के रचनाकाल का निर्णय करने मे उसके अनेक वर्णन-चित्रण सहायक हो सकते है और उनमे राधा-कृष्ण का यह प्रथम मिलन और विवाह भी सम्मिलित है। 'सूरसागर' मे राधा-कृष्ण विवाह का वर्णन रास-क्रीडा के अतर्गत हुआ है और उसमे यद्यपि ब्रह्मा के योगदान का उल्लेख है, परन्तु विवाह के पूर्वापर प्रसगो मे 'ब्रह्मवैवर्त' से पर्याप्त भिन्नता है।

* * *

उपर्युक्त तीन प्रसगो से ही सूचित होता है कि 'ब्रह्मवैवर्त' के 'श्रीकृष्ण जन्म खड' मे राधा की अत्यधिक महत्ता है। वैष्णव धर्म मे राधा की इतनी, और इस प्रकार की महत्ता १६वी शताब्दी ईसवी से पहले भी कभी थी, इसका कोई प्रमाण आज तक नही मिला। यह बात भी 'ब्रह्मवैवर्त' के रचना-काल के निर्णय मे सहायक हो सकती है। इस पुराण के अध्ययन से एक और

---

२१. वही, श्लोक १४०–१६०। २२. वही, श्लोक १६३–१७०। २३. वही, श्लोक ७१–१७५। २४. सूरसागर, पद १३०२।

तथ्य असदिग्ध रूप मे हमारे सामने आता है, और वह यह कि इस पुराण पर शाक्त मत का असाधारण प्रभाव है। पुराण की जगदम्बिका राधिका शाक्तो की चडिका या दुर्गा की ही प्रतिच्छाया है, तथा पुराणकार की राधा-भक्ति शाक्तो की मातृ-भक्ति का ही रूपातरण है। इस वस्तुस्थिति से यह भी सकेत मिलता है कि इस पुराण की रचना उसी प्रदेश मे हुई होगी जहाँ माँ दुर्गा की उपासना जन-जीवन मे समायी हुई है। सपूर्ण पुराण के अध्ययन के उपरात मन मे यह प्रश्न भी स्वभावत उठने लगता है कि क्या 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण की रचना मे सोलहवी शताब्दी ईसवी के गौडीय वैष्णव आचार्य—रूप गोस्वामी अथवा उनके भतीजे जीव गोस्वामी—का कोई हाथ रहा होगा ? परन्तु इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अधिक विस्तार की आवश्यकता है।



पारसनाथ तिवारी

संतों द्वारा प्रयुक्त 'सुरति' शब्द का अर्थ-विकास

कामशास्त्र तथा काव्यशास्त्र मे जहाँ 'सुरति' शब्द का प्रयोग रतिक्रीडा तथा प्रेम (सु-रति) के अर्थ मे हुआ है वहाँ दूसरी ओर सत-साहित्य मे उसका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ मे हुआ है जो आगे चलकर स्मृति या ध्यान के समानान्तर अर्थ मे विकसित हो गया और उसी अर्थ मे तुलसी,[1] सूर[2] आदि सगुण भक्तो ने भी उसका प्रयोग किया। सेनापति ने यमक के सहारे एक ही पक्ति मे इस शब्द का प्रयोग उक्त तीनो अर्थों मे किया है—"सेनापति साँवरे की सुरति की सुरति की सुरति कराइ करि डारत बिहाल है।"[3]

सतो द्वारा प्रयुक्त 'सुरति' शब्द के सबध मे सबसे पहले डॉ० बडथ्वाल ने विस्तार से विचार किया[4] और यह मत निर्धारित किया कि "हिंदी मे सुरति का सामान्य अर्थ है स्मृति, याद .. और इस अर्थ मे यह शब्द सस्कृत के 'स्मृति' शब्द से निकला है। 'म्' का लोप, 'अ' का 'उ' मे परिवर्तन और उसके ससर्ग से 'र' का आगम—इस प्रकार 'सुरति' शब्द सिद्ध हुआ।"[5] सपूर्णानन्द जी ने 'सुरति' को 'स्रोत' से व्युत्पन्न माना है और उसका अर्थ 'चित्तवृत्ति-प्रवाह' किया है।[6] 'धम्मपद' मे मन के ३६ स्रोत माने गये है—आँख, कान, नाक, जीभ, काया (त्वचा) आदि ३६ स्रोतो मे मन सदैव प्रसरण करता रहता है—

यस्स छत्तिसती सोता मना पस्सवना,
वाहा वहन्ति दुद्दिट्ठि सकप्पा राग निस्सिता॥(२४, ६)

अर्थात् जिसके छत्तीस स्रोत मन को भली लगने वाली वस्तुओ मे ही लगाते है उसके लिए (वे) रागनिःसृत सकल्प दुर्दृष्टि का ही वहन करते है।

किंतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह दोनो व्युत्पत्तियाँ सदेहास्पद प्रतीत होती है। 'स्मृति' का विकसित रूप मध्यकालीन हिंदी साहित्य मे 'सुम्रित' या 'सिम्रित' मिलता है और 'स्रोत' से 'सुरति' होना तो और भी अधिक असभव जान पडता है। 'उ' के 'ओ' मे परिवर्तित हो जाने के

---

१. उदा०—बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि।—रामचरितमानस; उ० का०; दो० १९ (क), गी० प्रे० संस्क०। २. घर की बन की सुरति न काहूँ लेहु दही यह कहत फिरै।—सूरसुषमा; पृ० १९२। ३. योगप्रवाह, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, पृ० २४ पर डा० बड़थ्वाल द्वारा उद्धृत। ४. दे० वही; सुरति-निरति, पृ० २३–३३। ५. वही; पृ० २३–२४। ६. विद्यापीठ (त्रैमासिक); भाग २; पृ० १३५।

उदाहरण हिंदी मे अनेक मिलते है, जैसे—स० कुक्षि > हि० 'कोख', हि० 'छूत' > सत० 'छोति', हिं० 'भूल' > सत० 'भोलि' (उदा० 'जे मनि पाडी **भोलि**' —कबीर), हि० 'सुधि' > सत० 'सोधी' (उदा० '**सोधी** सई न दाति'—कबीर) हि० सूझ > सत० 'सोझी' (उदा० 'गुर बिन **सोझी** झ न होइ' = सूझ बूझ नही होती—नानक, गुरगमि तै **सोझी** पाई—कबीर), किंतु 'ओ' के 'उ' मे परिवर्तन के उदाहरण दुर्लभ ही है, और फिर 'स्रोत' से 'सुरति' का सबध जोडना तो कष्टकल्पना ही ज्ञात होती है।

मेरा विचार है कि सतो का 'सुरति' शब्द स० 'श्रुति' (श्रवणार्थे) से विकसित हुआ है। उपनिषदो मे सतो के शब्दयोग से मिलते-जुलते अनेक उल्लेखो (दे० छान्दोग्य० ५।१०।१०, वृहदारण्यक० ५।९।१, मैत्र्युपनिषद् ६।२२-२३) के साथ ही साथ छान्दोग्योपनिषद् (३।१३।८) मे एक ऐसा उल्लेख मिलता है जो 'सुरति' शब्द के अर्थ-विकास पर पर्याप्त प्रकाश डालता है—

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे स्पर्शेनोष्णिमान विजानाति। तस्यैषा **श्रुतिर्य**त्रैत्कर्णाविपि गृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपश्रृणोति तदेतद्दृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्युपासीत। चक्षुष्य श्रुतो भवति य एव वेद य एव वेद।

जहाँ इस शरीर मे स्पर्श से जो उष्णत्व जानता है, उसका इस प्रकार **श्रवण** भी होता है जब दोनो कानो को अँगुलियो से ढक कर (रथ के) घोष के समान, (वृषभादि के) नाद के समान और जलती हुई अग्नि के समान जो सुनता है, वही इसका दृष्ट और श्रुत ज्ञान प्रसिद्ध है। (इस प्रकार) वह दर्शनीय और विश्रुत (दोनो) है, जो ऐसा जानता है, जो ऐसा जानता है।

पूर्ववर्ती सतो की वाणी मे इस शब्द के ऐसे अनेक प्रयोग मिलते है जिनसे उसके **श्रवणार्थ** की ही पुष्टि होती है। इस सबध मे कतिपय उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जा रहे है—

१—नाथपथ के सम्मानित ग्रथ 'मछीद्र गोरखबोध' मे गोरखनाथ की इस जिज्ञासा पर कि—

कौन बीरज कौन षेत्र। कौन श्रवण कौन नेत्र॥

मत्स्येन्द्र ने उत्तर दिया—

अवधू मत्र बीरज मति षेत्र। **सुरति श्रवण** निरति नेत्र॥[७]

२—पुन उसी ग्रन्थ मे गोरख के यह पूछने पर कि—

करण बिन कौन श्रवण। मुख बिन कौंन सबद॥

मत्स्येद्र का कथन है—

करण बिन सुरति श्रवण। मुख बिन लय सबद॥[८]

३—'सिस्ट पुराण' मे यह बतलाया गया है कि "काया उपराति क्षेत्र नाही.. चक्षु उपराति दृष्टि नाही। **श्रवण उपरांति सुरति नाहीं**।"[९]

---

७. गोरखबानी, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल संपादित; साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; प्र० संस्क०; पृ० १८७। ८. वही; पृ० १९६। ९. वही; पृ० २३६।

४—'सुनने' से 'सुरति' का सबध 'रोमावली' की निम्नलिखित पक्ति से भी ध्वनित होता है—

दृष्टि कहै क्यू लीजै दीजै। **सुरति** कहै क्यूं बोलिए **सुणिए**॥[१०]

५—गोरखनाथ की एक सबदी मे निर्वाण पद का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा, **सुरति लुकाइबा कानं।**
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरबान॥[११]

६—ऐन विरह (=सच्चा विरह) उत्पन्न हो जाने पर सारा स्थूल-सूक्ष्म सघात प्रिय की मधुर वाणी की **सुरति** या **श्रवण के लिए कान बन जाता है,** स्मरण के लिए रसना बन जाता है और देखने के लिए नेत्र बन जाता है—

सब घट श्रवनां सुरति सौं, सब घट रसना बैन।
सब घट नैना ह्वै रहे, दादू बिरहा अैन।[१२]

७—'सुरति' का श्रवण से सबध दिखाने के लिए दादूवाणी के दो स्थल और भी द्रष्टव्य है—

(क) श्रवणौं सुरति गई नैन न सूझै।
सुधि बुधि नाठी कह्या न बूझै॥[१३]

(ख) श्रवणौ सुरति जब जाई।
ए तबका सुणिहै भाई॥[१४]

'श्री गुरुग्रथ साहब' मे भी इसी प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते है, जिनमे से कुछ यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

८—जीउ पाइ तनु साजिआ, राखिआ बणत बणाइ।
अक्खी देखै जिहवा बोलै, **कन्नी सुरति समाइ॥**[१५] (नानक)

९—**सुरति** मति चतुराई ताकी किआ करि आखि बखाणिए।[१६] (गुरु अगद)

१०—हरि आपे **सुरति** सबद धुनि आपे।[१७] (रामदास)

११—भुजबल बीर ब्रहम सुख सागर गरत परत गहि लेहु अगुरीआ।
स्रवन न सुरति नैन सुन्दर नही आरत दुआरि रटत पिंगुरीआ॥[१८] (अर्जुन देव)

१२—सबद सत्ति सत्ति प्रभु बकता।
सुरति सत्ति सत्ति जसु सुनता॥[१९] (अर्जुन देव)

१३—**जेता सबदु सुरति धुनि तेती** जेता रूपु काइआ तेरी।[२०] (नानक)

---

१०. वही; पृ० २०४। ११. वही; सबदी ७५; पृ० २७। १२. स्वामी दादू दयाल जी की वाणी, मंगलदास संपादित, पृ० ७८। १३. वही; पृ० ५७०। १४. वही; पृ० ६१०। १५. श्री गुरुग्रंथ साहब; सर्व हिन्द सिक्ख मिशन संस्करण; पृ० १३८–१५, १६। १६. वही; पृ० वही; पंक्ति २०, २१। १७. वही; पृ० १६५–१३, १४। १८. वही; पृ० २०३–३, ४, ५। १९. वही; पृ० २८५–१२। २०. वही; पृ० ३५०–६।

१४—नामै **सुरति सुनी** मन भाई।

जो नाम सुनावै सो मेरा मीत सखाई॥[21] (रामदास)

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट हो गया होगा कि पूर्ववर्त्ती सतो मे 'सुरति' शब्द का प्रयोग प्रथमत सुनने की क्रिया अथवा श्रवण के लिए आरभ हुआ और शब्द या नाद से इसका सबध स्वभावत जुड गया। सतो की साधना मुख्यतया शब्द या अनाहत नाद की साधना है जो स्वत एक सूक्ष्म प्रक्रिया है और 'सुरति' शब्द भी इसी प्रक्रिया से सबद्ध होने के कारण शनै शनै सूक्ष्म अर्थ-विकास की ओर अग्रसर होने लगा।

'ब्रह्मडे सो पिंडे जानि' इस सिद्धान्त-वाक्य के अनुसार योगियो तथा सन्तो की यह मान्यता है कि बाह्य जगत् मे जो महाशब्द परिव्याप्त हो रहा है उसी का प्रतिरूप पिड अथवा शरीर मे भी अनाहत नाद होकर समाया हुआ है। साधक को उसीमे मन लगाना चाहिए, यही परमार्थ है—शेष सब दुनियावी धधे व्यर्थ है। इस अर्तमुखी साधना के लिए सतो ने बाह्य स्थूल इद्रियो की अपेक्षा उनके अतर्मुखी सूक्ष्म रूप को ही अधिक महत्व दिया। गोरखनाथ ने जब 'दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा सुरति लुकाइबा कान' द्वारा निर्वाणपद का निरूपण किया तो उसमे इद्रियो की इसी अतर्मुखी वृत्ति या प्रत्याहार की ओर सकेत किया है। इस प्रकार जो स्थूल श्रवणेन्द्रिय या कान है, 'सुरति' उसीकी आतरिक सूक्ष्म इद्रिय या वृत्ति मानी गयी और इस 'सुरति' को शब्द के साथ एकाकार करने के उपदेशो से सत-साहित्य भरा पडा है, उदाहरणतया—

१—बरष (= बिरिष, वृक्ष) एक देषिलै हो पडिता

तत एक चीन्हिबा सबदै सुरति समाई॥[22]

२—उनमुन धुनि मे सुरति समाऊँ उलटी गग बहाऊँगा।[23]

३—भटक की तुम कथा छोडो, सुरति शब्द समाव।[24]

४—मनुवा सबद सुनत सुख पावै।

जेहि बिधि धुधकत नाम अनाहद, तेहि बिधि सुरति लगावै।[25]

५—गुरमुखि सुरति सबद नीसानु।[26] (नानक)

इसी सूक्ष्म साधना को सतो की पारिभाषिक शब्दावली मे 'सुरति-शब्द योग' कहा गया। साधना के क्षेत्र मे सतो की यह एक मौलिक विशेषता है जो उन्हे नाथयोगियो की स्थूल काया-साधना या हठयोग से पृथक् करती है। सतो की विचारधारा के अनुसार योगियो की हठयोग द्वारा प्राप्त समाधि जड समाधि है। इसके विपरीत सुरति-शब्दयोग सूक्ष्म मन की सूक्ष्म साधना है। यह सुरति-साधना सतों मे इतनी प्रचलित हुई कि 'सुरति कमाना' एक मुहावरा हो गया और सुरति साधने वाले को 'सुरती' कहा जाने लगा। नानक ने कहा है—

---

२१. वही; पृ० ३६७—१२, १३। २२. गो० बा०; सबदी २२१, पृ० ७२। २३. गुलाल साहब, महात्माओं की बाणी; भुरकुड़ा, गाजीपुर; पद १०७–२, पृ० ३९। २४. वही; पद १६४–२; पृ० ५७। २५. भीखा साहब; वही; पद ३०२–२, पृ० १०९। २६. श्री गुरुग्रंथ साहब; पृ० ४१४–१०।

सभि **सुरती** मिलि **सुरति** कमाई।
सभ की मति मिलि कीमति पाई।।[२७] (नानक)

श्रवणेन्द्रिय की सूक्ष्म वृत्ति को शब्द की ओर उन्मुख करने की भावना मे पुन विकास हुआ और वह केवल श्रवणेन्द्रिय की सूक्ष्म वृत्ति की परिधि मे सीमित न रह कर समग्र चित्त की वृत्ति बन गयी और 'ध्यान' अथवा 'याद' या 'खयाल' का समानार्थी हो गयी, क्योकि शब्द-साधना मे ध्यान को ही प्रमुखता दी जाती थी। मेरा अनुमान है कि तुलसी, सूर आदि के आविर्भाव-काल तक यह शब्द इस अर्थ मे भलीभाँति जनता मे प्रचारित हो चुका था, किंतु इसके आदि प्रचारक सत लोग ही ज्ञात होते है। इस अर्थ मे यह शब्द इतना अधिक प्रचलित हो चुका है कि आज का साधारण ग्रामीण भी कहता है कि 'अमुक बात हमारी **सुरता** मे नही आती' अर्थात् याददाश्त मे नही आती। मुहावरे मे 'सुरता से उतर जाना' या 'सुरता पर चढना' भी कहा जाता है। ठीक-ठीक इसी अर्थ मे प्रयुक्त इस शब्द के उदाहरण सत-साहित्य मे अत्यधिक सख्या मे मिलते है, जिनमे से कुछ रोचक उदाहरण इस प्रकार है—

१—सीप की सुरति आकास बसतु है, चित्त चकोर चद लाई।[२८] (यारी)
[सीप की सुरति = सीप की चित्तवृत्ति।]
२—जन हरिदास भजि राम मनि मेल राखै नही
सुरति ससार सू उलटि ताणै।[२९]
३—जिसकी सुरति जहा रहै, तिसका तहा बिसराम।[३०]

अस्तु, ध्यान अथवा स्मृति का समानार्थी हो जाने पर ध्यान की निरतरता के आधार पर सुरति के लिए अनेक रूपको की सृष्टि हुई—'सुरति धागा'[३१] अथवा 'सुरति डोर'[३२] की चर्चा होने लगी। कदाचित् ध्यान की मस्ती के आधार पर सुरति को शराब भी माना गया—

प्रेम पियाला सुरति भरि पीयो, देखो उल्टी बाट।[३३] (यारी)

यही नही, हठयोग की कुडलिनी के अनुकरण पर परवर्ती सतो ने उसे शक्ति या चेतना का ऐसा गतिमान तेजपुज भी माना जो साधना के उत्कर्ष या अपकर्ष के कारण पिड मे ऊर्ध्वगामी अथवा तिरोगामी होता रहता है। गुलाल साहब कहते है—

देखो सतो सुरति चढी असमान, दूजा और न आन।
जगमग ज्योति बरत अति निर्मल, देखि दरस कुर्बान।।[३४]

---

२७. वही; पृ० ३४९–३, ४। २८. महात्माओ की वाणी; पद ७-३, पृ० ३। २९. श्री हरिपुरुष जी की वाणी; जोधपुर; पृ० २९८-२। ३०. दादूबानी, योगप्रवाह, पृ० २८ पर डा० बड़थ्वाल द्वारा उद्धृत। ३१. उदा०—अवधू सुरति धागा सहज लागा। (हरिदास निरंजनी, श्री हरिपुरुष की वाणी; पृ० ९६)। ३२. तुल०—सुरति डोरी लगाव गगनहि उठत है झकार।—गुलाल साहब; महात्माओं की वाणी; पद १६५-२; पृ० ५८। ३३. वही; पद ८-५; पृ० ४। ३४. वही; पद १८७-१; पृ० ६५।

'शब्द विलास'[३५] मे कबीर के नाम से सकलित एक पद मे बताया गया है—

जगर मगर एक नग्र, अग्र की डोर है।
बूझौ संत सुजान, शब्द घनघोर है॥
रूप नालि की डोर, निरजन बास है।
सुरति रहै बिल्हमाय, मिलावत श्वास है॥
सोह सुमिरन होय, सो दक्षिण कोन है।
तहँवा सुरति समाय, रहै उनमौन है॥

तथा— ऐसी तीखी सुरति है, फोरि गई ब्रह्मड।
पीव को न्यारा देखिया, सात दीप नौ खड॥

पहले राधास्वामी-सप्रदाय वालो ने और फिर उन्ही के अनुकरण पर अन्य परवर्ती सतो ने एक 'सुरति कमल' की भी कल्पना की जिसकी स्थिति सहस्रदल-कमल तथा ब्रह्मरध्र से भी आगे मानी गयी।

रूपक की परपरा निरतर आगे बढती गयी, और कालातर मे 'सुरति' शब्द का पूर्ण मानवीकरण हो गया। कबीरपथ की एक परवर्ती रचना 'सुरति-शब्द-सबाद'[३६] मे, जिसके तथाकथित रचयिता कबीर साहब बताये गये है, सुरति को शिष्य और शब्द को गुरु मानकर दोनो का वार्तालाप दिया हुआ है। परवर्ती सतसाहित्य मे, और प्रमुख रूप से राधास्वामी-सप्रदाय के साहित्य मे सुरति का वर्णन अनेक स्थलो पर अभिसारिका अथवा सुहागिन के रूप मे भी मिलता है। 'सुरति' शब्द से सबद्ध इस मधुर भावना के विकास मे दो प्रमुख प्रेरक तत्व ज्ञात होते हैं प्रथमत 'सुरति' शब्द व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिगवाची है और शब्द पुलिंगवाची है (बौद्ध सिद्धो के सहजिया सप्रदाय मे प्रज्ञा तथा उपाय के युगनद्ध रूप मे तथा वैष्णव सहजिया सप्रदाय मे राधाकृष्ण के युगल रूप मे मधुर भावना की परपरा पहले से वर्त्तमान थी), दूसरे 'सुरति' शब्द की कामशास्त्री परपरा मैथुनपरक है। सतो की विचारधारा मे विरह-भावना की प्रमुखता होने के कारण इस रूपक का आश्रय लेने मे और भी अधिक प्रोत्साहन मिला होगा।

इस प्रकार मूल रूप से श्रवणार्थवाची 'सुरति' शब्द का साधना-भेद तथा परिस्थिति-भेद के कारण अभिसारिका के रूप तक पहुँच जाने का यह सक्षिप्त इतिहास है।

---

३५. बड़ैया गद्दी, जिला जौनपुर के स्व० महंथ गुरुशरणपति साहब द्वारा सं० १९६५ वि० में प्रकाशित (दे० पृ० १२३-२४ तथा १३०)। ३६. वहीं से सं० १९६४ में प्रकाशित।

●

नन्ददुलारे वाजपेयी

राष्ट्रीय साहित्य

साहित्य के विवेचन मे दो तथ्य आज प्राय स्वीकृत किये जा चुके है एक यह कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, द्वितीय यह कि राष्ट्रीय होकर ही कोई साहित्य सारवान हो सकता है। प्रथम का आशय यह है कि साहित्य केवल कुछ नियमो का पालन करके निर्मित कर दी जाने वाली रचना अथवा मात्र-कल्पना द्वारा गढी हुई प्रतिमा नही है। द्वितीय का आशय यह है कि अनुभूत चेतना, प्रवृत्ति, आशा तथा आकाक्षा से युक्त होने के कारण ही साहित्य का प्रभाव अबाध हे। परन्तु इस व्यापक भूमि पर पहुँचने के लिए वह कवि के अपने परिवेश ओर उसके विशेष आत्मगत अनुभव का ही आश्रय ले सकता है। इसलिए कहा जाता है कि राष्ट्रीय और जातीय चेतना के विशिष्ट स्वरूप को मूर्त्त किये बिना साहित्य अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण नही रख सकता ओर न वह सार्वभौम ही बन सकता है। वह मात्र शैली-शिल्प अथवा सिद्धान्त-प्रवचन बन जायगा। राष्ट्र या जाति के विशिष्ट अस्तित्व से युक्त न होने के कारण उसकी जीवन-शक्ति क्षीण और निष्प्रभ रहेगी। राष्ट्रीयता या जातीयता से हमारा आशय केवल जातीय बाह्य गुणो और विशेषताओ से नही है, केवल उन लक्षणो से नही है जो हम परम्परा के नाम पर दोहराते चले आते है, प्रत्यक्ष राष्ट्र या जाति के उस वास्तविक सक्रिय और गभीर जीवन से है जो एक साथ मानवीय और विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवो तथा जातीय दृष्टि से युक्त होने के कारण ही राष्ट्रीय है। इसीलिए वह एक साथ राष्ट्र और सार्वभौमत्व की सीमाओ का स्पर्श करता है। स्पष्ट है कि हम यहाँ श्रेष्ठ और स्थायी साहित्य को दृष्टि मे रखकर ही विचार कर रहे है, क्योकि जैसे काल की दृष्टि से बहुत सी कृतियाँ केवल तात्कालिक महत्व की सिद्ध होती है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता की दृष्टि से भी कुछ कृतियाँ जातीय जीवन के ऊपरी स्तरो से ही सबद्ध रहती है तथा उसकी विशिष्ट गहराइयो मे जाने की क्षमता नही रखती। अतएव यदि हम यह जानने का प्रयत्न करें कि वर्तमान समय मे हमारी विशिष्ट राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप क्या है और उसकी गहरी गतिविधि किस दिशा मे है, तो यह उचित ही होगा।

वर्तमान समय की वास्तविक परिस्थिति भी इस कार्य के लिए हमे आमन्त्रित करती है। बडी सख्या मे नये सिद्धान्त और नयी विचारणा विदेशो से हमारे यहाँ प्रवेश कर रही है। न तो हम उन्हे वर्जित ही कर सकते है, क्योकि आधुनिक समय मे विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के जीवन से परिचित हो गये है और एक दूसरे के प्रभावो को अपना रहे है। पर इस प्रभाव-ग्रहण को हम अपने जातीय साहित्य का प्रतिनिधि रूप नही कह सकते, क्योकि उसमे हमारे जातीय जीवन की विशिष्ट प्रेरणाएँ और प्रशस्त तथा तलवर्ती भूमिकाएँ नही आ पाती है। वह बहुत कुछ ऊपरी

उपक्रम होता है और कुछ व्यक्तियो, समूहो या वर्गो तक ही सीमित रहता है.। अतएव हमे अपनी मौलिक जातीय चेतना से ससर्ग रखना होगा ही जो व्यक्तिगत या खडित वस्तु नही है, वरन् सच्चे अर्थों मे राष्ट्रीय और ऐतिहासिक है।

वह विवेक हमे कहाँ से प्राप्त हो जिसके आधार पर हम अपनी समष्टि से उत्तम के चयन द्वारा अपनी स्पष्ट इकाई को अक्षुण्ण रखते हुए जीवन की नवरचना की ओर प्रयाण कर सके। बाहर से आने वाले विचारो का सक्रिय अध्ययन करने के लिए हमारे पास कौन सी दृष्टि होगी ? वह दृष्टि वस्तुत हमे अपने भीतर से ही प्राप्त हो सकती है। हमारी विशिष्टता इसमे नही है और न हमारा कोई योगदान ही इसमे है कि विश्व की ज्योति और ज्वाला किस प्रकार हम पर टूटती है, किन्तु इसमे है कि किस प्रकार हम चयन-पूर्वक उन्हे आत्मसात् करते हे और परिपूर्ण सकल्पित आचरण तथा कार्य के द्वारा उनका अनुशासन करते है।

ऊँचाई के इस स्तर तक उठने की क्षमता क्या हम मे है ? क्या उन उपकरणो का आकलन और सन्निवेश हम अपने साहित्य मे कर रहे है ? सच पूछा जाय तो इस विषय पर हम सतर्क रह कर भी आशावान और आश्वस्त है। हम अपनी आशा और आश्वासन के लिए उपयुक्त कारण भी पाते है।

भारत आधुनिक युग के विश्व-जीवन मे अन्य राष्ट्रो का समभागी होकर भी उनसे भिन्न है। राष्ट्र केवल सीमाओ और जनसख्या के समुच्चय का नाम नही है। उसके साथ परि-स्थितियो के एक विशिष्ट आपात और एक विशिष्ट इतिहास का भी योग होता है। राष्ट्र एक व्यक्ति के सदृश ही है। जिन परिस्थितियो और ऐतिहासिक प्रतिक्रिया से भारत गुजरा है वे अपना स्वतन्त्र स्वरूप रखती हैं। उनके अनुरूप हमारी चेतना और व्यापक जीवन-परिवेदनो का निर्माण हुआ है। उदाहरण के लिए अमेरिका का इतिहास तीन सौ वर्ष पुराना है तो हमारा इतिहास कम-से-कम तीन सहस्र वर्षो की दीर्घ अवधि को आबद्ध किये हुए है। ऐसे दो देशो की राष्ट्रीय चेतना और समस्याओ मे अन्तर होना स्वाभाविक है। अतएव बहुत ऊँचे धरातल पर कतिपय आदर्शो की भूमिका मे समान होकर भी व्यावहारिक धरातल पर एक दूसरे से भिन्नता हमे स्वी-कार करनी पडेगी। यही नही, जनसख्या और भौगोलिक विस्तार तथा सपत्ति का अनुपात भी दोनो देशो मे एक दूसरे से बहुत भिन्न है। दोनो की समस्याएँ एक सी नही है। एक ओर अपार वैभव है तो दूसरी ओर बहुत अभाव। किन्तु ऐतिहासिक अवधि के अन्तर के कारण सस्कृति के क्षेत्र मे जहाँ अमेरिका नवजात है वहाँ भारत बहुत समृद्ध है। अतएव जो विचार और दर्शन अमेरिका मे उत्पन्न हुए है, वे सदा और यथावत् हमारे स्वीकार करने योग्य नही है।

लम्बी और समृद्ध विरासत कभी-कभी हमसे भारवाहिता भी कराती है और हमारे विकास की गति को पूर्णतया अवरुद्ध नही तो अपेक्षाकृत मथर अवश्य बना देती है। अमेरिका इस भारवाहिता से मुक्त है। उसे एक साफ स्लेट पर नया जीवन लिखने का अवसर मिला है, उसके विकास मे चमत्कारी क्षिप्रता है और उसके लिए यह एक गौरव की बात है कि वह बहुत थोडे समय मे ससार का सबसे सपन्न और अत्यधिक सबल राष्ट्र बन गया है। किन्तु दूसरी ओर जीवन की जिन गहराइओ तक पहुँचने का अवसर हमें मिला है, बहुत दूर तक अमेरिका

को उनका अनुभव नही है। इस तुलना मे वह सरल रेखाओ से बने हुए एक सादे चित्र के समान है जब कि हम एक अधिक गभीर अनुभव की वाणी बोल सकते है।

अमेरिका के सर्वोत्तम लेखको ने अपनी इस पृष्ठभूमि और परिस्थिति के कारण एक मध्यम मार्ग अपनाया है। इसमे सर्वप्रमुख स्थान मानवतावादी दृष्टिकोण को मिला है। मार्क ट्वेन और वाल्ट ह्विटमेन जैसे लेखक और कवि इस तत्व-विशेष की उपस्थिति के कारण अन्य देशो मे भी महत्ता और सम्मान पा सके है। उनकी मानवतावादी दृष्टि मे एक प्रकार की सरलता है, क्योकि लम्बे इतिहास के अनुभवो से जो जटिलता आती है, उससे ये लेखक सर्वथा मुक्त है। केवल वस्तु मे ही नही, शिल्प मे भी इसी सरलता का प्रसार मिलता है और वाल्ट ह्विटमेन का वह काव्य-शिल्प सामने उपस्थित होता है जिसे फैलाव वाला पद्य (sprawlıng verse) कहा गया है। अनेक कारणो से यह मध्य मार्ग भारतीय वातावरण के अनुकूल है, क्योकि भारत सदैव सहिष्णुता और अतिशयो के बीच से मार्ग निकाल कर चलने वाला देश रहा है। यही नही वर्तमान युग के बौद्धिक दृष्टिकोण के साथ हमारे राष्ट्रीय विकास मे मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता रही है। अतएव यद्यपि हमारी परिस्थितियाँ अपने ढग से अधिक जटिल है और भौतिक जीवन की समस्याएँ हमे प्रबल रूप मे आक्रान्त करती है, तथापि मानवतावाद को केन्द्र बनाकर चलने वाला मध्य मार्ग हमारी भावनाओ और आशसाओ के अनुरूप पडता है। स्पष्ट है कि यह निष्कर्ष निकालते हुए हम पूर्णतया अमेरिका के उत्कृष्ट साहित्य को ही प्रतिमान बना रहे है।

इस मानवतावादी भूमिका के साथ एक और तत्व अमेरिका के जीवन और रीनि नीति के साथ गहराई से जुडा हुआ है। उसकी अभिव्यक्ति 'स्वतन्त्रता' तथा 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता' (lıberty of the ındıvidual) जैसे शब्दो के साथ की जाती है। ये शब्द मनुष्य के सकल्प को महत्व देते है और उसे परिस्थिति के ऊपर प्रतिष्ठित करते है। इनका मौलिक विरोध समस्त प्रकार के नियतिवाद (determınism) के साथ है। यह उस दृष्टिकोण का नाम है जिनमे मनुष्येतर प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक शक्तियो को मूलकर्ता और नियामक बनाया जाता है। भाग्यवाद और प्रकृतिवाद की उत्पत्ति इसी 'डिटर्मिनिस्टिक' दृष्टि से होती है, अतएव मानवतावाद जहाँ तक मनुष्य की स्वतन्त्र सकल्प-शक्ति का आख्यान करता है, मनुष्य को एक विशिष्ट गौरव का पद प्रदान करता है वहाँ तक उसकी मौलिक प्रेरणा स्वतन्त्रता से युक्त है। वर्तमान युग मे हमने केवल विदेशी शासन के ही नही, किन्तु अपनी पुरानी मृत रुढियो के बंधन भी तोड फेंके है और एक नये जीवन की ओर अपना अभियान आरम्भ किया है। हमारी यह परिस्थिति स्वभावत ऐसे दृष्टिकोण को हमारे हृदय के समीप लाती है जिसमे स्वतन्त्रता और मानवीय कर्त्तव्य की प्रधानता है।

'स्वतन्त्रता' या 'मुक्ति' शब्द भारत के लिए नया नही है। यह केवल वर्तमान काल की परिस्थिति से सम्बद्ध न होकर हमारी सस्कृति के गहनतम स्तर और हमारे तत्व-चिन्तन के केन्द्र से युक्त है। भारतीय वेदान्त विश्व के दर्शनो मे एक अनूठा दर्शन है जो मनुष्य को केवल प्रकृति से प्रबलतर ही नही मानता, प्रत्युत समस्त सृष्टि की मूल शक्ति के साथ उसे अभिन्न करता है। मुक्ति का आशय इसमे जीवन से पलायन नही, प्रत्युत जैसा कि वर्तमान युग मे भी विवेकानन्द

ने प्रस्तुत किया, अनन्त अभय और अमरत्व है। इसीलिए 'स्वतन्त्रता' या 'मुक्ति' शब्द का हमारे लिए बहुत गभीर अर्थ है। इस विषय की हमारी परिकल्पना सभवत वर्तमान युग की परिस्थिति मे इससे व्यक्त अमरीकी मतव्य से कही विशाल और भव्य है। उसकी उपस्थिति के कारण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अथवा स्वतत्रता जैसे तत्व जब भी हमारे समक्ष आते है तब उनके साथ हमारी सहज सहानुभूति हो जाती है। किन्तु उनमे हमे जो कुछ मिलता है वह केवल आरभिक वस्तु है और अपनी पुष्ट सस्कृति के उत्तराधिकारी हम उससे कही आगे जाना चाहते है।

इसीलिए विदेशियो को कभी-कभी आश्चर्य होता है कि इस प्रकार की प्रवृत्तियो और आस्थाओ से युक्त भारत रूस जैसे साम्यवादी देशो से क्यो कर बधुत्व का सबध रखना चाहता है? उनकी दृष्टि मे रूस और अमेरिका दिन और रात के समान है। एक से प्रेम करने के लिए दूसरे से घृणा भी उतनी ही अनिवार्य है। अतएव भारत की मनोवृत्ति समझने मे उन्हे कठिनाई होती है और उस कठिनाई का दोष वे कभी-कभी भारत पर भी रखते है। भारत उन्हें अस्थिर और अनिश्चित प्रतीत होता है, क्योकि वे अपने ही केन्द्र से भारत की परीक्षा करना चाहते है। वे यह सोचने का प्रयास नही करते कि उनके समान ही भारत का भी अपना एक केन्द्र है और उसे समझ लेने पर उसकी गतिविधि मे विश्रृखलता अथवा अनिश्चय के दर्शन नही होते, वरन् वहाँ एक सक्रिय सकल्प प्राप्त होता है। केवल तात्कालिक इतिहास और परिस्थितियो को देखने वाले इस केन्द्र और सकल्प की तह तक नही पहुँच पाते। ऐसी स्थिति मे जैसे पश्चिम को समझने मे कठिनाई होती है कि उसका मित्र होकर भारत रूस का भी मित्र कैसे हो सकता है, उसी प्रकार भारत को भी यह समझने मे कठिनाई होती है कि शान्ति के लिए समान रूप से आकुल होकर भी पश्चिम और रूस मित्र क्यो नही हो पाते?

रूस के साथ मार्क्सवाद का नाम युक्त हे। मार्क्सवाद को व्यावहारिक धरातल पर उतारने का सबसे बडा कार्य रुस ने ही किया है। इसीलिए विदेग के विद्वान् बहुधा उसे इस सिद्धान्त और उसके उन्हें प्रिय न लगने वाले लक्षणो के आधार पर देखते है, किन्तु अमेरिका और भारत के समान रूस का भी एक इतिहास है। उस इतिहास मे भी अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी है जिन्हे हम अपने समीप पाते है और सन् १९१७ ई० की क्रान्ति के पश्चात् भी जिनका तिरोभाव नही हुआ है। भारत इतिहास और सस्कृति की इसी गतिमानता मे रूस को देखता है। अमेरिका के समान वह भी अल्प जनसख्या और विशाल-विस्तार का देश है। पश्चिमी राष्ट्रो मे वह बहुत समय तक पिछडा रहा है तथा अन्य देशो के निहित स्वार्थ वहाँ जड जमाये रहे है। एक समय तक एक विदेशी भाषा अर्थात् फ्रेच वहाँ की राजभाषा रही है। १९वी शती मे स्पष्टत दो प्रकार के बुद्धिवादी वहाँ मिलते हैं। एक जो पश्चिमी विकास से प्रभावित होकर रूस के पश्चिमीकरण के पक्षपाती थे और दूसरे वे जो राष्ट्रीयता और जातीयता के हिमायती थे। इस द्वितीय कोटि के लोगो से उस सिद्धान्त का जन्म हुआ जिसे 'स्लावोफिलिज्म' या स्लावप्रेम कहा गया है। साम्यवादियो की विजय के साथ एक विशेष रूप मे इस राष्ट्रीय भावना की पुष्टि हम स्तालिन के शासनकाल मे देखते है। वहाँ की अनेक बातें हमे पसन्द नही आती, किन्तु ऐतिहासिक विकास मे विज्ञान की प्रमुखता के साथ ताल्स्ताय जैसे लेखको का उदय और राष्ट्रीय भावना का क्रमशः विकास, अभाव

की स्थिति से सम्पन्नता की ओर वहाँ की जनता का सकल्पित और कर्मठ अभियान हमे अपनी भावना के अतिशय समीप प्रतीत होता है।

रूस और साम्यवाद ने गोर्की और उसके पश्चात् 'नो अॉर्डिनरी समर', 'एण्ड क्वाएट फ्लोज दी डॉन', 'दि फाल ऑफ पेरिस' जैसी औपन्यासिक कृतियो के यशस्वी रचयिताओ के रूप मे क्रमश कान्सतैन्तिन फैदिन, शोलाखोव और इलिया एहरेनबुर्ग जैसे लेखक भी दिये है। रूस ही नही, समस्त विश्व के साहित्य-क्षेत्र मे इनका सम्मान हुआ है। १९वी शती के उत्तरार्द्ध मे उपन्यास के विशिष्ट विकास के द्वारा रूस विश्व के साहित्यक रगमच पर उपस्थित हुआ था। उनकी यह परम्परा सोवियत काल मे भी विकसित होती रही है। जैसे हमने अमेरिका के उल्लेख मे उसके सर्वोत्तम पर ध्यान रखा था, वैसे ही यहाँ भी हमारा ध्यान रूस के सर्वोत्तम पर ही केन्द्रित है। जैसे अमरीकावासियो ने अपनी क्षमता के बल पर एक नये महाद्वीप पर विश्व के एक अग्रणी राष्ट्र की सृष्टि की, वैसे ही एक भिन्न व्यवस्था का आश्रय लेकर रूस ने भी बहुत ही स्वल्पकाल मे अपने को एक अग्रणी और अत्यधिक सबल राष्ट्र के रूप मे प्रस्तुत किया है। कितना भी विरुद्ध होकर कोई यह सम्मान उस देश से छीन नही सकता।

रूस की उपन्यास-परम्परा मे ताल्स्ताय का उल्लेख करते हुए मैथ्यू ऑर्नाल्ड ने उसके उपन्यासो को 'जीवन का वास्तविक प्रतिरूप' (slice of life) शब्द-समुच्य मे पुकारा है। महाकाव्यात्मक उपन्यास (epic novel) की चर्चा हुई थी और जैसे एक युग मे महाकाव्य समस्त राष्ट्र के जीवन की समष्टि का अभिव्यजक माना जाता था, उसी प्रकार आधुनिक युग के महाकाव्य-स्थानापन्न के रूप मे उपन्यास को स्वीकार किया गया है। व्यापक जीवन को अनुस्यूत करते हुए, विविध चित्रों को एक पट मे उतारते हुए उपन्यास-सृष्टि की यह परम्परा अन्य देशो के कतिपय पुराने लेखको मे भी प्राप्त होती है, पर मुख्यत वह आधुनिक रूस की विशिष्टता है। आज भी उसका क्रम हमे वहाँ चलता हुआ दिखाई पडता है। पश्चिम के मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिवादी उपन्यासो की बाढ के समक्ष यह स्वस्थ पद्धति या शैली हमे अधिक गभीर रूप मे प्रभावित करती है।

रूस मे विभिन्न देशो के स्थायी साहित्य (classics) का भी पर्याप्त प्रचार हुआ है। कहा जाता है कि शेक्सपियर के नाटक जितने अधिक रूस मे खेले जाते है, उतने अन्य किसी भी देश मे नही। भारत के कालिदास और शूद्रक, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द्र भी वहाँ के अत्यधिक प्रिय विदेशी लेखक और कलाकार है। यह सच है कि इन नाट्य अभिनयो और उपर्युक्त लेखको की कृतियो की व्याख्या को रूस मे एक नया मोड दिया गया है, किन्तु उससे हमे इन कृतिकारो और उनकी कृतियो को एक नये रूप में समझने और महत्व देने का अवसर ही मिला है। रूस के सिद्धान्त और कार्यो मे सामाजिकता का जो आग्रह है, जन-जीवन की जो महत्ता है, वह हमे एकाकी व्यक्तित्व की धारणा की तुलना मे अधिक स्वस्थ और उपादेय प्रतीत होती है। मार्क्सवादी समीक्षा-पद्धति एक प्रकार का सश्लिष्ट ऐतिहासिक विवेचन तो हमे देती ही है, वह सामाजिक विकास के कई महत्वपूर्ण तथ्यो और प्रवृत्तियो को भी सामने लाती है।

यह सत्य है कि रूस की नयी समाज-व्यवस्था मे अधिनायकतत्र का उदय हुआ। यह भी

सच है कि पास्तर्नाक जैसे लेखको का इस व्यवस्था मे दमन होता है और अपने विचारो को आजादी से व्यक्त-करने मे समय समय पर लेखकवृन्द वहाँ स्वय को बाधित पाते है। आर्थिक पीठका और वर्गसघर्ष को बहुत अधिक महत्व देकर की हुई उनकी व्याख्याओ मे असतुलन भी प्राप्त होता है, किन्तु रूस मे जो कुछ स्वस्थ और सुन्दर है उसके साथ इन दुबर्लताओ को भी प्रश्रय देने के लिए हम बाध्य नही है जो किसी प्रकार हमारे अनुकूल नही। हमारा अभ्यास विरोध की बातो पर बहुत जोर देने का नही है, क्योकि हम उस भविष्य की परिकल्पना से परिचालित है जिसमे विश्व के समस्त राष्ट्रो और मतो को परस्पर मिलजुल कर रहना होगा। पश्चिम की सस्कृति आज अपने को ऐसी बन्द गली के छोर पर पाती है जिसके आगे कोई राह नही है। यह भावना उसके काव्य मे, साहित्य मे और इतिहास, दर्शन मे स्पष्टत परिलक्षित होती है। टी० एस० इलियट और टायनबी जैसे कवि और इतिहासकार उसका जीवन्त और समग्र अनुभव करते हुए पुनर्मुल्याकन और नयी दिशाओ की खोज करते हुए पाये जाते है। इसके विपरीत भारत विकास के लिए मार्ग ही देखता है। आधुनिक भारत मे निर्मित होनेवाला जीवन केवल आरम्भ की स्थिति मे है। ऐसी दशा मे स्वाभाविक है कि पश्चिम के विकासकाल के तत्व और उसकी विरासत के अनुकूल अश स्वीकार करते हुए भी भारत पश्चिम की गति को अपनी गति न बनाये।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य हमारे जीवन और इतिहास के अनुरूप विकसित हुआ है। उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। भारतेन्दु-युग मे उसकी उन्मुखता वर्तमान यथार्थ की ओर थी, द्विवेदी युग में इस वर्तमान का संबध अतीत से जोडने के प्रयत्न किये गये है तथा छायावादी कवियो ने भविष्य की परिकल्पना के साथ भी उसका योग किया है। इसके पश्चात पुन वर्तमान की ओर उन्मुखता है। अब वह विकास के द्वितीय सोपान पर आरूढ है। अनेक कवि, कथाकार और साहित्य-चिन्तक इस प्रक्रिया मे सामने आये हैं तथा उन्होने विश्व-साहित्य की पृष्ठभूमि मे अपने साहित्य को उसकी पुष्ट और स्वतन्त्र रूपरेखा प्रदान की है।

भारतेन्दु-युग मे नयी चेतना का अत्यत सरल रूप दिखाई देता है। एक लम्बी निद्रा के पश्चात् आँखे खोलकर देश अपनी वास्तविकता का साक्षात्कार करता है। विवर्तन के एक ही आकुल क्षण मे एक युग का अवसान होकर एक नये युग का आविर्भाव होता है। राष्ट्रीयता और जातीयता के पुनरुन्मेष के साथ आसपास के जगत् तथा पश्चिम के अनाहूत अतिथि सम्राट् की यथार्थमूलक स्वीकृति और तज्जन्य प्रतिक्रिया दिखाई देती है। काव्य मे पराधीनता का बोध प्रधान है और उसके साथ आकाक्षित उन्मुक्ति की छटपटाहट भी। राष्ट्र अपनी समष्टि के पुनर्मूल्याकन मे संलग्न होता है। हिन्दी-काव्य मे इसकी ध्वनि सुनाई पडती है, यह एक तात्कालिक और सहज प्रतिक्रिया थी। गभीर चिन्तन का योग उसके साथ इस समय नही हुआ।

द्विवेदी-युग मे हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियो का आविर्भाव होता है। वे पौराणिक आख्यानो का आश्रय लेकर उनमे नये युग के अर्थो का सचार करते है, प्रत्येक क्षण के अतीत की गौरव गरिमा का स्मरण करते देख पडते है। इनके केन्द्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्य महारथी है—आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रतिमा गढ़ने मे

जिनका महत्वपूर्ण योग है। इन लोगो का कार्य अपनी ही विरासत और अपनी ही साहित्यिक पृष्ठभूमि से सबद्ध है। जो शक्ति उन्हे क्रियाशील बनाती है, वह उनकी आन्तरिक शक्ति ही है।

सन् १९२० के बाद हमे आधुनिक हिंदी-साहित्य के सबसे महत्वपूर्ण कवि, उपन्यासकार और समीक्षक प्राप्त होते है। प्रसाद, निराला और पत जैसे महान् कवियो की एक साथ अवतारणा किसी भी साहित्य के इतिहास मे कोई साधारण घटना नही है, इनके कल्पनाशील सौन्दर्योन्मुख काव्य के अतरग मे नये युग की चेतना के साथ सस्कृति के गहनतर तत्वो का भी योग है। उन्मुक्ति की एक आकाक्षा, मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान तथा विश्व के समस्त जन-समाज को एकान्वित करने वाली मानवतावादी भूमिका यहाँ विद्यमान है। अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करने मे इन कवियो ने भारतीय दर्शन और जीवन की समृद्ध परम्परा का ही उपयोग किया है।

'कामायनी' छायावादी युग की समग्रता को समाविष्ट करनेवाली अन्यतम सिद्धि है। प्रतीको का आश्रय लेकर मनुष्य का स्वरूप उसमे केवल भारतीय इतिहास के आधार पर ही नही, समस्त मानव-जाति के इतिहास की गतिमानता मे देखा गया है। सस्कृति की उसकी परिकल्पना राष्ट्र की सीमाओ से कही विशाल है। वह मनुष्य के मूल सत्व का स्पर्श कराती है। मानव व्यक्तित्व के सम्मान को केन्द्र मे रखकर एक व्यापक जीवन-दर्शन का भवन उसमे निर्मित किया गया है, वह नये रूप से युक्त नये युग का महाकाव्य है। अपनी विशेषता मे वह अप्रतिम है और हम विश्वासपूर्वक एक प्रदेय के रूप मे उसे विश्व के समक्ष उपस्थित कर सकते है।

छायावादी युग की समाप्ति के साथ-साथ जिस नये युग का आविर्भाव हिन्दी-कविता के क्षेत्र मे हुआ उसमे भी हमे अनेक अतिशयताओ के बीच मूलत उसी मानवतावाद का स्वर सुनाई पडता है जिसकी चर्चा हम अभी-अभी कर चुके है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र मे विश्व के बडे साहित्यिको मे परिगणित होने योग्य हमारे प्रेमचन्द है। उनकी तुलना बहुधा ताल्सताय से की गयी है, क्योकि मानवतावादी दृष्टि की दोनो मे ही प्रधानता है। बृहत् सामाजिक अन्याय के उद्‌घाटन को हम प्रेमचन्द के कृतित्व का मूलसत्व कह सकते है, किन्तु इस अन्याय की कसौटी वे कहाँ से प्राप्त करते है?—मनुष्य के व्यक्तित्व मे अटल और अदम्य आस्था के द्वारा। भारतीय स्वातत्र्य-सग्राम के गतिमान चित्रपट को अपनी कृतियो मे उन्होने सजीव किया है। वस्तु-विन्यास सरल है और उपकरण साधारण, किन्तु आस्था की अपार शक्ति उनकी कृतियो मे स्पदित होती है। निश्चय ही भारतीय उपन्यास की रूपरेखा पुष्ट रूप मे प्रस्तुत करने के लिए वे सदा स्मरणीय रहेगे।

समीक्षा के क्षेत्र मे रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय काव्य-शास्त्र पर पुनर्चिन्तन कर हिन्दी-कविता के भावी विकास के लिए न केवल नये मानदण्ड ही निर्धारित किये, नये तत्वो से समाविष्ट होकर सामने आने वाले उसके नये-नये रूपो को उपयुक्त आधार भी प्रदान किया। काव्य को लोक-मगल की कसौटी पर कसकर वस्तुत उन्होने भी विश्व-साहित्य की मानवतावादी परम्परा को भारतीय चिन्तन की स्वस्थ गतिविधि से ही परिचित कराया है।

आज हिन्दी के कुछ साहित्यकार आधुनिकता के पुजारी बन गये है। इस शब्द का आशय समझने के लिए वे पश्चिमी विद्वानो के द्वारा किये गये विवेचनो को पढते है। अपनी जडे पश्चिम मे जमाकर उसके फल वे भारत को देने के अभिलाषी है। वे यह सोचने का प्रयास नही करते कि आधुनिकता शब्द का भारत के लिए अपना अर्थ भी हो सकता है और वस्तुत यही उसकी आत्मा का वास्तविक परिचायक भी होगा। आधुनिकता भारत के लिए पश्चिम से नही, केवल आधुनिक भारत से ही नही, किन्तु समस्त भारतीय सस्कृति के पुनर्मूल्याकन और आत्मसात् के द्वारा ही अर्थ-ग्रहण कर सकती है। जैसे पश्चिम के कवि और इतिहासकार अपने विकास की समष्टि को एक इकाई के रूप मे देखकर अपने वर्तमान को समझने और भविष्य के लिए दिशाएँ खोजने का प्रयत्न कर रहे है, वैसे ही हमे भी अपनी समष्टि को इकाई के रूप मे देखकर अपना मार्ग तय करना है। अमेरिका और रूस, पश्चिम और चीन सब का प्रदेय इस विलक्षण युग मे हमको अपनी विरासत के साथ हमे प्राप्य है। किन्तु उसे हम तब तक ग्रहण नही कर सकते जब तक हम उसके पीछे दौडते है। अपने केन्द्र मे स्थित रहकर एक सचेतन प्राणी के समान उसे आत्मसात् कर ही हम उसका उचित और स्वस्थ उपयोग कर सकते है। वेद और उपनिषद् से लेकर बुद्ध और गाधी तक भारतीय चिन्तन और जीवन-दर्शन अपनी ऊर्जा से विकसित और पुष्पित होता रहा है। इन सबको अपनी आत्मा मे स्थान देकर अपने स्वतन्त्र चिन्तन से कुछ निर्माण करके ही हम बुद्धिवादी निर्माता और भारतीय लेखक होने का दावा कर सकते है। इस प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त आधुनिकता ही हमारे जीवन और साहित्य का वास्तविक सस्कार कर उसे सच्चे अर्थो मे राष्ट्रीय कहलाने का गौरव प्रदान कर सकती है।